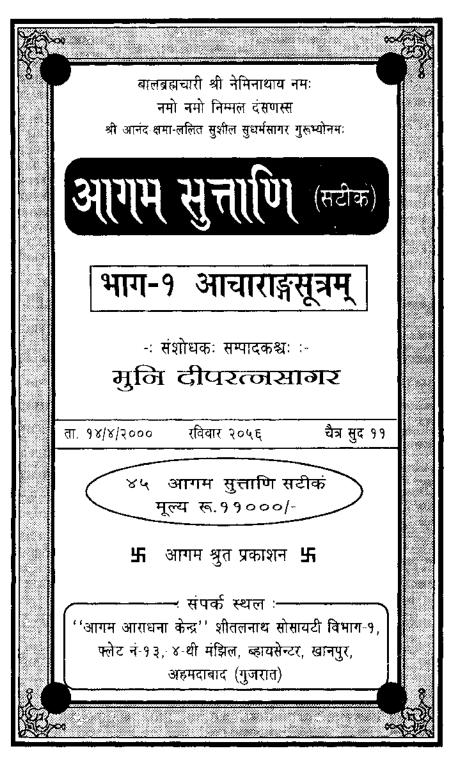


Jain Education International

For Private & Personal Use Only

www.jainelibrary.org



आचाराङ्गसूत्रम्

## आचाराङ्ग सूत्रस्य विषयानुक्रमः

### मूलाङ्काः-५५२, निर्युक्ति गाथाः-३५६

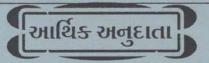
| भूलाङ्कः | विषयः                          | पृष्ठाङ्कः | मूलाङ्कः | विषयः                       | पृष्ठाङ्कः |
|----------|--------------------------------|------------|----------|-----------------------------|------------|
| _        | प्रथमः श्रुतस्कन्धः            | S          |          | अध्ययनं-५ लोकसारः           | २०२        |
|          | अध्ययनं-१ शस्त्रपरिज्ञा        | ધ્         | 94૮      | उद्देशकः-१ एकचर्या          | ૨૦५        |
| 9-9३     | उद्देशकः-१ जीवअस्तित्वं        | १६         | -१६३     | उद्देशकः-२ विरतमुनि         | 299        |
| -92      | उद्देशकः-२ पृथ्वीकायः          | ३४         | -१६८     | उद्देशकः-३ अपरिग्रहः        | २१५        |
| -39      | उद्देशकः-३ अप्कायः             | ૪५         | –୨७२     | उद्देशकः-४ अव्यकतः          | २२०        |
| -३९      | उद्देशकः-४ अग्निकायः           | હપ         | -992     | उद्देशकः-५ ह्रदोपमः         | રર૭        |
| -86      | उद्देशकः-५ वनस्पतिकायः         | ६२         | -9८५     | उद्देशकः-६ कुमार्गत्यागः    | २३३        |
| -ષ્ષ     | उद्देशकः-६ त्रसकायः            | હર         | Q        | अध्ययनं-६ द्युतं            | २३९        |
| -६२      | उद्देशकः-७ वायुकायः            | ७९         | -963     | उद्देशकः-१ स्वजन विधूननं    | २३९        |
| <b>D</b> | अध्ययनं-२ लोकविजयः             | ८६         | -990     | उदेशकः २- कर्म विधूननं      | २४८        |
| -92      | उद्देशकः-१ स्वजनः              | ୯७         | -२००     | उद्देशकः-३ उपकरण एवं        | 249        |
| -७७      | उद्देशकः-२ अध्दत्वम्           | 990        |          | शरीर-विधूननं                |            |
| -८३      | उद्देशकः-३ मदनिषेधः            | 9२         | –२०६     | उद्देशकः-४ गौरवत्रिक-       | २५६        |
| -८७      | उद्देशकः-४ भोगासक्ति -         | १३२        |          | विधूननं                     |            |
| ९७       | उद्देशकः-५ लोकनिश्रा           | १३६        | -208     | उद्देशकः-५ उपसर्ग-सन्मान-   | २६१        |
| -906     | उद्देशकः-६ अममत्वं             | १४६        |          | विघूननं                     |            |
|          | अध्ययनं-३ शीतोष्णीयं           | ૧५५        | D        | अध्ययनं-७ विच्छेदः          |            |
| -998     | उद्देशकः-१ भावसुप्तः           | 94८        |          | अध्ययनं-८ विमोक्षं          | રદ્દ       |
| -१२४     | उद्देशकः-२ दुःखानुभवः          | ૧૬५        |          | उद्देशकः-१ कुशीलपरित्यागः   | ২৩২        |
| -१३३     | उद्देशकः-३ अक्रिया             | 909        | -२१९     | उद्देशकः २ अकल्पनीय-        | ર૭૮        |
| -१३८     | उद्देशकः-४ कषायवमनं            | 900        |          | परित्यागः                   |            |
| a        | अध्ययनं-४ सम्यकत्वं            | 969        | -२२३     | उद्देशकः-३ अङ्गचेष्टाभाषितः | २८१        |
| -982     | उद्देशकः-१ सम्यक्वादः          | 964        | -२२८     | उद्देशकः-४ वेहासनादिमरणं    | २८४        |
| -9४६     | उद्देशकः-२ धर्मप्रवादीपरीक्षणं | 966        | -२३०     | उद्देशकः-५ ग्लानभक्तपरिज्ञा | २८७        |
| -१४९     | उद्देशकः-३ निरवद्यतपः          | १९५        | -२३५     | उद्देशकः-६ इंगितमरणं        | २८९        |
| 944      | उद्देशकः-४ संयमप्रतिपादनं      | १९९        | -२३९     | उद्देशकः-७ पादपोपगमन-       | २९३        |
| l        | वचन                            |            |          | मरणं                        |            |

Jain Education International

विषयानुक्रमः

|          |                                | gyanmandır@kobatırtn.org |          |                                |            |
|----------|--------------------------------|--------------------------|----------|--------------------------------|------------|
| मूलाङ्कः | विषयः                          | पृष्ठाङ्कः               | मूलाङ्कः | विषयः                          | पृष्ठाङ्कः |
| –२६४     | उद्देशकः-८ उत्तममरण विधिः      | २९५                      | –૪૮५     | उद्देशकः-२ वस्त्रधारण विधिः    | ४०८        |
| D        | अध्ययन-९ उपधानश्रुतं           | ३०२                      |          | अध्ययनं-६ पात्रैषणा            | ४०९        |
| -२८७     | उद्देशकः-१ चर्याः              | 306                      | -866     | उद्देशकाः १२                   | ४१०        |
| -३०३     | उद्देशकः-२ शय्याः              | ३१३                      |          | पात्रस्वरूपं, पात्रग्रहण विधिः |            |
| -390     | उद्देशकःन्इ परीषहः             | રૂ૧૬                     |          | निषेधश्च, पात्र पडिमा,         |            |
| -३३४     | उद्देशकः-४ रोगातङ्कः           | ३१९                      |          | पात्र प्रमार्जना,              |            |
| -        | द्वितीयः श्रुतस्कन्धः          | ३२५                      |          | पात्र परिग्रहणम्               |            |
| -        | चूडा-१                         | રૂર૮                     | D        | अध्ययनं-७ अवग्रह प्रतिमा       | ४१२        |
|          | अध्ययनं-१ पिण्डैषणा            | ३२८                      | –૪૧૬     | उद्देशकाः १२                   | ४१३        |
| -३९७     | (उद्देशकाः १११)                | ३२८                      | Ì        | अवग्रह आदि याचनाविधिः          |            |
|          | आहारग्रहण विधिः एवं            |                          |          | एवं अवग्रह पडिमा (७)           |            |
|          | निषेधः, आहारार्थे गमन विधिः,   |                          |          | चूडा-२ सप्तसप्तिका             | ४१८        |
|          | सङ्घडी दोषः,                   |                          | –४९७     | सप्तैककः-१ 'स्थान'             | ४१८        |
|          | पानकग्रहण विधिः,               |                          | -४९८     | सप्तैककः-२ निषीधिकाः           | ४१९        |
|          | भोजनविधिः, इत्यादिः            |                          | -409     | सप्तैककः-३ उच्चार प्रश्रवणं    | ४२०        |
|          | अध्ययनं-२ शय्यैषणा             | ३६७                      | –५०४     | মমীকক:-४ शब्द:                 | ४२३        |
| -888     | (उद्देशकाः १३)                 | ३६८                      | –५૦५     | सप्तैककः-५ रूपं                | ४२६        |
|          | शय्या-वसति ग्रहणे निषेधः       |                          | -409     | सप्तैककः-६ परक्रिया            | ४२७        |
|          | एवं विधिः संस्तारक प्रतिमा     |                          | -५०८     | सप्तैककः-७ अन्योन्यक्रिया      | ४३०        |
| 0        | अध्ययने-३ ईर्या                | ३८३                      | —        | चूडा-३ भावना                   | ४३०        |
| -૪૬५     |                                | <b>૨૮</b> ૫              | -५४०     | भगवन् महावीरस्यच्यवन,          | ४३४        |
|          | विहार निषेधः एवं विधिः,        |                          |          | जन्म, दीक्षा आदि वर्णनम्       |            |
|          | वर्षावासः, गमनायमन विधिः-      |                          |          | फ्श महाव्रत प्ररुपणा एवं       |            |
|          | निषेधश्च, पथिना सह वार्ता      |                          |          | तस्य पश्चपश्च भावनायाः         |            |
| 1        | विधिः                          |                          |          | निरुपणम्                       |            |
|          | अध्ययनं-४ भाषाजातं             | ३९४                      | -        | चूडा-४ विमुक्तिः               | -          |
| -४६९     | उद्देशकः-१ वचनविमक्तिः         | રૂષ્ધ                    | -ષ્પર    | अनित्यभावना, मुनेः हस्त्यादि   | ४४५        |
| -୪७୪     | उद्देशकः-२ क्रोधोत्पत्ति वर्जन | ३९९                      | [ .      | उपमा, अन्तकृत् एवं मोक्षगामी   |            |
| D        | अध्ययनं ५ वस्त्रैषणा           | ४०२                      | Ī        | मुनि स्वरुप दर्शनम्            |            |
| -865     | उद्देशकः-१ वस्त्रग्रहण विधिः   | ४०३                      | 1        |                                |            |
| L        | <u> </u>                       | 1                        | <u> </u> | l                              |            |





-પ.પૂ. માલવભુષણ તપસ્વી આચાર્ચદેવ શ્રી નવરત્નસાગર સૂરીશ્વરજી મ.સા.ની પ્રેરણાથી શ્રી લાલભાઈ દેવચંદ શાહ તરફથી - નકલ એક.

-પ.પૂ. સરળ સ્વભાવી-શ્રીમદ્ ભગવતીસૂત્ર વ્યાખ્યાન પટુ આચાર્યદેવ શ્રી નરદેવસાગરસૂરીશ્વરજી મ.સા. તથા પૂજ્યશ્રીના શિષ્યરત્ન તપસ્વી ગણિવર્ચશ્રી ચંદ્રકીર્તિસાગરજી મ.સા.ની પ્રેરણાથી શ્રી પુરુષાદાનીચ પાર્શ્વનાથ શ્વે. મૂર્તિ. જૈન સંઘ, દેવકીનંદન સોસાચટી, અમદાવાદ તરફથી નકલ એક.

-૫.૫ૂ. શાસન પ્રભાવક-ક્રિચારાગી આચાર્યદેવશ્રી વિજય ૠચક્રચંદ્ર સૂરીશ્વરજી મ.સા.ની પ્રેરણાથી એક સદ્ગૃહસ્થ તરફથી નકલ એક.

-પ.પૂ. સાહિત્યપ્રેમી મુનિરાજ શ્રી સર્વોદય સાગરજી મ.સા.ની પ્રેરણાથી-"અચલગચ્છાધિપતિ પ.પૂ.આ.ભ.શ્રી ગુણસાગરસૂરીશ્વરજી મ.સા.ના શિષ્યરત્ન પ.પૂ. મુનિરાજ શ્રી ચારિત્રરત્નસાગરજી મ. ની ૧૯મી અક્ષાઇ નિમિત્તે-શ્રી ચારિત્રરત્ન ફા.ચે.ટ્રસ્ટ તરફથી નકલ એક.

-પ.પૂ. પૈયાવૃત્ત્યકારિકા સાધ્વી શ્રી મલયાશ્રીજી મ.સા.ના શિષ્યા વ્યવહાર વિચક્ષણા પૂ. સાધ્વી શ્રી હિતજ્ઞાશ્રીજી મ.ની પ્રેરણાથી જેન આરાધના મંદિર-"જ્ઞાનખાતા" તરફથી નકલ એક.

-૫.પૂ. સોમ્ચમૂર્તિ સાધ્વીશ્રી સોમ્ચગુણાશ્રીજી મ.ની પ્રેરણાથી ૫.પૂ. ગુરુમાતા-વાત્સલ્ચમૂર્તિ સા.શ્રી ૨૮નત્રચાશ્રીજી મ.ની પંચમી પુન્ચતિથિ નિમિત્તે શ્રીમતી લીલમબેન પ્રાણલાલ પી. દામાણી તરફથી નકલ એક.

-પ.પૂ. સ્વનામધન્યા સા. શ્રી સૌમ્યગુણાશ્રીજી તથા તેઓના શિષ્યા સા.શ્રી સમજ્ઞાશ્રીજીની પ્રેરણાથી-૨૦૫૩ના યશસ્વી ચાતુર્માસ નિમિત્તે શ્રી પાર્શ્વપદ્માવતી જેન સંઘ, પારૂલનગર, અમદાવાદ તરફથી નકલ બે.

-પ.પૂ. રત્નગચારાધકા સાધ્વીશ્રી સોમ્ચગુણાશ્રીજી તથા તેઓશ્રીના શિષ્યા સા. શ્રી સમજ્ઞાશ્રીજીની પ્રેરણાથી સંવત ૨૦૫૪ના નિર્મળ આરાધનામચ ચાતુર્માસની સ્મૃતિમાં-ઘાટલોડિયા (પાવાપુરી) જેન શ્વે. મૂર્તિ. સંઘ, અમદાવાદ તરફથી નકલ એક. -પ.પૂ. સાધ્વી શ્રી ૨ત્નગચાશ્રીજી મ.ના પરમ વિનેચા સા.શ્રી સોમ્ચગુણાશ્રીજીની પ્રેરણાથી તેઓના સંસારીભાઈશ્રી ઇન્દ્રવદનભાઈ દામાણીના અનુમોદનીચ પુરુષાર્થથી ''આગમ દીપ-સંપુટ''ના બદલામાં પ્રાપ્ત રક્તમમાંથી-નકલ ચાર.

-પ.પૂ. પ્રશમરસનિમગ્ના સાધ્વીશ્રી પ્રશમશીલાશ્રીજી મ.ની પ્રેરણાથી-સમ્મેતશિખર તિર્થોદ્ધારિકા પ.પૂ. સાધ્વીશ્રી રંજનશ્રીજી મ.સા.ના શિષ્યા અપ્રતિમ વેચાવૃત્ત્યકારિકા સા.શ્રી મલચાશ્રીજી તત્ શિષ્યા સા. શ્રી નરેન્દ્રશ્રીજી-તત્ શિષ્યા સા. શ્રી પ્રગુણાશ્રીજી મ.ના. આત્મશ્રેચાર્થે-અરિહંત ટાવર, જૈન સંઘ, મુંબઇ તરફથી નકલ એક.

-૫.પૂ. આગમોદ્ધારક આચાર્ચદેવશ્રી ના સમુદાચવર્તી ૫.પૂજ્ય વેચાવૃત્ત્વકારિકા સા.શ્રી મલચાશ્રીજી મ.ના શિષ્યા પૂ.સા. શ્રી કેવલ્ચશ્રીજી મ.ના શિષ્યા પૂ.સા.શ્રી ભવ્યાનંદશ્રીજી મ.સા.ના સુશિષ્યા મિષ્ટભાષી સાધ્વીશ્રી પૂર્ણપ્રજ્ઞાશ્રીજી મ.સા. તથા તેમના વિનિત શિષ્યા સા. શ્રી પૂર્ણદર્શિતાશ્રીજી તથા સા. પૂર્ણનંદીતાશ્રીજીની પ્રેરણાથી-સર્વોદય પાર્શ્વનાથ ચેરીટેબલ ટ્રસ્ટ, મુલુન્ડ મુંબઈ તરફથી નકલ એક.

-૫.પૂ. યેચાવૃત્ત્યકારિકા સાધ્વીશ્રી મલચાશ્રીજી મ.ના પ્રશિષ્યા સા. શ્રી ભવ્યાનંદશ્રીજીમ.ના સુવિનિતા સા.શ્રી કલ્પપ્રજ્ઞાશ્રીજી તથા કોકીલકંઠી સા. શ્રી કેરવપ્રજ્ઞાશ્રજી ની પ્રેરણાથી -મેહુલ સોસાચટી, આરાધનાભવન, સુભાષનગર, વડોદરાની બહેનો તરફથી નકલ એક

-શ્રી વિશાશ્રીમાળી તપગચ્છજ્ઞાતિ-જ્ઞાનખાતું, જૈન પાઠશાળા, જામનગર તરફથી નકલ બે.

-શ્રી મંગળ પારેખનો ખાંચો-જૈન શે. મૂર્તિ. સંઘ, અમદાવાદ. તરફથી ૨૦૫૪ના ચાતુર્માસ નિમિત્તે નકલ બે.

- શ્રી આકોટા જેન સંઘ, વડોદરાની બહેનો તરફથી નકલ એક.

-શ્રીમતી નચનાબેન રમેશચંદ્ર શાહ, વડોદરાની પ્રેરણાથી આગમોના સેટના બદલામાં પ્રાપ્ત રક્મમાંથી નક્લ પાંચ.

શેષ સર્વે ૨કમ "અમારા"આજ પર્યન્ત પ્રકાશનોના બદલામાં પ્રાપ્ત થયેલી છે. नमो नमो निम्पत दंसणरस पंचम गण्डपर त्री सुदर्मास्वामिने नमः

# १ आचाराङ्ग सूत्रम्

#### स दी कं

प्रयमं अङ्ग सूत्रम्

(मूलम् + श्री भद्रबाहुस्वामी कृत् निर्युक्तिः एवं श्री शिलाङ्काचार्य रचित वृत्तिः युक्तं)

अध्ययनं-१ शख परिज्ञा)

ॐ नमः सर्वज्ञाय ॥

- ॥ जयति समस्तवस्तुपर्यायविचारापास्ततीर्थिकं, विहितैकैकतीर्थनयवादसमूहवशात्प्रतिष्ठितम् बहुविधभङ्गिसिद्धिसद्धान्तविधूनिमलमलीमसं, तीर्थमनादिनिधनगतमनुपममादिनतं जिनेश्वरैः
- ॥२॥ आचारशास्त्रं सुविनिश्चितं यया, जगाद वीरो जगते हिताय यः
  - तथैव किञ्चिद्गदतः स एव मे, पुनातु धीमान् विनयार्पिता गिरः
- ||३|| शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनं च गन्धहस्तिकृतम्

तस्मात् सुखबोधार्यं गृह्णम्यहमञ्जसा सारम्

इह हि रागद्वेषमोहाद्यभिभूतेन सर्वेणापि संसारिजन्तुना शारीरमानसानेकतिकटु-कटुःखोपनिपातपीडितेन तदपनचनाय हेयोपादेयपदार्थपरिज्ञाने यत्नो विधेयः, स च न विशि-ष्टविवेकमृते, विशिष्टविवेकश्चन प्राप्ताशेषातिशयकलापाप्तोपदेशमन्तरेण, आप्तश्च सगद्वेषमोहादीनां दोषाणामात्यन्तिकप्रक्षयात्, स चार्हत एव, अतः प्रारम्यतेऽर्हद्वचनानुयोगः, स च चतुर्घा, तद्यद्य - धर्मकथानुयोगो गणितानुयोगो द्रव्यानुयोगश्चरणकरणानुयोगश्चेति, तन्न धर्मकथानुयोग उत्तराघ्ययनादिकः, गणितानुयोगः सूर्यप्रज्ञप्तयादिकः, द्रव्यनुयोगः पूर्व्याणि सम्पत्यादिकश्च, चरणकरणानुयोगश्चाचारादिकः, स च प्रधानतमः, शेषाणां तदर्यत्वात्, तदुक्तम् – चरणपडिवत्तिहेउं जेणियरे तिण्णि अनुओग'ति, तथा– ॥१॥ ''चरणपडिवित्तिहेउं धम्मकहाकालदिकखमादीया

दविए दंसणसोही दंसणसद्धस्स चरणं तु" गणधरैरप्यत एव तस्यैवादी प्रणयनमकारि, अतस्तव्यतिपादकस्याचाराङ्गस्यानुयोगः

भगवर प्रि. एप एप एपपाया प्रश्वकायकार, जितराजार प्रथम भारत जाता प्रश्न भारत जाता प्रश्न भारत जाता प्रश्न भारत स समारम्यते, स च परमपदप्राप्तिहेतुत्वात्सविघ्नः, तदुक्तम् --॥ १॥ ''श्रेयांसि बहुविघ्नानि, भवन्ति महतामपि अश्रेयसि प्रवृत्तानां, कापि यान्ति विनायकाः'' तस्मादशेषप्रत्यूहोपशमनाय मङ्गलमभिधेयं, तच्चादिमध्यावसानभेदात्रिधा, तत्रादि-मङ्गलं 'सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खाय'मित्यादि, अत्र च भगवद्वचनानुवादो मङ्गलम्, अथवा श्रुतमितिश्रुतज्ञानं, तच्च नन्दन्तः पातित्वान्मङ्गलमिति, एतच्चाविघ्नेनाभिल-षितशास्त्रार्थपारगम-नकारणं, मध्यमङ्गलं लोकसाराध्ययनपश्चमोद्देशकसूत्रं 'से जहा केवि हरए पडिपुण्णे चिट्ठइ समंसि भोम्मे उवसन्तरए सारक्खमाणे'इत्यादि, अत्र च हृदगुणेराचार्य्य गुणोत्कीर्त्तनम्, आचार्यश्च पञ्चनमस्कारान्तः पातित्वान्मङ्गलमिति, एतच्चाभिलषितशास्त्रार्थसिरीकरणार्थम्, अवसानमङ्गलं नवमाध्ययनेऽवसानसूत्रम् 'अभिनिव्वुडे अमाई आवकहाए भगवं समियासी' अत्राभिनिर्वृतग्रहणं संसारमहातरुकन्दोच्छेचऽविप्रतिपत्त्या ध्यानकारित्वान्मङ्गलमिति, एतच्च शिष्यप्रशिष्यसन्ता-नाव्यवच्छेदार्थमिति, अध्ययनगतसूत्र मङ्गलत्वप्रतिपादेनैनैवाध्ययनानामपि मङ्गलत्वमुक्तमेवेति न प्रतन्यते, सर्वमेव चा शास्त्रं मङ्गं, ज्ञानरूपत्वात् ज्ञानस्य च निर्जरार्थत्वात्, निर्जरार्थत्वेन च तस्याविप्रतिपत्तिः, यदुक्तम्--

119 ।। "जं अन्नाणी कम्मं खवेइ बहुयाहिं वासकोडीहिं तं नाणी तिहिं गुत्तो खवेइ उस्सासमित्तेणं"

मङ्गलशब्दनिरुक्तं च मां गालयत्यपनयति भवादिति मङ्गलं, मा भूद्गलो विघ्नो गालो वा नाशः शास्त्रस्येति भङ्गलमित्यादि, शेषं त्वाक्षेपपरिहारदिकमन्यतोऽवसेयमिति ।

साम्प्रतमाचारानुयोगः प्रारभ्यते -- आचारस्यानुयोगः-अर्थकथनमाचारानुयोगः, सूत्रा-दनु-पश्चादर्थस्य योगोऽनुयोगः, सूत्राध्ययनात्पश्चादर्थकथनमिति भावना, अणोर्वा लघीयसः सूत्रस्य महताऽर्थेन योगोऽनुयोगः, स चामीभिर्द्वा रैरनुगन्तव्यः, तद्यथा –

े ॥ १॥ निक्खेवेगइनिरुत्तिविहिपवित्ती य केण वा कस्स तद्दारभेयलक्खण तदरिहपरिसा स सुत्तत्थो

तत्र निक्षेपो-नामादिः सप्तधा, नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यानुयोगो द्वेधा-आगमतो नोआ गमतश्च, तत्रागमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तो, नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरतद्व्यति-रिक्तोऽनेकधा, द्रव्येण-सेटिकादना द्रव्यस्य-आत्मपरमाण्वादेर्द्रव्येनिषद्यादौ वा अनुयोगो द्रव्यानुयोगः, क्षेत्रानुयोगः क्षेत्रेण क्षेत्रस्य क्षेत्रे वाऽनुयोगः क्षेत्रानुयोगः, एवं कालेन कालस्य काले वाऽनुयोगः कालानुयोगः, वचनानुयोग एकवचनादिना, भावानुयोगी द्वेधा आगमतो नोआगमतश्च, तत्रागमतो ज्ञातोपयुक्तो, नोआगमतस्तु औपशमिकादिभावैः, तेषां चानु योगोऽर्थकथनं भावानुयोगः, शेषमावश्यकानुसारेण ज्ञेयं, केवलमिहानुयोगस्य प्रस्तुतत्वात्तस्य चाचार्याधीनत्वात् केनेतिद्वारं विव्रियते, तथोपक्रमादीनि च द्वाराणि प्रचुरतरोपयोगित्वात्यदर्श्यन्ते, तत्र केनेति कथम्भूतेन ? यथाभूतेन च सुरिणा व्याख्या कर्त्तव्या तथा प्रदर्श्वते

| 11911 | "देसकुलजाइलवी संघयणी धिइजुओ अणासंसी        |
|-------|--|
|       | अविकत्थणों अमाई थिरपरिवाडी गहियवक्को''     |
| IIRII | जियपरिसो जियनिद्दो मज्झत्थो देसकालभावञ्च   |
|       | आसन्नलद्धपइभो नानाविह्रदेसभासण्णू          |
| 3     | पंचविहे आयारे जुत्तो सुत्तत्यतदुभयविहिन्नू |
|       | आहरणहेउकारनणयनिउणो गाहणाकुसलो              |

#### IIVII ससमयपरसमयविऊ गंभीरो दित्तिमं सिवो सोमो गुणसयकलिओ जुत्ती पवयणसारं परिकहेउ

आर्यदेशोद्भूतः सुखावबोधवचनो भवतीत्यतो देशग्रहणं, पैतृकं कुलमिक्ष्वाक्वादि इातकुलश्च यथोखिप्तभारवहने न श्राम्यतीति, मातृकी, जातिस्तत्संपन्नो विनयादिगुणवान्, भवति, 'यत्राकृतिस्तन्न गुणा वसन्ती'ति रूपग्रहणं, संहननधृतियुतो व्याख्यानादिषु न खेदमेति, अनाशंसी श्रोतृभ्यो न वस्त्राद्याकाङ्कति, अविकत्यनो हितमितभाषी, अमायी सर्वत्र विश्वास्यः, स्थिरपरिपाटिः परिचितग्रन्थस्य सूत्रार्थगलनासंभवात्, ग्राह्यवाक्यः सर्वत्रास्खलिताज्ञः, जितपर्षद् राजादिसदसि न क्षोभमुपयाति, जितनिद्रोऽप्रमत्तत्वात्रिद्राप्रमादिनः शिष्यान् सुखेनैव प्रबोधयति, मध्यस्थः शिष्येषु समचित्तो भवति, देशकालभावज्ञः सुखेनैव गुणवद्देशादौ विहरिष्यति, आसन्नलब्धप्रतिभो द्राक् परवाद्युत्तरदानसमर्थो भवति, नानाविधदेशभाषाविधिज्ञस्य नानाविधदेशजाः शिष्याः व्याख्यानं सुखमवभोत्स्यन्ते, ज्ञानाद्याचारपञ्चकयुक्तः श्रद्धेयवचनो भवति, सूत्रार्थतदुभयविधिज्ञ उत्सर्गापवादप्रपञ्चं ययावद्ज्ञापयिष्यति, हेतूदाहरण-निमित्तनयप्रपञ्चज्ञः अनाकुलो हेत्वादीनाचष्टे, ग्राहणाकुशलो बह्वीभिर्युक्तिभिः शिष्यान् वोधयति, त्वसमयपरसमयज्ञः सुखेनैव तत्स्थापनोच्छेदैा करिष्यति, गम्भीरः खेदसहः, दीप्तिमान् पराधृष्यः, शिवहेतुत्वात् शिवः, तदधिष्ठितदेशे मार्य्याद्युपशमनातु, सौम्यः सर्वजननयनमनेरमणीयः, गुणशतकलितः प्रश्रयादिगुणोपेतः, एवंविधः सूरिः प्रवचनानुयोगे योग्यो भवति ।।

तस्य चानुयोगस्य महापुरस्येव चत्वार्यनुयोगद्वाराणि-व्याख्याङ्गानि भवन्ति, तद्यथा – उपक्रमो निक्षेपोऽनुगमो नयः, तत्रोपक्रमणमुपक्रमः उपक्रम्यतेऽनेनास्मादस्मिन्निति वोपक्रमः -व्याचिख्यासितशास्त्रस्य समीपानयनमित्यर्थः, सच शास्त्रीयलौकिकभेदाद् द्विधा, तत्र शास्त्रीयः आनुपूर्वी नाम प्रमाणं वक्त्व्यताऽर्थाधिकारः समवतारश्चेति षोढा, लौकिको नाम स्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात् षोढैव। निक्षेपणमननेस्मादिस्मिन्निति वा निक्षेपः, उपक्रमानीतस्य व्याचिख्यासितशास्त्रस्य नामादिन्यसनमित्यर्थः, स च त्रिविधः, तद्यथा – ओधनिष्पन्नो नाम-निष्पन्नः सूत्रालापकनिष्पन्नश्च, तत्रौधनिष्पन्नोऽङ्गाध्ययनादिसामान्यभि-धानन्यासः, नामनिष्पन्न आचारशस्त्रपरिज्ञादि-विशेषाभिधाननामादिन्यासः, सूत्रालापक- निष्पन्नश्च सूत्रालापकानां नामादिन्यसनमिति। अनुगमनमनेनास्माद स्मिन्निति वाऽनुगमः, अर्थकथनमित्यर्थः, स च द्विधा-निर्युक्त्यनुगमः सूत्रानुगमश्चेति, तत्र निर्युक्त्यगमस्त्रिविधः, तद्यधा-निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमः उपोद्धातनिर्युक्त्यनुगमः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यगमस्त्रिति वाऽनुगमः, अर्थकथनमित्यर्थः, स च द्विधा-निर्युक्त्यनुगमः सूत्रानुगमश्चेति, तत्र निर्युक्त्यगमस्त्रितिधः, तद्यधा-निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमः उपोद्धातनिर्युक्त्यनुगमः सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्यनुगमश्चेति, तत्र निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमा निक्षेप एव सामान्यविशेषाभिधानयोरोधनिष्यन्ननामनिष्यन्नाभ्यां विक्षेपाम्यामनुगतः सूत्रापेक्षया वक्ष्यमाणलक्षणश्चेति, उपोद्घात निर्युक्त्यनुगमश्चाम्यां द्वारगाधान्यामनुगन्तव्यः, तद्यधा –

 ١١٩ ||
 'उद्देसे निद्देसे य निग्गमे खेत्तकालपुरिसे य

 कारणपञ्चयलक्खण नए समोयारणाऽनुमए

 ॥२ ||
 किं कतिविहं कस्स कहिं केसु कहं केचिरं हवइ कालं

 ढ्व संतरमविरहियं भवागरिस फासणनिरुत्ती''

 सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्तयनुगमः सूत्रावयवानां नयैः साक्षेपपरिहारमर्थकथनं, स च सूत्रे स्ति

 Education International

भवति, सूत्रं च सूत्रानुगमे, स च सूत्रोद्यारणरूपः पदच्छेदूपश्चेति। अनन्तधर्माध्यासितं वस्त्वेकेनैव धर्मेण नयन्तिपरिच्छिन्दन्तीति ज्ञानविशेषा नयाः, ते च नैगमादयः सप्तेति। साम्प्रत-माचाराङ्गस्योपक्रमादीनामनुयोगढाराणां ययायोगंकिञ्चिद्विभणिषुरशेषप्रत्यूहोपशमनाय मङ्गलार्थं प्रेक्षापूर्वकारिणां च प्रवृत्त्यर्थं सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनप्रतिपादिकां निर्युक्तिकारो गाथामाह –

नि. [9] वंदित्तु सव्वसिद्धे जिणे अ अनुओगदायए सव्वे । आयारस्स भगवओ निज्जुत्तिं कित्तइस्सामि

**q**. तत्र वन्दित्वा सर्वसिद्धान् जिनांश्चेति मङ्गलवचनम्, अनुयोगदायकानित्येतच्च सम्बन्धवचनमपि, आचारस्येत्यभिधेयवचनं, निर्युक्तिंकरिष्ये इतिप्रयोजनकथनमितितात्पर्यार्थः, अवयवार्थस्तु 'वन्दित्वे'ति 'वदिअभिवादनस्तुत्यो'रित्यर्थद्वयाभिधायी धातुः, तत्राभिवादनं कायेन स्तुतिर्वाचा, अनयोश्च मनःपूर्वकत्वात्करणत्रयेणापि नमस्कार आवेदितो भवति, सितंध्मातमेषामिति सिद्धाः-प्रक्षीणाशेषकर्माणः, सर्वे च ते सिद्धाश्च सर्वसिद्धाः, सर्वग्रहणं तीर्थातीर्थानन्तरपरम्परा-दिसिद्धप्रतिपादकं, तान्वन्दित्वेति सम्बन्धः सर्वन्न योज्यः, रागद्वेषजितो जिनाः--तीर्थकृतस्तानपि सर्वान् अतीतानागतवर्त्तमानसर्वक्षेत्रगतानिति, अनुयोगदायिनः-सुधर्मस्वामिप्रभृतयो यावदस्य भगवतो निर्युक्तिकारस्य भद्रबाहुस्वामिनश्चतुर्द्वशपूर्वधरस्याचार्योऽतस्तान् सर्वानिति, अनेन चान्नायकथनेन स्वमनीषिकाव्युदासः कृतो भवति, 'वन्दित्वे'ति कृत्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियास-व्यपेक्षत्वादुत्तरक्रि यामाह-'आचारस्य' यथार्थनान्नः 'भगवत' इति अर्थधर्मप्रयत्नगुणभाजस्तस्यै-वंविधस्य, निश्चयेनार्थप्रतिपादिका युक्तिर्निर्युक्तिस्तां 'कीर्त्तयिष्ये' अभिधास्ये इति अन्तस्तत्त्वेन निष्पन्नां निर्युक्ति बहिस्तत्त्वेन प्रकाशयिष्यामीत्पर्थाः ॥

यथाप्रतिज्ञातमेव बिभणिषुर्निक्षेपार्हणि पदानि तावत् सुहृद्भूत्वाऽऽचार्यः संपिण्ड्य कथयति –

नि. [२] आयार अंग सुयखंध बंभ चरणे तहेव सत्थे य । परिण्णाए संणाए निक्खेवो तह दिसाणं च

**मृ.** आचार अङ्गश्रुतस्कन्धब्रह्मचरणशस्त्रपरिज्ञासंज्ञादिशामित्येतेषां निक्षेपः कर्त्तव्य इति तत्राचारब्रह्मचरणशस्त्रपरिज्ञाशब्दा नामनिष्पन्ने निक्षेपे द्रष्टव्याः, अङ्गश्रुतस्कन्धशब्दा ओघनिष्पन्ने, संज्ञादिक्शब्दी सूत्रालापकनिष्पन्ने निक्षेपे द्रष्टव्याविति ॥

एतेषां मध्ये कस्य कतिविधो निक्षेप इत्यत आह --

नि. [३] चरणदिसावञ्जाणं निक्खेवो चउक ओ य नायव्वो । चरणंभि छव्विहो खलु सत्तविहो होइ उ दिसाणं

**ष्ट्र.** चरणदिग्वर्जानां चतुर्विधो निक्षेपः, चरणस्य षड्विधः, दिक्शब्दस्य सप्तविधो निक्षेपः, अत्र च क्षेत्रकालादिकं यथासम्भवमायोज्यम् ॥ नामादिचतुष्टयं सर्वव्यापीति दर्शयितुमाह –

नि. [४] जत्थ य जं जाणिज़ा निक्खेवं निक्खिवे निरवसेसं। जत्थविय न जाणिज्जा चउक यं निक्खिवे तत्थ

वृ. 'यन्न' चरणदिक्शब्दादी यं निक्षेपं-क्षेत्रकलादिकं जानीयात्तं तन्न निरवशेषं निक्षिपेद्, यत्र तु निरवशेषं न जानीयादाचाराङ्गादौ तन्नापिनामस्थापनाद्रव्यभावचतुष्कात्मकं निक्षेपं निक्षिपेदित्युपदेश इति गाथार्थः ॥

--प्रदेशान्तरप्रसिद्धस्यार्थस्य लाघवमिच्छता निर्युक्तिकारेण गाथाऽम्यधायि -आयारे अंगंमि य पुव्वुद्दिहो चउक्क निकुखेवो । नि. [५] नवरं पुण नाणत्तं भावायारंमि तं वोच्छं व. क्षुलिकाचारकथायामाचारस्य पूर्वोद्दिष्टो निक्षेपः अङ्गस्य तुचतुरङ्गाध्ययन इति, यश्चात्र विशेषः सौऽमिधीयते-'भावाचारविषय' इति ।। यथाप्रतिज्ञातमाह – तस्सेगड्र पवत्तण पढमंग गणी तहेव परिमाणे । नि. [६] समोयारे सारो य सत्तहि दारेहि नाणत्तं वु. 'तस्य' भावाचारस्य एकार्थाभिधायिनो वाच्याः, तथा केन प्रकारेण प्रवृत्तिः-प्रवर्त्तन-माचारस्याभूत् तद्यवाच्यं, तथा प्रथमाङ्गता च वाच्या, तथा गणी-आचार्यस्तस्य कतिविधं स्थानमिद-मिति च वाच्यं, तथा 'परिमाणम्' इयत्ता वाच्या, तथा किं कुव समवतरतीत्येतच वाच्यं, तथा सारश्च वाच्यः, इत्येभिद्धरिः पूर्वस्माद्भावाचारादस्य भेदो-नानात्वमिति पिण्डार्थः ॥ --अवयवार्थं तु निर्युक्तिकृ देवाभिधातुमाह --आयारो आचालो आगालो आगरो य आसासो । नि. [७] आयरिसो अंगंति य आइण्णाऽऽजाइ आमोक्खा **व.** आचर्य्यते आसेव्यत इत्याचारः, स च नामादिचतुर्द्धा, तत्र ज्ञशरीरभव्यशरीरतद् व्यतिरिक्तो द्रव्याचारोऽनया गाथयाऽनुसर्त्तव्यः-''नामनधोयणवासणसिक्खावणसुकरणाविरोहीणि 11911 दव्वाणि जाणि लोए दव्वायारं वियाणाहि" भावाचारो द्विधा-लौकिको लोकोत्तरश्च, तत्र लौकिकः पाषण्डिकादयः पश्चरात्रादिकं यत् कुर्व्वन्ति स विज्ञेयो, लोकोत्तरस्तु पञ्चधा ज्ञानादिकः, तत्र ज्ञानाचारोऽष्टधा, तद्यथा – 'काले विणए बहुमाणे उवहाणे तहा अनिण्हवणे 11911 वंजणअत्यतदुभए अइविहो नाणमायारो' --दर्शनाचारोऽप्यष्टधैव. तद्यथा --'निस्संकियनिक्वंखिय निव्वितिगिच्छा अमूढदिईी य 11211 उववूहथिरीकरणे वच्छल्लपभावणे अहु' –चारित्राचारोऽप्यष्टधैव – 'तिन्नेव य गुत्तीओ पंच समिइओ अड मिलियाओ 11311 पवयणमाईउ इमा तास ठिओ चरणसंपत्रो' -तप आचारो द्वादशधा, तद्यथा -अनसनमूणोयरिया वित्तीसंखेवणं रसचाओ 11811 कायकिलेसो संलीणया य बज्झो तवो होइ पायच्छित्तं विणओ वेयावझं तहेव सज्झाओ ાધા झाणं उस्सग्गोविय अब्भितरओ तवो होइ

-वीर्याचारस्त्वनेकधा -

#### 'अणिगूहियबलविरिओ परक्वमइ जो जहुत्तमाउत्तो जुंजइ य जहाथामं नायव्वो वीरियायारो'

एष पञ्चविध आचारः, एतस्रतिपादकश्चायमेव ग्रन्थविशेषो भावाचारः, एवं सर्वत्र योज्यम्। इदानी माचालः, आचाल्पतेडनेनातिनिविडं कर्मादीत्याचालः, सोऽपि चतुर्धा, व्यतिरिक्तो वायुः, भावाचालस्त्वयमेव ज्ञानादिः पञ्चधा। इदानीमागालः, आगालानमागालः-समप्रदेशावस्तानं, सोऽपि चतुर्धा, व्यतिरिक्त उदकादेर्निम्नप्रदेशावस्थानं, भावागालो ज्ञानादिक एव तस्यात्मनि रागादिरहितेऽवस्थानमितिकृत्वा। इदानीमाकरः, आगत्य तस्मिन् कुर्वन्तीत्याकरः, नामादिः, तत्र व्यतिरिक्तो रजतादिः, भावाकरोऽयमेव ज्ञानादिः, तत्यतिपादकश्चायमेव ग्रन्थो, निर्जरादिरत्लानामत्र लाभात्। इदानीमाश्र्वासः, आश्वासन्त्यस्मिन्नित्याश्चासो नामादिः, तन्न व्यतिरिक्तो यानपात्रद्वीपादिः, भावाकरोऽयमेव ज्ञानादिः, तत्यतिपादकश्चायमेव ग्रन्थो, निर्जरादिरत्लानामत्र लाभात्। इदानीमाश्र्वासः, आश्वासन्त्यस्मिन्नित्याश्चासो नामादिः, तन्न व्यतिरिक्तोयानपात्रद्वीपादिः, भावार्थासो ज्ञानादिरेव। इदानीमादर्शः, आद्दश्यते अस्मिन्नित्यादर्शो नामादिः, व्यतिरिक्तोदर्पणः, भावादर्श उक्त एव, यतोऽस्मिन्नितिकर्त्तव्यता दृश्यते। इदानीमङ्गम्, अज्यते-व्यक्तीक्रियते अस्मिन्नित्यङ्गं, नामाधेव, तत्रव्यतिरिक्तं शिरोबाह्मदि, भावाङ्गमयमेवाचारः इदानीमाचीर्णम्-आसेवितं, तच्च नामादिषोढा, तत्रव्यतिरिक्तं प्रव्याचीर्णं सिंहादेस्तृणादिपरिहारेण पिशितभक्षणं, क्षेत्राचीर्णं वाल्हीकेषु सक्तवः कोङ्कणेषु पेया, कालीचीर्णं लिदं –

1911 सरसो चंदणपंको अम्घइ सरसा य गंधकासाई पाडलिसिरीसमल्लिय पियाइँ काले निदाहंमि

भावाचीर्णं तु ज्ञानादिपञ्चकं, तखतिपादकश्चाचा रग्रन्थः । इदानीमाजातिः, आजायन्ते तस्यामित्याजातिः, साऽपि चतुर्द्धा, व्यतिरिक्ता मनुष्यादिजातिः, भावाजातिस्तु ज्ञाना द्याचारप्रसूतिरयमेव ग्रन्थ इति । इदानीमामोक्षः, आमुच्यन्तेऽस्मिन्नित्यामोक्षणं वाऽऽमोक्षो, नामादिः, तत्र व्यतिरिक्तो निगडादेः, भावामोक्षः कर्माष्टकोद्वेष्टनमशेषमेतत्साधकश्चायमेवाचार इति । एते किश्चिद्विशेषादेकमेवार्थं विशिंषन्तः प्रवर्त्तन्त इत्येकार्थिकाः, शक्रपुरन्दरादिवत्, एकार्थाभिधायिनां च छन्दश्चितिबन्धानुलोम्यादिप्रतिपत्त्यर्थमुद्रघट्टनम्, उक्तं च –

नि. [८] सव्वेसिं आयारो तित्थस्स पवत्तणे पढमयाए। सेसाइं अंगाइं एकारस आणुपुच्चीए

वृ. सर्वेषां तीर्थद्वराणां तीर्थप्रवर्त्तनादावाचारार्थः प्रथमतयाऽभवद्भवति भविष्यति च, ततः शेषाङ्गार्थ इति, गणधरा अप्यनयैवानुपूर्व्या सूत्रतया प्रथ्नन्तीति

–इदानीं प्रथमत्वे हेतुमाह –

नि. [९]

आयारो अंगाणं पढमं अंगं दुवालसण्हंपि। इत्थ य मोक्खोवाओ एस य सारो पवयणस्स

**वृ.** अयमाचारो द्वादशानामप्यङ्गानां प्रथममङ्गमित्यनूच कारणमाह – यतोऽत्र मोक्षो-पायः-चरणकरणं प्रतिपाद्यते, एष च प्रवचनस्य सारःप्रधानमोक्षहेतुप्रतिपादनाद्, अत्र च स्थितस्य शेषाङ्गाध्ययनयोग्यत्वाद् अस्य प्रथमतयोपन्यास इति ।। इदानीं गणिद्वारं, साधुवर्गो गुणगणो वा गणः सोऽस्यास्तीति गणी आचारायत्तं च गणित्वमिति प्रदर्शयन्नाह –

नि. [१०] आयारम्मि अहीए जं नाओ होइ समणधम्मो उ । तम्हा आयारधरो भण्णइ पढमं गणिडाणं

lieli

**वृ.** यस्मादाचाराध्ययनात्क्षात्त्यादिकश्चरणकरणात्मको वा श्रमणधर्म्मः परिज्ञातो भवति, तस्मात्सर्वेषां गणित्वकारणानामाचारघरत्वं प्रथमम् आद्यं प्रधानं वा गणिस्थानमिति

इदानीं परिमाणं-किं पुनरस्याध्ययनतः पदतश्च परिमाणमित्यत आह –

नि. [१९] नवबंभचेरमइओ अड्ठारसपयसहस्सिओ वेओ । हवइ य स पंचचूलो बहुबहुतरओ पयग्गेणं

वृ. तत्राध्ययनतो नवब्रह्मचर्य्याभिधानाध्ययनात्मकोऽयं पदतोऽष्टादशपदसहात्मको, 'वेद' इति विदन्त्यस्माद्धेयोपादेयपदार्थानिति वेदः-क्षायोपशमिकभाववर्त्ययमाचारइति । सह पञ्च भिश्चूडाभिर्वर्त्तत इति सपञ्चचूडश्च भवति,

उक्तशेषानुवादिनी चूडा, तत्र प्रथमा 'पिंडेसण सेजिरियाभासजाया य वत्थपाएसा उग्गहपडिमत्ति' सप्ताध्ययनात्मिका, द्वितीया सत्तसत्तिक्वया, तृतीया भावना, चतुर्थी विमुक्तिः, पञ्चमीनिशीथाध्ययनं, 'बहुबहुरओपदग्गेणं'तितत्रचतुश्रूलिकात्मकद्वितीयश्रुतस्कन्धप्रक्षेपाद्वहुः, निशीथाख्यपञ्चमचूलिकाप्रक्षेपाद्वहुतरोऽनन्तगमपर्यायात्माकतया बहुतमश्च, पदाग्रेण-पदपरिमाणेन भवतीति

इदानीमुपक्रमान्तर्गतं समवतारद्वारं, तत्रैताश्रूडा नवसु ब्रह्मचर्याध्ययनेष्ववतरन्तीति दर्शयितुमाह --

| नि. [१२]              | आयारग्गाणत्थो बंभछेरेसु सो समोयरइ ।   |
|-----------------------|---|
|                       | सोऽवि य सत्थपरिण्णाएपिंडिअत्थो समोयरइ   |
| नि. [9३]              | सत्यपरिण्णाअत्थो छस्मुवि काएसु सो समोयरइ ।  |
|                       | छञ्जीवणियाअत्यो पंचसुवि वऍसु ओयरइ   |
| नि. [9४]              | पंच य महव्वयाई समोयरते च सव्वदव्वेसुं ।   |
|                       | सब्वेसिं पञ्जवाणं अणंतभागम्मि ओयरइ  |
| <b>वृ</b> , उत्तानाः  | र्याः, नवरम् 'आचाराग्राणि' चूलिकाः द्रव्याणि-धर्मास्तिकायादीनि पर्याया -          |
| अगुरुलघ्वादयः तेष     | शमनन्तभागे व्रतानामवतार इति   |
|                       | –कथं पुनर्महाव्रतानां सर्वद्रव्येष्ववतार इति ? , तदाह –                           |
| नि. [१५]              | 'छँजीवणिया पढमे बीए चरिमे य सव्वदव्वाइं ।   |
|                       | सेसा महव्वया खलु तदेक देसेण दव्वाणं   |
| 'छञ्जीवणि             | या' इत्यादिस्पष्टा । कथं पुनर्महाव्रतानां सर्वद्रव्येष्ववतारो न सर्वपर्यायाष्विति |
| उच्यते, येनाभिप्राये  | ण चोदितवांस्तमाविष्कर्तुमाह   |
| 11911                 | ननु सव्वणभपएसाणंतगुणं पढमसंजमहाणं   |
|                       | छव्विहपरिवुड्ढीए छड्डाणासंखया सेढी  |
| 11211                 | अन्ने के पञ्जाया ? जेणुवउत्ता चरित्तविसयम्मि                                      |
|                       | जे तत्तोऽणंतगुणा जेसिं तमणंकभागम्मि   |
| 31                    | अन्ने केवलगम्पत्ति ते मई ते य के तदब्भहिया ?                                      |
|                       | एवंपि होञ्र तुल्ला नाणंतगुणत्तणं जुत्तं   |
| in Education Internat | For Deliverte & Descent al Use Only   |

#### सेढीसु नाणदंसणपञ्चाया तेण तष्पमाणेसा इह पूण चरित्तमेत्तोवओगियो तेण ते थोवा

च्चू. अयभासामर्थो लेशतः-नन्वित्यसूयायां, संयमस्थानान्यसंख्यातानि तावद्भवन्ति, तेषां यज्ञधन्यं तदविभागपलिच्छेदेन बुध्धा खण्ड्यमानं पर्यायैरनन्ताविभागपलिच्छेदात्मकं भवति, तद्य पर्यायसंख्यया निर्दिष्टं सर्वाकाशप्रदेशसंख्याया अनन्तगुणं, सर्वनमःप्रदेशवर्गीकृतप्रमा-णमित्यर्थ:, ततो द्वितीयादिस्थानैरसंख्यातगच्छगतैरनन्तभागादिकया वृध्धा षट्स्थानका-नामसंख्येयस्थानगता श्रेणिर्मवति, एवं चैकमपि स्थानं सर्वपर्यायान्वितं न शक्यते परिच्छेतुं, किं पुनः सर्वाण्यपीत्यतः केऽन्ये पर्यायाः? येषामनन्तभागे व्रतानि वर्तेरन्निति। स्थान्मतिः, अन्ये केवलगम्या इति, इदमक्तं भवति-केवलगन्याप्रज्ञापनीय- पय्यार्याणामपि तत्र प्रक्षेपादहुत्वम्, एवमपि ज्ञानेज्ञेययोस्तुल्यत्वात्तुल्या एव नानन्तगुणा ति । अत्राचार्य्य आह-याऽसौ संयमस्थानश्रेणिर्निर्लपिता सा सर्वा चारित्रपय्यार्थैज्ञन्दिर्शन-पर्यायसहितैः परिपूर्णा तत्यमाणा-सर्वकाशप्रदेशानन्तगुणा, इह पुनश्चारित्रमात्रोपयोगि- त्वार्प्यायानन्तभागवृत्तित्वमित्यदोषः ।

-इदानीं सारद्वारं, कः कस्य सार इत्याह -

नि. [१६] अंगाणं किं सारो ? आयारो तस्स हवइ किं सारो ? । अनुओगत्यो सारो तस्सवि य परूवणा सारो

**वृ.** स्पष्टा, केवलमनुयोगार्थो-व्याख्यानमूतोऽर्थस्तस्य प्ररूपणा-यथास्वं विनियोग इति । अन्यम्र

नि. [९७] सारो परूवणाए चरण तस्सवि य होइ निव्वाणं । निव्वाणस्स उ सारो अव्वाबाहं जिणा बिंति

**वृ.** स्पष्टैव। इदानीं श्रुतस्कन्धपदयोर्नामादिनिक्षेपादिकं पूर्ववद्विधेयं, भावेन चेहाधिकारः, भावशुतस्कन्धश्च ब्रह्मचर्यात्मक इत्यतो ब्रह्मचरणशब्दौ निक्षेप्तव्यावित्याह —

नि. [9८] बंभम्मी य चउक ठवणाए होड् बंभणुप्पती। सत्तण्हं वण्णाणं नवण्ह वण्णंतराणं च

**वृ.** तत्र ब्रह्म नामादिचतुर्छा, तत्र नामब्रह्म ब्रह्मेत्यभिधानम्, असद्भावस्थापना अक्षादौ सद्भावस्थापना प्रतिविशिष्टयझोपवीताद्याकृतिमृल्लेप्यादौ द्रव्ये, अथवा स्थापनायां व्याख्या यमानायं ब्राह्मणोत्पत्तिर्वक्तव्या, तत्प्रसङ्गेन च सप्तानां वर्णानां नवानां च वर्णान्तराणामुत्पत्तिभणनीयेति । यथाप्रतिज्ञातमाह –

#### नि. [१९] एका मणुस्सजाई रज्जुप्पत्तीइ दो कया उसभे । तिण्णेव सिप्पवणिए सावगधम्मम्मि चत्तारि

ष्ट्र. यावन्नामेयो भगवान्नाद्यापि राजलक्ष्मीमध्यास्ते, तावदेकैव मनुष्यजातिः, तस्यैव राज्योत्पत्तौ भगवन्तमेवाश्रित्य ये स्थितास्ते क्षत्रियाः, शेषाश्च शोचनाद्रोदनाद्य शूद्राः, पुनरग्नुत्प-त्तावयस्कारदिशिल्पवाणिज्यवृत्तया वेशनाद्वैश्याः, भगवतो ज्ञानोत्पत्तौ भरतकाकणीलाञ्छना-च्छावका एव ब्राह्मणा जज्ञिरे, एते शुद्धायश्चान्ये गाथान्तरितगाथया प्रदर्शयिष्यन्ते ॥ –साग्रतं वर्णवर्णान्तरनिष्परनिष्पन्नं संख्यानमाह –

<u>||</u>X|[

नि. [२०] संजोगे सोलसगं सत्त य वण्णा उ नव य अंतरिणो । एए दोवि विगप्पा ठवणा बंभरस नायव्वा

**व्**. संयोगेन षोडश वर्णाः समुत्पन्नाः, तत्र सप्त वर्णा नव तु वर्णान्तराणि, एतच्च वर्ण-वर्णान्तरविकल्पद्वयं स्थापनाब्रह्मेति ज्ञातव्यम् ॥

-- साम्प्रतं पूर्वसूचितं वर्णत्रयमाह-यदि वा प्रागुद्दिष्टान् सप्त वर्णानाह --

नि. [२९] पगई चलक्क गानंतरे य ते हुंति सत्त वण्णा उ । आनंतरेसु चरमो वण्णो खलु होइ नायव्वो

**वृ.** प्रकृतयश्चतः-ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राख्या आसामेव चतसृणामनन्तरयोगेन प्रत्येकं वर्णत्रयोत्पत्तिः, तद्यया-द्विजेन क्षत्रिययोषितो जातः प्रधानक्षत्रियः संकरक्षत्रियो वा, एवंक्षत्रियेण वैश्ययोषितो वैश्येन शूद्धाः प्रधानसंकरभेदौ वक्तव्यावित्येवं सप्त वर्णा मवन्ति, अनन्तरेषु भवा आनन्तरास्तेषु योगेषु चरमवर्णव्यपदेशो भवति-ब्राह्मणेन क्षत्रियायाः क्षत्रियो भवतीत्यादि, स च स्वस्थाने प्रधानो भवतीतिमावः ॥ इदानीं वर्णान्तराणां नवानां नामान्याह –

नि. [२२] अबद्धुग्गनिसाया य अजोगवं मागहा य सूया थ । खत्ताय विदेहाविय चंडजाला नवमगा हंति

**वृ. अम्बष्ट** उग्रः निषादः अयोगवं मागधः सूतः क्षत्ता विदेहः चाण्डालश्चेति ।। कथमेते भवन्तीत्याह –

| नि. [२३] | एगंतरिए इणमो अंबडो चेव होइ उग्गो य ।       |
|----------|--|
|          | विइयंतरिअ निसाओ परासरं तं च पुण वेगे       |
| नि. [२४] | पडिलोमे सुदाई अजोगवं मागहो य सूओ अ।        |
|          | एगंत्रिए खत्ता वेदेहा चेव नायव्वा          |
| नि (२७]  | बितियंतरे नियमा चण्डालो सोऽवि होट नायळ्ये। |

नि. [२५] बितियंतरे नियमा चण्डालो सोऽवि होइ नायव्वो | अनुलोमे पडिलोमे एवं एए भवे भेया

–आआसामर्थो यन्त्रकादवसेयः, तच्चेदम् –

| ब्रह्मपुरुषः     | वैश्या स्त्री    | अम्बष्ठः         |
|------------------|------------------|------------------|
| क्षत्रियः पुरुषः | शूद्री स्त्री    | उग्रः            |
| ब्राह्मणः पुरुषः | शूद्री स्त्री    | निषादः परासरो वा |
| शूद्रः पुरुषः    | वैश्या स्त्री    | अयोगवम्          |
| वैश्यपुरुषः      | क्षत्रिया स्त्री | मागधः            |
| क्षत्रियः पुरुषः | ब्राह्यस्त्री    | सूतः             |
| शूद्रः पुरुषः    | क्षत्रिया स्त्री | क्षत्ता          |
| वैश्यगुरुषः      | ब्राह्मस्त्री    | वैदेहः           |
| शूद्रपुरुषः      | ब्राह्मस्त्री    | चाण्डालः         |

-एतानि नव वर्णान्तराणि, इदानीं वर्णान्तराणां संयोगोत्पत्तिमाह -नि. [२६] उग्गेणं खत्ताए सोवागो वेणवो विदेहेणं। अंबद्वीए सुद्दीय बुक्कसो जो निसाएणं नि. [२७] सूएण निसाईए कुक्करओ सोवि होइ नावव्वो। एसो बीओ भेओ चउव्विहो होइ नायव्वो -अनयोरप्यर्थो यन्त्रकादवसेयः, तद्येदम्।

| उग्रपुरुषः     | विदेहः पुरुषः  | निषाद पुरुषः                     | शूद्र पुरुषः |
|----------------|----------------|----------------------------------|--------------|
| क्षत्ता स्त्री | क्षत्ता स्त्री | अम्बष्ठी स्त्री शूद्री स्त्री वा | निषादस्त्री  |
| श्वपाकः        | वैणवः          | बुक्कसः                          | कुक्कुरकः    |

–गतं स्थापनाब्रह्म, इदानीं द्रव्यब्रह्मप्रतिपादनाय आह –

नि. [२८] दव्वं सरीरभविओ अन्नाणी वत्थिसंजमो चेव। भावे उ वत्थिसंजम नायव्वो संजमो चेव

**वृ**. इशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं शाक्यपरिव्राजकादीनामज्ञानानुगतचेतसां वस्तिनि-रोधमात्रं विधवाप्रोषितभर्तृकादीनां च कुलव्यवस्थार्थं कारितानुमतियुक्तं द्रव्यव्रह्म, भावव्रह्मतु साधूनां वस्तिसंयमः, अष्टादशभेदरूपोऽप्ययं संयम एव, सप्तदशविधसंयमाभिन्नरुपत्वादस्येति, अष्टादश भेदास्त्वमी – 'दिव्यात्कामरतिसुखात्त्त्रिविधंत्रिविधेन विरतिरिति नवकम्। औदारिकादपि तथा तद्ब्रह्माष्टादशविकल्पम् ॥ चरणनिक्षेपार्थमाह –

नि. [२९] चरणंमि होइ छक्कं गइमाहारोगुणो व चरणं च । खइत्तंमि जंमि खित्ते काले कालो जहिं जाओ

वृ. चरणं नामादिषोढा, व्यतिरिक्तं द्रव्यचरणं त्रिधा मवति-गतिभक्षणगुणभेदात्, तत्र गतिचरणं गमनमेव, आहारचरणं भोदकादेः, गुणचरणं द्विधा-लौकिकं लोकोत्तरं च, लौकिकं यत् द्रव्यार्थं हस्तिशिक्षादिकं वैद्यकादिकं वा शिक्षन्ते, लोकोत्तरं साधूनामनुपयुक्त-चरणमुदायिनृपमारकादेर्वा, क्षेत्रचरणं यस्मिन् क्षेत्रे गत्याहारादि चर्य्यते व्याख्यायते वा, शब्दसामान्यान्तर्भावाद्वा शालिक्षेत्रादिचरणमिति, कालेऽप्येवमेव ॥ भावाचरणमाह –

नि. [३०] भावे गइभाहारो गुणो गुणवओ पसत्यमपसत्या । गुणचरणे पसत्येण बंभचेरा नव हवंति

**वृ.** भावचरणमपि गत्याहारगुणभेदात् त्रिधा, तत्र गतिचरणं साधोरुपयुक्तस्य युग-मात्रदत्तधष्टेअटेर्गच्छतः, भक्षणचरणमपि शुद्धं पिण्डमुपभुआनस्य, गुणचरणमप्रशस्तं मिथ्या धष्टीनां सम्यग् ध्ष्टीनामपि सनिदानं, प्रशस्तं तेषामेव कर्मोद्वेष्टनार्थं मूलोत्तरगुणकलापविषयम्, इहचानेनैवाधिकारो, यतो नवाप्यध्ययनानि मूलोत्तरगुणस्थापकानि निर्जरार्थमुनशील्यन्ते एतेषां चान्वार्थाभिधाननि दर्शयितुमाह –

नि. [३९] सत्थपरिण्णा लोगविजओ य सीओसणिज सम्मत्तं। तह लोगसारनामं धुयं तह महापरिण्णा य

#### नि. [३२] अड्डमए य विमोक्खो उवहाणसुयं च नवमगं भणियं। इद्येसो आयारो आयारग्गाणि सेसाणि ॥

**मृ.** स्पष्टे, केवलमित्येष नवाध्ययनरुप आचारो, द्वितीयश्चतस्कन्धाध्ययनानि तु शेषाणि-आचाराग्राणीति ।। साम्प्रतमुपक्र मान्तर्गतोऽर्थाधिकारो द्वेधा-अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राद्यमाह –

#### नि. [३३] जिअसंजभो अ लोगो जह बज्झइ जह य तं पजहियव्वं। सुहदुक्खतितिक्खाविय सम्पत्तं लोगसारो य नि. [३४] निस्संगया य छट्ठे मोहसमुत्या परीसहुवसग्गा। निज्ञाणं अडमए नवमे य जिणेण एवं ति

**द्रृ.** तत्र शस्त्रपरिज्ञायामयमर्थाधिकारो -- 'जियसंजमो'ति जीवेषु संयमो जीवसंयमः-तेषु हिंसादिपरिहारः, स च जीवास्तित्वपरिज्ञाने सति भवत्यतौ जीवास्तित्वविरतिप्रतिपाद-नमत्रार्थाधिकारः । लोकविजये तु 'लोगो जह बज्झइ जह य तं पजहियव्वं'ति, विजितमाव-लोकेन सयमस्थितेन लोको यथा बघ्यते अष्टिवधेन कर्मणा यथा च तस्रहातव्यं तथा ज्ञात-व्यमित्ययमर्थाधिकारः । तृतीये त्वयम्-संयमस्थितेन जितकषायेणानुकूलप्रतिकूलोपसर्गनिपाते सुखदुःखतितिक्षा विधेयेति । चतुर्थे त्वयम्-प्राक्तनाध्ययनार्थसंपन्नेन तापसादि-कष्टतपः सेविनामष्टगुणैश्वर्यमुद्धीक्ष्यापि टूढसम्यक्त्वेन भवितव्यमिति । पश्चमे त्वयम्-चतुर-ध्ययनार्थस्थितेनासारपरित्यागेन लोकसाररत्नत्रयोद्युक्तेन भाव्यमिति । षष्ठे त्वयम्-प्रागु-वतगुणयुक्तेन निसङ्गतायुक्तेनाप्रतिबद्धेन भवितव्यम् । सप्तमे त्वयम्-संयमादिगुणयुक्तस्य कदाधिन्मोहसमुत्धाः परीषहा उपसर्गा वाप्रादुर्भवेयुस्ते सम्यक् सोढव्याः । अष्टमे त्वयम्-निर्याणम्-अन्तक्रिया सा सर्वगुणयुक्तेन सम्यग्विधेयेति । नवमे त्वयम्-अष्टाध्ययनप्रतिपादितो ऽर्थः सम्यगेवं वर्द्धमानस्वामिना विहित इति,तस्वदर्शनं च शेषसाधूनामुत्साहार्थं, तदुक्तम् --

| 11911                 | ''तित्थयरो चउनाणी सुरमहिओ सिज्झियव्यधुवंमि                                    |
|-----------------------|---|
|                       | अणिगूहियबलविरिओसव्वत्यामेसु उज़मइ"'   |
| ારા                   | ''किं पुण अवसेसिहिं दुक्खक्खयकारणा सुविहिएहिं                                 |
|                       | होंति न उज़मियव्वं सपद्यवायंमि माणुरसे''                                      |
|                       | –साम्प्रतमुद्देशार्यधिकारः शस्त्रपरिज्ञाया अयम् –                             |
| नि. [३५]              | जीवो छँकायपरुवणा य तेसिं वहे य बंधोत्ति ।                                     |
|                       | विरईए अहिगारो सत्यपरिन्नाए नायव्वो  |
| <b>वृ.</b> तत्र प्र   | थमोद्देशके सामान्येन जीवास्तित्वं प्रतिपाद्यं, शेषेषु तु षट्सु विशेषेण पृथिवी |
| कायाद्यस्तित्वमि      | ते, सर्वेषां चावसाने बन्धविरतिप्रतिपादनमिति, एतच्चान्ते उपात्तत्वास्र-        |
| त्येकमुद्देशार्थषु यो | जनीयं, प्रथमोद्देशके जीवस्तद्वन्धे बन्धो विरतिश्चेत्येवमिति ।।                |
| तत्र शस्त्र           | - परिज्ञेति द्विपदं नाम, शस्त्रस्य निक्षेपमाह —                               |
| नि. [३६]              | दव्वं सत्यग्गिविसन्नेहंबिलखारलोणमाईयं ।                                       |
|                       | भावो य दुप्पउत्ती वाया काओ अविरई या   |

**वृ.** शस्त्रस्य निक्षेपो नामादिश्चतुर्द्धा, व्यतिरिक्तं द्रव्यशस्त्रं खङ्ग्राद्यग्निविषस्नेहाम्लक्षार लवणादिकं, भावशस्त्रं दुष्प्रयुक्तो भावः-अन्तःकरणं तथा वाक्कायावविरतिश्चेति, जीवोपघा तकारित्वादितिभावः ॥ परिज्ञापि चतुर्द्धेत्याह --

नि. [३७] दव्वं जाणण पद्यक्खाणे दविए सरीर उवगरणे। भावपरिण्णा जाणण पद्यक्खाणं च भावेणं

**वृ.** तत्र द्रव्यपरिज्ञा द्विधा-ज्ञपरिज्ञा प्रत्याख्यानपरिज्ञा च, ज्ञपरिज्ञा आगमनोगमभेदात् द्विधा, अगमतो ज्ञाताऽनुपयुक्तः, नोआगमतस्त्रिधा, तत्र व्यतिरिक्ता द्रव्यपरिज्ञा यो यत् द्रव्यं जानीते सचित्तादि सा परिच्छेद्यद्रव्यप्राधान्यात् द्रव्यपरिज्ञेति, प्रत्याख्यानपरिज्ञाऽप्येवमेव, तत्र व्यतिरिक्तद्रव्यप्रत्याख्यानपरिज्ञा देक्षेपकरणपरिज्ञानम्, उपकरणंच रजोहरणादि, साधकतमत्वात्, भावपरिज्ञापि द्विधैव-ज्ञपरिज्ञा प्रत्याख्यानपरिज्ञा च, तत्रागमतो ज्ञातोपयुक्तश्च, नोआगमतस्तिवदमेवाध्ययनं ज्ञानक्रियारूपं, नोशब्दस्य मिश्रवाचित्वात्, प्रत्याख्यानभावपरिज्ञापि तथैव, आगमतः पूर्ववत्, नोआगमतस्तुप्राणातिपातनिवृत्तिरूपामनोवाक्कायकृतकारितानुमतिभेदात्मिका ज्ञेयेति ।

गतो नामानिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतमाचारादिप्रदानस्य सुखप्रतिपत्तये ध्द्यान्तोपन्यासेन विधिराख्ययाते-यथा कश्चिद्राजा अभिनवनगरनिवेशेच्छया भूखण्डानि विभज्य समतया प्रकृतिभ्यो दत्तवान्, तथा कचवरापनयने शल्योद्धारे भूस्थिरीकरणे पक्तेष्टकापीठप्रासादरचने रत्नाद्युपादाने चोपदेशं दत्तवान्, ताश्च प्रकृतयस्यदुपदेशानुसारेण तथैव कृत्वा यथाऽभिप्रेतान् भोगान् बुभुजिरे, अयमत्रार्थोपनयः-राजसध्शेन सूरिणा प्रकृतिसध्शस्य शिष्यगणस्य भूखण्डसर्धशः संयमो मिथ्यात्वकचवराद्यपनीय सर्वोपाधिशुद्धस्यारोपणीयः, तं च सामायिकसंयमं स्थिरीकृत्य पक्तेषिकापीठतुल्यानि व्रतान्यारोपणीयानि, ततः प्रासादकल्पोऽयमाचारो विधेयः तत्रस्थश्चा-शेषशास्त्रा दिरत्नान्यादत्ते, निर्वाणभाक् भवति । साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणलक्षणोपेतं सूत्रमु- च्चारणीयं, लक्षणं त्विदम् – अप्पगंथमहत्यं बत्तीसादोसविरहियं जं च । लक्खणजुत्तं -: अध्ययनं-9 उद्देशकः -9-

'मू'. (१) सुयं मे आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं-इहमेगेसिं नो सण्णा भवइ।

मृतं अड्रहि य गुणेहिं उववेयं ।।१।।' इत्यादि, तच्चेदं सूत्रम् - 'सुयं म आउसं ! तेणं भगवया एवमक्खायं-इहमेगेसिं नो सण्णा भवति' अस्य संहितादिक्रमेण व्याख्या-संहितोद्यारितैव, पदच्छेदस्त्वयम्-श्रुतं मया आयुष्यमन् ! तेन भगवता एवमाख्यातम्-इह एकेषां नो संज्ञा भवति एकं तिङन्तं शेषाणि सुबन्तानि, गतः सपदच्छेदः सूत्रानुगमः, साद्यंतं सूत्रपदार्थः समुत्रीयते-भगवान् सुधर्मस्वामी जंबूनाम्न इदमाचष्टे यथा - 'श्रुतम्' आकर्णितमवगतमवधारितमितियावद्, अनेन स्वमनीषिकाव्युदासो, 'मये'ति साक्षात्र पुनः पारम्पर्येण 'आयुष्पन्नि'ति जात्यदिगुणसंभवेऽपि दीर्घायुष्कत्वगुणोपादानं दीर्घायुरविच्छेदेन शिष्योपदेशप्रदायको यथा स्यात्, इहाचारस्य व्याचिख्यासितत्वात्तदर्थस्य च तीर्थकृतप्रमीतत्वादिति सामर्थ्यप्रापितं तेनेति तीर्थकरमाह, यदि वा - आमृशता मगवत्यादारविन्दम्, अनेन विनय आवेदितो भवति, आवसता वा तदन्तिक इत्यनेन गुरुकुलवासः कर्त्तव्य इत्यावेदितं मवति, एतच्चार्थद्वयं 'आमुसंतेण आवनंतेणे' त्येतत्पाठान्तरमाश्रित्यावगन्तमिति, 'भगवते'ति भगः-ऐश्वर्य्यादिषडर्थात्मकः सोऽस्यास्तीति भगवान् तेन, 'एव'मिति वक्ष्यमाणविधिना 'आख्यात'मित्यनेन कृतकत्वव्युदासेनार्थरूपतया आगमस्य नित्यत्वमाह,

'इहे'ति क्षेत्रे प्रवचने आचारे शस्त्रपरिझायां वा आख्यातमितिसंबन्धो, यदि वा - 'इहे'ति संसारे 'एकेषां' ज्ञानावरणीयावृतानां प्राणिनां 'नो संज्ञा भवति' संज्ञानं संज्ञा स्मृतिरवबोध इत्य-नर्धान्तरं, सा नो जायत इत्यर्थः, उक्तः पदार्थ, पदविग्रहस्य तु सामासिकम्दाभावादप्रकटनम् । इदानीं चालना-ननु चाकारादिकप्रतिषेधकलधुराशब्दसंभवे सति किमर्थं नोशब्देन प्रतिषेधः इति ?,अन्नप्रत्यवस्था,सत्यमेव, किंतुप्रेक्षापूर्वकारतियानोशब्दोपादानं,साचेयम्-अन्येनप्रतिषेधेन सर्वनिषेधः स्याद्, यश्चनघटोऽघटइतिचेक्ति सर्वात्सनाघटनिषेधः, सच नेष्यते, यतः प्रज्ञापनायां दश संज्ञाः सर्वप्राणिनाममिहितास्तसां सर्वासां प्रतिषेधः प्राप्नोतीतिकृत्वा, ताश्चेमाः-

''कई णं भंते ! सण्णाओ पन्नत्ताओ ?, गोयमा दस सण्णाओ पन्नत्ताओ, तंजहा-आहारसण्णा भयसण्णा मेहुणसण्णा परिग्गहसण्णा कोहसण्णा माणसण्णा मायासण्णा लोभ-सण्णा ओहसण्णा लोगसण्ण''त्ति, आसां च प्रतिषेधे स्पष्टो दोषः, अतो नोशब्देन प्रतिषेधन-मकारि, यतोऽयं सर्वनिषेधवाची देशनिषेधवाची च, तथाहि-नोघट इत्युक्ते यथा घटाभाव-मात्रं प्रतीयते, तथा प्रकरणादिप्रसक्तस्य विधानं, स पुनर्विधीयमानः प्रतिषेध्याक्ववोग्रीवादिः प्रतिषेध्यादन्यो वा पटादिः प्रतीयत इति, तथा चोक्तम्,

॥११॥ "''प्रतिषेधयति समस्तं प्रसक्तमर्थं च जगति नोशब्दः स पुनस्तदवयवो वा तस्मादर्थान्तरं वा स्यादु''

इति, एवमिहापि न सर्वसंज्ञानिषेदः, अपितु विशिष्टसंज्ञानिषेधो, ययाऽऽत्मादिपदार्थस्व-रूपं गत्यागत्यादिकं ज्ञायते तस्या निषेध इति ॥ साम्प्रतं निर्युक्तिकृत्सूत्रावयवनिक्षेपार्थमाह –

नि. [३८] दव्वे सद्यित्ताई भावेऽनुभवणजाणणा सण्णा । मति होइ जाणणा पुण अनुभवणा कम्मसंजुता

**वृ**. संज्ञा नामादिभेदाचतुर्द्धा, नामस्थापने क्षुण्णे, ज्ञशरीरमव्यशरीरव्यतिरिक्ता सचि-त्ताचित्तमिश्रभेदात्रिधा, सचित्तेन हस्तादिद्रव्येण पानभोजनदिसंज्ञा अचित्तेन ध्वजादिना मिश्रेण प्रदीपादिना संज्ञानं-संज्ञा अवगम इतिकृत्वा, भावसंज्ञा पुनर्द्विधा-अनुभवनसंज्ञा ज्ञानसंज्ञा च, तत्राल्पव्याख्येयत्वात्तावत् ज्ञानसंज्ञा दर्शयति - 'मइ होइ जाणणा पुण'त्ति मननं मतिः-अवबोधः सा च मतिज्ञानादिः पञ्चधा, तत्र केवलसंज्ञा क्षायिकी शेषास्तु क्षायोपशमिक्यः, अनुभवनसंज्ञा तु स्वकृतकर्मोदयादिसमुत्था जन्तोर्जायते, सा च षोडशभेदेति दर्शयति –

नि. [३९] आहार भय परिग्गह मेहुण सुख दुक्ख मोह वितिगिच्छा। कोह मान माय लोहे सोगे लोगे य धम्मोहे

**वृ.** आहाराभिलाष आहारसंज्ञा, सा च तैजसशरीरनामकर्म्भोदयादसातोदयाच्च भवति, भयसंज्ञा त्रासरूपा, परिग्रहसंज्ञा मूर्छारूपा, मैथुनसंज्ञा स्त्रयादिवेदोदयरूपा, एताश्च मोहनीयोदयात्, सुखदुःखसंज्ञे सातासातानुभवरूपे वेदनीयोदयजे, मोहसंज्ञा मिथ्यादर्शन रूपा मोहोदयात्,

1 2

विचिकित्सासंज्ञा चित्तविष्तुतिरूपा मोहोदयात् ज्ञानावरणीयोदयाच, क्रोध संज्ञा अप्रीतिरूपा, मानसंज्ञा गर्वरूपा, मायासंज्ञा वक्रतारूपा, लोभसंज्ञा गृद्धिरूपा, शोक-संज्ञा विप्रलापवैमनस्यरूपा, एता मोहोदयजाः, लोकसंज्ञा स्वच्छन्दघटितविकल्परूपा लौकिकाचरिता, यथा-न सन्त्यनपत्यस्य लोकाः, श्वानो यक्षाः, विप्रा देवा, काकाः पितामहाः, बर्हिणां पक्षवातेन गर्भइत्येवमादिका ज्ञानावरणक्षयोपशमान्मोहोदयाद्य मवति, धर्म्पसंज्ञा क्षणाद्यासेवनरूपा मोहनीयक्षयोपशमाज्ञायते, एताश्चाविशेषोपादानात्पञ्चेन्द्रियाणां सम्यग्मिथ्याद्रशां द्रष्टव्याः, ओधसंज्ञातु अव्यक्तोपयोगरूपा वश्चिवितानारोहणादिलिङ्गा ज्ञानावरणीयाल्पक्षयोपशमसमुत्था द्रष्टव्येति । इह पुनर्ज्ञानसंज्ञया-ऽधिकारो, यतः सूत्रे सैव निषिद्धा 'इह एकेषां नो संज्ञा ज्ञानम्-अवबोधो भवती'ति ।।

प्रतिषिद्धज्ञानविशेषावगमार्थमाह सूत्रम् -

'मू'. (२) तंजहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, दाहिणाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, पद्यत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उत्तराओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि, उड्ढाओ वा दिसाओआगओ अहमंसि, अहोदिसाओ वा आगओ अहमंसि, अनोयरीओ वा दिसाओ अणुदिसाओ वा आगओ अहमंसि, एवमेगेसिं नो नायं भवति।

वृ. ''तंजहेत्यादि नो न्नायं भवतीति यावत्'' तद्यथेति प्रतिज्ञातार्थोदाहरणं, 'पुरा त्यिमाउ'त्ति प्राकृतशैल्या मागधदेशीभाषानुवृत्त्या पूर्वस्या दिशोऽभिधायकात् पुरत्थिमशब्दात्पश्चम्यन्तात्तसा निर्देशः, वाशब्द उत्तरपक्षापेक्षया विकल्पार्थः, यथा लोके भोक्तव्यं वा शयितव्यं वेति, एवं पूर्व-स्या वा दक्षिणस्या वेति । देशतीति दिक्, अतिसृजति व्यपदिशति द्रव्यं द्रव्यभागं वेति भावः ॥ तां निर्युक्तिकृत्रिक्षेम्रुमाह –

नि. [४०] नामं ठवणा दविए खित्ते तावे य पण्णवग भावे ।।

एस दिसानिक्खेवो सत्तविहो होइ नायव्वो ॥

**वृ.** नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रतापप्रज्ञापकभावरूपः सप्तधा दिग्निक्षेपो ज्ञातव्यः तत्र सचि तादेर्द्रव्यस्य दिगित्यभिधानं नामदिक्, चित्रलिखितजम्बूद्वीपादेर्दिग्विभागस्थापनं स्थापनादिक् —द्रव्यदिग्निक्षेपार्थमाह —

नि. [४९] तस्सपएसियं खलु तावइएसुं भवे पएसेसुं। जं दव्वं ओगाढं जहण्णयं तं दसदिसागं।।

मृ. द्रव्यदिग् द्वेधा-आगमतो नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाताऽनुपयुक्तो, नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्ता त्वियम्-त्रयोदशप्रदेशिकं द्रव्यामाश्चित्य या प्रवृत्ता, खलुरवधारणे, ज्ञयोदशप्रदेशिकमेवदिक्, नपुनर्द्दशप्रदेशिकं यत् कैश्चिदुक्तमिति, प्रदेशाः-परमाण वस्तैर्निष्पदितं कार्यद्रव्यं तावत्त्वेव क्षेत्रप्रदेशेष्वगाढं जघन्यं द्रव्यमाश्चित्य दशदिग्विभागपरिकल्पनातो द्रव्यदिगियमिति।तत्स्थापना (२)।त्रिबाहुकं नवप्रदेशिकमभिलिख्य चतसृषु दिक्ष्वेकैकगृहवृद्धिः कार्या। क्षेत्रदिशमाह –

नि. [४२] अड पएसो रुयगो तिरियं लोयस्स मज्झयारंमि। एस पभवो दिसाणं एसेव भवे अणुदिसाणं ॥

वृ. तिर्यग्लोकमध्ये रत्नप्रभापृथिव्या उपरि बहुंमध्यदेशे मेर्व्वन्तर्द्धी सर्व्वक्षुल्लकप्रतरौ

तयोरुपरितनस्य चत्वारः प्रदेशा गोस्तनाकारसंस्याना अधस्तनस्यापि चत्वारस्तथाभूता एवे त्येषोऽ-ष्टाकाशप्रदेशात्मकश्चतुरो रुचको दिशामनुदिशां च, प्रमन-उत्पत्तिस्थानमिति । स्थापना (३) । –आसामभिधानान्याह – इंदग्गेई जम्मा य नेरुति वारुणी य वायव्वा । नि. [४३] सोमा ईसाणावि य विमला य तमा य बोद्धव्वा ।। व. आसामाधैन्द्री विजयद्वारानुसारेण शेषाः प्रदक्षिणतः सप्तावसेयाः, ऊर्ध्वं विमला तमा बोद्धव्या इति ।। आसामेव स्वरूपनिरूपणायाह --नि. ४४४] दुपएसाइ दुरुत्तर एगपएसा अनुत्तरा चेव । चउरो चउरो य दिसा चउराइ अनुत्तरा दुण्णि ।। व. चतस्रो महादिशो द्विप्रदेशाद्या द्विद्विप्रदेशोत्तरवृद्धाः, विदिशश्चत एकप्रदेशरचनात्मि-काः 'अनुत्तरा' वृद्धिरहिताः, ऊर्द्धाधोदिग्द्धयं त्वनुत्तरमेव चतुष्प्रदेशादिरचनात्मकम् ।। किञ्च नि. [४५] अंतो साईआओ बाहिर पासे अपज्जवसिआओ । सव्वानंतपएसा सव्वा य भवंति कडजुम्मा ।। सर्वाऽप्यन्तः-मध्ये सादिका रुचकाद्या इतिकृत्वा बहिश्च अलोकाकाशाश्रयणाद-पर्यवसिताः, 'सर्वाश्च' दशाप्यन्तप्रदेशात्मिका भवन्ति, 'सव्वा य हवंति कडजुम्म'त्ति सर्वासां दिशां प्रत्येकं ये प्रदेशास्ते चतुष्ककेनापड्रियमाणाश्चतुष्कावशेषा भवन्तीतिकृत्वा, तस्रदेशात्मिकाश्च दिश आगमसंज्ञया कडजुम्मत्तिशब्देनाभिधीयन्ते, तथा चागमः-''कइ णं भंते ! जुम्मा पन्नता ?, गोयमा ! चत्तारि जुम्मा पन्नता, तंजहा-कजजुम्मे तेउए दावरजुम्मे कलिओए । से केणहेणं भंते ! एवं वुच्चड् ? , गोयमा ! जे णं रासी चउ क्रगावहारेण अवहीरमाणे अवहीरमाणे चउपञ्जवसिएसिया, सेणंकडजुम्मे, एवं तिपञ्जवसिएतेउए, दुपञ्जवसिएदावरजुम्मे, एगपञ्जवसिए कलिओए''त्ति॥ पुनरप्यासां संस्थानमाह --नि. [४६] सगइदीसंठिआओ महादिसाओ हवंति चत्तारि । मुत्तावली य चउरी दो चेव हवंति रुयगनिभा ॥ व. महादिशश्चतम्रोऽपि शकटोर्डिसंस्थानाः, विदिशश्च मुक्तावलिनिभाः, उर्द्धाधो दिग्द्वयं रुचकाकारमिति ॥ तापदिशमाह – जस्स जओ आइच्चो उदेइ सा तस्स होइ पुव्वदिसा । नि. [४७] जत्तो अ अत्यमेइ उं अवरदिसा सा उ नायव्वा ॥ दाहिणपासंमि य दाहिणा दिसा उत्तरा उ वामेणं। नि. [४८] एया चत्तारि दिसा तावखित्ते उ अक्खाया ।। **वृ.** तापयतीति तापः-आदित्यः, तदाश्विता दिकू तापदिकू शेषं सुगमं, केवलं दक्षिण-पार्श्वदिव्यपदेशः पूर्वाभिमुखस्येति । द्रष्टव्यः ॥ तापदिगङ्गीकरणेनान्योऽपि व्यपदेशो भवतीति प्रसङ्गत आह – नि. [४९] जे मंदरस्स पुब्वेण मणुस्सा दाहिणेण अवरेण। जे आवि उत्तरेणं सब्वेसिं उत्तरो मेरू ॥ For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

| <u>.</u>             |  |
|----------------------|--|
| नि. [५०]             |  |
|                      | पुब्वेणं उहेई अवरेणं अत्यमइ सूरो ॥   |
| <b>व</b> . ये '      | मन्दरस्य' मेरोः पूर्वेण मनुष्याः क्षेत्रदिगङ्गीकरणेन, रुचकापेक्षं पूर्वादिदिक्त्वं |
| वेदितव्यं, तेषामुत्त | तरो मेरुर्दक्षिणेन लेवण इति तापदिगङ्गीकरणेन, शेषं स्पष्टम् ।। प्रज्ञापकदिशमाह      |
| नि. [५९]             | जत्थ य जो पण्णवओं कस्सवि साहइ दिसासु य निमित्तं ।                                  |
|                      | जत्तोमुहो य ठाई सा पुव्वा पच्छओ अवरा ॥   |
| <b>वृ.</b> प्रज्ञाप  | ाको यत्र क्वचित् स्थितः दिशां बलात्कस्यचित्रिमित्तं कथयति स यद भिमुख               |
|                      | पृष्ठतश्चापरेति, निमित्तकथनं चोपलक्षणमन्योऽपि व्याख्याता ग्राह्य इति ।             |
|                      |  |
| नि. [५२]             | दाहिणपासंभि उ दाहिणा दिसा उत्तरा उ वामेणं ।  |
|                      | एयासिमन्तरेणं अण्णा चत्तारि विदिसाओ ।।   |
| নি. [५३]             | एयासिं चेव अडण्हमंतरा अड हुं ति अण्णाओ ।   |
|                      | सोलस सरीरउस्सयबाहल्ला सब्वतिरियदिसा ॥  |
| नि. [५४]             | हेट्ठा पायतलाणं अहोदिसा सीसउवरिमा उड्ढा ।  |
|                      | एया अहारसवी पण्णवगदिसा मुणेयव्वा ॥   |
| नि. [५५]             | एवं पकप्पिआणं दसण्ह अडण्ह चेव य दिसाणं ।   |
|                      | नामाइं वुच्छामी जहक मं आनुपुच्चीए ।।   |
| नि. [५६]             | पुच्चा य पुच्चदक्खिण दक्खिण तह दक्खिणावरा चेव।                                     |
|                      | अवरा य अवरउत्तर उत्तर पुव्वुत्तरा चेव ॥  |
| नि. [५७]             | सामुत्याणी कविला खेलिझा खलु तहेव अहिधम्मा।   |
|                      | परियाधम्मा य तहा सावित्ती पण्णवित्ती य ।।  |
| नि. [५८]             | हेट्ठा नेरइयाणं अहोदिसा उवरिमा उ देवाणं ।  |
|                      | एयाइं नामाइं पण्णवगस्सा दिसाणं तु ॥  |
| <b>वृ</b> , एता      | : सप्त गाथा: कण्ठ्या:, नवरं द्वितीयगायायां सर्व्वतिर्यग्दिशां बाहल्यं-पिण्ड:       |
| शरीरोच्छ्रयप्रमाण    | ामिति ।। साम्प्रतमासां संस्थानमाह —  |
| नि. [५९]             | सोलस तिरियदिसाओ सगडुद्धीसंठिया मुणेयव्वा ।   |
|                      | दो मञ्चगमूलाओ उड्ढे अ अहेवि य दिसाओ ।।   |
| <b>वृ</b> . षोड      | डशापि तिर्यग् दिशः शकटोर्खिसंस्थाना बोद्धव्याः, प्रज्ञापकप्रदेशे सङ्कटा            |
|                      | प्रकटेनाको हे एन उद्धाधिगामिन्से भगवाको भवतः यतः शिरोमले प्रदम्ले                  |

वृ. षाडशापि तियम् दिशः शकटा।खसस्याना बाखव्याः, प्रज्ञापकप्रदश सङ्कटा बहिर्विशालाः, नारकदेवाख्ये द्वे एव उर्द्धाधोगामिन्यौ शरावाकारे भवतः, यतः शिरोमूले पादमूले च स्वल्पत्वान्मल्लकबुध्नाकारे मच्छन्त्यौच विशाले भवतइति ॥ आसां सर्वासां तात्पर्य्यं यत्रंकादवसेयं, तद्येदम् ॥ भावदिग्निरूपणार्थमाह –

नि. [६०] मणुया तिरिया काया तहऽग्गबीया चउक्र गा चउरो । देवा नेरइया वा अडारस होति मावदिसा ॥

वु. मनुष्याश्चतुर्भेदास्तद्यथा-सम्पूर्च्छनजाः कर्मभूमिजाअकर्म्मभूमिजाः अन्तरद्वीपजाश्चेति,

तथा तिर्यश्चो द्वीन्द्रियास्त्रीन्द्रियाश्चतुरिन्द्रियाः पञ्चेन्द्रियाश्चेति चतुर्द्धा, कायाः पृथिव्यप्तेजोवा-यवश्चत्वारः, तथाऽग्रमूलस्कन्धपर्वबीजाश्चत्वार एव, एते षोडश देवनारकप्रक्षेपादष्टादश, एभि-र्भविर्भवनाञ्जीवो व्यपदिश्यत इति मावदिगष्टादशभेदेति ।।अत्र च सामान्यदिग् ग्रहणेऽपि यस्यां दिशि जीवानामविगानेन गत्यागती स्पष्टे सर्वत्र सम्भवतस्तयैवेहाधिकार इति तामेव निर्युक्तिकृत्साक्षादर्शयति, भावादिक्चाविनाभाविनी सामर्थ्यादधिकृतैव, यतस्तदर्थमन्या दिशश्चिन्त्यन्त इत्यत आह –

 नि. [६१] पन्नवगदिसद्वारस भावदिसाओऽवि तत्तिया चेव । इक्विच्चं विंधेज्ञा हवंति अद्वारसऽद्वारा ।।
 नि. [६२] पण्णवगदिसाए पुण अहिगारो एत्थ होइ नायव्वो । जीवाण पुग्गलाण य एयासु गयागई अत्थि ।।

**वृ.** प्रज्ञापकापेक्षया अष्टादशभेदा दिशः, अत्र च भावदिशोऽपि तावद्यमाणा एव प्रत्येक सम्भवन्तीत्यतः एकैकां प्रज्ञापकदिशं भावदिगष्टादशकेन 'विन्धयेत्' ताडयेद्, अतोऽष्टादशाष्टा-दशकाः, ते च संख्या त्रीणि शतानि चतुर्विशत्यधिकानि भवन्तीति, एतद्योपलक्षणं तापदिगादावपि यथासम्भवमायोजनीयमिति । क्षेत्रदिशि तु चतसृष्वेव महादिक्षु सम्भवो न विदिगादिषु, तासामेकप्रदेशिकत्वाच्चतुष्प्रदेशिकत्वाच्चेति गाथाद्ययार्थः ।।अयं च दिक्संयोगकलापः 'अण्णयरीओ दिसाओ आग् आ अहमंसी'त्वनेन परिगृहीतः, सूत्रावयवार्थश्चायम्-इह दिग् ग्रहणात् प्रज्ञापकदिशश्चतस्र,: पूर्वादिका ऊर्ध्वाधोदिशौ च परिगृह्यन्ते, भावदिशस्तवष्टादशापि, अनुदिग् ग्रहणातु प्रज्ञापकविदिशो द्वादशेति, तत्रासंज्ञिनांनैषोऽवबोधोऽस्ति, संज्ञिनामपि केषाश्चिद्भवति कंषाश्चिन्नेति, यथाऽहममुष्ट्या दिशः समागत इहेति । 'एवेमेगेसिं णो णायं भवइत्ति' 'एव' मित्यनेन प्रकारेण, प्रतिविशिष्टष्टदिग्विदिगागमनं नैकेषां विदितं भवतीत्येतदुपसंहारवाक्यम्, एतदेव निर्युक्तिकृदाह--

नि. [६३] केसिंचि नाणसण्णा अस्थि केसिंचि नस्थि जीवाणं। कोऽहं परंभि लोए आसी कयरा दिसाओ वा ? ॥

केषाश्चिञ्जीवानां ज्ञानावरणीयक्षयोपशमवतां ज्ञानसंज्ञाऽस्ति, केषाश्चित्तु तदावृत्तिमितां नभवतीति। याध्ग् भूता संज्ञान भवतितां दर्शयति-कोऽहं परस्मिन् 'लोके' जन्मनि मनुष्यादिरासम्, अनेन भावदिग् गृहीता, कतरस्या वा दिशः समायात इत्यनेन तु प्रज्ञापकदिगुपात्तेति, यथा कश्चिन्मदिरामदधूर्णितलोललोचनोऽव्यक्तमनोविज्ञानो रथ्यामार्गनिपतितस्यच्छर्द्याकृष्टश्वगणाप-लिह्यमानवदनो गृहमानीतो मदात्यये न जानाति कुतोऽहमागत इति, तथा प्रकृतो मनुष्यादिरपीति गाथार्थः ॥ न केवलमेषेव संज्ञा नास्ति अपराऽपि नास्तीति सूत्रकृ दाह -

मू. (३) अत्थि में आया उववाइए, नत्थि में आया उववाइए, के अहं आसी ? के वा इओ चुए इह पेद्या भविस्सामि ?

**वृ.** 'अस्ति' विद्यते 'ममे'त्यनेन षष्ठन्तेन शरीरं निर्दिशति, ममास्य शरीरकस्याधिष्ठाता, अतति-गच्छति सततगतिप्रवृत्त आत्मा-जीवोऽस्तीति, किंभूतः ?-'औपपातिकः' उपपातः-प्रादुर्मावोजन्माजन्मतरसंक्रान्तिः, उपपाते भव औपपातिकइति, अनेन संसारिणः स्वरूपं दर्शयति, स एवंभूत आत्मा ममास्ति नास्तीति च एवंभूता संज्ञा केषाश्चिदज्ञानावष्टब्धचेतसां न जायत इति तथा 'कोऽहं' नारकतिर्यग् मनुष्यादिः पूर्व्वजन्मन्यासं ? , को वा देवादिः 'इतो' मनुष्यादेर्जन्मः 'च्युतो' विनष्टः 'इह' संसारे 'प्रेत्य' जन्मान्तरे 'भविष्यामि' उत्तपत्स्ये इति, एषा च संज्ञा न भव-तीति ।। इह च यद्यपि सर्वत्र भावदिशाऽधिकारः प्रज्ञापकदिशा च, तथापि पूर्वसूत्रे साक्षास्रज्ञापकदिगुपात्ताऽत्रतुभावदिगित्यवगन्तव्यम्।ननुचात्र संसारिणां दिग्विदिगागमनादिजा विशिष्टा संज्ञा निषिध्यते न सामान्यसंज्ञेति, एतच्च संज्ञिनी धर्म्मिण्यात्मनि सिद्धे सति भवति, 'सति धर्म्भिणि धर्म्भश्चिन्त्यन्त' इति वचनात्, स च प्रत्यक्षादिप्रमाणगोचरातीतत्वादुरुपपादः, तथाहि – नासावध्यक्षेणार्थसाक्षात्कारिणा विषयीक्रियते, तस्यातीन्द्रियत्वाद्, अतीन्द्रियत्वं च स्वभावविग्रकृष्टत्वाद्, अतीन्द्रियत्वादेव च तदव्यभिचारिकार्यादिलिङ्गसम्बन्धग्रहणासम्भवात् नाप्यनुमानेन, तस्याप्रत्यक्षत्वे तत् सामान्यग्रहणशक्त्यनुपपत्तेः नाप्युपमानेन, आगमस्यापि विवक्षायांप्रतिपाद्यमानायामनुमानान्तभीवाद्अन्यत्र च बाह्येऽर्थेसम्बन्धामावादप्रमाणत्वं, प्रमाणत्वे वा परस्परविरोधित्वान्नाप्यागर्मेन, तमन्तरेणापि सकलार्थोपत्तेर्नाप्यर्थापत्त्या, तदेवं प्रमाणपञ्चकाती-तत्वात्षष्ठप्रमाणविषयत्वादभाव एवात्मनः ।

प्रयोगश्चायम्-नास्त्यात्मा प्रमाणपञ्चकविषयातीतत्वात्, खरविषाणवदिति, तदभावे च विशिष्टसंज्ञाप्रतिषेधाभावसम्भवेनुत्यानमेव सूत्रस्येति, एतत्सर्वमनुपासितगुरोर्वचः, तथाहि – प्रत्यक्ष एवात्मा, तद्गुणस्य ज्ञानस्य स्वसंवित्सिद्धत्वात्, स्वसंवित्निष्ठाश्च विषयव्यवस्थितयो, घटपटादीनामपि रूपादिगुणप्रत्यक्षत्वादेवाध्यक्षत्वमिति, मरणाभावप्रसङ्गाच न भूतगुणश्चेतन्यमा-शङ्कनीयं, तेषां सदा सन्निधानसम्भवादिति, हेयोपादेयपरिहारोपादानप्रवृत्तेश्चानुमानेन परात्मनि सिद्धिर्भवतीति, एवमनयैव दिशोपमानादिकमपि स्वधिया स्वविषये यथासम्भवमायोज्यं, केवलं मौनीन्द्रेणानेनैवागमेन विशिष्टसंज्ञानिषेधद्वारेणाहमिति चात्मोल्लेखेनात्मसद्भावः प्रतिपादितः, शेषागमानां चानाप्तप्रणीतत्वादप्राणाण्यमेवेति । अत्र चास्त्यात्मेत्यनेन क्रियावादिनः सप्रभेदा नास्तीत्यनेन चाक्रियावादिन एतदन्तः पातित्वाचाझानिकवैनयिकाश्च सप्रभेदा उपक्षिप्ताः, ते चामी 'असियसयं किरियाणं अकिरियवाईण होइ चुलसीई । 11911

अन्नाणिय सत्तही वेणइयाणं च बत्तीसा ॥"

तत्र जीवाजीवाश्रवबन्धपुण्यपापसंवरनिर्जरामोक्षाख्या नव पदार्थाः स्वपरभेदाभ्यां नित्यानित्यविकल्पद्वयेन च कालनियतिस्वभावेश्वरात्माश्रयणादशीत्युत्तरं भेदशतं भवति क्रियावादिनाम्, एते चास्तित्ववादिनोऽभिधीयन्ते, इयमत्र मावना-अस्ति जीवः स्वतो नित्यः कालतः १ अस्ति जीवः स्वतोऽनित्यः कालतः २ अस्ति जीवः परतो नित्यः कालतः ३ अस्ति जीवः परतोऽनित्यः कालतः ४ इत्येवं कालेन चत्वारो भेदा लब्धाः, एवं नियतिस्वभावेश्वरात्मभिर-प्येकैकेन चत्वारश्चत्वारो विकल्पा लभ्यन्ते, एते च पश्च चतुष्कका विंशतिर्भवति, इयं च जीवपदार्थेन लब्धा, एवमजीवादयोऽप्यष्टौ प्रत्येकं विंशतिभेदा भवन्ति, ततश्च नव विंशतयः शतमशीत्युत्तरं भवति १८०। तत्र स्वत इति स्वेनैव रूपेण जीवोऽस्ति, न परोपाध्यपेक्षया। इस्वत्वदीर्घत्वे इव, नित्यः-शाश्वतो न क्षणिकः, पूर्वोत्तरकालयोरवस्थितत्वात्, कालत इति काल एव विश्वस्य स्थित्युत्पत्तिप्रलयकारणम् । उक्तं च-Jain Education International For

11911

#### ''कालः पचति भूतानि, कालः संहरते प्रजाः । कालः सुप्तेषु जागर्त्ति, कालो हि दुरतिक्रमः ॥''

स चातीन्द्रियो युगपचिरक्षिप्रक्रियाभिव्यङ्गयो हिमोष्णवर्षाव्यवस्थाहेतुः क्षणलवमुहूर्त-यामाहोरात्रमासर्तुअयनसंवत्सरयुगकल्पपल्योपम-सागरोपमोत्सर्पिण्यवसर्प्पिणीपुदुल-परावर्त्तीतानागतवर्त्तमानसर्वाद्धादिव्यवहारूपः १।द्वितीयविकल्पे तु कालादेवात्मनोऽस्तित्व-मभ्युपेयं, किं त्वनित्योऽसाविति विशेषोऽयं पूर्वविकल्पात २ । तृतीयाविकल्पे तु परत एवास्तित्व-मभ्युपगम्यते, कथं पुनः परतोऽस्तित्वमात्मनोऽभ्युपेयते ?, नन्वेतत्र्यसिद्धमेव सर्वपदार्थानां परपदार्थस्वरूपापेक्षया स्वरूपपरिच्छेदो, यथा दीर्घत्वापेक्षया ह्रस्वत्वपरिच्छेदो ह्रस्वत्वापेक्षया च दीर्घत्वस्येति, एवमेव चानात्मनः स्तम्भकुम्भादीन् समीक्ष्य तद्वयतिरिक्ते वस्तुन्यात्मबुद्धिः प्रवर्त्तत इति, अतो यदात्मनः स्वरूपं तत्परत एवावधार्य्यते न स्वत इति ३ । चतुर्थविकस्पोऽपि प्राग्वदिति चत्वारो विकल्पाः ४। तथाऽन्ये नियतित एवात्मनः स्वरूपमवधारयन्ति, का पुनरियं नियतिरिति, उच्यते, पदार्थानामवश्यंतया यद्यथाभवने प्रयजोककर्ञ्जी नियति:. उक्तं च--।।१।।।''प्राप्तव्यो नियतिबलाश्चयेण योऽर्थः, सोऽवश्यं भवति नृणां शुभोऽशुभो वा । भूतानां महति कृतेऽपि हि प्रयत्ने, नाभाव्यं भवति न भाविनोऽस्ति नाशः ॥'' इयं च मस्करिपरिव्राण्मतानुसारिणी प्रायः इति । अपरे पुनः स्वभावादेव संसारव्यव-स्थामभ्युपयन्ति, कः पुनरयं स्वभावः?, वस्तुनः स्वत एव तथापरिणतिभावः स्वभावः, उक्तंच-'कः कप्टकानां प्रकरोति तैक्ष्ण्यं, विचित्रभावं मृगपक्षिणां च। 11911 स्वभावतः सर्व्वमिदं प्रवृत्तं, न कामचारोऽस्ति कृतः प्रयत्नः ?॥ स्वभावतः प्रवृत्तानां, निवृत्तानां स्वभावतः । 11211 नाहं कर्तेति भूतानां, य पश्यन्ति स पश्यति ।। ।।३।। केनाञ्जितानि नयनानि मृगाङ्गलानां, कोऽलङ्करोति रुचिराङ्गरुहान्मयूरान् । कश्चोत्पलेषु दलसन्निचयं करोति, को वा दधाति विनयं कुलजेषु पुंस्सु ?।।'' तथाऽन्येऽभिदधते-समस्तमेतज्ञीवादीश्वरास्रस्तं, तस्मादेव स्वरूपऽवतिष्ठते, कः पुनरयमीश्वरः ?, अणिमाद्यैश्वर्ययोगादीश्वरः, उक्तं च-''अज्ञो जन्तुरनीशः स्यादात्मनः सुखदुःखयोः । 11911 ईश्वरप्रेरितो गच्छेच्छूभ्रं वा स्वर्गमेव वा ॥'' तथाऽन्येब्रुवते-न जीवादयः पदार्थाः कालादिभ्यः स्वरूपं प्रतिपद्यन्ते, किं तर्हि ?, आत्मनी, च पुनरयमात्मा ?, आत्माद्वैतवादिनां विश्वपरिणतिरूपः, उक्तश्च ''एक एव हि भूतात्मा, भूते भूते व्यवस्थितः । 11911 एकधा बहुधा चैव, दृश्यते जलचन्द्रवत् ।।" तथा-''पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यद्य भाव्य'' मित्यादि । एवमस्त्यजीवः, स्वतः नित्यः कालत इत्येवं सर्वत्र योज्यम् ॥ तथा अक्रियावादिनो-नास्तित्ववादिनः, तेषामपि जीवाजीवाश्ववबन्धसंवर-

निर्जरामोक्षाख्याः सप्त पदार्थाः स्वपरभेदद्वयेन तथा कालयद्दच्छानियतिस्वभावेश्वरात्मभिः षड्भिश्चिन्त्यमाना-श्चतुरशीतिविकल्पा भवन्ति, तद्यथा-नास्तिजीवः स्वतः कालतः नास्तिजीवः परतः कालत इति कालेन द्वौ लब्धौ, एवं यद्दच्छानियत्यादिष्वपि द्वौ द्वौ भेदौ प्रत्येकं भवतः, सर्वेऽपि जीवपदार्थे द्वादश भवन्ति, एवमजीवादिष्वपि प्रत्येकं द्वादशैते, सप्त द्वादशका-श्चतुरशीतिरिति ८४। अयमञ्चार्थः-नास्ति जीवः स्वतः कालत इति, इह पदार्थानां लक्षणेन सत्ता निश्चीयते कार्यतो वा ?, न चात्मन- स्ताध्गस्ति किश्चिल्रक्षणं येन सत्तां प्रतिपद्येमहि, नापि कार्य्यमणूनामिव महीध्राहि सम्भवति, यद्य लक्षणकार्याभ्यां नाभिगम्यते वस्तु तन्नास्त्येव, वियदिन्दीवरवत् तस्मान्नास्यात्मेति । द्वितीयविकल्पोऽपि यद्य स्वतो नात्मानं बिभर्त्ति गगनारविन्दादिकंतत्परतोऽपि नास्त्येव, अथवा सर्वपदार्थानामेव परभागादर्शनात्सर्वार्वाग् भागसूक्ष्मत्वाद्योभयानुपलब्धेः सर्वानुपलब्धितो नास्तित्वमध्यवसीयते, उक्तं च ---''यावद् दृश्यं परस्तावद्भागः स च न दृश्यते'' इत्यादि, तथा यद्दच्छातोऽपि नास्तित्वमात्मनः, का पुनर्यदच्छा ॥१॥

''अतर्कितोपस्थितमेव सर्वं, चित्रं जनानां सुखदुःखजातम् ।

काकस्य तालेन यथाऽभिधातो, न बुद्धिपूर्वोऽत्र वृथाऽभिमानः ॥

॥२॥ सत्यं पिशाचाः स्मवने वसामो, भेरिं कराग्रैरपि न स्पृशाम्ः । यधच्छया सिद्धति लोकयात्रा, भेरीं पिशाचाः परिताडयन्ति ॥''

यथा काकतालीयमबुद्धिपूर्वकं, न काकस्य बुद्धिरस्ति-मयि तालं पतिष्यति, नापि तालस्याभिप्रायः-काकोपरि पतिष्यामि, अधच तत्तधैव भवति, एवमन्यदप्यतर्कितोपनतमजाकृपा-णीयमातुरभेषजीयमन्धकण्टकीयमित्यादि द्रष्टव्यम्, एवं सर्वं जातिजरामरणादिकं लोके याद्धछिकं काकतालीयादिकल्पमवसेयमिति । एवं नियतिस्वभावे श्वरात्मभिरप्यात्मा निराकत्तर्व्यः ॥

तथाऽज्ञानिकानां सप्तषधिर्भेदाः, ते चामी-जीवादयो नव पदार्था उत्पत्तिश्च दशमी सत् असद् सदसत् अवक्तव्यः सदवक्तव्यः असदवक्तव्यः सदसदकक्त्य इत्येतैः सप्तभिः प्रकारैर्विज्ञातुं न शक्यन्ते न च विज्ञातैः प्रयोजनमस्ति, भावना चेयम्-सन् जीव इति को वेत्ति ? किं वा तेन ज्ञातेन ?, असन् जीव इति को जानाति ? किं वा तेन ज्ञातेनेत्यादि, एवमजीवादिष्वपि प्रत्येकं सप्त विकल्पाः, नव सप्तकासत्रिषष्टिः, अमी चान्ये चत्वारस्त्रिषष्टिमध्ये प्रक्षिप्यन्ते, तद्यथा-सती भावोत्पत्तिरिति को जानाति ? किं वा ऽनया ज्ञातया ? एवमसती सदसती अवक्तव्या भावोत्तप-त्तिरिति को वेत्ति ? किं वाऽनया ज्ञातया ? एवमसती सदसती अवक्तव्या भावोत्तप-त्तिरिति को वेत्ति ? किं वाऽनया ज्ञातया ? एवमसती सदसती अवक्तव्या भावोत्तप-त्तिरिति को वेत्ति ? किं वाऽनया ज्ञातयेति, शेषविकल्पत्रयमुखत्त्युत्तरकालं पदार्थावयवापेक्षमतोऽत्र न सन्भवतीति नोक्तम्, एतच्चतुष्टयप्रक्षेपात्सप्तषष्टिर्भवन्ति । तत्र सन् जीव इति को वेत्ति ? इत्यस्यायमर्थः-कस्यचिद्विशिष्टं ज्ञानमस्ति योऽतीन्द्रियान् जीवादीनवभोत्स्यते, न च तैर्ज्ञातैः किश्चित्फलमस्ति, तथाहि-यदि नित्यः सर्वगतो मूर्त्तो ज्ञानादिगुणोपेत एतद्गुणव्यतिरिक्तो वा ? ततः कतमस्य पुरुषार्थस्य सिद्धिरिति, तस्मादज्ञानमेव श्रेयः ।अपि च-तुल्येऽप्यपराधे अकामकरणे लोके स्वल्पो दोषो, लोकोत्तरेऽपि आकुट्टिकानाभोगसहसाकारादिषु क्षुल्लकभिक्षुस्थवि-रोपाध्यायसूरीणां यधाक्र ममुत्तरोत्तरं प्रायश्चित्तमित्येवमन्येष्वपि विकल्येष्वायोज्यम् ॥ तथा वैनयिकानां द्वात्रिंशदभेदाः, ते चानेन विधिना भावनीयाः-सुरनृपयतिज्ञातिस्थिविराधममा- तृषितृष्वष्टसु मनावाकायप्रदानचतुावधावनयकरणात्, तद्यथा-दवाना विनयं करोति मनसा वाचा कायेन तथा देशकालोपपन्नेन दानेनेत्येवमादि । एते च विनयादेव स्वर्गापवर्गमार्गमभ्युपयन्ति, नीचैर्वृत्त्यनुत्सेकलक्षणो विनयः, सर्वत्र चैवंविधेन विनयेन देवादिषूपतिष्ठमानः स्वर्गापवर्गमाग् भवति, उक्तं च –

(19) (19) (19) (19) विणया नाणं नाणाओ दंसणं दंसणाहि चरणं च ) चरणाहिंतो मोक्खो मोक्खे सोक्खं अणाबाहं )।"

अत्र च क्रियावादिनामस्तित्वे सत्यपि केषाश्चित्सर्वगतो नित्योऽनित्यः कर्त्ताऽकर्त्ता मूर्त्तोऽमूर्त्तः श्यामाकतण्डुलमात्रोऽङ्गुष्ठपर्वमात्रो दीपशिखोपमो हृदयाधिष्ठान इत्यादिकः, अस्ति चौपपातिकश्च, अक्रियावादिनां त्वात्मैव न विद्यते, कुतः पुनरौपपातिकत्वम् ?, अज्ञानिकास्तु नात्मानं प्रति विप्रतिपद्यन्ते, किन्तु तज्ज्ञाानमकिश्चित्करमेषामिति, वैनयिकानामपि नात्माऽस्तित्वे विप्रतिपत्तिः, किन्त्वन्यन्मोक्षसाधनं विनयाद्यते न सम्भवतीति प्रतिपन्नाः । तत्रानेन सामान्या-त्मास्तित्वप्रतिपादनेनाक्रियावादिनो निरस्ता द्रष्टव्याः, आत्मास्तित्वानभ्युपगमे च --

। २।। प्रतिषेद्धृ प्रतिषेधौ स्तश्चेच्छूचं कथं भवेत्सर्वम् ? । तदभावेन तु सिद्धा अप्रतिषिद्धा जगत्यर्थाः ।।''

एवं शेषाणामप्यत्रैव यथासम्भवं निराकरणमुस्नेक्ष्यमिति ।। गतमानुषङ्गिकं, प्रकृतमनुयिते - तत्रेह 'एवमेगेसिं नो नायं भवइ' इत्यनेन केषाञ्चिदेव संज्ञानिषेधात्केषाञ्चित्तु भवतीत्युक्तं भवति, तत्र सामान्यसंज्ञायाः प्रतिप्राणि सिद्धत्वात्तत्का- रणपरिज्ञानस्य चेहाकिञ्चित्करत्वाद्विशिष्टसंज्ञायास्तु केषाञ्चिदेव भावात् तस्याश्च भवान्तरगाम्यात्म- स्पष्टप्रतिपादने सोपयोगित्वाद् सामान्यसंज्ञा-कारणप्रतिपादनमनाधत्य विशिष्टसंज्ञायाः कारणं सूत्रकृ दर्शयितुमाह –

मू. (४) से जं पुण जाणेज़ा सह संमइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं अंतिए वा सोघा तं-जहा-पुरत्थिमाओ वा दिसाओ आगओ अहमंसि जाव अन्नयरीओ दिसाओ अनुदिसाओ वा आगओ अहमंसि, एवमेगेसिं जं नायं भवति-अस्थि मे आया उववाइए, जो इमाओ (दिसाओ) अनुदिसाओ वा अनुसंचरइ, सब्वाओ दिसाओ अनुदिसाओ, सोऽहं।

**वृ.** 'से जं पुण जाणेज्ञत्ति सूत्रं यावत् सोऽह'मिति 'से' इति निर्देशो मागधशैल्या प्रथमैकवचनान्तः, सइत्यनेनच यः प्राग्निर्दिष्टो ज्ञाता विशिष्टक्षयोपशमादिमान् सप्रत्यवमृश्यते, यदित्यनेनापि यस्राग्निर्दिष्टंदिग्विदिगागमनं, तथाकोऽहमभूवमतीतजन्मनि देवो नारकस्तिर्यग्योनो मनुष्यो वा ? स्त्री पुमान्नपुंसको वा ?, को वाऽमुतो मनुष्यजन्मनः प्रभ्रष्टोऽहं प्रेत्य देवादिर्भ-विष्यामीत्येतत्परामृश्यते, 'जानीयाद्' अवगच्छेद्, इदमुक्तं भवति-न कश्चिदनादौ संसृतौ पर्यटन्नसुमान् दिगागमनादिकं जानीयात्, यः पुनर्जानीयात्स एवं 'सह सम्मइयाए'ति सहशब्दः सम्बन्धवाची, सदितिप्रशंसायां, मतिः-ज्ञानम्, अयमन्त्र वाक्यार्थः-आत्मना सहसदायासन्मतिर्वत्तति तया सन्मत्या कश्चिज्ञानीते, सहशब्दविशेषणाच्च सदाऽऽत्मस्वभावत्वं मतेरावेदितं भवति, न पुनर्यथा वैशेषिकाणां व्यतिरिक्ता सती समवायवृत्त्याऽऽत्मनि समवेतेति । यदि वा 'सम्मइए'त्ति स्वकीयया मत्या स्वमत्येति, तत्र भिन्नमप्यश्वादिकं स्वकीयं ६ष्टमतः सहशब्दविशेषणं, सहशब्दश्चासमस्त इति, सत्यपि चात्मनः सदा मतिसन्निधाने प्रबलज्ञानावरणावृतत्वात्र सदा विशिष्टोऽवबोध इति, सा पुनः सन्मतिः स्वमतिर्वा अवधिमनःपर्यायकेवलज्ञानजाति-स्मरणभेदाद्यतुर्विधा ज्ञेया, तत्रावधिमनःपर्यायकेवलानां स्वरूपमन्यत्र विस्तेरणोक्तं, जातिस्मरणं त्वाभिनिबोधिकविशेषः, तदेवं चतुर्विधया मत्याऽऽत्मनः कश्चिद्विशिष्टदिग्गत्यागती जानाति, कश्चिद्य परः-तीर्थकृ स्पर्वज्ञः,

तस्यैव परमार्थतः परशब्दवाच्यत्वात्परत्वं, तस्य तेन वा व्याकरणम्-उपदेशस्तेन जीवांस्तद्भेदांश्च-पृथिव्यादीन् तदगत्थागती च जानाति, अपरः पुनः 'अन्येषां' तीर्थकरव्यतिरि-क्तानामतिशयज्ञानिनामन्तिके श्रुत्वा जानातीति, यच जानाति तत् सूत्रावयवेन दर्शयति-तद्यथा-पूर्व्वस्या दिश आगतोऽहमस्मि, एवं दक्षिणस्याः पश्चिमायाः उत्तरस्या ऊर्ध्वदिशोऽधोदशोऽ-न्यतरस्या दिशोऽनुदिशो वाऽऽगतोऽहमस्मीत्येवमेकेषां विशिष्टक्षयोपशमादिमतां तीर्थकरान्यातिशयज्ञानिबोधितानां च ज्ञानं भवति, तथा प्रतिविशिष्टदिगागमनपरिज्ञानानन्त-रमेषामेतदपि ज्ञानं भवतियथा अस्ति मेऽस्य शरीर कस्याधिष्ठाता ज्ञानदर्शनोपयोगलक्षण 'उपपादको' भवान्तरसंक्रातिभाग असर्वगतो भोक्ता मूर्त्तिरहितोऽविनाशी शरीरमात्रव्या-पीत्यादिगुणवानात्मेति । स च द्रव्यकषाययोगोपयोगज्ञानदर्शनचारित्रवीर्यात्मभेदादष्टधा, तत्रोपयोगात्मना बाहल्येनेहाधिकारः, शेषास्तु तदंशतयोपयुज्यन्त इति उपन्यस्ताः । तथा अस्ति च ममात्मा, योऽमुष्या दिशोऽनुदिशश्च सकाशादु 'अनुसञ्चरति' गतिप्रायोग्यकर्मोपादानादनु-पश्चात् सञ्चरत्यनुसञ्चरति, पाठान्तरं वा 'अणुसंसरइ'त्ति दिग्विदिशां गमनं भावदिगागमनं वा स्मरतीत्यर्थः । साम्प्रतं सूत्रावयवेन पूर्वसूत्रोक्तमेदार्थमुपसंहरति-सर्वस्यादिशः सर्वस्याश्चानुदिशो य आगतोऽनुसञ्चरति अनुसंरमरतीति वा सः 'अह' मित्यात्मोल्लेखः, अहंप्रत्ययग्राह्यत्वादात्मनः, अनेन पूर्वाद्याः प्रज्ञापकदिशः सर्वा गृहीताः भावदिशश्चेति । इममेवार्थं निर्युक्तिकृद्दर्शयितुमना गाधात्रितयमाह ---

| नि. [६४] | जाणइ सयं मईए अन्नेसिं वावि अन्तिए सोचा ।   |
|----------|--|
|          | जाणगजणपण्णविओ जीवं तह जीवकाए वा ।।         |
| नि. [६५] | इत्थ य सह संमइअत्ति जं एअं तत्य जाणणा होई। |
|          | ओहीमणपञ्चनाणकेवले जाइसरणे य ।।             |
| नि. [६६] | परवइ वागरणं पुण जिणवागरणं जिणा परं नत्थि । |
|          | अण्णेसिं सोझंतिय जिणेहि सव्वो परो अण्णो ॥  |

**वृ.** कश्चिदनादिसंसृतौ पर्यटन्नवध्यादिकया चतुर्विधया स्वकीयया मत्या जानाति । अनानुपूर्वीन्यायप्रकटनार्थं पश्चादुपात्तमप्यमन्येषामित्येतत्पदं तावदाचष्टे – 'अन्येषां वा' अतिशयज्ञानिनामन्तिकेश्रुत्वाजानाति, तथा 'जाणगजणपण्णविओ' इत्यनेन परव्याकरणमुपात्तं, तेनायमर्थो-ज्ञापकः-तीर्थकृत्तसज्ञापितश्च जानाति, यज्ञानातितत् स्वत एव दर्शयति-सामान्यतो 'जीव'मिति, अनेन चाधिकृतोद्देशकस्यार्थाधिकारमाह, तथा 'जीवकायांश्च' पृथ्वीकायादीन् इत्यनेन चोत्तरेषां षण्णामप्युद्देशकानां यथाक्रममधिकारार्थमाहेति, अत्र च 'सह सम्मइए'त्ति सूत्रे यत्पदं तत्र जाणणत्ति ज्ञानमुपात्तं भवति, 'मति ज्ञाने' मननं मतिरितिकृत्वा, तच्च किंभूतमिति दर्शयति- 'अवधिमनःपर्यायकेवलजातिस्मरणरूपं'मिति, तत्रावधिज्ञानी संख्येयानसंख्येयान्वा भवान् जानाति, एवं मनःपर्यायज्ञान्यपि, केवली तु नियमतोऽनन्तान्, जातिस्मरणस्तु नियमतः संख्येया निति, शेषं स्पष्टम् । अत्र च सहसम्मत्यादिपरिज्ञाने सुखप्रतिपत्त्यर्थं त्रयो दृष्टान्ताः प्रदर्शयन्ते,तद्यथा

वसन्तपुरे नगरे जितशत्रू राजा, धारणी नाम महादेवी, तयोर्द्धर्मरुच्यभिधानः सुतः, स च राजाऽन्यदा तापसत्वेन प्रव्रजितुमिच्छुर्द्धर्मरुचिं राज्ये स्थापयितुमुद्यतः, तेन च जननी पृष्ठा-किमिति तातो राज्यश्रियं त्यजति ?, तयोक्तम्-किमनया चपलया नारकादिसकलदुः खहेतुभूतया स्वर्गापवर्गमार्गार्गलया अवश्यमपायिन्या परमार्थत इहलोकेऽप्यभिमानमात्रफलयेत्यतो विहायैनां सकलसुखसाधनं धर्मं कर्त्तुमुद्यतः, धर्मरुचिस्तदाकर्ण्योकतवानू-यद्येवं किमहं तातस्यानिष्टो ? येनैवंभूतां सकलदोषाश्रयिणीं मयि नियोजयति, सकलकल्याणहेतोर्द्धर्मास्रच्यावयतीत्यभिधाय पित्राऽनुज्ञातस्तेन सह तापसाश्रममगात्, तत्र च सकलास्तापसक्रिया यथोक्ताः पालयन्नास्ते, अन्यदाऽमावास्यायाः पूर्वाह्ले केनचित्तापसेनोदुघुष्टम्-यथा भो भोः तापसाः ! श्वोऽनाकुट्टिर्भविता, अतोऽधैव समित्कुसुमकुशकन्दफलमूलाद्याहरणं कुरुत, एतद्याकर्ण्य धर्मरुचिना जनकः पृष्टः-तात ! केयमनाकुट्टिरिति, तेनोक्तमू-पुत्र ! कन्दफलादीनामच्छेदनं, तत्द्रयमावास्यादिके विशिष्टे पर्वदिवसे न वर्त्तते, सावद्यत्वाच्छेदनादिक्रियायाः, श्रुत्वा चैतदसावचिन्तयत्-यदि सर्वदाऽ नाकुट्टिः स्याच्छोभनं भवेद्, एवमध्यवसायिनस्तस्यामावांस्यायां तपोवनासन्नपथेन गच्छतां साधूनां दर्शनमभूत्, ते च तेनाभिहिताः-किमद्य भवतामनाकुट्टिर्न सञ्जाता ? येनाटवी प्रस्थिताः, तैरप्यभिहितम्-'यथाऽस्माकं यावज्ञीवमनाकुट्टि'रित्यभिधायातिक्रान्ताः साध्वः, तस्य च तदाक-र्ण्येहापोहविमर्शेन जातिस्मरणमुत्पन्नं-यथाऽहं जन्मान्तरे प्रव्रज्यां कृत्वा देवलोकसुखमनुभूयेहागत इति, एवं तेन विशिष्टदिगागमनं स्वमत्या-जातिस्मरणरूपया विज्ञातं, प्रत्येकबृद्धश्च जातः, एवम-न्येऽपि वल्कलचीरिश्रेयांसप्रभृतयोऽत्र योज्या इति ।

परव्याकरणे त्विदमुदाहरणम्-गौतमस्वामिना भगवान्वर्द्धमानस्वामी पृष्टो-भगवन् ! किमिति मे केवलज्ञानं नोत्पद्यते ?, भगवता व्याकृतं-भो गौतम ! भवतो 5 तीव ममोपरि स्नेहो 5 स्ति, तद्वशात् तेनोक्तम् - 'भगवन्नेवमेवं, किंनिमित्तः पुनरसौ मम भगवदुपरि स्नेहः ?, ततो भगवता तस्य बहुषु भवान्तरेषु पूर्वसम्बन्धः समावेदितः 'चिरसंसिष्ठो 5 सि मे परिचिओ 5 सि मे गोयमे'त्येवमादि, तद्य तीर्थकृ द्वयाकरणमाकर्ण्य गौतमस्वामिनो विशिष्टदिगागमनादिवि-ज्ञानमभूदिति । अन्यश्रवणे त्विदमुदाहरणम्-मझिस्वामिना षण्णां राजपुत्राणा- मुद्वाहार्यमागतात-नामवधिज्ञानेन तस्रतिबोधनार्थं यथा जन्मान्तरे सहितैरेव प्रवज्या कृता, यथा च तत्फलं देवलोके जयन्ताभिधानविमाने 5 नुभूतं तथा 5 ख्यातं, तद्याकर्ण्य ते लघुकर्म्पत्वास्रतिबुद्धा विशिष्टदिगागमनविज्ञानं च सञ्जातं, उक्तंच

III 'किं थ तयं पम्हुईं ज च तया भो ! जयंतपवरंभि । वुच्छा समयनिबद्धं देवा ! तं संभरह जातिं ।।

इति गायात्रयतात्पय्यार्रथः। साम्प्रतं प्रकृतमनुयिते-यो हि सोऽहमित्यनेनाहङ्कारज्ञाने-

नात्मोल्लेखेन पूर्वादेदिश आगतमात्मानमविच्छड्नसंततिपतितं द्रब्यार्थतया नित्यं पर्यायार्थतया त्वनित्यं जानाति स परमार्थतः आत्मवादीति सूत्रकृद्दर्शयति –

मू. (५) से आयावादी लोयावदा कम्पावादी किरियावादी ।

वृ. 'स' इति यो भ्रान्तः पूर्वं नारकर्तियग्नरामराद्यासु भावदिक्षु पूर्वाद्यासु च प्रज्ञापकदिक्षु अक्षणिकामत्तीदिलक्षणोपेतमात्मानमवैति, सइत्यंभूतः 'आत्मवादी'ति आत्मानं वदितुं शीलमस्येति, यः पुनरेवंमूतमात्मानं नाम्युपगच्छति सोऽनात्मवादी नास्तिक इत्यर्थः । योऽपि सर्वव्यापिनं नित्यं क्षणिकं चाऽऽत्मानमभ्युपैति सोऽभ्यनात्मवाद्येव, यतः सर्वव्यापिनो निष्क्रियत्वाद्मवान्त-रसंक्रान्तिर्न स्यात्, सर्वथा नित्यत्वेऽपि 'अप्रच्युतानुरान्नस्थिरैकस्वभावं नित्य'भितिकृत्वा मरणाभावेन भवान्तरसंक्रान्तिरेवन स्यात् सर्वथा क्षणिकत्वेऽपि निर्मूलविनाशात्सोऽहमित्यनेन पूर्वोत्तरानुसन्धानं न स्यात् । य एव चात्मवादी स एव परमार्थतो लोकवादी, यतो लोकयतीति लोकः- प्राणिगणसुतं वदितुं शीलमस्येति, अनेन चात्माद्वैतवादिनिरासेनात्मबहुत्वमुक्तं, यदिवा 'लोकापाती'ति लीकः-चतुर्दशरज्वात्मकः प्राणिगणो वा, तत्रापतितुं शीलमस्पेति, अनेन च विशिष्टाकाशखण्डस्य लोकसंज्ञाऽऽवेदिता, तत्र च जीवास्तिकायस्य सम्भवेन जीवानां गमनागमनमावेदितं भवति, य एव च दिगादिगमनपरिज्ञानेनात्मवादी लोकवादी च संवृत्तः, स एवासुमान् 'कर्मवादी' कर्मज्ञाना- वरणीयादि तद्वदितुं शीलमस्य, यतो हि प्राणिनो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगैः पूर्वं गत्यादियोग्यानि कर्माण्याददते, पश्चात्तास् तासु विरूपरूपास् योनिष्र्राद्यन्ते, कर्म्म च प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशात्मकमवसेयमितिअनेन च कालयटृच्छा-नियतीश्वरात्मवादिनो निरस्ता द्रष्टव्याः । तथा य एव कर्मवादी स एव क्रियावादी, यतः कर्म योगनिमित्तं बध्यते, योगश्च व्यापारः, सच क्रियारूपः, अतः कर्मणः कार्यभूतस्य वदनातत्कार-णभूतायाः क्रियाया अप्यसावेव परमार्थतो वादीति, क्रियायाश्च कर्मनिमित्तत्वं प्रसिद्धमागमे, स चायमागमः-''जाव णं भंते ! एस जीवे सया समियं एयइ वेयइ चलति फंदति घट्टति तिप्पति जाव तं तं भावं परिणमति तावं च णं अट्ठविहबंधए वा सत्तविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा नो णं अबंधए''ति, एवं च कृत्वा च एव कर्म्यवादी स एव क्रियावादीति, अनेन च सांख्याभिमतमात्मनोऽक्रियावादित्वं निरस्तं भवति ॥

साम्प्रतं पूर्वोक्तां क्रियामात्मपरिणतिरूपां विशिष्टकालाभिधायिना तिङ्प्रत्ययेनाभिदध-दहंप्रत्ययसाध्यस्यात्मनस्तद्भव एवावधिमनःपर्यायकेवलज्ञानजातिस्मरणव्यतिरेकेणैव त्रिकालसंस्पर्शिना मतिज्ञानेन सद्भावावगमं दर्शयितुमाह --

मू. (६) अकरिस्सं चऽहं, कारवेसुं चऽहं, करओ आवि समणुत्रे भविस्सामि ।

ष्ट्र. इह भूतवर्त्तमानभविष्यत्कालापेक्षया कृतकारितानुमतिभिर्नव विकल्पाः संभवन्ति, ते चामी-अहमकार्षमचीकरमहं कुर्वन्तमन्यमन्वनुज्ञासिषमहं करोमि कारयाम्यनुजानाम्यहमिति करिष्याम्यहं कार्रयिष्याम्यहं कुर्वन्तमन्यमनुज्ञास्याम्यहमिति, एतेषां च मध्ये आद्यन्तौ सूत्रेणैवोपातौ, तदुपादानाच्च तन्मध्यपातिनां सर्वेषां ग्रहणम्, अस्यैवार्थस्याविष्करणाय द्वितीयो विकल्पः 'कारवेसुं चSहंमिति सूत्रेणोपात्तः, एते च चकारद्वयोपादानाद्वपिशब्दोपादानाच्च मनोवाक्कायैश्विन्त्यमानाः सप्तविंशतिर्भेदा भवन्ति, अयमन्न भावार्थः-अकार्षमहमित्त्यन्नाहिमित्यनेनात्मोल्लेखिना विशिष्टक्रियापरिणति रूप आत्माऽभिहितः, ततश्चायं भावार्थो भवति – स एवाहं येन मयाऽस्य देहादेः पूर्वं यौवनावस्थायामिन्द्रियवशगेन विषयविषमोहितान्धचेतसा तत्तदकाय्यार्नुष्ठानपरायणेना-ऽऽनुकूल्यमनुष्ठितम्, उक्तं च --

(1911 ''विहवावलेवनडिएहिं जाइं कीरंति जोव्वणमएणं । वयपरिणामे सरियाइँ ताइं हियए खुडुक्वंति ।।''

'तथा अचीकरमह'मित्यनेन परोऽकार्यादौ प्रवर्त्तमानो मया प्रवृत्तिं कारितः, तथा कुर्वन्तमन्यमनुज्ञातवानित्येवं कृतकारितानुमतिभिर्भूतकालाभिधानं, तथा 'करोमी' त्यादिना वचनत्रिकेण वर्त्तमानकालोल्लेखः, तथा करिष्यामि कारयिष्यामि कुर्वतोऽन्यान् प्रति समनुज्ञापरायणो भविष्यामीत्यनागतकालोल्लेखः, अनेन च कालत्रयसंस्पर्शेन देहेन्द्रियातिरिक्त-स्यात्मनो भूतवर्त्तमानभविष्यत्कालपरिणतिरूपस्यास्तित्वावगतिरावेदिता भवति, सा च नैकान्त-क्षणिकनित्यवादिनां सम्भवतीत्यतोऽनेन ते निरस्ताः, क्रियापरिणामेनात्मनः परिणामित्वाभ्युपग-मादिति, एतदनुसारेणैव सम्भवानुमानादतीतानागतयोरपि भवयोरात्मास्तित्वमवसेयम् । यदिवा-अनेन क्रियाप्रबन्धप्रतिपादनेन कर्मण उपादानभूतायाः क्रियायाः स्वरूपमायेवेदितमिति ।।

अथ किमेतावत्य एव क्रिया उतान्या अपि सन्तीति, एता एवेत्याह –

मू. (७) एयावंति सव्वावंति लोगंसि कम्पसमारंभा परिजाणियव्वा भवंति ।

**वृ.** एतावन्तः सर्वेऽपि 'लोके' प्राणिसङ्घाते 'कर्म्पसमारम्भाः' क्रियाविशेषा ये प्रागुक्ताः अतीतानागतवर्त्तमानभेदेन कृतकारितानुमतिभिश्च अशेषक्रियानुयायिना च करोतिना सर्वेषां सङ्ग्रहादिति, एतावन्त एव परिज्ञातव्या भवन्ति नान्य इति । परिज्ञा च ज्ञप्रत्याख्यानभेदाद्विधा, तत्र ज्ञपरिज्ञयाऽऽत्मनो बन्धस्य चास्तित्वमेतावद्भिरेव सर्वैः कर्म्पसमारम्भैर्ज्ञातं भवति, प्रत्याख्या-नपरिज्ञया च सर्वे पापोपादानहेतवः कर्म्पसमारम्भाः प्रत्याख्यातव्या इति । इयता सामान्येन जीवास्तित्वं प्रसाधितमधुना तस्यैवात्मनो दिगादिभ्रमणहेतूपदर्शनपुरस्सरमपायान् प्रदर्शितुमाह-यदिवा यस्तावदात्मकर्मादिवादी स दिगादि भ्रमणान्मोक्ष्य इतरस्य तु विपाकान् दर्शयितुमाह-

मू. (८) अपरिण्णायकम्पा खलु अयं पुरिसे जो इमाओ दिसाओ अनुदिसाओ अनुसंचरइ, सव्वाओ दिसाओ सव्वाओ अनुदिसाओ साहेति।

**वृ**. योऽयं पुरि शयनात्पूर्णः सुखदुःखानां वा पुरुषो-जन्तुर्मनुष्यो वा, प्राधान्याच्च पुरुषस्योपादानम्, उपलक्षणं चैतत्, सर्वोऽपि चतुर्गत्यापन्नः प्राणी गृह्यते, दिशोऽनुदिशो वाऽनु-सञ्चरति, सः 'अपरिज्ञातकर्मा' अपरिज्ञातंकर्मानेनेत्यपरिज्ञातकम्, खलुरवधारणे अपरिज्ञातकर्मैव दिगादौ भ्राम्यति नेतर इति, उपलक्षण चैतद्, अपरिज्ञातात्मापरिज्ञातक्रियश्चेति, यश्चापरिज्ञा-तकर्मा स सर्वा दिशः सर्वाश्चानुदिशः 'साहेति' स्वयंकृतेन कर्मणा सहानुसञ्चरति, सर्वग्रहणं सर्वासां प्रज्ञापकदिशां भावदिशां चोपसङ्ग्रहार्थम् ।। स यदाप्नोति तद्दर्शयति –

मू. (९) अनेगरूवाओ जोणीओ संघेइ, विरूवरूवे फासे पडिसंवेदेइ।

ष्ट्र. अनेकं संकटविकटादिकं रूपं यासां तास्तथा, यौति-मिश्रीभवत्यौदारिकादिशरीरवर्गणा-पुद्गलैरसुमान् यासु ता योनयः-प्राणिनामुत्पत्तिस्थानानि, अनेकरूपत्वं चासां संवृतविवृतोभयशीतो-ष्णोभयरूपतया यदिवा चतुरशीतिलक्षभैदेन, ते चामी चतुरशीतिर्लक्षाः--

| 11911 | 'पुढवीजलजलणमारुय एक्ने क्ने सत्त सत्त लक्खाओ ।           |
|-------|--|
|       | वण पत्तेय अणंते दस चोद्दस जोणिलक्खाओ ।।                  |
| IIRII | विगलिंदिएसु दो दो चउरो चउरो य नारयसुरेसुं।               |
|       | तिरिएसु हुति चउरो चोद्दस लक्खा य मणुएसु ।।               |
|       | - तथा शुभाशुभभेदेन योनीनामनेकरूपत्वं गायाभिः प्रदर्श्यते |
| 11911 | 'सीयांदी जोणीओ चउरासीती य सयसहस्साइं ।                   |
|       | असुभाओ य सुमाओ तत्य सुमाओ इमा जाण ।।                     |
| ારા   | अस्संखाउमणुस्सा राईसर संखमादिआऊणं।                       |
|       | तित्थगरनामगोत्तं सव्वसुहं होइ नायव्वं ॥                  |
| 11311 | तत्यवि य जाइसंपन्नतादि सेसाउ हुंति असुभाओ ।              |
| -     | देवेसु किव्विसादी सेसाओ हुंति उ सुभाओ ॥                  |
| 8     | पंचिंदियतिरिएसुं हयगयरयणे हवंति उ सुभाओ ।                |
|       | सेसाओ अ सुभाओ सुभवण्णेगिंदियादीया ।।                     |
| ાવા   | देविंदचक वहित्तणाई मोत्तुं च तित्यगरमावं।                |
|       | अनगारभाविताविय सेसा उ अणंतसो पन्ता ।।                    |

एताश्चानेकरूपा योनीर्दिगादिषु पर्यटत्रपरिज्ञातकर्माऽसुमान् 'संधेइ'ति सन्धयति-सन्धि करोत्यात्मना, सहाविच्छेदेन संघट्टयतीत्यर्थः, 'संधावइ'ति वा पाठान्तरं, 'सन्धावति' पौनःपुन्येन तासु गच्छतीत्यर्थः, तत्सन्धाने च यदनुभवति तद्दर्शयति-विरूप-बीभत्सममनोज्ञं रूपं-स्वरूपं येषां स्पर्शानां दुःखोपनिपातानां ते तथा, स्पर्शाश्चिता दुःखोपनिपाताः स्पर्शा इत्युक्ताः, 'तात्स्थ्या-त्तद्धयपदेश' इतिकृत्वा, उपलक्षणं चैतन्मानस्योऽपि वेदना ग्राह्याः, अतस्तानेवम्भूतान् स्पर्शान् 'प्रतिसंवेदयति' अनुभवति, प्रतिग्रहणाखत्येकं शारीरान्मानसांश्च दुःखोपनिपातानुभवतीत्युक्तं भवति, स्पर्शग्रहणं चेह सर्वसंसारान्तर्वत्तिजीवराशिसङग्रहार्थं, स्पर्शनेन्द्रियस्य सर्वजीवव्यापित्वाद्, अत्रेदमपि वक्तव्यं-सर्वान्चिरूपरूपान् रसगन्धरूपशब्दान् प्रतिसंवेदयतीति, विरूपरूपत्वं च स्पर्शानां कार्यभूतानां विचित्रकर्मोदयात्कारणभूताद्भवतीति वेदितव्यं, विचित्रकर्मोदयाच्चापरिज्ञातकर्मा संसारी स्पर्शादीन्विरूपरूपांस्तेषु तेषु योन्यन्तरेषु विपाकतः परिसंवेदयतीति, आह च -

| 11911      | ''तैः कर्मभिः स जीवो विवशः संसारचक्रमुपयाति।    |
|------------|---|
|            | द्रव्यक्षेत्राद्धाभावभिन्नमावर्त्तते बहुशः ।।   |
| IIRII      | नरकेषु देवयोनिषु तिर्यग्योनिषु च मनुजयोनिषु च । |
|            | पर्यटति धटीयन्त्रवदात्मा बिभ्रच्छरीराणि ।।      |
| <b> </b> 3 | सततानुबद्धमुक्तं दुःखं नरकेषु तीव्रपरिणामम् ।   |
|            | तिर्यक्षु भयक्षुतृड्वधा दिदुःखं सुखं चाल्पम् ।। |
| X          | सुखदुःखे मनुजानां मनःशरीराश्रये बहुविकल्पे ।    |
|            | संखमेव हि देवानां दःखं स्वल्पं च मनसि भवम ॥     |

| ાલા    | कर्मानुभावदुःखित एवं मोहान्धकारगहनवति ।            |
|--------|--|
|        | अन्ध इव दुर्गमार्गे प्रमति हि संसारकान्तारे ॥      |
| แรม    | दुःखप्रतिक्रियार्थं सुखाभिलाषाच पुनरपि तु जीवः ।   |
|        | प्राणिवधादीन् दोषानधितिष्ठति मोहसंछन्नः ॥          |
| 11911  | बघ्नाति ततो बहुविधमन्यत्पुनरपि नवं सुबहु कर्म ।    |
|        | तेनाथ पच्यते पुनरग्नेरग्नि प्रविश्येव ।।           |
| 11211  | एवं कर्माणि पुनः पुनः स बघ्नंस्तथैव मुश्चंश्च ।    |
|        | सुखकामो बहुदुःखं संसारमनादिकं भ्रमति ।।            |
| 11811  | एवं भ्रमतः संसारसागरे दुर्लभं मनुष्यत्वम् ।        |
|        | संसारमहत्त्वाधार्मिकत्वदुष्कर्म्मबाहुल्यैः ॥       |
| 119011 | आर्यो देशः कुलरूपसम्पदायुश्च दीर्घमारोग्यम् ।      |
|        | यतिसंसर्गः श्रद्धा धर्म्मश्रवणं च मतितैक्ष्ण्यम् ॥ |
| 119911 | एतानि दुर्लभानि प्राप्तवतोऽपि दृढमोहनीयस्य ।       |
|        | कपशाकलेऽईटक्तोऽतिटर्लभो जगति सन्मार्ग: ॥''         |

कुपयाकुलऽहदुक्ताआतदुलमा जगात तत्माम्मम्म यदि वा योऽयं पुरुषः सर्वा दिशोऽनुदिशश्चनुसञ्चरति तथाऽनेकरूपा योनीः सन्धावति विरूपरूपांश्च स्पर्शान् प्रतिसंवेदयति, सः 'अविज्ञातकर्मा' अविज्ञातम्-अविदितं कम्-क्रिया व्यापारो मनोवाक्वायलक्षणः, अकार्षमहं करोमि करिष्या- मीत्येवंरूपः जीवोपमर्दात्मकत्वेन बन्धहेतुः सावद्यो येन सोऽयमविज्ञातकर्मा, अविज्ञातकर्मत्वेन च तत्र तत्र कर्मणि जीवोपमर्दादिके प्रवर्त्तते येन येनास्याष्टविधकर्म्यबन्धो भवति, तदुदयाद्यानेकरूप- योन्यनुसन्धानं विरूपरूपस्पर्शानुमवश्च भवतीति ।। यधेवं ततः किमित्यत आह –

मू. (१०) तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेइआ ।

वृ. 'तत्र' कर्मणि व्यापारे अकार्षमहं करोमि करिष्यामीत्यात्मपरिणतिस्वभावतया मनोवाक्वायव्यापाररूपे 'भगवता' वीरवर्द्धमानस्वामिना परिज्ञानं परिज्ञा साप्रकर्षेण प्रशस्ताऽऽदौ वा वेदिता प्रवेदिता, एतच्च सुधर्म्मस्वामी जम्बूस्वामिनाम्ने कथयति, सा च द्विधा-ज्ञपरिज्ञा प्रत्याख्यानपरिज्ञाच, तत्र ज्ञपरिज्ञया सावद्यव्यापारेण बन्धो भवतीत्त्येवं भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, प्रत्याख्यानपरिज्ञाच, तत्र ज्ञपरिज्ञया सावद्यव्यापारेण बन्धो भवतीत्त्येवं भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, प्रत्याख्यानपरिज्ञया च सावद्ययोगा बन्धहेतवः प्रत्याख्येया इत्येवंरूपा चेति ॥

अमुमेवार्थं निर्युक्तिकृदाह -

नि. [६७] तत्थ अकारि करिस्संति वंधर्चिता कया पुणो होइ। सहसम्पड्या जाणइ कोइ पुण हेतुजुत्तीए।।

वृ. 'तन्न' कर्मणि क्रियाविशेषे, किम्भूत इत्याह - 'अकारि करिस्संति' अकारीति कृतवान् करिस्सन्ति-करिष्यामीति, अनेनातीतानागतोपादानेन तन्मध्यवर्तिनो वर्त्तमानस्य कारिता-नुमत्योश्चोपसङ्ग्रहान्नवापि भेदा आत्मपरिणामत्वेन योगरूपा उपात्ता द्रष्टव्याः, तत्रानेनात्मप्ररिणा-मरूपेण क्रियाविशेषेण 'बन्धचिन्ता कृता भवति' बन्धस्योपादानमुपात्तं भवति, 'कर्म योगनिमित्तं बध्यते' इति वचनात्, एतद्य कश्चिज्ञानाति आत्मना सह या सन्मतिः स्वमतिर्व-अवधिमनः पर्याय- केवलजातिस्मरणरूपा तया जानाति, कश्चिच्च पक्षधर्मान्वयव्यतिरेकलक्षणया हेतुयुक्तयेति । अथ किमर्थमसौ कटुकविपाकेषु कर्माश्रवहेतुभूतेषु क्रियाविशेषेषु प्रवर्त्तत इत्याह -

मू. (१९) इमस्स घेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूर्यणाए जाईमरणमोयणाए दुक्खपडिधायहेउं।

**वृ.** तत्र जीवितमिति-जीवन्त्यनेनायुःकर्म्भणेति जीवितं-प्राणधारणम्, तच्च प्रतिप्राणि स्वसंविदितमितिकृत्वा प्रत्यक्षासन्नवाचिनेदमा निर्द्दिशति, चशब्दो वक्ष्यमाणजात्यादिसमुच्चयार्थः, एवकारोऽवधारणे, अस्यैव जीवितस्यार्थे परिफल्गुसारस्य तडिल्लताविलसितचञ्चलस्यबाह्वपायस्य दीर्घसुखार्थंक्रियासु प्रवर्त्तते, तथाहि-जीविष्याम्यहमरोगः सुखेन भोगान् भोक्ष्ये ततो व्याध्यपनयनार्थं स्नेहापानलवकपिशितमक्षणादिषु क्रियासु प्रवर्त्तते, तथाऽल्पस्य सुखस्य कृते अभि मानग्रहाकुलितचेताबह्वारम्भपरिग्रहाह्रह्वशुमं कर्मादत्ते, उक्तं च -

॥९॥ ''द्वे वाससी प्रवरयोषिदपायशुद्धा, शय्याऽऽसनं करिवरस्तुरगो रथो वा । काले भिषग्नियमिताशनपानमात्रा, राज्ञः पराक्यमिव सर्वमवेहि शेषम् ॥

॥२॥ पुष्टयर्यमञ्जमिहयत्प्रतर्णिधिप्रयोगैः, संत्रासदोषकलुषो नृपतिस्तु भुङ्कते । यत्रिर्व्भयः प्रशमसौख्यरतिश्च भैक्षं, तत् स्वादुतां भृशमुपैति न पार्थिवाञ्चम् ॥

II३।। भृत्येषु मन्त्रिषु सुतेषु मनोरमेषु, कान्तासु वा मधुमदाङ्कुरितेक्षणासु। विश्रम्भमेति न कदाचिदपि क्षितीशः, सर्वाभिशङ्कितमतेः कतरत्तु सौख्यम्।।"

तदेवमनवबुद्धतरुणकिशलयपलाशचञ्चलजीवितरतयः कर्माश्रवेषु जीवितोपमर्दादिरूपेषु प्रवर्तन्ते, तथाऽस्यैव जीवितस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं हिंसादिषु प्रवर्त्तने, तत्र 'परिवन्दनं' संस्तवः प्रशंसा तदर्थमाचेष्टते, तथाहि-अहं मयूरादिपिशिताशनाद्धली तेजसा देदीप्यमानो देवकुमार इव लोकानां प्रशंसा स्पदं भविष्यामीति 'माननम्' अभ्युत्यानासनदानाञ्जलिप्रग्रहादिरूपं तदर्थं वा चेष्टमानः कर्माचिनोति तथा पूजनं पूजा-द्रविणवस्त्रान्नपानसत्कारप्रणामसेवाविशेषरूपं तदर्थं च प्रवर्त्तमानः क्रियासु कर्माश्रवैरात्मानं सन्भावयति, तथाहि - 'वीरभोग्या वसुन्धरे'ति मत्वा पराक्र मते, दण्डभयाद्य सर्वा प्रजा बिभ्यतीति दण्डयति, इत्येवं राज्ञामन्धेषामपि यथासन्भवमायोजनीयम्, अत्र च वन्दनादीनां द्वन्द्वसमासं कृत्वा तादर्थ्ये चतुर्थी विधेया, परिवन्दमाननपूजनाय जीवितस्य कर्माश्रवेषुप्रवर्त्तनाइति समुदायार्थः । न केवलं परिवन्दनाद्यर्थी विधेया, परिवन्दमाननपूजनाय जीवितस्य कर्माश्रवेषुप्रवर्त्तन्त इति समुदायार्थः । न केवलं परिवन्दनाद्यर्थी कर्मादत्ते, अन्यार्थमप्यादत्त इति दर्शयति-जातिश्चमरणं च मोचनं च जातिमरणमोचनमिति समाहारद्वन्द्रात्तादर्थ्य चतुर्थी, एतदर्थं च प्राणिनः क्रियासु प्रवर्त्तमानाः कर्माददते, तत्र जात्पर्थं क्रौश्चारिवन्दनादिकाः क्रियाविधत्ते, तथा यान् यान् कामान् क्रासाणादिभ्योददाति तांस्तानन्यजन्मनि पुनर्जातो भोक्ष्यते, तथा मनुनाऽप्युक्तम् - ''वारिदस्तृप्तिमाप्नोति, सुखमक्षयमन्नदः । तिलप्रदः प्रजामिष्टामायुष्कममयप्रदः ॥

अत्र चैकमेव सुभाषितम् - 'अभयप्रदान्'मिति तुषमध्ये कणिकावदिति, एवमादिकुमा-र्गोपदेशाद्धिंसादौ प्रवृत्तिं विदधाति । तथा मरणार्थमपि पितृपिण्डदानादिषु क्रियासु प्रवर्तते, यदिवा ममानेन सम्बन्धी व्यापादितस्तस्य वैरनिय्यार्तनार्थं वधबन्धादौ प्रवर्त्तते, यदिवा मरणनिवृत्त्यर्थमा- त्मनो दुर्गाद्युपयाचितमजादिना बलिं विधत्ते यशोधर इव पिष्टमयकुक्कुटेन, तथा मुक्त्यर्थमज्ञा- नावृतचेतसः पश्चाग्नितपोऽनुष्ठानादिकेषु प्राण्युपमर्द्वकारिषु प्रवर्त्तमानाः कर्माददते, यदिवा जातिमरणयोर्विमोचनाय हिंसादिकाः क्रियाः कुर्वते। 'जाइमरणभोयणाए'त्ति वा पाठान्तरं, तत्र भोजनार्थं कृष्यादिकर्मसु प्रवर्त्तमाना वसुधाजलज्चलनपवनवनस्प-तिद्वित्रिचतुष्पश्चेन्द्रियव्यापत्तये व्याप्रियन्त इति । तथा दुःखप्रतिघातमुररीकृत्या-त्मपरित्राणार्थमारम्भानासेवन्ते, तथाहि-व्याधि-वेदनार्त्ता लावकपिशित्तमदिराद्यासेवन्ते, तथा वनस्पतिमूलत्वक्पत्रनिर्यासादिसिद्धशतपा- कादितैलार्थमग्न्यादिसमारम्भेण पापं कुर्वन्ति स्वतः कारयन्त्यन्धः कुर्वतोऽन्यान् समनुजानत इत्येवमतीतानागतकालयोरपि मनोवाक्काययोगैः कर्मादानं विदधर्तीत्यायोजनीयम्। तथा दुःखप्रतिधातार्थमेव सुखोतपत्त्यर्थं च कलत्रपुत्रगृहोपस्कराद्याददते, तल्लाभपालनार्थं च तासु तासु क्रियासु प्रवर्त्तमानाः पापकर्मासेवन्त् इति, उक्तं च -

II9 II ''आदौ प्रतिष्ठाऽधिगमे प्रयासो, दारेषु पश्चाद्गृहिणः सुतेषु I कर्त्तु पुनस्तेषु गुणप्रकर्षं, चेष्टा तदुद्यैःपदलङ्घनाय II''

तदेवंभूतैः क्रियायिशेषैः कर्मोपादाय नानादिक्ष्वनुसश्चरन्ति अनेकरूपासु च योनिषु सन्धावन्ति विरूपरूपांश्च स्पर्शान् प्रतिसंवेदयन्ति, इत्येतज्ज्ञाजात्वा क्रियाविशेषनिवृत्तिर्विधेयेति ॥ एतावन्त एव च क्रियाविशेषा इति दर्शयितुमाह -

मू. (९२) एयावंति सव्वावंति लोगंसिं कम्पसमारंभा परिजाणियव्या भवंति ।

**q**. 'एआवन्ती सव्वावन्ती'ति एतौ हौ शब्दौ मागधदेशीभाषाप्रसिद्धया तावन्तः सर्वेऽपीत्येतत्पर्यायौ, एतावन्त एव सर्वस्मिन्, 'लोके' धर्माधर्मास्तिकायावच्छिन्ने नभःखण्डे ये पूर्वप्रतिपादिताः 'कर्म्मसमारम्माः' क्रियाविशेषाः, नैतेभ्योऽधिकाः केचन सन्तीत्येवं परिज्ञातव्या भवन्ति, सर्वेषां पूर्वत्रोपादानादिती भावः तथाहि-आत्मपरोभयैहिकामुष्मिकातीतानागतव-र्त्तमानकालकृतकारितानुमतिभिरारम्भाः क्रियन्ते, तेच सर्वेऽपिप्रागुपात्ता यथासम्भवमायोज्या इति ॥ एवं सामान्येन जीवास्तित्वं प्रसाद्य तदुपमर्दकारिणां च क्रियाविशेषाणां बन्धहेतुत्वं प्रदर्श्योपसंहारद्वारेण विरतिं प्रतिपादयन्नाह -

मू. (१३) जस्सेते लोगंसि कम्पसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्पे तिबेमि ।।

**ष्ट्र.** भगवान् समस्तवस्तुवेदी केवलज्ञानेन साक्षादुपलभ्यैवमाह - 'यस्य' मुमुक्षोः 'एते' पूर्वोक्ताः 'कर्मसमारम्भाः' क्रियाविशेषाः कर्मणो वा-ज्ञानावरणीयाद्यष्टप्रकारस्य समारम्भा-उपादानहेतवस्ते च क्रियाविशेषा एव, परि-समन्तात् ज्ञाताः-परिच्छिन्नाः कर्मबन्धहेतुत्वेन भवन्ति, हुरवधारणे, मनुते मन्यते वा जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः स एव मुनिर्ज्ञपरिज्ञया परिज्ञातकर्मा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याख्यातकर्म्बन्धहेतुभूतसमस्तमनोवाक्वायव्याणार इति, अनेन च मोक्षाङ्गभूते ज्ञानक्रिये उपात्ते भवतो, न ह्याभ्यां विना मोक्षो भवति, यत उक्तम् - ''ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्षाङ्गभूते ज्ञानक्रिये उपात्ते भवतो, न ह्याभ्यां विना मोक्षो भवति, यत उक्तम् - ''ज्ञानक्रियाभ्यां मोक्ष' इति । इतिशब्द एतावानयमात्मपदार्थविचारः कर्मबन्धहेतुविचारश्च सकलोद्देशकेन परिसमापितइतिप्रदर्शकः, यदिवा 'इति' एतदहं ब्रवीभि यत्यागुक्त यच्च वक्ष्ये तत्सर्वं भगवदन्तिके साक्षात् श्रुत्वा ॥

#### अध्ययनं-१, उद्देशकः-१ समाप्त :

# अध्ययनं-१, उद्देशकः-२)

उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीयः प्रस्तूयते-अस्य चायमभिसम्बन्धः-प्रथमोद्देशके सामान्येन जीवास्तित्वं प्रसाधितम्, इदानीं तस्यैवेकेन्द्रियादिपृथिव्याद्यस्तित्वप्रतिपिपादयिष-याऽऽह-यदिवा प्राक् परिज्ञातकर्मत्वं मुनितवकारणमुपादेशि, यः पुनरपरिज्ञातकर्मत्वान्मुनिर्न भवति-विरतिं न प्रतिपद्यते स पृथिव्यादिषु बम्ध्रमीति, अथ क एते पृथिव्यादय इत्यतस्तद्वि-शेषास्तित्वज्ञापनार्थमिदमुपक्रम्यत इति । अनेनाभिसम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य चत्वा-र्यनुवोगद्वाराणि वाच्यानि, यावज्ञामनिष्यन्नेनिक्षेपेपृथिव्युद्देशकइति, तत्रोद्देशकस्यनिकक्षेपादेरन्यत्र प्रतिपादितत्वान्नेइ प्रदर्श्यते, पृथिव्यास्तु यन्निक्षेपादि सम्भवति तन्निर्युक्तिकृद्दर्शयितुमाह -

नि. [६८] पुढवीए निक्खेवो परूवणालक्खणं परीमाणं । उवभोगो सत्थं वेयणा य वहणा निवत्ती य ॥

**म्**. प्राग् जीवोद्देशके जीवस्य प्ररूपणा किंन कृतेत्येतच नाशद्भनीयं, यतो जीवसामान्यस्य विशेषाधारत्वात् विशेषस्य च पृथिव्यादिरूपत्वात् सामान्यजीवस्य चोपभोगादेरसम्भवात् पृथिव्या-दिचर्चयैव तस्य चिन्तितत्वादिति । तत्र पृथिव्या नामादिनिक्षेपो वक्त्व्यः, प्ररूपणासूक्ष्मबादरादिभेदा, लक्षणं-साकारानाकारोपयोगकाययोगादिकं, परिमाणं-संवर्त्तितलोकप्रतरासंख्येयभा-गमात्रादिकम्, उपभोगः-शयनासनचङक्रमणादिकः, शस्त्रं-स्नेहान्लक्षारादि, वेदना-स्वशरीराव्यक्त-चेतनानुरूपा सुखदुःखानुभवस्वभावा, वधःकृतकारितानुभतिभिरुपमर्दनादिकः, निवृत्तिः- अप्रम- त्तस्य मनोवाकायगुप्तयाऽनुपमर्द्दाकेति समासार्थः । व्यासार्थं तु निर्युक्तिकृद्यथाक्रममाह –

नि. [६९] नामंठवणापुढवी दव्वपुढवी य भावपुढवी य । एसो खलु पुढवीए निक्खेवो चउविहो होइ ।।

व. स्पष्टा, नामस्थापने क्षुण्णत्वादनाद्दत्याह-

नि. [७०] दव्वं सरीरभविओ भावेण य होइ पुढविजीवो उ । जो पुढविनामगोयं कम्म वेएइ सो जीवो ॥

**वृ.** दव्यपृथिवी आगमूतो नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः, नोआगमतस्तु पृथिवीपदार्थज्ञस्य शरीरं जीवींपेतं तथा पृथिवीपदार्थज्ञत्वेन भव्यो-बालादिस्ताभ्यां विनिर्मुक्तो द्रव्यापृथिवीजीवः-एकभविको बद्धायुष्कोऽभिमुखनामगोत्रश्च, भावपृथिवीजीवः पुनर्यः पृथिवीनामादिकर्मोदीर्णं वेदयति । गतं निक्षेपद्वारं, साम्प्रतं प्ररूपणाद्वारम् –

नि. [७९] दुविहा य पुढविजीवा सुहुमा तह बायरा य लोगंमि। सुहुमा य सव्वलोए दो चेव य बायरविहाणा ।।

मृ. पृथिवीजीवा दिविधाः-सूक्ष्मा बादराश्च, सूक्ष्मनामकर्मोदयात् सूर्क्षक्ष्माः, वादर-नामकर्मोदयात्त् बादराः, कर्मोदयजनिते एवैषां सूक्ष्मबादरत्वे न त्वापेक्षिके बदरामलकयोरिव ॥ तत्र सूक्ष्माः समुद्गकपर्याप्तप्रक्षिप्तगन्धावयववत् सर्वलोकव्यापिनः, बादरास्तु मूलभेदाद्विविधा इत्याह – श्रुतस्कन्धः - १, अध्ययनं - १, उद्देशकः२

नि. [७२] दुविहा बायरपुढवी समासओ सण्हपुढवि खरपुढवी । सण्हा य पंचवण्णा अवरा छत्तीसइविहाणा ।। वृ. समासतः' संक्षेपाद्विविधा बादरपृथिवी-श्लक्ष्णबादरपृथिवी खरबादरपृथिवी च, तत्र श्लक्ष्णबादरपृथिवी कृष्णनीललोहितपीतशुक्लभेदात्पञ्चधा, इह च गुणभेदाद्गुणिभेदोऽभ्युप-गन्तव्यः, खरबादरपृथिव्यास्तवन्येऽपि षट् त्रिंशद्विशेषभेदाः सम्भवन्तीति ।। तानाह – नि. [७३] पुढवी य सकरा वालुगा थ उवले सिला य लोणूसे । अय तंब तउअ सीसग रुप्प सुवष्णे य वइरे य ।।
नि. [७४] हरियाले हिंगुलए मणोसिला सासगंजण पवाले । अब्भपडलम्भवालुअ बायरकाए मणिविहाणा ।।
नि. [७५] गोमेज्रए य रुयगे अंको फलिहे य लोहियक्खे य । मरगय मसारगछे भुयमोयग इंदनीले य ।।

नि. [७६] चंदप्पह वेरुलिए जलकंते चेव सूरकन्ते य। एए खरपुढवीए नाम छत्तीसयं होइ॥

**वृ.** अत्र च प्रथमगाथया पृथिव्यादयश्चतुर्दश भेदाः परिगृहीताः, द्वितीयगाथया त्वष्टौ हरितालादयः, तृतीयगाथया दश गोमेदकादयः, तुर्यगाथया चत्वारश्चन्द्रकान्तादयः । अत्र च पूर्वगाथाद्वयेन सामान्यपृथिवीभेदाः प्रदर्शिताः, उत्तरगाथाद्वयेन मणिभेदाः प्रदर्शिताः, एताः स्पष्ट इतिकृत्वा न विवृताः ॥ एवं सूक्ष्मबादरभेदान् प्रतिपाद्य पुनर्वर्णादिभेदेन पृथिवीभेदान् दर्शयितुमाह

ति. [७७] वण्णरसगंधफासे जोणिण्पमुहा भवंति संखेञ्जा। णेगाइ सहस्साइं हुंति विहाणंभि इक्विक्वे ।।

**वृ.** तत्र वर्णाः शुक्लादयः पञ्च रसास्तिक्तादयः पञ्च गन्धौ सुरभिदुरभी स्पर्शाः मृदुकर्छ शादयः अष्टौ, तत्र वर्णादिके एकैकस्मिन्, 'योनिप्रमुखा' योनिप्रभृतयः संखअयेया भेदा भवन्ति, संरव्येय-स्यानेकरूपत्वादिशिष्टसंख्यार्थमाह-अनेकानि सहाणि एकैकस्मिन् वर्णादिके 'विधाने' भेदे भवन्ति, योनितो गुणतश्च भेदानामिति । एतद्य सप्तयोनिलक्षप्रमाणत्वात् पृथिव्या एवं सम्भावनीयमिति ।

उक्तं च प्रज्ञापनायाम् - ''तत्य णं जे ते पज्जत्तगा एएसि णं वण्णादेसेणं गंधादेसेणं रसादेसेणं फासादेसेणं सहस्साग्गसो विहाणाइं संखेज्जाइं जोणिपमुहसयसहस्साइं पज्जत्तयनिस्साए अपज्जत्तया वक्कमंति, तं जत्थेगो तत्थ नियमा असंखेज्जा, से त्तं खरबायरपुढविकाइया'' इह च संवृतयोनयः पृथिवीकायिका उक्ताः, सा पुनः सचिता अचिता मिश्रा वा, तथा पुनश्च शीता उष्णा शीतोष्णा वेत्येवमादिका द्रष्टव्येति ॥ एतदेव भूयो निर्युक्तिकृत् स्पष्टतरमाह -

नि. [७८] वर्ण्णमि य इक्विके गंधंमि रसंभि तह य फासंभि । नाणत्ती कायव्वा विहाणए होइ इक्विकं ॥

वर्णादिके एकैकस्मिन् 'विधाने' भेदे सहाग्रशों नानात्वं विधेयं, तथाहि-कृष्णो वर्ण इति सामान्यं, तस्य च भ्रमराङ्गारकोकिलगवलकञ्जलादिषु प्रकर्षाप्रकर्षविशेषाद्भेदः कृष्णः कृष्णतरः कृष्णतम इत्यादि, एवं नीलादिष्वप्यायोज्यं, तथा रसगन्धस्पर्शेषु सर्वत्र पृथिवीभेदा वाच्याः, तथा वर्णादीनां परस्परसंयोगाद्धूसरकेसरकर्बुरादिवर्णान्तरोत्पत्तिरेवमुद्येक्ष्य वर्णादीनां प्रत्येकं प्रकर्षाप्रकर्षतया परस्परानुवेधेन च बहवो भेदा वाच्याः ।। पुनरपि पर्याप्तकादिभेदाद्भेदमाह

नि. [७९] जे बायरे विहाणा पञ्चत्ता तत्तिआ अपञ्चत्ता । सुहमावि हुंति दुविहा पज्जता चेव अपञ्चत्ता ।।

**वृ.** यानि बादरपृथिवीकार्ये 'विधानानि' भेदाः प्रतिपादितास्तानि यावन्ति पर्याप्तकानां तावन्त्ये- वापर्याप्तकानामपि, अत्र च भेदानां तुल्यत्वं द्रष्टव्यं न तु जीवानां, यत एकपर्याप्तका-श्रयेणासंख्येया अपर्याप्तका भवन्ति। सूक्ष्मा अपि पर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन द्विधा एव, किन्तु अपर्याप्त-कनिश्रया पर्याप्तकाः समुत्पद्यन्ते, यत्र चैकोऽपर्याप्तकस्तन्त्र नियमादसंख्येयाः पर्याप्तकाः स्युः । पर्याप्तिस्तु

(19) ।। 'आहारसरीरिन्दियऊसासवओमणोऽहिनिव्वत्ती । होति जतो दलियाओ करणं पड् सा उ पञ्जत्ती ।।''

जन्तुरुत्पद्यमानः पुद्गलोपादानेन करणं निर्वर्त्तयति तेन च करणविशेषेणाहारमवगृह्य पृथग् खलरसादिभावेन परिणतिं नयति स ताधकरणविशेष आहारपर्याप्तिशब्देनोच्यते, एवं शेषपर्याप्तयोऽपि वाच्याः, तत्रैकेन्द्रियाणामाहारशरीरेन्द्रियोच्छावूसामिधानाश्चतस्रो मवन्ति, एता-श्चान्तर्मुहूर्त्तेन जन्तुरादत्ते, अनाप्तपर्याप्तिरपर्याप्तकोऽवाप्तपर्याप्तिरुत्तुपर्याप्तक इति, अत्र च पृथिव्येव कायो येषामिति विग्रहः ॥ यथा सूक्ष्मबादरादयो भेदाः सिद्धयन्ति तथा प्रसिद्धभेदेनोदाहरणेन दर्शयितुमाह –

नि. [८०] रुक्खाणं गुच्छाणं गुम्माण लयाण वक्षिवलयाणं । जह दीसइ नाणत्तं पुढवीकाए तहा जाण ।।

वृ. यथा वनस्पतेर्वृक्षादिभेदेन स्पष्टं नानात्वमुपलभ्यते, तथा पृथिवीकायिकेऽपि जानीहि, तत्र वृक्षाः-चूतादयो गुच्छावृन्ताकीसञ्चकीकर्पास्यादयः, गुल्मानि-नवमालिकाकोरण्टकादीनि, लताः-पुत्रागाशोकलताद्याः, वल्लयः-त्रपुषीवालुङ्कीकोशातक्याद्याः, वलयानि-केतकीकदल्या-दीनि ॥ पुनरपि वनस्पतिभेदद्दष्टान्तेन पृथिव्या भेदमाह ~

नि. [८९] ओसहि तण सेवाले पणगविहाणे य कंद मूले य। जह दीसइ नाणत्तं पुढवीकाए तहा जाण ॥

**वृ.** यथा हि वनस्पतिकायस्य ओषध्यादिको भेद एवं पृथिव्या अपि द्रष्टव्यः, तत्र ओषध्यः-शाल्याद्याः, तृणानि-दर्भादीनि, सेवालं-जलोपरि मलरूपं, पनकः-काष्ठादावुल्लीविशेषः पश्चवर्णः, कन्दः-सूरणकन्दादिः, मूलम्-उशीरादीति ॥ एते च सूक्ष्मत्वान्नैकद्वयादिकाः समुपलभ्यन्ते, यत्संख्या-स्तूपलम्मयन्ते तद्दर्शयितुमाह -

नि. [८२] इकस्स दुण्ह तिण्ह व संखिज्ञाण व न पासिउं सका। दीसंति सरीराई पुढविजियाणं असंखाणं ।।

वृ. स्पष्टा ।। कथं पुनरिदमवगन्तव्ययम् ?, सन्ति पृथिवीकायिका इति, उच्यते, तदधिष्ठि-तशरीरोपलब्धेः अधिष्ठात्तरि प्रतीतिर्गवाश्वादाविव इति, एतद्दर्शयितुमाह –

> एएहि सरीरे हिं पच्चक्खं ते पर्खविया हुंति। सेसा आणागिज्झा चक्खुफासं न जं इंति।।

नि. [८३]

वृ. 'एभिः' असंख्येयतयोपलभ्यमानैः पृथिवीशर्करादिभिन्नैः शरीरैस्ते शरीरिणः शरीरद्वारेण 'प्रत्यक्षं साक्षात् 'प्ररूपिताः' ख्यापिता भवन्ति, शेषास्तु सूक्ष्मा आज्ञाग्राह्या एव द्रष्टव्याः, यतस्ते चक्षुस्पर्शं नागच्छन्ति, स्पर्शशब्दो विषयार्थः ॥ प्ररूपणाद्वारानन्तरं लक्षणद्वारमाह -

नि. [८४] उवओगजोग अञ्झवसाणे मइसुय अचक्खुदंसे य । अह विहोदयलेसा सञ्रस्सासे क़साया य ॥

**वृ.** तत्र पृथिवीकायादीना स्त्यानध्त्रियाध्र्वीद्यां च यावती चोपयोगशक्तित्व्यक्ता ज्ञानदर्शनरूपेत्येवमात्मक उपयोगोलक्षणं, तथा योगः-कायाख्य एक एव, औदारिकतन्मिश्रकार्म-ण त्रिको वृद्धयष्टिकल्पो जन्तोः सकर्मकस्यालम्बनाय व्याप्रियते, तथा अध्यवसायाः-सूक्ष्मा आत्मनः परिणामविशेषाः, तेच लक्षणम्, अव्यक्तचैतन्यपुरुषमनःसमुद्भूतचिन्ताविशेषा इवानभि-लक्ष्यास्तेऽभिगन्तव्याः, तथा साकारोपयोगान्तः पातिमतिश्रुताज्ञानसमन्विताः पृथिवीकायिक बौद्धव्याः, तथा स्पर्शनेन्द्रियेणाचक्षुर्दर्शनानुगता बोद्धव्याः, तथा ज्ञानावरणीयाद्यध्विधक र्भोद्यमा जस्तावद्वन्धभाजश्च, तथा लेश्या-अध्यवसायविशेषरूपाः कृष्णनीलकापोततैजस्यश्चत् (तामिर-नुगताः, तथा दशविधसंज्ञानुगताः, ताश्च आहारादिकाः प्रागुक्ता एव, तथा सूक्ष्मोच्छ्- सनिः श्वासानुगताः, उक्तं च-

''पुढविकाइया णं मंते ! जीवा आणवन्ति वा पाणवन्ति वा ऊससन्तिवा नी ससंति वा ?, गोवमा ! अविरहियं सतयं चेव आणवन्ति वा पाणवन्ति वा ऊससन्ति वा नी ससन्ति वा'' कषाया अपि सूक्ष्माः क्रोधादयः । एवमेतानि जीवलक्षणान्युपयोगादीनि कषायपर्यवसानानि पृथिवीकायिकेषु सम्भवन्तीति, ततश्चैवंविधजीवलक्षणकलापसमनुगतत्वात् मनुष्यवत्सचित्त रूथिवीति । ननुच तदिदमसिद्धमसिद्धेन साध्यते, तथाहि-न ह्युपयोगादीनि लक्षणानि पृथिवीकायेष् व्यक्तानि समुपलक्ष्यन्ते, सत्यमेतद्, अव्यक्तानि तु विद्यन्ते, यथा कस्यचित्तुंसः हत्पूरकव्य तिमिश्रमदिराति- पानपित्तोदयाकुलीकृतान्तः करणविशेषस्याव्यक्ता चेतना, न चैतावत तत्याचिद्रूपता, एवम- त्राप्यव्यक्तचेतनासम्भवोऽम्युपगन्तव्यः, ननु चात्रोच्छासादिकम व्यक्तचेतनालिङ्गमस्ति, न चेह तथाविधं किश्चिच्चेतनालिङ्गमस्ति, नैतदेवम्, इहापि समान-जातीयलतोद्भेवादिकमर्शोमांसाङकुरवच्चेतनाचिह्नमस्त्येव, अव्यक्तचेतनानां हि सम्भावित्तैकचेतनालिङ्गानां वनस्पतीनामिव चेतनाऽभ्युपगन्तव्येति, वनस्पत्तेश्च चैतन्यं विशिष्टर्तुपुष्पफलप्रदत्वेन स्पष्टं साधयिष्यते च, ततोऽव्यक्तोपयोगादिलक्षणसद्भावात् सचिता पृथिवीति स्थितम् ॥ ननु च्यार्थ्वलतादेः कठिनपुद्गलान्तिकायाः कथं चेतनत्वमित्यत्त आह-

नि. [८५] अही जहा सरीरंमि अणुगयं चेयणं खरं दिइं। एवं जीवाणुगयं पुढविसरीरं स्वरं होइ।।

वृ. यथाऽस्थि शरीरानुगतं सचेतनं स्वरं दृष्टम्, एवं जीवानुगतं पृथिवीशरीरमपीति ॥ साम्प्रतं लक्षणद्वारानन्तरं परिमाणद्वारमाह –

नि. [८६] जे वायरपञ्चत्ता पयरस्स असंखमागमित्ता ते । सेसा तित्रिवि रासी वीसुं लोया असंखिजा ॥

वृ. तत्र पृथिवीकायिकाश्चतुर्द्धा, तद्यया-बाँदराः पर्याप्ता अपर्याप्ताश्च तथा सूक्ष्मा अपर्याप्ताः पर्याप्ताश्च, तत्र ये बादराः पर्याप्तकास्ते संवर्त्तित्लोकप्रतरासंख्येयभागमात्रवर्त्तिप्रदेशराशिप्रमाणा भवन्ति, शेषास्तु त्रयोऽपि राशयः प्रत्येकमसंख्येयानां लोकानामाकाशप्रदेशराशिप्रमाणा भवन्ति, यथानिर्द्दिष्टक्रमेण चैते यथोत्तरं बहुतराः, यत उक्तम् - ''सव्वत्योवा बादरपुढविकाइया पञ्जत्ता, बादरपुढविकाइया अपञ्चत्ता असंखेञ्जगुणा, सुहुमपुढविकाइया अपञ्चत्ता असंखेञ्जगुणा, सुहुम-पुढविकाइया पञ्चत्ता असंखेञ्जगुणा''।। प्रकारान्तरेणापि राशिलायस्य परिमाणं दर्शयितुमाह नि. [८७] पत्थेण व कुडवेण व जह कोइ मिणिज्ञ सव्वधन्नाइं।

एवं मविज्ञमाणा हवंति लोया असंखिज्ञा ॥

वृ. यथा प्रस्थादिना कश्चित्सर्वधान्यानि मिनुयाद्, एवमसद्भावप्रज्ञापनाङ्गीकरणाञ्छोकं कुडवीकृत्याजघन्योत्कृष्टावगाहनान् पृथिवीकायिकजीवान् यदिमिनोति ततोऽसंख्येयान् लोकान् पृथिवीकायिकाः पूरयन्ति ॥ पुनरपि प्रकारान्तरेण परिमाणमाह –

नि. [८८] लोगागासपएसे इक्किक्वं निकि्खवे पुढविजीवं । एवं मविज्रमाणा हवंति लोआ असंखिजा ।।

**ुव.** स्पष्टा ।। साम्प्रतं कालतः प्रमाण निर्दिदिक्षुः क्षेत्रकालयोः सूक्ष्मबादरत्वमाह -

नि. [८९] निउणो उ होइ कालो तत्तो निउणयरयं हवइ खित्तं। अंगुलसेढीमित्ते ओसप्पिणीओ । असंखिजा।।

**वृ.** 'निपुणः' सूक्ष्मः 'कालः' समयात्मकः, ततोऽपि सूक्ष्मतरं क्षेत्रं भवति, यतोऽङ्गुलीश्रेणि-मात्रक्षेत्रप्रदेशानां समयापहारेणासंख्येया उत्सर्थिण्यवसर्थिण्योऽपक्रामन्तीत्यतः कालात् क्षेत्रं सुक्ष्मतरम् ॥ प्रस्तुतं कालतः परिमाणं दर्शयितुमाह –

नि. [९०] अणुसमयं च पवेसो निक्खमणं चेव पुढविजीवाणं । काए कायहिइया चउरो लोया असंखिज्ञा ।।

वृ. तत्र जीवाः पृथिवीकायेऽनुसमयं प्रविशन्ति निष्क्रामन्ति च, एकस्मिन्, समये कियतां निष्क्रमः प्रवेशश्च १-२, तथा विवक्षिते च समये कियन्तः पृथिवीकायपरिणताः सम्भवन्ति ३, तथा कियती च कायस्थिति ४ रित्येते चत्वारो विकल्पाः कालतोऽभिधीयन्ते, तत्रासंख्येय-लोकाकाशप्रदेशपरिमाणाः समयेनोत्पद्यन्ते विनश्यन्ति च, पृथिवीत्वेन परिणता अप्यसंख्येय-लोकाकाशप्रदेशप्रमाणाः, तथा कायस्थितिरपि मृत्वा मृत्वाऽसंख्येयलोकाकशप्रदेश- परिमाणं कालं तत्र तत्रोत्पद्यन्त इति, एवं क्षेत्रकालाभ्यां परिमाणं प्रतिपाद्य परस्परावगाहप्रतिपिपा-दयिषयाऽऽह –

नि. [९९]

### बायरपुढविकाइयपञ्चत्तो अन्नमन्नमोगाढो । सेसा ओगाहंते सुहुमा पुण सव्वलोगंमि ।।

ष्ट्र. बादरपृथिवीकायिकः पर्याप्तो यस्मित्राकाशखण्डे अवगाढः तस्मिन्नेवाकाशखण्डेऽ-परस्यापि बादरपृथिवीकायिकस्य शरीरमवागाढमिति, शेषास्तु अपर्याप्तकाः पर्याप्तकनिश्रया समुत्पद्यमाना अनन्तरप्रक्रियया पर्याप्तकावगाढाकाशप्रदेशावगाढाः, सूक्ष्माः पुनः सर्वस्मित्रपि लोकेऽवगाढा इति ॥ उपभोगढारमाह –

# नि. [९२] चंकमणे य हाणे निसीयण तुयदृणे य कयकरणे । उच्चारे पासवणे उवगरणाणं च निक्खिवणे ।।

नि. [९३] आलेवण पहरण भूसणे य कयविक्रए किसीए य । भंडाणंपि य करणे उवभोगविहीमणुस्साणं ॥

**वृ.** चङ्क्रमणोर्द्धवस्थान निषीदनत्वग्वर्त्तनकृतकपुत्रककरणउच्चारप्रश्रवण उपकरण-निक्षेपआलेपनप्रहरणभूषणक्रयविक्र चकृषीकरणभण्डकघट्टनादिषूपभोगविधिर्मनुष्याणां पृथिवीकायेन भवतीति ।। यद्येवं ततः क्रिमित्यत आह –

नि. [९४] एएहिं कारणेहिं हिंसंति पुढविकाइए जीवे । सायं गवेसमाणा परस्स दुक्खं उदीरंति ।।

**वृ.** एभिश्चङ्क्रमणादिभिः कारणैः पृथिवीजीवान् हिंसन्ति, किमर्थमिति दर्शयति-'सातं' सुखमात्मनो Sन्वेषयन्तः परदुःखान्यजानानाः कतिपयदिवसरमणीयभोगाशाकर्षितसम-स्तेन्द्रियग्रामा विमूदचेतस इति, 'परस्य' पृथिव्याश्रितजन्तुराशेः 'दुःखम्' असातलक्षणं तदुदीरयन्ति-उत्पादयन्तीति, अनेन भूदानजनितः शुभफलोदचः प्रत्युक्त इति।। अधुना शस्त्रद्वारं-शस्यते Sनेनेति शस्त्रं, तद्य द्विधा-द्रव्यशस्त्रं भावशस्त्रं च, द्रव्यशस्त्रमपि समासविभागभेदाद्विधैव, तत्र समासद्रव्य-शस्त्रप्रतिपादनायाह –

नि. [९५] हलकुलियाविसकुद्दालालित्तचमिगसिंगकट्टमग्गी य । उच्चारे पासवणे एयं तु समासओ सत्थं ॥

**वृ.** तत्र हलकुलिकविषकुद्दाललित्रकमृगशृङ्गकाष्ठाग्न्युचारप्रश्रवणादिकमेतत् 'समासतः' संक्षेपतो द्रव्यशस्त्रम् ।। विभागद्रव्यशस्त्रप्रतिपादनायाह –

नि. [९६] किंची सकायसत्थं किंची परकाय तदुभयं किंचि ।

एयं तु दव्वसत्थं भावे अ असंजमो सत्थं ॥

**वृ.** किश्चित्स्वकायशस्त्रं पृथिव्येव पृथिव्याः, किश्चित्परकायशस्त्रमुदकांदि, तदुभयं किश्चि-दिति भूदकं मिलितं भुव इति। तच्च सर्वमपि द्रव्यशस्त्रं, भावे पुनः 'असंयमः' दुष्प्रयुक्ता मनोवाकायाः शस्त्रमिति।। वेदनाद्वारमाह –

नि. [९७] पायच्छेयण भेयण जघोरु तहेव अंगुवंगेसुं । जह हुति नरा दुहिया पुढविकाए तहा जाण ॥

वृ. यथा पादादिकेष्वङ्गप्रत्यङ्गेषु छेदनभेदादिकया क्रियया नरादुःखितातथा पृथिवीकायेऽपि वेदनां जानीहि।। यद्यपि पादशिरोग्रीवादीन्यङ्गानि पृथिवीकायिकानां न सन्ति तथापि तच्छेदनानुरूपा वेदनाऽस्त्येवेति दर्शयितुमाह --

नि. [९८] नस्थि य सि अंगुवंगा तयाणुरूवा य वेयणा तेसिं। केसिंचि उदीरंती केसिंचऽतिवायए पाणे।।

षूर्वार्द्ध गतार्थं, केषाश्चित्पृथिवीकायिकानां तदारम्भिणः पुरुषा वेदनामुदीरयन्ति, केषाश्चित्तु प्राणानप्यतिपातयेयुरिति । तथा हिभगवत्यां दृष्टान्त उपात्तो यथा-चतुरन्तचक्रवर्त्तिने गन्धपेषिका यौवनवर्त्तिनी बलवती आर्द्रामलकप्रमाणं सचित्तपृथिवीगोलकमेकविंशतिकृत्वो गन्धपट्टकेकठिनशिलापुत्रकेणपिष्यात्, ततस्तेषांपृथिवीजीवानांकश्चित्सङ्घटितः कश्चित्परितापितः कश्चिद्व्यापादितोऽपरः किल तेन शिलापुत्रकेण न स्पृष्टोऽपीति ।। वधद्वारमाइ –

### नि. [९९] पवयंति य अनगारा न य तेहि गुणेहि जेहि अनगारा । पुढविं विहिंसमाणा न हु ते वायाहि अनगारा ॥

**वृ.** इह ह्येके कुर्तीर्थिका यतिवेषमास्थाय एवं च प्रवदन्ति-वयम् 'अनगाराः' प्रव्रजिताः, न च 'तेषु गुणेषु' निरवद्यानुष्ठानरूपेषु प्रवर्तन्ते, येष्वनगाराः, यथा चानगारगुणेषु न प्रवर्तन्ते तद्दर्शयति - यतस्तेऽहर्निशंपृथिवीजन्तुविपत्तिकारिणोद्दश्यन्ते गुदपाणिपादप्रक्षालनार्थम्, अन्यथापि निर्लेपनिर्गन्धत्वं कर्तुं शक्यम्, अतश्च यतिगुणकलापशून्या न वाङ्गमात्रेण युक्तिनिरपेक्षेणानगारत्वं बिभ्रतीति, अनेन प्रयोगः सूचितः, तत्र गाथापूर्वार्खेन प्रतिज्ञा, पश्चार्खेन हेतुः, उत्तरगाथार्खेन साधर्म्यदृष्टान्तः, स चायं प्रयोगः-कुर्तीर्थिकायत्यभिमानवादिनोऽपि यतिगुणेषु न प्रवर्तन्ते पृथिवीहिं-साप्रवृत्तत्वाद्, इह ये ये पृथिवीहिंसाप्रवृत्तास्ते ते यतिगुणेषु न प्रवर्तन्ते, गृहस्थवत् ॥ साम्प्रतं दृष्टान्तगर्भं निगमनमाह –

नि. [१००] अनगारवाइणो पुढविहिंसगा निग्गुणा अगारिसमा ।

निद्दोसत्ति य मइला विरइदुगंछाइ मइलतरा ।।

**वृ.** अनगारवादिनों' वयं यतय इति वदनशीलाः पृथिवीकायविहिंसकास्सन्तो निर्गुणा यतोऽतः 'अगारिसमा' गृहस्थतुल्या भवन्ति, अभ्युच्चयमाह-सचेतना पृथिवीत्येवं ज्ञानरहितत्वेन तत्समारम्भवर्त्तिनः सदोषा अपि सन्तो वयं निर्दोषा इत्येवं मन्यमानाः स्वदोषप्रेक्षाविमुखत्वात्, 'मलिनाः' कलुपितहृदयाः, पुनश्चातिप्रगल्भतया साधुजनाश्रितावा निरवद्यानुष्ठानात्मिकाया विरतेः 'जुगुप्सया' निन्दया मलिनतरा भवन्ति, अनया च साधुनिन्दयाऽनन्तसंसारित्वं प्रदर्शितं भव-तीति ।।

एतद्य गाथाद्वयं सूत्रोपात्तार्थानुसार्यपि वधद्वारावसरे निर्युक्तिकृताऽभिहितं, तस्य स्वयंमेवोपात्तत्वेन तद्वयाख्यानस्य न्याय्यत्वात्, तच्चेदं सूत्रम् 'लजमाणा पुढो पास अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणे'त्यादि ॥ अयं च वधः कृतकारितानुमतिभिर्भवतीति तदर्थाह–

नि. [१०१] केई सयं वहेंती केई अन्नेहि उ वहाविंती । केई अणुमन्नंती पुढविकायं वहेमाणा ॥

व. स्पष्टा, तद्वधे अन्येषामपि तदाश्रितानां वधो भवतीति दर्शयितुमाह --

नि. [१०२] जो पुढवि समारंभइ अन्नेऽवि य सो समारभइ काए । अनियाए अ नियाए दिस्से य तहा अदिस्से य ॥

**वृ.** यः पृथ्वीकायं 'समारभते' व्यापादयति सः 'अन्यानपि' अष्कायद्वीन्द्रियादीन् 'समार-भते' व्यापादयति उदुम्बुरवटफलभक्षणप्रवृत्तः तत्फलान्तःप्रविष्ठत्रसजन्तुभक्षणवदिति, तथा 'अणियाए य नियाइंत्ति अकारणेन कारणेन च, यदिवाऽसङ्कल्पेन सङ्कल्पेन च पृथिवीजन्तून् समारभते तदारम्भवांश्च 'दृश्यान्' दर्हुरादीन् 'अदृश्यान्' पनकादीन् 'समारभत्ते' व्यापादयती-त्यर्थः । एतदेव स्पष्टतरमाह –

नि. [१०३] पुढविं समारभतां हणंति तन्निस्सि ए य बहुजीवे । सुहुमे य बायरे य पज्रत्ते या अपज्रत्ते ॥

वृ. स्पष्टा, अत्र च सूक्ष्माणां वधः परिणामाशुद्धत्वात्तद्विषयनिवृत्त्वभावेन द्रष्टव्य इति ॥ विरतिद्वारमाह –

## नि. [१०४] एयं वियाणिऊणं पुढवीए निक्खिवंति जे दंडं । तिविहेण सव्वकालं मणेण वायाए काएणं ॥

**वृ.** 'एवमि'त्युक्तप्रकारानुसारेण पृथिवीजीवान् विज्ञाय तद्वधं बन्धं च विज्ञाय पृथिवीतो निक्षिपन्तिये दण्डं-पृथिवीसमारम्भाद्ययुपरमन्ति, तेईदृक्षा अनगारा भवन्तीत्युत्तरगायायां वक्षयति, 'त्रिविधेने'ति कृतकारितानुमतिभिः 'सर्वकालं' यावञ्जीवमपि मनसा वाचा कायेनेति ।। अनगारभवने उक्तशेषमाह –

## नि. [१०५] गुत्ता गुत्तीहि सव्वाहिं समिया समिईहिं संजया । जयमाणगा सुविहिया एरिसया हुंति अणगारा ।।

वृ. तिसृभिर्मनोवाकायगुप्तिभिर्गुप्ताः, तथा पश्चभिरीर्यासमित्यादिभिस्समिताः, सम्यक्-उत्यानशयनचङक्मणादिक्रियासु यताः संयताः 'यतमानाः' सर्वत्र प्रयत्नकारिणः, शोभनं विहितं-सम्यग्दर्शनाद्यनुष्ठानं येषां ते तथा, ते ईदृक्षा अनगारा भवन्ति, न तु पूर्वोक्तगुणाः पृथिवी-कायसमारम्भिणः शाक्यादय इति ।। गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, अधुना सूत्रानुगमेऽस्खलिता-दिगुणोपेत सूत्रमुच्चार्यते, तच्चेदं सूत्रम् --

्र्रे मू. (१४) अहे लोए परिजुण्णे दुस्संबोहे अविजाणए अस्तिं लोए पव्वहिए तत्थ तत्थ पुढो पास आतुरा परितावेति ।

**9**. अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरसूत्रे परिज्ञातकर्मा मुन्निर्समवतीत्युक्तं, यस्त्व-परिज्ञातकर्मास भावार्त्तोभवतीति, तथाऽऽदिसूत्रेण सह सम्बन्धः-सुधर्मस्वामी जम्बूनाग्ने इदमाचष्टे - 'श्रुतं मया' किं तच्छुतं ? पूर्वोद्देशकार्थं प्रदर्श्येदेमपीति, 'अट्टे' इत्यादि, परम्परसम्बन्धस्तु 'इह एगेसिं नो सन्ना भवती'त्युक्तं, कथनं पुनः संज्ञा न भवतीति, आर्त्तत्वात्, तदाह - 'अट्टे' इत्यादि, आर्त्तो नामादिश्चतुर्द्धा, नामस्थापने क्षुण्णे, ज्ञशरीरमव्यशरीरव्यतिरिक्तो नोआगमतो द्रव्यार्त्तः शकटादिचक्राणामुद्धिमूले वा यो लोहमयः पट्टो दीयते स द्रव्यार्त्तः, भावार्त्तस्तु द्विधा-आगमतो नोआगमतश्च, तत्रागमतो ज्ञाता-आर्त्तपदार्थज्ञस्तत्र चोपयुक्तो, नोआगमतस्तु औदयिकभाववर्ती रागद्वेषग्रहपरिगृहीतान्तरात्मा प्रियचिप्रयोगादिदुःखसङ्कटनिमग्नो भावार्त्तइति व्यपदिश्यते, अथवा शब्दादिविषयेषु विषविपाकसद्दशेषु तदाकाङ्कित्वाद्धिताहितविचारशून्यमना भाचार्त्तः कर्मोपचिनोति, यत उक्तम् - ''सोइंदियवसट्टे णं भंते ! जीवे किं बंधइ ? किं चिणाइ ? किं उवचिणाइ ?, गोयमा ! अट्ट कम्मपगडीओ सिढिलबंधणबद्धाओ धणियबंधणबद्धाओ पकरेइ, जाव अणादियं च णं अणवदग्गं दीहमद्धं चाउरन्तसंसारकन्तारमणुपरियट्टइ'' एवं स्पर्शना-दिष्वप्यायोजनीयम्, एवं क्रोधमानमायालोभदर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीयादिभिर्मावार्ताः संसारिणो जीवा इति, उक्तं च –

### (19) (गरा के सार्थ क सार्थ के सार सार्थ के सार सार्थ के सार सार्थ के सार सार्थ के सार सार्थ के सार्थ के सार्थ के सार्थ के सार्य के सार्थ के सा सार्थ के सार्य के सार सार्य के सार सार्य के सार्य के सार्य के सार्य के सार सार्य के सार सार्य सार्य के सार्य के सार्य

यदिवा ज्ञानावरणीयादिना शुभाशुभेनाष्ट्र्यकारेण कर्म्मणाऽऽर्त्तः, कः पुनरेवंयि ईत्यत्राह-लोकयतीति लोकः-एकद्वित्रिचतुष्पश्चेन्द्रियजीवराशिरित्यर्थः, अत्र लोकशब्दस्य नामस्थाप-नाद्रव्यक्षेत्रकालभवभावपर्यायभेदादष्टधा निक्षेपं प्रदर्श्याप्रशस्तभावोदयवर्त्तिना लोकनेहाधिकारो वाच्यः, यस्माद्यावानार्त्तः स सर्वोऽपि परिद्यूनो नाम परिपेलवो निस्सारः औपश्रमिकादिप्रशस्तभा-वहीनोऽव्यभिचारिमोक्षसाधनहीनो वेति, स च द्विधा-द्रव्यभावभेदात्, तत्र सचितद्रव्यपरिद्यूनो जीर्णशरीरः स्थविरकः जीर्णवृक्षो वा, अचित्तद्रव्यपरिद्यूनो जीर्णपटादिः, भावपरिद्यून औदयिकभवोदयात्प्रशस्तज्ञानादिभावविकलः, कथं विकलः ?, अनन्तगुणपरिहाण्या, तयाहि-पश्चचतुस्त्रिद्वयेकेन्द्रियाः क्रमशो ज्ञानविकलाः, तत्र सर्वनिकृष्टज्ञानाः सूक्ष्मानिगोदापर्य्याप्तकाः प्रथमसमयोत्पन्ना इति, उक्तं च –

 1911 ''सर्वनिकृष्टो जीवस्य दृष्ट उपयोग एष वीरेण । सूक्ष्मनिगोदापर्याप्तकानां स च भवति विज्ञेयः ।।
 11२।। तस्मात्यभृति ज्ञानविवृद्धिर्दृष्टा जिनेन जीवानाम् । लब्धिनिमित्तैः करणैः कायेन्द्रियवाङ्मनोधग्भिः ।।''

स च विषयकषायात्तीः प्रशस्तज्ञानद्यूनः किमवस्थो भवतीति दर्शयति - 'दुस्संबोध' इति, दुःखेन सम्बोध्यते-धर्मचरणप्रतिपत्तिं कार्यत इति दुस्सम्बोधो, मेतार्यवदिति, यदिवा दुस्सम्बोधो यो वोधयितुमशक्यो ब्रह्मदत्तवत्, किमित्येवम् ?, यतः 'अवियाणए'त्ति विशिष्टावबोधरहितः, स चैवंविधः किं विदध्यादित्याह - 'अस्मिन्' पृथिवीकायलोके 'प्रव्यथिते' प्रकर्षेण व्यथिते, सर्वस्यारम्भस्य तदाश्रयत्वादिति प्रकर्षार्थः, तत्तव्ययोजनतया खननादिभिः पीडिते नानाविध-शस्त्राद्भीते वा 'व्यथू भयचलनयो'रितिकृत्वा व्यथितं भीतभिति, 'तत्य तत्त्ये'ति तेषु तेषु कृषिखन-नगृहकरणादिषु 'पृथग्' विभिन्नेषु कार्येषूत्तन्नेषु 'पश्ये'ति विनेयस्य लोकाकार्यप्रवृत्तिः प्रदर्श्यते, सिद्धान्तशैल्याएकादेशेऽपि प्राकृति बह्वादेशो भवतीति, 'आतुरा' विषयकषायादिभिः 'अस्मिन्' पृथिवीकाये विषयभूते सामर्थ्यात् पृथिवीकायं 'परितापयन्ति' परि-समन्तात्तापयन्ति-पीडयन्ती-त्यर्थः, बहुवचननिर्द्देशस्तु तदारम्भिणां बहुत्वं गमयति, यदिवा-लोकशब्दः प्रत्येकमभिसम्बध्यते, कशशिद्धलोको विषयकषायादिभिरार्त्तोऽपरस्तु कायपरिजीर्णः कश्चिदुःखसम्बोधः तथाऽपरो विशिष्टज्ञानरहितः, एते सर्वेऽप्यातुरा विषयजीणदिहादिभिः सुखाप्तऽस्मिन्-पृथिवीकायलोके विषयभूते पृथिवीकायं नानाविधैरुपायैः 'परितापयन्ति' परि-समन्तात्तापयन्ति-पीडयन्तीति सूत्रार्थः ननु चैकदेवताविशेषावस्थिता पृथिवीति शक्यंप्रतिपत्तुं नपुनरसंख्येयजीवसङ्चातरूपेत्यत्व

मनु चकदवताावशषावास्थता पृथिवाति शक्य प्रतिपत्तु न पुनरसंख्ययजावसङ्घातरूपत्पत त्परिहर्त्तुकाम आह –

मू. (१५) संति पाणा पुढो सिया लज़माणा पुढो पास अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरुवरुवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्पसमारंभेणं पुढविसत्थं समारंभेमाणा अणेगरुवे पाणे विहिंसइ

**वृ.** 'सन्ति' विद्यन्ते 'प्राणाः' सत्ताः 'पृथग्' पृथग्मावेन, अड्डुलासंख्येयभागस्वदेहावगाहनया पृथिव्याश्रिताः सितावा-सम्बद्धा इत्यर्थः, अनेनैतत्कथयति-नैकदेवता पृथिवी, अपि तु प्रत्येक-शरीरपृथिवीकायात्मिकेति, तदेवं सचेतनत्वमनेकजीवाधिष्ठितत्वं च पृथिव्या आविष्कृतं भव-तीति । एतद्य ज्ञात्वा तदारम्भनिवृत्तान् दर्शयितुमाह - 'लजमाणा पुढो पास'त्ति, लज्ञा ढिधा-लौकिकी लोकोत्तरा च, तत्र लौकिकी, स्नुषासुभटादेः श्वशुरसङ्ग्रामविषया, लोकोत्तरा सप्तदश-प्रकारः संयमः, तदुक्तम् - ''लज्ञा दया संजम बंभचेर'मित्यादि, लज्जमानाः-संयमानुष्ठानपराः, यदिवापृथिवी- कायसमारम्भरूपादसंयमानुष्ठानस्त्रज्ञमानाः 'पृथगि'ति प्रत्यक्षज्ञानिनः परोक्षज्ञानिनश्च, अतस्तान् लज्जमानान् पश्येत्यनेन शिष्यस्य कुशलानुष्ठानप्रवृत्तिविषयः प्रदर्शितो भवतीति । कुतीर्थिकास्त- वन्ययावादिनोऽन्यथाकारिण इति दर्शयितुमाह - 'अणगारा' इत्यादि, नविद्यतेऽगारं-गृहमेषामित्य- नगारा-यतयः स्मो वयमित्येवं प्रकर्षेण वदन्तः प्रवदन्त इति, 'एके' शाक्यादयो ग्राह्याः, ते च वयमेव जन्तुरक्षणपराः क्षपितकषायाज्ञानतिमिरा 'इति' एवमादि प्रतिज्ञामात्रमनर्थकमारटन्ति, यथा कश्चिदत्यन्तशुचिर्वोद्रश्चतुःषष्टिमृत्तिकास्नायी गोशवस्या-शुचितया परित्यागं विधाय पुनः कर्मकरवाक्याच्चर्मस्थिपिशितस्नाय्वादेर्यथाखमुपयोगार्थं सङ्गहं करितवान्, तथा च तेन शुच्यभिमानमुद्वहताऽपिकिं तस्य परित्यक्तम् !, एवमेतेऽपि शाक्यादयोऽ-नगारवादमुद्वहन्ति, न चानगारगुणेषु मनागपि प्रवर्त्तन्ते, न च गृहस्थचर्यां मनागप्यतिलङ्घयन्तीति दर्शयति- 'यद्' यस्माद् 'इम'मिति सर्वजनप्रत्यक्षं पृथिवीकायं 'विरूपरूपैः' नानाप्रकारैः 'शस्त्रैः' हलकुद्दाल- खनित्रादिभिः पृथिव्याश्रयं कर्म्म-क्रियां समारभमाणा विहिंसन्ति, तथाऽनेन च पृथिवीकर्मसमारम्भेण पृथिवीशस्त्रं 'समारभमाणो' व्यापारयन् पृथिवीकायं नानाविधैः शस्त्रैव्या-र्शवतीत्यर्थः, एवं शाक्यादीनां पार्थिवजन्तुवैरिणामयतित्वं प्रतिपाद्य साम्प्रतं सुखाभिलाषितया कृतकारितानुमतिभिर्मनो- वाक्वायलक्षणां प्रवृत्तिं दर्शयितुमाह –

मू. (१६) तत्त्थ खलु भगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाण-णपूयणाए जाइमरणोयणाए दुकखपडिघायहेउं स सयमेव पुढविसत्थं समारंभइ अण्णेहिं वा पुढविसत्थं समारंभावेइ अण्णे वा पुढविसत्थं समारंभंते समणुजाणइ।

वृ. तत्र पृथिवीकायसमारम्भे खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे 'भगवता' श्रीवर्द्धमानस्वामिना परिज्ञानं परिज्ञा सा प्रवेदितेति, इदमुक्तं भवति-भगवतेदमाख्यातं-यथैभिर्वक्ष्यमाणैः कारणैः कृतकारितानुमतिभिः सुखैषिणः पृथिवीकायं समारभन्ते, तानि चामूनि-अस्थैव जीवितस्य परिपेल-वस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं, तथा जातिमरणमोचनार्थं दुःखप्रतिधातहेतुं च स सुखलिप्सुर्दुःखद्विट् स्वयमात्मनैव पृथिवीशस्त्रं समारभते, तथाऽन्यैश्च पृथिवीशस्त्रं समारम्भयति, पृथिवीशस्त्रं समार-भमाणानन्यांश्च स एव समनुजानीते, एवमतीतानागताभ्यां मनोवाक्काय-कर्मभिरायोजनीयम् । तदेवं प्रवृत्तमतेर्यद्भवति तद्दर्शयितुमाह –

मू. (१७) तं से अहिआए तं से अबोहीए से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुद्राय सोद्या खलु भगवओ अणगाराणं इहमेगेसिं णातं भवति-एस खलु गंथे एस खलु मोहे एस खलु मारे एस खलु नरए इच्चत्थं गङ्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं पुढविकम्पसमारंभेण पुढविसत्थं समारंभमाणे अण्णे अणेगरूवे पाणे विहिंसइ, से बेभि अप्पेगे अंधमब्भे अप्पेगे अंधमच्छे अप्पेगे पायमब्भे अप्पेगे पायमच्छे अप्पेगे युष्फमब्भे अप्पेगे गुष्फमच्छे अप्पेगे जंधमब्भे र अप्पेगे आयाणीयं र अप्पेगे ऊरुमब्भे २ अप्पेगे कडिमब्भे २ अप्पेगे नाभिमब्भे २ अप्पेगे जदरमब्भे २ अप्पेगे पासमब्भे २ अप्पेगे पिट्ठुमब्भे २ अप्पेगे उरमब्भे २ अप्पेगे जिप्सब्भे २ अप्पेगे पासमब्भे २ अप्पेगे पिट्ठुमब्भे २ अप्पेगे उरमब्भे २ अप्पेगे हिययमब्भे २ अप्पेगे पाणमब्भे २ अप्पेगे खंधमब्भे २ अप्पेगे बाहुमब्भे २ अप्पेगे हत्थमब्भे २ अप्पेगे विष्मम्भे २ अप्पेगे गीवमब्भे २ अप्पेगे बाहुमब्भे २ अप्पेगे हत्थमब्भे २ अप्पेगे संग्र २ अप्पेगे गीवमब्भे २ अप्पेगे बाहुमब्भे २ अप्पेगे होट्ठमब्भे २ अप्पेगे अंगुलिमब्भे २ अप्पेगे जिष्ममब्भे २ अप्पेगे गीवमब्भे २ अप्पेगे बाहुमब्भे २ अप्पेगे होट्ठमब्भे २ अप्पेगे इंत्सम्भे २ अप्पेगे नहमब्भे २ अप्पेगे गीवमब्भे २ अप्पेगे हालुमब्भे २ अप्पेगे होट्ठमब्भे २ अप्पेगे दंत्तमब्भे २ अप्पेगे नहमब्भे २ अप्पेगे तालुमब्भे २ अप्पेगे हर्ण क्ये २ अप्पेगे होट्ठमब्भे २ अप्पेगे कण्णमन्थे २ अप्पेगे नासमओ

For Private & Personal Use Only

२ अप्पेगे अच्छिमब्भे २ अप्पेगे भमुहमब्भे २ अप्पेगे निडालमब्मे २ अप्पेगे सीसमब्भे २ अप्पेगे संपसारए अप्पेगे उद्दवए, इत्यं सत्यं समारंभमाणस्स इद्वेते आरंभा अपरिष्णाता भवंति ।

**q**. 'तं से अहियाए तं से अबोहीए' तत् पृथिवीकायसमारम्भणं 'से' तस्य कृतकारि-तानुमतिभिः पृथ्वीशस्त्रं समारभमाणस्यागामिनी काले अहिताय भवति, तदेव चाबोधिलभायेति, न हि प्राणिगणोपमर्दनप्रवृत्तानामणीयसाऽपि हितेनाऽऽयत्यां योगो भवतीत्युक्तं भवति, यः पुनर्भगवतः सकाशात्तच्छिष्यानगारिभ्यो वा विज्ञाय पृथ्वीसमारम्भं पापात्मकं भावयति स एवं मन्यत इत्याह- 'से त' मित्यादि, 'सः' ज्ञातपृथिवीजीवत्वेन विदितपरमार्थः 'तं' पृथ्वीशस्त्रसमा-रम्भमहितं सम्यगवबुध्यमानः 'आदानीयं' ग्राह्यं सम्यग्दर्शनादि सम्यगुत्याय-अभ्युपगम्य, केन प्रत्ययेनेति दर्शयति- 'श्रुत्वा' अवगम्य साक्षाद्भगवतोऽनगाराणां वा समीपे, ततः 'इह' मनुष्य-जन्मनि 'एकेषां' प्रतिबुद्धतत्त्वानां साधूनां ज्ञातं भवतीति, यत् ज्ञातं भवति तद्दर्शयितुमाह -'एसे'त्यादि, एष पृथ्वीशस्त्रसमारम्भः खलुरवधारणे कारणे कार्योपचारं कृत्वा 'नङ्वलोदकं पादरोग' इतिन्यायनेष एव ग्रन्थः-अष्टप्रकारकर्मबन्धः, तथैष एव पृथ्वीसमारम्भो मोहहेतुत्वान्मोहः-कर्मबन्ध- विशेषो दर्शनचारित्रभेदोऽप्टाविंशतिविधः, तथैव एव मरणहेतुत्वान्माराः-आयुष्ककर्मक्षयलक्षणः, तथैष एव नरकहेतुत्वान्नरकः-सीमन्तकादिर्भूभागः, अनेन चासाता-वेदनीयमुपात्तं भवति, कथं पुनरेकप्राणिव्यापादनप्रवृत्तावध्विधकर्मबन्धं करोतीति, उच्यते मार्यमाणजन्तुज्ञानावरोधित्वात्ज्ञानावरणींय बध्नात्येवमन्यतराप्यायोजनीयमिति, अन्यदपितेषां ज्ञातं मवतीति दर्शयितुमाह–

'इच्चत्यमित्यादि, 'इत्येवमर्थम्' आहारभूषणोपकरणार्थं तथा परिवन्दनमाननपूजनार्थं दुःखप्रतिधाताहेतुंच 'गृन्द्रो' मूर्छितो 'लोकः' प्राणिगणः, एवंविधेऽप्यतिदुरितनिचयविपाकफले पृथ्वीकायसमारम्भे अज्ञानवशान्मूच्छितस्तवेतद्विधत्त इति दर्शयति- 'यद्' यस्माद् 'इमं' पृथ्वीकायं विरूपरूपैः शस्त्रैः पृथ्वीकर्म समारभमाणो हिनस्ति, पृथिवीकायसमारम्भेण च पृथिव्येव शस्त्रं स्वकायादेः पृथिव्यां वा शस्त्रं हलकुद्दालादि तत्समारभते, पृथिवीशस्त्रं समारभमाणश्चान्यान-नेकरूपान् 'प्राणिनो' द्वीन्द्रियादीन्विंधं हिनस्तीति । स्यादारेका, ये हि न पश्यन्ति न श्रृ ण्वन्ति न जिघ्रन्ति न गच्छन्ति कथं पुनस्ते वेदनामनुभवन्तीति ग्रहीतव्यम् ? अमुष्यार्थस्य प्रसिद्धये दृष्टान्तमाह— 'से बेभी' त्यादि, सोऽहं पृष्टो भवता पृथिवीकायवेदनां ब्रवीमि, अथवा 'से' इति त्तेच्छब्दार्थे वर्त्तते, यत्त्त्रया पृष्टस्तदहं ब्रवीमि, अपिशब्दो यथानामशब्दार्थे, यथा नाम कश्चिजात्यन्धो बधिरो मूकः कुष्ठी पङ्गुः अनभिनिर्वृत्तपाण्याद्यवयवविभागो मृगापुत्रवत् पूर्वकृताशुभकर्मो-दयाद्धिताहितप्राप्तिपरिहारविमुखोऽतिकरुणां दशां प्राप्तः, तमेवंविधमन्धा- दिगुणोपेतं कश्चित्कुन्ताग्रेण 'अब्भे' इति आभिन्दात् तयाऽपरः कश्चिदन्धमाच्छिन्धात्, स चभिधमनाधवस्थायां न पश्यति न श्रृणोति मूकत्वात्रोद्यै रारटीति, किमेतावता तस्य वेदनाऽभावो जीवाभावो वा शक्यो विज्ञातुम्?, एवं पृथिवीजीवा अप्यव्यक्तचेतना जात्यन्धबधिरमूकपङ्ग्वादिगुणोपेतपुरुष-वदितियया वा पश्चेन्द्रियाणां परिस्पष्टचेतनानां 'अग्पेगे पायमब्मे' इति यया नाम कश्चित्पादमा-भिन्दादाच्छिन्दाद्वेत्वेवं गुल्फादिष्वप्यायोजनीयमिति दर्शयति, एवं जङ्घाजानूरुकटीना-भ्यूदरपार्श्वपृष्ठउरोहृदयस्तनस्कन्धबाहृहस्ताङ्ग्रलिनखग्रीवाह नुकौष्ठदन्तजिह्नातालुगलगण्ड-

कर्णनासिकाक्षिग्रूललाटशिरः प्रमृतिष्ववयवेषु भिद्यमानेषु छिद्यमानेषु वा । वेदनोर्फ्तर्लक्ष्यते, एवमेषामुक्तटमोहाज्ञानमाजां स्त्यानद्र्ध्याद्युदयादव्यक्तचेतनानामव्यक्तैव वेदना भवतीति ग्राह्यम्

अत्रैव ध्द्यन्तान्तरं दर्शयितुमाह - 'अपेगे संपमारए अप्पेगे उद्दवए' यथा नाम कश्चित् 'सम्' एकीमावेन प्रकर्षेण प्राणानां मारणम्-अव्यक्त्वापादनं कस्यचित्त कुर्यात् मूच्छमािपाद-येदित्यर्थः, तथाऽवस्थं च यथा नाम कश्चिदपद्रापयेत् प्राणेम्यो व्यपरोपयेत् न चासौ तां वेदनां स्फुटमनुभवति, अस्ति चाव्यक्ता तस्यासौ वेदनेति, एवं पृथिवीजीवानामपि द्रष्टव्यमिति। पृथिवी-कायिकानां जीवत्वं प्रसाध्य तथा नानाविधशस्त्रसंपाते वेदनां चाविर्माव्य अधुना तद्वधे बन्धं दर्शयितुमाह –

मू. (9८) एत्य सत्यं असमारभमाणस्स इद्येते आरंभा परिण्णाता भवंति, तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं पुढविसत्यं समारंभेञ्जा नेवन्नेहिं पुढविसत्यं समारंभावेज्ञा नेवण्णे पुढविसत्यं समारंभंते समणुजाणेज्ञा, जस्सेते पुढविकम्पसमारंभा परिण्णाता भवंति से हु मुणी परिण्णातकम्पे-ति बेबि।

**q**. 'अत्र' पृथिवीकाये 'शस्त्रं' द्रव्यभावभिन्नं, तन्न द्रव्यशस्त्रं स्वकायपरकायोभयरूपं, भावशस्त्रं त्वसंयमो दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायलक्षणः, एतद्विविधमपि शस्त्रं समारभमाणेस्येति एते' खननकृष्याद्यात्मकाः समारम्भाः बन्धहेतुत्वेन 'अपरिज्ञाता' अविदिता भवन्ति, एतद्विपरीतस्य परिज्ञाता भवन्तीति दर्शयितुमाह— 'एत्ये' त्यादि 'अत्र' पृथिवीकाये द्विधिमपि शस्त्रम् 'असमार-भमाणस्य' अव्यापारयत इति, 'एते' प्रागुक्ताः कर्मसमारम्भाः 'परिज्ञाता' विदिता भवन्ति, अनेन च विरत्यधिद्रकारः प्रतिपादितो भवतीति, तामेव विरतिं स्वनामग्राहमाह - 'त'मित्यादि, तं पृथिवीकायसमारम्भे बन्धं परिज्ञाय असमारम्भे वाऽबन्धमिति 'मेघावी' कुशलः एतत् कुर्यादिति दर्शयति-नैव पृथिवीशस्त्रं द्रव्यमावभिन्नं समारभेत, नापितद्विषयोऽन्यैः समारम्भः कारयितव्यः न चान्यान् पृथिवीशस्त्रं द्रव्यमावभिन्नं समारभेत, नापितद्विषयोऽन्यैः समारम्भः कारयितव्यः न चान्यान् पृथिवीशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीयात् इति, एवं मनोवाक्कायकर्माभिरतीता-नागतकालयोरप्यायोजनीयमिति, तत्तश्चैवं कृतनिवृत्तिरसौ मुनिरिति व्यपदिश्यते, न शेष इति दर्शयन्नुप्रसञ्जिहीर्षुराह- 'यस्य' विदितपृथिवीजीववेदनात्यस्पस्य, 'एते' पृथिवीविषयाः कर्म्यसमा-रम्भाः खननकृष्याद्यात्मकाः कर्मबन्धहेतुत्वेन परिज्ञाता मवन्ति ज्ञपरिज्ञया तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहता मवन्ति, हुरवधारणे, स एव मुनिर्झिविधयाऽपि परिज्ञया परिज्ञातं कर्मसावद्या-नुष्ठनमप्टप्रकारं वा कर्म येन स परिज्ञातकर्मा, नापरः शाक्यादिः, ब्रवीभि पूर्ववदिति ॥

अध्ययनं-१, उद्देशकः-२ समाप्तः

-: अध्ययन-१ - उद्देशकः-३ :--

**वृ.** गतः पृथिव्युद्देशकः, साम्प्रतप्कायोद्देशकः समारभ्यते, अस्ये चायमभिसम्बन्धः-इहानन्त-रोद्देशके पृथिवीकायजीवाः प्रतिपादितास्तद्वधे बन्धो विरतिश्च, साम्प्रतं क्रमायातस्याष्कायस्य जीवत्वं तद्वधे बन्धो विरतिश्च प्रतिपाद्यते इति, अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि वाच्यानि, तत्र नामनिष्पन्नेनिक्षेपेअप्कायोद्देशकः, तत्र पृथिवीकायजीवस्वरूप समधिगतये यानि नव निक्षेपादीनि द्वाराण्युक्तानि, अष्कायेऽपि तान्येव समानतयाऽतिदेष्टुकामः-कानिचिद्विशेषाभिधित्सयोद्धर्तुकागश्च निर्युक्तिकारो गाथाषाह — नि. [१०६] आउस्सवि दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए। नाणत्ती उ विहाणे परिमाणुवभोगसत्थे य ॥

**वृ.** अष्कायस्यापि तान्येव द्वाराणि भवन्ति यानि पृथिव्याः प्रतिपादितानीति, 'नानात्वं' भेदरूपं विधानपरिमाणोपभोगशस्त्रविषत्र्वंद्रष्टव्यं, चशब्दाल्ठक्षणविषयं च, तुशब्दोऽवधारणार्थः, एतद्गतमेव नानात्वं नान्यगतमिति ॥ तत्र विधानं-प्ररूपणा, तद्गतं नानात्वं प्रदर्शयितुमाह -

नि. [१०७] दुविहा उ आउजीवा सुहुमा तह बायरा य लोगंभि । सुहुमा य सव्वलोए पंचेव य बायरविहाणा ।।

व. स्पष्टा ॥ तत्र पश्च बादरविधानानि दर्शयितुमाह --

नि. [१०८] सुद्धोदए य उस्ता हिमे य महिया य हरतणू चेव । बायर आउविहाणा पंचविहा वण्णिया एए ॥

**दृ**. 'शुद्धोदकं' तडागसमुद्रनदीद्रहावटादिगतमवश्यायादिरहितमिति, 'अवश्यायो'' रजन्यां यस्ट्रोहः पतति, हिमं तु शिशिरसमये शीतपुद्गलसम्पर्क्वाज्ञलमेव कठिनीभूतमिति, गर्भमासादिषु सायं प्रातर्वा धूमिकापातो महिकेसुच्यते, वर्षाशरत्कालयोर्हरिताङ्कुरमस्तकस्थितो जलबिन्दुर्भूमिस्नेहसम्पत्को द्भूतो हरतनुशब्देनाभिधीयते, एवमेते पञ्च बादराप्कायविधयो व्यावर्णिता । ननु च प्रज्ञापनायां वादराप्कायभेदा बहवः परिपठिताः, तद्यथा-करकशीतोष्णक्षार-क्षत्रकट्वम्ललवणवरुणकालोदपुष्करक्षीरष्ट्र्तिक्षुरसादयः, कथं पुनस्तेषामत्र सङ्ग्रहः ?, उच्यते, करकस्तावत्कठिनत्वाद्धिमान्तः-पाती, शेषास्तु स्पर्शरसस्थानवर्णमात्रभिन्नत्वान्न शुद्धोदकमति-वर्त्तनो, यद्येवं प्रज्ञापनायां किमर्थोऽपरभेदानां पाठः ?, उच्यते, स्त्रीबालमन्द**भु**द्धयादिप्रतिपत्त्य-र्थमिति, इहापि कस्मान्न तदर्थं पाठः ?, उच्यते, प्रज्ञापनाध्ययनमुपाङ्गत्वादार्थं, तत्र युक्तः सकल-भेदोपन्यासः स्व्याद्यनुग्रहाय, निर्युक्तयस्तु सूत्रार्थं पिण्डीकुर्वन्त्यः प्रवर्तन्त इत्य- दोषः । त एते बादराफायाः समासतो द्वेधाः-पर्याप्तका अपर्याप्तकाश्च, तन्नापर्याप्तका वर्णादीनसम्प्राप्ताः, पर्याप्त-कास्तु वर्णगन्धरसस्पर्शा देशैः सहाग्रशो भिद्यन्ते, ततश्च सङ्घयेयानि योनिप्रमुखानि शतसहम्राणि भवन्ति भेदानामित्यवगन्तव्यं संवृतयोनयश्चेते, सा च योनिः सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्त्रिधा, पुनद्य शीतोष्णोभयभेदात्ब्रिविधेव, एवं गण्यमानाः योनीनां सप्त लक्षा भवन्तीति ॥

प्ररूपणानन्तरं परिमाणद्वारमाह –

नि. [१०९] जे बायरपज्जता पयरस्स असंखभागमित्ता ते ! सेसा तिन्निवि रासी वीसुं लोगा असंखिज्ञा ।।

**वृ.** ये बादराष्कायपर्याप्तकास्ते संवर्त्तितलोकप्रतरासङ्खयेयभागप्रदेशराशिपरिमाणाः, शेषास्तु त्रयोऽपि राशयो 'विष्वक्' पृथगसङ्खयेययलोकाकाशप्रदेशराशिपरिमाणा इति, विशेषश्चायम् बादरपृथिवीकायपर्याप्तकेम्यो बादराष्कायपर्याप्तका असङ्खयेयगुणाः बादरपृथ्वी-कायापर्याप्तकेभ्यो बादराष्कायिकापर्याप्तका असंख्येयगुणाः सूक्ष्मपृथिवीकायापर्याप्तकभ्यः सूक्ष्माष्कायापर्याप्तका विशेषाधिकाः । सूक्ष्मपृथ्वीकायपर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्माष्कायपर्याप्ता विशेषा-धिकाः ॥

साम्प्रतं परिमाणद्वारानन्तरं चशब्दसूचितं लक्षणद्वारमाह –

### नि. [१९०] जह हत्थिस्स सरीरं कललावत्थस्स अहुणोववन्नस्स । होइ उदगंडगस्स य एसुवमा सव्वजीवाणं ।।

व. अथवा पर आक्षिपति-नाप्कायो जीवः, तल्लक्षणायोगात् प्रश्नुवणादिवदित्यस्य हेतोरसिद्धतोद्भावनार्थं ध्ष्टान्तद्वारेण लक्षणमाह-जहेत्यादि, यथा हस्तिनः शरीरं कललाव-स्थायामधुनोत्पन्नस्य द्रवं चेतनं च ६९म्, एवमप्कायोऽपीति, यथा वा उदकप्रधानमण्डकमुद-काण्डकमधुनोत्पन्नमित्यर्थः, तन्मध्यव्यवस्थितं रसमात्रमसञ्जातावयवमनभिव्यक्तच-ञ्च्वाद्रिपविभागं चेतनावद् धष्टम्, एषा एवोपमा अष्कायजीवानामपीति, हस्तिशरीरकललग्रहणं च महाकायत्वात्तद्वहु भवत्तीत्वतः सुखेन प्रतिपद्यते, अधुनोपपत्रग्रहणं सप्ताहपरिग्रहार्थं, यतः सप्ताहमेव कललं भवति, परतस्वर्बुदादि, अण्डकेऽप्युदकग्रहणमेवमर्थमेव, प्रयोगश्चायम्-सचेतना आपः शस्त्रानुपहतत्वे सति द्रवत्वात्, हस्तिशरीरोपादानभूतकललवत् विशेषणोपादानात्र-श्रवणादिव्युदासः, तथा सात्मकं तोयम्, अनुपहतद्रवत्वाद्, अण्डकमध्यस्थितक- ललवदिति, तथा आपो जीवशरी रारणि, छेद्यत्वाद्भेद्यत्वादुत्क्षेप्यत्वाद्भोज्यत्वाद्भोग्यत्वात् घ्रेयत्वाद्रसनीयत्वात् स्पर्शनीयत्वात् दृश्यत्वाद् द्रव्यत्वाद् एवं सर्वेऽपि शरीरधर्मा हेतुत्वेनोपन्यसनीयाः, गगनवर्जभूत-धर्माश्च रूपवत्त्वाकारवत्त्वादयः, सर्व्वत्र चायं दृष्टान्तः-सास्नाविषाणादिसङ्घतवदिति, ननु च रूपवत्त्वाकारवत्त्वादयो भूतधर्माः परमाणुष्वपि ६ष्टा इत्यनैकान्तिकता, नैतदेवं, यदत्र छेद्यत्वा-दिहेतुत्वेनोपन्यस्तं तत्सर्वमिन्द्रियव्यवहारानुपाति, न च तथा परमाणवः, अतः प्रकरणादतीन्द्रिय-परमाणुव्यवच्छेदः, यदिवा नैवासौ विपक्षः, सर्वस्य पुद्गलद्रव्यस्य द्रव्यशरीराभ्युपगमात्, जीव-सहितासहितत्वं तु विशेषः उक्तं च –

॥१॥ "तणवोऽणब्भातिविगार मुत्तजाइत्तओऽणिलंता उ । सत्यासत्यहयाओ निझी यसजीवरूवाओ ॥"

एवं शरीरत्वे सिद्धे सति प्रमाणं-सचेतना हिमादयः, कचित् अष्कायत्वाद्, इतरोदकवत् इति, तथा सचेतना आपः, क्वचित् खातभूमिस्वाभाविकसम्भवत्वाद्, दर्दुरवत्, अथवा सचेतना अन्तरिक्षोद्भवा आपः, स्वाभाविकव्योमसम्भूतसम्पातित्वात्, मत्स्यवत्, अत एते एवंविधलक्षण-भाक्त्वा। जीवा। भवन्त्यप्कायाः ॥ साम्प्रतमुपभोगद्वारमाह –

नि. [999] न्हाणे पिअणे तह धोअणे य मत्तकरणे स सेए अ। आउस्स उ परिभोगो गमणागमणे य जीवाणं ॥

वृ. स्नानपानधावनभक्तकरणसेकयानपात्रोडुपगमनागमनादिरुपभोगः ॥ ततश्च तत्परिभोगाभिलाषिणो जीवा एतानि कारणान्युद्दिश्याप्कायवधे प्रवर्त्तन्त इति प्रदर्शयितुमाह –

नि. [१९२] एएहिं कारणेहिं हिंसंती आउकाइए जीवे । सायं गवेसमाणा परस्स दुक्खं उदीरंति ॥

**वृ.** 'एभिः' स्नानावगाहनादिकैः कारणैरुपस्थितैः विषयविषमोहितात्मानो निष्करुणा अफायिकान् जीवान् 'हिंसन्ति' व्यापादयन्ति, किमर्थमित्याह - 'सातं' सुखं तदात्मनः 'अन्वेषयन्तः' प्रार्थयन्तः हिताहितविचारशून्यमनसः कतिपयदिवसस्थायिरम्ययौवनदर्पाध्मातचेतसः सन्तः सद्विवेकरहिताः तथा विवेकजनसंसर्गविकलाः 'परस्य' अबादेर्जन्तुगणस्य 'दुःखम्' असातलक्षणं

उक्तं च -

तद् 'उदीरयन्ति' असातवेदनीयमुत्पादयन्तीत्पर्थः,

. ||१|| ''एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेकस्द्धद्भिरेव सह संवसतिर्द्धितीयम् ।

एतद्द्रयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्धस्तस्यापमार्गचलने खलु कोऽपराधः ?॥

–इदानीं शस्त्रद्वारमुच्यते –

नि. [१९३] उस्सिंचणगालणधोवणे य उवगरणमत्तमंडे य । बायरआउकाए एयं तु समासओ सत्यं ॥

**वृ.** शस्त्रं द्रव्यभावभेदात् द्विधा-द्रव्यशस्त्रमपि समासविभागभेदात् द्विधैव, तत्र समासतो द्रव्यशस्त्रमिदम्-ऊर्द्ध सेचनमुत्सेचनं-कूपादेः कोशादिनोत्क्षेपणमित्यर्थः, 'गालनं' घनमसृण-वस्त्रार्द्धन्तिन 'धावनं' वस्त्राद्युपकरणचर्मकोशकटाहादिभण्डकविषयम्, एवमादिकं बादराप्काये 'एतत्' पूर्वोक्तं 'समासतः' सामान्येन शस्त्रं, तुशब्दो विभागापेक्षया विशे षणार्थः ॥

विभागतः स्तित्विदम् -

नि. [१९४] किंची सकाय सत्थं किंची परकाय तटुभयं किंचि। एयं तु दव्यसत्थं भावे य असंजमो सत्थं ॥

**मृ. किञ्चित् स्वकायंशस्त्रं नादेयं तडागस्य, किञ्चित्परकायशस्त्रं मृत्तिकास्नेहक्षारादि,** किञ्चिच्चोभयंउदकमिश्रा मृत्तिकोदकस्येति, भावशस्त्रमसंयमः प्रमत्तस्य दुष्प्रणिहितमनोवाक्रायल-क्षण इति ॥ शेषद्वाराणि पृथिवीकायवन्नेतव्यानि इति दर्शयितुमाह --

नि. [୨୨५] सेसाइं दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए। एवं आउद्देसे निज्जत्ती कितिया एसा ॥

**वृ.** 'शेषाणी' त्युक्त शेषाणि निक्षेपवेदनावधनिवृत्तिरूपाणि, तान्येवात्रापि द्रष्टव्यानि यानि पृथिव्यां भवन्तीति, 'एवम्' उक्तप्रकारेणाप्कायोद्देशके 'निर्युक्तिः' निश्चयेनार्थघटना 'कीर्तिता' प्रदर्शिता मवतीति।। साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुद्यारणीयं, तच्चेदम्

मू. (१९) से बेमि जहा अनगारे उज्जुकडे नियायपडिवण्णे अमायं कुव्वमाणे वियाहिए

**द्**. 'से बेमी'त्यादि अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके परिसमाप्तिसूत्रे 'पृथिवीकायसमारम्भव्यावृत्तो मुनि'रित्युक्तं, न चैतावता सम्पूर्णो मुनिर्भवति, यथा च भवति तथा दर्शयति, तथाऽऽदिसूत्रेणायं सम्बन्धः-सुधर्मस्वामी इदमाह-श्रुतं मया भगवदन्तिके यत् प्राक् प्रतिपादितमन्यच्चेदमित्येवं परम्परसूत्रसम्बन्धोऽपि प्राग्वद्वाच्यः । सेशब्दत्तच्छब्दार्थो, स यथा पृथिवीकायसमारम्भव्यावृत्त्युत्तरकालं सम्पूर्णानगारव्यपदेशमाग् भवति तदहं ब्रवीमि, अपिःसमुच्चये, स यथा वाऽनगारो न भवति, तथा च ब्रवीमि 'अणगारा मो ति एगे पयवमाणे'-त्यादिनेति, न विद्यतेअगारं-गृहमस्येत्यनगारः, इह च यत्यादिशब्दव्युदासेनानगार- शब्दोपादानेनैत-दाचष्टे-गृहपरित्यागः प्रधानं मुनित्वकारणं, तदाश्रयत्वात्सावद्यानुष्ठानस्य, निरवद्यानुष्ठायी च मुनिरिति दर्शयति-'उज्जुकडे'तिऋ जुः-अकुटिलः संयमोदुष्प्रणिहितमनोवाकायनिरोधः सर्वसत्त्व-संरक्षणप्रवृत्तत्वाद्दयैकरूपः, सर्वत्राकुटिलगतिरितियावत्, यदिवा मोक्षस्थानगमन-र्जुश्रेणिप्रतिपत्ति सर्वसंवरसंयमात्, कारणे कार्योपचारंकृत्वा संयम एव सप्तदशप्रकार ऋ जुः तंकरोतीति ऋजुकृत्, ऋजुकारीत्यर्थः । अनेन चेदमुक्तं भवति–अशेषसंयमानुष्ठायी सम्पूर्णोऽनगारः,

एवंविधश्चेध्ग् भवतीति दर्शयति- 'नियागपडिवन्ने'ति, यजनं त्यागः नियतो निश्चितो

वा यागो नियागो—मोक्षमार्गः, सङ्ग्तार्थत्वाद्धातोः सम्यग्ज्ञानदर्शनचारित्रात्मतया गतं सङ्गतमिति, तं नियाग—सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रात्मकं मोक्षमार्गं प्रतिपन्नो नियाग प्रतिपन्नः, पाठान्तरं वा 'निकायप्रतिपन्नो' निर्गतः कायः—औदारिकादिरयस्माद्यस्मिन्वा सति स निकायो—मोक्षस्त प्रतिपन्नो निकायप्रतिपन्नोः, तत्कारणस्य सम्यग्दर्शनादेः स्वशक्त्याऽनुष्ठानात्, स्वशक्त्याऽनुष्ठानं चामायाविनो भवतीतिदर्शयति— 'अमायं कुव्वमाणे'त्ति माया—सर्वत्र स्ववीर्यनिगूहनं, न माया अमाया तां कुर्वाणः, अनिगूहितबलवीर्यः संयमानुष्ठाने पराक्र ममाणोऽनगारो व्याख्यात इति, अनेन च तज्ञातीयोपादानादशेषु कषायापगमोऽपिद्रष्टव्यइति, उक्तं च— ''सोही ये उज्जुयभूयस्स, धम्मो सुद्धस्स चिट्ठि''त्ति ॥ तदेवमसावुद्धृतसकलमायावल्लीवितानः किं कुर्यादित्याह --

मू. (२०) जाए सद्धाए निक्खंतो तमेव अनुपालिज्ञा, वियहित्ता विसोत्तियं।

षृ. 'यया श्रद्धया' प्रवर्द्धमानसंयमस्थानकण्डकरूपया 'निष्क्रान्तः' प्रव्रज्यां गृहीतवान् 'तामेव' श्रद्धामश्रान्तो यावज्जीवम् 'अनुपालयेद्' रक्षेदित्यर्थः, प्रव्रज्याकाले च प्रायशः प्रवृद्धपरिणाम एव प्रव्रजति, पर्शश्चात्तु संयमश्रेणी प्रतिपन्नो वर्द्धमानपरिणामो वा हीयमानपरिणामो वा अवस्थितपरिणामो वेति, तत्र वृद्धिकालो हानिकालो वा समयाद्युत्कर्षेणान्तर्मौहूर्त्तिकः, नातः परं सङ्क्लेशविशुध्धद्धे भवतः, उक्तं च –

(19)। ''नान्तर्मुहूर्त्तकालमतिवृत्य शक्यं हि जगति सङ्कलेष्टुम् । नापि विशोद्धुं शक्यं प्रत्यक्षो ह्यात्मनः सोऽर्थः ।।

II२॥ उपयोगद्वयपरिवृत्तिः सा निर्हेतुका स्वभावत्वात् । आत्पप्रत्यक्षो हि स्वभावो व्यर्धाऽत्र हेतूक्तिः ॥"

अवस्थितकालश्च द्वयोर्वृद्धिहानिलक्षणयोर्यवमध्यवज्रमध्ययोरष्टौ समयाः, तत उर्द्धवमवश्यं पातात्, अयं च वृद्धिहान्यवस्थितरूपः परिणामः केवलिनां निश्चयेन गम्यो न छद्मस्थानामिति । यद्यपि च प्रव्रज्याभिगमोत्तरकालं श्रुतसागरमवगाहमानः संवेगवैराग्यभाव– नाभावितान्तरात्मा कश्चिद्यवर्द्धमानमेव परिणामं भजते, तथा चोक्तम् –

(19) "जह जह सुयमवगाहइ अइसयरसपसरसंजुयमउव्वं। तह तह पल्हाइ मुणी नवनवसंवेगसद्धाए।।"

14-Incation International

तथापि स्तोक एव ताद्दक् बहवश्च परिपतन्ति अतोऽभिधीयते 'ताभेवानुपालयेदि'ति, कयंपुनः कृत्वा श्रद्धामनुपालयेदित्याह – 'विजहे'त्यादि, 'विहाय' परित्यज्य 'विस्नोतसिकां'शङ्कां, सा च दिधा–सर्वशङ्कादेशशङका च, तत्र सर्वशङ्का किमस्ति आर्हतो मार्गो नवेति, देशशङ्का तु किं विद्यन्ते अष्कायादयो जीवाः ? , विश्रेष्य प्रवचनेऽभिहितत्वात् स्पष्टचेतनात्मलिङ्गाभावान्न विद्यन्ते विद्यन्ते अष्कायादयो जीवाः ? , विश्रेष्य प्रवचनेऽभिहितत्वात् स्पष्टचेतनात्मलिङ्गाभावान्न विद्यन्ते इति वा, इत्येवमादिकामारेकां विहाय सम्पूर्णाननगारगुणान् पालयेत्, यदिवा विस्नोतांसि द्रव्यभावभेदात् द्विधा–तत्र द्रव्यविस्नोतांसि नद्यादिस्त्रोत्तसां प्रतीपगमनानि, भावविस्नोतांसि तु मोक्षं प्रतिसम्यग्दर्शनादिस्रोत्तसा प्रस्थितानां विरुपाणि प्रतिकूलानि गमनानि भावविस्नोतांसि, तानि विहाय सम्पूर्णानगारगुणभाग् भवति, श्रद्धां वाऽनुपालयेदिति, पाठान्तरं वा 'विजहित्ता पुव्वसंजोगं' पूर्वसंयोगः–मातापित्रादिभिः, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात्पश्चात्संयोगोऽपि श्वशुरादिकृतो ग्राह्यस्तं 'विहाय' त्यक्त्वा 'श्रद्धामनुपालयेदि'ति मीलनीयं तत्र यस्यायमुपदेशो दीयते यथा 'विहाय विम्रोतांसि तदनु श्रद्धानुपालनं कार्यं' स एवाभिधीयते—न केवलं भवानेवापूर्वमिदमनुष्ठानमेवंविधं करिष्यति, किं त्वन्यैरपि महासत्त्वैः कृतपूर्वमिति दर्शयितुमाह –

### मू. (२९) पणया वीरा महावीहिं ।

**ष्ट्रं.** 'प्रणताः' प्रह्लाः 'वीराः' परीषहोपसर्गकषायसेनाविजयात् वीथिः–पन्थाः महांश्चासौ वीथिश्च महावीथिः–सम्पग्दर्शनादिरूपो मोक्षमार्गो जिनेन्द्रचन्द्रादिभिः सत्पुरुषैः प्रहतः, तं प्रति पह्लाः–वीर्यवन्तः संयमानुष्ठानं कुर्वन्ति, ततश्चोत्तमपुरुषप्रहतोऽयं मार्ग इति प्रदर्श्य तजनितमार्गविस्रम्भो विनेयः संयमानुष्ठाने सुखेनैव प्रवर्त्तयिष्यते ॥ उपदेशान्तरमाह–लोकं चेत्यादि, अथवा यद्यपि भवतो मतिर्न क्रमतेऽप्कायजीवविषये, असंस्कृतत्वात्, यथापि भगवदज्ञेयमिति श्रद्धातव्यमित्याह –

मू. (२२) लोगं च आणाए अभिसमेद्या अकुओभयं।

वृ. अत्राधिकृतत्वादफायलोको लोकशब्देनाभिधीयते, तमफायलोकं चशब्दादन्यांश्च पदार्थान् 'आज्ञया' मौनीन्द्रवचनेनाभिमुख्येन सम्यगित्वा-ज्ञात्वा, यथाऽप्यकायादयो जीवाः, इत्येवामवगम्य न विद्यते कुतश्चिद्धेतोः-केनापि प्रकारेण जन्तूनां भयं यस्मात् सोऽयमकुतोभयः-संयमस्तमनुपालयेदिति सम्बन्धः, यद्वा 'अकुतोभयः' अप्कायलोको, यतोऽसौ न कुतश्चिद् भय-मिच्छति, मरणभीरुत्वात्, तमाज्ञयाऽभिसमेत्यानुपालयेद्-रक्षेदित्यर्थः ॥

अप्कायलोकमाज्ञयि।अभिसमेत्य यत्कर्त्तव्यं-तदाह -

मू. (२३) से बेमि नेव सयं लोगं अव्भाइक्खिज्ञा णेव अत्ताणं अब्भाइक्खिज्ञा, जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्ताणं अब्भाइक्खइ, जे अत्थाणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ।

**वृ.** सोऽहं ब्रवीमि, सेशब्दस्य युष्मदर्थत्वात्त्वां वा ब्रवीमि, न 'स्वयम्' आत्मना 'लोकः' अफायलोकोऽभ्याख्यातव्यः, अभ्याख्यानं मामासदभियोगः, यथाऽचौरं चौरमित्याह, इह तु जीवा न भवन्त्यापः, केवलमुपकरणमात्रं, घृततैलादिवत्, एषोऽसदभियोगः, हस्त्यादीनामपि जीवानामुपकरणत्वात्, स्यादारेका—नन्वेतदेवाभ्याख्यानं यदजीवानां जीवत्वापादनं, नैतदस्ति, प्रसाधितमपांप्राक् सचेतनत्वं यथाहि अस्य शरीरस्याहंप्रत्यादिभिर्हेतुभिरधिष्ठाताऽऽत्माव्यतिरिक्तः प्राक् प्रसाधित एवमफायोऽप्यव्यक्तचेतनया सचेतन इति प्राक् प्रसाधितः, न च प्रसाधित– स्याभ्याख्यानं न्याय्यम्, अथापि स्याद्, आत्मनोऽपि शरीराधिष्ठातुरभ्याख्यानं कर्त्तव्वं, न च तक्तियमाणं घटामियत्तीति दर्शयति –

'नेव अत्ताणं अब्भाइक्खेझा' नैव 'आत्मानं' शरीराधिष्ठातारमहंप्रत्ययसिद्धं ज्ञानाभिन्नगुणं प्रत्यक्षं 'प्रत्याचक्षीत' अपह्नुवीत। ननु चैतदेव कथमवसीयते—शरीराधिष्ठाता— SSत्माSस्तीति, उच्यते, विस्मरणशीलो देवानां प्रिय उक्तमपि भाणयति, तथाहि—आहतमिदं शरीरं केनचिद— भिसन्धिमतकफरुधिराङ्गोपाङ्गादिपरिणतेः, अन्नादिवत्।तथोत्तृष्टमपि केनचिदभिसन्धिमतैव, आहतत्वाद्, अन्नमलवदिति। तथान ज्ञानोपलब्धिपूर्वकः परिस्पन्दो भ्रान्तिरूपः, परिस्पन्दत्वात्, त्वदीयवचनपरिस्पन्दवत्यत््यतथा विद्यमानाधिष्ठातृव्यापारभाञ्जीन्द्रियाणि, करणत्वात्, दात्रादिवत्, एवंकुतर्क्वमार्गानुसारिहेतुमालोच्छेदः स्वाद्वादपरशुना कार्यः, अत्र एवंविधोपपत्तिसमधिगतमात्मानं शुभाशुभफलभाजं न प्रत्याचक्षीत, एवं च सति यो ह्वज्ञः कुतर्क्वतिमिरोपहतज्ञानचक्षुएकाय-लोकमभ्याख्याति-प्रत्याचष्टे स सर्वप्रमाणसिद्धमात्मानमभ्या- ख्याति, यश्चात्मानमभ्या-ख्याति-नास्यहं, स सामर्थ्यादप्कायलोकमभ्याख्याति, यतो ह्यात्मनि पाण्याद्यवयवोपेत-शरीराधिष्ठायिनि प्रस्पष्टलिङ्गऽभ्याख्याते सत्यव्यक्तचेतनालिङ्गोऽष्ठायलोकस्तेन सुतरामभ्या-ख्यातः ॥ एवमनेकदोषोपपत्तिं विदित्वा नायमष्कायलोकोऽभ्याख्यातव्य इत्यालोच्य साधवो नाफायविषयमारम्भं कुर्वन्तीति, शाक्यादयस्त्वन्यथोपस्थिति इति दर्शयितुमाह –

मू. (२४) लञ्जमाणा पुढो पास-अणगारा मो त्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरुवरुवेहिं सत्येहिं उदयकम्पसमारंभेणं उदयसत्यं समारंभमाणे अणेगरुवे पाणे विहिंसइ। तत्य खलु भगवता परिण्णा पवेदिता । इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिघायहेउं से सयमेव उदयसत्यं समारभति अण्णेहिं वा उदयसत्यं समारंभावेति अन्ने उदयसत्यं समारंभंते समणुजाणति। तं से अहियाए तं से अबोहीए। से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुद्वाय सोद्या भगवओ अनगाराणं अंतिए इहमेगेसिं नायं भवति-एस खलु गंधे एस खलु मोहे एस खलुमारे एस खलु नरए, इच्चत्यं गड्रिइए लोए जमिणं विरुवरुवेहिं सत्येहिं उदयकम्पसमारम्भेणं उदयसत्थं समारंभमाणे अन्ने अणेगरुवे पाणे विहिंसइ। से बेमि संति पाणा उदयनिस्सिया जीवा अनेगे।

वृ. 'लज़मानाः' स्वकीयं प्रव्रज्याभासं कुर्वाणाः यदिवा सावद्यानुष्ठानेन लज़मानाः – लज़ां कुर्वाणाः 'पृथग्'विभिन्नाः शाक्योलूक कणमुक्क पिलादिशिष्याः, पश्येति शिष्यचोदना, अविवक्षितकर्मका अपि अकर्मका भवन्ति, यथा–पश्च भृगो धावतीति, द्वितीयार्ये वा प्रथमा सुब्व्यत्ययेन द्रष्टव्या, ततश्चायमर्थः–शाक्यादीन् गृहीतप्रव्रज्यानपि सावद्यानुष्ठानरतान् पृथग्विभिन्नान् पश्य, किं तैरसदाचरितं ? येनैवं प्रदर्श्यन्त इति दर्शयति–अनगारा वयमित्येके शाक्यादयः प्रवदन्तो 'यदिदं' यदतत्, काक्वा दर्शयति–'विरूपरूपैः' उत्सेचनाग्नि-विध्यापनादिशत्रैः स्वकायपरकाय– भेदभिन्नैरुदककर्मसमाराभन्ते, उदककर्म्समारम्भेण च उदके शस्त्रं उदकमेव वा शस्त्रं समारभन्ते, तच्च समारममाणोऽनेकरूपान्वनस्पतिद्वीन्द्रियादीन्विविधं हिनस्ति, तत्र खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, यथा अर्थव जीवितव्यस्य परवन्दनमाननपूजनार्थं जातिमरणमोचनार्थं दुःखप्रतिधातहेतुं यत् करोति तद्दर्शयति–स स्वयमेवोदकशस्त्रं समारमते अन्यैश्वोदकशस्त्रंसमारम्भयति अन्यांश्चोदकशस्त्रं समारभमाणान्समनुजानीते, तद्योदकसमारम्भणं तस्याहिताय भवति, तथा तदेवाबोधिलामाय भवति, सएतत्सम्बुध्यमान आवानीयं–सम्यग्दर्शनादि सम्यगुत्याय-अभ्युपगम्य श्रुत्वा भगवतोऽनगाराणां वाऽन्तिके इहैकेषां साधूनां यत् ज्ञातं भवति तद्दर्शयति–

'एवः' अष्कायसमारम्भो ग्रन्थ एष खलु मोह एष खलु मार एष खलु नरक इत्येवमर्थं गृद्धोलोको यदिदं विरुपरूपैः शस्त्रैः उदककर्मसमारम्भेणोदकशस्त्रं समारभमाणोऽन्याननेकरूपान् प्राणिनो विविधं हिनस्तीत्येतत्प्राग्वत् व्याख्येयं, पुनरप्याह – 'से वेमी' त्यादि, सेशव्द आत्मनिर्देशे, सोऽहमेवपुलब्धानेकाप्कायतत्त्वृत्तान्तो द्रवीमि–'सन्ति' विद्यन्ते प्राणिन उदकनिश्चिताः– पूत्रकमत्त्यादयो यानुदकारम्पप्रवृत्तो हन्यादिति, अथयाऽपरः सम्बन्धः प्रागुक्तमुदकशस्त्रं समारभमाणोऽन्यानय्वनेकरूपान् जन्तून् विविधं हिनस्तीति, तत् कथमेतच्छक्यमभ्युपगन्तुमित्यत आह- 'सन्ति पाणा' इत्यादि पूर्ववत्, कियन्तः पुनस्त इति दर्शयति- 'जीवा अणेगा' पुनजी-वोपादान- मुदकाश्चितप्रभूतजीवभेदज्ञापनार्थं, ततश्चेदमुक्तं भवति-एकैकस्मिन् जीवभेदे उदकाश्चिता 'अनेके' असंख्येयाः प्राणिनो भवन्ति, एवं चाष्कायविषयारम्भभाजः पुरुषास्ते तत्रिश्चितप्रभुतसत्त्वव्यापत्तिकारिणो द्रष्टव्याः ॥ शाक्यादयस्तूदकाश्चितानेव द्वीन्द्रियादीन् जीवानिच्छन्ति नोदकमित्येतदेव दर्शयति –

मू. (२५) इहं च खलु भो ! अनगाराणं उदयजीवा वियाहिया सत्यं च इत्यं अणु वीइपासा

**q**. खलुशब्दोऽवधारणे 'इहैव' ज्ञातपुत्रीये प्रवचने द्वादशाङ्गे गणिपिटके 'अनगाराणां' साधूनाम् 'उदकजीवा' उदकरूपा जीवाश्चशब्दात्तदाश्चिताश्च पूतरकछेदनकलोद्दणकभ्रमरक मत्स्यादयोजीवा व्याख्याताः, अवदारणफलंच नान्येषामुदकरूपाजीवाः प्रतिपादिताः ॥ यद्येवमुद– कमेव जीवास्ततोऽवश्यं तत्परिभोगे सति प्राणातिपातभाजः साधव इति, अत्रोच्यते, नैतदेवं, यतो वयं त्रिविधमष्कायमाचक्ष्महे-संचित्तं मिश्रमचित्तं च, तत्र योऽचित्तोऽष्कायस्तेनोप– योगविधिः साधूनां, नेतराभ्यां, कथं पुनरसौ भवत्यचित्तः ? किं स्वभावादेवाहोश्विच्छ्स्त्रसम्ब न्धात् ?, उभयधाऽपीति, तत्र यः स्वभावादेवाचित्तीभवति न बाह्यशस्त्रसम्पर्कात्, तमचित्तं जानाना अपि केवलमनः पर्यायावधिश्रुतज्ञानिनो न परिमुञ्जते, अनवस्थाप्रसङ्गभीरुतया, यतो नुश्रूयते-भगवताकिल श्रीवर्द्धमानस्वामिना विमलसलिलसमुछसत्तरङ्गः शैवलपटलत्रसादिरहितो महाद्रहो व्यपगता- शेषजलजन्तुकोऽचित्तवारिपरिपूर्णः स्वशिष्याणां तृड्वाधिइतानामपिपानाय नानुजज्ञे, तथा अचित्ततिलशकटस्थण्डिलपरिभोगानुज्ञा चानवस्थादोषसंरक्षणाय भगवता न कृतेति, श्रुतज्ञानप्रामाण्यज्ञापनार्थं च, तथाहि-सामान्यश्रुतज्ञानी बाह्येन्धत्ससम्पर्कात्त् परिणामा-नयाचित्तमिति व्यवहरति जलं, न पुनर्निरिवन्धनमेवेति, अतो यद्वाह्यशस्त्रसम्पर्कात् परिणामा-नतरापन्नं वर्णादि- भिरतर्द्विचित्तं साधुपरिभोगाय कल्पते, किं पुनस्तच्छस्त्रमित्यतु आह –

शस्यन्ते-हिंस्यन्तेऽनेन प्राणिन इति शस्त्रं, तद्योत्सेचनगालनउपकरणधवनादि स्वकायादि च वर्णाद्यापत्तयो वा पूर्वावस्थाविलक्षणाः शस्त्रं, तथाहि-अग्निपुद्गलानुगतत्वादीषतिङ्गलं जलं भवत्युष्णं गन्धतोऽपि धूमगन्धि रसतो विरसं स्पर्शत उष्णं तद्योद्वृत्तत्रिदण्डम् एवंविधावस्यं यदि ततः कल्पते, नान्यथा, तथा कचवरकरीषगोमूत्रोषादीन्धनसम्बन्धात् स्तोकमध्यबहुभेदात्, स्तोकं स्तोकेप्रक्षिपतीत्यादिचतुर्भङ्गिकाभावना कार्या, एवमेतत्त्रिविधं शस्त्रं, चशब्दोऽवधारणार्थः, अन्यतमशस्त्रसम्पर्कविध्वस्तमेव ग्राह्यं, नान्यथेति, 'एत्थ'ति एतस्मिन् अप्काये प्रस्तुते 'अनुविचिन्त्य' विचार्य इदमस्य शस्त्रमित्येवं ग्राह्यं, 'पश्ये' त्यनेन शिष्यस्य चोदनेति । तदेवं नानाविधं शस्त्रम- फायस्थातीति प्रतिपादितम् एतदेव दर्शयति -

## मू. (२६) पुढो सत्यं पवेइयं।

**वृ.** पुढो संत्यं पवेदितं' 'पृथग्' विभिन्नमुत्सेचनादिकं शस्त्रं 'प्रवेदितम्' आख्यातं भगवता, पाठान्तरं वा 'पुढोऽपासं पवेदितं' एवं पृथग्विभिन्नलक्षणेन शस्त्रेण परिणामित—मुदकग्रहणमपाशं प्रवेदितम्—आख्यातं भगवता, अपाशः--अबन्धनं शस्त्रपरिणामितोदकग्रहणमबन्धमाख्यात— मितियावद् ॥ एवं तावत्साधूनां सचित्तमिश्राप्कायपरित्यागेनाचित्तपयसा परिभोगः प्रतिपादितः येपुनः शाक्यादयोऽ फायोपभोगप्रवृत्तास्ते नियमत एवाफायं विहिंसन्ति, तदाश्रितांश्चान्यानिति, तत्र न केवलं प्राणातिपातापत्तिरेव तेषां किमन्यदित्य आह --

मू. (२७) अदुवा अदित्रादाणं ।

**द्रृ.** 'अथवे'ति पक्षान्तरोपन्यासद्वारेणाभ्युच्चयोपदर्शनार्थः, अशस्त्रोपहताप्कायोपभोग-कारिणां न केवलं प्राणातिपातः, अपित्वदत्तादानमपि तत्तेषां, यतो यैरप्कायजन्तुभिर्यानि शरीराणि निर्वर्त्तितानि तैरदत्तानि ते तान्युपभुञ्जते, यथा कश्चित् पुमान् सचितशाक्यभिक्षुकशरीरकात् खण्डमुकृत्य गृह्णीयाद्, अदत्तं, हि तस्य तत्, परपरिगृहीतत्वात्, परकीयगवाद्यादानवत्, एवं तानि शरीराण्यब्जीवपरिगृहीतानि गृह्णतोऽदत्तादानमवश्यग्भावि, स्वाम्यनुज्ञानाभावादिति, ननु यस्य तत्तडागकूपादि तेनानुज्ञातं सकृत्तत्पय इति, ततश्च नादत्तादानं, स्वामिनाऽनुज्ञातत्वात्, परानुज्ञातपश्वादिधातवत्, नन्वेदपि साध्यावस्थमेवोपन्यस्तं, यतः पशुरपि शरीरप्रदानविमुख एवभिन्नार्यमर्यादैरुद्यैरारटन्विशस्यते, ततश्च कथमिव नादत्तादानं स्यात् ?, न चान्यदीयस्यान्यः स्वामी ६ष्टः परमार्थचिन्ताया, नन्वेवम्पशेषलोकप्रसिद्धगोदानादिव्यवहारस्त्रुट्यति, त्रुट्यतु नामैवंविधः पापसम्बन्धः, तद्धि देयं यद्दुःखितं स्वयं न भवति दासीबलीवर्दादिवत्, न चान्येषां दुःखोसत्तेः कारणं हलखज्ञादिवत्, एतद्व्यतिरिक्तं वातृपरिगृहीत्रोरेकान्तत एवोपकारकं देयं प्रतिजानते जिनेन्द्रमतावलम्बिनः, उत्तर्व्यात्वरां च –

1911 ''यत् स्वयमदुःखितं स्यान्न च परदुःखे निमित्तभूतमपि । केवलमुपग्रहकरं धर्मकृते तद्भवेद्देयम् ।।''

इति, तस्मादवस्थितमेतत्-तेषां तददत्तादानमपीति ॥ साम्प्रतमेतद्दोषद्वयं स्वसिद्धा-न्गाभ्युपगमद्वारेण परः परिजिहीषुंराह –

मू. (२८) कप्पइ णे कप्पई णे पाउं, अदुवा विभूसाए।

ष्ट्र. अशस्त्रोपहतोदकारम्भिणो हि चोदिताः सन्त एवमाहुः-यथा मैतत् स्वमनीषिकातुः समारम्भयामो वयं, किंत्वागमे निर्जीवत्वेनानिषिद्धत्वात् 'कल्पते' युज्यते 'नः' अस्माकं 'पातुम्' अभ्यवहर्तुमिति, वीप्सया च नानाविधप्रयोजनविषय उपभोगोऽभ्यनुज्ञातो भवति, तथाहि-आजीविकभस्मन्नाय्यादयो वदन्ति--पातुमस्माकंकल्पते न स्नातुं वारिणा, शाक्यपरिव्राजकादयस्तु स्नानपानावगाहनादि सर्वं कल्पते इति प्रभाषन्ते, एतदेव स्वनामग्राहं दर्शयति-अथवोदकं विभूषार्थमनुज्ञातंनः समये, विभूषा-करचरणपायूपस्थमुखप्रक्षालनादिका वस्त्रभण्डकादिप्रक्षील-नात्मिका वा, एवं स्नानादिशौचानुष्ठायिनां नास्ति कश्चिद्दोष इति । एवं ते परिफल्गुवचसः परिव्राजकादयो निर्जराद्धान्तोपन्यासेन मुग्धमतीन्विमोद्यं किं कुर्वन्तीत्याह --

मू. (२९) पुढो सत्येहिं विउइन्ति ।

वृ. 'पृथग्' विभिन्नलक्षणैः नानारूपैरुत्सेचनादिशस्त्रै अनगारायमाणाः 'विउद्टन्ति'त्ति अफायजीवान् जीवनाद्व्यावर्त्तयन्ति-व्यपरोपयन्तीत्यर्थः, यदिवा पृथग्विभिन्नैः शस्त्रैरफायि-कान्विविधं कुट्टन्ति-छिन्दन्तीत्यर्थः, कुट्टेर्द्धतिः छेदनार्थत्वात् ॥

अधुनैषामागमानुसारिणामागमासार--- त्वप्रतिपादनायाह ---

मू. (३०) एत्थऽवि तेसिं नो निकरणाए।

**वृ**. 'एतस्मिन्नपि' प्रस्तुते स्वागमानुसारेणाभ्युपगमे सति 'कप्पइणे कप्पइणेपाउं, अदुवा विभूसाए'ति एवंरुपस्तेषामयमागमो यद्धलादप्कायपरिभोगे ते प्रवृत्ताः स स्याद्वादयुक्तिभिर-भ्याहतः सन् 'नो निकरणाए'ति नो निश्चयं कर्त्तु समर्थो भवति, न केवलं तेषां युक्तयो न निश्चया– यालम्, अपि त्वागमोऽपीत्यपिशब्दः, कयं पुनस्तदागमो निश्चयाय नालमिति, अत्रोच्यते, त एवं प्रष्टव्याः – कोऽयमागमो नाम ? यदादेशात्कल्पते मवतामष्कायरम्भः, त आहुःप्रतिविशिष्ठा– नुपुर्वीविन्यस्तवर्णपदवाक्यसङ्घात आप्तप्रणीत आगमः, नित्योऽकर्तृको चा ?, ततश्चैवमम्युपगते यो येन प्रतिपन्न आप्तः स निराकर्त्तव्यः, अनाप्तोऽसौ अष्कायजीवपरिज्ञानात् तद्वधानुज्ञानाद्वा भवानिव, जीवत्वं चापां प्राक् प्रसाधितमेव, ततस्तत्रणीतागमोऽपि सद्धर्म्मचोदनायामप्रमाणम्, अनाप्तप्रणीतत्वाद्, रथ्यापुरुषवाक्यवत्, अथ नित्योऽकर्तृको वर्णपदवाक्यात्मप्रमाणम्, विधिप्रतिषेधात्मकत्वात्, उमयसम्पतसकर्त्त्वग्रन्थसन्दर्भवदिति, अभ्युपगम्य वा ब्रूमः अग्रमा– णमसौ, नित्यत्वादाकाशवत्, यच्च प्रमाणं तदनित्यं ध्यं प्रत्यक्षदिविति, तथा विभूषासूत्रावयवेऽपि पृष्टा न प्रत्युत्तरदाने क्षमाः, यतियोग्यं स्नानं न भवति, कामाङ्गत्वात्, मण्डनवत्, कामाङ्गता च सर्वजनप्रसिद्धा, तथा चोक्तम् –

११९॥ स्नानं मददर्ष्यकरं, कामाङ्गं प्रथमं स्मृतम् । तस्मात्कामं परित्यज्य, नैव स्नान्ति दमे रताः ॥''

शौचार्थोऽपिन पुष्कलो, वारिणा बाह्यमलापनयनमात्रत्वात्, न ह्यन्तर्व्यवस्थितकर्ममल-क्षालनसमर्थं वारि ६एं, तस्माच्छरीरवाङ्गमनसामकुशलप्रवत्तिनिरोधो मावशौचमेव कर्मक्षयायालं, तच्च वारिसाध्यं न भवति, कुतः ?, अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यत्वात्सर्वमावानां, न हिमत्स्यादय तत्र स्थिता मत्स्यादित्वकर्मक्षयभाक्त्वेनाभ्युपगम्यन्ते, विना च वारिणा महर्षयो विचित्रतपोभिः कर्म्भ क्षपयन्तीति, अतः स्थितमेतत्-तत्समयो न निश्चयाय प्रभवतीति ॥ तदेवं निःसपलमपां जीवत्वं प्रतिपाद्य तखवृत्तिनिवृत्तिविकल्पफळप्रदर्शनद्वारेणोपसंजिहीर्षुः सकलमुद्देशार्थमाह –

मू. (३१) एत्य सत्यं समारममाणस्स इग्रेए आरंभा अपरिण्णाया भर्वति, एत्य सत्यं असमारभमाणस्स इग्रेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाया मेहावी नेव सयं दयसत्यं समारम्भेज्ञा नेवण्णेहिं उदयसत्यं समारंभावेज्ञा उदयसत्यं समारंभंतेऽवि अन्ने न समणुजाणेज्ञा, जस्सेते उदयसत्यसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णातकम्मे ति बेमि।।

वृ 'एतस्मिन्' अप्काये 'शस्त्रं' द्रव्यभावरूपं समारभमाणस्येत्येते समारम्भा बन्ध-कारणत्वेनापरिज्ञाता भवन्ति, अत्रैवाफाये शस्त्रमसमारभमाणस्येत्येते आरम्भा ज्ञपरिज्ञाया परिज्ञाता भवन्ति प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहृता भवन्ति, तामेव प्रत्याख्यानपरिज्ञां विशेषतो ज्ञपरिज्ञापूर्विकां दर्शयति – 'तद्' उद≹कारम्भणं बन्धायेत्येवं परिज्ञाय मेघावी – मर्यादाव्यवस्थितो नैव स्वयमुदकशस्त्रं समारभेत, नैवान्यैरुदकशस्त्रं समारम्भयेत्, नैवान्यानुदकशस्त्रं समारभमाणान्समनुजानीयात्, यस्यैते उदकशस्त्रसमारम्भाः दिधा परिज्ञाता भवन्ति स एव मुनिः परिज्ञातकर्मा भवति। ब्रवीमीति पूर्ववद् ।।

अध्ययनं-१, उद्देशकः-३ समाप्तः

### -: अध्ययनं-१, उद्देशकः-४ :-

**वृ.** उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थं आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः--इहानन्तरोद्देशके मुनित्वप्रतिपत्तये अष्कायः प्रतिपादितः, तदधुना तदर्थमेव क्रमायातस्तेज-स्कायप्रतिपादनाया--यमुद्देशकः समारम्भयते--तस्य चोपक्रमादीनि चत्वार्यनुवोगद्वाराणि वाच्यानि तावद्यावन्नामनिष्पन्ने निक्षेपे तेजउद्देशक इति नाम, तत्र तेजसो निक्षेपादीनि द्वाराणि वाच्यानि, अत्र च पृथिवीविकल्प-- तुल्यत्वात् केषाश्चिदतिदेशो द्वाराणामपरेषां तद्विलक्षणत्वात् अपोद्वार इत्येतत् द्वयमुररीकृत्वं निर्युक्तकृद्, गाथामाह --

नि. [१९६] तेउस्सवि दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए। नाणत्ती उ विहाणे परिमाणुनभोगसत्थे य ।।

**वृ.** 'तेजसोऽपि' अग्नेरपि 'द्वाराणि' निक्षेपार्दीनि यानि पृथिव्याः समधिगमेऽभिहितानि तान्येव वाच्यानि, अपवादंदर्शयितुमाह – 'नानात्वं' भेदोविधानपरिमाणोपभोगशस्त्रेषु, तुरवधारणे, विधानादिष्वेव च नानात्वं नान्यत्रेति, चशब्दाछक्षणद्वारपरिग्रहः ॥

यथाप्रतिज्ञातनिर्वहणार्थ-मादिद्वारव्याचिख्यासयाऽऽह -

नि. [१९७] दुविहा य तेउजीवा सुहुमा तह बायरा य लोगंभि। सुहुमा य सव्वलोए पंचेव य बायरविहाणा ।।

वृ. स्पष्टा ॥ वादरपञ्चभेदप्रतिपादनाथाह -

नि. [१९८] इंगाल अगणि अच्ची जाला तह मुम्मुरे य वोद्धव्वे। बायरतेउविहाणा पंचविहा वण्णिया एए।।

**वृ**. दग्धेन्धनो विगतधूमज्वालोऽङ्गारः-, इन्धनस्थः ष्लोषक्रियाविशिष्टरूपः तथा विद्युदुल्काऽशनिसङ्घर्षसमुत्यितः सूर्यमणिसंसृतादिरूपश्चाग्निः, दाह्यप्रतिवद्धोज्वालाविशेषोऽर्द्धिः. ज्वाला छिन्नमूलाऽनङ्गारप्रतिबद्धां, प्रविरलग्निकणानुविद्धं भस्म मुर्मुरः, एते बादरा अग्निभेदाः पश्च भवन्तीति ॥ एते च बादराग्नयः स्वस्थानाङ्गीकरणान्म- नुष्यक्षेत्रेऽर्द्धतृतीयेषु द्वीपसमुद्रेष्व-व्याधातेन पञ्चदशसु कर्म्मभूमिषु व्याधाते सति पञ्चसु विदेहेषु, नान्यन्न, उपपाताङख्येकरणेन 'लोकासङ्गयेयभागवर्तिनः, तथा चागमः-''उववाएणं दोसु उङ्ढकवाडेसु तिरियलोयतट्टे य'' अस्यायमर्थः-अर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्रवाहल्ये पूर्वापरदिक्षणोत्तरस्वयम्भूरमण- पर्यन्तायते उर्द्धावधोलोकप्रमाणे कपाटे तयोः प्रविष्टा वादराग्निषूत्पद्यमानकास्तद्वयपदेशं लभन्ते, तथा 'तिरियलोयतट्टेय'त्ति तिर्यग्लोकस्थालकेच व्यवस्थितो बादराग्निष्ठूरपद्यमानो बादराग्निव्यपदेशभाग् भवति।अन्ये तु व्याचक्षते-तयोस्तिष्ठतीति तत्स्थः, तिर्यग्लोकश्चासौ तत्स्थश्च तिर्यग्लोकतत्स्थः, तत्र च स्थित उत्पित्सुर्वादराग्निव्यपदेशमासादचति, अस्मिश्च व्याख्याने कषाटान्तर्गत एव गृह्यते, स च द्वयोरूद्र्ध्ववकपाटयोरित्यनेनैवोपात्त इति तद्वयाख्यानाभिष्रायं न विद्यः । कपाटस्थापना चेयम् । समुद्धातेन सर्वलोकवर्त्तिनः, ते च पृथिव्यादयो मारणान्तिकसमुद्धातेन समवहता वादराग्निषुत्यद्यमानास्तद्वयपदेशभाजः सर्वलोकव्यापिनो भवन्ति, यत्र च वादराः पर्याप्तकास्तत्रैव बादरा अपर्याप्तकाः, तन्निश्रया तेषामुत्पद्यमानत्वात्, तदेवं सूक्ष्मा वादराश्च पर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन प्रत्येकं द्विधा भवन्ति एते च वर्णगन्धरसस्पशदिशैः सहस्राग्रशो भिद्यमानाः सङ्केययोनिप्रमुखशत-

सहस्रभेदपरिमाणा भवन्ति, तत्रैषां संवृता योनिरुष्णा च सचित्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा, सप्त चैषां योनिलक्षा भवन्ति ॥

साम्प्रतं चशब्दसमुच्चितं लक्षणद्वारमाह --

नि. [११९] जह देहप्परिणामो रत्तिं खञ्जोयगस्स सा उबमा। जरियस्स य जह उम्हा तओवमा तेउजीवाणं ॥

**वृ.** 'यथे'ति £प्टान्तोपन्यासार्थः 'देहपरिणामः' प्रतिविशिष्टा शरीरशक्तिः 'रात्रा'विति विशिष्टकालनिर्देशः 'खद्योतक' इति प्राणिविशेषपरिग्रहः, यथा तस्यासौ देहपरिणामो जीवप्रयोग– निर्वृत्तशक्तिराविश्वकास्ति, एवमङ्गारादीनामपिप्रति विशिष्टा प्रकाशादिशक्तिनुमीयते जीवप्रयोग– विशेषाविर्भावित्तेति। यथा वा-ज्चरोष्मा जीवप्रयोगं नातिवर्त्तते, जीवाधिष्ठि– तशरीरकानुपात्येव भवति, एषैवोपमाऽऽग्नेयजन्तूनां, न च मृता ज्वरिणः क्वचिदुपलभ्यन्ते, एवमन्वयव्यतिरेका– भ्यामग्नेः सचित्तता मुक्तकग्रन्थोपपत्तिमुखेन प्रतिपादिता, सम्प्रति प्रयोगमारोप्यते अयभेवार्थः– जीवशरीराण्यङ्गारादयः, छेद्यत्वादिहेतुगणान्वितत्वात्त्, सास्नाविपाणादिसङ्घातवत्, तथा आत्म– संयोगाविर्भूतोऽङ्गारादीनां प्रकाशपरिणामः, शरीरस्थत्वात्, खद्योतकदेहपरिणामवत्, तथा आत्मसम्प्रयोगपूर्वकोऽङ्गारादीनामूष्मा, शरीरस्थत्वात्, ज्वरोष्मवत्त्, न चादित्यादिभिरनेकान्तः, सर्वेषामात्मप्रयोगपूर्वकोऽङ्गारादीनामूष्मा, शरीरस्थत्वात्, ज्वरोष्मवत्त्, तथा सत्त्वत्तं, तथा आत्मसम्प्रयोगपूर्वकोऽङ्गारादीनामूष्मा, शरीरस्थत्वात्, ज्वरोष्मवत्त्, न चादित्यादिभिरनेकान्तः, सर्वेषामात्मप्रयोगपूर्वकं यत उष्णपरिणामभाक्त्वं तस्मान्नानेकान्तः, तथा सचेतनं तेजो, यथायोग्याहारोपादानेन वृद्धिविशेषतद्विकारत्वत्त्त्वात्, पुरुषवत्, एवमदिनालक्षणेनाग्नेयाजन्तवे निश्चेया इति ॥

**उक्तं लक्षणद्रारं, तदनन्तरं परिमाणद्वारमा**ह –

नि. [१२०] जे वायरपञ्चत्ता पलिअस्स असंखभागमित्ता उ । सेसा तिण्णिवि रासी वीसुं लोगा असंखिञ्जा ।।

मृ. ये बादरपर्याप्तानलजीवाः क्षेत्रपल्योपमासङ्घयेयभागमात्रवर्त्तिप्रदेशराशिपरिमाणाः भवन्ति, ते पुनर्बादरपृथिवीकायपर्याप्तकेभ्योऽसङ्घयेयगुणहीनाः, शेषायोऽपि राशयः पृथ्वीकायवद्भावनीयाः, किन्तु बादरपृथिवीकायापर्याप्तकेभ्यो बादराग्न्यपर्याप्तका असंख्येयगुणहीनाः सूक्ष्मपृथिवीकायापर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्माग्नेयापर्याप्तका विशेषहीनाः सूक्ष्म– पृथिवीकायपर्याप्तकेभ्यः, सूक्ष्माग्नेयपर्याप्तका विशेषहीना इति ॥ साम्प्रतमुपभोगद्वारमाह –

 नि. [१२१] दहणे पयावण पगासणे य सेण य भत्तकरणे य बायरतेउक्काए उवभोगगुणा मणुस्साणं ॥

वृ. दहनं-शरीराद्यवयवस्य वाताद्यपनयनार्थं प्रकृष्टं तापं प्रतापनं-शीतापनोदाय प्रकाशकरणमुद्योतकरणं-प्रदीपादिना भक्तकरणम्-ओदनादिरन्धनं खेदोज्चरविसूचिकादीनाम्, इत्येवमादिष्वनेकप्रयोजनेषूपस्थितेषु मनुष्याणां वादरतेजस्कायविषया उपभोगरूपा गुणा उपभोगगुणा भवन्तीति ।। तदेवमेवमादिभिः कारणैः समुपस्थितैः सततमारम्भप्रवृत्ता गृहिणो यत्याभासा वा सुखैषिणस्तेजस्कयजन्तून् हिंसन्तीति दर्शयितुमाह – नि. [१२२] एएहिं कारणेहिं हिंसंती तेउकाइए जीवे ।

एएहिं कारणेहिं हिंसंती तेउकाइए जीवे । सायं गवेसमाणा परस्स दुक्खं उदीरंति ।| वृ. 'एतैः' दहनादिभिः कारणैस्तेजस्कायिकान् जीवान् 'हिंसन्ती'ति सङ्घट्टनपरितापना– पद्रावणानि कुर्वन्ति 'सातं' सुखं तदात्मनोऽन्विष्यन्तः 'परस्य' बादराग्निकायस्य दुःखम्, 'उदीरयन्ति' उत्पादयन्तीति।। साम्प्रतं शस्त्रद्वारं, तच्च द्रव्यभावशस्त्रभेदात् द्विधा, द्रव्यशस्त्रभपि समासविभागभेदात् द्विधैव, तत्र समासतो द्रव्यशश्त्रप्रतिपादनायाह –

नि. [१२३] पुढवी आउकाए उल्ला य वणस्सई तसा पाणा। बायरतेउकाए एयं तु समासओ सत्यं।।

**वृ.** 'पृथिवी' धूलिः अप्कायश्च आर्द्रश्च वनस्पतिः त्रसाश्च प्राणिनः, एतद्वादरतेजस्काय---जन्तूनां 'समासतः' सामान्येन शश्त्रमिति ।। विभागतो द्रव्यशस्त्रमाह --

नि. [१२४] किंची सकायसत्थं किंची परकाय तदुभयं किंची । एयं तु दव्यसत्थं भावे य असंजमो सत्थं ॥

**वृ.** किञ्चिच्छस्त्रं स्वकाय एव—अग्निकाय एव अग्निकायस्य, तद्यथा—तार्णोऽग्निः पार्णाग्नेः शस्त्रमिति, किञ्चिच्च परकायशस्त्रम्—उदकादि, उभयशस्त्रं पुनः—तुषकरीषादिव्यति-मिश्रोऽ—ग्निरपराग्नेः, तुशब्दो मावशस्त्रपेक्षया विशेषणार्थः, 'एतत्तु' पूर्वोक्तं समासविभागरूपं पृथिवी— स्वकायादि द्रव्यशस्त्रमिति । भावशस्त्रं दर्शयति—भावे शस्त्रम् असंयमो— दुष्प्रणिहित-मनोवाक्कायलक्षण इति ।। उक्तव्यतिरिक्तद्वारातिदेशद्वारेणोपसञ्जिहीर्धुर्नियुक्तिकृदाह –

नि. [१२५] सेसाइं दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए । एवं तेउद्देसे निज्जुत्ती कित्तिया एसा ।।

चृ. उक्तशेषाणि द्वाराणि तान्येव यानि पृथिव्युद्देशकेऽभिहितानि 'एवम्' उक्तप्रकारेण तेजस्कायाभिधानोद्देशके निर्युक्तिः 'कीर्त्तिता' व्यावर्णिता भवतीति ॥

साम्प्रत सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम् --

मू. (३२) से बेभि नेव सय लोगं अब्भाइक्खेञ्जा नेव अत्ताणं अब्भाइक्खेज्जा, जे लोयं अब्भाइक्खइ से अत्थाणं अब्भाइक्खइ, जे अत्ताणं अब्भाइक्खइ से लोयं अब्भाइक्खइ।

**द्रृ.** अस्य च सम्बन्धः प्राग्वद्वाच्य इति, येन मया सामान्यात्मपदार्थपृथिव्यफाय– जीवप्रविभागव्यवर्णनमकारि स एवाहमव्यवच्छिन्नज्ञानप्रवाहस्तेजो जीवस्वरूपोपलम्भस– मुपजनितजिनवचनसम्पदो ब्रवीभि, किं पुनस्तदिति दर्शयति 'नैवे'त्यादि, इह हि प्रकरण– सम्बन्धास्त्रोकशब्देनाग्निकायलोकोऽभिधित्सितः, अतस्तमग्निलोकं जीवत्वेन नैव 'स्वयम्' आत्मनाऽभ्याचक्षीत–नैवापहुवीतेत्यर्थः, एतदभ्याख्याने ह्यात्मनोऽपिज्ञानादिगुणकलापानुमित– स्याभ्याख्यान– मवाप्नोति, अथ च प्राक् प्रसाधितत्वादभुआयाख्यानं नैवात्मनो न्याय्यम्, एवं तेजस्कायस्यापि प्रसाधितत्वात् अभ्याख्यानं क्रियमाणं न युक्तिपथमवतरति, एवं चास्य युक्त्यागमबलप्रसिद्धस्याभ्याख्याने क्रियमाणे सत्यात्मनोऽप्यहंप्रत्ययसिद्धस्याभ्याख्यानं भवतःप्राप्तम् । एवमस्विति चेत्, तत्रेति दर्शयति – 'नेव अत्ताणं अब्माइक्खेज्ञा' नैवात्मानं– शरीराधिष्ठातारं ज्ञानगुणं प्रत्यात्मसंवेद्यं प्रत्याचक्षीत, तस्य शरीराधिष्ठातृत्वेन आहतमिदं शरीरं केनचिदभिसन्धिमता, तथा व्यक्तमिदं शरीरं केनचिदभिसन्ध्यितत्वेत्येवमादिभिर्हेतुभिः प्रसाधितत्वात्, न च प्रसाधितप्रसाधनं पिष्टपेषणवत् विद्वजनमनांसि रञ्जयति, एवं च सत्यात्मवद्धसाधितमग्निलोकंयः प्रत्याचक्षीत सोऽतिसाहसिकआत्मानमन्याख्याति—निराकरोति, यश्चात्माभ्याख्यान प्रवृत्त :स सदैवाग्निलोकमभ्याख्याति, सामान्यपूर्वकत्वाद्विशेषाणां, सति ह्यात्मसामान्ये पृथिव्याद्यात्मविभागः सिद्धयति नान्यथा, सामान्यस्य विशेषव्यापकत्वात्, व्यापक— विनिवृत्तौ च व्याप्यस्याप्यवश्यंभाविनी विनिवृत्तिरितिकृत्वा । एवमयमग्निलोकः सामान्यात्मवन्ना— भ्याख्यातव्य इति प्रदर्शितम्, अधुनाऽग्निजीवप्रतिपत्तौ सत्यां तद्विषयसमारम्भकटुकफल— परिहारोपन्यासाय सूत्रमाह –

मू. (३३) जे दीहलोगसत्यस्स खेयण्णे से असत्यस्स खेयण्णे जे असत्यस्स खेयण्णे से दीहलोगसत्यस्स खेयण्णे ।

**व.** 'य' इति मुमुक्षुदीर्घलोको – वनस्पतिर्यस्मादसौ कायस्थित्या परिमाणेन शरीरोच्छुयेण च शेषैकेन्द्रियेभ्यो दीर्घो वर्त्तते, तथाहि--कायस्थित्या तावतु 'वणस्सइकाइए णं भंते ? वणस्सइ--काइएत्ति कालओ केवचिरं होड् ?, गोयमा ! अनंतं कालं अनंताओ उस्सप्पिणि- अवसप्पिणिओ खेत्तओ अनंता लोया असंखेजा पोग्गल परियट्टा, ते णंपुग्गल परियट्टा आव लियाए असंखेज इभागे' परिमाणतस्तु पडुप्पन्नवणस्सइकाइयाणं भंते ! केवतिकालस्स निध्नेवणासिया ? , गोयमा ! पडुप्पन्न– वणस्सइकाइयाणं नत्थि निष्ठेवणा' तथा शरीरोच्छ्याच्च दीर्घो वनस्पतिः 'वणस्सइकाइयाणं भंते ! महालिया सरीरोगाहणा पण्णत्ता ?, गोयमा साइरेगंजोयणसहस्सं सरीरोगाहणा' न तथाऽन्येषामेकेन्द्रियाणाम्, अतः स्थितमेतत्–सर्वथा दीर्घलोको वनस्पतिरिति, अस्य च शस्त्रमग्निः, यस्मात्स हि प्रवृद्धञ्चालाकलापाकुलः सकलतरुगणप्रध्वंसनाय प्रभवति, अतोऽसौ तदुत्सादकत्वाच्छंस्त्रं, नन् च सर्वलोकप्रसिद्धया कस्मादग्निरेव नोक्तः ?, किं वा प्रयोजनमुररी--कृत्योक्तं दीर्घलोकशस्त्रमिति, अत्रोच्यते, प्रेक्षापूर्वकारितया, न निरभिप्रायमेतत्कृतमिति, यस्मादय---मुत्पाद्यमानो ज्वाल्यमानो वा हव्यवाहः समस्तभूतग्रामघाताय प्रवर्त्तते, वनस्पतिदाह-प्रवृत्तस्तु बहुविधसत्त्वसंहतिविनाशकारी विशेषतः स्यात्, यतो वनस्पतौ कृमिपिपीलिकाभ्रमरक– पोतश्वापदादयः सम्भवन्ति, तथा पृथिव्यपि तरुकोटर व्यवस्थिता स्यात्, आपऽप्यवश्यायरूपाः, वायुरपीषच्चञ्जलस्वभावकोमलकिशलयानुसारी सम्भाव्यते, तदेवमग्निस- मारम्भप्रवृत्त एतावतो जीवान्नाशयति, अस्यार्थस्य सूचनाय दीर्घलोकशस्त्रग्रहणमकरोत् सूत्रकार इति, तथा चोक्तम्

| 11911 | ''जायतेयं न इच्छन्ति, पावगं जलइत्तए।  |
|-------|---------------------------------------|
|       | तिक्खमन्नयरंसत्थं, सव्वओऽवि दुरासयं।। |
| ારા   | पाईणं पंडिणं वावि, उड्ढं अणुदिसामवि । |
|       | अहे दाहिणओ वावि, दहें उत्तर ओऽवि य ॥  |
| liall | भूयाणमेसमाधाओ, हव्ववाहो न संसओ ।      |
|       | तं पईवपयावडा, संजओ किंचि नारभे ॥"     |

अथवा बादरतेजस्कायाः पर्याप्तकाः स्तोका, शेषाः पृथिव्यादयो जीवकाया बहवः, भवस्थि– तिरपि त्रीण्यहोरात्राणि स्वल्प इतरेषां पृथिव्यब्वायुवनस्पतीनां यधाक्रमं द्वाविंशतिसप्तत्रिदश– वर्षसहस्रपरिमाणादीर्घा अवसेया इति, अतो दीर्घलोकः–पृथिव्यादिस्तस्य शस्त्रम्–अग्निकायस्तस्य 'क्षेत्रज्ञो'निपुणः अग्निकायं वर्णादितो जानातीत्यर्थः, 'खेदज्ञो वा' खेदः–तद् व्यापारः सर्वसत्त्वानां दहनात्मकः पाकाद्यनेकशक्तिकलापोर्पचितः प्रवरमणिरिव जाज्वल्यमानो लब्धाग्निव्यपदेशः यतीनामनारम्भणीयः, तमेवंविधंखेदम्-अग्निव्यापारंजानातीति खेदज्ञः, अतोय एव दीर्घलोक-शस्त्रस्य खेदज्ञः स एव 'अशस्त्रस्य' सप्तदशभेदस्य संयमस्य खेदज्ञः, संयमो हि न कश्चिज्जीवं व्यापादयति अतोऽशस्त्रम्, एवमनेन संयमेन सर्वसत्त्वाभयप्रदायिनाऽ-- नुष्ठीयमानेनाग्निजी-वविषयः समारम्भः शक्यः परिहर्तुं पृथिव्यादिकायसमारम्भश्चेत्येवमसौ संयमे निपुणमतिर्भवति, ततश्च निपुणमतित्वाद्विदितपरमार्थोऽग्निसमारम्भाद्वयावृत्य संयमानुष्ठाने प्रवर्त्तते । इदानीं गतप्रत्यागतलक्षणेनाविनाभावित्वप्रदर्शनाद्वर्थंविपर्ययेण सूत्रावय्प्परामर्शं करोति-- 'जे असत्यस्से' त्यादि, यश्चाशस्त्रे- संयमे निपुणः स खलुदीर्धलोकशस्त्रस्य-अग्नेः क्षेत्रज्ञः खेदज्ञो वा, संयमपूर्वकं ह्यग्निविषयखेदज्ञत्वम्, अग्निविषयखेदज्ञतापूर्वकं च संयमानुष्ठानम्, अन्यथा तदसम्भव एवत्त्येतद्गतप्रत्यागतफलमाविर्भावितं भवति ॥ कैः पुनरिदमेवमुपलब्धमित्यत आह – 'वीरेहि'त्यादि, अथवा सद्वक्तृप्रसिद्धौ सत्यां वाक्यप्रसिद्धिर्भवतीत्यत उपदिश्यते --

मू. (३४) वीरेहिं एयं अभिभूय दिइं, संजएहिं सया जत्तेहिं सया अप्पमत्तेहिं ।

q. धनधातिकर्मसङ्घातविदारणानन्तरप्राप्तातुलकेवलश्रिया विराजन्त इति वीराः– तीर्यकरान्तैवीरैर्स्यती दृष्टमेतद्गणधरैश्च सूत्रतोऽग्निशस्त्रं देष्टम् अशस्त्रं संयमस्वरूपं चेति ! किं पुनरनुष्ठायेदं तैरुपलब्धमिति, अत्रोच्यते, 'अभिभूये'ति अभिनवो नामादिश्चतुर्द्धा, द्रव्याभिभवो– रिपुसेनादिपराजयः आदित्यतेजसा वा चन्द्रग्रहनक्षत्रादितेजोऽभिभवः, भावाभिभवस्तु परीषहोप– सर्गानीकज्ञानदर्शनावरणमोहान्तरायकर्म्यनिर्द्दलनं, परीषहोपसर्गादिसेनाविजयाद्विमलं चरणं चरणशुद्धेर्ज्ञानावरणादिकर्मक्षयः, तत्सयात्रिवरणमप्रतिहत्मश्रेषज्ञेयग्राहिकेवलज्ञा– नमुपजायते, इदमुक्तं भवति–परीषहोपसर्गज्ञानदर्शनावरणीयमोहान्तरायाण्यभिभूय केवलमुत्पाद्य तैरुपलब्धमिति।यथाभूतैस्तैरिदमुपलब्धंतद्दर्श्चयति– 'संजएहिं' सम्यग् यताः संयताः प्राणातिपा– तादिभ्यस्तैः, तथा 'सदा' सर्वकालं चरणप्रतिपत्तौ मूलोत्तरगुणभेदायांनिरतिचारत्वा- द्यलवन्तस्तैः, तथा 'सदा' सर्वकालं न विद्यते प्रमादो–मद्यविषयकषायविकथानिद्राख्यो येषां तेऽप्रमत्तार्सतैः, एवंभूतैर्महावीरैः केवलज्ञानचक्षुषेदं दीर्घलोकशस्त्रम् अशस्त्रं च संयमो ६ष्टम्–उपलब्धमिति । अत्र च यलग्रहणादीर्यासमित्यादयो गुणा गृह्यन्ते, अप्रमादग्रहणात्तु मद्यादिनिवृत्तिरिति । तदिवमेतत्यधानपुरुषप्रतिपादितमग्निशस्त्रमपायदर्शनादप्रमत्तैः साधुभिः परिहार्यमिति ।। एवं प्रत्यक्षीकृतानेकदोषजात्तमप्वग्निशस्त्रमुपभोगलोमास्रमादवशगा ये न परिहार्यमिति । ध्वत्रवर्भतायाह –

# मू. (३५) जे पमत्ते गुणद्वीए से हु दंडेत्ति पवुच्चइ।

ष्ट्र. योहिप्रमत्तो भवति मद्यविषयादिप्रमादैरसंयतो 'गुणार्थी' रन्धनपचनप्रकाशातापना– द्यग्निगुणप्रयोजनवान् स दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायोऽग्निशस्त्रसमारम्भकतया प्राणिनां दण्ड– हेतुत्वादृण्डः प्रकर्षेणोच्यते प्रोच्यते, आयुर्घृतादिव्यप देशवदिति ॥

यतश्चैवं ततः किं कर्त्तव्यमित्यत आह –

- मू. (३६) तं परिण्णाय मेहावी इयाणिं नो जमहं पुव्वमकासी पमाएणं। 👘
- वृ. 'तम्' अग्निकायसमारम्भंदण्डफलं परिज्ञाय-ज्ञपरिज्ञाप्रत्याख्यानपरिज्ञाभ्यां 'भेघावी'

मर्यादाव्यवस्थितो वक्ष्यमाणप्रकारेण व्यवच्छेदमात्मान्याचिनोतीति । तमेव प्रकारं दर्शयितुमाह – 'इयाणी' त्यादि, यमहमग्निसमारश्मंविषयप्रमादेनाकुलीकृतान्तःकरणः सन् पूर्वमकार्षंतमिदानीं जिनवचनोपलब्धाग्निसमारम्भदण्डतत्त्वः नो करोमीति ।।

अन्येत्वन्यथावादिनोऽन्यथाकारिण इति दर्शयितुमाह ---

मू. (३७) लज्जमाणा पुढो पास-अनगारा मोत्ति एगे पवदमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्पसमारम्भेणं अगणिसत्थं समारमभमाणे अन्ने अणेगरूवे पाणे विहिंसंति । तत्थ खलु भगवता परिण्णा पवेदिता, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाइमरणमोयणाए दुक्खपडिधायहेउं से सयमेव अगणिसत्थं समारभइ अण्णेहिं वा अगणिसत्थं समारंभावेइ अन्ने वा अगणिसत्यं समारभमाणे समणुज्जाणइ, तं से अहियाए तं से अबोहियाए से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुद्वाय सोच्चा भगवओ अनगाराणं इहमेगेसिं नायं भवति–एस खलु गंथे एस खलु मोहे एस खलु मारे एस खलु नरए, इच्चत्थं गङ्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं अगणिकम्पसमारंभमाणे अन्ने अणेगरूवे पाणे विहिंसइ ।

**वृ.** अस्य ग्रन्थस्योक्तार्थस्यायमर्थो लेशतः प्रदर्श्यते — 'लञ्जमानाः' स्वागमोक्तानुष्ठानं कुर्वाणां सावद्यानुष्ठानेन वा लजा कुर्वाणाः 'पृथग्' विभिन्नाः शाक्यादयः 'पश्ये'ति संयमानुष्ठाने स्थिरीकरणार्थं शिष्यस्य चोदना, अनगारा वयमित्येके प्रवदमानाः, किं तैर्विरूपमाचरितं येनैवं प्रदर्श्यन्त इति दर्शयति—यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैरग्निकर्मसमारम्भेण अग्निशस्त्रं समारभमाणः सन्नन्याननेकरूपान् प्राणिनो विहिनस्ति, तन्न खलु भगवता परिज्ञा प्रवेदिता, यथाऽस्यैव परिफल्गुजीवितस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं जातिमरणमोचनार्थं दुःखप्रतिधातहेतुं यत्करोति तद्दर्शयति – 'स' परिवन्दनमावर्गपूजनार्थं जातिमरणमोचनार्थं दुःखप्रतिधातहेतुं यत्करोति तद्दर्शयति – 'स' परिवन्दनाद्यर्थीं स्वतएवाग्निशस्त्रं समारभतेतथा अन्यैश्वाग्निशस्त्रं समारम्भयति तद्याऽन्यां श्च अग्निशस्त्रं समारभमाणान् समनुजानीते, तद्याग्नेःसमारम्भणं 'से' तस्य सुखलिप्सोरमुत्रान्यत्र चाहिताय भवति, तथा तदेव च तस्याबोधिलाभाय भवति, 'स' इति यत्थै तदसदाचरणं प्रदर्शितं, सतु शिष्यसद्यग्निसमारम्भणं पापायेत्येवं सम्बुध्यमान 'आदानीयं' ग्राह्रां सम्यग्दर्शनादि 'सम्यगुत्थाय' अभ्युपगम्य श्रुत्वा भगवदन्तिकेऽनगाराणां वा इहैकेषां साधूनां झातं भवति, किम् ?, तद्दर्शयति – 'एष' अग्निसमारम्भः ग्रन्थः—कर्महेतुत्वाद् एष एव मोह एष एव मार एष एव नरकस्तद्धेतुत्वादिति भावः, इत्येवमर्थं च गृद्धो लोको यत्करोति तद्दर्शयति–यदिदं विरूपरूपैः शस्त्रैरग्निकर्म समारभते तदारम्भेण चाग्निशस्त्रं समारभते तद्यारंभमाणोऽ-न्याननेकरूपान् प्रणिनो विहिनस्तीति ॥।

कथं पुनरग्निसमारम्भप्रवृत्ता नानाविधान् प्राणिनो विहिंसन्तीति दर्शयितुमाह –

मू. (३८) से बेमि–संति पाणा पुढवीनिस्सिया तणनिस्सिया पत्तनिस्सिया कट्ठनिस्सिया गोमयनिस्सिया कयवरनिस्सिया, संति संपातिमा पाणा आहज्य संपयंति, अगणिं च खलु पुडा एगे संघायमावज्ञंति, जे तत्थं संघायमावज्ञंति ते तत्थ परियावज्ञंति, जे तत्थ परियावज्ञंति ते तत्थ उद्दायंति ।

**वृ.** तदहंब्रवीमि यथा नानाविधजीवहिंसनमग्निकायसमारम्भेण भवतीति ! यथाप्रतिज्ञातार्थं दर्शयति — 'सन्ति' विद्यन्ते 'प्राणा' जन्तवः, पृथिवीकायनिश्रिताः पृथिवीकायत्वेन परिणता इत्यर्थः, तदाश्रिता वा कृमिकुन्थुपिपीलिकागण्डूपदाहिमण्डूकवृश्चिककर्क्षटकादयः, तथा वृक्षगुल्मलता– वितानादयः, तथा तृणपत्रनिश्चिताः पतङ्गेलिकादयः, तथा काष्ठनिश्चिता-धुणोद्देहिकापि– पीलिकाऽण्डादयः, गोमयनिश्चिताः–कुन्थुपनकादयः, कचवरः–पत्रतृणधूलि– समुदायस्तन्निश्चिताः कृमिकीटपतङ्गादयः । तथा 'सन्ति' विद्यन्ते सम्पतितुमुत्लुत्योत्लुत्य गन्तुमागन्तुं वा शीलं येषां ते सम्पातिनः प्राणिनो–जीवा मक्षिकाभ्रमरपतङ्गमशकपक्षिवातादयः, एते च सम्पातिनः 'आहत्य' उपेत्य स्वत एव, यदिवा अत्यर्थं कदाचिद्वा अग्निशिखायां सम्पतन्ति च । तदेवं पृथिव्यादिनिश्चितानां जीवानां यदुभवति तद्दर्शयितुमाह –

'अगणिं चे'त्यादि, रन्धनपचनतापनाद्यग्निगुणार्थिभिरवश्यमग्निसमारम्भो विधेयः, तत्समारम्भे च पृथिव्यादिनिश्रितानां जीवानामेता वक्ष्यमाणा अवस्था भवन्ति, छान्दसत्वात्, तृतीयार्थे द्वितीया, ततश्चायमर्थः-अग्निना 'स्पृष्टाः' छुप्ता एके केचन सङ्घातमू--अधिकं गात्रसङ्कोचनं मयूरपिच्छवदापद्यन्ते, च शब्दस्याधिक्यार्थत्वात्, खलुशब्दोऽवधारणे, अग्नेरेवायं प्रतापो नापर-स्येति, यदिवा सप्तम्यर्थे द्वितीया स्पृष्टशब्दश्च पतितवचनः, ततश्चायमर्थो भवति–अग्नावेव स्पृष्टाः-पतिता 'एके'शलमादयः 'सङ्घातं' समेकीमावेनाधिकं गात्रसङ्कोचनम्, 'आपद्यन्ते' प्राप्नुवन्ति, ये च 'तत्र' अग्नौ पतिताः सङ्घातमापद्यन्ते ते प्राणिनः 'तत्र' अग्नौ पर्यापद्यन्ते, पर्यापत्तिः-सम्मूर्छनम्, ऊष्माभिभूता मूर्छामापद्यन्ते इत्यर्थः । अथ किमर्थं सूत्रकृता विभक्तिपरिणामोऽकारीति, उच्यते, मागधदेशीसमनुवृत्तेः व्याख्याविकल्पप्रदर्शनार्थं वा, अध्याहारादयोऽपि व्याख्याङ्गानीत्यनेन शिष्यो ज्ञापितो भवति । अथ के पुनस्तेऽध्याहारादय इति ? , उच्यन्ते, अध्याहारो विपरिणामो व्यवहित- कल्पना गुणकल्पना लक्षणा वाक्यभेदश्चेति, इह च द्वितीयाविभक्तैः सप्तमीपरिणामः कृत इति । ये च 'तत्र' अग्नौ पर्यापद्यन्ते ते प्राणिनः कृमिपिपीलिकाभ्रमरन- कुलादयस्तत्राग्नावपद्रावन्ति-प्राणान् मुश्चन्तीत्यर्थः, तदेवमग्निसमारम्भे सति न केवलमग्निजन्तूनां विनाशः किं त्वन्येषामपि पृथिवीतृणपत्रकाष्ठगोमयकचवराश्रितानां सम्पातिनां च व्यापत्तिरव-- श्यम्भाविनीति, अत एव च भगवत्यां भगवतोक्तम्-''दो पुरिसा सरिसवया अन्नमन्नेहिं सद्धि अगणिकायं समारंभति, तत्य णं एपे पुरिसे अगणिकायं समुझालेति, एगे विज्झवेति, तत्य णं के पुरिसे महाकम्मयराए ? के पुरिसे अप्पकम्मयराए ?, गोयमा ! जे उजालेति से महाकम्मयराए, जे विज्झवेति से अप्यकम्मयराए'' ॥ तदेवं प्रभूतसत्त्वोप-मर्दनकरमग्न्यारम्भं विज्ञाय मनोवाकायैः कृतकारितानुमतिभिश्च तत्परिहारः कार्य इति दर्शयितुमाह-

मू. (३९) एत्य सत्यं असमारंभमाणस्स इद्येते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावीनेव सयंअगणिसत्यं समारंभे नेवऽन्नेहिंअगणिसत्यं समारंभावेज्ञा अगणिसत्यं समारंभमाणे अन्ने न समणुजाणेज्ञा, जस्सेते अगणिकम्मसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्मे ति बेमि ॥

**मृ.** 'अत्र' अग्निकाये 'शस्त्रं' स्वकायपरकायभेदभिन्नं 'समारभभाणस्य' व्यापारयत इत्येते आरम्भाः पचनपाचनादयोवन्धहेतुत्वेनापरिज्ञाता भवन्ति, तथा अत्रैवाग्निकाये शस्त्रमसमा— रभमणरयैते आरम्भाः परिज्ञाता भवन्ति, यस्यैते अग्निकायसमारम्भा ज्ञपरिज्ञया ज्ञाता भवन्ति प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहता भवन्ति स एव मुनिः परमार्थतः परिज्ञातकम्भेति व्रवीमीति पूर्ववत् अध्ययनं - १; उद्देशकः - ४ समाप्त :

-: अध्ययनं - १ उद्देशकः ५ :-

**वृ**. उक्तश्चतुर्थोद्देशकः, साम्प्रतं पञ्चमः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धःइहानन्त— रोद्देशके तेजस्कायः प्रतिपादितः, तदनन्तरमविकलसुसाधुगुणप्रतिपत्तये क्रमायातवायुकायप्रति— पादनावसरे वनस्पतिकायजीवस्वरूपमाविर्माव्यते, किं पुनः क्रमोछङ्घनकारणमिति, उच्यते, एष हि वायुरचाक्षुषत्वाद्दुःश्वद्धानः, अतः समधिगताशेषपृथिव्याद्येकेन्द्रियप्राणिगणस्वरूपः शिष्यः" सुखमेव वायुजीवस्वरूपं प्रतिपत्स्यते, स एव च क्रमो येन शिष्याः जीवादितत्त्वं प्रति प्रोत्सहन्ते यधावयतिपत्नुमिति, वनस्पतिकायस्तु समस्तलोकप्रत्यक्षपरिस्फुटजीवलिङ्गकलापोपेतः, अतः स एव तावय्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि वाच्यानि यावन्ना— मनिष्पन्ने निक्षेपेवनस्पत्युद्देशकः, तत्र वनस्पतेः स्वभेदकलापप्रतिपादनाय पूर्वप्रसिद्धार्थातिदेशद्वारेण निर्युक्तिकृटाह—

नि. {१२६} पुढवीए जे दारा वणसङ्काएऽवि हुंति ते चेव। नाणत्ती उ विहाणे परिमाणुवभोगसत्थे य ॥

वृ. यानि पृथवीकायसमधिगतये द्वाराण्युक्तानि तान्येव वनस्पतौ द्रष्टव्यानि, मानात्वं तु प्ररूपणापरिमाणोपभोगशस्त्रेषु चशब्दाल्लक्षणे च द्रष्टव्यमिति ॥ तत्रादौ प्ररूपणास्व-रूपनिर्ज्ञापनायाह—

नि. [१२७] दुविह वणस्सइजीवा सुहुमा तह बायरा य लोगंमि।

सुहुमा य सव्वक्रीए दो चेव य बायरविहाणा ॥

वृ. वनस्पतयो दिविधाः-सूक्ष्मां बादरश्च, सूक्ष्माः सर्वलोकापन्नाश्चक्षुर्प्राह्याश्च न मवन्त्पेर-काकारा एव, बादराणां पुनर्द्वे विधाने ।। के पुनस्ते बादरविधाने इत्यत आह-

नि. [१२८] पत्तेया साहारण बायरजीवा समासओ दुविहा । बारसविहऽणेगविहा समासओ छव्विहा हुंति।।

वृ. बादराः समासतः द्विविधाः – प्रत्येकाः साधारणाश्च, तत्र पत्रपुष्पमूलफलस्कभ्धादीन् प्रति प्रत्येको जीवो येषां ते प्रत्येकजीवाः, साधारणास्तु परस्परानुविद्धानन्तजीवसद्वातरूपशरी– रावस्थानाः, तत्र प्रत्येकशरीरा द्वादशविधानाः, साधारणास्त्वनेकभेदाः, सर्वेऽप्येते समासतः पोढा प्रत्येतत्याः ॥ तत्र प्रत्येकतरुद्वादशभेदप्रत्यायनायाह–

नि. [१२९] रुक्खा गुच्छा गुम्मा लया य वल्ली य पव्वगा चेव। तणवलयहरियओसहिजलरुहकुहणा य वोद्धव्वा ॥

वृ. वृश्चयन्त इति वृक्षाः, ते द्विविधाः– एकस्थिका बहुवीजकाश्च, तत्रैकास्थिकाः– पिचुमन्दाकोशम्वशालाङ्कोछपीलुशछक्यादयः, बहुबीजकास्तु–उदुम्बरकपित्यास्तिकतिन्दुक– बिल्वामलकपनसदाडिममातुलिङ्गादयः, गुच्छास्तु--वृन्ताकीकर्पासीजपाआढकीतुलसी--कुसुम्भरीपिष्पलीनील्यादयः, गुल्मानि तु-नवमालिकासेरियककोरण्टकबन्धुजीवकबाण– करवीरसिन्दुवारविचकिलजातियूथिकादयः, लतास्तु-पद्मनागाशोकचम्पकचूतवासन्तीअति-मुक्तककुन्दलताद्याः, वल्लयस्तु-कुष्पाण्डीकालिङ्गीत्रपुषीतुम्बीवालुङ्कीएलालुकीपटोल्यादयः, पर्वगाः पुनः-इक्षुवीरणशुण्ठशरवेत्रशतपर्ववंशनलवेणुकादयः, तृणानि तु-श्वेतिकाकुश-दर्भपर्वकार्ज्जुन- सुरभिकुरुविन्दादीनि, वलयानि च-तालतमालतक्कलीशालसरकालेकतकी-कदलीकन्दल्यादीनि, हरितानि-तन्दुलीयकाधूयारुहवस्तुलबदरकमाजारपादिकाचिछीपाल-क्यादीनि, औषध्यस्तु-शालीद्रीहिगोधूमयवकलममसूरतिलमुद्गमाषनिष्पावकुलत्था-तसीकुसुम्भकोद्रवकङ्ग्वादयः, जलरुहा-उदकावकपनकशैवलकलम्बुकापावककश्नेकरुकउत्पलप ह्यकुमुदनलिनपुण्डरीकादयः, कुहुणास्तु-भूमिस्फोटकाभिधानाः आयकायकुहुणकुण्डु-कोद्देहलिकाशलाकासप्पच्छत्रादयः, एषां हि प्रत्येकजीवानां वृक्षाणां मूलस्कन्धकन्दत्व-कूशालप्रवालादिष्वसंख्येयाः प्रत्येकं जीवाः, पत्राणॅं पुष्पाणि चैकजीवानि मन्तव्यानि, साधार-णास्त्वनेकविधाः, तद्यथा-लोहीनिहुस्तुभायिकाअश्वकर्णीसिंहकर्णीशृङ्गबेरमालुकामूलक-कृष्णकन्दसूरणकन्दकाकोलीक्षीरकाकोलीप्रभृतयः ।।

'सर्वेऽप्येते संक्षेपात् षोढा भवन्ती'त्युक्तं, के पुनस्ते भेदा इत्याह--

नि. [१३०] अग्गबीया मूलबीया खंधबीया चेव पोरबीया य । बीयरुहा समुच्छिम समासओ वणसईजीवा ।।

**वृ.** तत्र कोरिण्टकादयोऽग्रबीजाः, कदल्यादयो मूलबीजाः, निहुशल्लकयरणिकादयः स्कन्ध- बीजाः, इक्षुवंशवेत्रादयः पर्ववीजाः, बीजरुहाः शालिव्रीह्यादयः, सम्मूच्छनजाः पद्मिनी-शृङ्गाटक- पाठशैवलादयः, एवमेते समासात्तरुजीवाः षोढा कथिताः, नान्ये सन्तीति प्रतिपत्तव्यं

किंलक्षणाः पुनः प्रत्येकतरवो भवन्तीत्यत आह-

नि. [९३९] जह सगलसरिसवाणं सिलेसमिस्साण वत्तिया वडी। पत्तेयसरीराणं तह हुंति सरीसंघाया।।

**वृ.** यथेति दृष्टान्तोपन्यासार्थः यथा सकलसर्षपाणां श्लेषयतीति श्लेषः— सर्जरसादिस्तेन मिश्रितानां 'वर्त्तिता' चलिता वर्त्तिः तस्यां च वर्त्ती प्रत्येकप्रदेशाः क्रमेण सिद्धार्थकाः स्थिताः, नान्योऽन्यानुवेधेन, चूर्णितास्तुकदाचिदन्योऽन्यानुवेधभाजोऽपि स्युरित्यतः सकलग्रहणं, यथाऽसौ वर्त्तिस्तथा प्रत्येकतरुशरीरसङ्घातः, यथा च सर्षपास्तथा तदधिष्ठायिनो जीवाः, यथा श्लेषविमि— श्रितास्तथा रागद्वेषप्रचितकर्मपुगद्गलोदयमिश्रिताः जीवाः, पश्चिमार्व्डेन गाथायाउपन्यस्तदष्टान्तेन सह साम्यं प्रतिपादितं, तथेति शब्दोपादानादिति ॥ अस्मिन्नेवार्थे दध्यन्तन्द्ररमाह—

नि. [९३२] जह वा तिलसकुलिया बहुएहिं तिलेहिं मेलिया संती । पत्तेयसरीराणं तह हुंति सरीरसंघाया ।।

**वृ.** यथा वा तिलशष्कुलिका-तिलप्रधाना पिष्टमयपोलिका बहुभिस्तिलैर्निष्पादिता सती भवति, तथा प्रत्येकशरीराणां तरूणां शरीरसङ्घाता भवन्तीति द्रष्टव्यमिति ॥

साम्प्रतं प्रत्येकशरीरजीवानामेकानेकाधिष्ठितत्वप्रतिपिपादयिषयाऽऽह–

नि. [१३३]

नाणाविहसंठाणां दीसंती एगजीविया पत्ता । खंधावि एगजीवा तालसरलनालिएरीणं ।। **वृ.** नानाविधं–भिन्नं संस्थानं येषां तानि नानाविधसंस्थानानि पत्राणि यानि चैवंभूतानि ६श्यन्ते तान्येकजीवाधिष्ठितान्यवगन्तव्यानि, तथा स्वन्धा अप्येकजीवाधिष्ठितास्तालसरल– नालिकेर्यादीनां, नात्रानेकजीवाधिष्ठितत्वं सम्भवतीति, अवशिष्टानां त्वनेकजीवाधिष्ठितत्वं सामर्थ्याद्रातिपादितं भवति ।। साम्प्रतं प्रत्येकतरुजीवराशिपरिमाणाभिधित्स्याऽऽह––

नि. [९३४] पत्तेया पञ्जत्ता सेढीए असंखभागमित्ता ते । लोगासंखप्पञ्जत्तगाण साहारणाणता ।।

**वृ.** प्रत्येकतरुजीवाः पर्याप्तकाः संवर्त्तितचतुरस्त्रीकृतलोकश्रेण्यसंख्येयभाग– वत्याकाशप्रदेशराशितुल्यप्रमाणाः, एते च पुनर्बादरतेजस्कायपर्याप्तकाराशेरसङ्खयेयगुणाः, ये पुनरपर्याप्तकाः प्रत्येकतरुजन्तवः ते ह्यसङ्खयेयानां लोकानां यावन्तः प्रदेशास्तावन्त इति, एतेऽप्यपर्याप्तका बादरतेजस्कायजीवराशेरसङ्खयेयगुणाः, सूक्ष्मास्तु वनस्पतयः प्रत्येकशरीरिणः पर्याप्तका अपर्याप्तका वा न सन्त्येव, साधारणास्तव्नन्ता इति विशेषानुपादानात् ?, साधारणाः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन चतुर्विधा अपि पृथक् पृथगनन्तानां लोकानां यावन्तः प्रदेशास्तावन्त इति, अयं तुविशेषः– साधारणबादरपर्याप्तकेभ्योबादरा अपर्याप्तका असंख्येयगुणाः बादरापर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्माः अपर्याप्तका असङ्ख्येयगुणा– स्तेभ्योऽपि सूक्ष्माः पर्याप्तकाः असङ्खयेयगुणा इति ॥ सम्प्रत्येषां तरुणां यो जीवत्वं नेच्छति तं प्रति जीवत्वप्रतिपादनेच्छया निर्युक्तिकृदाह–

नि. [९३५] एएहिं सरीरेहिं पद्यक्खं ते परूविया जीवा।

सेसा आणागिज्झा चक्खुणा जे न दीसंति <mark>।।</mark>

**वृ.** 'एतैः' पूर्वप्रतिपादितैस्तरुशरीरैः प्रत्यक्षप्रमाणविषयैः 'प्रत्यक्षं' साक्षात् 'ते' वनस्पति— जीवाः 'प्ररूपिताः' प्रसाधिताः, तथाहि—न होतानि शरीराणि जीवव्यापारमन्तरेणैवंविधाकारभाञि भवन्ति, तथा च प्रयोगः—जीवशरीराणि वृक्षाः, अक्षाद्युपलब्धिभावात्, पाण्यादिसङ्घातवत्, तथा कदाचित् सचित्ता अपि वृक्षाः, जीवशरीरत्वात्, पाण्यादिसङ्घातवदेव, तथा मन्दविज्ञानसुखादिमन्त— स्तरवः, अव्यक्तचेतनानुगतत्वात्, सुप्तादिपुरुषवत्, तथा चोक्तम्

(१९)। "वृक्षादयोऽक्षाद्यपलब्धिभावात्पण्यादिसङ्घातवदेव देहाः । तद्वत्सजीवा अपि देहतायाः, सुप्तादिवत् ज्ञानसुखादिमन्तः"

'शेषा'इति सूक्ष्मास्ते च चक्षुषा नोपलभ्यन्त इत्याज्ञया ग्राह्या इति, आज्ञा च भगवद्वचनमवितथमरक्तद्विष्टप्रणीतमितिश्वद्धातव्यमिति॥साम्प्रतंसाधारणलक्षणमभिधित्सुराह--

नि. [१३६] साहारणमाहारो साहारण आणपाणगहणं च। साहारणजीवाणं साहारणलक्खणं एयं।।

षृ. समानम्-एकं धारणम्-अङ्गीकरणं शरीराहारादेर्येषां ते साधारणाः तेषां साधारणानाम्-अनन्तकायानां जीवानां 'साधारणं' सामान्यमेकमाहारग्रहणं तथा प्राणापानग्रहणं च साधारणमेव, एतत्साधारणलक्षणम्, एतदुक्तं भवति एकस्मिन्नाहारितवति सर्वेऽप्याहारित-वन्तस्तथैकस्मिन्नुच्छुसिते निःश्वसिते वा सर्वेऽप्युच्छृसिता निःश्वसिता वेति ॥ अमुमेवार्थे स्पष्टयितुमाह- नि. [१३७] एगस्स उ जं गहणं बहूणं साहारणाण ते चेव । जं बहुयाणं गहणं समासओ तंपि एगस्स ।।

**वृ.** एको यदुच्छ्वासनिः श्वश्वासयोग्यपुद्गलोपादानं विधत्ते बहूनामपि साधारणजीवानां तदेव भवति, तथा यच्च बहवो ग्रहणमकषुरिकस्यापि तदेवेति ।। अथ ये बीजाख रोहन्ति वनस्पतयस्तेषां कथमाविर्भाव इत्यत आह–

नि. [१३८] जोणिब्भूए बीए जीवो वक्तमइ सो व अन्नो वा। जोऽवि य मूले जीवो सो चिय पत्ते पढमयाए।।

**वृ.** अत्र भूतशब्दोऽवस्थावचनः, योन्यवस्थे बीजे योनिपरिणाममजहतीत्यर्थः, बीजस्य हिद्विविधावस्था–योन्यवस्था अयोन्यवस्था च, यदायोन्यवस्थां न जहाति वीजमुज्झितं च जन्तुना तदा योनिभूतमुच्यते, योनिस्तु जन्तोरुत्पत्तिस्थानमविनष्टमिति, तस्मिन् बीजे योनिभूते जीवो 'व्युक्तामति' उत्पद्यते, स एव पूर्वको बीजजीवोन्यो वाऽऽगत्य तत्रोत्पद्यते, एतदुक्तं भवति–यदा जीवेनायुषः क्षयाद्वीजपरित्यागः कृतो भवति, तस्य च यदा वीजस्य क्षित्युदकादिसंयोगस्तदा कदाचित्त एव प्राक्तनोजीवस्तत्रागत्य परिणमते कदाचिदन्य इति, यश्च भूलतया जीवः परिणमते स एव प्रथमपन्नतयाऽपीति, एकजीवकर्तृके मूलपन्ने इतियावत्, प्रथमपन्नकं च याऽसौ वीजस्य समुच्छूनावस्था भूजलकालापेक्षा सैवोच्यत इति, नियमप्रदर्शनमेतत्, शेषं तु किशलयादि सकलं न मूलजीवपरिणामाविर्भावितमेवेत्यवगन्तव्यमिति ॥ यत उक्तम् – ''सव्योऽवि किसलओ खलु उग्गममाणो अनन्तओ भणिओ'' इत्यादि ॥ तथाऽपरं साधारणलक्षणमभिधित्युराह –

नि. [१३९] चक्कागं भञ्जमाणस्स गंठी चुण्णघणो भवे । पुढविसरिसभेएणं अनंतजीवं वियाणेहि ॥

वृ. यस्य मूलकन्दत्वक्पत्रपुष्पफलादेर्भज्यमानस्य चक्रकं भवति, चक्राकारः समच्छेदो भङ्गो भवतीतियावत्, यस्य च ग्रन्धिः–पर्व भङ्गस्थानं वा 'चूर्णेन' रजसा 'घनो' व्याप्तो भवति, यो वा भिद्यमानो वनस्पतिः पृथिवीसदृशेन भेदेन केदारोपरिशुष्कतरिकावत् पुटभेदेन भिद्यते, तमनन्तकायं विजानीहि ।। तथा लक्षणान्तरमाह –

नि. [१४०] गूढसिरागं पत्तं सच्छीरं जं च होइ निच्छीरं । जं पुण पणडुसंधिय अनंतजीवं वियाणाहि ॥

वृ. स्पष्टार्था ।। एवं साधारणजीवान् लक्षणतः प्रतिपाद्य सम्प्रति नामग्राहमनन्तान् वनस्पतीन् दर्शयितुमाह --

नि. [१४१] सेवालकत्यभाणियअवए पणए य किंनए य हढे। एए अनंतजीवा भणिया अन्ने अनेगविहा ॥

**वृ.** सेवालकत्थभाणिकाऽवकपनककिण्वहठादयोऽनन्तजीवा गदिता अनेकप्रकारा– श्चान्येऽपीत्थमवगन्तव्या इति ।। सम्प्रति प्रत्येकतरूणामेकादिजीवपरिगृहीतशरीर६श्यत्वं प्रतिपिपादयिषयाह –

नि. [१४२] एगस्स दुण्ह तिण्ह व संखिञाण व तहा असंखाणं । पत्तेयसरीराणं दीसंति सरीरसंघाया ॥ **वृ.** एकजीवपरिगृहीतशरीरं तालसरलनालिकेर्यादिस्कन्धः, सच चक्षुर्य्राह्यः, तथा बिसमृ— णालकर्णिकाकुणककटाहानामेकजीवपरिगृहीतत्त्वं चक्षुर्दृश्यत्वं च, द्वित्रिसङ्कयेयासङ्खयेयजी--वपरिगृहीतत्वमप्येवं दृश्यतया भावनीयमिति ।। किमनन्तामप्येवं ? , नेत्यत आह –

नि. [१४३] इक्रस्स दुण्ह तिण्ह व संखिजाण व न पासिउं सका। दीसंति सरीराइं निओयजीवाणऽनंताणं।!

**वृ.** नैकादीनामसङ्खयेयावसानानामनन्तरुजीवानां शरीराण्युपलभ्यन्ते, कुतः ? , अभावात्, न होकादिजीवपरिगृहीतान्यनन्तानां शरीराणि सन्ति, अनन्तजीवपिण्डत्वादेव, कथं तर्ह्यपलभ्यास्ते भवन्तीति दर्शयति–दृश्यन्ते शरीराणि बादरनिगोदानामनन्तजीवानां सूक्ष्मनिगोदानां तु नोपलभ्यन्ते, अनन्तजीवसङ्घातत्वे सत्यप्यतिसूक्ष्मत्वादिति भावः, निगोदास्तु नियमत एवानन्तजीवसङ्घाता भवन्तीति, उक्तं च –

(19) ('गोला य असंखेज़ा हुंति निओआ असद्धया गोले ) एककेको य निओए अनंतजीवी मुणेयव्वी ।।''

एवं चनस्पतीनां वृक्षादिप्रत्येकादिभेदात्तथा वर्णगन्धरसस्पर्शभेदात् सहस्राग्रशो विधानानि सङ्खयेयानि योनिप्रमुखानि शतसहस्राणि भेदानामवसेयानीति, तथाहि--वनस्पतीनां संवृता योनिः, सा च सत्ताचित्तमिश्रभेदात् त्रिधा, तथा शीतोष्णमिश्रभेदाद्य, तथा प्रत्येकतरूणां दश लक्षा योनि-भेदानां, साधारणानां च चतुर्दश, कुलकोटीनां, द्वयोरपि पञ्चविंशतिकोटिशतसहस्राणीति ॥ उक्तं विधानद्वारम्, इदानीं परिमाणमभिधीयते तत्र प्रथमं सूक्ष्मानन्तजीवानां दर्शयितुमाह –

नि. [१४४] पत्थेण व कुडवेण व जह कोइ मिणिज सव्यधनाइं।

एवं मविज्ञमाणा हवंति लोया अनंता उ ।।

ष्ट्र. प्रस्थकुडवादिना यथा कश्चित्सर्वधान्यानि प्रमिणुयात्, मित्वा चान्यत्र प्रक्षिपेद्, एवं यदिनाम कश्चित्साधारणजीवराशि लोककुडवेन मित्वाऽन्यत्र प्रक्षिपेत् तत एवं मीयमाना अनन्ता लोका भवन्तीति ।। इदानीं बादरनिगोदपरिमाणाभिधित्सयाऽऽह –

नि. [१४५] जे बायरपज्जत्ता पयरस्स असंखभागमित्ता ते । सेसा असंखलोया तिन्निवि साहारणाणंता ॥

ष्ट्र. ये पर्याप्तकबादरनिगोदास्ते संवर्त्तित्वतुरश्रीकृतसकललोकप्रतरासङ्खयेयभागवर्त्त— प्रदेशराशिपरिमाणा भवन्ति, एते पुनः प्रत्येकशरीरबादरवनस्पतिपर्याप्तकजीवेभ्योऽ— सङ्खयेयगुणाः, शेषायोऽपि राशयः प्रत्येकमसङ्खयेयलोकाकाशप्रदेशपरिमाणाः, के पुनः इति ?, उच्यन्ते, अपर्याप्तकबादरनिगोदाअपर्याप्तकसूक्ष्मनिगोदाः पर्याप्तकसूक्ष्मनिगोदाः, एते च क्रमशो बहुतरका द्रष्टव्या इति, साधारणजीवास्तेभ्योऽनन्तगुणाः, एतच्च जीवपरिमाणं, प्राक्तनं तु राशिचतुष्टयं निगोदपरिमाणमिति ॥ परिमाणद्वारानन्तरमुपभोगद्वारमभिधित्सुराह –

नि. [१४६] आहारे उवगरणे सयणासण जाण जुग्नकरणे य । आवरण पहरणेसु अ सत्थविहाणेसु अ बहुसुं ।।

वृ. आहारः--फलपत्रकिशलयमूलकन्दत्वगादिनिर्वर्त्त्यः, उपकरणं व्यजनकटक-कवलकार्गलादि, शयनं-खट्वाफलकादि, आसनम्-आसन्दकादि, यानं-शिबिकादि, युग्यं–गन्त्रिकादि, आवरणम्–फलकादि, प्रहरणं--लकुटमुसुण्ढ्यादि, शश्त्रविधानानि च बहूनि तन्निर्वर्त्त्यानि, शरदात्रखङ्गक्षुरिकादिगण्डोपयोगित्वादिति ।। तथाऽपरोऽपि परिभोगविधिः, तद्दर्शनायाह –

नि. [१४७] आउज कहकम्मे गंधंगे वत्य मल्ल जोए य । झावणवियावणेसु अ तिल्लविहाणे अ उज्जोए ।।

**वृ.** आतोद्यानि–पटहभेरीवंशवीणाझलयदिनि, काष्ठकर्म्म--प्रतिमास्तम्भद्वारशाखादि, गन्धाङ्गानि–बालकप्रियङ्गु–पत्रकदमनकत्वक्वन्दनोशीरदेवदार्वादीनि, वस्त्राणि–वल्कलकार्पासम---यादीनि, माल्ययोगा–नवमालिकाबकुलचम्पकपुत्रागाशोकमालतीविचाकिलादयः, ध्मापनं–दाहो भरमसात्करणमिन्धनैः, वितापनं–शीताभ्यर्द्दितस्य शीतापनयनाय काष्ठप्रज्वालनात्, तैलविधानं-तिलातसीसर्षपेङ्गुदीज्योतिष्मतीकरञ्जादिभिः, उद्योतो-वर्त्तितृणचूडाकाष्ठादिभिरिति ।। एवमेतान्युपभोगस्थानानि प्रतिपाद्य तदुपसञ्जिहीर्षराह --

नि. [9४८] एएहिं कारणेहिं हिंसंति वणस्सई बहू जीवे। सायं गवेसमाणा परस्स दुक्खं उदीरांति॥

**दृ.** 'एतैः' गाथाद्वयोपात्तैः 'कारणैः' प्रयोजनैः 'हिंसन्ति' व्यापादयन्ति प्रत्येकसाधारण-वनस्पतिजीवान् बहून् वनस्पतिसमारम्भिणः पुरुषाः, किंभूतास्त इति दर्शयति - 'सातं' सुखं तदन्वेषिणः 'परस्य' वनस्पत्याद्येकेन्द्रियादेः 'दुःखं' बाधामुत्पादयन्ति ॥ साम्प्रतं शस्त्रमुच्यते-तद्य द्विधा-द्रव्यभावभेदात्, द्रव्यशस्त्रमपि समासविभागभेदात् द्विधैव, तत्र समासद्रव्य-शस्त्राभिधित्सयाऽऽह—

नि. [१४९] कप्पणिकुहाणिअसियगदत्तियकुद्दालवासिपरसू अ।

सत्थं वणस्सईए हत्था पाया मुहं अग्गी ।।

**वृ.** कल्प्यप्ते-छिद्यते यया सा कल्पनी-शस्त्रविशेषः, कुठारी प्रसिद्धैव, असियगं-दात्रं, दात्रिका-प्रसिद्धा, कुद्दालकवासिपरशवश्च, एते वनस्पतेः शस्त्रं, तथा हस्तपादमुखाग्नयश्च इत्येतत्सा- मान्यशस्त्रमिति॥विभागशस्त्रभिधित्सयाऽऽह –

नि. [१५०] किंची सकायसत्यं किंची परकाय तदुभयं किंचि । एयं तु दव्वसत्यं भावे य असंजमो सत्यं ॥

वृ. किञ्चित् स्वकायशस्त्रं-लकुटादि किञ्चिच्च परकायशस्त्रं-पाषाणाग्न्यादि तथोभयशस्त्रं-दात्रदात्रिकाकुठारादि, एतद् द्रव्यशस्त्रं, भावशस्त्रं पुनरसंयमः दुष्प्रणिहितमनोवाक्वायलक्षण इति॥

सकलनिर्युक्तर्थपरिसमाप्तिप्रचिकटयिषयाऽऽह --

नि. [१५१] सेसाइं दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए | एवं वणस्सईए निज्जुत्ती कित्तिया एसा ॥

वृ. उक्तव्यतिरिक्तशेषाणि तान्येव द्वाराणि यानि पृथिव्यामभिहितानि ततस्तद्वारा-भिधानाद्वनस्पतौ निर्युक्तिः 'कीर्त्तिता' आवर्णितेति ।। साम्प्रतं सूत्रानुगमे अस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुद्यारणीयं, तच्चेदम– मू. (४०) तं नो करिस्सामि समुडाए, मत्ता मइणं, अमयं विदित्ता, तं जे नो करए, एसोवरए, एत्योवरए, एस अनगारेत्ति पवुद्यई ।

**वृ.** अस्य चानन्तपरम्परादिसूत्रैः सम्बन्धः प्राग्वद्वाच्यः, उक्तं प्राक् 'सातान्वेथिणो हि वनस्पतिजन्तूनां दुःखमुदीरयन्ति, ततश्च तन्मूलमेव दुःखगहने संसारसागरे भ्रम्यन्ति सत्त्वाः' इत्येवं विदितकटुकविपाकः समस्तवनस्पतिसत्त्वविषयविमर्दनिवृत्तिमात्यन्तिकीमात्मपिदर्शयन्नाह-'तत्' वनस्पतीनांदुःखमहं ध्ष्टप्रत्यपायो न करिष्ये, यदिवा तद्दुःखोत्पत्तिनिमित्तभूतं वनस्पतावारम्मं-छेदनभेदनादिरूपं नो करिष्ये मनोवाक्कार्यैः, तथाऽपरैर्न कारयिष्ये, तथा कुर्व्वतश्चान्यान्नानुमंस्ये, किं कृत्वेति दर्शयति-सर्वज्ञोपदिष्टमार्गानुसृत्या सम्यक् प्रव्नज्योत्थानेनोत्त्याय समुत्याय, प्रव्नज्यां प्रतिपद्येत्पर्थः, तदेवं वर्जितसकलसावद्यारम्भकलापः संस्तद्वनस्पतिदुःखं तदारम्भं वा नो करिष्या-भीति, अनेन च संयमक्रिया दर्शिता, न च क्रियात एव मोक्षावाप्तिः, किं तर्हि ?,

ज्ञानक्रियाभ्यां, तदुक्तम् –

II "नाणं किरियारहियं किरियामेत्तं य दोऽवि एगन्ता । नसमत्था दाउं जे जम्ममरणदुक्खदाहाइं ॥"

यत एवमतो विशिष्टमोक्षकारणमूतज्ञानप्रतिपिपादयिषयाऽऽह - 'मत्ता मइमं' मत्वा-ज्ञात्वा अवबुध्य यथावत् जीवान्, मतिरस्यास्तीति मतिमान् मतिमानेवोपदेशार्हो मवतीत्य-तस्तद्वारेणैवशिष्यामन्त्रणं हे मतिमान् ! प्रव्रज्यां प्रतिपद्य जीवादिपदार्थांश्व ज्ञात्वा मोक्षमवान्योतीति, सम्यग्ज्ञानपूर्विका हि क्रिया फलवतीति दर्शितं मवति । पुनरत्रैवाह-'अभयं विदित्ता' अविद्यमानं मयमस्मिन्सत्त्वानामित्यभयः-संयमः, स च सप्तदशविधानस्तं चाभयं-सर्वभूतपरिपालनात्मकं संसारसागरात्रिर्वाहकं विदित्वा वनस्पत्यारम्भात्रिवृत्तिर्विधेयेति । एतदेव दर्शयितुमाह - 'तं जे नो करए' इत्यादि, 'तं' वनस्पत्यारम्भां 'यो' विदित्ततदारम्भकटुकविपाकः नो कुर्यात्, तस्य प्रतिविशिष्टेष्टफलावाप्तिर्नान्यस्यान्धमूढ्या प्रवर्त्तमानस्य, अभिल्षित्तविप्रकृष्टस्यानप्राप्तिप्रवृत्ता-न्धक्रियाव्याधातवदिति मन्तव्यं, ज्ञानमपि क्रियाहीनंन मोक्षाय, गृहान्तर्वद्वमाननिनङ्सुपद्भुच्ह्याक्षुर्वा-नवदिति, एवं ज्ञात्वाऽम्युपेत्य च तत्परिहारः कर्त्तव्य इतिदर्शितं मवति । एवं यः सम्यग्ज्ञानपूर्विकां निवृत्तिं करोति स एव समस्तारम्भनिवृत्त इति दर्शयति –

'एसोवरए'ति एष एव सर्वस्मादारम्माहनस्पतिविषयादुपरतो यो यथावत् ज्ञात्वाऽऽरम्मं न करोतीति, स पुनरेवंविधनिवृत्तिमाक्विं शाक्यादिष्वपि सम्मवत्युतेहैव प्रवचन इति दर्शयति -'एत्थोवरए'ति एतस्मिन्नेव जैनेन्द्रे प्रवचने परमार्थत उपरतो नान्यत्र, यथाप्रतिज्ञातनि-रवद्यानुष्ठायित्वादुपरतव्यपदेशमाग् भवति न शेषाः शाक्यादयः, तद्विपरीतत्वाद्, एष एव च सम्पूर्णानगारव्यपदेशमश्चुते इति दर्शयति - 'एस अणगारेत्ति पवुद्यई' 'एषः' अतिक्रान्तसूत्रार्थव्य-वस्थितोऽविद्यमानागारोऽनगारः प्रकर्षेण उच्यते प्रोच्यते इति, किंकृतः प्रकर्षः ?, अनगारव्य-पदेशकारणभूतगुणकलापसम्भन्दकृतः प्रकर्षः, इतिशब्दोऽनगारव्यपदेश्-ाकारणपरिसमाप्तिद्योती, एतावदनगारलक्षणं नान्यदिति, ये पुनः प्रोज्झितपारमार्थिकानगारगुणाः शब्दादीचिषयानङ्गीकृत्य प्रवर्तन्ते तेतुनापेक्षन्ते वनस्पतीन् जीवान्, यतोभूयांसः शब्दादयो गुणा वनस्पतिभ्य एवनिष्पदन्ते, शब्दादिगुणेष्वेव वर्त्तमाना रागद्येषविषयनविषयिघूर्णमानलोल्लोचना नरकादिचतुर्विध-गत्यन्तःपातिनो बोद्धव्याः, तदन्तःपातिन एव च शब्दादिविष-याभिष्वङ्गिणो मवन्तीति ॥ अस्यार्थस्य प्रसिद्धये गतप्रत्यागतलक्षणमितरेतरावघारणफलं सूत्रमाह- मू. (४९) जे गुणे से आवट्टे जे आवट्टे से गुणे ।

**वृ.** यो 'गुणः' शब्दादिकः स आवर्त्तः, आवर्त्तन्ते-परिभ्रमन्ति प्राणिनो यत्र स आवर्त्तः-संसारः, इह च कारणमेव कार्यत्वेन व्यपदिश्यते यथा नड्वलोदकं पादरोगः, एवं य एते शब्दादयो गुणाः स आवर्त्तः, तत्कारणत्वात्, अयवैकवचनोपादानात्पुरुषोऽभिसम्बध्यते, यः शब्दादिगुणे वर्त्तते स आवर्त्ते वर्त्तते, यश्चावर्त्ते वर्त्तते स गुणे वर्त्तत इति, अत्र कश्चिद्योद्यच्छुराह-यो गुणेषु वर्त्तते स आवर्त्ते वर्त्तते, यश्चावर्त्ते वर्त्तते स गुणे वर्त्तत इति, अत्र कश्चिद्योद्यच्छुराह-यो गुणेषु वर्त्तते स आवर्त्ते वर्त्तत इति साधु, यः पुनरावर्त्ते वर्त्तते नासौ नियमत एव गुणेषु वर्त्तते, यस्पात्साघवो वर्त्तन्त आवर्त्ते न गुणेषु तदेतत्कथभिति, अत्रोच्यते, सत्यम्, आवर्त्ते यतयो वर्त्तन्ते न गुणेषु, किन्तु रागद्वेषपूर्वकं गुणेषु वर्ततन्मिहाधिक्रियते, तद्य साधूनां न सम्भवति, तदमावात्, आवर्त्तोऽपि संसरणरूपोदुःखात्मको न सम्भवति, सामान्यतस्तु संसारान्तःपातित्वंसामान्यशब्दादिगुणोपलब्धिश्च सम्भवत्येवातो नोपलब्धिः प्रतिषिघ्यते, रागपरिणामो द्वेषपरिणामो वा यस्तत्र स प्रतिषिघ्यते, तथा चोक्तम् – ''कण्णसोक्खेहिं सद्देहिं पेम्पं नाभिनिवेसए'' इत्यादि, तथा –

॥९॥ ''न शक्यं रूपमद्रष्टुं, चक्षुर्गोचरमागतम् । रागद्वेषौ तु यौ तत्र, तौ बुधः परिवर्जयेत् ॥''

कथं पूनर्गुणभूयस्त्वं वनस्पतिभ्यइति प्रदर्श्यते-वेणुवीणापटहमुकुन्दादीनामातोद्यविश्रेषाणां वनस्पतेरुत्पत्तिः, ततश्च मनोहराः शब्दा निष्पद्यन्ते, प्राधान्यमत्र वनस्पतेर्विवक्षितं, अन्यथा तु तन्त्रीचर्मपाण्यादिसंयोगाच्छब्दनिष्पत्तिरिति, रूपं पुनः काष्ठकर्मस्त्रीप्रतिमादिषु गृहतोरणवेदि-कास्तम्भादिषु च चक्षूरमणीयं, गन्धा अपि हि कर्पूरपाटलालवलीलवङ्गकेतकीसरस-<sup>-</sup>गदनागुरुक्कोलकेलाजातिफलपत्रिकाकेसरमांसीत्वक्पत्रादीनां सुरभयो गन्धेन्द्रियाह्यादकारिणः प्रादुर्भवन्ति, रसास्तु बिसमृणालमूलकन्दपुष्पफलपत्रकण्टकमञ्जरीत्वगङ्कुरकिसलया-रविन्दकेसरादीनां जिह्नेन्द्रियप्रह्लादिनो निष्पद्यन्ते अतिबहव इति, तथा स्पर्शाः पद्मिनीपत्रकमलद-लमृणालवल्कलदुकूलशाटकोपधानतूलिकप्रच्छादनपटादीनां स्पर्शनेन्द्रियसुखाः प्रादुष्वयन्ति, एवमेतेषु वनस्पतिनिष्पन्नेषु शब्दादिगुणेषु यो वर्त्तते स आवर्त्ते वर्त्तते, यश्च आवर्त्तवर्त्ती स गगदेषात्मकत्वात् गुणेषु वर्त्तत इति, स चावर्त्ती नामादिभेदाचतुर्द्धा, नामस्यापने क्षुण्णे, द्रव्यावर्त्तः खामित्वकरणाधिकरणेषु यथासम्मवं योज्यः, स्वामित्वे नद्यादीनां क्वय्वविभागे जलपरिभ्रमणं **द्रव्यस्यावर्त्तः, द्रव्याणां वा हंसकारण्डवचक्र**वाकादीनां व्योम्नि क्रीडतामावर्त्तनादावर्त्तः, करणे तुतेनैव जलद्रव्येण भ्रमता यदन्यदावर्त्तते तृणकलिञ्चादि स द्रव्येणार्व्तरः, तथा त्रपुसीसकलोहर-जतसुवर्णेरावर्त्त्यमानैर्यदन्यत्तदन्तःपात्यावर्त्यते सद्रव्यैरावर्त्तत इति, अधिकरणविवसायामेकस्मिन्, जलद्रव्ये आवर्त्तस्तथा रजतसुवर्णरीतिकात्रपुसीसकेष्वेकस्थीकृतेषु बहुषु द्रव्येष्वावर्त्तः, भावावर्त्तो नामान्योऽन्यमावसङ्कान्तिः, औदयिकभावोदयाद्वा नरकादिगतिचतुष्टयेऽसुमानावर्त्तते, इह च भावावर्त्तेनाधिकारो न शेषैरिति ।। अथ य एते गुणाः संसारावर्त्तकारणभूताः शब्दादयो वनस्पतेर-भिनिर्वृत्तास्ते किं नियतिदिग्देशभाजः उत्त सर्व्वदिक्षु इत्यत आह –

ूमू. (४२) उड्ढं अहं तिरियं पाईणं पासमाणे रूवाइं पासति, सुणमाणे सदाइं सुणेति, उड्ढं अहं पाईणं मुच्छमाणे रूवेसु मुच्छति, सद्देसु आवि ।

वृ. प्रज्ञापकदिगङ्गीकरणादूर्द्धवदिग्व्यवस्थितं रूपगुणं पश्यति प्रासादतलहम्यार्दिषु,

'अध'मित्यवाङ् अधस्तात् गिरिशिखरप्रासादाधिरूढोऽधोव्यवस्थितं रूपगुणंपश्यति, अधः शब्दार्थे अवाङित्ययं वर्त्तते, गृहभित्त्यादिव्यवस्थितं रूपगुणं तिर्यद् पश्यति, तिर्यवशब्देन चात्र दिशोऽ-नुदिशश्च परिगृह्यन्ते, ताश्चेमाः- 'प्राचीन'मिति पूर्वा दिग्, एतच्चोपलक्षणम् अन्या अप्येतदाद्यास्ति-यंग्दिशो द्रष्टव्या इति, एतासु दिक्षु पश्यन्, चक्षुर्ज्ञानपरिणतो रूपादिद्रव्याणि चक्षुर्ग्राह्यतया परिणतानि पश्यति-उपलभत इत्यर्थः, तथा तासु च शृण्वन् शृणोति शब्दानुपयुक्तः श्रोत्रेण नान्यथेति ॥ अत्रोपलब्धिमात्रं प्रतिपादितं न चोपलब्धिमात्रात्संसारप्रपातः, किन्तु यदि मूर्च्छा रूपादिषु करोति, ततोऽस्य बन्ध इति दर्शयितुमाह - 'उड्ढ'मित्यादि पुनरुर्ध्वावावदेर्मूर्छासम्बन्न धानर्थमुपादानं, मूर्छन् रूपेषु मूर्छति, रागपरिणामं यान् रज्यते रूपादिष्वित्यर्थः, एवं शब्देष्वपि मूर्छति, अपिशब्दः सम्भावनायां समुच्चये वा, रूपशब्दविषयग्रहणाद्य शेषा अपि गन्धरसस्पर्शा गृहीता भवन्ति, 'एकग्रहणे तज्जातीयानां ग्रहणाद्, आद्यन्तग्रहणाद्य तन्मध्यग्रहणमवसेयमिति ॥

एवं विषयलोकमाख्याय विवक्षितमाह –

मू. (४३) एस लोए वियाहिए एत्थ अगुत्ते अणाणाए ।

**वृ**. 'एष' इति रूपरसगन्धस्पर्शशब्दविषयाख्यो लोको व्याख्यात;, लोक्यतेपरिच्छिद्यते इतिकृत्वा, एतस्मिश्च प्रस्तुते शब्दादिगुणलोकेऽगुप्तो यो मनोवाक्कायैः मनसा द्वेष्टि रज्यते वा याचा प्रार्थनं शब्दादीनां करोति कायेन शब्दादिविषयदेशमभिसर्पति, एवं यो ह्वगुप्तो भवति सोऽनाज्ञायां वर्त्तते, न भगवस्रणीतवचनानुसारीतियावदिति ॥ एवं-गुणश्च यत्सुर्यात्तदाह --

मू. (४४) पुणो पुणो गुणासाए वंकसमायारे ।

**वृ**. ततश्चाँसावकृच्छब्दादिगुणलुब्धो न शक्नोत्यात्मानं शब्दादिगृद्धेर्निवर्त्तयितुम्, अनिवर्त्तमानश्च पुनः पुनर्गुणास्वादो भवति, क्रियासातत्येन शब्दादिगुणानास्वादयतीत्यर्थः, तथा घ यादृशो भवतितद्दर्शयति-वक्रः-असंयमः कुटिलो नरकादिगत्याभिमुख्यप्रवणत्वात्, समाचरणं समाचारः- अनुष्ठानं, वक्रः समाचारो यस्यासौ वक्र समाचारः, असंयमानुष्ठायीत्यर्थः, अवश्यमेव शब्दादिविषयाभिलाषी भूतोपमर्द्दकारीत्यतो वक्र समाचारः, प्राक् शब्दादिविषयल वसमास्वा-दनाद्गृद्धः पुनरात्मानमाचारयितुमसमर्थत्वादपथअयाम्रफलभोजिराज्वदिनाशमाशु संश्रयत इति ॥

एवं चासौ नितरां जितः शब्दादिविषयसमास्वादनात् 'खंतपुत्तोव्व' इदमाचरति -

मू. (४५) पमत्तेऽगारमावसे।

वृ. प्रमत्तो विषयविषमूर्छितः 'अगारं' गृहमावसति, योऽपि द्रव्यलिङ्गसमन्वितः शब्दादिविषयप्रमादवान् असावपि विरतिरूपभावलिङ्गरहितत्वात् गृहस्य एवेति।। अन्यतीर्थिकाः पुनः सर्वदा सर्वथाऽन्यथावादिनोऽन्यथाकारिण इति दर्शयितुमाह -

मू. (४६) लञ्जमाणा पुढो पास, अणगारा मोत्ति एगे पवदमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइकम्पसमारंभेणं वणस्सइसत्थं समारभमाणा अन्ने अनेगरूवे पाणे विहिसंति, तत्थ खलु भगवया परिण्णा पवेदिता, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जातीमरणमोयणाएदुक्खपडिधायहेउं से सयमेव वणस्सइसत्थं समारंभइ अन्नेहिंवा वणस्सइसत्यं समारंभावेइ अन्ने वा वणस्सइसत्थं समारभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए तं से अबोहीए, से तंसंबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्टाए सोद्या भगवओ अनगाराणं वा अंतिए इहमेगेसिं नायं भवति-एस खलु गंथे एस खलु मोहे एस खलु मारे एस खलु नरए, इच्चत्थं गड्ढिए लोए, जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं वणस्सइकम्पसमारंभेणं वणस्सइसत्थं समारंभमाणे अन्ने अनेगरूवे पाणे विहिंसंति ।

षु. प्राग्वत् ज्ञेयं, नवरं वनस्पत्यालापो विधेय इति ।। साम्प्रतं वनस्पतिजीवास्तित्वे लिङ्गमाह

मू. (४७) से बेमि इमंपि जाइधम्मयं एयंपि जाइधम्मयं इमंपि वुङ्ढिधम्मयं एयंपि वुङ्ढिधम्मयं इमंपि चित्तमंतयं एयंपि चित्तमंतयं इमंपि छिण्णं मिलाइ एयंपि छिण्णं मिलाइ इमंपि आहारगं एयंपिआहारगं इमंपि अणिच्चयं एयंपि अणिच्चयं इमंपि असासयं एयंपि असासयं इमंपि चओवचइयं एयंपि चओवचइयं इमंपि विपरिणामधम्मयं एयंपि विपरिणामधम्मयं ।

**वृ.** सोऽहमुपलब्धतत्त्वो व्रवीमि, अधवा वनस्पतिचैतन्यं प्रत्यक्षप्रमाणसमधिगम्यमानस्वरूपं यत्तदहं व्रवीमि, यथाप्रतिज्ञातमार्थं दर्शयति – 'इमंपि जाइधम्मयं'ति इहोपदेशदानाय सूत्रारम्भस्तद्योग्यश्च पुरुषो भवत्यतस्यस्य सामध्येर्न सत्रिहितत्वात्तच्छरीरं प्रत्यक्षासन्नवाचिनेदमा परामृशति, इदमपि-मनुष्य्यशरीरं, जननं-जातिरुत्पत्तिस्तद्धर्मकम्, एतदपि वनस्पतिशरीरं तद्धर्मकं-तत्त्वभावमेव, इतिपूर्वकोऽपिशब्दः सर्वत्र यथाशव्दार्थे द्वितीयस्तु समुच्चये व्याख्येयः, ततश्चायमर्थः-यथा मनुष्यशरीरं वालकुमारयुववृद्धतापरिणामविशेषवत्, चेतनावत्सदाधिष्ठितं प्रस्पष्टचेतना- कमुपलभ्यते, तथेदमपि वनस्पतिशरीरं, यत्तो जातः केतकतरुर्वालको युवा वृद्धश्च संवृत्तइति, अतस्तुल्पत्वादेतदपि, जातिधर्मकं, न च कश्चिद्विशेषोऽस्ति, येन सत्यपि जातिधर्मत्वे मनुष्यादिशरीरमेव सचेतनं न वनस्पतिशरीरमिति, ननु च जातिधर्मत्वं केशनखदन्तादिष्वप्यस्ति, अव्यभिचारि च लक्षणं भवत्यस्ति च व्यभिचारः तस्मादयुक्तं कल्पयितुं जातिधर्मत्वं जीवलिङ्गमिति, उच्यते, सत्यमस्ति जननमात्रं, किन्तु मनुष्यशरीरप्रसिद्धवालकुमारकाद्यवस्थानामसम्भवः केशादिष्यस्ति स्फुटः, तस्मादवसमञ्जसमेतद्, अपि च-केशनखं चेतनावत्पदार्थाधिष्ठितशरीरस्थं जातमित्युच्यते, वर्द्धते इति वा, न पुनस्त्वयैवं तरवोऽपि चेतनावत्पदार्थाधारस्था इष्यन्ते, त्वन्मते भुवोऽघेतनत्वात्तरमादयुक्तिमिति । अथवा जातिधर्मत्वादीनि समुदितानि सूत्रोक्तान्येक एव हेतुः, न पृथक् हेतुता, न च समुदायहेतुः केशादिष्वस्ति तत्साददोष इति ।

तथा यथेदं मनुष्यशरीरकमनवरतं वालकुमाराद्यवस्थाविशेषैर्वर्द्धते, तथैतदपि वनस्पतिशरीरमङकुरकिशलयशाखाप्रशाखादिभिर्विशेषैर्वर्द्धत इति, तथा यथेदं मनुष्यशरीरं वितवदेवं वनस्पतिशरीरमपि चित्तवत्, कथम् ?, चेतयति येन तचितं-ज्ञानं, ततश्च यथा मनुष्यशरीरं द्यातवदेवं वनस्पतिशरीरमपि चित्तवत्, कथम् ?, चेतयति येन तचितं-ज्ञानं, ततश्च यथा मनुष्यशरीरं द्यानेवागतमेवं वनस्पतिशरीरमपि, यतो धान्नीप्रपुन्नाटादीनां स्वापविबोधसद्भावः तथाऽ-धोनिखातद्रविणराशेः स्वप्ररोहेणावेष्टनं प्रावृङ्जलधरनिनादशिशिरवायुसंस्पर्शादङकुरोद्भेदः, तथा मदमदनसङ्गस्खलद्गतिविधूर्णमानलोललोचनविला सिनीसन्नपुरसुकुमारचरणताडना-दशोकतरोः पल्लवकुसुमोद्गमः, तथा सुभिसुरागण्डुषसेकाद्वकुलस्य स्पृष्टप्ररोहिकादीनां च हस्तादिसंस्पर्शात्सङ्कोचादिका परिस्फुटा क्रियापलब्धिः, न चैतदभिहिततरुसम्वन्धि क्रियाजालं ज्ञानमन्तरेण घटते तस्मासिद्धं चित्तवत्त्वं वनस्पतेः इति । तथा यथेदं छिन्नं ग्लायति तथैतदपि छिन्नं लायति, मनुष्यशरीरहिहस्तादिछिन्नं ग्लायति-शुष्यति, तथा तरुशरी रमपिपल्लवफलकुसुमादि छिन्नं शोषमुपगच्छत् ६ष्टं, न चाचेतनानामयं धर्म्म इति । तथा यथेदं मनुष्यशरीरं स्तनक्षीर व्यअनौदनाद्याहाराभ्यवहारादाहारकं तथैतदपि वनस्पतिशरीरं भूजलाद्याहाराभ्यवहारकं, न चैतदाहारकत्वमचेतनानां ६ष्ट्रम्, अतस्तद्भावात्सचेतनत्वमिति। तथा यथेदं मनुष्यशरीरमनित्यकं-न सर्वदाऽवस्थायि तथैतदपि वनस्पतिशरीरमनित्यं नियतायुष्कत्वात्, तथाहि- अस्य दश वर्षसहस्राणि उत्कृष्टमायुः।

तथा यथेदं मनुष्यशरीरमशाश्वतं-प्रतिक्षणमावीचीमरणेन मरणात् तथैतदपि वनस्पतिशरीरमिति।तथा यथेदमिष्टानिष्टाहारादिप्राप्तया 'चयापचयिकं' वृद्धिहान्यात्मकं तथैतदपि इति । तथा यथेदं मनुष्यशरीरं विविधपरिणामः-तत्तद्रोगसम्पर्कात् पाण्डुत्वोदरवृद्धि-शोफक्ट शत्वाङ्गुलि – मासिकाप्रवेशादिरूपो बालादिरूपो वा, तथा रसायनस्नेहाद्युप-योगाद्विशिष्टकान्तिबलोपचयादिरूपोविपरिणामः तद्धर्म्पकं-तत्स्वभावकं तथैतदपि वनस्पतिशरीरं तथाविधरोगोद्भवात्पुष्प- पत्रफलत्वगाद्यन्यथाभवनात् तथा विशिष्टदौह्रदप्रदानेन पुष्पफलाद्युपचयाद्विपरिणामधर्मकम् । एवमनन्तरोक्तधर्मकलापसद्भावादसंशयं गृहाणैतत् -सचेतनास्तरव इति ॥ एवं वनस्पतेश्वेतन्यं प्रदर्श्य तदारम्भे बन्धं तत्परिहाररूपविरत्यासेवनेन च मुनित्वं प्रतिपादयन्नुपसञ्जिहीर्षुराह –

मू. (४८) एत्य सत्यं समारभमाणस्स इद्येते आरंभा अपरिण्णाता भवंति, एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इद्येते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं वणस्सइसत्थं समारंभेज्ञा नेवन्नेहिं वणस्सइसत्थं समारंभाज्ञा नेवन्ने वणस्सइसत्थं समारंभंते समणुजाणेज्ञा, जस्सेते वणस्सतिसत्थसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्भे त्ति बेभि ॥

ृष्ट्, 'एतस्मिन्' वनस्पतौ शस्त्रं द्रव्यभावाख्यमारभमाणस्येत्येते आरम्भा अपरिज्ञाता-अप्रत्याख्याता भवन्ति, एतस्मिश्च वनस्पतौ शस्त्रमसमारभमाणस्येत्येते आरम्भाः परिज्ञाताः-प्रत्याख्याता भवन्तितपूर्ववद्यर्चः, यावत् स एव मुनिः परिज्ञातकर्मेति व्रवीमि पूर्व्यवदिति । अध्ययनं-१, उद्देशकः-५, समाप्तः

-: अध्ययन-१, उद्देशकः-६ :-

उक्तः पश्चमोद्देशकः, साम्प्रतं षष्ठः समारभ्यते-अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके वनस्पतिकायः प्रतिपादितः, तदनन्तरं च त्रसकायस्यागमे परिपठितत्वात् तत्स्वरूपाधिगमायाय-मुद्देशकः समारभ्यते, तस्य चोपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि वाच्यानि, यावत्रामनिष्पन्ने निक्षेपे त्रसकायोद्देशकः, तत्र त्रसकायस्य पूर्व्वप्रसिद्धद्वारक्रमातिदेशाय तद्विभिन्नलक्षणद्वाराभिधानाय च निर्युक्तिकृदाह –

नि. [१५२]

# तसकाए दाराई ताई जाई हवंति पुढवीए । नाणत्ती उ विहाणे परिमाणुवभोगसत्थे य ।।

**वृ.** त्रस्यन्तीति त्रसास्तेषां कायस्त्रसकायस्तस्मिंस्तान्येव द्वाराणि भवन्ति यानि पृथिव्यां प्रतिपादितानि, नानात्वं तु विधानपरिमाणोपभोगशस्त्रद्वारेषु, चशब्दाल्लक्षणे च प्रतिपत्तव्यमिति तत्र विधानद्वारमाइ –

नि. [१५३] दुविहा खलु तसजीवा लढितसा चेव गइतसा चेव । लद्धीय तेउवाऊ तेणऽहिगारो इहं नस्थि ॥ वृ. 'द्विविधा' द्विभेदाःं, खलुरवधारणे, त्रसत्वं प्रति द्विभेदत्वमेव, त्रसनात्-स्पन्दनात् त्रसाः, जीवनात्राणधारणाञ्जीवाः, त्रसा एव जीवास्त्रसजीवाः, लब्धित्रसा गतित्रसाश्च, लब्ध्या तेजोवायू त्रसौ, लब्धिस्तच्छक्तिमात्रं, लब्धित्रसाभ्यामिहाधिकारो नास्ति, तेजसोऽभिहितत्वा-द्वायोश्चा---भिधास्यमानत्वाद्, अतः सामध्यार्दगतित्रसा एवाधिक्रियन्ते ॥

के पुनस्ते कियद्भेदा वेत्यत आह-

### नि. [१५४] नेरइयतिरियमणुया सुरा य गइओ चउच्चिहा चेव। पञ्चत्ताऽपञ्चत्ता नेरइयाई अ नायव्वा ॥

नारका-रत्नप्रभादिमहातमःपृथ्वीपर्यन्तनरकावासिनः सप्तभेदाः, तिर्यञ्चोऽपि द्वित्रिचतुष्पञ्चेन्द्रियाः, मनुष्याः सम्मूर्छनजाः गर्ब्सव्युत्कान्तयश्च, सुरा भवनपतिव्यन्तर-ज्योतिष्कवैमानिकाः, एते गतित्रसाश्चतुर्विधाः, नामकर्मोदयाभिनिर्वृत्तगतिलाभाद्गतित्रसत्वम्, एते च नारकादयः पर्याप्तापर्याप्तभेदेन द्विविधा ज्ञातव्याः, तत्र पर्याप्तिः पूर्वोक्तैव षोढा, तया यथासम्भवं निष्पन्नाः पर्याप्ताः, तद्विपरीतास्त्वपर्याप्तका अन्तर्मुहुर्त्तकालमिति॥इदानीमुत्तरभेदानाह

नि. [९५५] तिविहा तिविहा जोणी अंडापोअअजराउआ चेव।

बेइंदिय तेइन्दिय चउरो पंचिंदिया चेव ।। दारं ।।

**व्र.** अत्र हिशीतोष्णमिश्रभेदात्तथा सचिताचित्तमिश्रभेदात्तथा संवृतविवृततदुभयभेदात्तथा स्त्रीपुंनपुंसकभेदाचेत्यादीनि बहूनि योनीनां त्रिकाणि सम्भवन्ति, तेषां सर्वेषां सङ्ग्रहार्थं त्रिविधा त्रिविधेति वीप्सानिर्देशः, तत्र मारकाणामाद्यासु तिसृषु भूमिषु शीतैव योनिः चतुर्थ्यामुपरितननरकेषु शीता अघस्तननरकेषूष्णा पश्चमीषष्ठीसप्तमीषूष्णैव नेतरे, गर्ब्सव्युक्रान्तिकतिर्यङ्मनूष्या-णामशेषदेवानां च शीतोष्णा योनिर्नेतरे, द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियसंमूर्छनजतिर्यङ्मनुष्याणां त्रिविधाऽपि योनिः शीता उष्णा शीतोष्णा चेति, तथा नारकदेवानामचित्ता नेतरे, द्वीन्द्रियादिसम्पूर्छनजपञ्चेन्द्रिय-तिर्यङ्गनुष्याणां त्रिविधाऽपि योनिः सचित्ताचित्ता मिश्रा च, गर्भव्युक्रान्तिकतिर्यङ्गनुष्याणां मिश्रा योनिर्नेतरे, तथा देवनारकाणां संवृता योनिर्नेतरे, द्वित्रिचतुरिन्द्रियसम्पूर्छनजप-श्चेन्द्रियतिर्यङ्गनुष्या-णां विवृता योनिर्नेतरे, गर्भव्युक्रान्तिकतिर्यग्मनुष्याणां संवृतविवृता योनिर्नेतरे, तथा नारका नपुंसकयोनेय एव, तिर्यञ्चस्त्रिविधाः-स्त्रीपुंनपूंसकयोनयोऽपि, मनुष्या अप्येवं त्रैविध्यभाजः, देवाः स्त्री<u>प</u>ुंयोनय एव, तथाऽपरं मनुष्ययोनेस्त्रैविध्यं, तद्यथा-कूर्मोन्नता, तस्यां चाईत् चक्र वर्त्त्या दिसत्पुरुषोणामुत्पत्तिः, तथा शङखावर्त्ता, सा च स्त्रीरलस्थैव, तस्यां च प्राणिनां सम्भवोऽस्ति न निष्पत्तिः, तथा वंशीपत्रा, साच प्राकृतजनस्येति, तथाऽपरं त्रैविध्यं निर्युक्तिकृद्दर्शयति-तद्यथा-अण्डजाः पोतजाः जरायुजाश्चेति, तत्राण्डजाः पक्ष्यादयः, पोतजाः वल्गुलीगजकलभकादयः, जरायुजा गोमहिषीमनुष्यादयः, तथा द्वित्रिचतुःपश्चेन्द्रियमेदाच्च भिद्यन्ते, एवमेते त्रसास्त्रिविध-योन्यादिभेदेन प्ररूपिताः, एतद्योनिसङग्राहिण्यौ च गाथे --

| 11911 | 'पुढविदगअगणिमारुयपत्तेयनिओयजीवजोणीणं ।      |
|-------|---|
|       | सत्तग सत्तग सत्तग सत्तग दस चोद्दस य लक्खा ॥ |
| 11211 | विगलिंदिएसु दो दो चउरो चउरो य नारयसुरेसु ।  |
|       | तिरियाण होन्ति चउरो चोद्दस मणुआण लक्खाई ॥'  |

|       | –एवमेते चतुरशीतियोनिलक्षा भवन्ति, तथा कुलपरिमाणं– |
|-------|---|
| 11911 | 'कुलकोडिसयसहस्सा बत्तीसइनव य पणवीसा ।             |
|       | एगिंदियबितिइंदियचउरिंदियहरियकायाणं ॥              |
| ારા   | अद्धत्तेरस बारस दस दस नव चेव कोडिलक्खाइं ।        |
|       | जलयरपक्खिचउप्पयउरभुयपरिसप्पजीवाणं ॥               |
| lişli | पणुवीसं छव्वीसं च सयसहस्साइं नारयसुराणं ।         |
|       | बारस य सयसहस्सा कुलकोडीणं मणुस्साणं ॥             |
| ાાશા  | एगा कोडाकोडी सत्तानउतिं च सयसंहरसाइं।             |
|       | पञ्चासं च सहस्सा कुलकोडीणं मुणेयव्वा ॥            |

अङ्कतोऽपि १९७५००००००००० सकलकुलसङग्रहोऽयं बोद्धव्य इति ॥ उक्तां प्ररूपणा, तदनन्तरं लक्षणद्वारमाह—

नि. [१५६] दंसणनाणचरित्ते चरियाचरिए अ दानलाभे अ। उवभोगभोगवीरिय इंदियाविसए य लद्धी य।।

नि. [१५७]उवओगजोगअज्झवसाणे वीसुं च लच्छि ओदड़या(णं उदया) । अहविहोदय लेसा सञ्चसासे कसाए अ॥

**q**. 'दर्शन' सामान्योपलब्धिरूपं चक्षुरचक्षुरवधिकेवलाख्यं, मत्यादीनि ज्ञानानि स्वपरपरिच्छेदिनो जीवस्य परिणामाः ज्ञानावरणविगमव्यक्तास्तत्त्वार्थपरिच्छेदाः, सामायिक च्छेदोपस्थाप्यपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्पराययथाख्यातानि चारित्रं, चारित्राचारित्रं देशविरतिः स्थूलप्राणातिपातादिनिवृत्तिलक्षणं श्रावकाणां, तथा दानलाभभोगोपभोगवीर्यश्रोत्रचक्षुर्ध्राणरसन-स्पर्शनाख्याः दश लब्धयः जीवद्रव्याव्यभिचारिण्यो लक्षणं भवन्ति, तथोपयोगः-साकारोऽना-कारश्चाष्टचतुर्भेदः, योगो मनोवाकायाख्यस्त्रिधा, अध्यवसायाश्चानेकविधाः सूक्ष्माः मनःपरिणा-मसमुत्थाः, विष्वग्-पृथय् लब्धीनामुदयाः-प्रादुर्भावाः क्षीरमध्वाम्रवादयः, ज्ञानावरणाद्यन्तरायाव-सानकर्माष्टकस्य स्वशक्तिपरिणाम उदयः, लेश्याः-कृष्णादिभेदा अशुभाः शुभाश्च कषाययोग-परिणामविशेषसमुत्याः, संज्ञास्त्वाहारभयपरिग्रहमैयुनाख्याः, अथवादशभेदाः-अनन्तरोक्ताश्चतः क्रोधाद्याश्च चतस्रस्तयौधसंज्ञा लोकसंज्ञा च, उच्छ्वासनिःश्वासौ प्राणापानौ, कषायाः कषः-संसार- स्तस्यायाः क्रोधादयोऽनन्तानुबन्ध्यादिभेदात् षोडशविधाः । एतानि गाथाद्वयोपन्यस्तानि द्वीन्द्रिया- दीनां लक्षणानि यथासम्भवसवगन्तव्यानीति, न चैवंविधलक्षणकलापसमुच्चयो घटादिष्यस्ति, तस्मात्तत्राचैतन्यमध्यवर्यन्ति विद्वांसः ॥

अभिहितलक्षणकलापोपसञ्जिहीर्षया तथा परिमाण- प्रतिपादनार्थं गाथामाह –

नि. [१५८] लक्खणमेवं चेव उ पयरस्स असंखभागमित्ता उ । निक्खमणे य पवेसे एगाईयावि एमेव ॥

ृष्ट्, तुशब्दः पर्याप्तिवचनः, द्वीन्द्रियादिजीवानां लक्षणं-लिङ्गमेतावदेव दर्शनादि परिपूर्णं, नातोऽन्यदधिकमस्तीति। परिमाणंपुनः क्षेत्रतः संवर्त्तितलोकप्रतरासद्धयेयभागवर्त्तिप्रदेशराशिपरि-माणासकायपर्याप्तकाः, एते च बादरतेजस्कायपर्याप्तकेभ्योऽसद्धयेयगुणाः, त्रसकायपर्याप्तकेभ्यस- कायिकापर्याप्तकाः असद्धयेयगुणाः, तथा कालतः प्रत्युत्पन्नत्रसकायिकाः सागरोपमलक्षणपृथ-क्त्वसमयराशिपरिमाणा जघन्यपदे, उत्कृष्टपदेऽपि सागरोपमलक्षपृथक्त्वपरिमाणा एवेति, तथा चागमः-"पडुप्पन्नतसकाइया केवतिकालस्स निष्ठेवा सिया ?, गोयमा ! जहन्नपए सागरोव-मसयसहस्सपुहुत्तस्स उक्कोसपदेऽवि सागरोवमसयसहस्सपुहुत्तस्स" । उद्वर्त्तनोपपातौ गाथा-शकलेनाभिदधाति-निष्क्रमणम्-उद्वर्त्तनं प्रवेशः- उपपातः जघन्येनैको द्वौ त्रयो वा उत्कृष्टतस्तु 'एवमेते'ति प्रतरस्यासद्धयेयमागप्रदेशपरिमाणा एवेत्वर्थः ।।

साम्प्रतमविरहितप्रवेशनिर्गमान्यां परिमाणविशेषमाह --

नि. [१५९] निक्खमपवेसकालो समयाई इत्य आवलीभागो । अंतोमुहुत्तऽविरहो उदहिसहस्साहिए दोन्नि ।। दारं ।।

ष्ट्र. जघन्येन अविरहिता संतता त्रसेषु उत्पत्तिर्निष्क्रमो वा जीवानामेकं समयं द्वौत्रीन् वेत्यादि, उत्कृष्टेनात्रावलिकाऽसङ्घयेयभागमात्रं कालं सततमेव निष्क्रमः प्रवेशोवा, एकजीवाङ्गी-करणेनाविरहश्चिन्त्यते गाथापश्चिमार्द्धेन-अविरहः सातत्येनावस्थानम्, एकजीवो हि त्रसभावेन जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्तमासित्वा पुनः पृथिव्याद्येकेन्द्रियषूत्पद्यतेप्रकर्षेणाधिकं सागरोपमसहस्रयं च त्रसभावेनावतिष्ठते सन्ततमिति ॥ उक्तं प्रमाणद्वारं,

साम्प्रतमुपभोगशश्त्रवेदनाद्वारत्रयप्रतिपा- दनायाह –

नि. [१६०] मंसाईपरिभोगो सत्थं सत्थाइयं अणेगविहं ! सारीरमाणसा वेयणा य दुविहा बहुविहा य ।। दारं ।।

मृ. मांसचर्मकेशरोमनखपिच्छदन्तस्नाय्वस्थिविषाणादिभिसजीवसम्बन्धिभिरूपभोगो भवति, शस्त्रंर पुनः 'शस्त्रादिकमिति' (शस्त्रं) खङ्गतोमरक्षुरिकादि तदादिर्यस्य जलानलादेस्त-च्छादिकमनेकविधं-स्वकायपरकायोभयद्रव्यभावभेदभिन्नमनेकप्रकारं त्रसकायस्येति, वेदना चात्र प्रसङ्गेनोच्यते-सा च शरीरसमुत्था भनःसमुत्था च द्विधा यथासम्भवं तत्राद्या शल्यशलाकादि-भेदजनिता, इतरा प्रियविप्रयोगाप्रियसम्प्रयोगादिकृता, बहुविधा च ज्वरातीसारकासश्वास-भगन्दरशिरोरोगशूलगुदकीलकादिसमुत्था तीव्रेति ॥ पुनय्भुपभोगप्रपञ्चाभिधित्सयाऽऽह –

| नि. [१६१] | मंसरस केइ अहा केइ चम्मरस केइ रोमाणं।              |
|-----------|---|
|           | पिच्छाणं पुच्छाणं दंताणऽड्ठा वहिज्ञंति <b>।</b> । |
| नि. [१६२] | केई वहंति अड्डा केइ अणड्डा पसंगदोसेणं ।           |
|           | कम्मपसंगपसत्ता बंघति वहंति मारंति ॥               |

**वृ.**मांसार्थं मृगशूरकादयो चध्यन्ते, चर्मार्थं चित्रकादयः, रोमार्थं मूषिइकादयः, पिच्छार्थं मयूरगृद्धकपिञ्चरुदुकादयः पुच्छार्थं चमर्यादयः, दन्तार्थं वारणवराहादयः वध्यन्त इति सर्वत्र सम्बध्यते इति ॥ तत्र केचन पूर्वोक्तप्रयोजनमुद्दिश्यघ्नन्ति, केचित्तु, प्रयोजनमन्तरेणापि क्रीडया घ्नान्ति, तथा परे प्रसङ्गदोषात् मृगलक्षक्षिप्तेषुलेलुकादिना तदन्तरालव्यवस्थिता अनेके कपोतक-पिञ्जलशुकसारिकादयो हन्यन्ते, तथा कर्म-कृष्याद्यनेकप्रकारं तस्य प्रसङ्गः-अनुष्ठानं तत्र प्रसक्ताः-सन्निष्ठाः सन्तसकायिकान्, बहून् बघ्नन्ति रज्ञ्वादिना, घ्नन्ति-कशलकुटादिभिः ताडयन्ति, मारयन्ति-प्राणैर्वियोजयन्तीति ॥ एवं विधानादिद्वारकलापमुपवर्ण्य सकलनिर्युक्त्यर्थोपसंहारायाह –

## सेसाइं दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए । एवं तसकायंमी निञ्जुत्ती कित्तिया एसा ॥

**वृ.** उक्तव्यतिरिक्तानि शेषाणि द्वाराणि तान्येव वाच्यानि यानि पृथ्वीस्वरूपसमधिगमे निरुपितानि, अत एवमशेषद्वाराभिधानात्रसकाये निर्युक्तिः कीर्त्तिषा सकला भवतीत्यवगन्तव्येति साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम् –

मू. (४९) से बेमि संतिमे तसा पाणा, तंजहा-अंड्या पोयया जराउआ रसया संसेयया संमुच्छिमा उब्भियया उववाइया, एस संसारेत्ति पवुद्यई।

व. अस्य चानन्तरपरम्परादिसूत्रसम्बन्धः प्राग्वद्वाच्यः, सोऽहं व्रवीभि येन मया भग-वद्वदनारविन्दविनिसृतार्थजातावधारणात् यथावदुपलब्धं तत्त्वमिति, 'सन्ति' विद्यन्ते त्रस्यन्तीति त्रसाः-प्राणिनो द्वीन्द्रियादयः, ते च कियदुभेदाः किंप्रकाराश्चेति दर्शयति - 'तद्यथे'ति वाक्यो-पन्यासार्थः, यदिवा 'तत्' प्रकारान्तरमर्थतो यथा भगवताऽभिहित्तं तथाऽहं मणाआमीति, अण्डा-ज्ञाताः अम्डजाः–पक्षिगृहकोकिलादयः, पोता एव जायन्ते पोतजाः 'अन्येष्वपि दृश्यते इति जनेर्डप्रत्ययः, ते च हस्तिवल्गुलीचर्मजलूकादयः, जरायुवेष्टिता जायन्त इति जरायुजाः, पूर्व वत् डप्रत्ययः, गोमहिष्यजाविकमनुष्यादयः, रसाजाता रसजाः-तकारनालदधितीमनादिषु पायुक्रम्पा-कृतयोऽतिसूक्ष्माभवन्ति, संस्वेदाजाताः संस्वेदजाः-मत्कुणयूकाशतपदिकादयः, सम्पूर्छनाजाताः सम्पूर्छनजाः-शलभपिपीलिकामक्षिकाशालिकादयः, उद्भेदनमुद्भित्ततो जाता उद्भिजाः, पृषोद-रादित्वाद्दलोपः, पतङ्गखञ्जरीटपारीप्लवादयः, उपपाताज्ञाता उपपातजाः, अथवा उपपाते भवा औपपातिकाः-देवा नारकाश्च, एवमष्टविधं जन्म यथासम्भवं संसारिणो नातिवर्तन्ते, एतदेव शास्त्रान्तरे त्रिविधमुपन्यस्तं ''सम्पूर्छनगर्भोपपाता जन्म'' रसस्वेदजोद्भिज्ञानां सम्पूर्छनजान्तः पातित्वात् अण्डजपोतजजरायुजानां गर्भजान्तः पातित्वात् देवनारकाणामौपपातिकान्तः पातित्वात् इति त्रिविधं जन्मेति, इह चाष्टविधं सोत्तरभेदत्वादिति । एवमेतस्मिन्नष्टविधे जन्मनि सर्वे त्रसजन्तवः संसारिणो निपतन्ति, नैतद्वयतिरेकेणान्ये सन्ति, एते चाष्टविधयोनिभाजोऽपि सर्वलोकप्रतीता बालाङ्गनादिजनप्रत्यक्षप्रमाणसमधिगम्याः. 'सन्तिच' अनेन शब्देन त्रैकालिकमस्तित्वं प्रतिपाद्यते त्रसानां, न कदाचिदेतैर्विरहितः संसारः सम्भवतीति, एतदेव दर्शयति - 'एस संसारोत्ति पवुच्चति' एषः-अम्डजादिप्राणिकलापः संसारः प्रोच्यते, नातोऽन्यस्त्रसानामुत्यत्तिप्रकारोऽस्तीत्युक्तं भवति

कस्य पुनरत्राष्टविधभूतग्रामे उत्पत्तिर्भवतीत्याह –

मू. (५०) मंदस्सावियाणओ ।

**वृ.** मन्दो द्विधा-द्रव्यभावभेदात्, तत्र द्रव्यमन्दोऽतिस्थूलोऽतिकृशो वा, भावमन्दोऽप्य-नुपचितबुद्धिर्बालः कुशास्त्रवासितबुद्धिर्वा, अयमपि सद्धुद्धेरभावाद्वाल एव, इह भावमन्देनाधिकारः, 'मन्दस्थे'ति बालस्याविशिष्टबुद्धेः अत एव अविजानतहिताहितप्राप्तिपरिहारशून्यमनसः इत्ये-षोऽनन्तरोक्तः संसारो भवतीति ।। यद्येवं ततः किमित्याह –

मू. (५१) निज्झाइत्ता पडिलेहित्ता पत्तेयं परिनिव्वाणं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं अस्सायं अपरिनिव्वाणं महब्मयं दुक्खं-तिबेभि, तसंति पाणा पदिसो दिसासु य ॥

नि. १९६३]

**दृ.** एवमिमं त्रसकायमागोपालाङ्गनादिप्रसिद्धं निश्चयेन ध्यात्वा निध्यार्य चिन्तयित्वेत्यर्थः, क्लाप्रत्ययस्योत्तरक्रियापेक्षत्वाद् ब्रवीभीत्युत्तरक्रिया सर्व्वत्र योजनीयेति । पूर्व्वं च मनसाऽऽलोच्य ततः प्रत्युपेक्षणं भवतीति दर्शयति – 'पडिलेहेत्त'त्ति प्रत्युपेक्ष्य-६ष्टवा यथाव- दुलभ्येत्यर्थः, किं तदिति दर्शयति – 'प्रत्येक' मित्येकमेकं त्रसकायं प्रति परिनिर्वाणं-सुखं प्रत्येक- सुखमाजः सर्वेऽपि प्रणिनः, नान्यदीयमन्य उपमुङ्के सुखमित्यर्थः, एष च सर्व्वप्राणिधर्म्प इति दर्शयति-सर्वेषां प्राणिनां-दित्रिचतुरिन्द्रियाणां, तथा सर्व्वेषां भूतानां-प्रत्येकसाधारणसूक्ष्म—बादरपर्याप्तकापर्याप्तकत-रुणामिति, तथा सर्व्वेषां जीवानां-गर्भव्युक्रान्तिकसम्मूच्छन- जौपपातिकपञ्चेन्द्रियाणां, तथा सर्वेषां सत्त्वानां-पृथिव्याधेकेन्द्रियाणामिति, इह च प्राणादिशब्दानां यद्यपि परमार्थतोऽभेदस्तथापि उक्तन्यायेन भेदो द्रष्टव्यः, उक्तं च—

(19)। 'प्राणा द्वित्रिचतुः प्रोक्ताः, भूतास्तु तरवः स्मृताः । जीवाः पश्चेन्द्रियाः प्रोक्ताः, शेषाः सत्त्वा उदीरिताः ।।''

इति, यदिवाशब्दव्युत्पत्तिद्वारेण समभिरूढनयमतेन भेदो द्रष्टव्यः, तद्यया-सततप्राण-धारणास्राणाः कालत्रयभवनाद् भूताः त्रिकालजीवनात् जीवाः सदाऽस्तित्वात्सत्त्वा इति, तदेवं विचिन्त्य प्रत्युपेक्ष्य च यथा सर्वेषां जीवानां प्रत्येकं परिनिर्वाणं-सुखं तथा प्रत्येकमसातम्-अपरिनिर्वाणं भहाभयंदुःखमहंब्रवीमि, तत्र दुःखयतीति दुःखं, तद्विशिष्यते-किंविशिष्टम् ? --- 'असातम्' असद्वेद्य-कर्मांशविपाकजमित्यर्थः, तथा 'अपरिनिर्वाण'मिति समन्तात् सुखं परिनिर्वाणं न परिनि-वणिमपरिनिर्वाणं समन्तात् शरीरमनःपीडाकरमित्यर्थः, तथा 'महाभय'मिति महच्च तदुभयं च महाभयं, नातः परमन्यद् भयमस्तीति महाभयं, तथाहि-सर्व्वेऽपि शारीरान्मानसाच्च दुःखादुद्विजन्ते प्रणिन इति, इति शब्द एवमर्थे, एवमहं ब्रवीमि सम्यगुपलब्धतत्त्वो यट्यागुक्तमिति । एतच्च ब्रवीमी-त्याह - 'तसंती' त्यादि, एवंविधेन च असातादिविशेषणविशिष्टेन दुः खेनाभिभूतास्यन्ति-उद्विजन्ति प्राणा इति प्राणिनः, कुतः पुन रुद्विजन्तीति दर्शयति-प्रगता दिक्प्रदिग्विदिक् इत्यर्थः, ततः प्रदिशः सकाशादुद्विजन्ति, तथा प्राच्यादिषु च दिक्षु व्यवस्थितास्त्रस्यन्ति, एताश्च प्रज्ञापकविधिविभक्ता दिशोऽनुदिशश्चा गृह्यन्ते, जीवव्यवस्थानश्रवणात्, ततश्चायमर्थः प्रतिपादितो भवति काक्वा-न काचिद्दिगनुदिग्वा यस्यां न सन्ति त्रसाः जस्यन्ति वा न यस्यां स्थिताः कोशिकारकीटवतु, कोशिका- रकीटोहि सर्वदिग्भ्योऽनुदिग्म्यश्च विभ्यदात्मसंरक्षणार्थं वेष्टनं करोति शरीरस्येति, भावदिगपि न काचित्ताद्दश्यस्ति यस्यां वर्त्तमानो जन्तुर्न त्रस्येत्, शारीरमानसाभ्यां दुःखाभ्यां सर्वत्र नरकादिषु जंधन्यन्ते प्राणिनोऽतस्त्रासपरिगतमनसः सर्वदाऽवगन्तव्याः ॥ एवं सर्वत्र दिक्ष्वनुदिक्षु च त्रसाः सन्तीति गृह्णीमः, दिग्विदिग्व्यवस्थितास्त्रसास्त्रस्यन्तीत्युक्तं, कुतः पुनस्त्रस्य-ति? - यस्मात्तदारम्भवद्भिस्ते व्यापाद्यन्ते, किं पुनः कारणं ?, ते तानारम्भन्त इत्यत आह -

मू. (५२) तत्थ तत्थ पुढो पास आतुरा परितावंति, संति पाणा पुढो सिया ।। 👘

वृ. 'तत्र तत्र' तेषु तेषु कारणेषूत्पन्नेषु वक्ष्यमाणेषु अर्चाजिनशोणितादिषु च पृथग्विभिन्नेषु प्रयोजनेषु, पश्येति शिष्य चोदना, किं तत्पश्येति दर्शयति - 'मांसभक्षणादिगृद्धा आतुराः-अखस्थमनसः परि-समन्तात्तापयन्ति-पीडयन्ति नानाविधवेदनोत्पादनेन प्राणिव्यापादनेन वा तदारम्भिणस्त्रसानिति, येन केनचिदारम्भेण प्राणिनां सन्तापनं भवतीतिदर्शयन्नाह-'संती'त्यादि, 'सन्ति' विद्यन्ते प्रायः सर्वत्रैव प्राणाः-प्राणिनः 'पृथक्' विभिन्नाः द्वित्रिचतुःपञ्चेन्द्रियाः 'श्रिताः' पृथिव्यादिश्रिताः, एतद्य ज्ञात्वा निरवद्यानुष्ठायिना भवितव्यमित्यभिप्रायः ।।

अन्ये पुनरन्यथा- वादिनोऽन्यथाकारिण इति दर्शयन्नाह --

मू. (५३) लज्जमाणा पुढो पास अणगारा मोत्ति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेण तसकायसत्थं समारभमाणा अन्ने अनेगरूवे पाणे विहिंसति, तत्थ खलुभगवया परिण्णा पवेइया, इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए जाईमरणमोयमाए दुक्खपडिधायहेउं से सयमेव तसकायसत्थं समारभति अण्णेहिं वा तसकायसत्थं समारंभावेइ अन्ने वा तसकायसत्यं समारभमाणे समणुजाणइ, तं से अहियाए तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाय सोद्या भगवओ अनगाराणं अंतिए इहमेगेसिं नायं भवति-एस खलु गंथे एस खलु मोहे एस खलु मारे एस खलु णरए, इच्चत्थं गङ्ढिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं तसकायसमारंभेण तसकायसत्थं समारंभमाणे अन्ने अणेगरुवे पाणे विहिंसति ।

वृ पूर्ववत् व्याख्येयं, यावत् 'अन्ने अनेगरूवे पाणे विहिंसइ'त्ति ।। यानि कानिचित्का-रणान्युद्दिश्य त्रसवधः क्रियते तानि दर्शयितुमाह –

मू. (५४) से बेभि अप्पेगे अच्चाए हर्णति, अप्पेगे अजिणाए वहंति, अप्पेगे मंसाए वहंति, अप्पेगे सोणियाए वहंति, एवं हिययाए पित्ताए वसाए पिच्छाए पुच्छाए वालाए सिंगाए विसाणाए दंताए दाढाए नहाए न्हारुणीए अट्ठीए अट्ठिमिंजाए अट्ठाए अणट्ठाए, अप्पेगे हिंसिंसु मेत्ति वा वहंति अप्पेगे हिंसंति मेत्ति वा वहंति अप्पेगे हिंसिस्संति मेत्ति वा वहंति।।

**q**. तदहं व्रवीमि यदर्थं प्राणिनस्तदारम्भप्रवृत्तैव्यार्थाद्यन्त इति, अप्येकेऽचींयै ध्नान्ति, अपिरुत्तरापेक्षया समुच्चयार्थः, 'एके' केचन तदर्थित्वेनातुराः, अर्च्यतेऽसावाहारालङ्कार-विधानैरित्यर्चा-देहस्तदर्थं व्यापादयन्ति, तथाहि-त्तक्षणवत्पुरुषमक्षतमव्यङ्गं व्यापाद्य तच्छरीरेण विद्यामन्त्रसाधनानि कुर्व्वन्ति उपयाचितं वा यच्छन्ति दुर्गादीनामग्रतः, अथवा विषं येन भक्षितं सहस्तिनं मारयित्वा तच्छरीरे प्रक्षिप्यते पशश्चाद्विषं जीर्यति, तथा अजिनार्थं-चित्रकव्याघ्राअरादीन् व्यापादयन्ति, एवं मांसशोणितहृदयपित्तवसापिच्छपुच्छवालशृङ्गविषाणदन्तदंष्ट्रानखत्ताय्स्थ्य-स्थिमिआदिष्वपि वाच्यं, मांसार्थं सूकरादयः, त्रिशूलालेखार्थं शोणितं गृह्णन्ति, हृदयानि साधका गृहीत्वा मथ्नन्ति, पितार्थं मयूरादयः, वसार्थं व्याघ्रमकरवराहादयः, पिच्छार्थं मयूरगृध्रादयः, पुच्छार्थं रोझादयः, वालार्थं चमर्यादयः शृङ्गार्थं रुरुखङ्गादयः, तन्किल शृङ्गं पवित्रमिति याज्ञिका गृह्णन्ति, विषाणार्थं हस्त्यादयः, दन्तार्थं शृनालादयः तिमिरापहत्वात्तद्दन्तानां, दंष्ट्रांर्थं वरहादयः, नखार्थं व्याघ्रादयः स्नाय्वर्थं गोमहिष्यादयः, अस्य्यर्थं शङ्खशुक्त्यादयः, अस्थिमिआर्थं महिषवरा-हादयः, एवमेके यथोपदिष्टप्रयोजनकलापापेक्षया घ्नन्ति, अपरे तु कृकलासगृहकोकिलादीन् विना प्रयोजनेन व्यापादयन्ति, अन्ये पुनः 'हिंसिसु मेत्ति' हिंसितवानेषोऽस्मत्त्वजनान्सिंहः सर्पोऽरिर्वाऽतो घ्नन्ति, मम वापीडां कृतवन्त इत्यतो हन्ति, तथा अन्ये वर्त्तमानकाल एव हिनस्ति अस्मान् सिंहोऽन्यो वेति घ्नन्ति, तथाऽन्येऽस्मानयं हिंसिष्यतीत्यनागतत्मेव सर्पादिकं व्यापादयन्ति

एवमनेक- प्रयोजनोपन्यासेन हननं त्रसविषयं प्रदर्श्य उद्देशकार्थमुपसजिहीर्षुराह -मू. (५५) एत्थ सत्थं समारभमाणस्स इच्चेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्थ सत्थं असमारभमाणस्स इच्चेते आरंभा परिण्णाया भवन्ति, तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं तस कायसत्थं समारंभेजा नेवऽन्नेहिं तसकायसत्यं समारंभावेज्ञा नेवऽण्णे तसकायसत्यं समारंभंते समणुजाणेज्ञा, जस्सेते तसकायसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्पे त्तिबेमि ।।

मृ. प्राग्वद्वाच्यं, यावत्स एव मुनिसकायसमारम्भविरतत्वात् परिज्ञातकर्मन्वाप्रत्या-ख्यातपापकर्मत्वादिति व्रवीमि भगवतः त्रिलोकबन्धोः परमकेवलालोकसाक्षात्कृत-सकलभुवनप्रपञ्चस्योपदेशादिति॥

अध्ययन-१ - उद्देशकः-६ समाप्तः

# -: अध्ययन-१ - उद्देशकः-७ :--

उक्तः षष्ठोद्देशकः, साम्प्रतं सप्तमः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-अभिनवधर्म्माणां दुःश्रद्धानत्वादल्पपरिभोगत्वादुत्कमायातस्योक्तशेषस्य वायोः स्वरूपनिरूपणार्थमिदमुपक्रम्यते-तदनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि वाच्यानि यावन्नामनिष्पन्ने निक्षेपेवायूद्देशक इति, तत्र वायोः स्वरूपनिरूपणाय क्रतिचिद्वारातिदेशगर्भां निर्युक्तिकृद्गाथामाह

नि. [9६४] वाउरसऽवि दाराइं ताइं जाइं हवंति पुढवीए | नाणत्ती उ विहाणे परिमाणुवभोगसत्थेय ।।

वृ. वातीति वायुस्तस्य वायोरपि तान्येव द्वाराणि यानि पृथिव्यां प्रतिपादितानि, नानात्वं-भेदः, तद्य विधानपरिमाणोपभोगशस्त्रेषु, चशब्दाछक्षणे च द्रष्टव्यमिति ।। तत्र विधानप्रतिपादनायाह नि. [१६५] द्विहा उ वाउजीवा सहमा तह बायरा उ लोगंमि ।

: [१६५] दुविहा उ वाउजीवा सुहुमा तह वायरा उ लोगंमि । सुहुमा य सव्वलोए पंचेव य बायरविहाणा ॥

ृष्, वायुरेव जीवा वायुजीवाः, ते च द्विधाः-सूक्ष्मबादरनामकर्मोदयात् सूक्ष्मा बादराश्च, तत्र सूक्ष्माः सकललोकव्यापितया अवतिष्ठन्ते, दत्तकपाटसकलवातायनद्वारगेहान्तर्द्धूमवत् व्याप्तया स्थिताः, बादरभेदास्तु पश्चैवानन्तरगाथया वक्ष्यमाणा इति ॥ बादरभेदप्रतिपादनायाह

नि. **[१६६]** उक्कलिया मंडलिया गुंजा घणवाय सुद्धवाया य । बायरवाउविहाणां पंचविहा वण्णिया एए ।।

ष्ट्र. स्थित्वास्थित्वोकलिकाभिर्यो वाति स उकलिकावातः, मण्डलिकावातस्तु वातोलीरूपः, गुआ-भम्भा तद्वत् गुअन् यो वाति स गुआवातः, घनवातोऽत्यन्तघनः पृथिव्याद्याधारतया व्यवस्थितो हिमपटलकल्पो, मन्दस्तिमितः शीतकालादिषु शुद्धवातः, ये त्वन्ये प्रज्ञापनादौ प्राच्यादिवाता अभिहितास्तेषामेष्वेव यथायोगभन्तर्भावो द्रष्टव्य ति, एवमित्येते बादरवायुविधानानि-भेदाः 'पश्चविधाः' पश्चप्रकारा व्यावर्णिता इति ।। लक्षणद्वाराभिधित्सयाऽऽह –

नि. [१६७] जह देवस्स सरीर अंतद्धाणं व अंजणाईसुं । एओवम आएसो वाएऽसंतेऽवि रूवंभि ।।

**द्यृ.** यथा देवस्य शरीरं चक्षुषाऽनुपलभ्यमानमपि विद्यते चेतनावद्याध्यवसीयते, देवाः खशक्तिप्रभावात्तथाभूतं रूपं कुर्व्यन्ति यच्चक्षुषा नोपलभ्यते, न चैतद्वक्तुं शक्यते-नास्त्यचेतनं चेति, तद्वद्वायुरपि चक्षुषो विषयो न भवति, अस्ति च चित्तवांश्चेति, यथा वाऽन्तर्द्धान-मञ्जनविद्यामन्त्रैर्भवति मनुष्याणां, न च नास्तित्वमचेतनत्वं चेति, एतदुपमानो वायावपि भवति 'आदेशो' व्यपदेशोऽसत्यपि रूप इति, अत्र चासच्छब्दो नाभाववचनः, किं त्वसद्रूपं वायोरिति चक्षुर्गाह्यं तद्रूपं न भवति, सूक्ष्मपरिणामात्, परमाणोरिव, रूपरसस्पर्शात्मकश्च वायुरिष्यते, न यथाऽन्येषां वायुः स्पर्शवानेवेति, प्रयोगार्थश्चगाथया प्रदर्शितः, प्रयोगश्चायं-चेतनावान् वायुः, अपरप्रेरिततिर्यगनियमितगतिमत्त्वात्, गवाश्वादिवत्, तिर्यगेव गमनर्नानेयमाभावात् अनिय-मितविशेषणोपादानाद्य परमाणुनाऽनेकान्तिकासंभवः, तस्य नियमितगतिमत्त्वात्, जीवपुद्गलयोः 'अनुश्रेणिगति' रिति वचनात्, एवमेष वायुः-धनशुद्धवातादिभेदोऽशस्त्रोपहतश्चेतनावान्वगन्तव्य इति ॥ परिमाणद्वारमाह --

नि. [१६८] जे बायरपञ्जत्ता पयरस्स असंखभागमित्ता ते ।। सेसा तित्रिवि रासी वीसुं लोगा असंखिञा ।। (दारं)

**वृ.** ये बादरपर्याप्तका वायवस्ते संवर्त्तितलोकप्रतरासद्धयेयभागवर्त्तिप्रदेशराशिपरिमाणाः, शेषास्त्रयोऽपि राशयो विष्वकपृथगसद्धयेयलोकाकाशप्रदेशपरिमाणा भवन्ति, विशेषश्चा-यमत्रावगन्तव्यः-बादराष्कायपर्याप्तकेभ्यो बादरवायुपर्याप्तका असद्धयेयगुणाः बादराष्कायापर्याप्त-केभ्यो बादरवायुकायापर्याप्तका असद्धयेयगुणाः सूक्ष्माष्कायापर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्मवाय्वपर्याप्तका विशेषाधिकाः सूक्ष्माष्कायपर्याप्तकेभ्यः सूक्ष्मवायुपर्याप्तका विशेषाधिकाः ॥ उपभोगद्वारमाह -

नि. [१६९] वियणधमणाभिधारण उस्सिंचणफुसणआणुपाणू अ।

बायरवाउकाए उवभोगगुणा मणुस्साणं ॥

वृ. व्यजनभस्त्राध्माताभिधारणोत्सिञ्जनफूकारप्राणापानादिभिर्बादरवायुकायेन उपभोग एव गुण उपभोगगुणो मनुष्याणामिति ।। शस्त्रद्वाराभिधित्सयाऽऽह, तत्र शस्त्रं द्रव्यभावभेदाद्विविधं, द्रव्यशस्त्राभिधित्सयाऽऽह –

नि. [९७०] विअणे अ तालावंटे सुप्पसियपत्त चेलकण्णे य ! अभिधारणा य बाहिं गंधग्गी वाउसत्याइं ॥

**वृ**.व्यजनं-तालवृन्तं सूर्पसितपत्रचेलकर्णादयः द्रव्यशस्त्रमिति, तत्र सितमिति चामरं, प्रस्विन्नोयद्वहिरवतिष्ठते वातागमनमार्गे साऽभिधारणा, तथा गन्धा;-चन्दनोशीरादीनां अग्निर्ज्वाला प्रतापश्च, तथा प्रतिपक्षवातश्च शीतोष्णादिकः, प्रतिपक्षवायुग्रहणेन स्वकायादिशस्त्रं सूचितमिति, एवं भावशस्त्रमपि दुष्प्रणिहितमनोवाक्कायलक्षणमवगन्तव्यमिति ॥

अधुना सकलनिर्युक्त्यर्थोप- सञ्जिहीर्षुराह –

नि. [909] सेसाइं दारारं ताईं जाइं हवंति पुढवीए । एवं वाउद्देसे निज्जुत्ती कित्तिया एसा ॥

**दृ.** 'शेषाणि' उक्तव्यतिरिक्तानि तान्येव द्वाराणि पृथिवीसमधिगमे यान्यभिहितानीति, एवं सकलद्वारकलापव्यावर्णनाद् वायुकायोद्देशके निर्युक्तिः कीर्त्तितैषाऽवगन्तव्येति ॥ गतो नामानिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम् – 'पहू एजस्स दुगुंछणाए'त्ति, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके पर्यन्तसूत्रे त्रसकायपरिज्ञानं तदारम्भवर्जनं च मुनित्वकारणमभिहितम्, इहापि तदेव द्वयं वायुकायविषयं मुनित्वकारणमेवोच्यते, तथा परम्परसूत्रसम्बन्धः 'इहमेगेसिं नो नायं भवइ'त्ति, किं तत् ज्ञातं भवति ?, 'पहु एजस्स दुगुंछणाए'त्ति, तथा आदिसूत्रसम्बन्धश्च 'सुयं मे आउसंतेण' मित्यादि, किं तत् श्रुतं ?, यद्यागुपदिष्टं, तथैतच्च --

मू. (५६) पहू एजस्स दुगुंछणाए ।।

दृ. 'दुगुञ्छण'ति जुगुसा प्रभवतीति प्रभुः-समर्थः योग्यो वा, कस्य वस्तुनः समर्थ इति?, 'एजृकम्पने' एजतीत्येजोवायुःकम्पनशीलत्वात्तस्यैजस्य जुगुस्ता-निन्दा तदासेवनपरिहारो निवृत्तिरितियावत्, तस्या--तद्विषये प्रभुर्भवति, वायुकायसमारम्भनिवृत्तौ शक्तो भवतीतियावत्, पाठान्तरं वा 'पहू य एगस्सं दुगुंछणाए' उद्रेकावस्थावर्त्तिनैकेन गुणेन स्पर्शाब्येनोपलक्षित इत्येको-वायुस्तस्यैकस्य एकगुणोपलक्षितस्य वायोर्ज्जुगुस्तायां प्रभुः, चशब्दात् श्रद्धाने च प्रभुर्भवतीति, अर्थात् यदि श्रद्धाय जीवतया जुगुप्सते ततः ।।

योऽसौ वायुकायसमारम्भनिवृत्तौ प्रमुरुक्तस्तं दर्शयति -

मू. (५७) आयंकदंसी अहियंति नद्या, जे अञ्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ, जे बहिया जाणइ से अञ्झत्थं जाणइ, एयं तुलमन्नेसिं।।

**वृ.** 'तकि कृच्छ्रजीवन' इत्यातङ्कत्तमातङ्कः-कृच्छ्रजीवनं-दुःखं, तद्य द्विविधं-शारीरं मानसं च, तत्राद्यं कण्टकक्षारशस्त्रगण्डलूतादिसमुत्थं, मानसं प्रियविप्रयोगाप्रियसम्प्रयोगो-प्तितालाभदारिद्वदौर्मनस्यादिकृतम्, एतदुभयमातङ्कः, एनमातङ्कं पश्यति तच्छीलश्चेत्यातङ्कदर्शी, अवश्यमेतदुभयमपि दुःखमापतति मय्यनिवृत्तवायुकायसमारम्भे, ततश्चैतद्वायुकाय-समारम्भणमातङ्कहेतुभूतमहितमिति ज्ञात्वैतस्मात्रिवर्त्तने प्रभुर्भवतीति । यदिवाऽऽतङ्को द्वेधा-द्रव्यभावभेदात्, तत्र द्रव्यातङ्के इदमुदाहरणम् –

| 11911 | 'जंबुद्दीवे दीवे भरहे वासंमि अत्थि सुपसिद्धं।    |
|-------|--|
|       | बहुनयरगुणसमिद्धं रायगिहं नाम नयरंति ।।           |
| ારા   | तत्थासि गरुयदरियारिमद्दणो भुयणनिग्गयपयावो ।      |
|       | अभिगयजीवजीवो राया नामेण जियसत्तू ।।              |
| 3     | अनवरयगरुयसंवेगभाविओ धम्मघोसपामूले ।              |
|       | सो अन्नय कयाई पमाइणं पासए सेहुं ।।               |
| 8     | चोइज़ंतमभिक्खं अवराहं तं पुगोऽवि कुणमाणं।        |
|       | तस्स हियहं राया सेसाण य रक्खणहाए ॥               |
| 11411 | आयारियाणुण्णाए आणावइ सो इ निययपुरिसेहिं ।        |
|       | तिव्वुकंडदव्वेहिं संधियपुव्वं तहिं खारें।।       |
| 11511 | पक्खित्तो जत्थ नरो नवरं गोदोहमेत्तकालेणं ।       |
|       | निञ्जिण्णमंससोणिय अड्डियसेसत्तणमुवेइण ॥          |
| 11911 | दो ताहे पुव्वमए पुरिसे आणावए तहिं राया ।         |
|       | एगं गिहत्यवेसं बीयं पासंडिणेवत्थं ॥              |
| 11211 | पुव्वं चिय सिक्खविए ते पुरिसे पुच्छए तहिं राया । |
|       | को अवराहो एसिं ? भणंति आणं अइक्कमइ ॥             |

16

I

| ાશા    | पासंडिओ जहुत्ते न वट्टइ अत्तणो य आयारे ।         |
|--------|--|
|        | पक्खिवह खारमज्झे खड्ता गोदोहमेत्तरस ।।           |
| 119011 | दद्रूणऽडिवेसेसे ते पुरिसेअलियरोसरत्तच्छो ।       |
|        | सेहं आलोयंतो राया तो भणइ आयरियं ।।               |
| 119911 | तुम्हवि कोऽवि पमादी ? सासेमि तंपि नत्थि भणइ गुरू |
|        | जइ होही तो साहे तुम्हे चिय तस्स जाणिहिह ।।       |
| ાકરા   | सेहो गए निवंभी भणई ते साहुणो उ ण पुणत्ति ।       |
|        | होहं पमायसीलो तुम्हं सरणागओं धणियं ॥             |
| ા કરા  | जइ पुण होञ्ज पमाओ पुणो ममं सङ्ढभावरहियस्स ।      |
|        | तुम्ह गुणेहिं सुविहिय ! तो सावगरक्खसा मुद्ये ।।  |
| 98     | आयंकभओविग्गो ताहे सो निच्चउञ्जुओ जाओ ।           |
|        | कोवियमती य समए रण्णा मरिसाविओ पच्छा ।।           |
| ા૧્લા  | दव्वायंकादंसी अत्ताणं सव्वहा नियत्तेइ ।          |
|        | अहियारंभाउ सया जह सीसो धम्मधोसस्स ॥              |

भावातङ्कादर्शी तु नरकतिर्यङ्मनुष्यामरभवेषु प्रियविप्रयोगादिशारीमानसातङ्कभीत्या न प्रवर्त्तते वायुसमारम्भे, अपि त्वहितमेत्रद्वायुसमारम्भणमिति मत्वा परिहरति, अतो य आतङ्कदर्शी भवति विमलविवेकभावात् स वायुसमारम्भस्य जुगुप्सायां प्रभुः, हिताहितप्राप्ति- परिहारानुष्ठा-नप्रवृत्तेः, तदन्यैवंविधपुरुषवदिति। वायुकायसमारम्भनिवृत्तेः कारणमाह – 'जेअज्झत्य'मित्यादि, आत्मानमधिकृत्य यहर्तते तदध्यात्मं, तच सुखदुः खादि, तद्यो जानाति-अवबुध्यते स्वरूपतोऽव-गच्छतीत्यर्थः, स बहिरपि प्राणिगणं वायुकायादिकं जानाति, यथैषोऽपि हि सुखाभिलाषी दःखाद्योद्विजते, यथा मयि दुःखमापतितमतिकटुकमसद्वेधकर्मोदयादशुभफलं स्वानुभवसिद्धं एवं यो वेत्ति स्वात्मनि सुखं च सद्वेद्यकर्मोदयात् शुभफलमेवं च योऽवगच्छति स खल्वध्यात्मं योऽध्यात्मवेदी स बहिर्व्यवस्थितवायकायादिप्राणिगणस्यापि जानाति. एवं च नानाविधोपक्र मजनितं स्वपरसमत्यं च शरीरमनःसमाश्रयं दुःखं सुखं वा वेत्ति, स्वप्रत्यक्षतया परत्राप्यनुमीयते, यस्य पुनः स्वात्मन्येव विज्ञानमेवंविधं न समस्ति कुतस्तस्य बाहिर्व्यवस्थित-वायुकायादिष्वपेक्षा ?, यश्च बहिर्जानाति सोऽध्यात्मं यथावदवैति, इतरेतराव्यभिचारादिति । परात्मपरिज्ञानाद्य यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह – 'एयं तुलमन्नेसि'मिल्यादि, एतां तुलां यथोक्तलक्षणाम् अन्वेषयेद्--गवेषयेदिति, का पुनरसौ तुला ?, यथाऽऽत्मानं सर्व्वथा सुखाभिलाषितया रक्षसि तथाऽपरमपिरक्ष, यथा परं तथाऽऽत्मानमित्येतां तुलां तुलितस्वपरसुखदुः खानुभवोऽन्वेषयेद्-एवं कर्यादित्यर्थः. उक्तं च ---

| 11911 | ''कहेण कंटएण व पाए विद्धस्स वेयणदृस्स ।            |
|-------|--|
|       | जह होइ अनिव्वाणी सव्वत्य जिएसु तं जाण ।।''         |
| ાારા  | (तथा ) ''मरिष्यामीति यद् दुःखं, पुरुषोस्योपजायते । |
|       | शक्यस्तेनानुमानेन, परोऽपि परिरक्षितुम् ॥''         |

अतश्च यथाऽभिहिततुलातुलितस्वपरा नराः स्यावरजङ्गमजन्तुसङ्घातरक्षणायैव प्रवर्त्तन्ते, कथमिति दर्शयति –

मू. (५८) इह संतिगया दविया नावकंखंति जीविउं ।।

**वृ.** 'इह' एतस्मिन् दयैकरसे जिनप्रवचने शमनं शान्तिः-उपशमः प्रशमसंवेग-निर्वेदानुकम्पास्तिक्याभिव्यक्तिलक्षणसम्यग्दर्शनज्ञानचरणकलापः शान्तिरुच्यते, निरावाध-मोक्षाख्यशान्तिप्राप्तिकारणत्वात्, तामेवंविधां शान्तिं गताः-प्राप्ताःशान्तिगताः, शान्तौ वास्थिताः शान्तिगताः, द्रविका नाम रागद्वेषविनिर्मुक्ताः, द्रवः-संयमः सप्तदशविधानः कर्म्मकाठिन्य-द्रवणकारित्वाद्--विलयहेतुत्वात् स येषां विद्यते ते द्रविकाः, नावकाङ्कन्ति–न वाञ्छन्ति नाभिलषन्तीत्पर्थः, किं नावकाङ्कन्ति ?- 'जीवितुं' प्राणान् धारयितुं, केनोपायेन जीवितुं नाभि-काङ्कन्ति ?, वायुजीवोपमर्दनेनेत्यर्थः, शेषपृथिव्यादिजीवकायसंरक्षणंतुपूर्वोक्तमेव, समुदायार्थस्त-व्यम्-इहैव जैने प्रवचने यः संयमस्तद्वयवस्थिता एवोन्मूलितातितुङ्गः रागद्वेषद्रुमाः परभूतोपम-र्दनिष्यन्नसुखजीविकानिरभिलाषाः साधवो, नान्यन्न, एवंविधक्रियावबोधाभावादिति ।।

एवं व्यवस्थिते सति –

मू. (५९) लञ्जमाणे पुढो पास अणगारा मोति एगे पवयमाणा जमिणं विरूवरूवेहिं सत्येहिं वाउकम्पसमारंभेणं वाउसत्यं समारंभमाणे अन्ने अनेगरूवे पाणे विहिंसति । तत्य खलु भगवया परिण्णा पवेइया । इमस्स चेव जीवियस्स परिवंदणमाणणापूयणाए जाईमरणमोयणाए दुक्खपडिधायहेउं से सयमेव वाउसत्यं समारभतिअन्नेहिं वा वाउसत्यं समारंभावेइ अन्ने वाउसत्ये समारंभंते समनुजाणति, तं से अहियाए तं से अबोहीए, से तं संबुज्झमाणे आयाणीयं समुट्ठाए सोद्या भगवओ अनगाराणं अंतिए इहमेगेसिं नायं भवति-एस खलु गंथे एस खलु मोहे एस खलु मारे एस खलु निरए, इद्यत्थं गड्दिए लोए जमिणं विरूवरूवेहिं सत्येहिं वाउकम्पसमारंभेणं वाउसत्यं समारंभमाणे अन्ने अनेगरूवे पाणे विहिंसति ॥

मू. (६०) से बेमि संति संपाइमा पाणा आहद्य संपर्यति य फरिसं च खलु पुट्ठा एगे संघायमावज्रंति, जे तत्य संघायमावज्ञंति ते तत्य परिणावज्रंति, जे तत्य परियावज्रंति ते तत्य उद्यायंति, एत्य सत्यं समारभमाणस्स इग्रेते आरंभा अपरिण्णाया भवंति, एत्य सत्यं असमारभमाणस्स इग्रेते आरंभा परिण्णाया भवंति, तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं वाउसत्यं समारंभेज्ञां नेवऽन्नेहिं बाउसत्यं समारंभावेज्ञा नेवऽन्ने वाउसत्यं समारंभंते समनुजाणेज्ञा, जस्सेते वाउसत्यसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकम्भे तिबेमि ।।

**मृ. पूर्ववन्नेयं ।। सम्प्रति षड्जीवनिकायविषयवधकारिणामपायदिदर्शयिषया** तन्निवृत्तिकारिणां च सम्पूर्णमुनिभावप्रदर्शनाय सूत्राणि प्रकम्यन्ते --

मू. (६९) एत्यंपि जाणे उवादीयमाणा, जे आयारे न रमंति, आरंभमाणा विनयं वयंति, ष्रंदोबणीया अञ्झोववण्णा, आरंभसत्ता पकरंति संगं ।।

वृ. एतस्मिन्नपि-प्रस्तुते वायुकाये, अपिश्वव्दात् पृथिव्यादिषु च समाश्रितमारम्भं ये कुर्व्वन्ति तेउपादीयन्ते-कर्म्भणा बध्यन्त इत्यर्थः, एकस्मिन् जीवनिकाये वधप्रवृत्तः शेषनिकायवधजनितेन कर्मणाबध्यते, किमिति ? – -यतो न ह्येकजीवनिकायविषय आरम्भः शेषजीवनिकायोपमर्दम्त्तरेण कर्तुं शक्यत इत्यतस्तवमेवं जानीहि, श्रोतुरनेन परामर्शः, अत्र च द्वितीयार्थे प्रथमा, तत्तश्चैवमन्वये लगयितव्यः-पृथिव्याद्यारम्भिणः शेषकायारम्भकर्मणा उपादीयमानान् जानीहि, के पुनः पृथिव्याद्यारम्भिणः शेषकायारम्भकर्मणोपादीयन्ते ? इति, आह – 'जे आयारे न रमंति' ये ह्यविदितपरमार्था ज्ञानदर्शनचरणतपोवीर्याख्ये पश्चप्रकाराचारे 'न रमन्ते'न धृतिं कुर्वन्ति, तदधृत्य च पृथिव्याद्यारम्भिणः, तान् कर्म्भभिरुपादीयमानान् जानीहि, के पुनराचारे न रमन्ते ?, शाक्यादिगम्बरपार्श्वस्थादयः । किमिति ?,

यत आह - 'आरंभमाणा विनयं वयंति' आरम्भमाणा अपि पृथिव्यादीन् जीवान् विनयं-संयममेव भाषन्ते, कर्माएकविनयनाद्विनयः-संयमः, शाक्यादयो हि वयमपि विनयव्यवस्थिता इत्येवं भाषन्ते, न पृथिव्यादिजीवाभ्युपगमं कुर्वन्ति, तदभ्युपगमे वा तदाश्रितारम्भित्वात् ज्ञानाद्याचारविकलत्वेन नष्टशीला इति । किं पुनः कारणं ?, येनैवं ते दुष्टशीला अपि विनयव्य-वस्थितमात्मानं भाषन्ते इत्यत आह – 'छन्दोवणीया अज्झोववण्णा' छन्दः-स्वाभिप्रायः इच्छामात्रमनालोचितपूर्वापरं विषयाभिलाषो वा, तेन छन्दसा उपनीताः-प्रापिता आरम्भ-मार्गमविनीता अपि विनयं भाषन्ते, अधिकमर्त्याय्रमुपपन्ना तद्यित्तास्तदात्मकाः अध्युपपन्नाः-विषयपरिभोगायत्तजीविताइत्यर्थः, यएवं विषयाशाकर्षितचेतसस्ते किं कुर्युरित्याह- 'आरंभसत्ता पकरंति संगं' आरम्भणमारम्भः-सावद्यानुष्ठानं तस्मिन् सक्ताः-तत्पराः प्रकर्षेण कुर्वन्ति, सञ्यन्ते येन संसारे जीवाः ससङ्घः अष्टविद्यं कर्म्म विषयसङ्गो वा तं सङ्गं प्रकृर्वन्ति, सङ्गाद्य पुनरपि संसार, आजवंजवीभावरूपः, एवंप्रकारमपायमवाग्नोति षड्जीवनिकायघातकारीति ॥ अथ यो निवृत्तस्तदारम्पात्स किंविशिष्टो भवतीत्य आह –

मू. (६२) सेवसुमंसव्वसमण्णागयपण्णाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज़ंपावं कम्पं नो अण्णेसिं, तं परिण्णाय मेहावी नेव सयं छज्जीवनिकायसत्यं समारंभेजा नेवऽन्नेहिं छज्जीवनिकायसत्यं समारंभावेज्ञा नेवऽण्णे छज्जीवनिकायसत्यं समारंभंते समनुजाणेज्ञा, जस्सेते छज्जीविकाय सत्यसमारंभा परिण्णाया भवंति से हु मुणी परिण्णायकमी त्तिबेमि ।।

वृ. 'से' इति पृथिव्युद्देशकाद्य भिहितनिवृत्ति गुणमाक् षड्जीवनिकायहनननिवृत्तो 'वसुमान्' वसूनि द्रव्यमाव भेदादिधाद्रव्यवसूनि-मरकतेन्द्रनीलज्रादीनि मावव सूनि-सम्यक्त्वादीनि तानि यस् यस्मिन्वा सन्ति स वसुमान् द्रव्यवानित्यर्थः, इह च माववसुमिर्वसमुत्त्वमङ्गीक्रियते, प्रज्ञायने, यैस्तानि प्रज्ञानानि-यथावस्थितविषयग्राहीणि ज्ञानानि सर्वाणि समन्वागतानि प्रज्ञानानि यस्यात्मनः स सर्वसमन्वागतप्रज्ञानः-सर्वविबोधविशेषानुगतः सर्वेन्द्रियज्ञानैः पटुमिर्यथावस्थितविषय ग्राहिमिरविपरीतैरनुगत इतियावत्, तेन सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेनात्मना, अथवा सर्वेषु द्रव्यपर्यायेषु सम्यगनुगतं प्रज्ञानं यस्यात्मनः स सर्वमन्वागतप्रज्ञानेनात्मना, अथवा सर्वेषु द्रव्यपर्यायेषु सन्यपर्यायजातं नान्यथेति सामान्यविशेषपरिच्छेदान्निश्चिताशेषज्ञेयप्रपञ्चस्वरूपः सर्वसमन्वा गतप्रज्ञान आत्मेत्युच्यते, अथवा-शुमाशुमफ्लसकलकत्तापरिज्ञानान्गत्कतिर्यक्तरास्तम्न सर्वसमन्वागतप्रज्ञान आत्माट्योत्ते ज्यवा-शुमाशुमफ्रिकादिगुणयुक्ते संसारसुखे मोक्षानुष्ठानमाविष्ठुर्व्य सर्वसमन्वागतप्रज्ञान आत्माटमिधीयते, तेनैवविधेवान्यन्यात्मा ॥

'अकरणीयम्' अकर्त्तव्यमिहपरलोकविरुद्धत्वादकार्यमिति मत्वा नान्वेषयेत्न

For Private & Personal Use Only

तदुपादानाय यलं कुर्यादित्यर्थः, किं पुनः तदकरणीयं नान्वेषणीयमिति ?, उच्यते, 'पापं कर्म' अधःपतनकारित्वात्पापं क्रियत इति कर्म, तच्चाप्टादशविधं प्राणातिपातमृषावादादत्तादानमैथुन-परिग्रहकोयमानमायालोमप्रेमद्वेषकलहाम्याख्यानपैशून्यपरपरिवादारत्यरतिमायामृषामिथ्यादर्शन-शल्याख्यमिति, एवमेतत् पापमष्टादशमेदं नान्वेषयेत्—न कुर्यात् स्वयं न चान्यं कारयेत् न कुर्वाणमन्यमनुमोदेत । एतदेवाह - 'तं परिण्णाय मेहावी'त्यादि 'तत्' पापमष्टादशप्रकारं परिः-समनात् ज्ञात्वा मेधावी-मर्यादावान् नैव स्वयंषङ्जीवनिकायशस्त्रं स्वकायपरकायादिमेदं समारमेत नैवान्यैः समारम्भयेत् न चान्यान् समारममाणान् समनुजानीयात्, एवं यस्यैते सुपरीक्ष्यकारिणः षड्जीवनिकायशस्त्रसमारम्भाः तद्विषियाः पापकर्म्मविशेषाः परिज्ञाता ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च, स एव मुनिः प्रत्याख्यातकर्म्मत्वात्—प्रत्याख्याताशेषपापागमत्वात्, तदन्यैवंविधपुरुषवदिति । इतिशब्दोऽध्यनपरिसमाप्तिप्रदर्शनाय, ब्रवीमीति सुधर्मस्वाम्याह स्वमनीषिकाव्यावृत्तये, मगवतोऽपनीतघनधातिकर्म्मचतुष्टयस्य समासादिताशेषपदार्थाविर्मावक दिव्यज्ञानस्य प्रणताशेषगीर्वाणाधिपतेश्चतुस्त्रिशयसयित्तशयसमन्वितस्य श्रीवर्द्यानाम्वा उपदेशात्सर्वमेतदाख्यातं यदतिकान्तं मयेति । उक्तंः सूत्रानुगमः निक्षेपश्च ससूत्रस्पर्शनिर्युक्तिः। अधनन्तं-१, उद्देशकः-७ समासः

सम्प्रति नया नैगमादयः, ते चान्यत्र सुक्तिचारिताः, सङक्षेपतस्तु सर्वेऽपि एते द्वेषा भवन्ति, ज्ञाननयाश्चरणनयाश्च, तत्र ज्ञाननया ज्ञानमेव प्रधानं मोक्षसाधनमित्यध्यवस्यन्ति, हिताहित-प्राप्तिपरिहारकारित्वात् ज्ञानस्य, तत्पूर्वकसकलदुःखप्रहाणाद्य ज्ञानमेव न तुक्रिया, चरणनयास्तु र रणस्य प्राधान्यभिदधति, अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्यत्वात्सकलपदार्थानां, तथाहि-सत्यपि ज्ञाने सकलवस्तुग्राहिणि समुल्लसितेन चरणमन्तरेण भवधारणीयकर्मोच्छेदः, तदनुच्छेदाद्य मोक्षालामः, तस्मान्न ज्ञानं प्रधानं, चरणे पुनः सति सर्वमूलोत्तरगुणाख्ये घात्तिकर्मोच्छेदः, तदुच्छेदात्, केवला-वबोधप्राप्तिः, ततश्च यथाख्यात्वारित्रेवहिज्वालाकलापप्रतापितसकलकर्मकन्दोच्छेदः, तदुच्छेदात्, ठेवला-दव्याबाधसुखलक्षणमोक्षावाप्तिरिति, तस्माद्धरणं प्रधानमित्यध्यवस्यामः । अत्रोच्यते, उभय-मपोतन्मिय्यादर्शनं, यत उक्तम् –

 १९११ ''हयं नाणं कियाहीणं, हया अत्राणओ किया । पासंतो पंगुलो दड्ढो, धावमाणो य अंधओ ॥'' तदेवं सर्वेऽपि नयाः परस्परनिरपेक्षा मिथ्यात्वरूपतया न सम्यग्भावमनुभवन्ति, समुदितास्तु यथावस्थितार्यप्रतिपादनेन सम्यक्त्वं भवन्ति, यत उक्तम् – ॥९॥ ''एवं सव्वेवि नया मिच्छादिष्ठी सपक्खपडिबद्धा । जण्णोण्णणिस्सिया पुण हवंति ते चेव सम्पत्तं ॥'' तस्मादुभयं परस्परसापेक्षं मोक्षप्राप्तये अलं, न प्रत्वेकं ज्ञानं चरणं चेति, निर्दीषः खल्वेष पक्ष इति व्यवस्थितं । तथा चोभयप्राधान्यदिदर्शयिषयाह – ॥९॥ सव्वेसिंपि नयाणं बहुविधवत्तव्वयं निसामेत्ता । तं सव्वनयविसुद्धं जं चरणगुणडिओ साहू ॥ चरणं च गुणश्च चरणगुणौ तयोः स्थितश्चरणगुणस्थितः, गुणशब्दोपादानात् ज्ञानमेव परिगृह्यते, यतो न कदाचिदात्मनो गुणिनस्तेन ज्ञानास्येन गुणेन वियोगोऽस्ति, ततोऽसौ सहमावी गुणः, अतो बहुविधवक्तव्यं नयमार्गमवधार्यापि सङक्षेपात् ज्ञानाचरणयोरेव स्थातव्यमिति निश्चयो विदुषां, न चाभिलषितप्राप्तिः केवलेन चरणेन ज्ञानहीनत्वात्, अन्धगमिक्रियाप्रतिविशिष्ट-प्रदेशप्राप्तिवत्, न च ज्ञानमात्रेणाभीष्टप्राप्तिः, क्रियाहीनत्वात्, चक्षुर्ज्ञानसमन्वितपद्भुपुरुष अर्धदग्ध-नगरमध्यावस्थितयधावस्थितदर्शिज्ञानवत् तस्मादुभयं प्रधानं, नगरदाहिनिर्गमे पङ्गवन्ध-संयोगक्रियाज्ञानवत् ॥ एवभिदमाचाराङ्गसन्दोहमूतंप्रयमाध्ययनं षङ्जीवनिकायस्वरूपरक्षणोपाय-गर्भमादिमध्यावसानेषु दयैकरसमेकान्तहितापत्तिकारि मुमुक्षुणा यदाऽधीतं भवति सूत्रतः शिक्षकेणार्थतश्चावधृतं भवति श्रद्धानसंवेगाभ्यां च यथावदात्मीकृतं भवति ततोऽस्य महाव्रतारोपणमुपस्थापनं परीक्ष्यनिशीथाद्यभिहितक्रमेण सचित्तपृथिवीमध्यगमनादिना श्रद्दधानस्य सर्वं यथाविधिकार्यम्। कः पुनरुपस्थापने विधिरिति?, अत्रोच्यते, शोभनेषुतियिकरणनक्षत्रमुहूर्तेषु द्रव्यक्षेत्रभावेषु च भगवतां प्रतिकृतीरभिवन्दा प्रवर्द्धमानाभिः स्तुतिभिः अध पादपतितोत्थितः सूरिः सह शिक्षकेणमहाव्रतारोपणप्रत्सयं कायोत्सर्गमुत्सार्यैकैकंमहाव्रतमादित आरभ्य त्रिरुद्धारयेद् यावत्निशिभुक्तिविरतिरविकला त्रिरुद्धारिता,

-पश्चादिदं त्रिरुच्चरितव्यम्-'इच्चेइयाइं पंच महव्वयाइं राइभोयणवेरमणछन्नाइं अत्तहियत्त्रयाए उपसंपञ्जित्ता णं विहराभि' पश्चाद्वन्दनकं दत्त्वोखितोऽभिधत्ते अवनताङ्गयष्टिः-'संदिशत किं भणामी'ति ?, सूरिः प्रत्याह- 'वन्दित्वाऽभिधत्तवे'त्येवमुक्तोऽभिवन्दोत्थितो भणति-'युष्पाभिर्मम महाव्रतान्यारोपितानि इच्छाम्युनुशिष्टि'मिति, आचार्योऽपि प्रणिगदति -'निस्तारकपारगे भवाचार्यगुणैर्वर्द्धत्व' वचनविरतिसमनन्तरं च सुरभिवासचूर्णमुष्टिं शिष्यत्य शिरसि किरति, पश्चाद्वन्दनकं दत्त्वा प्रदक्षिणीकरोत्याचार्यं नमस्कारमावर्त्तयन्, पुनरपि वन्दते, तयैव च करोति सकलक्रियानुष्ठानम्, एवं त्रिप्रदक्षिणीकृत्य विरमति शिष्यः, शेषाः साधवश्चास्य मूर्छियुगपद्वासमुष्टिं विमुर्ञ्चन्ति सुरभिपरिमलां यतिजनसुलमकेसराणि वा, पश्चात्कारितकार्योत्सर्गः सूरिभिदधाति-गणस्तव कोटिकः स्यानीयं कुलं वैराख्या शाखा अमुकाभिधान आचार्य उपाध्यायश्च, साध्व्याः प्रवर्त्तनी तृतीयोद्देष्टव्या, यथाऽऽसन्नं चोपस्थाप्यमाना रलाधिका भवन्ति, पश्चादाचान्तं निर्विकृतिकं वा स्वगच्छसन्ततिसमायातमाचरन्तीति ।

एवमेतदध्ययनमादिमध्यान्तकल्याणकलापयोगि भव्यजनतामनःसमाधानाधायि ग्रियविप्रयोगादिदुःखावर्त्तबहुलकषायझषादिकुलाकुलविषमसंसृतिसरित्तारणसमर्थममलदयैक-रसमसकृदभ्यसितव्यं मुमुक्षुणेति ॥

#### अध्ययनं-१ - समातम्

मुनि दीपरत्नसागरेण संशोधिता सम्पादिता शीलाङ्काचार्य विरचिता प्रथमश्रुतस्कन्धे प्रथम मध्ययनटीका परिसमाप्ता ।

# (अध्ययनं-२ - लोकविजयः)

नमः श्रीवर्द्धमानाय, वर्द्धमानाय पर्ययैः । उक्ताचारप्रपञ्चाय, निष्प्रपञ्चाय तायिने ॥

11911

### ॥२॥ शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिगहनमितीव किल वृतं पूज्यैः । श्रीगन्धहस्तिमिश्रैर्विवृणोमि ततोऽहमवशिष्टम् ॥

**वृ.** उक्तं प्रथमाध्ययनं, साम्प्रतं द्वितीयमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः- इह हि मिथ्यात्वोपशमक्षयक्षयोपशमान्यतरावाप्तसम्यप्दर्शनज्ञानकार्यस्थास्यन्तिकैकान्तानावाधपरमानन्द-स्वतत्त्त्वसुखानावरणज्ञानादर्शनलक्षणलक्षितमोक्षकारणस्याश्रवनिरोधनिर्जरारूपस्य मूलोत्तरगुणभेदभिन्नस्य चारित्रस्यापराशेषव्रतवृतिकल्पनिष्पादितिनिष्प्रत्यूहसकलप्राणिगण-सङ्घटनपरितापनापद्रावणनिवृत्तिरूपस्य संसिद्धये भरणाभावप्रसङ्गादभूतगुणात्मधर्म्मज्ञानोप-लब्धेर्बार्हस्पत्यमतनिरासेन सामान्यतो जीवास्तित्वं प्रतिपाद्य विशेषतश्च बौद्धादिमतिनिरा-सेनैकेन्द्रियावनिवजाननलपवनवनस्पतिभेदांश्च जीवान् प्रकटय्य यथाक्रमं समानजातीया-श्मलताद्युद्भेददर्शनादर्शोमांसाङ्कुरवत् अविकृतभूमिखननोपलब्धेर्मण्डूकवत्त् विशिष्टाहारो-पचयापचयशरीराभिवृद्धिक्षयान्वयव्यतिरेकगतेरर्भकशरीरवत् अपरप्रेरिताप्रतिहितानियर्ततिर-श्रीनगमनाद्गवाश्वदिवत् सालक्तकनूपुरालङ्कारकामिनीचरणताडनविकारधिगतेः कामुक-वदित्यादिभिः प्रयोगैः तथोद्यैः शिर उद्घाटच सूक्ष्मबादरदित्रिचतुष्पश्चेन्द्रियसंज्ञीतरप-र्याप्तकअपर्याप्तकभेदांश्च प्रदर्श्य शस्त्रं च स्वकायपरकायभेदभिन्नं तद्वधे बन्धं विरतिं च प्रतिपाद्य पुनरपि तदेव चारित्रं यथा सम्पूर्णभावमनुभवति तथाऽनेनाध्ययनेनोपदिश्यते,

-तथाहि-अधिगतशस्त्रपरिज्ञास्त्र्र्ञार्थस्य तत्यतिपादितैकेन्द्रियपृथिवीकायादिश्रद्धानस्य सम्यक् तद्रक्षापरिणामवतः सर्वोपाधिशुद्धस्य तद्योग्यतयाऽऽरोपितपञ्चमहाव्रतभारस्य साधाे-र्यथा रागादिकषायलोकस्य शब्दादिविषयलोकस्य वा विजयो भवति तथाऽनेनाध्ययनेन प्रतिपा-घते । तथा च निर्युक्तिकारेणाध्ययनार्थाधिकारः शस्त्रपरिज्ञायां प्राग्निरदेशि - ''लोओ जह बज्झइ जह य तं विजहियव्वं''ति, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति।तत्र सूत्रार्थकथनमनुयोगः, तस्य द्वाराणिउपाया व्याख्याङ्गानीत्यर्थः, तानि चोपक्रभादीनि, तत्रोपक्रमो देधा-शास्त्रानुगतः शास्त्रीयः लोकानुगतो लौकिक इति, निक्षेपस्त्रिधाओध-नामसूत्रालापकनिष्पन्नभेदात्, अनुगमो देधा-सूत्रानुगमो निर्युक्त्यनुगमश्च, नया-नैगमादयः । तत्र शास्त्रीयोपक्रमान्तर्गतोऽर्धाधिकारो द्वेधा-अध्ययनार्धाधिकार उद्देशार्धीधिकारद्य, तत्राध्ययनार्थाधिकारोऽध्ययनसम्बन्धे शस्त्रपरिज्ञायांप्रागेव निरदेशि, उद्देशार्थाधिकारं तुस्वयमेव निर्युक्तिकारः प्रचिकटयिषुराह --

-: अध्ययनं-२, उद्देशकः-१ :-

### नि. [१६३] सयणे य अदढत्तं बीयगंमि माणो अ अत्यसारो अ। भोगेसु लोगनिस्साइ लोगे अममिज्जया चेव।।

वृ.तत्र प्रथमोद्देशकार्थाधिकारः 'स्वजने' मातापित्रादिके अभिष्वङ्गोऽधिगतसूत्रार्थेन न कार्य इत्यध्याहारः, तथा च सूत्रम् - 'माया मे पिया मे' इत्यादि १, 'अदढत्तं बीयगंमि'त्ति द्वितीय उद्देशकेअद्दढत्वं संयमे न कार्यमिति शेषः, विषयकषायादौ चाद्दढत्वं कार्यमिति, वक्ष्यति च -'अरइं आउट्टे मेहावी' २, तृतीय उद्देशके 'मानो अ अत्थसारो अ'त्ति जात्याद्युपेतेन साधुना कर्म वशाद्विचित्रतामवगम्य सर्वमदस्थानानां मानो न कार्यः, आह च – 'के गोआवादी ? के माणावादी'त्यादि, अर्थसारस्य च निस्सारता वर्ण्यते, तथा च – 'तिविहेण जाऽवि से तत्य मत्ता अप्पा वा बहुगा वे'त्यादि ३, चतुर्थे तु 'भोगेसु'त्ति भोगेष्वभिष्वङ्गो न कार्य इति शेषः, यतो भोगि नामपायान् वक्ष्यति, सूत्रं च – 'थीहिं लोए पव्वहिए' ४, पश्चमे तु 'लोगनिस्साए'त्ति त्यक्तस्वज-नधनमानभोगेनापि साधुना संयमदेहप्रतिपालनाय स्वार्थारम्भप्रवृत्तलोकनिश्रया विहर्त्तव्यमिति शेषः, तथा च सूत्रम् – 'समुट्टिए अनगारे' इत्यादि जाव परिव्वए' ५, षष्ठोद्देशके तु – 'लोए अममिज्जया चेव' लोकनिश्रयाऽपि विहरता साधुना तस्मिन् लोके पूर्वापरसंस्तुतेऽसंस्तुते च न भमत्वं कार्यं, पङ्कजवत्तदाधारस्वभावानभिष्वङ्गिणा भाव्यमिति, तथा च सूत्रम्-जे ममाईयमइं जहाति से जहाति ममातियं' गाथातात्पर्यार्थः ॥

नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे लोकविजय इति द्विपदं नाम, तत्र लोकविजययोर्निक्षेपः कार्यः, सूत्रालापकनिष्पन्ने च निक्षेपे यानि निक्षेपार्हाणि सूत्रपदानि तेषां च निक्षेपः कार्यः, सूत्रपदोपन्यस्तमूलशब्दस्य च कषायाभिधायकत्वात् कषायाश्च निक्षेप्तव्याः, तदेवं नामनिष्पन्नं भविष्यत्सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपोपक्षिप्तं सामर्थ्यायातं च यन्निक्षेप्तव्यं तन्निर्युक्तिकारो गाथया सम्पिण्ड्याऽऽचष्टे –

## नि. [९६४] लोगस्स य विजयस्स य गुणस्स मूलस्स तह य ठाणस्स । निक्खेवो कायव्वो जंमूलागं च संसारो ॥

**वृ**.कण्ठचा, केवलं 'जंमूलागं च संसार' इति यन्मूलकः संसारस्तस्य च निक्षेपः कार्यः, तद्य मूलं कषायाः, यतः नारकर्तिर्यग्नरामरगतिस्कन्धस्य गर्भनिषेककललार्बुदमांसपेश्या दिजन्म-जरामरणशाखस्य दारिद्याद्यनेकव्यसनोपनिपातपत्रगहनस्य प्रियविप्रयोगाप्रियसम्प्रयो-गार्थनाशानेकव्याधिशतपुष्पोपचितस्य शारीरमानसोपचितव्रतरदुःखोपनिपातफलस्य संसारतरोर्मूलम्–आद्यं कारणं कषायाः-कषः-संसारस्तस्याऽऽया इतिकृत्वा ॥ तदेवं यान्यत्र नामनिष्पन्ने यानि च सूत्रालापकनिष्पन्ने निक्षेत्तव्यपदानि सम्पवन्ति तानि निर्युक्तिकारः सुहद्भूत्वा विवेकनाऽऽचष्टे –

नि. [१६५] लोगोत्ति य विजअत्ति य अज्झयणे लक्खणं तु निष्फण्णं ।

गुणमूलं ठाणंति य सुत्तालावे य निष्कण्णं ॥

वृ. कण्ठ्या, तत्र 'यथोद्देशस्तथा निर्देश'इति न्यायाल्लोकविजययोर्निक्षेपमाह –

नि. [१६६] लोगस्स य निक्खेवो अट्टविहो छब्विहो उ विजयस्स । भावे कसायलोगो अहिगारो तस्स विजएणं।।

**वृ.** तत्र लोक्यत इति लोकः, 'लोकृ दर्शन' इत्यस्माद्धातोः 'अकर्तरि च कारके संज्ञाया मिति धञ्, स च धर्म्माधर्म्मास्तिकायव्यवच्छिन्नमशेषद्रव्याधारं वैशाखस्थानस्थकटिन्यस्त-करयुग्मपुरुषोपलक्षितमाकाशखण्डं पश्चास्तिकायात्मको वेति, तस्य निक्षेपोऽष्टधा-नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभवभावपर्यवभेदात्, 'छव्विहो उ विजयस्त'त्ति विजयः अभिभवः पराभवः पराजय इति पर्यायाः, तस्य निक्षेपः षड्विधो वक्ष्यते, तत्राष्टप्रकारे लोके येनात्राधिकारस्तमाह - 'भावे कसायलोगो'त्ति भावलोकेनात्राधिकारः, स च भावः षट्प्रकार औदयिकादिः, तन्त्राप्यौदयिकभावकषायलोकेनाधिकारः, तन्मूलत्वात् संसारस्य, यद्येवं ततः किमतआह- 'अहिगारोतरस्तविजएणं'तिअधिकारो-व्यापारः,तस्य-औदयिकभावकषायलोकस्य 'विजयेन' पराजयेनेति गाथार्थः ।। तत्र लोकोऽष्टधा निक्षेपार्थं प्रागुपादेशि विजयश्च षोढा, तन्निक्षेपार्थमाह –

नि. [१६७] लोगो भणिओ दव्वं खित्तं कालो अ मावविजओ अ। भव लोगो भावविजओ पगयं जह वज्झई लोगो ॥

तत्र लोकश्चतुर्विशतिस्तवेविस्तरतोऽभिहितः, ननु च केयं वाचो युक्तिः ? 'लोकश्चतुर्विश-तिस्तवेऽभिहित' इति, किमत्रानुपपन्नम्?, उच्चते, इह ह्यपूर्वकरणप्रकमाधिरूढक्षपक-श्रेणिध्यानाग्निदग्धघातिकर्म्मन्धनेनोत्पन्ननिरावरणज्ञानेन विपच्यमानतीर्थकरनामाविर्भूत-चतुर्सित्रशदतिशयोपेतेन श्रीवर्द्धमानस्वामिना हेयोपादेयार्थाविर्मावनाय सदेवमनुजायां परिषद्याचारार्थो बभाषे, गणधरैश्च महामतिभिरचिन्त्यशक्त्युपेतैर्गौतमादिभिः प्रवचनार्थमश्रेषा-सुमदुपकाराय स एवाचाराङ्गतया दर्धने, आवश्यकान्तर्भूतश्चतुर्विशतिस्तवस्त्वारातीयकालभाविना मद्रबाहुस्वामिनाऽकारि, ततश्चायुक्तः पूर्वकालभाविन्याचाराङ्गेव्याख्यायमाने पश्चात्काल-भाविना चतुर्विशतिस्तवेनातिदेश इति कश्चित् सुकुमारमतिः, अत्राह-नैष दोषो, यतो भद्रबाहुस्वामिनाऽयमतिदेशोऽभ्यधायि, सच पूर्वमावश्यकनिर्युक्तिं विधाय पश्चादाचाराङ्गनिर्युक्तिं चक्रे, तथा चोक्तम् –

''आवस्सयस्स दसकालियस्स तह उत्तरज्झमायारे''ति सूक्तम् । विजयस्य तु निक्षेपं नामस्थापने क्षुण्णत्वादनाधत्य द्रव्यादिकमाइ- 'दव्व'मित्यादिना, द्रव्यविजयो व्यतिरिक्तो द्रव्येण द्रव्यात् द्रव्ये वा विजयः कटुतिक्तकषायादिना श्लेष्मादेर्नृपतिमल्लादेर्वा, क्षेत्रविजयः षट्खण्डभरतादेर्यस्मिन् वा क्षेत्रे विजयः प्ररूप्यते, कालविजय इति कालेन विजयो यथा षष्टिभिर्वर्षसहैर्भरतेन जितं भरतं, कालस्य प्राधान्यात्, भृतककर्मणि वा मासोऽनेन जित इति, यस्मिन् वा काले विजयो व्याख्यायत इति, भावविजय औदयिकादेर्भावस्य मावान्तरेण औपशमिकादिना विजयः ।तदेवं लोकविजययोः स्वरूपमुपदर्श्य प्रकृतोपयोग्याह- 'मवे'त्यादि, अन्नहि भवलोकग्रहणेन भावलोक एवाभिहितः, छन्दोभङ्गभीत्या हस्व एवोपादायि, तथा चावाचि - ''भावे कसायलोगो अहिगारो तस्स विजएणं'ति, तस्य औदयिकमावकषायलोकस्य औपशमिकादिमावलोकेन विजयो यत एतदन्न प्रकृतम्, इदमत्र द्र्दयम्-अष्टविधलो-कषड्विधविजययोः प्राग्व्यावर्णितस्वरूपयोर्भावलोकभावविजयाम्यामत्रोपयोग इति, यथा चाप्टप्रकारेण कर्म्मणा लोकः-प्राणिगणो वध्यते, बन्धस्योपलक्षणत्वाद्यथा च मुच्यत इत्येतदप्यत्राध्ययने प्रकृतिमिति गाधार्थः ॥ तेनैव भावलोकविजयेन किं फलमित्याह –

नि. [१६९] विजिओ कसायलोगो सेयं खुतओ नियत्तिउं होइ। कामनियत्तमई खलु संसारा मुच्चई खिप्पं ॥

ष्ट्र.'विजितः' पराजितः, कोऽसौ ?- कॅषायलोकः औदयिकभावकषायलोकइतियावत्, विजितकषायलोकः सन् किमवाप्नोतीत्याह - संसारान्मुच्यते क्षिप्रम्, अतस्तस्मान्निवर्त्तितुं श्रेयः, खुर्वाक्यालङ्कारे अवधारणे वा, निवर्त्तितुं श्रेय एव, किं कषायलोकादेव निवृत्तः संसारान्मुच्यते आहोश्विदन्यस्मादपि पापोपादानहेतोरिति दर्शयति - 'कामे'त्यादि गायार्द्ध सुगमम् । गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपावसरः, स च सूत्रे सति भवति, तत्रारखलितादिगुणोपेतं सूत्रानुगमे सूत्रमुचारयितव्यं, तच्चेदम् - 'जे गुणे से मुलद्वाणे जे मूलद्वाणे से गुणे' इत्यादि ।।

अस्य च निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमेन प्रतिपदं निक्षेपः क्रियते, तत्र गुणस्य पञ्चदशधा निक्षेपः-नि. [१६९] दव्वे खित्ते काले फल पञ्जव गणण करण अब्भासे।

गुणअगुणे अगुणगुणे मव सीलगुणे य मावगुणे ।।

वृ. नामगुणः स्थापनागुणः द्रव्यगुणः क्षेत्रगुणः कालगुणः फलगुणः पर्यवगुणः गणनागुणः करणगुणः अभ्यासगुणः गुणागुणः अगुणगुणः भवगुणः शीलगुणः भावगुणश्चेति गाथासमा -सार्थः 11 तदेवं सूत्रानुगमेन सूत्रे समुद्यरिते निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमेन तदवयवे निक्षिप्ते सत्युपोद्धातनिर्युक्तेरवसरः, साच 'उद्देसे'त्यादिना द्वारगाथाद्वयेनानुगन्तव्या। साम्प्रतं सूत्रस्पर्शिक-निर्युक्तेरवसरः, तत्रापि सुगमनामस्थापनाव्युदासेन द्रव्यादिकमाह –

नि. [१७०] दव्वगुणो दव्वं चिय गुणाण जं तंमि संभवो होइ। सम्रित्ते अम्रित्ते मीसंमि य होइ दव्वंमि।।

**ष्ट्र.** तत्र द्रव्यगुणो नाम द्रव्यमेव, किमति ?, गुणानां यतो गुणिनि तादात्मयेन सम्भवात् (वः), ननु च द्रव्यगुणयोर्लक्षणविधानभेदाद्भेदः, तथाहि-द्रव्यलक्षणं-गुणपर्यायवद्भव्यं, विधानमपि-धर्म्माधर्म्माकाशजीवपुद्गलादिकमिति, गुणलक्षणं-द्रव्याश्वयिणः सहवर्त्तिनो निर्गुणा गुणा इति, विधानमपि-ज्ञानेच्छाद्वेषरूपरसगन्धस्पर्शादयः स्वगतभेदभिन्ना इति, नैष दोषो, यतो द्रव्ये सचित्ताचित्तमिश्रभेदभिन्ने स गुणस्तादात्म्येन स्थितः, तत्राचित्तद्रव्यंद्विधा-अरूपि रूपि च तत्रारूपि-द्रव्यं त्रिधा-धर्म्माधर्म्माकाशभेदभिन्नं, तच्च गतिस्थित्यवगाहदानलक्षणं, गुणोऽप्यस्यामूर्त्तत्वा-गुरुलघुपर्यायत्वादेव, मृदो मृत्पिण्डस्थासकोशकुशूलपर्यायवत्, रूपिद्रव्यमपि स्कन्धतद्वेश-प्रदेशपरमाणुमेदं, तस्य च रूपादयो गुणाः अभेदेन व्यवस्थिताः, भेदेनानुपलब्धेः, संयोग-विभागामावात्, स्वात्मवत् I तथा सचित्तमप्युपयोगलक्षणलक्षितं जीवद्रव्यं, न च तत्साद्भिन्ना ज्ञानादयो गुणाः, तद्मेदे जीवस्याचेतनत्वप्रसङ्गात्, तत्सम्बन्धाद्भविष्यतीति चेत्, अनुपासि-तगुरोरिदं वचो, यतो न हि स्वतोऽसती शक्तिः कर्तुमन्येन पार्यते, न ह्यन्धः प्रदीपशतत्सन्बन्धेऽपि रूपावलोकनायालमिति I अनयैव दिशा मिश्रद्रव्येऽप्येकत्वसंयोजना स्वबुद्धयाकार्यति गायार्थः

तदेवं द्रव्यगुणयोरेकान्तेनैकत्त्वे प्रतिपादिते सत्याह शिष्यः-तत्किमिदानीमभेदोऽस्तु ?, नैतदप्यस्ति, यतः सर्वधाऽमेदेऽभ्युपगम्यमाने सत्येकेनैवेन्द्रियेण गुणान्तरस्याप्युपलब्धेर-परेन्द्रियवैफल्यं स्यात् तथाहि – चूतफलरूपादौ चक्षुराद्युपलभ्यमाने रूपाद्यात्मभूतावय-विद्रव्याव्यतिरिक्तरसादेरप्युपलब्धिः स्याद् रूपादिस्वरूपवद्, एवं ह्यभेदः स्याद्-यदि रूपादौ समुपलभ्यमानेऽन्येऽपि समुपलभ्येरन्, अन्यथा विरुद्धधर्म्पाध्यासाद्भिघेरन् घटपटवदिति । तदेवं भेदाभेदोपपत्तिभिर्व्याकुलितमतिः शिष्यः पृच्छति-उभयथाऽपि दोषापत्तिदर्शनात्कधं गृह्णीमः ?, आचार्य आह-अत एव भेदाभेदोऽस्तु, तत्राभेदपक्षे द्रव्यं गुणो भेदपक्षे तु भावो गुण इति, तथाहि-गुणगुणिनोः पर्यायपर्यायिणोः सामान्यविशेषयोरवयवावयविनोर्भेदाभेदव्य-वस्यानेनैवात्मभावसद्भावात्, आह हि –

| 11911 | ''दव्वंपञ्जवविजुयं दव्वविउत्ता य पञ्जवा नस्थि । |
|-------|---|
|       | उप्पायडिइभंगा हंदि दवियलक्खणं एयं ।।            |

॥२॥ नयास्तव स्यात्पदलाञ्छिता इमे, रसोपविद्धा इव लोहघातवः । भवन्त्यभिप्रेतफला यतस्ततो, भवन्तमार्याः प्रणता हितैषिणः ॥"

इत्यादि स्वयूय्यैरत्र बहुविजृम्भितमित्यलंविस्तरेण। एतदेव निर्युक्तिकारः समस्तद्रव्यप्रधाने जीवद्रव्ये गुणभेदेन व्यवस्थितमाह –

नि. [१७१] संकुचियवियसियत्तं एसो जीवस्स होइ जीवगुणो । पूरेइ हंदि लोगं बहुप्पएसत्तणगुणेणं ।।

व.जीवो हि सयोगिवीर्यसद् द्रव्यतया प्रदेशसंहारविसर्गाभ्यामाधारवशात् प्रदीपवत् सङ्कुचति विकसति च, एष जीवस्यात्मभूतो गुणो, भेदं विनाऽपि षष्ठयुपलब्धेः, तद्यथा-राहोः शिरः शिलापुत्रकस्य शरीरमिति, तद्भव एव वा सप्तसमुद्घातवशात् सङ्कुचतिविकसति च, सम्यक्-समन्ततः उत्-प्राबल्येन हननम्-इतश्चेतश्चात्मप्रदेशानां प्रक्षेपणं समुद्घातः, स च कषायवेदनामारणान्तिकवैक्रियतैजसाहारककेवलिसमुद्धातभेदात् सप्तधां, तत्र कषाय-समुद्घातोऽनन्तानुबन्धिइक्रोधाद्युपहतचेतस आत्मप्रदेशानामितश्चेतश्च प्रक्षेपः, इत्येवं तीव्रतरवेदनोपहतस्यापि वेदनासमुद्धातः, मारणान्तिकसमुद्धातो हि मुमूर्थोरसुमत आदित्सितोत्पत्तिप्रदेशे आलोकान्तादात्मप्रदेशानां भूयो भूयः प्रक्षेपसंहाराविति, वैक्रियसमुद्धातो वैक्रियलब्धिमतो वैक्रियोत्पादनाय बहिरात्मप्रदेशप्रक्षेपः, तैजससमुद्धातस्तैजसशरीरनिमित्तं तेजोलेश्यालब्धिमतस्तेजोलेश्याप्रक्षेपावसरे इति, आहारकसमुद्घातश्चतुर्दशपूर्वविद आहारकलब्धिमतः कचित्सन्देहापगमनाय तीर्थङ्करान्तिकगमनार्थमाहारकशरीरं समुपादातुं बहिरात्मप्रदेशप्रक्षेपः, केवलिसमुद्धातं तु समस्तलोकव्यापितयाऽन्तर्नीतान्यसमुद्धातं निर्युक्तिकारः स्वत एवाचष्टे – 'पूरयति' व्याप्नोति हन्दीत्युपप्रदर्शने, किम् ? – 'लोकं' चतुर्दशरज्जा-लकमाकाशखण्डं, कुतो ? , बहुप्रदेशगुणत्वात्, तथाहि - उत्पन्नदिव्यज्ञान आयुषोऽ ल्पत्वमवधार्य वेदनीयस्य च प्राचुर्यं दण्डादिक्रमेण लोकप्रमाणत्वादात्मप्रदेशानां लोकमापूरयति, तदुक्तम् -''दंड कवाडे मंयंतरे य'त्ति गाथार्थः ॥ गतो द्रव्यगुणः, क्षेत्रादिकमाह —

नि. [१७२] देवकुरु सुसमसुसमा सिद्धी निब्मय दुगादिया चेव। कत्त भोअणुञ्च वंके जीवमजीवे य मावंमि॥

**वृ.** क्षेत्रगुणः देवकुर्वादिः, कालगुणे सुषमसुषमादिः, फलगुणे सिद्धिः पर्यवगुणे निर्भजना, गणनागुणे दिकादि, करणगुणे कलाकौशल्यम्, अभ्यासगुणे भोजनादि, गुणागुणे ऋजुता, अगुणगुणे वक्रता, भवगुणशीलगुणयोर्भावगुणार्थमुपात्तेन जीवग्रहणेन गतार्थत्वाद्गाद्यायायां पृथगनुपादानं, भवगुणो जीवस्य नारकादिर्भवः, शीलगुणो जीवः क्षान्त्याद्युपेतो, भावगुणो जीवाजीवयोः, इति संयोज्यैकैको व्याख्यायते – तत्र देवकुरूत्तरकुरुहरिवर्षरम्यकहैमवतहैरण्यवत्तषट्पश्चाश-दन्तरद्वीपकाकर्म्भभूमीनामयं गुणो, यदुत तत्रत्यमनुजा देवकुमारोपमाः सदावस्थितयौवना निरुपक्रमायुषो मनोज्ञशब्दादिविषयोपभोगिनः स्वभावमार्द्वार्जवप्रकृतिभद्रकगुणासन्नदेवलोक-गतयश्च भवन्ति । कालगुणोऽपि भरतैरावतयोस्तिसृष्वप्येकान्तसुषमादिषु समासु स एव सदावस्थितयौवनादिरिति। फलमेवगुणः फलगुणः, फलंच क्रियाया मवति, तस्याश्च क्रियायाः सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रहिताया ऐहिकामुष्मिकार्यं प्रवृत्ताया अनात्यन्तिकोऽनैकान्तिको भवन् फलगुणोऽप्यगुण एव भवति, सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रक्रियायास्त्वैकान्तिकात्यन्तिकाना-बाधसुखाख्यसिद्धिफलगुणोऽवाप्यते, एतदुक्तं मवति –

सम्यग्दर्शनादिकैव क्रिया सिद्धिफलगुणेन फलवती, अपरा तु सांसारिकसुखफलामास एव, फलाध्यारोपात्रिष्फलेत्यर्थः । पर्यायगुणो नाम द्रव्यस्यावस्थाविशेषः पर्यायः स एव गुणः पर्यायगुणः, गुणपर्याययोर्नयवादान्तरेणामेदाभ्युपगमात्, स च निर्भजनार्र्ल्पो, निश्चिता भजना निर्भजना – निश्चितो माग इत्यर्थः, तथाहि - स्कन्ध द्रव्यं देशप्रदेशेन भिद्यमानं परमाण्वन्तं मेदं ददाति, परमाणुरप्येकगुणकृष्णद्विगुणकृष्णादिना अनन्तशोऽपि भिद्यमानो भेददायीति । गणनागुणो नाम दिकादिकः, तेनच सुमहतोऽपि राशेर्गणनागुणेनेयत्ताऽवधार्यते । करणगुणोन्तमकलाकौशलं, तथाहि-उदकादौ करणपाटवार्थं गात्रोत्सेपादिकां क्रियां कुर्वन्ति । अभ्यासगुणो नाम भोजनादिविषयः, तद्यथा -- तदहर्जातबालकोऽपि मवान्तराभ्यासात् स्तनादिकं मुख एव प्रक्षिपति उपरतरुदितश्च भवति, यदिवाऽभ्यासवशात् सन्तमसेऽपि कवलादेर्मुखविवरप्रक्षेपाद्वया(पो व्या)-कुलितचेतसोऽपि चतुदग्दात्रकण्डूयनमिति । गुणागुणो नाम गुण एव कस्यचिदगुणत्वेनविपरिणमते, यथाऽऽर्जवोपेतस्यर्जुत्वाख्यो गुणो मायाविनः प्रत्यगुणो भवति, उक्तं च – ''शाठ्वं द्वीमति गण्यते व्रतरुचौ दम्पः शुचौ कैतवं, शूरेनिर्धृणता ऋजौ विमतिता दैन्यं प्रियाभाषिणि । तेजस्विन्यवलिप्तता मुखरता वक्तर्यशक्तिः स्थिरे, तत्को नाम गुणो भवेत् स विदुषां यो दुर्ज्रनैर्नाङ्कितः ? अगुणगुणो नामागुण एव च कस्यचित् गुणत्वेन विपरिणमते, सच वक्रविषयो, यथा गौर्गलिरजातकिणस्कन्धो गोगणस्य मध्ये सुखेनैवास्ते, तथा च --

11911

''गुणानामेव दौर्जन्याद्धुरि धुर्यो नियुज्यते ।

असञातकिणस्वन्धः, सुखं जीवति गौर्गलिः ॥"

भवगुणो नाम भवन्ति-उत्पद्यन्ते तेषु तेषु स्थानेष्थिति नारकादिर्भवः, तत्र तस्य वा गुणो भवगुणः, सच जीवविषयः, तद्यथा--नारकास्तीव्रतरवेदनासहिष्णवस्तिल- शश्चिछन्नसन्धानिनोऽ-वधिमन्तश्च भवगुणादेव मवन्ति, तिर्यश्चश्च सदसदिवेकविकला अपि सन्तो गगनगमनलब्धिमन्तो, गवादीनां च तृणादिकमप्यशनं शुभानुमावेनापद्यते, मनुजानां चाशेषकर्म्पक्षयो, देवानां च सर्वशुभानुभावो भवगुणादेवेति । शीलगुणो नाम परैराक्नुश्यमानोऽपि शीलगुणादेव न क्रोधवशो भवति, अथवा शब्दादिके शोभने अशोभने वा स्वभावादेव विदितवेद्यवन्माध्यस्थ्यमवलम्बते । भावगुणो नाम भावाः-औदयिकादयस्तेषां गुणो भावगुणः, स च जीवाजीवविषयः, तत्र जीवविषय-औदयिकादिः षोढा, तत्रौदयिकः प्रशस्तोऽप्रशस्तश्च, तीर्थकराहारकशरीरादि; प्रशस्तः, अप्रशस्तस्तु शब्दादिविषयोपमोगहास्यरत्यरतीत्यादिः, औपशमिक उपशमश्रेण्यन्तर्गतायुष्कक्षयानुत्तर-विमानप्राप्तिलक्षणस्तया सत्कर्मानुदयलक्षणश्चेति, क्षायिकमावगुणश्चतुर्द्धा, तद्यधा --

क्षीणसंसकस्य पुनर्मिथ्यात्वागमनं १ क्षीणमोहनीयस्यावर्श्यमाविशेषघातिकर्म्मक्षयः २ क्षीणघातिकर्म्मणोऽनावरणज्ञानदर्शनाविर्मावः ३ अपगताशेषकर्म्मणोऽपुनर्मवस्तथा- SSत्यन्तिकैकान्तिकानाबाधपरमानन्दलक्षणसुखावाप्ति ४ श्वेति, क्षायोपशमिकः क्षायोपशमिक दर्शनाद्यवाप्तिरिति, पारिणामिको भव्यत्वादिरिति, सान्निपातिकस्तवौदयिकादिपश्चभाव-समकालनिष्पादितः, तद्यथा-मनुष्यगत्युदयादौदयिकः सम्पूर्णपश्चेन्द्रियत्वावाप्तेः क्षायोपशमिकः दर्शनसप्तकक्षयात् क्षायिकः चारित्रमोहनीयोपशमदौपशमिकः भव्यत्वात्पारिणामिक इति, उक्तो जीवभावगुणः । साम्प्रतमजीवभावगुणः, स चौदयिकपारिणामिकयोरेव सम्भवति, नान्येषां, तत्रौदयिकस्तावद् उदये भव औदयिकः, स चाजीवाश्रयोSनया विवक्षया, यदुत-काश्चित्तप्रकृतयः पुद्गलविपाकिन्य एव भवन्ति, काः पुनस्ताः ?, उच्यन्ते, औदारिकादीनि शरीराणि पञ्चषट् संखानानि त्रीण्यङ्गोपाङ्गानिषट् संहननानि वर्णपञ्चकं गन्धद्वयं पञ्च रसा अष्टी स्पर्शा अगुरुलघुनाम उपघातनाम पराघातनाम उद्योतनाम आतपनाम निर्म्नाणनाम प्रत्येकनाम साधारणनाम स्थिरनाम अस्थिरनाम शुभनाम अशुभनाम, एताः सर्वा अपि पुद्गलविपाकिन्यः, सत्यपि जीवसम्बन्धित्वे पुद्गलविपाकित्वादासामिति, पारिणामिको Sजीवगुणस्तु द्वेधा - अनादिपारिणामिकः सादि-पारिणामिकश्चेति, तत्रानादिपारिणामिको धर्म्पाधर्म्पाकाशानां गतिस्थित्यवगाहलक्षणः, सादिपारिणामिकस्त्वम्रेन्द्रघनुरादीनां परमाणूनां च वर्णादिगुणान्तरापत्तिरिति गाथा तात्पर्या र्थः ।। उक्तो गुणो, मूल निक्षेपार्थमाह ~

नि. [१७३] मूले छक्टं दवे ओदइउवएस आइमूलं च । खित्ते काले मूलं मावे मूलं मवे तिविहं ॥

वृ. मूलस्य षोढा निश्वेषो, नामस्थापनाद्रव्यक्षेत्रकालभावभेदात्, नामस्थापने गतार्थे, द्रव्यमूलं इाशरीरमव्यशरीरव्यतिरिक्तं त्रिधा-औदयिकमूलमुपदेशमूलमादिमूलं चेति, तत्रौदयिकद्रव्यमूलं वृक्षादीनां मूलत्वेन परिणतानि यानि द्रव्याणि, उपदेशमूलं यच्चिकित्सको रोगप्रतिधातसमर्थं मूलमुपदिशत्यातुरायेति, तच्च पिप्पलीमूलादिकं, आदिमूलं नाम यद्वृ क्षादिमूलोत्पत्तावाद्यं कारणं, तधत् स्थावरनामगोत्रप्रकृतिप्रत्ययान्मूलनिर्वर्त्तनोत्तरप्रकृतिप्रत्ययाच्च मूलमुपद्यत्ते, एतदुक्तं मवति -तेषामौदारिकशरीत्वे मूलनिर्वर्त्तकानां पुद्गलानामुदयिष्यतां कार्म्पणं शरीरमाद्यं कारणं, क्षेत्रमूलं यस्मिन् क्षेत्रे मूलमुत्पद्यते व्याख्यायते वा, एवं कालमूलमपि, यावन्तं वा कालं मूलमास्ते, भावमूलं तुत्रिधेति गायार्थः ॥ तथाहि –

नि. [१७४] ओदाइयं उवदिष्ठा आइ तिगं मूल भाव ओदइअं।

आयरिओ उवदिड्ठा विणयकसायादिओ आई ।।

मृत्यं त्रिविधम् – औदयिकभावमूलम् उपदेष्ट मूलम् आदिमूलं चेति, तत्रौदयिकभावमूलंवनस्पतिकायमूलत्वमनुभवन्नामगोत्रकर्म्पोदयात् मूलजीव एव, उपदेष्ट भावमूलं त्वाचार्य उपदेष्टा-यैः कर्म्मभिः प्राणिनो मूलत्वेनोत्पद्यन्ते, तेषामपि मोक्षसंसारयोर्वा यदादिभावमूलं तस्य चोपदेष्टेत्येतदेव दर्शयति – 'विणयकसाइओ आई' तत्र मोक्षस्यादिमूलं ज्ञानदर्शन-चारित्रतपऔपचारिकरूपः पश्चधा विनयः, तन्मूलत्वान्मोक्षावाप्तेः, तथा चाह –

 !!१।।
 "विनया नाणं णनणाउ दंसणं दंसणाहि चरणं तु ।

 चरणाहिंतो मोक्खो मुक्खे सुक्खं अणाबाहं ।।

 ॥२॥
 विनयफलं शुश्रूषा गुरुशुश्रूषाफलं श्रुत ज्ञानम् ।

 ज्ञानस्य फलं विरतिर्विरतिफलं चाश्रवनिरोधः ।।

| 11311 | संवरफलं तपोबलमथ तपसो निर्जरा फलं दृष्टम् ।      |
|-------|---|
| •     | तस्माक्रियानिवृत्तिः क्रियानिवृत्तेरयोगित्वम् ॥ |
| 11811 | योगनिरोधाद् भवसन्ततिक्षयः सन्ततिक्षयान्मोक्षः । |
|       | तस्मात्कल्याणानां सर्वेषां भाजनं विनयः ॥''      |

इत्यादि संसारस्य त्वादिमूलं विषयकषाया इति ।। मूलमुक्तमिदानीं स्थानस्य पश्चदशधा निक्षेपमाह –

नि. [१७५] नामंठवणादविए खित्तद्धा उङ्ढ उवरई वसही। संजम पग्गह जोहे अयल गणण संघणा भावे॥

**वृ**. तत्र द्रव्यस्थानं ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्याणां सचित्ताचित्तमिश्राणां स्थानम्-आश्रयः, क्षेत्रस्थानं भरतादि उर्द्धाधस्तिर्यग्लोकादिर्वेति, यत्र वा क्षेत्रे स्थानं व्याख्यायते, अद्धा-कालः तस्थानं द्विधा-कायस्थितिभवस्थितिभेदात्, तत्र कायस्थितिः पृथिव्यसेजोवायूनामसङ्खयेया उत्सर्ष्पिण्यवसर्पिण्यः, वनस्पतेस्तु ता एवानन्ताः, विकलेन्द्रियाणामसङ्खयेया वर्षसहाम्राः पञ्चेन्द्रियतिर्यग्मनुजानां सप्ताष्टौ वा भवाः । भवस्थितिस्तु वायूदकवनस्पतिपृथिवीनां त्रिसप्तद-शद्वाविंशतिवर्षसहात्मिका, तेजसस्त्रीण्यहोरात्राणि, द्वीन्द्रियाणां शङ्कादीनां द्वादश वर्षाणि, त्रीन्द्रियात्र्यग्मनुष्याणां त्रीणि पल्योपमानि, देवानांनारकाणां च कायस्थितेरभावाद्भवस्थितिः त्रयस्त्रिंशत्त्तागरोपमाणीति, इयमुत्कृष्टा द्विरुपापि, जधन्या तु सर्वेषामन्तर्मुहूर्त्तात्मिका, नवरं देवनारकयोर्दश वर्षहस्वाणीति, अथवा अद्धास्थानं-समयावलिकामुहूर्त्ताहोरात्रपक्षमा-सर्त्वदानसंवत्सरयुगपल्योपमसागरोपमोत्सर्थिण्यवसर्थिणीपुद्गलपरावर्त्ततितानागत-सर्वाद्धारूपमिति । उर्द्धवस्थानं तु कायोत्सर्गादिकर्म्, अस्योपलक्षणत्वात्निषण्णाद्यपि गृद्धते ।

उपरतिः-विरतिः, तत्स्थानंदेशे सर्वत्र च श्रावकसाधुविषयं। वसतिस्थानं यो यत्र ग्रामगृहादौ वसति । संयमस्थानं संयमः-सामायिकच्छेदो पस्थापनीयपरिहारविशुद्धिसूक्ष्मसम्पराय-यथाख्यातरूपः, तस्य पञ्चविधस्याप्यसङ्खयेयानि संयमस्थानानि, कियदसङ्खयमिति चेत् अतीन्द्रियत्वादर्थस्य न साक्षात्रिर्देष्टुं शक्यते, आगमानुसारोपमया तूच्यते-इहैकसमयेन सूक्षाग्निजीवा असङ्खयेयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणा उत्पद्यन्ते, तेभ्योऽग्निकायत्वेन परिणता असङ्खयेयगुणाः ततोऽपि तत्कायस्थितिरसङ्खयेयगुणाः, ततोऽप्यनुभागबन्धाध्यवसाय-स्थानान्यसङ्खयेयगुणानि, संयमस्थानान्यप्येतावन्त्येवेति सामान्यतः, विशेषतत्त्तूच्यते-सामायिकच्छेदोपस्थापनीयपरिहारविशुद्धीनां प्रत्येकमसङ्खयेयलोकाकाशप्रदेशतुल्यानि संयमस्थानानि, सूक्ष्मसम्परायस्य त्वान्तर्मुहूर्त्तिकत्वादन्तर्मुहूर्त्तसमयतुल्यान्यसङ्खयेयानि संयमस्थानानि, यथाख्यातस्यत्वेकमेवाजघन्योत्कृष्टं संयमस्थानम्, अथवा संयमश्रेण्यन्तर्गतााने संयमस्थानानि ग्राह्यणि, सा चानेन क्रमेण भवति, तद्यथा-आनन्तचारित्रपर्यायनिष्पादितमेकं संयमस्थानम्, असङ्खयेयसंयमस्थाननिर्वर्त्तितं कण्डकं, तैश्चासङ्खयेयैर्जनितं षट्स्थानकं, तदसङ्खयेयास्थिका श्रेणीति।

प्रग्रहत्थानं तु प्रकर्षेण गृह्यते वचोऽस्येति प्रग्रहः-ग्राह्यवाक्यो नायक इत्यर्थः, स च लौकिको

लोकोत्तरश्च, तस्य स्थानं प्रग्रहस्थानं, लौकिकं तावत्पश्चविधं, तद्यथा-राजा युवराजो महत्तरः अमात्यः कुमारश्चेति, लोकोत्तरमपि पश्चविधं, तद्यथा-आचार्योपाध्यायप्रवृत्तिस्थविर-गणावच्छेदकभेदादिति । योधस्थानं पञ्चधा, तद्यथा-आलीढप्रत्यालीढवैशाखमण्डलसमपाद भेदात् । अचलस्थानं तु चतुर्द्धा-सादिसपर्यवसानादिभेदात्, तद्यथा-सादिसपर्यवसानं परमाण्वादेर्द्रव्यस्यैकप्रदेशादाववस्थानं । जघन्यत एकं समयमुत्कृष्टतश्चासङ्खयेयकालमिति, साद्यपर्यवसानं सिद्धानां भविष्यदद्धारूपम्, अनादिसपर्यवसानमतीताद्धारूपस्य शैलेस्यव-स्थान्त्यसमये कार्म्मणतैजसशरीरमव्यत्वानां चेति, अनाद्यपर्यवसानं धर्म्माधर्म्माकाशानामिति गणनास्थानमेकद्वयादिकं शीर्षप्रहेलिकापर्यन्तं । सन्धानस्थानं दिधा-द्रव्यतो भावतश्च, पुनरप्येकैकं द्विधा-छिन्नाच्छिन्नभेदात्, तत्र द्रव्यच्छिन्नसन्धानं कञ्चुकादेः, अच्छिन्नसन्धानं तु पक्ष्मोलद्य-मानतन्त्वादेरिति, भावसन्धानमपि प्रशस्ताप्रशस्तभेदात् द्वेधा, तत्र प्रशस्ताच्छिन्नमावसन्धानम्पशम-क्षपकश्रेण्यामारोहतो जन्तोरपूर्वसंयमस्थानान्यच्छिन्नान्येव भवन्ति, श्रेणिव्यतिरेकेण वा प्रवर्द्धमानकण्डकस्येति, छिन्नप्रशस्तमावसन्धानं पुनरौपशमिकादिभावादौदयिकादिभावा-न्तरगतस्य पुनरपि शुद्धपरिणामवतः तत्रैव गमनम्, अप्रशस्ताच्छिन्नभावसन्धानमुपशमश्रेण्याः प्रतिपततोऽविशुद्धयमानपरिणामस्यानन्तानुबन्धिमिथ्यात्वोदयं यावत्, उपशमश्रेणिमन्तरेणापि कषायवशात् बन्धाध्यवसायस्थानान्युत्तरोत्तराण्यवगाहमानस्य वा इति, अप्रशस्तच्छित्रभावसन्धानं पुनरौदयिकभावादौपशमिकादिभावान्तरसङकान्तौ सत्यां पुनस्तत्रैव गमनमिति । इह द्वारद्वयं यौगपद्येन व्याख्यातं, तत्र सन्धानस्थानं द्रव्यविषयमितरत्तुं भावविषयमित्युक्तं स्थानम् ॥ अथवा भावस्थानं कषायाणां यत् स्थानं तदिह परिगृह्यते, तेषामेव जेतव्यत्वेनाधिकृतत्वात्, तेषां किं स्थानं ?, यदाश्रित्य च ते भवन्ति, शब्दादिविषयानाश्रित्य च ते भवन्तीति तद्दर्शयति -

नि. [१७६] पंचसु कामगुणेसु य सद्दफरिसरसरूवगंधेसुं। जस्स कसाया वहंति मूलहाणं तु संसारे॥

**ष्ट्र.** तत्रेच्छानङ्गरूपः कामस्तस्य गुणा यानाश्रित्यासी चेतसो विकारमादर्शयति, ते च शब्दस्पर्शररूपगन्धास्तेषु पञ्चस्वपिव्यस्तेषु समस्तेषु वा विषयभूतेषु 'यस्य' जन्तोर्विषय- सुखपि-पासोन्भुखस्यापरमार्थदर्शिनः संसाराभिष्वङ्गिणो रागद्वेषतिमिरोपण्तुतध्देर्मनोज्ञेतर-विषयोपलब्धौ सत्यां कषाया 'वर्त्तन्ते' प्रादुर्मवन्ति, तन्मूलश्च संसारपादपः प्रादुर्भवतीत्यत्तः शब्दादिविषयोद-भुत(ताः) कषायाः 'संसारे' संसारविषयं मूलस्थानमेवेति, एतदुक्तं भवति-सगाद्युपहत्तचेताः परमार्थमजानानोऽतत्स्वभावेऽपि तत्स्वभावारोपणेनान्धादप्यन्धतमः कामी मोदते, यत आह -

II९।। "देश्यं वस्तु परं न पश्यति जगत्यन्धः पुरोऽवस्थितं, रागान्धस्तु यदस्ति तत्परिहरन् यत्रास्ति तत् पश्यति ।

!! कुदेन्दीवरपूर्णचन्द्रकलशश्रीमछतापछवानारोष्याशुचिराशिषुप्रियतमागात्रेषु यन्मोदते ॥ द्वेषं वा कर्कशब्दादौ व्रजतीति, ततश्च मनोज्ञेतरशब्दादिविषयाः कषायाणां मूलस्थानं, ते च संसारस्येति गाथातात्पर्यार्थः ॥ यदि नाम शब्दादिविषयाः कषायाः कथं तेभ्यः संसार इति ?, उच्यते, यतः कर्म्मस्थितेः कषाया मूलं, साऽपि संसारस्य, संसारिणश्चावश्यंभाविनः कषाया इति, एतदेवाह — जह संख्वपायवाणं भूमीए पइडियाइं मूलाइं । इय कम्मपायवाणं संसारपइडिया मूला ॥

**वृ.** यथा सर्वपादपानां भूमी प्रतिष्ठितानि मूलानि, एवं कर्मपादपानां संसारे कषायरूपाणि मूलानि प्रतिष्ठितानीति गाथार्थः ।। ननु च कथमेतच्छ्रद्धेयं-कर्म्मणः कषाया मूलमिति ?, उच्यते, यतो मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः, तथा चागम;- ''जीवे णं भंते ! कतिहिं ठाणेहिं णाणावरणिज्ञं कम्मं बंधइ ?, गोयमा ! दोहिं ठाणेहिं, तंजहारागेण व दोसेण व । रागे दुविहे-माया लोभे य, दोसे दुविहे-कोहे य माणे य । एएहिं चउहिं ठाणेहिं वीरिओवगूहिएहिं नाणावरणिज्ञं कम्मं बंधइ'' एवमष्टानामपि कर्म्मणां योज्यमिति । ते च कषाया मोहनीयान्तः पातिनोऽष्टप्रकारस्य च कर्म्मणः कारणं, मोहनीयं कामगुणानां च (इति) दर्शयति –

नि. [१७८] अडविहकम्परुक्खा सव्वे ते मोहणिज्रमूलागा । कामगुणमूलगं वा तम्पूलागं च संसारी ।।

वृ. यदवादि प्राक् - 'इय कम्पपायवाणं' तत्र कतिप्रकाराः ते कर्म्पपादपाः किंकारणा श्रेति ? , उच्यते– अष्टविधकर्म्पवृक्षाः, ते सर्वेऽपि मोहनीयमूलाः, न केवलं कषायाः, कामगुणा अपि मोहनीयमूलाः, यस्माढेदोदयात् कामाः, वेदश्च मोहनीयान्तःपातीत्यतस्तन्मोहनीयं मूलम्-आद्यं कारणं यस्य संसारस्य स तथा इति गाधार्थः ।। तदेवं पारम्पर्येण संसारकषायकामानां कारण- त्वान्मोहनीयं प्रधानभावमनुभवति, तस्क्षये चावश्यम्भावी कर्म्पक्षयः, तथा चाभाणि –

॥९॥ ''जेह मत्थयसूईए, हथए हम्पए तलो । तहा कम्पाणि हम्पंति, मोहणिज्जे खयं गए '

--तच्च द्विधा-दर्शनचारित्रमोहनीयभेदात्, एतदेवाह --

नि. [१७९] दुविहो अ होइ मोहो दंसणमोहो चरित्तमोहो अ। कामा चरित्तमोहो तेणहिगारो इहं सुत्ते ॥

वृ. मोहनीयं कर्म्म द्वेधा भवति, दर्शनमोहनीयं चारित्रमोहनीयं चेति, बन्धहेतोर्स्वेविध्यात्, तथाहि-अर्हत्सिद्धचैत्यतपः- श्रुतगुरुसाधुसक्घप्रत्यनीकतया दर्शनमोहनीयं कर्म्म बघ्नाति, येन चासावनन्तरसंसारसमुद्रान्तः पात्येवावतिष्ठते, तथा तीव्रकषायबहुरागद्वेषमोहाभिभूतः सन् देशसर्वविरत्युपधाति चारित्रमोहनीयं कर्म्म बघ्नाति, तत्र मिथ्यात्वसम्यग्पिथ्यात्वसम्यक्त्वभेदात्रेधा दर्शनमोहनीयं, तथा षोडशकषायनवनोकषायभेदाच्चारित्रमोहनीयं पश्चविंशतिधा, तत्र कामाः शब्दादयः पश्च चारित्रमोहः, तेन चात्र सूत्रेऽधिकारो, यतः कषायाणां स्थानमत्र प्रकृतं, तच्च शब्दादिकपञ्चगुणात्मकमितिगाथार्थः ।।तत्र चारित्रमोहनीयोत्तप्रकृतिस्त्रीपुंनपुंसकवेदहास्यरति-लोमाश्रितकामाश्वयिणः कषायाः संसारमूलस्य च कर्म्मणः प्रधानं कारणमिति प्रचकटयिषुराह-

नि. [१८०] संसारस्स उ मूलं कम्मं तस्सवि हुंति य कसाया। ते सयणपेसअत्याइएसु अञ्झत्यओ अ ठिआ ॥

वृ. 'संसारस्य' नारकतिर्यग्नरामरगतिसंसृतिरूपस्य (मूलं)कारणमष्टप्रकारं कर्म्म, तस्यापि कर्म्मण्ट-क्रोधादयोनिमित्तं भवन्ति । तेषां च प्रतिपादितशब्दादिस्थानानां प्रचुरस्थानत्वप्रतिपादनाय पुनरपि स्थानविशेषं गाथाशकलेनाह — स्वजनः-पूर्वापरसंस्तुतो मातापितृश्वशुरादिकः प्रेष्यो-भृत्यादिर्त्थो-धनधान्यकुप्य- वास्तुरत्नभेदरूपः ते स्वजनादयः कृतद्वन्द्वा आदिर्येषां मित्रादीनां

नि. [१७७]

तेषु स्थिताः कषाया विषयरूपतया, अध्यात्मनि च विषयिरूपतया प्रसन्नचन्द्रैकेन्द्रियादीनामिति गायार्थः ।। तदेवं कषायस्थान- प्रदर्शनेन सूत्रपदोपात्तं स्थानं परिसमाप्य तेषामेव कषायाणां सूत्रमूलपदोपात्तानां जेतव्यत्वाधिकृतानां निक्षेपमाह --

नि. [9८9] नामंठवणादविए उप्पत्ती पद्यए य आएसो। रसभावकसाए या तेण य कोहाइया चउरो।।

वृ.यथाभूतार्धनिरपेक्षमभिधानमात्रं नाम, सद्भावसद्भावरूपा प्रतिकृतिः, स्थापना, कृतमीमभ्रकुट्युत्कटललाट (पट) घटितत्रिशूलरक्तास्यनयनसन्दष्टाधरस्पन्दमानस्वेदसलिल-वित्रपुस्ताद्यक्षवराटकादिगतेति, द्रव्यकषाया ज्ञशरीरमव्यशरीराभ्यां व्यतिरिक्ताः कर्म्मद्रव्यकषाया नोकर्म्मद्रव्यकषायाश्चेति, तत्रादित्सितात्तानुदीर्णोदीर्णाः पुद्गलद्रव्याप्राधान्यात् कर्म्मद्रव्य-कषायाः, नोकर्म्मद्रव्यकषायाश्चेति, तत्रादित्सितात्तानुदीर्णोदीर्णाः पुद्गलद्रव्याप्राधान्यात् कर्म्मद्रव्य-कषायाः, नोकर्म्मद्रव्यकषायास्तु बिभीतकादयः, उत्पत्तिकषायाः शरीरोपधिक्षेत्रवास्तुस्याण्वादयो यदाश्चित्य तेषामुत्पत्तिः, तथा चोक्तम् –

1911 'किं एत्तो कड़यरं जं मूढी थाणुअम्मि आवडिओ । थाणुस्स तस्स रूसइ न अप्पणो दुप्पओगस्स ''

प्रत्ययकषायाः कर्षायाणां ये प्रत्ययाः-यानि बन्धकारणानि, ते चेह मनोज्ञेतरभेदाः शब्दादयः, अत एवोत्पत्तिप्रत्ययोः कार्यकारणगतो भेदः, आदेशकषायाः कृतिमकृतभ्रूकुटी-भन्नादयः, रसतो रसकषायः कटुतिक्तकषायपञ्चकान्तर्गतः, मावकषायाः शरीरोपधिक्षेत्रवास्तुस्व-जनप्रेष्याचदिनिमित्ताविर्भूताः शब्दादिकामगुण- कारणकार्यभूतकषायकर्मोदयात्मपरिणा-मविशेषाः क्रोधमानमायालोभाः, ते चैकैकशोऽनन्तानुबन्ध्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्याना-वरणसञ्जयलनभेदेन भिद्यमानाः षोडशविधा भवन्ति, तेषां च स्वरूपानुबन्धफलानि गाथामिरभिधीयन्ते, ताश्चेमाः-

| 11911        | ''जलरेणुपुढविपव्वयराईसरिसो चउव्विहो कोहो । |
|--------------|--|
|              | तिणिसलयाकइडि़यसेलत्थंभोवमो माणो ॥          |
| <u>[[3]]</u> | मायावलेहिगोमुत्तिमेंढसिंगघणवंसमूलसमा ।     |
|              | लोभो हलिद्दकद्दमखंजणकिमिरायसामाणो ॥        |
| ll311        | पक्खचउमासवच्छरजावझीवाणुगामिणो कमसो ।       |
|              | देवनरतिरियनारयगइसाहणहेयवो भणिया ॥''        |

एषां च नामाद्यष्टविधकषायनिक्षेपाणां कतमो नयः कमिच्छतीत्येतदभिधीयते-तत्र नैगमस्य सामान्यविशेषरूपत्वान्नैकगमत्वाद्य तदभिप्रायेण सर्वेऽपि साधवो नामादयः, सङ्गच्यवहारौ तु कषायसम्बन्धाभावादादेशसमुत्पत्ती नेच्छतः, ऋजुसूत्रस्तु वर्त्तमानार्थनिष्ठत्वादा-देशमुत्पत्तिस्थापना नेच्छति, शब्दस्तु नाम्नोऽपि कथश्चिद्भावान्तर्भावान्नामभावाविच्छतीति गाथातात्पर्यार्थः ।। तदेवं कषायाः कर्म्मकारणेत्वेनोक्ताः, तदपि संसारस्य, स च कतिविध इति दर्शयति –

नि. [१८२] दव्वे खित्ते काले भवसंसारे अ भावसंसारे । पंचविहो संसारो जत्थेते संसरति जिआ ॥ **वृ.** द्रव्यसंसारो व्यतिरिक्तो द्रव्यसंसृतिरूपः, क्षेत्रसंसारो येषु क्षेत्रेषु द्रव्याणि संसरनि, कालसंसारः यस्मिन् काल इति, नारकतिर्यग्नरामरगतिचतुर्विधानपूर्व्यवयाद्भवान्तरसङक्मणं भवसंसारः, भावसंसारस्तु संसृतिस्वभाव औदयिकादिभावपरिणतिरूपः, तत्र च प्रकृतिस्थित्य-नुभागप्रदेशबन्धानां प्रदेशविपाकानुभवनम् एवं द्रव्यादिकः पश्चविधः संसारः, अथवा द्रव्यादि-कश्चतुर्था संसारः, तद्यथा-अश्वाद्धस्तिनं ग्रामान्नगरं वसन्ताद् ग्रीष्मं औदयिकादीभाव गाधार्थः ॥ तस्मिश्च संसारे कर्मवशगाः प्राणिनः संसरन्तीत्यतः कर्म्मनिदर्शनार्थमाह

नि. [१८३] नामंठवणाकम्मं दव्वकम्मं पओगकम्मं च !

समुदानिरियावहियं आहाकम्मं तवोकम्मं ॥

# नि. [१८४] किइकम्म भावकम्मं दसविह कम्म समासओ होइ। अट्ठ विहेण उ कम्मेण एत्य होइ अहिगारो ॥

**दृ.** नामकर्म्म कर्म्मार्थशून्यभिधानमात्रं, स्थापनाकर्म्म पुस्तपत्रादौ कर्मवर्गणानं सद्भावासद्भावरूपास्थापना, द्रव्यकर्म व्यतिरिक्तिंद्विधा-द्रव्यकर्म्मनोद्रव्यकर्म्मच, तत्र द्रव्यकर्म कर्म्मवर्गणान्तः पातिनः पुद्गलाः बन्धयोग्या बध्यमाना बद्धाश्चानुदीर्णा इति, नोद्रव्यकर्म कृषीबलादिकर्म्म । अथ कर्म्मवर्गणान्तः पातिनः पुद्गला द्रव्यकर्म्मेत्यवाचि, काः पुनस्ता वर्गणा इति सङ्कीत्तर्यन्ते ?, इह वर्गणाः सामान्येन चतुर्विधाः-द्रव्यक्षेत्रकालमावभेदात्, तत्र द्रव्यक एकद्वयादिसङ्क्वयेयासङ्ख्येयानन्तप्रदेशिकाः क्षेत्रतो ऽवगाढद्रव्यैकद्वयादिसङ्खयेयासङ्खयेय-प्रदेशात्मिकाः कालत एकद्वयादिसङ्खयेयासङ्क्वयेयासम्बन्ध्येयसम्बन्धितिकाः भावतो रूपरसगन्धस्पर्शस्वग-तभेदात्मिकाः सामान्यतः,—

-विशेषतस्तूच्यन्ते-तत्र परमाणूनामेका वर्गणा, एवमेकैकपरमाणूपचयात् सह्वयेम् प्रदेशिकानां स्कन्धानां सद्वयेयाः असद्वयेप्रदेशिकानामसद्वयेयाः, एताश्चौदारिकादिए रिणामाग्रहणयोग्याः, अनन्तप्रदेशिकानामप्यनन्ता अग्रहणयोग्याः, ता उल्लह्वय औदारिक ग्रहणयोग्यास्त्वनन्तानन्तप्रदेशिकाः खल्वनन्ता एव भवन्ति, तत्रायोग्योत्कृष्टवर्गणायां रूपे प्रक्षिप्ते औदारिकशरीरग्रहणयोग्या जघन्या वर्गणा भवति, पुनरेकैकप्रदेशवृद्धया प्रवर्द्धमाना औदारिकशरीरग्रहणयोग्या जघन्या वर्गणा भवति, पुनरेकैकप्रदेशवृद्धया प्रवर्द्धमाना औदारिकयोग्योत्कृष्टवर्गणायावदनन्ता भवन्ति, अध जघन्योत्कृष्टयोः को विशेषः ?, जघन्यत् उत्कृष्टा विशेषाधिकाः, विशेषस्त्वस्या एवौदारिकजघन्यवर्गणाया अनन्तभागः, तत्य चानन्तपरमाणुमयत्वादेकैकोत्तरप्रदेशोपचये सत्यप्यौदारिकयोग्यवर्गणानां जघन्योत्कृष्टम ध्यवर्त्तिनीनामानन्त्यं, तत्तऔदारिकयोग्योत्कृष्टवर्गणायां रूपप्रक्षेपेणायोग्यवर्गणाजघन्या भवन्ति, एता अप्येकैकप्रदेशवृद्धयोत्कृष्टान्ता अनन्ता भवन्ति,

जघन्योत्कृष्टवर्गणानां को विशेषः ?, जघन्याभ्योऽसङ्ख्येयगुणा उत्कृष्टाः, ताश्च बहुप्रदेशत्वादतिसूक्ष्मपरिणामत्वाद्यौदारिकस्यानन्त एवाग्रहणयोग्या भवन्ति, अल्प- प्रदेशत्व-द्वादरपरिणामत्वाद्य वैक्रियस्यापीति, अत्र च यथा यथा प्रदेशोपचयस्तथा तथा विश्वसापरिणाम-वशाद्वर्गणानां सूक्ष्मतरत्वमवसेयम् । एतदेवोत्कृष्टोपरि रूपप्रक्षेपयोग्यायोग्यादिकं वैक्रिय-शरीरवर्गणानां जघन्योत्कृष्टविशेषलक्षणं चावसेयं, तथा वैक्रियाहारकान्तरत्न- वर्त्त्ययोग्यवर्गणानां जधन्योत्कृष्टविशेषासङ्गख्येयगुणत्वमिति, पुनरप्ययोग्यवर्गणोपरि रूपप्रक्षेपात् जघन्याहार-कशरीयोग्यवर्गणा भवन्ति, ताश्च प्रदेशवृद्धया वर्द्धमाना उत्कृष्टां यावदनन्ता भवन्ति, अद्य जधन्योत्कृष्टयोः कियदन्तरमिति ? उच्यते, जघन्याभ्य उत्कृष्टा विशेषाधिकाः को विशेष इति-चेत् ?, जघन्यवर्गणाया एवानन्तभागः, तस्याप्यनन्तपरमाणुत्वादाहारकशरीरयोग्यवर्गणानां प्रदेशोत्तरवृद्धानामानन्यमिति मावना, तस्यामेवोत्कृष्टवर्गणायां रूपे प्रक्षिप्ते जघन्या आहारकाग्रह-णयोग्यवर्गणाः, ततः प्रदेशवृद्धया वर्द्धमाना उत्कृष्टां यावदनन्ता एव आहारकस्य सूक्ष्मत्वाद् बहुप्रदेशत्वाद्यायोग्या एव भवन्ति, बादरत्वादल्पप्रदेशवृद्धया वर्द्धमाना उत्कृष्टां यावदनन्ता एवआहारकस्य सूक्ष्मत्वाद् बहुप्रदेशत्वाद्यायोग्या एव भवन्ति, बादरत्वादल्पप्रदेशत्वाद्य तैजसत्येति,

जधन्योत्कृष्टयोः कियदन्तरमिति ? उच्यते, जधन्याभ्य उत्कृष्टा अनन्गतगुणाः, केन गुणकार- णेति चेत्, अमव्येभ्योऽनन्तगुणाः सिद्धानामन्तभाग इति, तदुपरि रूपे प्रक्षिप्ते तैजसशरीरवर्गणा जघन्याः, एता अपि प्रदेशवृद्धया वर्द्धमाना उत्कृष्टां यावदनन्ता भवन्ति, अथ जधन्योत्कृष्टयोः कियदन्तरं ?, जधन्याम्य उत्कृष्टा विशेषस्तु जधन्यवर्गणानन्तभागः, तस्याप्यनन्तप्रदेशत्वाञ्जधन्योत्क्रष्टान्तरालवर्गणानामानन्त्यं भवति, तैजसोत्कृष्टवर्गणोपरि रूपे प्रक्षिप्ते सत्यग्रहणवर्गणा भवन्ति, एवमेकादिवृद्धयोत्कृष्टान्ता अनन्ताः, ताश्चातिसुक्ष्मत्वाद् बहुप्रदेशत्वाच तैजसस्याग्रहणयोग्याः, बादरत्वात् अल्पप्रदेशत्वाच भाषाद्रव्यस्यापीति, ज्यन्योत्कृष्टयोरनन्तगुणत्वेन विशेषो, गुणकारश्चामव्येभ्योऽनन्तगुणः सिद्धानामनन्तभाग इति, तस्यामयोग्योत्कृष्टवर्गणायां रूपे प्रक्षिप्ते जघन्या भाषाद्रव्यवर्गणा भवति, तस्याश्च प्रदेशवृद्धया उक्तृ ध्वर्गणापूर्यन्ताम्यनन्तानि स्थानानि भवन्ति, जघन्योक्तृ ष्टयोर्विशेषो जघन्यवर्गणा-नन्तभागाधिकोत्कृष्टवर्गणा भवति, अत्राप्यनन्त-भागस्यानन्तपरमाण्वात्मकत्वाद्भाषा-द्रव्ययोग्यवर्गणानामानन्त्यमवसेयं, तदनेनैकादिप्रदेश- वृद्धिप्रक्रमेणायोग्यवर्गणानां जधन्योत्कृष्टादिकं ज्ञातव्यं, नवरं जधन्योत्कृष्टयोर्मेदोऽयम् – अभव्यानन्तरगुणः सिद्धानन्त-भागालकः, तासां च पूर्व्वहेतुकदम्बकादेव भाषाद्रव्यानापनद्रव्य- योरयोग्यत्वमवसेयम्, अयोग्योत्कृष्टवर्गणायां रूपे प्रक्षिते आनापानवर्गणा जघन्या, ततो रूपोत्तरवृद्धयोत्कृष्टवर्गणान्ता अनन्ता भवन्ति, जधन्यातउत्कृष्टा जघन्यानन्तभागाधिका, तदुपरि रूपोत्तरवृद्धया जधन्योत्क्रष्टभेदेनाग्रहणवर्गणा, विशेषस्त्वभव्येभ्योऽनन्तगुणः सिद्धानामनन्तभागः, पुनरप्ययोग्योत्कृष्टवर्गणोपरि प्रदेशादिवृद्धया जघन्योत्कृष्टभेदा मनोद्रव्यवर्गणा, जघन्य वर्गणानन्तभागो विशेषः, पुनरपि प्रदेशोत्तरक्र मेणाग्रहणवर्गणा, विशेषश्चाभव्यानन्तगुणादिकः, ताश्च प्रदेशबहुत्वादतिसूक्ष्मत्वाद्य मनोद्रव्यायोग्याः, अल्पप्रदेशत्वाद्, बादरत्वाच कार्म्मणस्यापि, तदुपरि रूपे प्रक्षिप्ते जघन्याः कार्म्मणशरीरवर्गणाः, पुनरप्येकैकप्रदेशवृद्धया वर्द्धमाना उत्कृष्टा यावदनन्ता भवन्ति.

अथ जधन्योत्कृष्टयोः कः प्रतिविशेष इति ?, उच्यते, जघन्यवर्गणानन्तभागाधि-कोकुष्टवर्गणा, सचानन्तभागोऽनन्तानन्तपरमाण्यात्मकोऽत एवानन्तभेदमिन्नाः कर्म्मद्रव्यवर्गणा एवं भवन्ति, आभिश्चात्र प्रयोजनं, द्रव्यकर्म्मणो व्याचिख्यासितत्वादिति । शेषा अपि वर्गणाः क्रमायाताः विनेयजनानुग्रहार्थं व्युत्पाद्यन्ते-पुनरप्युत्कृष्टकर्म्मवर्गणोपरि रूपादिप्रक्षेपेण जधन्योत्कृष्टभेदमिन्ना ध्रुववर्गणाः, जधन्याभ्य उत्कृष्टाः सर्व्वजीवेभ्योऽनन्तगुणाः, तदुपरि स्पप्रक्षेपा– दिक्रमेणानन्ता एव जघन्योत्कृष्टमेदा अघ्रुववर्गणाः, अध्रुवत्वादध्रुवाः, पाक्षिकसद्भावादध्रुवत्वं, जधन्योत्कृष्टमेदोऽनन्तरोक्त एव, तदुत्कृष्टोपरि रूपादिप्रवृद्धया जघन्योत्कृष्टभेदा अनन्ता एव शून्या वर्गणा भवन्ति, जधन्योत्कृष्टविशेषः पूर्ववत्, तासां संसारेऽप्यमावात् शून्यवर्गणा इत्यमिधानम्, एतदुक्तं भवति-अध्रुववर्गणोपरि प्रदेशवृद्धयाऽनन्ता अपि न सम्भवन्तीति प्रथमा शून्यवर्गणा, तदुपरि रूपादिवृद्धया जधन्योत्कृष्टमेदाः प्रत्येकशरीरवर्गणा भवन्ति, जधन्यातः क्षेत्रपत्थोपमा-- सङ्घयेयभागप्रदेशगुणोत्कृष्टा, तदुपरि रूपोत्तरादिवृद्धया जधन्योत्कृष्टभेदा अनन्ता एव शून्यवर्गणा भवन्ति, जधन्यवर्गणात उत्कृष्ट वत्सङ्क्षयेयभागप्रदेशगुणा, तदसङ्घयेयभागोऽप्यसङ्घयेयलोकात्मक इति द्वितीया शून्यवर्गणा, तदुपरि रूपादिवृद्धया बादरनिगोदशरीरवर्गणाजधन्यातः क्षेत्रपत्थोपमासङ्कयेयमागप्रदेगुणोत्कृष्टा, तदुपरि रूपादिवृद्धया जधन्योत्कृष्टभेदा तृतीया शून्यवर्गणा, उत्कृष्टा जधन्यातोऽसङ्कयेयगुणा,

को गुणकार इति ?, उच्यते, अङ्गुलासङ्कर्येयमागप्रदेशराशेरावलिकाकालासङ्कर्येयमाग-समयप्रमाणकृतपौनःपुन्यवर्गमूलस्यासङ्कर्येयमागप्रदेशप्रमाण इति, तदुपरि रूपोत्तरवृद्धया जघन्योत्कृष्टमेदा चतुर्थी शून्यवर्गणा, जघन्यात उत्कृष्टा चतुरस्त्रीकृतलोकस्यासङ्कर्ययाः श्रेण्यः, ताश्च प्रतरासङ्कर्येयमागतुल्या इति, तदुपरि रूपादिवृद्धया जघन्योत्कृष्टमेदा महास्कन्धवर्गणा, जघन्यात उत्कृष्ट क्षेत्रपल्योपमस्यासङ्कर्येयगुणा संख्येयगुणा वेति, । उक्ताः समासतो वर्गणाः, विशेषार्थिना तु कर्मप्रकृतिरवलोकनीयेति । साम्प्रतं प्रयोगकर्म, वीर्यान्तरायक्षयोपश-माविर्भूतवीर्येणात्मना प्रकर्षेण युज्यत इति प्रयोगः,

सचमनोवाक्कायलक्षणंः पञ्चदशघा, कथमिति ?, उच्यते, तत्र मनोयोगः सत्यासत्यमिश्रा-नुमयरूपश्चतुर्द्धा, एवं वाग्योगोऽपि, काय योगः सप्तधा-औदारिकौदारिकमिश्नवैक्रियवै-क्रियमिश्राहारकाहारकमिश्रकार्मणयोगमेदात्, तत्र मनोयोगो मनःपर्याप्तया पर्याप्तस्य मनुष्यादेः, दाग्योगोऽपि द्वीन्द्रियादीनाम्, औदारिकयोगस्तिर्यग्मनुजयोः शरीरपयप्तिरूद्धर्वं, तदारतस्तु मिश्रः, केवलिनो वा समुद्धातगतस्य द्वितीयषठसप्तमसमयेषु, वैक्रियकाययोगो देवनारकबादरवायूनाम्, अन्यस्य वा वैक्रियलब्धिमतः, तन्मिश्रस्तु देवनारकयोरुत्पत्तिसमयेऽन्यस्य वा वैक्रियं निर्वर्त्तयतः, आहारककाययोगश्चतुर्दशपूर्वविद आहारकशरीरस्यस्य, तन्मिश्रस्तु निर्वर्त्तनाकाले, कार्मणयोगो विग्रहगतौ केवलिसमुद्धाते वा तृतीयचतुर्थपञ्मसमयेष्विति । तदनेन पश्चदशविधेनापि योगेनात्माऽधौ प्रदेशान् विहायोत्तप्तमाजनोदकवदुद्वर्त्तमानैः सर्वैरेवात्मप्रदेशैरात्मप्रदेशा-वष्टब्धाकाशदेशस्यं कार्मणशरीरयोग्यं कर्मदलिकं यद् बघ्नाति तत्प्रयोगकर्मेत्युच्यते, उक्तं च-''जाव णं एस जीवे एयइ वेयइ चलइ फंदईत्यादि ताव णं अट्ठविहबंधए वा सत्तविहबंधए वा छव्विहबंधए वा एगविहबंधए वा नो णं अबंधए''।

समुदानकर्मसम्पूर्वादाङ्पूर्व्वाच्च ददातेर्ल्युङन्तात् पृषोदरादिपाठेन आकारस्योकारादेशेन रूपं भवति, तत्र प्रयोगकर्मणैकरूपतया गृहीतानां कर्मवर्गणानां सम्यग्मूलोत्तरप्रकृतिस्थित्य-नुभावप्रदेशबन्धमेदेनाङ्-मर्यादया देशबन्धो ज्ञानावरणीयादिः, उत्तरप्रकृतिबन्धस्तूच्यते-उत्तरप्रकृतिबन्धो ज्ञानावरणीयं पञ्चधा~मतिश्रुतावधिमनःपर्यायकेवलावरणमेदात्, तत्र केवलावारकं सर्वधाति शेषाणि तु देशसर्वधातीन्यपि, दर्शनावरणीयं नवधा-निद्रापञ्चकदर्शन-चतुष्टभेदात्, तत्र निद्रापञ्चकं प्राप्तदर्शनलब्ध्युपयोगोपघातकारि, दर्शनचतुष्टयं तुदर्शनलब्धिप्राप्तेरेव, अत्रापि केवलदर्शनावरणं सर्वधाति शेषाणि तु देशतः

वेदनीयं दिधा-सातासातभेदात्, मोहनीयं दिधा-दर्शनचारित्रभेदात्, तत्र दर्शनमोहनीयं त्रिधामिथ्यात्वादिमेदात्, बन्धतस्त्वेकविधं, चारित्रमोहनीयं षोडशकषायनवनोकषाय-भेदासञ्चविंशतिविधम्, अत्रापिमिथ्यात्वं सञ्जवलनवर्ज्जा द्वादशकषायाश्च सर्व्वधातिन्यः, शेषास्तु देशधातिन्य इति, आयुष्ठं चतुर्द्धा-नारकादिमेदात्, नाम दिचत्वारिंशद्मेदं गत्यादिमेदात्, त्रिनवतिमेदं चोत्तरोत्तरप्रकृतिभेदात्, गतिश्चतुर्द्धा जातिरेकेन्द्रियादिमेदात्पञ्चधा शरीराणि औदारिकादिमेदात्पञ्चधा औदारिकवैक्रियाहारकमेदादङ्गोपाङ्गंत्रिधा निर्म्पाणनाम सर्व्वजीवशरीरा-वयवनिष्पादकमेकघा बन्धननाम औदारिकादिकर्म्यवर्गणैकत्त्वापादकं पञ्चधा सङ्घातना -मौदारिकादिकर्मवर्गणारचनाविशेषसंस्थापकं पञ्चधा संस्थाननाम समचतुरस्नादि षोढा संहनननाम वज्रऋषमनाराचादि षोढैव स्पर्शोऽष्टघा रसः पञ्चधा गन्धो दिधा वर्णः पञ्चधा आनुपूर्वी नारकादिश्चतुर्द्ध विद्ययोगतिः प्रशस्तप्रशस्तमेदात् दिधा अगुरलघूपघातपराघातातापोद्योत्तो-च्ध्वास प्रत्येकसाधारणत्रसस्यावरशुभाशुमसुभयदुर्भगसुस्वरदुःस्व रसूक्ष्मबादरपर्याप्तका-पर्याप्तकस्थिरास्थिरादेयानादेययशःकीर्त्तिआयशःकीर्त्तिार्थकरनामानि प्रत्येकमेकविधानीति, गोत्रमुद्धनीचमेदात् दिधा, अन्तरायं दानलाममोगोपमोगवीर्यमेदात् पञ्चधेत्युक्तः प्रकृतिबन्धो, बन्धकारणानि त् गायामिरुच्चन्ते --

| •     | and managements                                |
|-------|--|
| 11911 | ''पंडिणीयमंतराइय उवधाए तप्पओस निन्हवणे ।       |
|       | आवरणदुगं बन्धइ भूओ अच्चासणाए य ॥               |
| 113 H | मूयाणुकंपवयजोगउज्जुओ खंतिदाणगुरुमत्तो ।        |
|       | बन्धइ मूओ सायं विवरीए बन्धई इयरं॥              |
| lişii | अरहतसिद्धचेइयतवसुअगुरुसाधुसंघपडिणीओ ।          |
|       | बंघइ दंसणमोहं अनंतसंसारिओ जेणं ॥               |
| IIXII | तिव्वकसाओ बहुमोइपरिणतो रागदोससंजुत्तो ।        |
|       | बंधइ चरित्तमों हं दुविहंपि चरित्तगुणघाईँ ॥     |
| 141   | मिच्छद्दिडी महारंभपरिग्गहो तिव्वलोभ निस्सीलो । |
|       | निरआउयं निबंधइ पावमती रोद्दपरिणामो ॥           |
| lişit | उम्मग्गदेसओ मग्गणासओ गूढहियय माइल्लो ।         |
|       | सढसीलो स ससझे तिरिआउँ बंधई जीवो ॥              |
| 11011 | पगतीएँ तणुकसाओ दानरओ सीलसंजमविहूणो ।           |
|       | मज्झिमगुणेहि जुत्तो मणुयाउं बन्धई जीवो ।       |
| lizii | अणुव्वय महव्वएहिँ य बालतवोऽकामनिज़राए य।       |
|       | देवाउयं निबंधइ सम्पद्दिष्ठी उ जो जीवो ॥        |
| lisii | मणवयणकायवंको माइल्लो गारवेहि पडिबद्धो ।        |
|       | असुमं बंधइ नामं तप्पडिपक्खेहि सुमनामं ।।       |

| llooll | अरिहंतादिसु भत्तो सुत्तरुई पयणुमाण गुणपेही । |
|--------|--|
|        | बन्धइ उद्यागोयं विवरीए बंधई इयरं ॥           |
| 119911 | पाणवहादीसु रतो जिणपूर्यामोक्खमग्गविग्धयरो ।  |
|        | अज्जेइ अंतरायं ण नइइँ जेणिच्छियं लाभं ॥"     |

स्थितिबन्धो मूलोत्तरप्रकृतीनामुॡूष्टज्ञधन्यभेदः, तत्रोॡ्रुष्टो मूलप्रकृतीनां ज्ञानावरणीय दर्शनावरणीयवेदनीयान्तरायाणां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः, यस्य च यावत्यः कोटीकोट्यः स्थितिस्तस्य तावन्त्येव वर्षशतान्यबाघा, तदुपरि प्रदेशतो विपाकतो वा अनुमवः, एतदेव प्रतिकर्म्मस्थित योजनीयं, सप्ततिर्म्मोहनीयस्य, नामगोत्रयोविशत्तिः, त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्यायुषः पूर्वकोटीत्रिभागोऽबाधा। जघन्यो ज्ञानदर्शनावरणमोहनीयान्तरायाणामन्तर्मुहूर्त्त, नामगोत्रयोरष्टौ मुहूर्त्ताः, वेदनीयस्य द्वादश, आयुषः क्षुल्लकभवः, स चानापानसप्तदशभागः ।

साम्प्रतमेतदेव बन्धद्वयमुत्तरप्रकृतीनामुच्यते-तत्रोत्कृष्टे मतिशश्रुतावधिमनः-पर्यायकेवलावरणनिद्रापञ्चकचक्षुर्दर्शनादिचतुष्कासद्वेद्यदानाद्यन्तरायपञ्चकभेदानां विंशतेरुत्तरप्रकृतीनां त्रिंशत्सागरोपमकोटीकोट्यः, स्त्रीवेदसातवेदनीयमनुजगत्यानुपूर्वीणां चत्रसणां पञ्चदश, मिध्यात्वस्यौधिकमोहनीयवत्, कषायषोडशकस्य चत्वारिंशत् कोटीकोट्यः, नपुं सकवेदारतिशोकभयजु गुप्सान रकतिर्य ग्गत्ये केन्द्रियपश्चेन्द्रियजात्यौदारिकवैक्रिय शरीरतदङ्गोपाङ्गद्वयतैजसकार्म्मणहण्डसंस्थानान्तयसंहननवर्णगन्धरसस्पर्शनरकतिर्यगा-नुपूर्वीअगुरुलधूपघातपराघातोच्छ्वासातपोद्योताप्रशस्तविहायोगतित्रसस्थावरबादरपर्याप्तक-प्रत्येकास्थिराशुभदुर्भगदुःस्वरानादेयायशःकीर्त्तिनिर्माणनीचैर्गोत्ररूपाणां त्रिचत्वारिंशत उत्तरप्रकृतिनां विंशतिः, पुंवेदहास्यरतिदेवगत्यानुपूर्वीद्वयाद्यसंस्थानसंहननप्रशस्त विहायोग-तिस्थिर- शुभसुभगसुस्वरादेययशःकीत्त्युच्चैर्गोत्ररूपाणां पश्चदशानामुत्तरप्रकृतीनां दश, न्यग्रोधसंस्थान- द्वितीयसंहननयोर्द्वादश तृतीयसंस्थाननाराचसंहननयोश्चतुर्दश कुब्जसंस्था-नार्धनाराचसंहननयोः षोडश वामनसंस्थानकीलिकासंहननद्वित्रिचतुरिन्द्रिय जातिसूक्ष्मा-आहारकतदङ्गोपाङ्गतीर्थकरनाम्नां पर्यासकसाधारणानामष्टानामुत्तरप्रकृतीनामष्टादश, सागरोपमकोटीकोटिर्भिन्नान्तर्मुहूर्त्तमबाधा, देवनारकायुषोरौधिकवत्, तिर्यग्मनुष्यायुषः पल्योपमत्रयं पूर्वकोटित्रिभागोऽबाधा,

उक्त उत्कृष्टः स्थितिबन्धो, जघन्य उच्यते-मत्यादिपश्चकचक्षुर्दर्शनाद्यावरणचतुष्क-सञ्जवलनलोभदानाद्यन्तरायपश्चकभेदानां पश्चदशानामन्तर्मुहूर्त्तमन्तर्मुदूर्त्तमेवाबाधा, निद्रापश्चकासातावेदनीयानां पण्णां सागरोपमस्य त्रयः सप्तभागाः पल्योपमासङ्घयेयभागन्यूनाः, सातावेदनीयस्य द्वादश मुहूर्त्ता अन्तर्मुहूर्त्तमबाधा, मिथ्यात्वस्य सागरोपमं पल्योपमासङ्घयेयभागन्यूनाः, सातावेदनीयस्य द्वादश मुहूर्त्ता अन्तर्मुहूर्त्तमबाधा, मिथ्यात्वस्य सागरोपमं पल्योपमासङ्घयेयभागन्यूनाः, सातावेदनीयस्य द्वादश मुहूर्त्ता अन्तर्मुहूर्त्तमबाधा, मिथ्यात्वस्य सागरोपमं पत्थोपमसङ्घयेय-भागन्यूनम्, आद्यकषायद्वादशकस्य चत्वारः सप्तभागाः सागरोपमस्य पल्योपमासङ्घयेयभागन्यूनाः, सञ्जवलनक्रोधस्य मासद्वयं, मानस्य मासः, तदर्धं मायायाः, पुंवेदस्याष्टै संवत्सराः, सर्वत्रान्त-र्मुहूर्त्तमबाधा, शेषनोकषायमनुष्यतिर्यग्गतिपश्चेन्द्रियजात्यौदारिकतदङ्गोपाङ्गतैजसकार्म्पण-षट्संस्थानसंहननवर्णनगन्धरसस्पर्शतिर्यग्मनुजानुपूर्व्वीअगुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासा-तपोधोतप्रशस्ताप्रशस्तविहायोगतियशःकीर्त्तिवर्जन्रसादिविंशतिकनिर्म्माणनीचैर्गोन्नदेव- गत्यानुपूर्वीद्वयनरकगत्यानुपूर्वी द्वयवैक्रियशरीरतदङ्गोपाङ्गरूपामणामष्टषष्टयुत्तरप्रकृ-तीनां सागरोपमस्य द्वौ सप्तभागी पल्योपमासङ्ख्येयभागन्यूनौ अन्तर्मुहूर्त्तमबाधा, वैक्रियषट्कस्य तु सागरोपमसहस्य द्वौ सप्तभागौ पल्योपमासङ्खयेयभागान्यूनावन्तर्मुहूर्त्तमबाधा, आहार-कतदङ्गोपाङ्गतीर्थकरनाम्नां सागरोपमकोटीकोटिर्भिन्नान्तर्मुहूर्त्तमबाधा, ननु चोत्कृष्टोऽप्येतावन्मात्र एवाभिहितस्तः कोऽनयोर्भेद इति ?, उच्यते, उत्कृष्टात्, सङ्घयेयगुणहीनो जघन्य इति, यशःकीर्त्युद्वीर्गेत्रयोरष्टमुहूर्त्तान्यन्तर्मुहूर्त्तमबाधा, देवनारकायुषोर्दश वर्षसहाम्राण्यन्तर्मुहूर्त्तमबाधा, तिर्यग्मनुजायुषोः क्षुल्लकभवोऽन्तर्मुहूर्त्तमबाधेति, बन्धनसङ्घातयोरौदारिकादिशरीर-सहचरितत्वात्तद्गत एवोत्कृष्टजधन्यभेदोऽवगन्तव्य इति।

उक्तः स्थितिबन्धः, अनुभावबन्धस्तूच्यतेन्तत्र शुभाशुभानां कर्मप्रकृतीनां प्रयोग--कर्मणोपात्तानां प्रकृतिस्थितिप्रदेशरूपाणां तीव्रमन्दानुभावतयाऽनुभवनमनुभावः, स चैकद्वित्रि-चतुःस्थानभेदेनानुगन्तव्यः, तत्राशुभप्रकृतीनां कोशातकीरससमक्वथ्यमानार्द्धत्रिभागपादाव-शेषतुल्यतया तीव्रानुभावोऽवगन्तव्यो, मन्दानुभावस्तु जातिरसैकद्वित्रिचतुर्गुणोदकप्रक्षेपा-स्वादतुल्यतयेति, शुभानां तु क्षीरेक्षुरसदृष्टान्तः पूर्ववद्योजनीयः, अत्र च कोशातकीक्षुसादावुद-कबिन्द्वादिप्रक्षेपात्, व्यत्थयाद्वा भेदानामानन्त्यमवसेयमिति।अत्र चाय्र्ंषि भवविपाकीनि आनुपूर्व्यः क्षेत्रविपाकिन्यः शरीरसंस्थानाङ्गोपाङ्गसङ्घातसंहननवर्णगन्धरसस्यर्भागुरुलघूपघातपरा-यात ोद्योतातपनिर्म्पाणप्रत्येकसाधारणस्थिरास्थिरशुभाशुभरूपाः पुद्गलविपाकिन्यः, शेषास्तु ज्ञानायरणादिका जीवविपाकिन्य इत्युक्तोऽनुभावबन्धः ।

प्रदेशबन्धस्त्वेकविधादिबन्धकापेक्षया भवति, तत्र यदैकविधं बघ्नाति तदा प्रयोग-कर्मणैकसमयोपात्ताः पुद्गला सातावेदनीयभावेन विपरिणमन्ते, षड्विधबन्धकस्य त्वायुर्म्भोहनीयवर्ज्ञः षोढा, सप्तविधबन्धकस्य सप्तधा, अष्टविधबन्धकस्याष्टधेति, तत्राद्यसमय-प्रयोगात्ताः पुद्गलाः समुदानेन द्वितीयादिसमयेष्वल्प- बहुप्रदेशतयाऽनेन क्रमेण व्यवस्थापयति-तत्रायुषः स्तोकाः पुद्गलाः, तद्विशेषाधिकाः प्रत्येकं नामगोत्रयोः, परस्परं तुल्याः, तद्विशेषाधिकाः प्रत्येक ज्ञानदर्शनावरणान्तरायाणां, तेभ्यो विशेषाधिका मोहनीये । ननु च तेभ्यो विशेषाधिइका इत्यत्र निर्द्धारणे पञ्चमी, सा च ''पञ्चमी विभक्ते'' इत्यनेन सूत्रेण विधीयते, अस्यचायमर्थी-विभागो विभक्तं तत्र पञ्चमी विधीयमाना यत्रात्यन्तविभागस्तत्रैव भवति, यथा माथुरेभ्यः पाटलिपुत्रका अभिरूपतराः, इह च कर्म्मपुद्गलानां सर्वदैकत्वं, तथावस्थानामेव च बुद्धया बहुप्रदेशादिगुणेन प्रथक रणं चिकीर्षितं, तत्र षष्ठी सप्तमी वा न्याय्या, तद्यथा-गवां गोषु वा कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमेति, नेष दोषो, यत्रावध्यवधिमतोः सामान्यवाची शब्दः प्रयुज्यते तत्रैव षष्ठीसंतम्यौ, "यतश्च निर्द्धारणमित्यनेन सूत्रेण विधीयेते, यथा गवां कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमा, मनुष्येषु पाटलिपुत्रकाः आढ्यतराः, कर्म्यवर्गणापुद्गलानां वेदनीये बहुतरा इति, यत्र पुनर्विशेषवाची शब्दोऽवधित्वेनोपादीयतेतन्न पञ्चम्येव, यथा खण्डमुण्डशबल- शांबलेयधवलधावलेयव्यक्तिभ्यः कृष्णा सम्पन्नक्षीरतमेति, अतो नात्र विभागः कारणमविभागो वा, यतो माथुरपाटलि-पुत्रकादिविभागेन विभक्तानामपि सामान्यमनुष्यादिशब्दोद्यारणे षष्ठीसप्तम्यौ भवतो, यत्र तु पुनर्म्माथुरादिविशेषोऽव धित्वेनोपादीयते तत्र कार्यवशादेकस्थानामपि पश्चम्येव, तदिह सत्यपि कर्म्मवर्गणानामेकत्वे तद्विशेषस्यावधित्वेनोपादानात्पश्चम्येव न्याच्येति, तद्विशेषाधिका वेदनीये

उक्तः प्रदेशबन्धः समुदानकम्पपिति । साम्प्रतमीर्यापथिकं, "ईर गतिप्रेरणयोः" अस्म-द्भावे ण्यत्, ईरणमीर्या तस्याः पन्धा ईर्यापधस्तत्र भवमीर्यापथिकं, कश्चेर्यायाः पन्धा भवति ?, यदाश्रिता सा भवतीति ?, एतद्य व्युत्पत्तिनिमित्तं यतस्तिष्ठतोऽपि तद्भवति, प्रवृत्तिनिमित्तं तु स्थित्यभावः, तद्योपशान्तक्षीणमोहसयोगकेवलिनां भवति, सयोगकेवलिनोऽपि हि तिष्ठतोऽपि सूक्ष्मगात्रसञ्चारा भवन्ति, उक्तं च – "केवली णं भंते ! असिंस समयंसि जेसु आगासपदेसे हत्यं वा पायं वा ओगाहित्ता णं पडिसाहरेजा, पभूणं भंते ! केवली तेसु चेवागासपदेसेसु पडिसाहरि त्तए ?, नो इणट्ठे समट्ठे, कहं ?, केवलिस्स णं चलाइं सरीरोवगरणाइं भवंति, चलोवगरणत्ताए केवली नो सञ्चाएति तेसु चेवागासपदेसेसु हत्यं वा पायं वा पडिसाहरित्तए" तदेवं सूक्ष्म-तरगात्रसञ्चाररूपेण योगेन यत्कर्म्यबध्यते तदीय्यार्पथिकम्-ईर्याग्रभवं, ईयहितुकमित्यर्थः, तच्च द्विसमयस्थितिकम्-एकस्मिन् समये बद्धं द्वितीये वेदितं, तृतीयसमये तदपेक्षया चाकर्म्मतेति, कथमिति ?, उच्चते, यतस्तद्यकृतितः सातावेदनीयमकषायत्वात् स्थित्यभावेन बध्यमानमेव परिशटति, अनुभावतोऽनुत्तरोपपातिकसुखातिशायि प्रदेशतः स्थूलरूक्षशुक्लादिबहुप्रदेशमिति, उक्तं च –

''अप्पं बायरमउयं बहुं च लुक्खं च सुक्किलं चेव । मंदं महव्वतंतिय साताबहुलं च तं कम्मं ।।

अल्पंस्थितितः स्थितेरे वाभावात्, बादरं परिणामतोऽनुभावतो मृहनुभावं, बहुच बहुप्रदेशैः, रूक्षं स्पर्शतो, वर्णेन शुक्लं, मन्दं लेपतः, स्थूलचूर्णमुष्टिमृष्टकुड्यापतितलेपवत् महाव्ययमेकसमयेनैव सर्वापगमात्, साताबहुलमनुत्तरोपपातिकसुखातिशायीति। उक्तमीर्यापथिकम्, अधुना आधाकर्म, यदाधाय-निमित्तत्वेनाश्रित्य पूर्वोक्तमष्टप्रकारमपि कर्म्म बध्यते तदाधाकर्म्मेति, तच्च शब्दस्पर्शरसरूपगन्धादिकमिति, तथाहि-शब्दादिकामगुणविषयभिष्वङ्गवान् सुखलिप्सुर्मोहो-पहतचेताः परमार्थासुखमयेष्वपि सुखाध्यारोपं विदघाति, तद्दक्तम् -

११९॥''दुःखात्मकेषु विषयेषु सुखाभिमानः, सौख्यात्मकेषु नियमादिषु दुःखबुद्धिः । उत्कीर्णवर्णपदपङ्किरिवान्यरूपा, सारूप्यमेति विपरीतगतिप्रयोगात् ॥''

एतदुक्तं भवति-कर्म्मनिमित्तभूता मनोज्ञेतरशब्दादय एवाधाकर्म्मेलुच्यन्ते इति। तपःकर्म तस्यैवाष्टप्रकारस्य कर्म्मणो बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचितावस्थस्यापि निर्ज्ञराहेतुभूतं बाह्याभ्यन्तरभेदेन द्वादशप्रकारं तपःकर्म्मेलुच्यते। कृतिकर्म्म तस्यैव कर्म्मणोऽपयनकारकमर्हत्सिद्धाचार्योपाध्याय-विष्यावनामादिरूपमिति। भावकर्म्म पुनरबाधामुछद्भय स्वोदयेनोदीरणाकरणेन वोदीर्णाः पुद्गलाः प्रदेशविपाकाभ्यां भवक्षेत्रपुद्गलजीवेष्वनुभावं ददतो भावकर्म्मशब्देनोच्यन्त इति। तदेवं नामादिनिक्षेपेण दशधा कर्म्मोक्तम्, इह तु समुदानकर्म्मोपात्तेनाष्टविधकर्म्मणाऽधिकार इति गाथाशकलेन दर्शयति ---अइविहेण०

गाधार्द्धंकण्ठयमिति गाधाद्वयपरमार्थः ॥ तदेवं सूत्रानुगमेन सूत्रे समुचारिते निक्षेपनिर्युक्त्यनुगमेन प्रतिपदं निक्षिप्ते नामादिनिक्षेपे च व्याख्याते सत्युत्तरकालं सूत्रं विक्रियते-मू. (६३) जे गुणे से मूलट्ठाणे, जे मूलट्ठाणे से गुणे। इति से गुणड्डी महया परियावेणं पुणो पुणो वसे पमत्ते-माया मे पिया मे भज्जा मे पुत्ता मे धूआ मे ण्हुसा मे सहिसयणसंगंधसंधुआ

11911

मे विवित्तुवगरणपरिवट्टणभोयणच्छायणं मे । इच्चत्थं गड्ढिए लोए अहो य राओ य परितष्पमाणे कालाकालसमुट्ठाई संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुंपे सहसाकारे विनिविट्ठचत्ते, एत्य सत्ये पुणो पुणो, अप्पं च खलु आउर्य इहमेगेसिं माण वाणं तंजहा ।।

ष् अस्य चानन्तरपरम्परादिसूत्रैः सम्बन्धो वाच्यः, तत्रानन्तरसूत्रसम्बन्धः-'से हु मुणी परिण्णायकम्मे'ति, स मुनिः परिज्ञातकर्म्मा भवति यस्यैतद्गुणमूलादिकमधिगतं भवति, परम्परसूत्रसम्बन्धस्तु 'से जंपुण जाणिज्ञा सहसंमुइयाए परवागरणेणं अन्नेसिवा सोच्चा' स्वसम्पत्या परव्याकरणेन तीर्थकरोपदेशादन्येभ्यो वाऽऽचार्यादिभ्यः श्रुत्वा जानीयात्-परिच्छिन्दात्, किं तदित्युच्यते- 'जे गुणे से मूलट्ठाणे', आदिसूत्रसम्बन्धस्तु 'सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं' किं तत् श्रुतं भवता यद्भगवता यायुष्पताऽऽख्यातमिति ?, उच्यते, 'जे गुणे से मूलट्ठाणे', 'य' इति सर्वनाम प्रथमान्तं मागधदेशीवचनत्त्वादेकारान्तं सामान्योद्देशार्थामिघायीति, गुण्यते-भिद्यते विशेष्यतेऽनेन द्रव्यमिति गुणः, स चेह शब्दरूपरसगन्धस्पर्शादिकः, 'स' इति सर्वनाम प्रथमान्तमुद्दिष्टनिर्देशार्थाभिधायीति,

'मूल'मिति निमित्तं कारणं प्रत्यय इति पर्यायाः, तिष्ठन्त्यस्मिन्निति स्थानं, मूलस्य स्थानं मूलस्थानं, 'व्यवच्छेदफलत्वाद् वाक्याना'मितिन्यायात् य एव शब्दादिकः कामगुण स एव संसारस्य-नारकतिर्यग्नरामरसंसृतिलक्षणस्य यन्मूलं कारणं कषायास्तेषां स्थानम्-आश्रयो वर्त्तते, यस्मान्मनोन्नेतरशब्दाद्युपलब्धौ कषायोदयः, ततोऽपि संसार इति, अथवा मूलमिति-कारणं, तच्चाष्ट्रकारं कर्म्म, तस्य स्थानम्-आश्रयः कामगुण इति, अथवा मूलं-मोहनीयं तद्भेदो वाकामस्तस्य स्थानं शब्दादिको विषयगुणः, अथवा मूलं-शब्दादिको विषयगुणस्तस्य स्थानमिष्टा-निष्टविषयगुणभेदेन व्यवस्थितो गुणरूपः संसार एव, आत्मा वा शब्दाद्युपयोगानन्यत्वाद् गुणः, अथवा मूलं-संसारस्तस्य शब्दादयः स्थानं कषाया वा, गुणोऽपि शब्दादिकः कषायपरिणतो वाऽऽत्मेति, यदिवा मूलं संसारस्य शब्दादिकषायपरिणतः सन्नात्मा तस्य स्थानं शब्दादिकं, गुणोऽप्यसावेवेति, ततश्च सर्वथा य एव गुणः स एव मूलस्थानं वर्त्तते ननु च वर्त्तनक्रियायाः सूत्रेऽनुपादानात् कथं प्रक्षेप इति ?, उच्यते, यत्र हि काचिद्विशेषक्रिया नैवोपादायि तत्र सामान्यक्रियामस्ति भवति विद्यते वर्त्तत इत्यादिकामुपादाय वाक्यं परिसमाप्यते, एवमन्यत्रापि द्रष्टव्यमिति । अथवा मूलमित्याद्यं प्रधानं वा, स्थानमित्त कारणं, मूलं च तत्कारणं चेति विगृह्य कर्म्पधारयः, ततश्च य एव शब्दादिको गुणः सएव मूलस्थानं संसारस्य आद्यंप्रधानं वा कारणमिति, शेषं पूर्ववदिति ।

साम्प्रतमनयोरेव गुणमूलस्थानयोर्नियम्यनियामकभावं दर्शयंस्तदुपात्तानां विषय-कषायादीनां बीजाङ्कुरन्यायेनं परस्परतः कार्यकारणभावं सूत्रेणैव दर्शयति - 'जे मूलहाणे से गुणे'ति, यदेव संसारमूलानां कर्ममूलानां वा कषायाणां स्थानम्-आश्रयः शब्दादिको गुणोऽप्यसावेय, अथवा कषायमूलानां शब्दादीनां यत् स्थानं कर्म्म संसारो वा तत्तत्त्वभावापत्तेः गुणोऽप्यसावेवेति, अथवा कषायमूलानां शब्दादीनां यत् स्थानं कर्म्म संसारो वा तत्तत्त्वभावापत्तेः गुणोऽप्यसावेवेति, अथवा शब्दादिकषायपरिणाममूलस्य संसारस्य कर्म्मणो वा यत् स्थानं-मोहनीयं कर्म्म शब्दादिकषायपरिणतो वाऽऽत्मेते तद्गुणावाप्तेः गुणोऽप्यसावेव, यदिवा-संसारकषायमूलस्यात्मनो यत् स्थानं-विषयाभिष्वङ्गोऽसावपि शब्दादिविषयत्वाद् गुणरूप एवेति । अत्र च विषयोपादानेन विषयिणोऽप्याक्षेपात् सूचनार्थत्वाद्य सूत्रस्येत्येवमपि द्रष्टव्यं-यो गुणे गुणेषु वा वर्त्तते स मूलस्थाने मूस्थानेषु वा वर्त्तते, यो मूलस्थानादौ वर्त्तते स एव गुणादौ वर्त्तत इति, य एव जन्तुः शब्दादिक़े प्रागव्यावर्णितस्वरूपे गुणे वर्त्तते स एव संसारमूलकषायादिस्थानादौ वर्त्तते, एतदेव द्वितीयसूत्रापेक्षया व्यत्ययेन प्राग्वदायोज्यम्, अनन्तगमपर्यायत्वात् सूत्रस्यैवमपि द्रष्टव्यं-यो गुणः स एव मूलं स एव च स्थानं, यन्मूलं तदेव गुणः स्थानमपि तदेव, यत् स्थानं तदेव गुणो मूलमपि तदेवति, यो गुणः शब्दादिकोऽसावेव संसारस्य कषायकारणत्वान्मूलं स्थानमप्यसावेव इत्येवमन्येष्वपि विकल्पेषु योज्यं, विषयनिर्देशे च विषय्यप्याक्षिप्तो, यो गुणे वर्त्तते स मूले स्थाने चेत्येवं सर्व्वत्रं द्रष्टव्यम्,

इह च सर्व्वज्ञप्रणीतत्वादनन्तार्थता सूत्रस्यावगन्तव्या, तथाहि-मूलमत्र कषायादिक-मुपन्यस्तं, कषायाश्च क्रोधादयश्चत्वारः, क्रोधोऽप्यनन्तानुबन्ध्यादिभेदेन चतुर्द्धा, अनन्ता-नुबन्धिनोऽप्यसङ्ख्येलोकाकाशप्रदेशप्रमाणानिबन्धाध्यवसायस्थानान्यनन्ताश्च तत्पर्ययास्तेषां च प्रत्येकं स्थानगुर्णनिरूपणेनान्तार्थता सूत्रस्य सम्पद्यते, सा च छद्मस्थेन सर्वायुषाऽप्य-विषयत्वा(दनन्तत्वा)द्याशक्या दर्शयितुं, दिग्दर्शनं तुकृतमेवातोऽनया दिशा कुशाग्रीयशेमुष्या गुणमूलस्थानानां परस्परतः कार्यकारणभावः संयोजना च कार्यति । तदेवं य एव गुणः स एव मूलस्थानं यदेव मूलस्थानं स एव गुण इत्युक्तं, ततः किमित्यत आह - 'इति से गुणट्ठी महया' इत्यादि, इतिर्हेतौ यस्माच्छब्दादिगुणपरीत आत्मा कषायमूलस्थाने वर्त्तते, सर्वोऽपि च प्राणी 'गुणार्थी' गुणप्रयोजनी गुणनुरागीत्यतस्तेषां गुणानामप्राप्तौ प्राप्तिनाशे वा कार्ड्क्षाशोकाभ्यां स प्राणी 'महता' अपरिमितेन परि-समन्तात्तापः परितापस्तेन-शारीरमानसस्वभावेनदुःखेनाभिभूतः सन् पौनःपुन्येन तेषु तेषु स्थानेषु 'वसेत्' तिष्ठेदुत्पद्येत,

किम्भूतः सन् ? - प्रमत्तः । प्रमादश्च रागद्वेषात्मको, द्वेषश्च प्रायो न रागमृते, रागोऽप्युत्पत्ते र रभ्यानादिभवाभ्यासान्मातापित्रादिविषयो भवतीति दर्शयति - 'माया मे' इत्यादि, तत्र मातृविषयो रागः संसारस्वभावादुपकारकर्तृत्वाद्वोपजायते, रागे च सति मदीया माता क्षुत्पिपासादिकां वेदनां मा प्रापदित्यतः कृषिवाणिज्यसेवादिकां प्राण्युपधातरूपां क्रियामारभते, तदुपघातकारिणि वा तस्यां वाऽकार्यप्रवृत्तायां द्वेष उपजायते, तद्यथा-अनन्तवीर्यप्रसक्तायां रेणुकायां रामस्येति, एवं पिता मे, पितृनिभित्तं रागद्वेषौ भवतो, यथा रामेण पितरि रागात्तदुपहन्तरि च द्वेषात् ससकृत्वः क्षत्रिया व्यापाहिताः, सुभूमेनापि त्रिसप्तकृत्वो ब्राह्मणा इति, भगिनीनिमित्तेन च क्लेशमनुभवति प्राणी, तथा भार्यानिमित्तं रागद्वेषोद्भवः, तद्यथा-चाणाक्येन भगिनीभगिनीपत्याद्यवज्ञातया भार्यया चोदितेन नन्दान्तिकं द्रव्यार्थमुपगेतन कोपान्नन्दकुलं क्षयं निन्ये, तथा पुत्रा मे न जीवन्तीति आरम्भे प्रवर्त्तते, एवं दुहिता मे दुःखिनीति रागद्वेषोपहतचेताः परमार्थमजानानस्तत्तद्विधत्ते येन ऐहिका-मुष्मिकान् अपायान् अवाप्नोति, तद्यथा-जरासन्धो जामातरि कंसे व्यापादिते स्वबला-वलेपादपसृतवासुदेवपदानुसारी सबलवाहनः क्षयमगात् –

स्नुषा मे न जीवन्तीत्यारम्भादी प्रवर्त्तते, 'सखिस्वजनसंग्रन्थसंस्तुता मे' सखा-मित्रं स्वजनः-पितृव्यादिः संग्रन्थः स्वजनस्यापि स्वजनः पितृव्यपुत्रशालादिः संस्तुतो-भूयो भूयो दर्शनेन परिचितः, अथवा पूर्वसंस्तुतो मातापित्रादिरभिहितः पश्चात्संस्तुतः शालकादिः स इह ग्राह्यः, स च मे दुःखित इति परितप्यते, विवक्तं शोभनं प्रचुरं वा उपकरणं-हस्त्यश्वरथासनमञ्चकादि परिवर्त्तनं-द्विगुणत्रिगुणादिभेदभिन्नं तदेव, मोजनं-मोदकादि आच्छादनपट्टयुग्मादि तच्च मे भविष्यति नष्टं वा। 'इद्यत्थ'मितिइत्येवमर्थं गृद्धो लोकः तेष्वेवमातापित्रादिरागादिनिमित्तस्यानेष्वामरणं प्रमत्तो ममेदमहमस्य स्वामी पोषको वेत्येवं मोहितमना 'वसेत्' तिष्ठेदिति, उक्तं च –

| 11911    | ''पुत्रा मे झाता मे स्वजना मे गृहकलत्रवर्गो मे । |
|----------|--|
|          | इति कृतमेमेशब्दं पशुमिव मृत्युर्जनं हरित ॥       |
| ારા      | पुत्रकलत्रपरिग्रहममत्वदोर्थैर्नरो व्रजति नाशम् । |
|          | कृमिक इव कोशकारः परिग्रहादुःखमाप्नोति ॥''        |
|          | –अमुमेवार्थं निर्युक्तिकारो गाथाद्वयेनाह –       |
| नि [१८५] | संसार छेत्तुमणो कम्म उन्मूलए तदडाए।              |
|          | उम्मूलिज कसाया तम्हा उ चइज सयणाई ।।              |
| नि [१८६] | माया मेत्ति पिया मे भगिणी भाया य पुत्तदारा मे ।  |
|          | अत्यंमि चेव गिद्धा जम्मणमरणाणि पावंति ॥          |

**वृ** 'संसारं' नारकतिर्यग्नरामरलक्षणं मातापितृभार्यादिस्नेहलक्षणं वा 'छेत्तुमना' उन्मुमूलयिषुरष्टप्रकारं कर्म्भोन्मूलयेत्, तदुन्मूलनार्थं च तत्कारणभूतान् कषायानुन्मूलयेत्, कषायापगमनाय च मातापित्रादिगतं स्नेहं जह्यात्, यस्मान्मातापित्रादिसंयोगोभिलाषिणोऽर्थे-रत्ननकुप्यादिके गृद्धाः-अध्युपपन्ना जन्मजरामरणादिकानि दुःखान्यसुभृतः प्राप्नुवन्तीति गाथाद्धयार्थः ॥ तदेवं कषायेन्द्रियप्रमत्तो मातापिताद्यर्थमर्थोपार्ञ्जनरक्षणतत्परो दुःखमेव केवलमनुभवतीत्याह-'अहो' इत्यादि, अहश्च सम्पूर्णं रात्रिं च, चश्रब्दात्पक्षंमासंच, निवृत्तशुभा-ध्यवसायः परि-समन्तात्तप्यमानः परितप्यमानः सन् तिष्ठति, तद्यथा –

(19) "कइया वच्चइ सत्यो ? किं भण्डं कत्य कित्तिया भूमी । को कयविक्वयकालो निव्विसइ किं कहिं केण ?"

इत्यादि, स च परितप्यमानः किम्भूतो भवतीत्याह - 'काले'त्यादि, कालः-कर्त्तव्या-वसरस्तद्विपरीतोऽकालः सम्यगुत्यातुम्-अभ्युद्यन्तुं शीलमस्येति समुत्यायीति पदार्थः, वाक्यार्थस्तु-काले कर्त्तव्यावसरे अकालेन तद्विपर्यासेन समुत्तिष्ठते - अभ्युद्यतमनुष्ठानं करोति तच्छीलश्चेति, कर्त्तव्यावसरे न करोत्यन्यदा च विदघातीति, तथा वा काले करोत्येवमलकालेऽपीति, यथा वाऽनवसरे न करोत्येवमवसरेऽपीति, अन्यमनस्कत्वादपगतकालाकालविवेक इति मावना, यथा प्रद्योतेन मृगापतिरपगतर्भतृका सती ग्रहणकालमतिबाह्य कृतप्राकारादिरक्षा जिघृक्षितेति, यस्तु पुनः सम्यक्कालोत्यायी भवति स यथाकालं परस्परानाबाधया सर्वाः क्रियाः करोतीति, तदुक्तम्-

11911

# ''मासैरष्टभिरद्दा च, पूर्वेण वयसाऽऽयुषा । तत् कर्त्तव्यं मनुष्येण, येनान्ते सुखमेधते ॥''

धर्म्मानुष्ठानस्य च न कश्चिदकालो मृत्योरिवेति । किमर्थं पुनः कालाकालसमुत्यायी भवतीत्याह - 'संजोगठ्ठी' संयुज्यते संयोजनं वा संयोगोऽर्थः-प्रयोजनं संयोगार्थः सोऽस्यास्तीति संयोगार्थी, तत्र धनधान्यहिरण्यद्विपदचतुष्पद सञ्यमार्यदिः संयोगस्तेनार्थी-तस्रयोजनी, अथवा शब्दादिविषयः संयोगो मातापित्रादिमिर्वा तेनार्थी कालाकालसमुत्यायी मवतीति । किं च -'अञ्ञलोमी' अर्थो-रत्नकुप्यादिस्तत्र आ-समन्ताल्लोमोऽर्थालोमः स विद्यते यस्येत्यसावपि कालाकालसमुत्यायी मवति, मम्मणवणिग्वत्, तथाहि-असावतिक्रान्तार्थोपार्ज्जनसमर्थयौवनवया जलस्थलपथप्रेषितनानादेशमाण्डमृतबोहित्यगन्त्रीकोष्ट्रमण्डलिकासम्भृतसम्भारोऽपि प्रावृषिसप्तरात्रावच्छिन्नमुशलप्रमाणजलधारावर्षनिरुद्धसकलप्राणिगणसञ्चारमनोरयायां महानदी जलपूरानीतकाष्ठानि जिघृक्षुरुपमोगधर्म्पावसरे निवृत्तापराशेषशुमपरिणामः केवलमर्थोपार्ज्जनप्रवृत्त इति, उक्तं च –

| tt e tt | ''उक्खणइ खणि निहणइ रर्ति न सुअति दियावि य ससंको। |
|---------|--|
|         | लिंपइ ठएइ सययं लंछियपडिलंछियं कुणइ ॥             |
| ારો     | भुजसु न ताव रिक्को जेमेउं नविय अज्ञ मञ्जीहं ।    |
|         | नवि य वसीहामि घरे कायव्वमिणं बहुं अज़ं॥''        |

पुनरपि लोभिनोऽशुभव्यापारानाह-'आलुंपे' आ-समन्ताञ्चपतीत्यालुम्पः, सहिलोभाभि-भूतान्तःकरणोऽपगतसकलकर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकोऽर्थलोभैकद त्तदष्टिरैहिकामुष्भिक-विपाककारिणीर्निर्लाञ्छनगलकर्त्तनचौर्यादिकाः क्रियाः करोति, अन्यग्न-'सहसकारे' करणंकारः, असमीक्षितपूर्वापरदोषं सहसा करणं सहसाकार; स विद्यते यस्येत्यर्श आदिभ्योऽच्, अयवा छान्दसत्वात्कर्त्तर्येव धञ्, करोतीति कारः, तयाहि-लोभतिमिराच्छादितद्यष्टिरर्थैकमनाः शकुन्त-वच्छराघातमनालोच्य पिशिताभिलाषितया सन्धिच्छेदनादितो विनश्यति, लोभाभिभूतो ह्यर्थैकर्धष्टिस्तन्मनास्तदर्थोपयुक्तोऽर्थमेव पश्यति नापायान्, आहच-'विणिविइचित्ते' विविधम्-अनेकधा निविष्टं-स्थितमवसाढमर्थोपार्छनोपाये मातापित्राद्यभिष्वङ्गे वा शब्दादिविषयोपमोगे वा चित्तम्-अन्तःकरणं यस्य स तथा, पाठान्तरं वा 'विणिविइचिद्वे'त्ति, विशेषेण निविष्टा कायवाग्मनसां परिस्पदात्मिकाऽर्थोपार्छनोपायादौ चेष्टा यस्य स विनिविष्टचेष्टः । तदेवं मातापित्रादिसंयोगार्थी अर्थालोभी आलुम्पः सहसाकारोविनिविष्टचित्तोविनिविष्टचेष्टे वा किम्भूतो भवतीत्याह-'इत्स्य' इत्यादि,

'अन्न' अस्मिन्मातापित्रादौ शब्दादिविषयसंयोगे वा विनिविष्टचित्तः सन् पृथिवीकाया-दिजन्तूनां यच्छस्त्रम् - उपघातकारि तत्र पुनः पुनः प्रवर्ते, एवं पौनःपुन्येन शस्त्रे प्रवृत्तो भवति यदि पृथिवीकायादिजन्तूनामुपघाते वर्त्ते, तथाहि - 'शसु हिंसाया'मित्यस्माच्छस्यते हिंस्यत इति करणे ष्ट्रन्विहितः, तच्च स्वकायपरकायादिभेदभिन्नभिति । पाठान्तरं वा 'एत्थ सत्ते पुणो पुणो,' 'अत्र मातापितृशब्दादिसंयोगे लोभार्थी सन् 'सक्तो' मृद्धः अध्युपपन्नः पौनःपुन्येन विनिविष्टचेष्ट आलुम्पकः सहसाकारः कालाकालसमुत्यायी वा भवतीति । एतच्च साम्प्रतेक्षिणामपि युज्येत यद्यजरामरत्वं दीर्घायुष्कं वा स्यात्, तच्चोमयमपि नास्तीत्याह – 'अप्पं च' इत्यादि, अल्पंस्तोकं चशब्दोऽधिकवचनः, खलुरवधारणे, आयुरिति भवस्थितिहेतवः कर्म्भपुद्गलाः 'इहे'ति संसारे मनुष्यमवे वा 'एकेषां' केषाञ्चिदेव 'मानवानां' मनुजानामिति पदार्थः, वाक्यार्थस्तु-इह अस्मिन् संसारे केषाञ्चिन्मनुजानां क्षुल्लकमवोपलक्षितान्तर्मुहूर्त्तमात्रमल्पं-स्तोकमायुर्भवति, चशब्दा- दुत्तरोत्तरसमयादिवृद्धया पल्योपमत्रयावसानेऽप्यायुषि खलुशब्दस्यावधारणार्थत्वात्-संयमजीवितमल्पमेवेति, तथाहि-अन्तर्मुहूर्तादारम्य देशोनपूर्वकोटिंयावत्संयमायुष्कं, तच्चाल्पमेवेते, अथवा त्रिपल्योमपस्थितिकमप्यायुरल्पमेव, यतस्तदप्यन्तर्मुहूर्त्तमपहाय सर्वमपवर्त्तते, उक्तं च ''अद्धा जोगुक्कोसे बंधित्ता भोगमूमिएसु लहुं।

सव्वप्पजीवियं वज्रइतु उव्वट्टियाँ दोण्हं ॥"

अस्या अयमर्थः-उत्कृष्टे योगे-बन्धाघ्यवसायस्याने आयुषो यो बन्धकालोऽद्धा उत्कृष्ट एव तं बद्धवा, क्व?- 'भोगभूमिकेषु' देवकुव्वदिजेषु, तस्य क्षिप्रमेव सर्वाल्पमायुर्वर्झयित्वा 'द्वयोः' तिर्यग्मनुष्ययोरप्रवृत्तिका-अपवर्त्तनं भवति, एतद्यापर्याप्तकान्तर्मुहूर्त्तान्तर्द्रष्टव्यं, तत ऊर्ध्वमनपवर्त्तनमेवेति।सामान्येन वाऽऽयुः सोपक्रमायुषां सोपक्रमनिरुपक्रमायुषां निरुपक्रमं, यदाह्यसुमान् स्वायुषस्त्रिभागेत्रिभागत्रिभागे वा जधन्यत एकेन द्वाभ्यां वोत्कृष्टतः सप्तभिरष्टभिर्व वर्षैरन्तर्मुहूर्त्तप्रमाणेन कालेनात्मप्रदेशरचनानाडिकान्तर्वर्त्तिन आयुष्ककर्मवर्गणापुद्गलान् प्रयत्नविशेषेण विधत्ते तदा निरुपक्रमायुर्भवतीति, अन्यदा तु सोपक्रमायुष्क इति, उपक्रमश्चोपक्रमण-कारणैर्भवति, तानि चामूनि-

| 11911 | 'दंडकससत्यरञ्जू अग्गी उदगपडणं विसं वाला।      |
|-------|---|
|       | सीउण्हं अरड् मयं खुहा पिसा य वाही य           |
| 11211 | मुत्तपुरीसनिरोहे जिण्णाजिण्णे य भोयणे बहुसो । |
|       | धंसणधोलणपीलण आउस्स उवक्रमा एते (उक्तं च-)     |
| 11911 | ''स्वतोऽन्यत इतस्ततोऽभिमुखघावमानापदामहो       |
|       | निपुणता नृणां क्षणमपीह यज्जीव्यते ।           |
|       | मुखे फलमतिक्षुधा सरसमल्पमायोजितं,             |
|       | किंयचिरमचर्बितं दशनसङ्कटे स्थास्यति ?         |
| ારા   | उच्छ्वासावधयः प्राणाः, स चोच्छ्वासः समीरणः ।  |
|       | समीरणाञ्चलं नान्यतः क्षणमप्यायरम्दमतम         |

तमारणायसं गान्यस्, संयान मानुर पतुरान् इत्यादि । येऽपि दीर्घायुष्कस्थितिका उपक्रमणकारणाभावे आयुः स्थितिमनुभवन्ति तेऽपि मरणादप्यधिकां जराभिभूतविग्रहा जघन्यतमामवस्यामनुभवन्तीति तद्यथेत्यादिना दर्शयति--

मू. (६४) सोयपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं चक्खुपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं धाणपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं रसणापरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं फासपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेहिं अभिकंतं च खलु वयं स पेहाए तओ से एगदा मूढभावं जणयंति ।

वृ शृणोति भाषापरिणतान् पुद्गलानिति श्रोत्रं, तद्य कदम्बपुष्पाकारंद्रव्यतो भावतो भाषाद्रव्यग्रहणलब्द्युपयोगस्वभावमिति, तेन श्रोत्रेण परिः-समन्ताद् घटपटशब्दादिविषयाणि ज्ञानानि परिज्ञानानि तैः श्रोत्रपरिज्ञानैर्जराप्रभावात्परिहीयमानैः सन्धिस्ततोऽसौ-प्राणी 'एकदा' वृद्धावस्थायां रोगोदयावसरे वा 'भूढमावं' भूढतां कर्त्तव्याकर्त्तव्याज्ञतामिन्द्रियपाटवामावादात्मनो जनयति, हिताहितप्राप्तिपरिहारविवेकशून्यतामापद्यत इत्पर्थः, जनयन्तीति चैकवचनावसरे 'तिङातिङो भवन्ती'ति बहुवचनमकारि, अथवा तानि वा श्रोत्रविज्ञानानि परिक्षीयमाणान्यात्मनः सदसद्विवेकविकलतामापादयन्तीति, श्रोत्रादिविज्ञानानां च तृतीया प्रथमार्थे सुब्व्यत्ययेन द्रष्टव्येति, एवं चक्षुरादिविज्ञानेष्वपि योज्यम्, अत्र च करणत्वादिन्द्रियाणामेवं सर्वत्र द्रष्टव्यं-श्रोत्रेणात्मनो विज्ञानानि चक्षुषाऽऽत्मनो विज्ञानानीति, ननु च तान्येव द्रष्ट्ऋ णि कुतो न भवन्ति ?, उच्यते अशक्यमेवं विज्ञातुं, तद्विनाशे तदुपलब्धार्थस्मृत्यभावात्, दृश्यते च ह्यषीकोपघातेऽपि तदुपलब्धार्थस्मरणं, तद्यथा--

धवलगृहान्तर्वर्त्तिपुरुषपञ्चवातायनोपलब्धार्थस्य तदन्यतरस्थगनेऽपि तदुपपत्तिरिति, तथाहि अहमनेन श्रोत्रेण चक्षुषा वा मन्दमर्थमुपलभे, अनेन च स्फुटतरमिति स्पष्टैव करणत्वावगतिरक्षाणां, यद्येवमन्यान्यपि करणानि सन्ति तानि किं नोपात्तानि ? , कानि पुन्स्तानि? , उच्चन्ते, वाक्याणिपादपायूपस्थमनांसि वचनादानविहरणोत्सर्गानन्दसङ्कल्पव्यापाराणि, ततश्चैतेषामात्मोपकारकत्वेन करणत्वं, करणत्वादिन्द्रियत्वमिति, एवं चैकादशेन्द्रियसद्मावे सति पश्चानामेवोपादानं किमर्थमिति, आहाचार्यो-नैष दोषः, इह ह्यात्मनो विज्ञानोत्पत्तौ यत् प्रकृष्टमुपकारकं तदेव करणत्वादिन्द्रियम्, एतानि तु वाक्**पाण्यादीनि नैवात्मनो**ऽनन्यसाधारणतया करणत्वेन व्याप्रियन्ते, अथ यां काञ्चन क्रियामुपादाय करणत्वमुच्यते एवं तर्हि भ्रूदरादेरप्युत्सेपा-दिसम्भवात्करणत्वं स्यात्, किं च-इन्द्रियाणां स्वविषये नियतत्वात् नान्येन्द्रि<mark>यकार्यमन्य</mark>दिन्द्रियं कर्तुमलं, तथाहि-चक्षुरेव रूपावलोकनायालं न तदभावे श्रोत्रादीनि, यस्तु रसाद्यपलम्भे शीतस्पशदिरप्युपलम्भः स सर्वव्यापित्वात् स्पर्शनेन्द्रियस्येत्यनाशङ्कनीयम्, इह तुपुनः पाणिच्छेदेऽपि तत्कार्यस्यादानलक्षणस्य दशनादिनाऽपि निर्वत्यमानत्वाद्यकिश्चिदेतत्, मनसस्तु सर्वेन्द्रियोप-कारकत्वादन्तः करणत्वमिष्यत एव, तस्य च बाह्येन्द्रियविज्ञानोघातेनैव गतार्थत्वान्न पृथगुपादानमिति, प्रत्येकोपादानं चक्रमोत्पत्तिविज्ञानोपलक्षणार्थ, तथाहि-येनैवेन्द्रियेण सहमनः संयुज्यते तदेवात्मीयविषयगुणग्रहणाय प्रवर्त्तते नेतरदिति, ननु च दीर्घशष्कुलीभक्षणादौ पञ्चानामपि विज्ञानानां यौगपद्येनोपलब्धिरनुभूयते, नैतदस्ति, केवलिनोऽपि द्वावुपयोगौ न स्तः, आस्तां तावदारातीयभागदर्शिनः पश्चोपयोगा इति, एतच्चान्यत्र न्यक्षेण प्रतिपादितमिति नेह प्रतापयते, यस्तु यौगपधेनानुभवाभासः स द्रागवृत्तित्वान्मनसो भवतीति, उक्तं च-

।।९।।''आत्मा सहैति भनसा मन इन्द्रियेण, स्वार्थेन चेन्द्रियमिति क्रम एष शीघ्रः ।

योगोऽयमेव मनसः किमगम्यमस्ति ?, यस्मिन्मनो व्रजति तत्र गतोऽयमात्मा''

इह चायमात्मेन्द्रियलब्धिमान् आदित्सितजन्मोत्पत्तिदेशे समयेनाहारपर्याप्तिं निर्वर्त्तयति, तदनन्तरमन्तर्मुहूर्तेन शरीरपर्याप्तिं, ततोऽपीन्द्रियपर्याप्तिं तावतैव कालेन, तानि च पञ्चेन्द्रियाणि-स्पर्शनरसनघ्राणचक्षुःश्रोत्राणीति, तान्यपि द्रव्यभावभेदात् प्रत्येकं द्विविधानीति, तत्र द्रव्येन्द्रियं निर्वृत्युपकरणभेदात् द्विधा, निर्वृत्तिरप्यान्तरबाह्रामेदात् द्विधैवनिर्वत्यत इति निर्वृत्तिः, केन नि र्वत्यते ?, कर्म्पणा, तत्रोत्सेधाहुलासह्वयेयभाग्प्रमितानां शुद्धानामात्मप्रदेशानां प्रतिनियत्तखुरा-दीन्द्रियसंस्थानेनावस्थिता या वृत्तिरभ्यन्तरा निर्वृत्तिः, तेष्वेवात्मप्रदेशेष्विन्द्रियव्यपदेशभाक् यः प्रतिनियतसंस्थानो निर्म्मणनाम्ना पुद्लविपाकिना वर्द्धकिसंस्थानीयेन आरचितः कर्ण-शष्कुल्यादिविशेषः अङ्ग्रेपाङ्गनामा च निष्पादितइति बाह्यानिर्वृत्तिः, तत्या एव निर्वृत्तोर्द्विरूपायाः येनोपकारः क्रियते तदुपकरणं, तच्चेन्द्रियकार्यसमर्थं, सत्यामपि निर्वृत्तावनुपहतायां मसूराकृतिरूपायां तस्योपघातान्न पश्यति, तदपि निर्वृत्तिवद् द्विधा, तत्राभ्यन्तरमक्ष्णस्तावत् कृष्णशुल्कमण्डलं बाह्यमपि पत्रपक्ष्मद्वयादि, एवं शेषेष्वप्यायोजनीयमिति

भावेन्द्रियमपि लब्ब्युपयोगभेदात् द्विधा, तत्र लब्धिर्ज्ञानदर्शनावरणीयक्षयोपशमरूपा यत्सत्रिधानादात्मा द्रव्येन्द्रियनिर्वृत्ति प्रतिव्याप्रियते, तत्रिमित्त आत्मनो मनस्साचिव्यादर्थग्रहणं प्रति व्यापार उपयोग इति, तदत्र सत्यां लब्धौ निर्वृत्त्युपकरणोपयोगाः, सत्यां च निर्वृतावुप-करणोपयोगौ, सत्युपकरण उपयोग इति, एतेषां च श्रोत्रादीनां कदम्बकमसूरक-लम्बुकापुष्पक्षुरप्रनानासंस्थानताऽवगन्तव्येति, विषयश्च श्रोत्रेन्द्रियस्य द्वादशम्यो योजनेभ्य आगतं शब्दं गृह्णति चक्षुरप्येकर्विंशतिषु लक्षेषु सातिरेकेषु व्यवस्थितं प्रकाशकं प्रकाश्यं तु सातिरेकयोजनलक्षस्थितं रूपं गृह्याति, शेषाणि तु नवम्यो योजनेभ्य आगतं स्वविषयं गृह्णन्ति, जधन्यतस्वद्भुलासद्वयेवभागविषयत्वं सर्वेषाम्, अत्र च 'सोयपरिण्णाणेहिं परिहायमाणेही'त्यादि य उत्पत्तिं प्रति व्यत्येनेन्दियाणामुपन्यासः स एवमर्थं द्रष्टव्यः-इह संज्ञिनः पश्चेन्द्रियस्य उपदेशदानेनाधिकृतत्वादुपदेशश्च श्रोत्रेन्द्रियविषयइतिकृत्वातत्पर्याप्तौ च सर्वेन्द्रियपर्याप्तिः सूचिता भवति । श्रोत्रादिविज्ञानानि च वयोऽतिक्रमे परिहीयन्ते, तदेवाह-'अभिकंत'मित्यादि, अथवा श्रोत्रादिविज्ञानैत्यचित्तैः करणभूतैः सदि्मः 'अभिकंतं च खलु वयं स पेहाए' तत्र प्राणिनां कालक-ता शरीरावस्था यौवनादिर्वयः तज्जरामभि मृत्युं वा क्रान्तमभिक्रान्तम्, इह हि चत्वारि वयांसि-कुमारयौवनमध्यमवृद्धत्वानि, उक्तं च—

। १९। । ''प्रथमे वयसि नाधीतं, द्वितीये नार्जितं धनम् ।

तृतीये न तपस्तप्तं, चतुर्थे किं करिष्यति ? "

तत्राद्यवयोद्वयातिक्रमे जराभिमुखमभिक्रान्तं वयो भवति, अन्यथा वा त्रीणि वयांसि-कौमारयौबनस्थविरत्वभेदाद्, उक्तं च--

॥१॥ ''पिता रक्षति कौमारे. भर्त्ता रक्षति यौवने।

पुत्राश्च स्थाविरे भावे, न स्त्री स्वातन्त्र्यमर्हति"

अन्यथा वा त्रीणि वयांसि, बालमध्यवृद्धत्वभेदात्, उक्तं च-

।।१।। आषोडशाद्मवेद्बालो, यावस्तीरान्नवर्त्तकः ।

मध्यमः सप्ततिं यावत्परतो वृद्ध उच्यते ''

एतेषु वयस्सु सर्वेष्वपि योपचयवत्यवस्था तामतिक्रान्तोऽतिक्रान्तवया इत्युच्यते, चः समुग्नये, न केवलं श्रोत्रचक्षुर्प्राणरसनस्पर्शनविज्ञानेव्यस्तसमस्तैर्देशतः सर्वतो वा परिहीयमाणैर्वा मौढ्यमापद्यते, वयश्चातिक्रान्तं 'प्रेक्ष्य' पर्यालोच्य 'स' इति प्राणी खलुरिति विशेषणे विशेषेण-अत्यर्थं मौढ्यमापद्यत इति, आह च-'ततो से' इत्यादि, 'तत' इति तस्मदिन्द्रियविज्ञाना-पचयाद्वयोऽतिक्रमणाद्वा स इति प्राणी 'एकदे'ति वृद्धावस्थायां मूढमावो मूढत्वं-किंकर्त्तव्य-ताभावमात्यनो जनयति, अथवा 'से'तस्यासुभृतः श्रोत्रादिविज्ञानानि परिहीयमाणनि मूढमायं जनयन्तीति ॥ स एवं वार्द्धक्ये मूढस्वभावः सन् प्रायेण लोकावगीतो भवतीत्याह–

**मू. (६५) जेहिं वा सखिं संवसति ते वि णं एगदा नियगा पु**र्क्ति प**ित्रयंति. सो**ऽवि ते

नियए पच्छा परिवएज़ा, नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा, से न हासाय न किहुाए न रतीए न विभूसाए

वृ वाशब्दः पक्षान्तरघोतकः, आस्तां तावदपरो लोको 'यैः' पुत्रकलन्नादिभिः 'सार्ख सह संवसति, त एव मार्यापुत्रादयोणमिति वाक्यालङ्कारे 'एकदे'ति वृद्धवस्थायां 'नियगा' आत्मीया ये तेन समर्थावस्थां पूर्वमेव पोषिताः ते तं 'परिवदंति' परि-समन्ताद्वदन्ति-यथाऽयं न प्रियते नापि मञ्चकं ददाति, यदिवा परिवदन्ति-परिभवन्तीत्युक्तं मवति, अथवा किमनेन वृद्धेनेत्येवं परिवदन्ति, न केवलमेषां, तस्यात्मापि तस्यामवस्थायामवगीतो भवतीति, आह च-

॥१॥ "वलिसन्ततमस्यिशेषितं, शिथिलरनायुधृतं कडेवरम्। स्वयमेव पुमान् जुगुप्सते, किमु कान्ता कमनीयविग्रहा ? "

गोपालबालाङ्गनादीनां च दृष्टान्तद्वारेणोपन्यस्तोऽर्थोबुद्धिमधितिष्ठतीत्यतस्तदाविर्भावनाय कथानकम्-कौशाख्यां नगर्यां अर्थवान् बहुपुत्रोधनोनाम सार्थवाहः, तेन चैकाकिना नानाविधैरूपाये स्वापतेयमुपार्जितं, तच्चाशेषदुःखितबन्धुजनस्वजनमित्रकलत्रपुत्रादिमोग्यतां निन्ये, ततोऽसौ कालपरिपाकवशादवृद्धभावमुपगतः सन् पुत्रेषु सम्यक्पालनोपचितकलाकुशलेषु समस्त-कार्यचिन्ताभारं निचिक्षेप । तेऽपि चयमनेनेदशीमवस्थां नीताः सर्वजनाग्रेसरा विहिता इति कृतोप-काराः सन्त कुलपुत्रतामवलम्बमानाः स्वतः क्वचित् कार्यव्यासङ्गात् स्वमार्याभिस्तमकल्पं वृद्धं प्रत्यजजागरन्, ता अप्युद्धर्त्तनस्नानमोजनादिना यथाकालमक्षुण्णं विहितवत्यः । ततो गच्छत्सु दिवसेषु वर्द्धमानेषु पुत्रमाण्डेषु प्रौढीमवत्सु भर्त्तषु जरद्वृद्धेच विवशकरणपरिचारे सर्वाङ्कक्ष्पिनि गलदशेषश्रोतसि सति शनैः शनैरुचित्यमुपचारं शिथिलतां निन्युः,

असावपि मन्दप्रतिजागरणतया चित्ताभिमानेन विश्वसया च सुतरां दुःखसागरावगाढः सन् पुत्रेभ्यः स्नुषाक्षुण्णान्याचचक्षे, ताश्च स्वभर्तृभिश्चेखिद्यमानाः सुतरामुपचारं परिहृतवत्यः, सर्वाश्च पर्यालोच्यैकवाक्यतया स्वभर्तृनभिहितवत्यः-क्रियमाणेऽप्ययं प्रतिजागरणे वृद्धभावा-द्विपरीतबुद्धितयाऽपह्युते, यदिभवतामप्यस्माकमुपर्यविग्मस्ततोऽन्येन विश्वसनीयेन निरुपयत, तेऽपि तथैव चक्रुः, तास्तु तस्मिन्नवसरे सर्वा अपि सर्वाणि कार्याणि यथाऽवसरं विहितवत्यः, असावपि पुत्रैः पृष्टः पूर्वविरुक्षितचेतास्तथैव ता अपवदति, नैता मम किञ्चित्सम्यक् कुर्वन्ति, तैस्तु प्रत्ययिकवचनादवगततत्त्त्वैर्यथाऽयमुपचर्यमाणोऽपि वार्द्धक्याद्रोरुद्यते, ततस्तैरप्य-वधीरितोऽन्येषामपि यथावसरे तद्मण्डनस्वभाववतामाचचक्षिरे।ततोऽसौ पुत्रैरवधीरितः स्नुषाभिः परिभूतः परिजनेनावगीतो वाङ्मत्रेणापि केनचिदप्यननुवत्यमानः सुखितेषु दुःखितः कप्टतरामायुः शेषामवस्थामनुभवतीति । एवमन्योऽपि जराभिभूतविग्रहस्तृणकुब्जीकरणेऽप्यसमर्थः सन् कार्यैकनिष्ठलोकार्तरिभवमाप्नोतीति, आह-

॥१॥ "गात्रं सङ्कुचितं गतिर्विगहलिता दन्ताश्च नाशं गता, दृष्टिर्म्रश्यति रूपमेव इसते वक्रं च लालायते । वाक्यं नैव करोति बान्धवजनः पत्नी न शुश्रूषते, धिक्वष्टं जरयाऽभिभूतपुरुषं पुत्रोऽप्यवज्ञायते '' इत्यादि । त्तदेवं जराभिभूतं निजाः परिवदन्ति, असावपि परिभूयमानस्तद्विरक्तचेता- स्तदपवादाञ्जनायाचष्टे, आह च-'सो वा' इत्यादि, वाशब्दः पूर्वापेक्षया पक्षान्तरं दर्शयति, ते वा निजास्तं परिवदन्ति, स वा जराजर्छरितदेहस्तान्निजाननेकदोषोद्घट्टनतया परिवदेत्-निन्देद्, अथवा खिद्यमानार्थतया तानसाववगायति-परिभवतीत्यर्थः । येऽपि पूर्वकृतधर्म्मवशात्तं वृद्धं न परिवदन्ति तेऽपि तदुःखापनयनसमर्था न भवन्ति, आह च-'नाल'भित्यादिनालं न समर्थाः ते-पुत्रकलत्रादयः, तवेति प्रत्यक्षभावमुपगतं वृद्धमाह, त्राणाय शरणाय वेति, तत्रापत्तरणसमर्थं त्राणमुच्यते, यथा महाश्रोतोभिरुह्यमानः सुकर्णधाराधिष्ठितं प्लवमासाद्यस्तरपतीति, शरणं पुनर्यदवष्टम्भान्निर्भयैः स्थीयतेतदुच्यते, तत्पुनर्दुर्गंपर्वतः पुरुषोवेति, एतदुक्तंभवति-जराभिभूतस्य न कश्चित् त्राणाय शरणाय वा, त्वमपि तेषां नालं त्राणाय शरणाय वेति, उक्तं च—

॥१॥ "जन्मजरामरणभयैरभिद्धते व्याधिवेदनाग्रस्ते जिनवरवचनादन्यत्र नास्ति शरणं कृवचिछोके "

इत्यादि, स तु तस्यामवस्थायां किम्भूतो भवतीत्याह-'से न हस्साए' इत्यादि, 'स' जराजीर्णविग्रहो न हास्यायभवति, तस्यैव हसनीयत्वात् न परान् हसितुं योग्यो भवतीत्यर्थः, स च समक्षं परोक्षं वा एवमभिधीयते जनैः-किं किलास्य हसितेन हास्यास्पदस्येति, न च क्रीडायै-न च लङ्घनवल्गनास्फोटनक्रीडानां योग्योऽसौ भवति, नापि रत्यै भवति, रतिरिह विषयगता गृह्यते, सा पुनर्ललनावगूहनादिका, तथाभूतोऽप्यवजुगूहिषुः स्त्रीभिरभिधीयते-न लज्जते भवान् न पश्यति आत्मानं नावलोकयति शिरः पलितभस्मावगुण्डितं मां दुहितृभूतमेवं गूहितुमिच्छसीत्या-दिवचसामास्पदत्वान्न रत्यै भवति, न विभूषायै, यतो विभूषितोऽपि प्रततचर्म्भवलीकः स नैव शोभते, उक्तं च–

।। १।। 🥂 ''न विभूषणमस्य युज्यते, न च हास्ये कुत एव विभ्रमः ? ।

अथ तेषु च वर्त्तते जनो, ध्रुवमायाति परां विडम्बनाम

ાણા

य तेषु य वतत जना, युवनावात परा विडन्बनाम जं जं करेइ तं तं न सोहए जोव्वणे अतिक्वंते । पुरिसरस महिलियाइ व एक्वं धम्मं पमुत्तूणं ''

—गतमप्रशस्तं मूलंस्थानं, साम्प्रतं प्रशस्तमुच्यते—

मू (६६) इग्रेवं समुडिए अहोविहाराए अंतरं च खलु इमं सपेहाए धीरे मुहुत्तमवि नो पमायए यओ अग्रेति जोव्वणं च।

**वृ** अथवा यत एवं ते सुहृदो नालं त्राणाय शरणाय वा अतः किं विदध्यादित्याह-'इच्चेव' मित्यादि, 'इतिः' उपप्रदर्शने, अप्रशस्तमूलगुणस्थाने वर्तमानो जराभिभूतो न हास्याय न क्रीडायै न रत्यै न विभूषायै प्रत्येकं च शुभाशुभकर्म्भफलं प्राणिनामित्येवं मत्वा समुस्थितः-सम्यगुस्थितः शस्त्रपरिज्ञोक्तं मूलगुणस्थानमधितिष्ठन् अहो-इत्याश्चर्ये विहरणं विहारः आश्चर्यभूतो विहारो अहोविहारो-यथोक्तसंयमानुष्ठानं तस्मै अहोविहारायोत्थितः सन् क्षणमपिनोप्रमादयेदित्युत्तरेण सण्टङ्कः, किंच-'अंतरं चे'त्यादि, अन्तरमित्यवसरः, तच्चार्यक्षेत्रसुक्तुलोत्पत्तिबोधिलाभसर्वात्यादिकं, चः समुच्चये, खलुरवधारणे, 'इम'मित्यनेनेदमाह-विनेयस्तपः संयमादाववसीदन् प्रत्यक्षभावा-पत्रमार्यक्षेत्रादिकमन्तरमवसरं 'संग्रेक्ष्य'पर्यालोच्य धीरः सन्मुहूर्त्तमप्ययेकंनो 'प्रमादयेत्" प्रमादवशगो भूयादिति, सम्प्रेक्ष्येत्यन्न अनुस्वारलोपश्छान्दसत्वादिति, अन्यदप्यलाक्षणिकमेवंजातीयमस्मादेव हेतोरवगन्तव्यमिति, आन्तर्मीहूर्त्तिकत्वाच्च छाद्यस्थिकोपयोगस्य मुहूर्त्तमित्युक्तम्, अन्यथा समयमप्येकं न प्रमादयेदिति वाच्यं, तटुक्तम्–

॥ सम्प्राप्य मानुषत्वं संसारासारतां च विज्ञाय ।
 हे जीव ! किं प्रमादान्न चेष्टसे शान्तये सततम् ?
 ॥२॥ ननु पुनरिदमतिदुर्लभमगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम् ।
 मानुष्यं खद्योतकतडिल्लताविलसितप्रतिमम् ''

इत्यादि, किमर्थं च नो प्रमादयेदित्याह - 'वयो अग्नेइ'ति, वयः-कुमारादि अत्येति-अतीव एति-यादि अत्येति, अन्यच्च-'जोव्वणं व'त्ति अत्येत्यनुवर्तते, यौवनं वाऽत्येति-अतिक्रामति, वयोग्रहणेनैव यौवनस्य गतत्वात्तदुपादानं प्राधान्यख्यापनार्थं, धर्म्मार्थकामानां तन्निबन्धन-त्वात्सर्ववयसां यौवनं साधीयः, तदपि त्वरितं यातीति, उक्तं च-

II9Il ''नइवेगसमं चवत्तं च जीवियं जोव्वणं च कुसुमसमं । सोक्खं च जं अणिच्चं तिण्णिवि तुरमाणभोज्ञाइं ''

तदेवं मत्वा अहोविहारायोत्थानं श्रेय इति ॥ ये पुनः संसाराभिष्वङ्गिणोऽसंयमजीवितमेव बहु मन्यन्ते ते किंभूता भवंतीत्याह–

मू (६७) जीविए इह जे पमत्ता से हंता छेत्ता भेत्ता लुंपित्ता विलुंपित्ता उद्दवित्ता उत्तासइत्ता, अकडं करिस्सामित्ति मण्णमाणे, जेहिं वा सद्धिं संवसइ ते वा णं एगया नियगा तं पुव्विं पोसेति, सो वा ते नियगे पच्छा पोसिझा, नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा।

षृ येतु वयोऽतिक्रमणं नावगच्छन्ति, ते 'इहे'त्यस्मिन्नसंयमजीविते 'प्रमत्ताः' अध्युपपन्ना विषयकषायेषुप्रमाधन्ति, प्रमत्ताश्चहर्न्निशं परितप्यमानाः कालाकालसमुत्यायिनः सन्तः सत्त्वोपधात-कारिणीः क्रियाः समारम्भत इति, आह च-'से हंता' इत्यादि, 'से' इत्यप्रशस्तगुण- मूलस्यान-वान्विषयाभिलाषी प्रमत्तः सन् स्थावरजङ्गमानामसुमतां हन्ता भवतीति, अत्र च बहुवचनप्रक्रमेऽपि जात्यपेक्षयैकवचननिर्देश इति, तथा छेत्ता कर्णनासिकादीनां भेत्ता शिरोनयनोदरादीनां लुम्पयिता ग्रन्थिच्छेदादिभिः विलुम्पयिता ग्रामधातादिभिः अपद्रावयिता प्राणव्यपरोपको विषशस्त्रादिभिः अवद्रापयिता वा, उत्रासको लोष्टप्रक्षेपादिभिः । स किमर्थं हननादिकाः क्रियाः करोतीत्याह-'अकडं' इत्यादि, अकृतमिति, यदन्येन नानुष्टितं तदहं करिष्या-मीत्येवं मन्यमानोऽर्थोपार्जनाय हननादिषु प्रवर्त्तते । स एवं क्रूरकर्म्यातिशयकारी समुद्रलङ्घनादिकाः क्रियाः कर्त्वत्रप्यला-भोदयादपगतसर्व्वस्वः किंभूतो भवतीत्याह–

''जेहिं वा' इत्यादि, वाशब्दो भिन्नक्रमः पक्षान्तरद्योतकः 'यैः'मातापितृस्वजनादिभिः सार्द्ध संवसत्यसौ त एव वा'ण'मिति वाक्यालङ्कारे 'एकदे'त्यर्थनाशाद्यापदि शैशवे वा 'निजाः' आत्मीया बान्धवाः सुह्यदो वा 'पुट्विं' पूर्वमेव 'तं' सर्व्वोपायक्षीणं पोषयन्ति स वा प्राप्तेष्टमनो रथलाभः संस्तान्निजान् पश्चात् 'पोषयेद्' अर्थदानादिना सन्मानयेदिति। ते च पोषकाः पोष्या वा तव आपद्गतस्य न त्राणाय भवन्तीत्याह-'नालं' इत्यादि, 'ते' निजा मातापित्रादयः, श्रुतस्कन्धः - १, अध्ययनं - २, उद्देशकः१

तवेखुपदेशविषयापन्न उच्यते, 'त्राणाय' आपद्रक्षणार्थं 'शरणाय' निर्भयस्थित्यर्थं 'नालं' न समर्थाः, त्वमपि तेषां त्राणशरणे कर्त्तु नालमिति ॥ तदेवं तावत्स्वजनो न त्राणाय भवतीत्येतव्यतिपादितं, अर्थोऽपि महत्ता क्लेश्नेनोपात्तो रक्षितश्च न त्राणाय भवतीत्येव्यतिपिपादयिषुराह–

मू (६८) उवाईयसेसेण वा संनिहिसंनिचओ किञ्जई इहमेगेसिं असंजयाण भोयणाए, तओ से एगया रोगसमुप्पाया समुप्पञ्जंति, जेहिं वा सद्धि संवसइ ते वा णं एगया नियगा तं पुव्विं परिहरति, सो वा ते नियये पच्छा परिहरिजा, नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा ।

मृ 'उपादिते'ति 'अद् भक्षणे' इत्येतस्मादुपपूर्व्वाझिष्ठाप्रत्ययः, तत्र 'बहुलंछन्दसी'तीडागमः, उपादितम्-उपमुक्तं, तस्य शेषमुपभुक्तरोषं, तेन वा, वाशब्दादनुपभुक्तशेषेण वा सन्निधानं-सन्निधिस्तस्य संनिचयः सन्निधिसन्निचयः, अथवा सम्यग् निधीयते-अवस्थाप्यत उपमोगाय योऽर्यः ससन्निधिस्तस्य सन्निचयः-प्राचुर्य्यमुपमोग्यद्रव्यनिचय इत्यर्थः, स 'इह' अस्मिन्संसारे 'एकेषाम्' असंयतानां संयताभासानां वा केषाश्चिद् 'भोजनाय' उपमोगार्थं 'क्रियते' विधीयत इति, असावपि यदर्थमनुष्ठितोऽन्तरायोदयात्तसंपत्तये न प्रभवतीत्याह–

'तओ से' इत्यादि, 'ततो' द्रव्यसन्निधिसन्निचयादुत्तरकालमुपभोगावसरे 'से'तस्य बुभुक्षोः 'एकदे'ति द्रव्यक्षेत्रकालभावनिभित्ताविर्भावितवेदनीयकर्म्भोदये 'रोगसमुत्पादाः' ज्वरादिप्रादुर्भावाः 'समुत्पद्यन्त' इत्याविर्मवन्ति । स च तैः कुष्ठराजयक्ष्मादिभिरभिभूतः सन्मग्ननासिको गलत्पाणिपा-दोऽविच्छेदप्रवृत्तश्वासाकुलः किंभूतो भवति इत्याह-'जेहिं' इत्यादि, 'यैः'मातापित्रादिभिर्निजैः सार्द्धसंवसति त एव वा निजाः 'एकदा'रोगोत्पत्तिकाले पूर्वमेव तं परिहरन्ति, स वा तान्निजान्पश्चात्परिभवोत्यापितविवेकः 'परिहरेत्'त्यजेत्, तन्निरपेक्षः सेडुकवत् स्यादित्यर्थः, ते च खजनादयो रोगोत्पत्तिकाले परिहरन्तोऽपरिहरन्तो वा न त्राणाय भवन्तीति दर्शयति'नाल' मित्यादि, पूर्ववद्, रोगाद्यभिभूतान्तःकरणेन चापगतन्नाणेन च किमालम्ब्य सम्यक्करणेन रोगवेदनाः सोढव्याः ? इत्याह—

म् (६९) जाणित्तु दुक्खं पत्तेयं साय |

वृं ज्ञात्वा प्रत्येकं प्राणिनांदुःखं तद्विपरीतं सातं वाऽदीनमनस्केन ज्वरादिवेदनोत्पत्तिकाले खकृतकर्म्मफलमवश्यमनुभवनीयमिति मत्वा न वैक्लव्यं कार्यमिति, उक्तं च--

॥ ९॥ ''सह कलेवर ! दुःखमचिन्तयन्, स्ववशता हि पुनस्तव दुर्लमा । बहुतरं च सहिष्यसि जीव हे !, परवशो न च तत्र गुणोऽस्ति ते '' यावच्च श्रोत्रादिभिर्विज्ञानैः परिहीयमानैः जराजीर्णं न निजाः परिवर्दन्ति यावच्चानुकम्पया न पोषयन्ति रोगाभिभूतं च न परिहरन्ति तावदात्मार्थोऽनुष्ठेय इत्येतद्दर्शयति—

मू (७०) अनाभक्तं च खलु वयं संपेहाए।

वृ चशब्द आधिक्ये खलुशब्दः पुनर्र्ये पूर्वमभिक्रान्तं वयः समीक्ष्य मूढमावं व्रजतीति प्रतिपादितम्, अनभिक्रान्तं च पुनर्वयः संप्रेक्ष्य ''आयइं मणुवासेजासि'' इत्युत्तरेण सम्बन्धः, 'आत्मार्थम्' आत्महितं 'समनुवासयेत्' कुर्यादित्यर्थः । किमनतिक्रान्तवयसैवात्महितमनुष्ठेय-मुतान्येनापि इति ?, परेणापि लब्धवसरेणात्महितमनुष्ठेयांमित्येतद्दर्शयति--

## मू (७१) खणं जाणाहि पंडिए।

**वृ** क्षणः-अवसरो धर्म्मानुष्ठानस्य, सचार्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्त्यादिकः, परिवादपोषणपरिहार-दोषदुष्टानां जराबालभावरोगाणामभावे सति, तं क्षणं 'जानीहि' अवगच्छ 'पण्डित' आत्मज्ञ ! । अथवाऽवसीदन् शिष्यः प्रोत्साह्यते-हे अनतिक्रान्तयौवन ! परिवादादिदोषत्रयास्पृष्ट ! पण्डित द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदभिन्नं 'क्षणम्' अवसरमेवंविधं 'जानीहि' अवबुध्यस्व, तथाहि-द्रव्यक्षणे द्रव्यात्मकोऽवसरो जङ्गमत्वपञ्चेन्द्रियत्वविशिष्टजातिकुलरूपबलारोग्यायुष्कदिको मनुष्यभावः संसारोत्तरणसमर्थचारित्रावाप्तियोग्यस्त्वायाऽवाप्तः, स चानादौ संसारे पर्यटतोऽसुमतो दुरापी भवति, अन्यत्र तु नैतद्यारित्रमवाप्यते, तथाहि-देवनारकभवयोः सम्यकत्वश्रुतसामायिके एव, तिर्यक्षु च कस्यचिद्देशविरतिरेवेति । क्षेत्रक्षणः क्षेत्रात्मकोऽवसरो यस्मिन् क्षेत्रे चारित्रमवाप्रते, तत्र सर्वविरतिसामायिकस्याधोलौकिकग्रामसमन्वितं तिर्यक्र्क्षेत्रमेव, तत्राप्यर्द्धतृतीयद्वीपसमुद्राः, तत्रापि पञ्चदशसुकर्मभूमिषु, तत्रापि भरतक्षेत्रमपेक्ष्य अर्द्धर्षांड्विंशेषुजनपदेष्वित्यादिकः क्षेत्रक्षणः क्षेत्ररूपोऽवसरोऽधिगन्तव्यः, अन्यसिंमश्च क्षेत्र आद्ये एव सामायिके । कालक्षणस्तु कालल्पः क्षणोऽवसरः, सचावसर्पिण्यां तिसृषु समासु सुषमदुष्षमदुष्यमसुष्पादुष्यमाख्यासु उत्सर्पिण्यां तु तृतीयचतुर्थारकयोः सर्वविरतिसामायिकस्य भवति, एतच्च प्रतिपद्यमानकं प्रत्यभ्यधायि, पूर्वप्रतिपन्नास्तु सर्वत्र तिर्वर्गूर्डाधोलोके सर्वासु च समासु द्रष्टव्याः, ।

भावक्षणस्तु द्वेधा-कर्म्मावक्षणो नोकर्म्मभावक्षणश्च, तत्र कर्म्मभावक्षणः कर्मणामुप-शमक्षयोपशमक्षयान्यतरावाप्ताववसर उच्यते, तत्रोपशमश्रेण्यां चारित्रमोहनीय उपशमितेऽन्तर्मौ-र्हूर्त्तिक औपशमिकश्चारित्रक्षणो भवति, तस्यैव मोहनीयस्य क्षयेणान्तम्मौंहूर्त्तिक एव छद्रास्ययथाख्यातचारित्रक्षणो भवति, क्षयोपशमेन तुक्षायोपशमिकचारित्रावसरः, सचोत्कृष्टतो देशोनां पूर्वकोटिं यावदवगन्तव्यः, सम्यकत्वक्षणस्वजधन्योत्कृष्टस्यितावायुषो वर्त्तमानस्य, शेषाणां तुकर्म्पर्णा पल्योपमासङ्घयेयभागन्यूनान्तः सागरोपमकोटिकोटीस्थितिकस्य जन्तोर्भवति, स चानेन क्रमेणेति, प्रन्थिकसत्त्वेभ्योऽमव्येभ्योऽनन्तगुणया शुद्धयाविशुद्धयमानो मति श्रुतविभङ्गान्यतर-साकारोपयुक्तः शुद्धलेश्यात्रिकान्ततरलेश्योऽशुभकर्म्मप्रकृतीनां चतुःस्थानिकं रसंद्विस्थानिकता-मापादयन् शुभानां च द्विस्थानिकं चतुःस्थानिकतां नयन् बध्नंश्च ध्रुवप्रकृतीः परिवर्त्तमानाश्च मवप्रायोग्या बध्नन्निति,

ध्रुवकर्म्मप्रकृतयश्चेमाः-पञ्चधा ज्ञानावरणीयंनवधा दर्शनावरणीयं मिथ्यात्वं कषायषोडशकं भयं जुगुप्सा तैजसकार्मणशरीरे वर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलधूपधातनिर्म्माणनामानि पञ्चधाऽन्तरावः, एताः सप्तचत्वारिंशद् ध्रुवप्रकृतयः, आसां सर्वदा बध्यमानत्वात्, मनुष्यतिरश्चोरन्यतरः प्रयमं सम्यकत्वमुत्पादयन्नेता एकविंशतिः परिवर्त्तमाना बध्नाति, तद्यधा-देवगत्यानुपूर्वीद्वय-पञ्चेन्द्रियजातिवैक्रि यशरीराङ्गोपाङ्गद्वयसमचतुरसंस्थानपराधातोच्छसप्रशस्तविहायोगति-प्रशस्तत्रसादिदशकसातावेदनीयोच्चैर्गोत्ररूपा इति, देवनारकास्तु मनुष्यगत्यानुपूर्वीद्वयौ-दारिकद्वयप्रथमसंहननसहितानि शुभानि बध्नन्ति, तमतमानारकास्तुतिर्यग्गत्यानुपूर्वीद्वयौ-सहितानीति, तदध्यवसायोपपत्रः सन्नायुष्कमबध्नन् यथाप्रवृत्तेन करणेन ग्रन्थिमासाद्यापूर्वकरणेन भित्त्वा मिथ्यात्वस्यान्तरकरणंविधायानिवृत्तिकरणेन सम्यकत्वमवाप्नोति, ततऊद्ध्वीमेण क्षीयमाणे कर्म्मणि प्रवर्द्धमानेषु कण्डकेषु देशविरत्यादेरवसर इति

नोकर्म्मभावक्षणस्त्वालस्यमोहावर्णवादस्तम्भाद्यमावे सम्यकत्वाद्यवाप्त्यवसर इति, आलस्यादिभिस्तूपहतो लब्ध्वाऽपि संसारलङ्खनक्षमं मनुष्यमवं बोध्यादिकं नाप्नोतीति, उक्तंच–

 1911 "आलस्समोहऽवञ्चा धंभा कोहा पमाय किविणत्ता । भयसोगा अत्राणा चिक्खेव कुऊहला रमणा ॥२॥ एएहिं कारणेहिं लखूणं सुदुछ्छहंपि माणुस्सं । न लहइ सुइं हिअकरिं संसारुत्तारणिं जीवो ''

तदेवंचतुर्विधोऽपिक्षणउक्तः, तद्यथा-द्रव्यक्षणोजङ्गमत्वादिविशिष्टंमनुष्यजन्मक्षेत्रक्षण आर्यक्षेत्रं कालक्षणो धर्म्मचरणकालो भावक्षणः क्षयोपशमादिरूपः ।इत्येवंभूतमवसरमवाप्यात्मार्थं समनुवासयेदित्युत्तरेण सम्बन्धः । किं च--

मू (७२) जाव सोयपरिण्णाणा अपरिहीणा नेत्तपरिण्णाणा अपरिहीणा घाणपरिण्णाणा अपरिहीणा जीहपरिण्णाणा फरि इच्चेएहिं विरूवरूवेहिं पण्णाणेहिं अपरिहीणेहिं आयडं संमं समणुवासिज्ञासि –त्तिबेपि ॥

ष्यावदस्य विशरारोः कायापशदस्य श्रोत्रविज्ञानानि जरसा रोगेण वा अपरिहीनानि भवन्ति, एवं नेत्रघ्राणरसनस्यर्शविज्ञानानि न विषयग्रहणस्वभावतया माच्यं प्रतिपद्यन्ते, इत्येतैः 'विरूपरूपैः' इष्टानिष्टरूपतया नानारूपैः 'प्रज्ञानैः' प्रकृष्टैर्ज्ञनिरपरिक्षीयमाणैः सद्मिः किंकुर्याद्? इत्याह- 'आयट्ठं' इत्यादि, आत्मनोऽर्थ आत्मार्थः, स च ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकः, अन्यस्तवनर्थ एव, अयवाऽऽत्मने हितं-प्रयोजनमात्मार्थं, तद्य चारित्रानुष्ठानमेव, अथवा आयतः-अपर्यवसा-नामोक्ष एव, स चासावर्थश्चायतार्थोऽतस्तं, यदि वाऽऽयत्तो-मोक्षः अर्थः-प्रयोजनं यस्य दर्शनादित्र-यस्य तत्तथा 'समनुवासयेत्' इति 'वस निवासे' इत्येतस्माद्धेतुमण्णिजन्ताक्षिट्सप् सं-सम्यग् ययोक्तानुष्ठानेन अनु-पश्चादनभिक्रान्तं वयः संप्रेक्ष्य क्षणम्-अवसरं प्रतिपद्य श्रोत्रादिविज्ञानानां वा प्रहीणतामधिगम्य तत आत्मार्थं 'समनुवासयेः' आत्मनि विदध्याः । अथवा 'अर्थवशाद् विभक्तिपुरुषपरिणाम'इतिकृत्वा तेन वा आत्मार्थेन ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकेनात्मानं 'समनुवासयेद्' मावयेद्रञ्जयेत्, आयतार्थं वा मोक्षाख्यं सम्यग्-अपुनरागमनेनान्विति-ययोक्तानुष्ठानात्मश्चादात्मना 'समनुवासयेद् अधिष्ठापयेद् । 'इतिः' परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिनमिदमाह, यद्मगवता श्रीवर्द्धमानस्वामिनाऽर्थतोऽ म्यधायि तदेवाहं सूत्रात्मना वच्मीति अध्ययनं - 9, उद्देशकः 9 समाप्त: :

-: अध्ययन - २, उद्देशकः- २

उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीयस्य व्याख्या प्रतन्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इह विषयकषायमातापित्रादिलोकविजयेन मोक्षावासिहेतुभूतं चारित्रं यथा सम्पूर्णमावमनु-भवत्येवंरूपोऽध्ययनार्थाधिकारः प्राङ्निरदेशि, तत्र मातापित्रादिलोकविजयेन रोगजराद्यन-भिभूतचेतसाऽऽत्मार्थः- संयमोऽमनुष्ठेय इत्येतत्प्रथमोद्देशकेऽभिहितम् इहापि तस्मिन्नेव संयमे वर्त्तमानस्य कदाचिन्मोहनीयोदयादरतिः स्याद्, अज्ञानकर्म्पलोमोदयाद्वाऽध्यात्मदोषेण संयमे न दृढत्वं भवेदित्यतोऽरत्यादिव्युदासेन यथा संयमे दृढत्वं भवति तथाऽनेन प्रतिपाद्यते, अथवा यथाऽष्टप्रकारं कर्म्भापहीयते तथा अस्मिन्नध्ययने प्रतिपाद्यते इत्यध्यनार्थाधिकारेऽम्यधायि, तच्च कयं क्षीयत इत्याह--

मू (७३) अरइं आउट्टे से मेहावी, खणंसि मुके।

पूर्ण अस्य चानन्तरसूत्रेण सम्बन्धो वाच्यः, स चायम्- 'आयइं समणुवासेआसि' आसार्यं संयमं सम्यक्तया कुर्यात्, तत्र कदाचिदरत्युद्मवो भवेतदर्थमाह-'अरइं' इत्यादि परम्परसूत्रसम्बन्धसु 'खणं जाणाहि पंडिए' क्षणं-चारित्रावसरमवाप्यारतिं न कुर्यादित्याह-'अरइं' इत्यादि, अदिसूत्रसम्बन्धस्तु 'सुअं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं' किं तच्छुतमित्याह-'अरइं आउट्टे से मेहावी' रमणं रतिस्तदभावोऽरतिस्तां पश्चविधाचारविषयां मोहोदयात् कषायाभिष्वङ्गजनितां मातापितृकलत्राद्युत्यापितां 'स' इत्यरतिमान् 'मेधावी' विदितासारसंसारस्वभावः सन् आवर्त्तत अपवर्त्तेत निवर्त्तयदित्युक्तं भवति, संयमे चारतिर्न विषयाभिष्वङ्गरतिमृते कण्डरीकस्येवेत्यत इदमुक्तं भवति-विषयाभिष्वङ्गेरतिं निवर्त्तत, निवर्त्तनं चैवमुपजायते यदि दशविधचक्रवाल-सामाचारीविषया रतिरुत्पद्यते पौण्डरीकस्येवेति, ततश्चेदमुक्तं भवति-संयमे रतिं कुर्व्वीत, तद्विहितरतेस्तु न किश्चिद्बाधायै, नापीहापरसुखोत्तरबुद्धिरिति, आह च–

11 9 1क्षितितलशयनं वा प्रान्तमैक्षाशनं वा, सहजपरिभवो वा नीचदुर्भाषितं वा । महति फलविशेषे नित्यमभ्युद्यतानां, न मनसि न शरीरे दुःखमुत्पादयन्ति

॥ २ ॥ तणसंथारनिसण्णोऽवि मुनिवरो भट्ठारागमयमोहो । जं पावइ मुत्तिसुहं तं कत्तो चक्ववट्टीवि ?

इत्यादि च । अत्र हि चारित्रमोहनीयक्षयोपशमादवातचारित्रस्य पुनरपि तदुदयाद-वदिद्याविषोरनेन सूत्रेणोपदेशो दीयते, तज्ज्ञावधावनं संयमात् यैर्हेतुभिर्भवति तान्निर्युक्तिकारं गाययाऽऽचष्टे–

नि [९९७] बिइउद्देसे अदढो उ संजमे कोइ हुज अर्र्इए। अन्नाणकम्मलोमाइएहिं अज्झत्यदोसेहिं।।

ष्ट्र इहहिप्रथमोद्देशके बह्वयो निर्युक्तिगाथा अस्मिस्तिवयमेवैकेत्यतो मन्दबुद्धेः स्यादारेक यथा इयमपि तत्रत्यैवेत्यतो विनेयसुखप्रतिपत्त्यर्थं द्वितीयोद्देशकग्रहणमिति, कश्चित्कण्डरीकदेशीयः 'संयमे' सप्तदशमेदमिन्ने 'अद्दढः' शिथिलो मोहनीयोदयादरत्युद्मवाद्मवेत्, मोहनीयोद-योऽप्याध्यात्मिकैर्दोषैर्भवेत्, ते चाघ्यात्मदोषा अज्ञानलोमादयः, आदिशब्दादिच्छामदनकामानां परिग्रहो, मोहस्यज्ञानलोभकामाद्यात्मकत्वात्तेषां चाध्यात्मिकत्वादिति गाथार्थः ॥ ननु चारतिमतो मेधाविनोऽनेन सूत्रेणोपदेशो दीयते यथा-संयमारतिमपवर्त्तेत, मेधावी चान्न विदित्तसंसारस्वमावे विवक्षितो, यश्चैवंभूतो नासावरतिमान् तद्वांश्चेत्र विदित्तवेद्य इत्यनयोः सहानवस्थानलक्षणेन विरोधेन विरोधाच्छायातपयोरिव नैकत्रावस्थानम्, उक्तं च--

॥१॥ ''तञ्ज्ञानमेव न भवति यस्मिञ्चदिते विभाति रागगणः । तमसः कुतोऽस्ति शक्तिर्दिनकरकिरणाग्रतः स्थातुम् ?''

इत्यादि, यो ह्यज्ञानी मोहोपहतचेताः स विषयाभिष्वङ्गालंयमे सर्वद्वन्द्वप्रत्यनीके रत्यमाव विदध्याद्, आह च-- II 9 II अज्ञानान्धाश्चटुलवनितापाङ्गविक्षेपितास्ते, कामे सर्वित दधति विभवाभोगतुङ्गार्जने वा । विद्वचित्तं भवति हि महन्मोक्षमार्गेकतानं, नाल्पस्कन्धे विटपिनि कषत्यंसभित्तिं गजेन्द्रः ''

नेतन्मृष्यामहे, यतो ह्यवाप्तचारित्रस्यायमुपदेशो दिस्सितः, चारित्रावाप्तिश्च न ज्ञानमृते, तत्कार्यत्वाच्चारित्रस्य, न च ज्ञानारत्योर्विरोधः, अपि तु रत्यरत्योः, ततश्च संयमगता रतिरेवारत्या बाध्यते न ज्ञानम्, अतो ज्ञानिनोऽपि चारित्रमोहनीयोदयात्संयमे स्यादेवारतिः, यतो ज्ञानमप्यज्ञानस्यैव बाधकं, न संयमारतेः, तथा चोक्तम्—

II 9 II ज्ञानं भूरि यथार्थवस्तुविषयं स्वस्य दिषो बाधकं, रागारातिशमाय हेतुमपरं युङ्कते न कर्तृ स्वयम् । दीपो यत्तमसि व्यनक्ति किमु नो रूपं स एवेक्षतां,

सर्वः स्वं विषयं प्रसाधयति हि प्रासङ्गिकोऽन्यो विधिः ''

तथेदमपिभवतोनकर्णविवरमगाद्यथा-'बलवानिन्द्रियग्रामः, पण्डितोऽप्यत्र मुह्यती'त्यतो यत्किञ्चिदेतत्, अथवा नारत्यापन्न एवैवमुच्यते, अपि त्वयमुपदेशो मेधावी संयमविषये मा विधादरतिमिति । संयमारतिनिवृत्तश्च सन् कं गुणमवाप्नोतीत्याह-'खणंसि मुझ्ने'परमनिरुद्धः कालः क्षणः जरत्पट्टशाटिकापाटनद्धान्तसमयप्रसाधितः तत्र मुक्तो विभक्तिपरिणामाद्वा क्षणेन-अष्टप्रकारेण कर्म्मणा संसारबन्धनैर्वा विषयाभिष्वङ्गस्नेहादिभिर्मुक्तो भरतवदिति, ये पुनरनुपदेशवर्त्तिनः कण्डरीकाधास्ते चतुर्ग्यतिकसंसारन्तर्वर्त्तिनो दुःखसागरमधिवसन्तीत्याह च-

मू (७४) अणाणाय पुडावि एगे नियइंति, मंदा मोहेण पाउडा, अपरिग्गहा भविस्सामो समुद्ठाय लद्धे कामे अभिगाहइ, अणाणाए मुणिणो पडिलेहंति, इत्य मोहे पुणो पुणो सन्ना नो हव्वाए नो पाराए।

च आज्ञाप्यत इत्याज्ञा-हिताहितप्राप्तिपरिहाररूपतया सर्वज्ञोपदेशस्तद्विपर्ययोऽनाज्ञा तया अनाज्ञया सत्या 'स्पृष्टाः' परीषहोपसर्गौः, अपिशब्दः सम्मावनायां स च भिन्नक्रमो निवर्त्तन्त इत्यस्मादनन्तरं द्रष्टव्यः, 'एके' मोहनीयोदयात्कण्डरीकादयो न सर्वे संयमात्समस्तद्वन्द्वोपशमरूपात् निवर्त्तन्ते अपीति, सम्माव्यत एतन्मोहोदयस्येत्यपिशब्दार्थः, किंभूताः सन्तो निवर्त्तन्त इत्याह-'मन्दा' जडा अपगतकर्त्तव्याकर्त्तव्यविवेकाः, कुत एवंभूता?, यतो 'मोहेन प्रावृता' मोहः- अज्ञानं मिथ्यात्वमोहनीयं वा तेन प्रावृता-गुण्डिताः, उक्तं च–

(19)। ''अज्ञानं खलु कष्टं क्रोधादिभ्योऽपि सर्वपापेभ्यः । अर्थं हितमहितं वा न वेत्ति येनावृतो लोकः''

इत्यदि, तदेवमवाप्तचारित्रोऽपिकर्म्भोदयात्परीषहोदयेऽङ्गीकृतलिङ्गः पश्चाद्मावतामालम्बत इत्युक्तम् । अपरे तु स्वरुचिविरचितवृत्तयो नानाविधैरुपायैर्लोकादर्थं जिघृक्षवः किल वयं संसारोद्विग्ना मुमुक्षवस्तेषु तेषु आरम्भविषयाभिष्वङ्गेषु प्रवन्तत इति दर्शयति-'अपरिग्गहा;' इत्यदि, परिः-समन्तात् मनोवाक्कायकर्म्मभिर्गृह्यत इति परिग्रहः सयेषां नास्तीत्यपरिग्रहा एवंभूता वयं भविष्याम इति शाक्यादिमतानुसारिणः स्वयूथ्या वा 'समुत्थाय' चीवरादिग्रहणं प्रतिपद्य, ततो लब्धान् कामान् 'अभिगाहन्ते' सेवन्ते, तिङ्व्यत्ययेन चैकवचनमिति, अत्र चान्त्यव्रतोपादानात् शेषाण्यपि ग्राह्याणि, अहिंसका वयं भविष्याम एवममृषावादिन इत्याद्यप्यायोज्यम्। तदेवं शैलूषा इवान्यथावादिनोऽन्यथाकारिणः कामार्थमेव तांस्तान् प्रव्रज्याविशेषान्बिभ्रति, उक्तं च–

॥१॥ "स्वेच्छाविरचितशास्त्रैःप्रवज्यावेषधारिभिः क्षुद्रैः ।

नानाविधैरुपायेरनाथवन्मुष्यते लोकः ''

इत्यादि । तदेवं प्रव्रज्यावेषधारिणो लब्धान्कामानवगाहन्ते तस्त्राभार्थं च तदुपायेषु प्रवर्त्तने इत्याह-'अणाणाए' इत्यादि, 'अनाज्ञया' स्वैरिण्या बुद्धया 'मुनय' इति मुनिवेषविडम्बिनः कामोपायान् 'प्रत्युपेक्षन्ते' कामोपायारम्भेषु पौनःपुन्येन लगन्तीति, आह च-'एत्थ' इत्यादि, 'अत्र' अस्मिन् विषयाभिष्वङ्गाज्ञानमये भावमोहे पौनःपुन्येन 'सन्नाः' विषण्णा निमग्नाः पङ्कावमग्ना नागा इवात्मनमाक्रष्टुं नालमिति, आह च-'नो हव्वाए नो पाराए' यो हि मध्येमहानदीपूरं निमग्नो भवत्यसौ नारातीयतीराय नापि पारेमहानदीपूरमिति, एवमन्नापि कुतश्चिन्निमिता-त्त्यक्तगृहगृहिणीपुत्रधनधान्यहिरण्यरत्वकुप्यदासादिविभव आकिञ्चन्यं प्रतिज्ञायारा-तीयतीरदेश्याद्गृहवाससाख्यान्निर्गतः सन् नो हव्वाएत्ति भवति, पुनरपि वान्तभोगाभिलापितया यथोक्तसंयमाभावेन तन्क्रियाया विफलत्वात् नो पाराए ति भवति, उभयतो मुक्तबन्धना मुक्तोली वोभयभ्रष्टो न ग्रहस्थो नापि प्रव्रजित इत्युक्तं भवति, उक्तं च--

११९॥ "इन्द्रियाणि न गुप्तानि, लालितानि न चेच्छया।

मानुष्यं दुर्लभं प्राप्य, न भुक्तं नापि शोषितम् ''

इति । ये पुनरप्रशस्ततिनिवृत्ताः प्रशस्तरतिमधिशयानास्ते किंभूता भवन्तीत्याह-

मू (७५) विमुत्ता हु ते जणा जे जणा पारगामिणो, लोभमलोभेण दुगुंछमाणे लखे कामे नाभिगाहड़।

**ष्ट्र** विविधम्-अनेकप्रकारं द्रव्यतो धनस्वजनानुषङ्गाद्मद्मावतो विषयकषायादिभ्योऽ-नुसमयं मुख्यमाना एव भाविनि भूतवदुपचारान्मुक्ता विमुक्ताः ते जना ये जनाः सर्वस्वजनभूता निर्ममत्वाः पारगामिनो भवन्ति, पारो-मोक्षः संसारार्णवतटवृत्तित्वात्तत्कारणानि ज्ञानदर्शन-चारित्राण्यपि पार इति, भवति हि तादर्थ्यात्ताच्छब्धं यथा तन्दुलान् वर्षति पर्जन्यः, अतस्तत्पारं-ज्ञानदर्शनचारित्राख्यं गन्तुं शीलं येषां ते पारगामिनः, ते मुक्ता भवन्तीति पूर्वेण सम्बन्धकथं पुनः सम्पूर्णपारगामित्वं भवतीत्याह-

'लोभं' इत्यादि, इह हि लोभः सर्वसङ्गानां दुस्त्यजो भवति, तथाहि-क्षपकश्रेण्यन्तर्गत-स्यापगताशेषकषायस्यापिखण्डशःक्षिप्यमाणोऽप्यनुबध्यतइति, अतस्तं लोभं, तद्विपक्षेण अलोभेन 'जुगुप्समानो' निन्दन्यरिहरन् किं करोतीत्याह-'लद्धे' इत्यादि, 'लब्धान्' प्राप्तनिच्छामदनरूपान् कामान 'नाभिगाहते' न सेवते, यो हि शरीरादावपि निवृत्तलोभः स कामाभिष्वङ्गवात्र भवति, ब्रह्मदत्तामन्त्रितचित्रवदिति, प्रधानान्त्यलोभपरित्यागेन चोपसर्जनाधस्तनपरित्यागोद्रष्टव्यः, तद्यध-क्रोधं क्षान्त्या जुगुप्समानो मानं मार्हवेन मायामार्जवेनेत्याद्यप्यायोज्यं, लोभोपादानं तु सर्वकषा-यप्रधान्यख्यापनार्थमुपाददे, तथाहि-तत्यवृत्तः साध्यासाध्यविवेकविकलः कार्याकार्यविचाररहितः सत्नर्थैकदत्तर्धष्टिः पापोपादानमास्थाय सर्वाः क्रियाः अधितिष्ठतीति, तदुक्तम्--

| 11911 | ''धावेइ रोहणं तरइ सायरं भमइ गिरिणिगुंजेसुं। |
|-------|---|
|       | मारेइ बंधवंपिहु पुरिसो जो होइ धणलुद्धो      |
| 11211 | अडइ बहुं वहड भरं सहइ छुहं पावमायरइ धिडो ।   |
|       | कुलसीलजाइपचयधिई च लोभदुओ चयइ "              |

इत्यादि, तदेवं कुतश्चिन्निमित्तात्सहापि लोभादिना निष्क्रम्य पुनर्लोभादिपरित्यागः कार्यः, अन्यस्तु लोभं विनापि प्रव्रज्यां प्रतिपद्यत इति दर्शयति–

मू (७६) विणाइत्तु लोभं निक्खम्म एस अकम्मे जाणइ पासइ, पडिलेहाए नावकंखइ, एस अणगारिति पवुद्यइ, अहो य राओ परितप्पमाणे कालाकालसमुट्ठाइ संजोगट्ठी अट्ठालोभी आलुंपे सहस्साक्करे विणिविट्ठचित्ते इत्य सत्थे पुणो पुणो से आयबले से नाइबले से मित्तबले से पिद्यबले से देवबले से रायबले से चोरबले से अतिहिबले से किविणबले से समणबले, इग्रेएहिं विरुवरूवेहिं कज्जेहिं दंडसमायाणं संपेहाए भया कज्जइ, पावमुक्खुत्ति मन्नमाणे, अदुवा आसंसाए

**वृ** कश्चिद्मरतादिर्निःशेषतोलोभापगमादिनापिलोभं 'निष्क्रम्य' प्रक्रज्यांप्रतिपद्य, पाठान्तरं ai 'विणइत्तु लोभं' सञ्जवलनसंज्ञकमपि लोभं 'विनीय' निर्मूलतोऽपनीय एष एवंमूतः सन् 'अकर्मी' अपगतघातिकर्म्मचतुष्टयाविर्भूतानावरणज्ञानो विशेषतो जानाति सामान्यतः पश्यति, एतदुक्तं भवति-एवंभूतो लोभो येन तत्सये मोहनीयक्षये चावश्यं धातिकर्म्मक्षयस्तस्मिंश्च निरावरणज्ञानसद्मावस्ततोऽपि भवोपग्राहिकर्म्मापगम इत्यतो लोभापगमे अकर्म्मत्युक्तम् । यतश्चैवस्भूतो लोभो दुरन्तरतद्धानौ चावश्यं कर्म्मक्षयस्ततः किं कर्त्तव्यमित्याह-'पडिलेहाए' इत्यादि, प्रत्युपेक्षणया-गुणदोषपर्यालीचनयोपपन्नः सन्नथवा लोभविपाकं प्रत्युपेक्ष्य-पर्यालोच्य तदभावे गुणंच लोभं 'नावकाङ्वति'नाभिलषतीति, यश्चाज्ञानोपहतान्तःकरणोऽप्रशस्तमूलगुणस्थानवर्ती विषयकषायाद्युपपन्नस्तस्य पूर्वोक्तं विपरीतततया सर्वं संतिष्ठते, तथाहि-अलोभं लोभेन जुगुपस्मानो लब्धान् कामानवगाहते, लोभमनपनीय निष्क्रम्य पुनरपि लोभैकमनाः सकर्म्मा न जानाति नापि पश्यति, अपश्यंश्चाप्रत्युपेक्षणयाऽभिकाङ्चति

यच्च प्रथमोद्देशकेऽप्रशस्तमूलगुणस्थानमवाचि तच्च वाच्यमिति, आह च-'अहो य राओ' इत्यादि, अहोरात्रं परितप्यमानः कालाकालसमुत्यायी संयोगार्थी अर्थालोभी आलुम्पः सहसाकारो विनिविष्टचित्तः अन्न-शस्त्रो पृथिवीकायाद्युपघातकारिणि पौनः पुन्येन वर्त्तते। किं च-'से आयबले; आत्मानो बलं-शक्त्युपचयआत्मबलं तन्मे भावीतिकृत्वा नानाविधैरुपायेरात्मपुष्टये तास्ताः क्रियाः ऐहिकामुष्मिकोपघातकारिणीर्विधत्ते, तथाहि 'मांसेन पुष्यते मांस' मितिकृत्वा पञ्चेन्द्रियघातादावपि प्रवर्त्तते, अपराश्च लुम्पनादिकाः सूत्रेणैवाभिहिताः, एवं च 'ज्ञातिबलं' स्वजनबलं मे मावीति, तथा तन्मिन्नबलं मे भविष्यति येनाहमापदं सुखेनैव निस्तरिष्यामि, तखेत्सबलं भविष्यतीति बस्तादिकमुपहन्ति, तद्या देवबलं भावीति पचनपाचनादिकाः क्रिया विधत्ते, राजबलं वा मे भविष्यतीति राजानमुपचरति, चौरग्रामे वा वसति चौरभागं वा प्राप्स्यामीति चौरानुपचरति, अतिथिबलं वा मे भविष्यतीत्यतियीनुपचरति, अतिथिर्हि निःस्पृहोऽभिधीयते इति, उक्तं च-

11 9 11

''तिथिपर्वोत्स्वाः सर्वे, त्यक्ता येन महात्मना। अतिथिं तं विजानीयाच्छेषमभ्यागतं विदुः '' एतदुक्तं भवति-तद्वलार्थमपि प्राणिषु दण्डो न निक्षेप्तव्यः इति, एवं कृपणश्रमणार्थमपि वाच्यमिति, एवं पूर्वोक्तैः 'विरूपरूपेः' नानाप्रकारैः पिण्डदानादिभिः कार्यैः 'दण्डसमादान' मिति दण्डयन्ते-व्यापाद्यन्ते प्राणिनो येन स दण्डस्तस्य सम्यगादानं-ग्रहणं समादानं, तदात्सबलादिकं ममनाभविष्यत् यद्यह्रमेतत्राकरिष्यमित्येवं 'संप्रेक्षया' पर्यालोचनया एवं संप्रेक्ष्य वा भयात् क्रियते, एवं तार्वदिहभवमाश्रित्य दण्डसमादानका रणमुपन्यस्तम्, आमुष्मिकार्थमपि परमार्थजानानैर्दण्ड-समादानं क्रियत इति दर्शयति-'पावमोक्खो'ति इत्यादि, पातयति पासयतीति वा पापं तस्मान्मोक्षः पापमोक्षः, 'इति' हेतौ, यस्मात्स मम भवीष्यतीति मन्यमानः दण्डसमादानाय प्रवर्त्तत इति, तथाहि-हुतभुजि षङ्जीवोपधातकारिणि शस्त्रे नानाविधोपायप्राण्युपघातात्तपावविध्वंसनाय पिप्पलशमीसमित्तिलाज्यादिकं शठव्युद्राहितमतयो जुह्वति, तथा पितृपिण्डदानादौ बत्तादिमांसोप-स्कृ तभोजनादिकं द्विजातिभ्य उपकल्पयन्ति तद्मुक्तशेषानुज्ञातं स्वतोऽपि भुञ्जते, तदेवं नानाविधैरुपाधैरज्ञानोपहतबुद्धयः पापमोक्षार्थं दण्डोपादानेन तास्ताः क्रियाः प्राण्युपघातकारिणीः समारभमाणाः अनेकमवशतकोटीदुर्म्तचमघमेवोपाददत इति । किश्च-'अदुवा' इत्यादि, पापमोक्ष इति मन्यमानो दण्डमादत्त इत्युक्तम्, अथवा आशंसनम् आशंसा-अप्राप्तप्राप्राणीभिलाषस्तदर्थं दण्डसमादानमादत्ते, तथाहि-ममैतत् परुत्परारि वा प्रेत्य वोपस्थाः यते इत्याशं सया क्रियासु प्रवर्त्तत, राजानं वाऽर्थाशाविमोहितमना अवलगति, उक्तं च–

II9।।''आराध्य भूपतिमवाप्य ततो धनानि, मोक्ष्यामहे किल वयं सततं सुखानि । इत्याशया धनविमोहितमानसानां, कालः प्रयाति मरणावधिरेव पुंसाम ॥२॥ एहि गच्छ पतोत्तिष्ठ. वद मौनं समाचर ।

इत्याद्याशाग्रहग्रस्तैः, क्रीडन्ति धनिनोऽर्थिभिः''

इत्यादि ।। तदेवं ज्ञात्वा किं कर्त्तव्यमित्याह–

मू (७७) तं परिण्णाय मेहावी नेव सयतं एएहिं कजेहिं दंडं समारंभिज्ञा नेव अत्रं एएहिं कजेहिं दंडं समारंभाविज्ञा एएहिं कजेहिं दंडं समारंभतंपि अन्नं न समणुजाणिज्ञा, एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, जहेत्थ कुसले नोवलिंपिज्ञासि –त्तिबेमि।।

ष्ट्र'ति सर्वनाम प्रक्रान्तपरामर्शि, 'तत्' शस्त्रपरिज्ञोक्तं स्वकायपरकायदिभेदभिन्नं शस्त्रम्, इह वा यदुक्तम् अप्रशस्तगुणमूलस्थानं-विषयकषायमातापित्रादिकं, तथा कालाकालसमुत्थनक्षणपरिज्ञानश्रोत्रादिविज्ञानप्रहाणादिकं तथाऽऽत्मबलाधानाद्यर्थं च दण्डसमादानंज्ञपरिज्ञया ज्ञालाप्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेत् 'मेधावी' मर्यादावर्त्ती, ज्ञातहेयोपादेयः सन् किं कुर्यादित्याह-'नेव सयं' इत्यादि, नैव 'स्वयम्' आत्मना एत्तैः- आत्मबलाधानादिकैः 'कार्ये:' कर्त्तव्यैः समुपस्थितैः सदिः 'दण्डं' सत्त्वोपघातं समारभेत्, नाप्यन्यमपरमेभिः कार्यीर्हिसानृतादिकं दण्डं समारम्भयेत्, तथा समारभमाण्मप्यपरं योगत्रिकेण न समनुज्ञापयेद् एषचोपदेशस्तीर्थकृदिरभिहित इत्येतत् सुधर्म्मस्वामी जम्बूस्वामिनमाहेति दर्शयति-'एस' इत्यादि, 'एष' इति ज्ञानादियुक्तो मावमार्गो योगत्रिककरणत्रिकेण दण्डसमादानपरिहारलक्षणो वा 'आर्येः' आराघाताः सर्वहेयधर्म्भभ्य इत्यार्याः-संसारार्णवत्तटवर्त्तिनः क्षीणघातिकर्म्मांशाः संसारोदरविव-रवर्त्तिभावविदः तीर्थकृत्तर्तैः 'प्रकर्षेण' सदेवमनुजायां पर्षदि सर्वस्वभाषानुगामिन्या वाचा यौगपद्याशेषसंशीतिच्छेञ्या प्रकर्षेण वेदितः-कथितः प्रतिपादित इतियावत्, एवम्भूतं च मार्गे ज्ञात्वा किं कर्त्तव्यमित्याह- 'जहत्थे'; इत्यादि, तेषु तेष्वात्मबलोपधानादिकेषु कार्येषु समुपस्थितेषु सत्सु दण्डसमुपादानादिकं परिहरन् 'कुशलो' निपुणः अवगततत्त्वो यथैतस्मिन् दण्डसमुपादाने खमात्मानं 'नोपलिम्पयेः' न तत्र संश्लेषं कुर्या इति, विभक्तिपरिणामाद्वा एतेन दण्डसमुपादान-जनितकर्म्मणा यथा नोपलिप्यसे तथा सर्वेः प्रकारैः कुर्यास्त्वम्। इतिशब्दः परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ।।

अघ्ययनं-२ उद्देशकः २ समाप्तः

### -: अध्ययनं-२, उद्देशकः-३ :-

9 उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीय आरभ्यते, अस्य चायमाभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके संयमे दृढल्वं कार्यमसंयमे चादढत्वमुक्तं, तच्चोभयमपि कषायव्युदासेन सम्पद्यते, तत्रापि मान उत्पत्तेरारभ्य उच्चैर्गोत्रोत्यापितः स्यात् अतस्तद्वयुदासार्थमिदमभिधीयते । अस्य चानन्तरसूत्रेण सम्बन्धः- 'जहेत्य कुसले नोवलिंपेज्ञासि' कुशलो निपुणः सन्नस्मिन्नुच्चैर्गोत्रभिमाने यथाऽऽत्मानं नोपलिम्पयेस्तथा विदध्यास्त्वं, किं मत्वा ?, इत्यतस्तदभिधीयते--

मू (७८) से असई उच्चागोए असई नीआगोए, नो हीणे नो अइरित्ते, नोऽपीहए, इय संखाय को गोयावाई को माणावाई ?, कॉसि वा एगे गिज्झा, तम्हा नो हरिसे नो कुप्पे, भूएहिं जाण पडिलेह साथं।

**वृ** 'सेअसइं उच्चागोए असइं नीआगोएति' 'स' इति ससार्यसुमान् 'असकृद्' अनेकशः उच्चैर्गोत्रे मानसत्कार्रहे, उत्पन्न इति श्रेषः, तथा असकृत्रीचैर्गोत्रे सर्वलोकावगीते, पौनः पुन्येनोत्पन्न इति, तथाहि-नीचैर्गोत्रोदयादनन्तमपि कालं तिर्यक्ष्वास्ते, तत्र च पर्यटन् द्विनवति-नामोत्तरप्रकृतिसत्कर्म्सा संस्तथाविधाध्यवसायोपपन्नः आहारकशरीरतत्सङ्घातबन्धनाङ्गोपाङ्गदेव-गत्यानुपूर्वीद्वयनरकगत्यानुपूर्वीद्वयवैक्रियचतुष्टयरूपा एता द्वादशकर्म्मप्रकृतीर्निलेप्याशीतिसत्कर्म्मा तेजोवायुषूत्पन्नः सन् मनुजगत्यानुपूर्वीद्वयपैक्रियचतुष्टयरूपा एता द्वादशकर्म्मप्रकृतीर्निलेप्याशीतिसत्कर्म्मा तेजोवायुषूत्पन्नः सन् मनुजगत्यानुपूर्वीद्वयपैक्रियचतुष्टयरूपा एता द्वादशकर्म्मप्रकृतीर्निलेप्याशीतिसत्कर्म्मा तेजोवायुषूत्पन्नः सन् मनुजगत्वानुपूर्वीद्वयपैक्रियचतुष्टयरूपा तत्त उद्यौर्गोत्रमुद्वलयति पल्योप-मासंख्येयभागेन, अतस्तेजोवायुष्ट्वाद्य एव भङ्गकः, तद्यथा-नीचैर्गोत्रस्य बन्ध उदयोऽपि तस्यैव सत्कर्म्ताऽपीति, तत्तोऽप्युद्वृत्तस्यापरैकेन्द्रियगतस्यायमेव भङ्गः, त्रसेष्वयपर्याप्तकाव-स्यायामयमेव, अनिर्लेपिते तूच्चैर्गोत्रे द्वितियचतुर्थौ मङ्गौ, तद्यथा-नीचैर्गोत्रस्य बन्ध उदयोऽपि तस्यैव सत्कर्मता तूभयरूपस्थैवेति द्वितीयः, तथा उच्चैर्गोत्रस्य बन्धो नीचस्योदयः सत्कर्मता तूभयरूपस्येति चतुर्थः, शेषास्तु चत्वारो न सन्त्येव,

तिर्यक्षूद्यैर्गोत्रस्योदयाभावादितिभावः, तदेवमुद्यैर्गोत्रोद्धलनेन कलंकलीभावमापन्नोऽनन्तं कालमेकेन्द्रियेष्वास्ते, अनुद्धलिते वा तिर्यक्ष्वास्तोऽनन्ता उत्सर्पिण्यवसर्पिणीः, आवलिकाकाला-सङ्खयेयभागसमयसंख्यान् पुद्गलपरावर्त्तानिति, कीद्दशः पुनः पुद्गलपरावर्त्त इति ? उच्यते, यदौदारिकवैक्रियतैजसभाषानापानमनःकर्मसप्तकेन संसारोदरविवरवर्त्तिनः पुद्गलाः आत्मसात्परिणामिता भवन्ति तदा पुद्गलपरावर्त्त इत्येके, अन्ये तु द्रव्यक्षेत्रकालमावभेदाच्चतुर्द्धा वर्णयन्ति, प्रत्येकमसावपि बादरसूक्ष्मभेदात् द्वैविध्यमनुभवति, तत्र द्रव्यत्तो बादरो यदौदारिकवैक्रियत्तैजसकार्म्पणचतुष्टयेन सर्वपुद्गला गृहीत्वोज्झितास्तदा भवति, सूक्ष्म पुनर्यदैकशरीरेण सर्वपुदुगलाः स्पर्शिता भवन्ति तदा द्रष्टव्यः १, क्षेत्रतो बादरो यदा क्रमोक माभ्यां म्रियमाणेन सर्वे लोकाकाशप्रदेशाः स्पृष्टा भवन्ति तदा विज्ञेयः, सूक्ष्मस्तु तदा विज्ञेयो यदैकस्मिन् विवक्षिताकाशखण्डके मृतः पुनर्यदा तस्यानन्तरप्रदेशवृद्धया सर्वं लोकाकाशं व्याप्नो तदा ग्राह्यः २, कालतो बादरो यदोत्सर्पिण्यवसर्पिणीसमयाः क्रमोक्रमाभ्यां म्रियमाणेनालिङ्गिता भवन्ति तदा विज्ञेयः, सूक्ष्मस्तूत्सर्पिणीप्रथमसमयादारम्य क्रमेण सर्वसमया म्रियमाणेन यदा छुप्ता भवन्ति तदाऽवगन्तव्यो ३, मावतो बादलो यदाऽडनुमागबन्धाध्यवसायस्थानानि क्रमोक्रमाम्यां म्रियमाणेन व्याप्तानि भवन्ति तदाऽभिधीयते, अनुभागबन्धाध्यवसायप्रमाणं तु संयमस्यानावसरे प्रागेवाभ्यधायीति, सूक्ष्मस्तु जधन्यानुमागबन्धाध्यवसायस्यानादारभ्य यदा सर्वेष्वपि क्रमेण मृतो भवति तदाऽवसेय इति । तदेवं कलंकलीभावमापन्नोऽन्यो वा नीचैर्गोत्रोदयादनन्तमपि कालं तिर्यक्ष्वास्ते, मनुष्येष्वति तदुदयादेवचावगीतेषु स्थानेषूत्पद्यते, तथा कलंकलीसत्त्वोऽपि द्वीन्दियादिषूत्पन्नः सन् प्रथमसमये एवं पर्यासुत्तरकालं वोच्चैर्गोत्रं बद्धा मनुष्येष्वसकृदुच्चैर्गोत्र-मास्कन्दति, तत्र कदाचित्तत् तीयमङ्गकस्यः पश्चमभङ्गोपपन्नो वा भवति, ताविमौ-नीचैर्गोत्रं बघ्नात्युच्चैर्गोत्रस्योदयः सत्कर्मता तुभयस्य तृतीयः, पश्चमस्तुच्चैर्गोत्रं बघ्नाति तस्यैवोदयः सत्कर्मता तूमयस्य, षष्ठसप्तमभङ्गौ तूपरतवन्धस्य भवतः, अविषयत्वान्न ताभ्यामिहाधिकारः, तौ चेमौबन्धोपरमे उच्चैर्गोत्रोदयः संत्कर्मता तूभयस्येति षष्ठः, सप्तमस्तु शैलेश्यवस्थायां द्विचरमसमये नीचैर्गोजे क्षपिते उद्यैर्गोजोदयस्तस्यैव सत्कर्म्मतेति, तदेवमुच्चावचेषु गोत्रेषु असकृदुरप्रधमानेनासुमता पञ्चमङ्कचान्तर्वर्त्तिना न मानो विधेयो नापि दीनतेति ।

तयोश्चौच्चावचयोः गोत्रयोर्बन्धाध्यवसायस्थानकण्डकानि तुल्यानीत्याह-'नो हीणे नो अइरित्ते' यावन्त्युच्चैर्गोत्नेऽनुभावबन्धाध्यवसायस्थानकण्डकानि नीचैर्गोत्नेऽपितावन्त्येव, तानि च सर्वाण्यप्वसुमताऽनादिसंसार भूयो भूयः स्पर्शितानि, तत उच्चैर्गोत्रकण्डकार्थतयाऽसुभृन्न हीनो नाप्यतिरिक्तः, एवं नीचैर्गोत्नकण्डकार्थतयाऽपीति । नागार्ज्जनीयास्तु पठन्ति-''एगमेमे खलु जीवे अईअद्धाए असइं उच्चागोए असंइं नीआगोए, कंडगहयाए नो हीणे नो अइरित्ते'' एकैको जीवः खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे अतीते कालेऽसकृदुच्चावचेषु गोत्रेषूत्पन्नः, स चोच्तावचानुभागकण्डकापेक्षया न हीनो नाप्यतिरिक्त इति, तथाहि-उच्चैर्गोत्रकण्डकेम्य एकभविकेभ्योऽनेकभविकेभ्यो वा नीचैर्गोत्रकण्डकानि न हीनानि नाप्यतिरिक्तानीत्यतोऽव-गम्योत्कर्षपकर्षी न विधेयौ, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात्त् सर्वेष्वपि मदस्थानेष्वेतदायोज्यं । यतश्चोद्यावचेषु स्थानेषु कर्म्यवशादुत्पद्यन्ते, बलरूपलाभादिमदस्थानानां चासमझसतामवगम्य किं कर्त्तव्यमित्याह-'नोऽपीहए' अपिः सम्भावने स च भिन्नक्रमो, जात्यादीनां मदस्थानानामन्यतमदपि नो 'इंहेतापि' नाभिलषेदपि अथवा नो स्पृहयेत्-नावकाङ्कदिति । तत्र यघुच्चावचेषु स्थानेष्वसकृदुत्पन्नोऽसुमांस्ततः किमित्याह–

'इय संखाय' इत्यादि, इतिरुपप्रदर्शने 'इति' एतत्यूर्वोक्तनीत्योच्चावचस्थानोत्पादांदिकं 'परिसंखाय' ज्ञात्वा 'को गोत्रवादी मवेद्?' यथा ममोच्चैर्गोत्रं सर्वलोकमाननीयं नापरस्येत्येवंवादी को बुद्धिमान् भवेत्?, तथाहि-मयाऽन्यैश्च जन्तुभिः सर्वाण्यपि स्थानान्यनेकशः प्राप्तपूर्वाणीति, तथोच्चैर्गोत्रनिमित्तमानवादी वा को भवेत्?, न कश्चित्संसारस्वरूपपरिच्छेदीत्यर्थः, किं च-'कंसि वा एगे गिज्झे' अनेकशोऽनेकस्मिन् स्थानेऽनुभूते सति तन्मध्ये कस्मिन्वा एकस्मिन्नुद्वैर्गोत्रा-दिकेऽनवस्थितस्थानकेरागादिविरहादेकः कथं गृष्येत् ? , तात्पर्यम्-आसेवां विदितकर्मपरिणामो विदय्यात्, युज्येत गार्द्ध्यं यदि तत्स्थानं प्राप्तपूर्वं नामविष्यत्, तद्यानेकशः प्राप्तपूर्वम्, अतत्तल्लामालामयोः नोत्कर्षपकर्षे विधेयाविति, आह च- 'तम्हा' इत्यादि, यतोऽनादौ संसारे पर्यटताऽसुमताऽदष्टायत्तान्यसकृदुद्यावचानि स्थानान्यनुभूतानि तस्मात्कथश्चिदुद्यावचादिकं मदस्थानमवाप्य 'पण्डितो' हेयोपादेयतत्त्त्वज्ञो 'न हृष्येत्' न हर्षं विदध्याद्, उक्तं च– ॥१॥ ''सर्वसुखान्यपि बहुशः प्राप्तान्यटता मयाऽत्र संसारे । उद्यैःस्थानानि तथा तेन न मे विस्मयस्तेषु

II२॥ जइ सोऽवि निज्ञरमओ पडिसिद्धो अट्माणमहणेहिं। अवसेस भयद्वाण परिहरिअव्वा पयत्तेणं ''

नाप्यवगीतस्थानावाप्तौ वैमनस्यं विदघ्याद्, आह च-'नो कुप्पे' अद्दष्टवशात्तथाभूत-लोकासम्पतं जातिकुलरूपबललाभादिकमधममवाप्य 'न कुप्येत्' न क्रोधं कुर्यात्, कतरत्रीचस्थानं शब्दादिकं वा दुःखं मया नानुभूतमित्येवमवगम्य नोद्वेगवशगेन भाव्यम्, उक्तं च--

| 11911 | "अवमानात्परिप्रंशादधबन्धधनक्षयात्।          |
|-------|---|
|       | प्राप्ता रोगाश्च शोकाश्च, जात्यन्तरशतेष्वपि |
| ારા   | संते य अविम्हइउं असोइउं पंडिएण य असंते ।    |
|       | सका हु दुमोवमिअहिअएण हिअं घरंतेण            |
| lişti | होऊण चंक्ववट्टी पुहइवई विमलपंडरच्छत्तो ।    |
|       | सो चेव नाम मुझों अणाहसालालओ होइ ''          |

एकसिन् चा जन्मनि नानाभूतावरिया उद्यावचाः कर्म्मवशतोऽनुभूवति। तदेवमुच्चनीच-गोत्रनिर्विकल्पमनाः अन्यदपि अविकल्पेन किं कुर्यादित्याह-'भूएहिं' इत्यादि, भवन्ति भविष्यन्त्यभूवन्निति च भूतानि-असुमृतस्तेषु 'प्रत्युपेक्ष्य' पर्यालोच्य विचार्य कुशाग्रीयया शेमुष्या जानीहि-अवगच्छ, किं जानीहि ?- 'सातं' सुखं तद्विपरीतमसातमपि जानीहि, किं च कारणं सातासातयोः ? एतञ्जानीहि, किं चाभिलषन्त्यविगानेन प्राणिन इति, अत्र जीवजन्तुप्राण्यादि-शब्दानुपयोगलक्षणद्रव्यस्य मुख्यान् वाचकान्विहाय सत्तावाचिनो भूतशब्दस्योपादानेनेदमा-विर्मावयति-यथाऽयमुपयोगलन्नाणपदार्थोऽवश्यं सत्तां विभर्त्ति, साताभिलाष्यसातं च जुगुप्सते, सातामिलाषश्च शुभग्रकृतित्वाद् अतोऽपरासामपि शुभग्रकृतीनामुपलक्षण्यमेतदवसेयम्, अतः शुमनामगोत्रायुराद्याः कर्म्मप्रकृतीरनुधावत्यशुभाश्च जुगुप्सते सर्वोऽपिप्राणी। एवं च व्यवस्थिते सति किं विधेयमित्याह-

मू (७९) समिए एयाणुपसी, तंजहा-अन्धत्तं बहिरत्तं मूयत्तं काणत्तं कुंटतं खुज्रत्तं वडभत्तं सामत्तं सबलत्तं सह पमाएणं अनेगरूवाओ जोणीओ संधायइ विरूवरूवे फासे परिसंवेयइ

वृ अथवा भूतेषु शुभाशुभरूपं कर्म्म प्रत्युपेक्ष्य यत्तेषामप्रियं तन्न विदध्यात् इत्ययमुपदेशो, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति ''पुरिसेणं खलु दुक्खुव्वेअसुहेसए'' 'पुरुषो' जीवः णमिति वाक्यालङ्कारे 'खलुः' अवधारणे दुःखात् उद्वेगो यस्य स दुःखोद्वेगः, सुखस्यैषकः सुखैषकः, याजकादित्वात्समा- सञ्छान्दसत्वाहा, दुःखोढेगश्चासौ सुखैषकश्च दुःखोढेगसुखैषकः, सर्वोऽपि प्राणी दुःखोढेगसुखैषक एव भवत्यतो जीवप्ररूपणं कार्यं, तद्यावनिवनपवनानलवनस्पतिसूक्ष्मबादरविकल- पश्चेन्द्रिय-संज्ञीतरपर्याप्तकापर्याप्तकरूपं शस्त्रपरिज्ञायामकार्येव, तेषां च दुःखपरिजिहीर्षूणां सुखलिप्सुना-मात्मौपम्यमाचरता तदुपमर्दकानि हिंसादिस्यानानि परिहरताऽऽत्मा पञ्चमहाव्रतेष्वा- स्थेयः, तत्परिपालनार्थं चोत्तरगुणा अप्यनुशीलनीयाः, तदर्थमुपदिश्यते-'समिए एयाणुपस्सी' पञ्चभिः समितिभिः समितः सन् एतत्-शुभाशुभं कर्म्म वक्ष्यमाणं चान्धत्वादिकं द्रष्टुं शीलं यस्येत्येतदनुदर्शी भूतेषु सातं जानीहीतिसण्टङ्कः, तत्र 'समिति'रिति 'इण् गता;' वित्यस्मात्सम्पूर्वातु क्तिन्नन्तादुमवति, सा च पश्चघा.--

तद्यया-ईर्याभाषेषणाऽऽदाननिक्षेपोत्सर्ग्यरूपाः, तत्रैर्यासमितिः प्राणव्यपरोपणव्रत-परिपालनाय, भाषासमितिरसदभिधाननियमसंसिद्धये, एषणासमितिरस्तेयव्रतपरिपालनाय, शेषद्वयं तु समस्तव्रतप्रकृष्टस्याहिंसाव्रतस्य संसिद्धये व्याप्रियते इति, तदेवं पश्चमहाव्रतोप-पेतस्तद्वदुवृत्तिकल्पसमितिभिः समितः सन् भावत एतदुमृतसातादिकमनूपर्श्यति, अयवा यदनुदर्श्यसौ भवति तद्यथेत्यादिना सूत्रेणैव दर्शयति 'अन्धत्वमित्यादिना यावत् विरूपरूपे फासे परिसंवेएइ' संसारोदरे पर्यटन् प्राणी अन्धत्वादिका अवस्था बहुशः परिसंवेदयते, स चान्धो द्रव्यतो भावतश्च, तत्रैकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रिया द्रव्यभावान्धाः, चतुरिन्द्रियादयस्तुमिथ्यादष्टयो भावान्धाः, उक्तंच-

II9II "एकं हि चक्षुरमलं सहजो विवेकस्तद्वदिमरेव सह संवसतिर्द्वितीयम् ।

एतद्वयं भुवि न यस्य स तत्त्वतोऽन्धस्तस्यापमार्ग्यचलने खलु कोऽपराधः ?"

सम्यग्ध्र्थ्यस्तूपहतनयना द्रव्यान्धा, त एवानन्धा न द्रव्यतो न च भावतः, तदेवमन्धत्वं द्रव्यमावभिन्नमेकान्तेन दुःख जननमवाप्नोतीति, उक्तं च-

''जीवन्नेव मृतोऽन्धो यस्मात्सर्वक्रियास् परतन्त्रः । 11911 नित्यास्तमितदिवाकरस्तमोऽन्धकारार्णवनिमग्नः

। १२। । लोकद्वयव्यसनवह्तिविदीपिताङ्गमन्धं समीक्ष्य कृपणं परयष्टिनेयम् । को नोद्विजेत भयकृञ्जननादिवोग्रात्कृष्णाहिनैकनिचितादिव चान्धगत्तातु ?" एवं बधिरत्वमप्यदष्टवशादनेकशः परिसंवेदयते, तदावृतश्च सदसद्विवेकविकलत्वादैहिका-मुष्मिकेष्टफलक्रियानुष्ठानशुन्यतां बिमर्त्ति इति, उक्तं च-

।।१।। ''धर्म्मश्रुतिश्रवणमङ्गलवर्जितो हि, लोकश्रुतिश्रवणसंव्यवहारबाह्यः । किं जीवतीह बधिरो ? भूवि यस्य शब्दाः, स्वप्नोपलब्धधननिष्फलतां प्रयान्ति ?

- स्वकलत्रबालपुत्रकमधुरवचःश्रवणबाह्यकरणस्य । 11211
  - बधिरस्य जीवितं किं जीवन्मृतकाकृतिघरस्य ? ''

--एवं मूकत्वमप्येकान्तेन दुःखावहं परिसंवेदयते, उक्तं च-"दुःखकरमकीर्त्तिकरं मूकत्वं सर्वलोकपरिभूतम् ।

11911

(1911 काणो निमग्नविषमोन्नतदष्टिरेकः, शक्तो विरागजनने जननातुराणाम् ।

यो नैव कस्यचिदुपैति मनःप्रियत्वमालेख्यकर्म्मलिखितोऽपि किमु स्वरूपः ?

एवं 'कुण्टत्वं' पाणिवक्रत्वादिकं 'कुब्जत्वं' वामनलक्षणं 'वडभत्वं' विनिर्गतपृष्ठीवड-भलक्षणं 'श्यामत्वं' कृष्णालक्षणं 'शबलत्वं' श्वित्रलक्षणं सहजं पश्चाद्मावि वा कर्म्मवशगो भूरिशो दुःखराशिदेशीयं परिसंवेदयते । किं च-सह 'प्रमादेन' विषयक्रीडाभिष्वङ्गरूपेण श्रेयस्यनुद्यमात्मकेन 'अनेकरूपाः' सङ्कटविकटशीतोष्णादिभेदभिन्ना योनीः 'संदधाति'संघत्ते चतुरशीतियोनिलक्ष- सम्बन्धाविच्छेदं विदधातीति भावः, सम्यम् धावतीति वा, तासु तास्वायुष्कबन्धोत्तरकालं गच्छतीत्यर्थः, तासुच नानाप्रकारासुयोनिषु 'विरूपरूपान्' नानाप्रकारान् 'स्पर्शान्' दुःखानुभवान् परिसंवेदयते, अनुभवतीत्यर्थः ।। तदेवमुद्यैर्गोत्रोत्यापितमानोपहत्तवेता नीचैर्गोत्रविहितदीनभावो वाऽन्धबधिरभूयंवा गतः सन्नावबुध्यते कर्त्तव्यं न जानाति कर्म्मविपाकं नावगच्छति संसारपसदतां नावधारयति हिताहिते न गणयति औचित्यमित्यनवगततत्त्वो मूढस्तत्रैवोद्यैर्गोत्रादिके विपर्यासमुपैति, आह च-

मू. (८०) से अबुज्झमाणे हओवहए जाईभरणं अनुपरियष्टमाणे, जीवियं पुढो पियं इहमेगेसिं माणवाणं खित्तवत्थुममायमाणाणं, आरत्तं विरत्तं मणिकुंडलं सह हिरण्णेण इत्थियाओ परिगिज्झति तत्थेव रत्ता, न इत्थ तवो वा दमो वा नियमो वा दिस्सइ, संपुण्णं बाले जीविउकामे लालप्पमाणे मूढे विष्परियासमुवेइ।

**वृ.** 'से' इलुच्चैर्गोत्राभिमानी अन्धबधिरादिभावसंवेदको वा कर्म्भविपाकमनवबुध्यमानो हतोपहतो भवति, नानाव्याधिसद्मावक्षतशरीरत्वाद्धतः समस्तलोकपरिभूतत्वादुपहतः, अथवोच्चैर्गोत्रगर्वाध्मातत्यक्तोचितविधेयविद्वज्जनवदनसमुद्भूतशब्दायशःपटहहतत्वाद्धतः अभिमानोत्पादितानेकभवकोटिनीचैर्गोत्रोदयादुपहतः, मूढो विपर्यासमुपैतीत्युत्तरेण सम्बन्धः, तथा जातिश्च मरणं च समाहारद्वन्द्वस्तद् 'अनुपरिवर्त्तमानः' पुनर्जन्म पुनर्मरणमित्येवमरहट्टघटी-यन्त्रन्यायेन संसारोदरे विवर्त्तमानः, आवीचीमरणाद्वा प्रतिक्षणं जन्मविनाशावनुमवन् दुःखसागरावगाढो विशरारुण्यपि नित्यताकृतमतिः हितेऽप्यहिताध्यवसायो विपर्यासमुपैति, आह च-'जीवितम्' आयुष्कानुपरमलक्षणमसंयमजीवितं वा–

'पृथग्' इति प्रत्येकं प्रतिप्राणि 'प्रियं' दयितं वल्लभम् 'इहे'ति अस्मिन् संसारे 'एकेषाम्' अविद्योपहतचेतसां मानवानामिति, उपलक्षणार्थत्वात् प्राणिनां, तथाहि-दीर्घजीवनार्थं तास्ता रसायनादिकाः क्रियाः सत्त्वोपधातकारिणीः कुर्वते, तथा 'क्षेत्रं' शालिक्षेत्रादि 'वास्तु' धवलगृहादि ममइदमित्येवमाचरतां सतां तत्क्षेत्रादिकंप्रेयो मवति, किं च-'आरक्तम्' ईषद्रक्तं वस्त्रादि विरक्तं; विगतरागं विविधरागं वा 'मणिः' इति रत्नवैडूर्येन्द्रनीलादिकुण्डलं' कर्णामरणं हिरण्येन सह स्त्रीः परिगृह्य 'तत्रैव' क्षेत्रवास्त्वारक्तविरक्तवस्त्रमणिकुण्डलस्त्र्यादो 'रक्ता' गृद्धा अध्युपपन्ना मूढाविपर्यासमुपयान्ति, वदन्ति च-नान्न 'तपो वा' अनशनादिलक्षणं 'दमो वा' इन्द्रियनोइन्द्रियोप-शमलक्षणो 'नियमो वा' अहिंसाव्रतलक्षणः फलवान् दृश्यते, तथाहि-तपोनियमोपपेतस्यापि कायक्लेशभोगादिवञ्चनां विहाय नान्यत्फलमुपलम्यते, जन्मान्तरे भविष्यतीति चेद्व्युद्ग्राहत-

आचाराङ्ग सूत्रम् १/-/२/३/८०

स्योल्लापः, किंच-दृष्टहानिरदष्टकल्पना च पापीयसीति, तदेवं साम्प्रतेक्षी भोगसङ्गविहितैकपुरुषार्थ-बुद्धिः सम्पूर्णं यद्यावसरसम्पादितविषयोपभोगं

'बालः' अज्ञः 'जीवितुकामः' आयुष्कानुभवनमभिलषन् 'लालप्यमानः' भोगार्थमत्यर्थं लपन् वाग्दण्डं करोति, तद्यथा-अत्र तपो दमो नियमो वा फलवान्न दृश्यत इत्येवमर्थं ब्रुवन् मूढः अबुध्यमानो हतोपहतो जातिमरणमनुपरिवर्त्तमानो जीवितक्षेत्रस्त्र्यादिलोभपरिमोहितमनाः 'विपर्यासमुपैति' तत्त्वेऽतत्त्वाभिनिवेशम् अतत्त्वे च तत्त्वाभिनिवेशं हितेऽहितबुद्धिमित्येवं सर्वत्र विपर्या विदधाति, उक्तं च–

॥१॥ "दाराः परिभवकारा बन्धुजनो बन्धनं विषं विषयाः । कोऽयं जनस्य मोहो ?, ये रिपवस्तेषु सुहृदाशा ''

इत्यादि।।ये पुनरुन्मज्रत्शुभकर्म्मापादिताध्यवसायपुरस्कृतमोक्षास्ते किंभूता भवन्तीत्याह-मू. (८९) इणमेव नावकंखंति, जे जणाधुवचारिणो । जार्डमरणं परिन्नाय, चरे संकमणे दढे।।

**दू.** 'इणमेव' इत्यादि, इदमेव पूर्वोक्तं सम्पूर्णजीवितंक्षेत्राङ्गनापरिभोगादिकंवा 'नावकाङ्कति' नाभिलषन्ति, ये जना 'ध्रुवचारिणो' ध्रुवो-मोक्षस्तत्कारणं च ज्ञानादि ध्रुवं तदाचरितुं शीलं येषां ते तथा, धूतचारिणो वा धुनातीति धूतं चारित्रं तच्चारिण इति । किं च- 'जाई' इत्यादि, जातिश्च मरणं च समाहारद्वन्द्वः तत् 'परिज्ञाय' परिच्छिद्य ज्ञात्वा 'चरेत्' उद्युक्तो भवेत्, क्व ? – 'सङ्कमणे' सङ्कम्यतेऽनेनेति सङ्कमणं-चारित्रं तत्र 'दृढो' विश्रोतसिकारहितः परीषहोपसर्गौः निष्प्रकम्पो वा यदि वा अशङ्कमनाः सन् संयमं चर, न विद्यते शङ्का यस्य मनसस्तदशङ्कम् अशङ्कांमनो यस्यासा-वशङ्कमनाः-तपोदमनियमनिष्फलत्वाशङ्कारहित आस्तिक्यमत्युपपेतस्तपोदमादौ प्रवर्त्तेत, यतस्तद्वान् राजराजादीनां पूजाप्रशंसार्ही भवति, न चौपशमिकसुखावाप्तफलस्य तपस्विनः समस्तद्वन्द्वीयसोऽसत्यपि परलोके किञ्चित् क्षूयते, उक्तं च–

11911 "संदिग्धेऽपि परे लोके, त्याज्यमेवाशुमं बुधैः ।

यदि मास्ति ततः किं स्यादस्ति चेन्नास्तिको हतः ''

इत्यादि । तस्मात् स्वायत्ते संयमसुखे दृढेन भाव्यं, न चैतद्मावनीयं यथा-परुत्पतति वृद्धा-वस्थायां वा धर्म्म करिष्यामीति,

मू. (८२) नत्थि कालस्स नागमो, सच्वे पाणा पियाउया, सुहसाया दुक्खपडिकूला अण्पियवहापियजीविणोजीविउकामा, सच्वेसिंजीवियंपियं, तंपरिगिज्झ दुपयं चउप्पयं अभिजुंजि-या णं संसिंचिया णं तिविहेण जाऽवि से तत्थ मत्ता भवइ अप्पा वा बहुया वा, से तत्थ गट्टिए चिट्ठइ, भोअणाए, तओ से एगया विविहं परिसिट्ठं संभूयं महोवगरणं भवइ, तंपि से एगया दायाया वा विभयन्ति, अदत्तहारो वा से अवहरति, रायाणो वा से विलुंपंति, नस्सइ वा से विनस्सइ वा से, अगारदाहेण वा से डज्झइ इय, से परस्सट्टाए कूराइं कम्माइं बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण संमूढे विप्परियासमुवेइ, मुणिणा हु एयं पवेइयं, अणोहंतरा एए नो य ओहं तरित्तए, अतीरंगमा एए नो य तीरं गमित्तए, अपारंगमा एए नो य पारं गमित्तए, आयाणिज्ञं च आयाय तंमि ठाणे न चिट्ठइ, वितहं प्र्याऽखेयन्ने तंमि ठाणमंमि चिट्ठइ । **वृ.** यतः- 'नत्थि' इत्यादि, 'नास्ति' न विद्यते 'कालस्य' मृत्योरनागमः- अनागमनमनवसर इतियाचत्, तथाहि-सोपक्रमायुषोऽसुमतो न काचित्साऽवस्था यस्यां कर्म्मापावकान्तर्वर्त्ती जन्तुर्जतुगोलक इव न विलीयेत इति, उक्तं च–

(19)। "शिशुमशिशुं कठोरमकठोरमपण्डितमपि च पण्डितं, धीरमधीरं मानिनममानिनमपगुणमपि च बहुगुणम् । यतिमयति प्रकाशमवलीनमचेतनमथ सचेतनं,

निशि दिवसेऽपि सान्ध्यसमयेऽपि विनश्यति कोऽपि कथमपि "

तदेवं सर्वंकषत्वं मृत्योरवधार्याहिंसादिषु दत्तावधानेन भाव्यं, किमिति ?, यतः-'सव्वे पाणा पियाउया' प्राणशब्देनात्राभेदोपचारात् तढन्त एव गृह्यन्ते, सर्वेप्राणिनो-जन्तवः 'प्रियायुषः' प्रियमायुर्येषां ते तथा, ननु च सिद्धैव्यभिचारो, न हि ते प्रियायुषस्तदभावात्, नैष दोषो, यतो मुख्यजीवादिशब्दव्युदासेन प्राणशब्दस्योपचरितस्य ग्रहणं संसारप्राण्युपलक्षणा-र्धमिति यत्किश्चिदेतत्, पाठान्तरं वा 'सव्वे पाणा पियायया' आयतः-आत्माऽनाद्यनन्तत्वात् स प्रियो येषां ते तथा, सर्वेऽपि प्राणिनः प्रियात्मानः । प्रियात्मता च सुखदुःखप्राप्तिपरिहारतया भवतीति आह च-'सुहसाया दुक्खडिकूला' सुखम्-आनन्दरूपमास्वादयन्तीति सुखास्वादाः-सुखभोगिनः सुखैषिण इत्युक्तं भवति, दुःखम्-असातं तत्यतिकूलयन्तीति दुःखप्रतिकूलाः-दुःखढेषिणइत्युक्तं भवति, तथा 'अप्रियवधा' अप्रियं-दुःखकारणं तत् ध्नत्यप्रियवधाः, तथापि 'पियजीविणो' प्रियं-दयितं जीवितम्-आयुष्कमसंयमजीवितं येषां ते तथा, 'जीविउकामा' यत एव प्रियजीविनोऽत एव दीर्धकालं जीवितुकामाः-दीर्धकालमायुष्काभिलाषिणो दुःखाभिभूता अप्यन्त्यां दशामापन्ना जीवितुमेवाभिलषन्ति, उक्तं च-

(19) (1) ''रमइ विहवी विसेसे ठितिमित्तं थेववित्थरो महई । मग्गइ सरीरमहणो रोगी जीए चिय कयत्थो ''

तदेवं सर्वोऽपि प्राणी सुखजीविताभिलाषी, तच्च नारम्भमृते, असावपि प्राण्युपघातकारी, प्राणिनां च जीवितमत्यर्थं दयितमित्यतो भूयो भूयस्तदेवोपदिश्यत इत्याह-'सव्वेसिं' इत्यादि, सर्वेषामविगानेन 'जीवितम्' असंयमजीवितं 'प्रियं' दयितं, यद्येवं ततः किमित्यत आह-'तं परिगिज्झ' तद्-असंयमजीवितं 'परिगृह्य'; आश्रित्य, किं कुर्वन्तीत्याह-'दुपयं' इत्यादि, 'द्विपदं' दासीकर्म्मकरादि 'चतुष्पदं' गवाश्वादि 'अभियुज्य' योजयित्वा अभियोगं ग्राहयित्वा व्यापारयित्वे-तुष्पदादिव्यापारेण 'संसिच्य' अर्थनिचयं संवध्ध्र्य 'त्रिविधेन' योगत्रिककरणत्रिकेण यापि काधिदल्पा परमार्थचिन्तायां बह्ययपि फल्गुदेश्या 'से' तस्यार्थारम्भिणः सा चार्थमात्रा 'तत्र' इति द्विपदाघारम्भे 'मात्रा' इति सोपस्कारत्वात्सूत्राणां अर्थमात्रा-अर्थाल्पता 'भवति' सत्तां बिभर्त्ति, किंभूता ?, सा सूत्रेणैव कथयति-अल्पा वा बह्वी वा, अल्पबहुत्वं चापेक्षिकमतः सर्वाऽप्यल्पा सर्वाऽपि बह्वी 'स' इत्यर्थवान् 'तत्र' तस्मिन्नर्थे 'गृद्धः' अध्युपपन्नस्तिष्ठति, नालोचयत्यर्थस्योपार्जन-कोश न गणयति रक्षणपरिश्रमं न विवेचयति तरलतां नावधारयति फल्गुताम्, उक्तं च-

11911

कृमिकुलचितं लालाक्लिन्नं विगन्धि जुगुप्सितं, निरुपमरसप्रीत्या खादन्नरास्थि निरामिषम् ।

#### सुरपतिमपि श्वा पार्श्वस्यं सशङ्कितमीक्षते, न हि गणयति क्षुद्रो लोकः परिग्रहफल्गूताम् ''

इत्यादि, स च किमर्थमर्थमर्थयत इत्यत आह-'भोयणाए' भोजनम्--उपभोगस्तसै अर्थमर्थयते, तदर्थी च क्रियासु प्रवर्त्तते, क्रियावतश्च किं भवतीत्याह–'तओ से' इत्यादि, ततः 'से' तस्यावलगनादिकाः क्रियाः कुर्वतः 'एकदा' लाभान्तरायकर्म्रक्षयोपशमे 'विविधं' नानाप्रकारं 'परिशिष्टं' प्रभूत्वाद्युक्तोद्धरितं 'सम्मूतं;' सम्यकपरिपालनाय भूतं-संवृत्तं, किं तत् ?, महग्र तत्परिभोगाङ्गत्वादुपकरणं च महोपकरणं-द्रव्यनिचय इत्यर्थः, स कदाचिल्लाभोदये भवति, असावप्यन्तरायोदयान्न तस्योपभोगायेत्याह-'तंपि से' इत्यादि, तदपि समुद्रोत्तरणरोहण-खननबिलप्रवेशरसेन्द्रमर्दनराजावलगनकृषीवलादिकाभिः क्रियाभिः स्वपरोपतापकारिणीभिः स्वोपभोगायोपार्झितं सत् 'से' तस्यार्थोपार्जनोपायक्लेशकारिणः 'एकदा' भाग्यक्षये 'दायादाः' पितृपिणडोदकदानयोग्याः 'विभजन्ते' विलुम्पन्ति, 'अदत्तहारो वा' दस्युर्वा अपहरति, राजानो वा 'विलुम्पन्ति' अवच्छिन्दन्ति 'नश्यति वा' स्वत एवाटवीतः 'से'तस्य 'विनश्यति वा' जीर्णभावापत्तेः 'अगारदाहेन वा' ग्रहदाहेन वा दह्यते, कियन्ति वा कारणान्यर्थनाशे वक्ष्यन्ते इत्युपसंहरति-'इति' एवं बहुभिः प्रकारैरुपार्झितोऽप्यर्थी नाशमुपैति, नैवोपार्झयितुरुपतिष्ठत इत्युपदिश्यते, सः अर्थस्योत्पादयिता परस्पै-अन्यस्पै अर्थाय-प्रयोजनाय अन्यप्रयोजनकृते 'क्रूराणि' गलकर्त्तनादीनि 'कर्म्पाणि' अनुष्ठानानि 'बालः' अज्ञः 'प्रकुर्वाणः' विदधानः 'तेन' कर्म्पविपा-कापादितेन 'दुःखेन' असातोदयेन '(सं) मूढः' अपगतविवेकः 'विपर्यासमुपैति' अपगतस-दसदिवेकत्वात्कार्यमकार्थं मन्यते व्यत्ययं चेति, उक्तं च-

११९४। "रागद्वेषाभिभूतत्वात्कार्याकार्यपराङ्चखः ।

एष मूढ इति ज्ञेयो, विपरीतविधायकः ''

तदेवं मौढ्यान्धतमसाच्छादितालोकपथाः सुखार्थिनो दुःखमृच्छन्दि जन्तव इति ज्ञाला सर्वज्ञवचनप्रदीपमशेषपदार्थस्वरूपाविर्भावकमाललम्बिरेमुनयः, अदश्चमया न स्वमनीषिकयोच्यते सुधर्मास्वामी जम्बूस्वामिनमाह, यदिस्वमनीषिकया नोच्यतेकौतस्तत्यं तर्हीदमित्यत आह-'मुणिणा' इत्यादि, मनुते जगतस्त्रिकालावस्थामिति मुनिः-तीर्थकृत्तेन 'एतद्' असकृदुद्यैर्गोत्रभवनादिकं प्रकर्षेणादी वा सर्वस्वभाषानुगामिन्या वाचा वेदितं-कथितं वक्ष्यमाणं च प्रवेदितं, किं तदित्याह-'अणेहं' इत्यादि, ओघो द्विधाद्रव्यभावभेदात्, द्रव्यौधो नदीपूरादिको भावौद्योऽष्टप्रकारं कर्म संसारो वा, तेन हि प्राण्यनन्तमपि कालमुह्यते, तम्ओधं ज्ञानदर्शनतचारित्रबोहित्थस्था तरन्तीत्योधन्तरा न ओधन्तरा अनोधन्तराः, तरतेश्छान्दसत्वात् खश्, खित्त्वान्मुमागमः, एते कुतीर्थिकाः पारर्श्वस्थादयो वा ज्ञानादियानविकलाः यद्यपि तेऽप्योधतरणायोद्यतास्तथापि सम्यगुपायाभावात् न ओधतरणसमर्था भवन्तीति आह च--

'नो य ओहं तरित्तए' 'न च' नैवोधं-भावौधं तरितुं समर्थाः, संसारौधतरणप्रत्यला न भवन्तीत्यर्थः, तथा 'अतीरंगमा' इत्यादि तीरं गच्छन्तीति तीरङ्गमाः पूर्ववत् खश्प्रत्ययादिकं, न तीरङ्गमा अतीरङ्गमाः एति इति प्रत्यक्षभावमापन्नान् कुतीर्थिकादीन् दर्शयति, न च ते तीरगमनायोधता अपि तीरं गन्तुमलं सर्वज्ञोपदिष्टसन्मार्गाभावादिति भावः, तथा 'अपारंगमा' इत्यादि, पारः-तटः परकूलं तद्गच्छन्तीति पारङ्गमा न पारङ्गमा अपारङ्गमाः 'एत' इति पूर्वोक्ताः, पारगतोपदेशामा-वादपारङ्गता इति भावनीयं, न च ते पारगतोपदेशमृते पारगमनायोद्यता अपि पारं गन्तुमलम्, अथवा गमनं गमः पारस्य पारे वा गमः पारगमः, सूत्रे त्वनुस्वारोऽलाक्षणिको, न पारगमोऽपार-गमस्तस्मा अपारगमाय, असमर्थसमासोऽयं, तेनायमर्थः-पारगमनाय ते न भवन्तीत्युक्तं भवति, ततश्चानन्तमपि कालं संसारान्तर्वर्त्तिन एवासते, यद्यपि पारगमनायोद्यमयन्ति तथापि ते सर्वज्ञोपदेशविकलाः स्वरुचिविरचितशास्त्रप्रवृत्तयो नैव संसारपारं गन्तुमलम्, अथ तीरपारयोः को विशेष इति, उच्यते, तीरं मोहनीयक्षयः पारं शेषधातिक्षयः, अथवा तीरं घातिचतुष्टयापगमः पारं भवोपग्राह्यमाव इत्पर्थः, स्यात्-कथमोधतारी कुतीर्थादिको न भवति तीरपारगामी चेत्याह-'आयाणिज्ञं' इत्यादि, आदीयन्ते-गृह्यन्ते सर्वमावा अनेनेत्यादानीयं-श्रुतं तदादाय तदुक्ते तस्मिन् संयमस्यानेन तिष्ठति,

यदि वा-आदानीयम्--आदातव्यं भोगाङ्गं द्विपदचतुष्पदधनधान्यहिरण्यादि तदादाय-गृहीत्वा, अथवा-भिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगैरादानीयं-कर्म्मादाय, किंभूतो भवतीत्याह-'तस्मिन्' ज्ञानादिमये मोक्षमार्ग्गे सम्यगुपदेशे वा प्रशस्तगुणस्थाने न तिष्ठतिनात्मानं विधत्ते, न केवलं सर्वज्ञोपदेशस्थानेन तिष्ठति विपर्ययानुष्ठायी च भवतीति दर्शयति-'वितहं' इत्यादि, वितधम्-असद्भूतं दुर्गतिहेतुं तत्तथाभूतमुपदेशं प्राप्याखेदज्ञः अकुशलः खेदज्ञो वाऽसंयमस्थाने तस्मिश्च साम्ग्रतेक्ष्याचरित उपदिष्टे वा तिष्ठति, तत्रैवासंयमस्थानेऽध्युपपन्नो भवतीत्तियावत्, अथवा वितथमिति आदानीयमोगाङ्गव्यतिरिक्तं संयमस्थानं तत्याप्य खेदज्ञो-निपुणस्तस्मिन् स्थाने आदानीयस्य हन्तृणि तिष्ठति, सर्वज्ञाज्ञायामात्मानं व्यवस्थापयन्तीत्त्यर्थः । अयं चोपदेशोऽनवग-ततत्त्वस्य विनेयस्य यथोपदेशं प्रवर्त्तमानस्य दीयते, यत्त्ववगतहेयोपादेयविशेषः स यथावसरं यथाविधेयं स्वत एव विधत्त इत्याह च-

मू. (८३) उद्देसी पासगस्स नत्थि, बाले पुण निहे कामसमणुत्रे असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवर्ड अणुपरियहइ– त्तिबेमि।।

**q**. उद्दिश्यते इत्युद्देशः-उपदेशः सदसत्कर्त्तव्यादेशः सपश्यतीति पश्यः स एव पश्यकरतस्य न विद्यते, स्वत एव विदितवेद्यत्वात्तस्य, अथवा पश्यतीति पश्यकः-सर्वज्ञस्तदुपदेशवर्ती वा तस्य उद्दिश्यत इत्युद्देशो-नारकादिव्यपदेशः उच्चावचगोत्रादिव्यपदेशो वा स तस्य न विद्यते, तस्य द्रागेव मोक्षगमनादिति मावः, कः पुनर्यथोपदेशकारी न भवतीत्याह-'बाले' इत्यादि, बालो नाम रागादिमोहितः, सपुनः कषायैः कर्म्मभिः परीषहोपसर्गैर्वानिहन्यत इति निहः, निपूर्वाद्धन्तेः कर्म्मणि डः, अथवा स्निह्यत इति स्निहः-स्नेहवान् रागीत्यर्थः, अत एवाह-'कामसमणुन्ने' कामाः-इच्छामदनरूपाः सम्यग् मनोज्ञा यस्य स तया, अथवा सह मनोज्जैर्वर्त्तत इति सिनहः, निपूर्वाद्धन्तेः कर्मणि डः, अथवा स्निह्यत इति स्निहः-स्नेहवान् रागीत्यर्थः, अत एवाह-'कामसमणुन्ने' कामाः-इच्छामदनरूपाः सम्यग् मनोज्ञा यस्य स तया, अथवा सह मनोज्जैर्वर्त्तत इति समनोज्ञो, गमकत्वा-त्सापेक्षस्यापि समासः, कामैः सह मनोज्ञः कामसमनोज्ञो, यदिवा कामान् सम्यगनु-पश्चात् सेहानुबन्धाज्ञानाति सेवत इति कामसमनुज्ञः, एवंभूतश्च किंभूतो भवतीत्याह 'असमियदुक्खे' अशमितम्-अनुपशमितं विषयाभिष्वङ्गद्धक्षायोत्यं दुःखं येन स तया, यत एवाशमितदुःखोऽत एव दुःखी शारीरमानसाभ्यां दुःखाभ्यां, तत्र शारीरं कण्टकशस्त्रगण्डलूता- दिसमुत्थं मानसं प्रियविप्रयोगाप्रियसंप्रयोगेक्तितालाभदारिद्यदौर्भाग्वदौर्मनस्यकृतंतदिरूपमपिदुःखंविदात्ने यस्यासौ दुःखी, एवंभूतश्च सन् किमवाम्नोतीत्याह-'दुक्खाणं' इत्यादि, दुःखानां-शारीरमानसानामावर्त्त-पौनःपुन्यभवनमनुपरिवर्त्तते, दुःखावर्त्तावमग्नो बंग्रम्यत इत्यर्थः, ।

इतिः परिसमाप्ती, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥

अध्ययनं-२ उद्देशकः- ३ समाप्तः

### -: अध्ययनः२, उद्देशकः ४ :-

मू. (८४) तओ से एगया रोगसमुष्पाया समुष्पञ्चंति, जेहिंचा सखिं संवसइ ते व णं एगया नियया पुव्विं परिवयंति, सो वा ते नियगे पच्छा परिवइज्ञा, नालं ते तव ताणाए वा सरणाए वा, तुमंपि तेसिं नालं ताणाए वा सरणाए वा, जाणित्तु दुक्खं फ्तेयं सायं, भोगा मे व अनुसोयन्ति इहमेगेसिं माणवाणं ।

ष्ट्र. उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थस्य व्याख्या प्रस्तूयते-भोगेष्वनभिषक्तेन माव्यं, यतो भोगिनामपाया दर्श्यन्ते (इति) प्रागुक्तं, तेचामी-'तओ सेएगया' इत्यादि, अनन्तरसूत्रसम्बन्धः 'दुक्खी दुक्खाणमेव आवट्टं अणुपरियट्टइ' ति, तानि चामूनि दुःखानि 'तओ से' इत्यादि, परम्परसूत्र-सम्बन्धस्तु 'बाले पुण निहे काममसमणुण्णे', तेच कामा दुःखात्मका एव, तत्र चासक्तस्य धातुक्षय-भगन्दरादयो रोगाः समुत्पद्यन्ते इत्यतोऽपदिश्यते-'तत'इति कामानुषङ्गात् कर्म्भोपचयस्ततोऽपि पञ्चत्वं तस्मादपि नरकमवो नरकान्निषेककक्ललार्बुदपेशीव्यूह- गर्भप्रसवादिर्जातस्य च रोगाः प्रादुष्यन्ति, 'से' तस्य कामानुषक्तमनसः 'एकदे'त्यसाता- वेदनीयविपाकोदये 'रोगसमुत्पादा' इति रोगाणां-शिरोऽर्त्तिशूलादीनां समुत्पादाः-प्रादुर्भावाः 'समुत्पद्यन्ते' प्रादुर्भवन्ति, तस्यां च रोगावस्यायां किंभूतो मवत्यसावित्यत आह-'जेहिं' इत्यादि, यैर्वा 'सार्द्धमसौ संवसति, त एवैकदा निजाः पूर्वं परिवदन्ति, स वा तान्निजान् पश्चात्यरिवदेत्, नालं 'ते; तव त्राणाय वा शरणाय वा, त्वमपि तेषां नालं त्राणाय वा शरणाय वा, इति ज्ञात्वा दुःखं प्रत्येकं सातं च स्वकृतकर्म्भफलभुजः सर्वेऽपि प्राणिन इति मत्वा रोगोत्पत्तौ न दौर्मनस्यं भावनीयं. न भोगाः शोचनीया इति.

आहच- 'भोगा मे' इत्यादि, भोगाः- शब्दरूपरसगन्धस्पर्शविषयाभिलाषास्तानेवानुशोचय-त्ति-कथमस्यामप्यवस्थायां वयं भोगान् भुद्धमहे ?, एवंमूता वाऽस्माकं दशाऽभूधेन मनोज्ञा अपि विषया उपनता नोपमोगायेति । ईदक्षश्चाध्यवसायः केषाञ्चिदेव भवतीत्याह- 'इहमेगेसिं' इत्यादि, 'इह' संसारे एकेषामनवगतविषयविपाकानांब्रह्मदत्तादीनां मानवानामेवंभूतोऽध्यवसायो भवति, न सर्वेषां, सनत्कुमारादिना व्यभिचारात्, तथाहि-ब्रह्मदत्तीमारणान्तिकरोगवेदनाभिभूतः सन्तापातिशयात् स्पृशन्तीं प्रणयिनीमिव विश्वासभूमीं मूर्च्छां बहुमन्यमानः तथा हस्तीकृतो विहस्ततया विषयीकृतो वैषम्येण गोचरीकृतो ग्लान्या ध्ये दुःखासिकया क्रोडीकृतो कालेन पीडितः पीडाभिर्निरूपितो नियत्या आदित्सितो दैवेन अन्तिकेऽन्त्योच्छ्वासस्य मुखे महाप्रवासस्य द्वारि दीर्धनिद्राया जिह्नाग्रे जीवितेशस्य वर्त्तमानो विरलो वाचि विह्नलो वपुषि प्रचुरः प्रलापे जितो जृम्भभिकाभिरित्येवंभूतामवस्थामनुमवन्नपि महामोहोदयात् भोगांश्चिकाङ्घिषुः पार्श्वपिविद्यं मार्यामनवरतवेदनावेशविगलदश्चरक्तनयनां कुरुमति ! कुरुमति येक्ता त्याहरन्नधः सत्तर्मी नरकपृथ्वीमगात्, तत्रापि तीव्रतरवेदनामिभूतोप्य वगणव्य वेदनां तामेव कुरुमतीं व्याहरती-त्येवंभूतो मोगाभिष्वङ्गो दुत्स्यजो मवति केषश्चित्, न पुनरन्थेषां महापुरुषाणामुदारसत्त्वानाम् आत्मनोऽन्यच्छरीरमित्येवमवगततत्त्वानां सनत्कुमारादीनामिव यथोक्तरोगवेदनासद्मावि सत्यपि मयैवैतत्कृतं सोढव्यमपि मयैवेत्येवं जातनिश्चायानां कर्म्मक्षपणोद्यतानां न मनसः पीडोत्पद्यते इति, उक्तं च--

॥१॥ "उसो यः स्वत एव मोहसलिलो जन्मालवालोऽशुमो, रागद्वेषकषायसन्ततिमहान्निर्विघ्नबीजस्त्वया। रोगैरङ्कुरितो विपतकुसमितः कर्म्मद्रुमः साम्प्रतं, सोढा नो यदि सम्यगेष फलितो दुःखैरघोगामिभिः

।।२।। पुनरपि सहनीयो दुःखपाकस्त्वाऽयं, न खलु मवति नाशः कर्म्पणा संचितानाम् । इति सह गणयित्वा यद्यदायाति सम्यग्, सदसदिति विवेकोऽन्यत्र भूयः कुतस्त्यः ?"

अपि च-भोगानां प्रधानं कारणमर्योऽतस्तस्वरूपमेव निर्दिदिक्षुराह--

मू. (८५) तिविहेण जाऽवि से तत्य मत्ता मवइ अप्पा वा बहुगा वा, से तत्य गहिए विइइ, मोयणाए, तओ से एगया विपरिसिट्ठं संभूयं महोवगरणं भवइ, तंपि से एगया दायाया विभयंति, अदत्तहारो वा से हरति, रायाणो वा से विलुंपंति, नरसइ वा से विणस्सइ वा से, अगारडाहेण वा से डज्झइ इय, से परस्स अट्ठाए कूराणि कम्पाणि बाले पकुव्वमाणे तेण दुक्खेण मूढे विप्परियासमुवेइ।

**वृ.** त्रिविधेन याऽपि तस्य तत्रार्थमात्रा भवति अल्पा वा बह्वी वा, स तस्यामर्थमात्रायां गृद्धस्तिष्ठति, सा च भोजनाय किल भविष्यति, ततस्तस्यैकदा विपरिशिष्टं सम्भूतं महोपकरणं भवति, तदपि 'से' तस्यैकदा दायादा विभजन्ते, अदत्तहारो वा तस्य हरति, राजानो वा विलुम्पन्ति, ग्श्यति वा विनश्यति वा, अगारदाहेन वा दह्यते इति, स परस्मै अर्थाय क्रूराणि कर्म्पाणि बालः प्रकुर्वाणस्तेन दुःखेन मूढो विपर्यासमुपैति, एतच्च प्रागेव व्याख्यातमिति नेह प्रतायते ॥

तदेवं दुःखविपाकान् भोगान् प्रतिपाद्य यत् कर्तव्यं तदुपदिशतीत्याह--

मू. (८६) आसं च छन्दं च विगिंच धीरे !, तुमं चेव तं सल्लमाहट्ट जेण सिया तेण नो सिया, इणमेव नावबुज्झंति जे जना मोहपाउडा, थीमि लोए पव्वहिए, ते मो ! वयंति एयाइं आययणाइं, से दुक्खाए मोहाए माराए नरगाए नरगतिरिक्खाए, सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ, उआहु वीरे, अपमाओ महामोहे, अलं कुसलस्स पमाएणं, संतिमरणं संपेहाए मेउरधम्मं संपेहाए, नालं पास अलं ते एएहिं।

वृ. 'आशां' भोगाकाङ्क्षां, चः समुच्चये, छन्दनं छन्दः- परानुवृत्त्या भोगाभिप्रायस्तं च, चशब्दः पूर्वपिक्षया समुच्चयार्थः, तावाशाछन्दौ 'वेविक्ष्व' पृथक्कुरु त्यज 'धीर !' धीः- बुद्धिस्तया राजतइति, भोगाशाछन्दापरित्यागे च दुःखमेव केवलं न तत्याप्तिरिति, आह च-'तुमं चेव' इत्यादि, बिनेय उपदेशगोचरापन्न आत्मा वा उपदिश्यते-त्वमेव तद्मोगाशा दिकं शल्यमाहृत्य-स्वीकृत्य परमशुभमादत्से, न तु पुनरुपभोगं, यतो भोगोपभोगो यैरेवार्थाद्युपायैर्भवति तैरेव न भवतीत्याह-'जेणसिआतेण नो सिया' येनैवार्थोपार्जनादिना भोगोपभोगः स्यात् तेनैव विचित्रत्यात् कर्म्यपरिणतेर्न स्याद्, अथवा येन केनचिद्धेतुना कर्म्यबन्धः स्यात्तन्न कुर्यात्, तत्र न वर्त्ततेत्यर्थः, यदिवा येनैव राज्योपभोगादिना कर्म्यबन्धोयेन वानिर्ग्रन्यत्वादिना मोक्षः 'स्याद्' भवेत्तेनैव तथाभूतपरिणामवशान्न स्यादिति । एतद्यानुभवावधारितमपि मोहाभिभूता नावगच्छन्तीत्याह-'इणमेव' इत्यादि, इदमेव हेतुवैचित्र्यं 'न बुध्यन्ते' न संजानते, के ?-

ये जना मौनीन्द्रोपदेशविकला मोहेन--अज्ञानेन भिथ्यात्वोदयेन वा प्रावृताः- छादिता-स्तत्त्वविपर्यस्तमतयो मोहनीयोदयाद्मवन्ति । मोहनीयस्य च तद्मेदकामानां च स्त्रियो गरीयः कारणमितिदर्शयति-'धीभि' इत्यादि, स्त्रीभिः-अङ्गनाभिर्मूक्षेपादिविभ्रमैरसौलौकः आशाच्छन्दाभि-भूतात्मा क्रूरकर्म्माविधायी नरकविपाकफलं शल्यमाहृत्य तत्फलमबुध्यमानो मोहाच्छादितान्तरात्मा प्रकर्षेण व्यथितः पराजितो वशीकृत इतियावत्, न केवलं स्वतो विनष्टाः, अपरानपि असकृदुप-देशदानेन विनाशयन्तीत्याह-'ते मो !' इत्यादि, 'ते' स्त्रीभिः प्रव्यथिता मो ! इत्यामन्त्रणे एतद्वदन्ति-यथैतानि-स्त्र्यादीनि 'आयतनानि' उपभोगास्पदभूतानि वर्त्तन्ते, एतैश्च विना शरीरस्थितिरेव न मवतीति । एतच्च प्रव्ययनमुपदेशदानं वा तेषामपायाय स्यादित्याह-'से' इत्यादि, तेषां 'से' इत्येतत् प्रव्यथनमायतनभणनं वा 'दुःखाय' भवति-शारीरमानसासातवेदनीयोदयाय जायते, किं च-'मोहाए' मोहनीयकर्म्बन्धनाय अज्ञानाय वेति, तथा 'माराए' मरणाय, ततोऽपि 'नरगाए' नरकाय नरकगमनार्थं, पुनरपि 'नरगतिरिक्खाए' ततोऽपि नरकादुध्यृ त्य तिरश्चयेतव्यभवति, तिर्यग्योन्यर्थ तत् स्त्रीप्रव्यथनं भोगायतनवदनं वा सर्वत्र सम्बन्धनीयं । स एवमङ्गनापाङ्गविलोकनाक्षिप्तस्तासु तासु योनिषु पर्यटन्नात्महितं न जानातीत्याह--

'सययं' इत्यादि, सततम्-अनवरतं दुःखाभिभूतो मूढो 'धर्म्मं' क्षान्त्यादिलक्षणं दुर्ग्यतिप्रसृतिनिषेधकं 'न जानाति' न वेत्ति । एतच्च तीर्थकृदाहेति दर्शयति-'उदाहु' इत्यादि, उत्प्राबल्येनाह उदाह-उक्तवान्, कोऽसौ ? -वीरः-अपगतसंसारभयस्तीर्थकृदित्यर्थः, किमुक्त-वान् ?, तदेव पूर्वोक्तं वाचा दर्शयति-'अप्रमादः' कर्त्तव्यः, कव्? - 'महामोहे' अङ्गनाभिष्वङ्ग एव, महामोहकारणत्वान्महामोहः, तत्र प्रमादवता न भाव्यम् । आह च-'अलम्' इत्यादि, 'अलं' पर्याप्त-ं कस्य ? 'कुशलस्य' निपुणस्य सूक्ष्मेक्षिणः, केनालं ? -मद्यविषयकषायनिद्राविकयाल्पेण पश्चविधेनापि प्रमादेन, यतः प्रमादो दुःखाद्यभिगमनायोक्त इति । स्यात्-किमालच्य प्रमादेनालमिति

उच्यते-'सन्ति' इत्यादि, शमनं शान्तिः—अशेषकर्म्मापयमोऽतो मोक्ष एव शान्तिरिति, म्रियन्ते प्राणिनः पौनःपुन्येन यत्र चतुर्गतिके संसारे समरणः-संसारः शान्तिश्च मरणं च शान्तिरिति, समाहारद्वन्द्वस्तत् 'संप्रेक्ष्य' पर्यालोच्य, प्रमादवतः संसारानुपरमस्तत्परित्यायाद्य मोक्ष इत्येतद्विचार्येति हृदयं, स वा कुशलः प्रेक्ष्य विषयकषायप्रमादं न विदध्याद्, अथवा शान्त्या-उपशमेन मरणं-मरणावधिं यावत् तिष्ठतो यत्फलं भवति तत्पर्यालोच्य प्रमादं न कुर्यादिति । किं च-'मेउर' इत्यादि, प्रमादोहि विषयकषायाभिष्वङ्गरूपः शरीराधिष्ठानः, तद्य शरीरं भिदुरधर्म्म, स्वत एव भिद्यत इति भिदुरं स एव धर्म्सः-स्वभावो वस्य तद्मिदुरधर्म्मे एतत् 'समीक्ष्य' पर्यालोव्य प्रमादं न कुर्यादिति सम्बन्धः, एते च भोगा मुज्यमाना अपि न तृप्तये भवन्तीत्याह-'नालं'इत्यादि, 'नालं' न समर्था अमिलाषोच्छित्तये यथेष्टावाप्तावपि भोगाः एतत् 'पश्य' जानीहि, अतोऽलं तव कुशल ! 'एभिः' प्रमादमयैर्दुः खकारणस्वभावैर्विषयैरुपभोगैरिति, न चैते बहुशोऽ प्युपभुज्यमाना उपशमं विदधतीति, उक्तं च--

''यल्लोके द्रीहियवं, हिरण्यं पशवः स्त्रियः । नालमेकस्य तत्सर्वमिति मत्वा शमं कुरु

11911

॥२॥ उपभोगोपायपरो वाञ्छति यः शमयितुं विषयतृष्णाम् । धावत्याक्रमितुमसौ, पुरोऽपराह्ने निजच्छायाम् '' तदेवं भोगलिप्सूनां तत्प्राप्तावप्राप्तौ च दुःखमेवेति दर्शयति-

मू. (८७) एयं परेस मुणी ! महव्भयं, नॉइवाइज कंचणं, एस वीरे पसंसिए, जे न निब्विज्ञइ आयाणाए, न मे देइ न कुप्पिज़ा धोवं लद्धुं न खिंसए, पडिसेहिओ परिणमिज़ा, एयं मोणं समणुवासिज़ासि– त्तिबेमि ।।

**द्यू.** 'एतत्' प्रत्यक्षमेव भोगाशामहाज्वरगृहीतानां कामदशावस्थात्मकं महद्मयं भयहेतुत्वात् दुःखमेव महाभयं, तद्य मरणकारणमिति महदित्युच्यते, एतत् मुने ! 'पश्य' सम्यगैहिकामुष्भि-कापायापाद कत्वेन जानीहीत्युक्तं भवति। यद्येवं तत्किं कुर्यादित्याह- 'नाइवाएझ' इत्यादि, यतो भोगाभिलषणं महद्ययमतस्तदर्थं 'नातिपातयेत्' न व्यथेत 'कञ्चन' कमपि जीवमिति, अस्य च शेषव्रतोपलक्षणार्थत्वान्न प्रतारयेत् कञ्चनेत्याद्यप्यायोज्यं। भोगनिरीहः प्राणातिपातादिव्रतारूढ्श कं गुणमवाप्नोतीत्याह- 'एस' इत्यादि, 'एष' इति भोगाशाच्छन्दविवेचकोऽप्रमादी पञ्चमहाव्रत-भारारोहणोन्नामितस्कन्धो वीरः कर्म्मविदारणात् 'प्रशंसितः' स्तुतो देवराजादिभिः, क एष वीरो नाम ? योऽभिष्टूयत इत्यत आह-'जे' इत्यादि, यो 'न निर्विद्यते;' न खिद्यते न जुगुप्सते, कस्मै ?-'आदानाय' आदीयते गृह्यतेऽवाप्यते आत्मस्वतत्वमशेषावारककर्म्मक्षयाविर्भूतत्समस्त-वस्तुग्राहिज्ञाना (ना) बाधसुखरूपं येन तदादानं-संयमानुष्ठानं तस्मै न जुगुप्सते, तद्वा कुर्वन् सिकताकवलचर्वणदेशीयं क्वचिदलाभादौ न खेदमुपयातीति,

आह-'न मे' इत्यादि, ममायं गृहस्थः सम्भृतसंभारोऽप्युपस्थितेऽपि दानावसरे न ददातीतिकृत्वा 'न कुप्येत्' न क्रोधवशगो भूयाद्, भावनीयं च-ममैवैषा कर्म्मपरिणतिरित्य-लाभोदयोऽयम्, अनेन चालाभेन कर्म्मक्षयायोद्यतस्य मेतत्सपणसमर्थं तपो भावीति न किश्चित्सूयते, अधापि कथश्चित् स्तोकं प्रान्तं वा लभेत तदपि न निन्देदित्याह-'थोवं' इत्यादि, 'स्तोकम्' अपर्याप्तं 'लद्धुं' लहध्वा न निन्देद्दातारं दत्तं वा, तथाहि-कतिचित्सिक्थानयने ब्रवीति-सिद्ध ओदनो भिक्षामानय लवणाहारो वा अस्माकं नास्तीत्यन्नं ददस्वेत्येवं अत्युद्वृत्तच्छान्नवन्न विदथ्यात्। किंच-'पडिसेहिओ' इत्यादि, 'प्रतिषिद्धः' अदित्सितस्तस्मादेव प्रदेशात् 'परिणमेत्' निवर्त्तेत, क्षणमपि न तिष्ठेन्न दौर्मनस्यं विदय्यान्न रुण्टन्नपगच्छेत् न तां सीमन्तिनीपवदेद्-धिरक्ते गृहवासमिति, उक्तं च--

।।१।। "दिहाऽसि कसेरुमई ! अणुभूयासि कसेरुमइ !

पीयं चिय ते पाणिययं वरि तुह नाम न दंसणं ''

इत्यादि । पठ्चते च-'पडिलाभिओ परिणमेजा'' प्रतिलाभितः-प्राप्तभिक्षादिलाभः सन् परिणमेत्, नोद्यायचालापैः तत्रैव संस्तवं विदध्याद्, वैतालिकवद्दातारं नोद्यासयेदिति । उपसंहरन्नाह-'एयं' इत्यादि, 'एतत्' प्रव्रज्यानिर्वेदरूपं अदानाकोपनं स्तोकाजुगुप्सनं प्रतिषिद्धनिवर्त्तनं मुनेरिदं मोनं-मुनिभिर्मुमुक्षुभिराचरितं त्वमप्यवाप्तानेकभवकोटिदुरापसंयमः सन् 'समनुवासयेः' सम्यग् विधत्त्वानुपालयेति विनेयोपदेश आत्मानुशासनं वा । इतिः परिसमाप्तौ, ब्रवीमि पूर्ववत् ॥ अध्ययनं-२, उद्देशकः-४ समाप्तः

# -ः अध्ययनं-२ उद्देशकः ५:-

ष्ट्र. उक्तश्चतुर्थोद्देशकः, साम्प्रतं पञ्चमस्य व्याख्या प्रतन्यते, तस्य चायमभिसम्बन्धः, इह भोगान् परित्यज्य लोकनिश्रया संयमदेहप्रतिपालनार्थं विहर्त्तव्यमित्युक्तं तदत्र प्रतिपाद्यते, इह हि संसारोद्वेगवता परित्यकभोगाभिलाषेण मुमुक्षुणोत्सिप्तपञ्चमहाव्रतभारेण निरवद्यानुष्ठान-विधायिना दीर्घसंयमयात्रार्थं देहपरिपालनाय लोकनिश्रया विहर्त्तव्यं, निराश्रयस्य हि कुतो देहसाधनानि ?, तदभावे धर्मश्चेति, उक्तं हि-

IIII "धर्म्मंचरतः साधोर्लोके निश्रावदानि पञ्चापि । राजा ग्रहपतिरपरः षट्काया गणशरीरे च"

साधनानि च वस्त्रपात्राज्ञासनशयनादीनि, तत्रापि प्रायः प्रतिदिनमुपयोगित्वादाहारो गरीयानिति, सचलोकादन्वेष्टव्यो, लोकश्च नानाविधैरुपायैरात्मीयपुत्रकलत्राद्यर्थं आरम्भे प्रवृत्तः, तत्र साधुना संयमदेहनिमित्तं वृत्तिरन्वेषणीयेति दर्शयति—

मू. (८८) जमिणं विरूवरूवेहिं सत्थेहिं लोगस्स कम्पसमारंभा कंज्रंति, तंजहा-अप्पणे से पुत्ताणं धूयाणं सुण्हाणं नाईणं धाईणं राईणं वासाणं दासीणं कम्पकराणं कम्पकरीणं आएसाए पुढोपहेणाए सामासाए पायरासाए, संनिहिसंनिचओ कज्जइ, इहमेगेसिं माणवाणं भीयणाए।

वृ. 'यैः' अविदितवेद्यैः 'इद'मिति सुखदुःखप्राप्तिपरिहारत्वमुद्दिश्य 'विरूपरूपैः' नानाप्रकारस्वरूपैः शस्त्रैः' प्राण्युपधातकारिभिर्द्रव्यभावभेदभिन्नैः 'लोकाय' शरीरपुत्रदुहितृस्नुषा-ज्ञात्याद्यर्थं कर्म्मणां-सुखदुःखप्राष्ठिपरिहारक्रियाणां कायिकाधिकरणिकाप्रादोषिकापारिताप-निकाप्राणातिपातरूपाणां कृषिवाणिज्यादिरूपाणांवा, समारम्मइतिमध्यग्रहणाद्बहुवचननिर्देशाज्ञ संरम्भारम्भयोरप्युपादानं, तेनायमर्थः-शरीरकलत्राद्यर्थं संरम्भसमारम्भाः 'क्रियन्ते' अनुष्ठीयन्ते, तत्र संरम्भ इष्टानिध्प्राप्तिपरिहाराय प्राणातिपातादिसङ्कल्पावेशः, तत्साधनसन्निपातकायवाग्-व्यापारजनितपरितापनादिलक्षणः समारम्भः, दण्डत्रयव्यापारापादितचिकीर्षितप्राणातिपातादि क्रियानिर्वृत्तिरारम्भः, कर्म्पणो वा-अध्यकारस्य समारम्भा-उपार्ज्जनोपायाः क्रियन्त इति, लोकस्येति चतुध्यर्थे षष्ठी, साऽपितादर्थ्यो, कः पुनरसौ लोको ? यदर्थं संरम्भसमारम्भारम्भाः क्रियन्त इत्याह-

''तंजहा अप्पणो से' इत्यादि, यदिवा लोकस्य तृतीयार्थे षष्ठी, यदिति हेतौ, यस्माल्लोकेन नानाविधैः शस्त्रैः कर्म्मसमारम्भाः क्रियन्त इत्यतस्तस्मिन् लोके साधुर्वृत्तिमन्वेषयेत्, यदर्थं च लोकेन कर्म्मसमारम्भाः क्रियन्ते तद्यथेत्यादिना दर्शयति—'तंजहा अप्पणो से' इत्यादि, 'तद्यथे'त्युपप्रदर्शनार्थो, नोक्तमात्रमेवान्यदप्येवंजातीयकं मित्रादिकं द्रष्टव्यं, 'से' तस्यारम्भारिप्सोर्य आत्मा—शरीरं तस्मै अर्थं तदर्थं कर्म्मसमारम्भाः—पाकादयः क्रियन्ते, ननु च लोकार्थमारम्भा क्रियन्त इतिप्रागभिहितं, न च शरीरं लोको भवति, नैतदस्ति, यतः परमार्थदशां ज्ञानदर्शनचारित्रा-त्सकमात्मतत्त्त्तं विहायान्यत्सर्वं शरीराद्यपि पराक्यमेव, तथाहिबाह्यस्य पौद्गलिकस्याचेतनस्य कर्म्मणो विपाकभूतानि पञ्चापि शरीराणीत्यतः शरीरात्माऽपि लोकशब्दाभिधेय इति, तदेवं कश्चिच्छरीरनिमित्तं कर्म्मारभते, परस्तु पुत्रेभ्यो दुहितृभ्यः स्नुषाः—वध्वस्ताभ्यो ज्ञातयः-पूर्वापरसम्बद्धाः स्वजनाः तेभ्यो धात्रीभ्यो राजभ्यो दासोभ्यो दासीभ्यः कर्म्मकरोभ्यः कर्म्मकरीभ्यः आदिश्यते परिजनो यस्मिन्नागते तदातिथेयायेत्यादेशः- प्राघूर्णकस्तदर्थं कर्म्मसमारम्भाः क्रियन्त इति सम्बन्धः, तथा 'पुढो पहेणाए' इत्यादि, पृथक् पृथक् पुत्रादिभ्यः प्रहेणकार्थं तथा 'सामासाए'त्ति श्यामा—रजनी तस्यामशनं श्यामाशः तदर्थं, तथा 'पायरासाए'त्ति प्रातरशनं प्रातराशस्तस्मै, कर्म्मसमारम्भाः क्रियन्त इति सामान्येनोक्तावपि विशेषार्थमाह—'सन्निहि' इत्यादि, सम्यग्निधीयत इति सत्रिधिः-विनाशिद्रव्याणां दध्योदनादीनां संख्यापनं, तथा सम्यग्निश्चयेन चीयत इति सन्निचयः-अविनाशिद्रव्याणां अभयासितामृद्वीकादीनां सङ्ग्रहः, सत्निधिश्च सन्निचयश्च सन्निधिसन्निचयः, अविनाशिद्रव्याणां अभयासितामृद्वीकादीनां सङ्ग्रहः, सत्निधिश्च सन्निचयश्च सन्निधिसन्निचयं, धनधान्यहिरण्यादीना क्रियत इति । स च किमर्थमित्याह-'इह' इत्यादि, 'इहे'ति मनुष्यलोके 'एकेषा'मिहलोके कृतपरमार्थबुद्धीनां 'मानवानां' मनुष्याणां 'भोजनाय' उपभोगार्थमिति। तदेवं विरूपरूपैः शस्त्रैरात्मपुत्राद्यर्थं कर्म्मसमारम्भप्रवृत्ते लोके पृथक्प्रहेणकाय श्यामाशाय प्रातराशाय केषाश्चिन्मानवानां भोजनार्थं सत्निधिसन्निचयकरणोद्यते सति साधुना किं कर्तव्यमित्याह—

मू. (८९) समुहिए अनगारे आरिए आरियपन्ने आरियर्देसी अयंसंधित्ति अदक्खु, से नाईए नाइपावए न समनुजाणइ, सच्वामगंधं परिन्नाय निरामगंधो परिव्वए।

ष्ट्र. सम्यक् सततं सङ्गतं वा संयमानुष्ठानेनोत्थितः समुत्थितो, नानाविधशस्त्रकर्म्मसमा-रम्भोपरत इत्यर्थः, न विद्यतेऽगारं-गृहमस्येत्यनगारः, पुत्रदुहितृस्नुषाज्ञातिधात्र्यादिरहित इत्यर्थः, सोऽनगारः आराद्यातः सर्वहेयधर्म्भेभ्यः इत्यार्थः-चारित्रार्हः, आर्या प्रज्ञायस्यासावार्यप्रज्ञः, श्रुतविशेषितशेमुषीक इत्यर्थः, आर्थं-प्रगुणं न्यायोपपन्नं पश्यति तच्छीलश्चेत्यार्यदर्शी पृथक्र्प्रहेणक-श्यामाशनादिसङ्कल्परहित इत्यर्थः, 'अयंसंधीति' सन्धानं सन्धीयते वाऽसावितिसन्धिरयं सन्धिर्यस्य साधोरसावयंसन्धिः, छान्दसत्वाद्विभक्तेरलुगित्ययंसन्धिः-यथाकालमनुष्ठानविधायी यो यस्य वर्त्तमानः कालः कर्त्तव्यतयोपस्थितस्तत्करणतया तमेव सन्धत्त इति, एतदुक्तं भवति-सर्वाः क्रियाः प्रत्युपेक्षणोपयोगस्वाध्यायभिक्षाचर्याप्रतिक्र मणादिकाः असपत्ना अन्योऽन्याबाधया आत्मीयकर्त्तव्यकाले करोतीत्यर्थः, इतिः हेतौ, यस्माद्ययाकालानुष्ठानविधायी तस्मादसावेव परमार्थं पश्यतीत्याह--

'अदक्खु'त्ति, तिङ्व्यत्पयेन एकवचनावसरे बहुवचनमकारि, तत्तश्चायमर्थः-यो ह्यार्य आर्यप्रज्ञ आर्यदर्शी कालज्ञश्च स एव परमार्थमद्राक्षीत्रापर इति, पाठान्तरं वा 'अयं संधिमदक्खु' 'अयम्' अनन्तरविशेषणविशिष्टः साधुः 'सन्धि' कर्त्तव्यकालम् 'अद्राक्षीद्' दृष्टवान्, एतदुक्तं मवति-यः परस्पराबाधया हिताहितप्राप्तिपरिहाररूपतया विधेयावसरं वेत्ति विधत्ते च स परमार्थं ज्ञातवानिति, अथवा भावसन्धिः- ज्ञानदर्शनचारित्राणामभिवृद्धिः स च शरीरमृते न भवति, तदपि नोपष्टम्भककारणमन्तरेण, तस्य च सावद्यस्य परिहारः कर्त्तव्य इत्यत आह- 'से नाईए' इत्यादि, 'स' भिक्षुस्तद्वाऽकल्प्यं 'नाददीत' न गृह्वीयात्राप्यपरमादापयेत्-ग्राहयेत्, नाप्यपरमनेष-णीयमाददानं समनुजानीयादपि, अथवा सइङ्गालं सधूमं वा नाद्यात्-न भक्षयेन्नापरमादयेददन्तं वान समनुजानीयादिति, आह-'सव्वामगंधं' इत्याति, आमं च गन्धश्च आमगन्धं समाहारद्वन्द्वः, सर्वं च तदामगन्धं च सर्वामगन्धं, सर्वशब्दः प्रकारकार्त्सर्येऽत्र गृह्यते न द्रव्यकात्सर्ये, आमम्-अपरिशुद्धं, गन्धग्रहणेन तु पूर्तिर्गृह्यते, ननु च पूतिद्रव्यस्याप्यशुद्धत्वात् आमशब्देनैवोपादाना -किमकिमर्थं भेदेनोपादानमिति ?

सत्यम्, अशुद्धसामान्याद्गृह्यते, किंतुपूतिग्रहणेनेधाकर्म्माद्यविशुद्धकोटिरुपात्ता, तस्याश्च

गुरुतरत्वात् प्राधान्यख्यापनार्थं पुनरुपादानां, ततश्चायमर्थः-गन्धग्रहणेनाघाकर्म्म १ औद्देशिकत्रिकं २ पूतिकर्म्म ३ मिश्ररजातं ४ बादरप्राभृतिका ५ अध्यवपूरक ६ श्चेते षडुद्गमदोषा अविशुद्धको व्यन्तर्गता गृहीताः, शेषास्तु विशुद्धकोव्यन्तर्भूता आमग्रहणेनोपात्ता द्रष्टव्या इति, सर्वशब्दस्य च प्रकारकात्स्न्यांभिधायकत्वाद् येन केनचित् प्रकारेण आमम्-अपरिशुर्द्धं पूति वा भवति तत्सव इपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया 'निरामगन्धः' निर्गतावामगन्धौ यस्मात्स तथा 'परिव्रजेत्' मोक्षमार्गे ज्ञानदर्शनचारित्राख्ये परिः-समन्ताद्गृच्छेत् संयमानुष्ठानं सम्यगनुपालयेदितियावत् । आमग्रहणेन प्रतिषिद्धेऽपि क्रीतकृते तथाप्यल्पसत्त्वानां विशुद्धकोट्यालम्बनतया मा भूत्तत्र प्रवृत्तिरस्तदेव नामग्राहं प्रतिषिषेधिषुराह –

मू. (९०) अदिस्समाणे कर्यविक्व्येसु, से न किणे न किणावए किणंतं, न समणुजाणइ, से भिक्खू कालत्रे बालत्रे मायत्रे खेयत्रे खणयत्रे विणयत्रे ससमयपरसमयत्रे भावत्रे परिग्गहं अममायमाणे कालाणुडाई अपडिण्णे ॥

**ष्ट्र.** क्रयश्च विक्र यश्च क्रयविक्रयौ तयोरदृश्यमानः, कीद्दक्षश्च तयोरदृश्यमानो भवति ?, यतस्तयोर्निमित्तभूतद्रव्यामावादकिञ्चनोऽथवाक्रयविक्रययोरदिश्यमानः-अनपदिश्यमानः, कश्च तयोरनपदिश्यमानो भवति ?, यः क्रीतकृतापरिभोगी भवतीति आह च - 'से ण किणे' इत्यादि, 'स'मुमुक्षुरकिञ्चनो धर्म्पोपकरणमपि न क्रीणीयात् स्वतो नाप्यपरेण क्रापयेत् क्रीणन्तमपि न समनुजानीयाद्, अथवा निरामगन्धः परिव्रजेदित्यत्रामग्रहणेन हननकोटित्रिकं गन्धग्रहणेन पचनकोटित्रिकं क्रयणकोटित्रिकं तु पुनः स्वरूपेणैवोपात्तम्, अतो नवकोटिपरिशुद्धमाहारं विगताङ्गारधूमं मुञ्जीत, एतद्गुणविशिष्टश्च किंभूतो मवतीत्याह - 'से भिक्खू कालन्ने' कालः-कर्त्तव्यावसरस्तंजानातीतिकालज्ञः-विदितवेद्यः,कतथा 'बालन्ने' बलज्ञः बलंजानातीति बलज्ञः, छान्दसत्वाद्दीर्घत्वं, आत्मबलं सामर्थ्यजानातीति ययाशक्त्यनुष्ठानविधायी, अनिगूहितबलवीर्य इत्यर्थः, तथा 'मायन्ने'यावद्रव्योपयोगिता मात्रा तां जानातीति तज्ज्ञः, तथा 'खेयन्ने' खेदः-अभ्यासस्तेन जानातीति खेदज्ञः अथवा खेदः-श्रमः संसारपर्यटनजनितस्तं जानातीति, उक्तंच

II9 II "जरामरणदीर्गत्यव्याधयवस्तावदासताम् ।

भन्ये जन्मैव धीरस्य, भूयो भूयस्त्रपाकरम् ॥''

इत्यादि, अथवा 'क्षेत्रज्ञः' संसक्तविरुद्धद्रव्यंपरिहार्यकुलादिक्षेत्रस्वरूपपरिच्छेदकः, तथा 'खणयन्नो' क्षण एव क्षणकः-अवसरो भिक्षार्थमुपसर्पणादिकस्तं जानातीति तथा 'विणयन्ने' विनयो-ज्ञानदर्शनचारित्रौपचारिकरूपस्तं जानातीति, तथा 'ससमयपरसमयन्ने' स्वसमयपरसमयौ जानातीति, स्वसमयज्ञो गोचरप्रदेशादी पृष्टः सन् सुखेनैव भिक्षादोषानाचष्टे, तद्यया-षोडशोद्गमदोषाः, ते चामी-आधाकर्म्म 9 औद्देशिकं २ पूतिकर्म्म ३ मिश्रजातं ४ स्थापना ५ प्राभृतिका ६ प्रकाशकरणं ७ क्रीतं ८ उद्यतकं ९ परिवर्त्तितं १० अभ्याहर्तं ११ उद्भिन्नं १२ मालापहर्तं १३ आच्छेद्यं १४ अनिसृष्टं १५ अध्यवपूरकश्चेति १६ । षोडशोत्पादनदोषाः, ते चामी-धात्रीपिण्डः १ दूतीपिण्डः २ निमित्तपिण्डः ३ आजीवपिण्डः ४ वनीपकपिण्डः ५ चिकित्सापिण्डः ६ क्रोधपिण्डः ७२ विद्यापिण्डः १३ मन्त्रपिण्डः १४ चूर्णयोगपिण्डः १५ मूलकर्म्मपिण्डश्चेति १६। तथा दशैषणादोषाः, ते चामी-शङ्कित १ प्रक्षित २ निक्षिप्त ३ पिहित ४ संहत ५ दायको ६ न्मिश्रा ७ ऽपरिणत ८ लिप्तो ९ ज्झित १० दोषाः । एषां चोद्गमदोषा दातृकृता एव मवन्ति, उत्पादनादोषास्तु साधुजनिताः, एषणादोषाश्चोमयोत्पादिता इति। तथा परसमयज्ञो ग्रीष्ममध्याह्नतीव्रतरतरणिक- रनिकरावलीढगलत्स्वेदबिन्दुकः क्लिन्नवपुष्कः साधुः केनचिद् धिग्जातिदेश्येनाभिहितः-किमिति भवतां सर्वजनाचीर्णं स्नानं न सम्मतमिति ?, स आह-प्रायः सर्वेषामेव यतीनां कामाङ्गत्वाञ्जलस्नानं प्रतिषिद्धं, तथा चार्षम् ---

११९॥ ''स्नानं मददर्ष्पकरं, कामाङ्गं प्रथमं स्मृतम् । तस्मात्कामं परित्यञ्य, नैव स्नान्ति दमे रताः ॥''

इत्यादि, तदेवमुभयज्ञस्तद्विषये प्रश्ने उत्तरदानकुशलो भवति, तथा 'भावन्ने' भावः-चित्ताभिप्रायो दातुः श्रोतुर्वा तं जानातीति भावज्ञः, किं च – 'परिग्गहं अममायमाणे' परिगृह्यत इति परिग्रहः--संयमातिरिक्तमुपकरणादिः तमममीकुर्वन्--अस्वीकुर्वन् मनसाऽप्यनाददान इतियावत्, स एवंविधो भिक्षुः कालज्ञो बलज्ञो मात्रज्ञः क्षेत्रज्ञः खेदज्ञो क्षणज्ञः विनयज्ञः समयज्ञो भावज्ञः परिग्रहमममीकुर्वाणश्च किंभूतो भवतीत्याह - 'कालानुट्टाई' यद्यस्मिन् काले कर्त्तव्यं तत्तस्मिन्नेवानुष्ठातुं शीलमस्येति कालानुष्ठायी -- कालानतिपातकर्त्तव्योद्यतो, ननु चास्यार्थस्य 'से भिक्खू कालन्ने' इत्यनेनैव गतार्थत्वात् किमर्थं पुनरभिधीयते इति ?, नैष दोषः, तत्र हि जपरिज्ञैव केवलाऽभिइहिता, कर्त्तव्यकालं जानाति, इह पुनरासेवनापरिज्ञा कर्त्तव्यकाले कार्यं विधत्त इति ।

किंच — 'अपडिण्णे' नास्य प्रतिज्ञा विद्यते इत्यप्रतिज्ञः, प्रतिज्ञा च कषायोदयादाविरस्ति, तद्यया-क्रोधोदयात् स्कन्दाचार्येण स्वशिष्ययन्त्रपीलनव्यतिकरमालोक्य सबलवाहनराजधानी-समन्वितपुरोहितोपरि विनाशप्रतिज्ञाऽकारि, तथा मानोदयात् बाहुबलिना प्रतिज्ञा व्यधायि-कथमहं शिशून् स्वभ्रातृनुत्पन्ननिरावरणज्ञानांश्छदास्थः सन् द्रक्ष्यामीति ?, तथा मायोदयात् मल्लिस्वामिजीवेन यथाऽपरयतिविप्रलम्भनं भवति तथा प्रत्याख्यानपरिज्ञा जगृहे, तथा लोभोदयाच्चाविदितपरमार्थाः साम्प्रतेक्षिणो यत्याभासा मासक्षपणादिका अपि प्रतिज्ञाः कुर्वते, अथवा अप्रतिज्ञः- अनिदानों वसुदेववत् संयमानुष्ठानं कुर्वन् निदानं न करोतीति, अथवा गोचरादौ प्रविष्टः सन्नाहारादिकं ममैवैतद्मविष्यतीत्येवं प्रतिज्ञां नकरोतीत्यप्रतिज्ञो, यदिवा स्याद्वादप्रधानत्वान्म- नीन्द्रगमस्यैक-पक्षावधारणं प्रतिज्ञा तद्रहितोऽप्रतिज्ञः, तथाहि-मैथुनविषयं विहायान्यत्र न क्वचित्रियमवती प्रतिज्ञा विधेया, यत उक्तम्–

| listi | ''न य किंचि अनुन्नायं पडिसिद्धं वावि जिणवरिदेहिं।      |
|-------|--|
|       | मोत्तुं मेहुणमावं न तं विणा रागदोसेहिं                 |
| 113 H | (तथा) ''दोसा जेण निरुज्झंति जेण जिज्झंति पुव्वकम्पाइं। |
|       | सो सो मुक्खोवाओ, रोगावत्थासु समणं व                    |
| lişli | जे जत्तिया उ हेउ भवस्स ते चेव तत्तिया मुक्खे ।         |
|       | गणणाइया लोया दुण्हवि पुन्ना भवे तुल्ला                 |

'' इत्यादि। 'अयंसन्धीत्यारम्य काले अनुडाइ'त्ति यावदेतेम्यः सूत्रेम्य एकादश पिण्डैषणा निर्यूढा इति । एवं तर्ह्यप्रतिज्ञ इत्यनेन सूत्रेणेदमापन्नं - न क्वचत्केनचिव्यतिज्ञा विधेया, प्रतिपादिताश्चागमे नानाविधा अभिग्रहविशेषाः, ततश्च पूर्वोत्तरव्याहतिरिव लक्ष्यत इत्यत आह-

मू. (९९) दुहओ छेत्ता नियाइ, वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं उग्गहणं च कडासणं एएसु चेव जाणिज्ञा।

ष्टु. 'द्विधे'ति रागेण द्वेषेण वा या प्रतिज्ञा तां छित्त्वा निश्चयेन नियतं वा याति नियाति ज्ञानदर्शनचारित्राख्येमोक्षमार्गे संयमानुष्ठने वा भिक्षाद्यर्थं वा, एतदुक्तं भवति-रागद्वेषौछित्त्वाप्रतिज्ञा गुणवती, व्यत्यये व्यत्ययइति, स एक्ष्मूतो भिक्षुः कालज्ञो बलज्ञो यावदिधा छिन्दन् किंकुर्यादित्याह-'वत्थं पडिग्गहं त्यादि यावत् एएसु चेव जाणेज्ञा' एतेषु पुत्राद्यर्थमारम्मप्रवृत्तेषु सत्निधिसन्निचय-करणोद्यतेषु जानीयात्-शुद्धाशुद्धत्तया परिच्छिन्द्यात्, परिच्छेदश्चैवमात्मकः- शुद्ध गृह्णीयादशुद्धं परिहरेदितियातव्, किं तद्विजानीयात् ? - वस्त्रं वस्त्रग्रहणेन वस्त्रैषणा सूचिता, तथा पतद्ग्रहं-पात्रम्, एतद्ग्रहणेन च पात्नैषणा सूचिता, कम्बलमित्यनेनाऽऽविकः पात्रनिर्योगः कल्पश्च गृह्यते, पादपुञ्छनकमित्यनेन च रजोहरणमिति, एभिश्च सूत्रैरोघोपधिरौपग्रहिकश्च सूचितः, तथैतेभ्य एव वस्त्रैषणा पात्रेषणा च निर्यूढा,

तथा अवगृह्यत इत्यवग्रहः, स च पश्चधा-देवेन्द्रावग्रहः १ राजावग्रहः २ गृहपत्यवग्रहः ३ शय्यातरावग्रहः ४ साधर्मिकावग्रहश्चेति, अनेन चावग्रहप्रतिमाः सर्वाः सूचिताः, अत एवासौ निर्यूढा, अवग्रहकल्पिकश्चास्मिन्नेव सूत्रे कल्प्यते, तथा कटासनं, कटग्रहणेन संस्तारो गृह्यते, आसनहग्रहणेन चासन्दकादिविष्टरमिति, आस्यते-स्थीयते अस्मिन्निति वाऽऽसनं-शय्या, ततश्च आसनग्रहणेन शय्या सूचिता, अत एव निव्यूढेति । एतानि च सर्वाण्यपि वस्त्रादीन्याहारादीनि चैतेषु स्वारम्भप्रवृत्तेषु गृहस्थेषु जानीयात्, सर्वामगन्धं परिज्ञाय निरामगन्धो यथा भवति तथा परिद्रजेरिति भावार्थः । एतेषु च स्वारम्भप्रवृत्तेषु गृहस्थेषु परिव्रजन् यावल्लामं गृह्णीयादुत कश्चिन्नियमोऽप्यस्तीत्याह-

मू. (९२) लद्धे आहारे अनगारो मायं जाणिज्ञा, से जहेयं भगवया पवेईयं, लाभुत्ति न मज्रिज्ञा, अलाभुत्ति न सोइज्ञा, बहुंपि लद्धं न निहे, परिग्गहाओ अप्पाणं अवसक्क्ति।

ष्ट्र. 'लब्धे' प्राप्ते सत्याहारे, आहारप्रहणं चोपलक्षणार्थम् अन्यस्मिन्नपि वस्त्रीषधादिके 'अनगारः' भिक्षुः 'मात्रां जानीयात्' यावन्मात्रेण गृहीतेन गृहस्यः पुनरारम्भे न प्रवर्त्तते यावन्मात्रेण चात्मनो विवक्षितकार्यनिष्पत्तिर्भवति तथा भूतां मात्रामवगच्छेदिति मावः, एतद्य स्वमनीषिकवा नोच्यत इत्यत आह-'से जहेयं' इत्यादि, तद्यथा-इदमुद्देशकादेरारम्यानन्तरसूत्रं यावद्मगवता-ऐश्वर्यादिगुणसमन्वितेनार्द्धमागधया भाषया सर्वस्वभाषानुगतया सदेवमनुजायां परिषदि केवलज्ञानचक्षुषाऽवलोक्य 'प्रवेदितं' प्रतिपादितं, सुधर्म्मास्वामी जम्बूस्वामिने इदमाचष्टे । किं चान्यत्-'लाभो'ति इत्यादि, लाभो वस्त्राहारादेर्मम संवृत्त इत्यतोऽहो ! अहं लब्धिमानित्येव मदं न विदध्यात्, न च तदमावे शोकाभिभूतो विमनस्को भूयादिति, आह च-'अलाभो'ति इत्यादि, अलाभे सति शोकं न कुर्यात्, कथं ? - धिग्मां मन्दभाग्योऽहं येन सर्वदानाद्यतादपि दातुर्न लभेऽहमिति, अपि तु तयोर्लाभालाभयोर्माध्यस्य्यं मावनीयमिति, उक्तं च-

## II 9 II "लम्यते लम्यते साधु, साधुरेव न लम्यते । अलब्धे तपसो बुद्धिर्लब्धे तु प्राणघारणम् "

इत्यादि, तदेवं पिण्डपात्रवस्त्राणामेषणाः प्रतिपादिताः, साम्प्रतं सन्निधिप्रतिषेधं कुर्वन्नाह-'बहुंपी' त्यादि, 'बहुंपि' बह्वपि लब्ब्वा 'न निहे'ति न स्यापयेत्-न सन्निधिं कुर्यात्, स्तोकं तावन्न सन्निधीयत एव, बह्वपि न सन्निदघ्यादित्यपिशब्दार्थः, न केवलमाहारसन्निधिं न कुर्याद्, अपरमपि वस्त्रपात्रादिकं संयमोपकरणातिरिक्तं न बिभृयादिति, आह- 'परि' इत्यादि, परिगृह्यत इति परिग्रहो-धर्मोपकरणातिरिक्तमुपकरणं तस्मादात्मानमपष्वष्केद्-अपसर्प्ययेद्, अथवा संयमोपकरणमपि मूर्छया परिग्रहो मवति, 'मूच्छा परिग्रहः' इतिवचनात्, तत आत्मानं परिग्रहादपसर्प्यन्नुपकरणे तुरगवत् मूच्छर्ग न कुर्यात्, ननु च यः कश्चिद्धर्मोपकरणाद्यपि परिग्रहो, न स चित्तकालुष्यमृते मवति, तयाहि-आत्मीयोपकारिणि राग उपघातकारिणि च द्वेषः, ततः परिग्रहे सति रागद्वेषो नै दिष्टौ ताभ्यां च कर्म्यबन्धः, ततः कथं न परिग्रहो धर्म्मोपकरणम् ?, उक्तं च-

॥१॥ममाहमिति चैष यावदमिमानदाहञ्चरः, कृतान्तमुखमेव तावदिति न प्रशान्त्युन्नयः

यशःसुखपिपासितैरयमसावनर्थोत्तरैः, परैरपसदः कुतोऽपि कथमप्यपाकृष्यते ।

नैष दोषः, न हि धर्म्भोपकरणे ममेदमिति साधूनां परिग्रहाग्रहयोगोऽस्ति, तया ह्यागमः-"अवि अप्पणोऽवि देहंमि, नायरंति ममाइउं", यदिह परिगृहीतं कर्म्मबन्धायोपकल्पते स परिग्रहो, यत्तु पुनः कर्म्मनिर्ज्ञरणार्थं प्रभवति तत्परिग्रह एव न भवतीति । आह च–

मू. (९३) अन्नहा णं पासए परिहरिज़ा, एस मग्गे आयरिएहिं पवेइए, जहित्य कुसले नोवलिंपिज़ासि –त्तिबेमि।।

वृ. णमिति वाक्यालङ्कारे, 'अन्यथे'त्यन्येन प्रकारेण पश्यकः सन् परिग्रहं परिहरेत्, यथा हिअविदितपरमार्था गृहस्थाः सुखसाघनाय परिग्रहं पर्श्वन्ति न तथा साधुः, तथाहि अयमस्याशयः-आचार्यसत्कमिदमुपकरणं न ममेति, रागद्वेष मूलत्वात् परिग्रहाग्रहयोगोऽत्र निषेध्यो, न धर्मोपकरणं, तेन विना संसारार्णवपारागमनादिति, उक्तं च--

## II 9 II ''साध्यं यथा कथञ्चित् स्वल्पं कार्यं महच्च न तथेति । प्लवनमृते न हि शक्यं पारं गन्तुं समुद्रस्य''

अत्र चार्हताभासैबोटिकैः संह महान्विवादोऽस्तीत्यत्तो विवक्षितमर्थं तीर्थकराभिप्रायेणापि सिसाधयिषुराह-'एसमग्रे' इत्यादि, धर्म्मोपकरणं न परिग्रहायेत्येषः-अनन्तरोक्तो मार्गः आराद्याताः सर्वहेयधर्म्भेम्य इत्यार्याः- तीर्थकृतस्तैः 'प्रवेदितः' कथितो, न तु यथा बोटिकैः पुण्डिका तट्टिका लम्बणिका अश्वावालधिवालादि स्वरुचिविरचितो मार्ग इति, न वा यथा मौद्गलिस्वातिपुत्राभ्यां शौद्धोदनिं ध्वजीकृत्य प्रकाशितः, इत्यनया दिशा अन्येऽपि परिहार्या इति । इह तु स्वशास्त्रगौरव-मुत्पादयितुमार्येः प्रवेदित इत्युक्तम्, अस्मिश्चार्यप्रवेदिते मार्ग्ग प्रयत्नवता भाव्यमिति, आह च-'जहेत्य' इत्यादि, लब्ध्वा कर्म्मभूमिं मोक्षपादपबीजभूतां च बोधिं सर्वसंवरचारित्र च प्राप्य तथा विधेयं तथा 'कुशलो' विदितवेद्यः 'अत्र' अस्मिन्नार्यप्रवेदिते मार्गे आत्मानं पापेन कर्म्मणा नोपलिम्पयेत् इति । एवं चोपलिम्पनं भवति यदि यथोक्तानुष्ठानविधायित्वं न भवति, सतां चायं पन्था यदुत-यत्स्वयं प्रतिज्ञातं तदन्त्योच्छासं यावदिधेयमिति, उक्तं च– ॥ १॥ "लज्ञां गुणौधजननीं जननीमिवार्यामत्यन्तशुद्धहदयामनुवर्त्तमानाः । तेजस्विनः सुखमसुनपि सन्त्यजन्ति, सत्यस्थितिव्यसनिनो न पुनः प्रतिज्ञाम् "

इतिशब्दोऽधिकारसमाप्त्यर्थो, 'ब्रवीमि' इति सोऽहं ब्रवीमि येन मया भगवत्पा-दारविन्दमुपासता अश्रावीति ।। परिग्रहादात्मानमपसर्प्ययेदित्युक्तं, तच्च न निदानोच्छेदमन्तरेण, निदानं च शब्दादिपञ्चगुणानुगामिनः कामाः, तेषां चोच्छेदोऽसुकरो, यत आह–

मू. (९४) कामा दुरतिक्का, जीवियं दुप्पडिवूहगं, कामकामी खलु अयं पुरिसे, से सोयइ जूरइ तिप्पइ परितप्पइ

**वृ.** कामा द्विविधाः-इच्छाकामा मदनकामाश्च, तत्रेच्छाकामा मोहनीयभेदहास्यरत्युद्यवाः, मदनकामा अपि मोहनीयभेदवेदोदयात् प्रादुष्यन्ति, ततश्च द्विरूपाणामपि कामानां मोहनीयं कारण, ततसद्मावे च न कामोच्छेद इत्यतो दुःखेनातिक्रमः-अतिलङ्कनं विनाशो येषां ते तथा, ततश्चेदमुक्तं भवति-न तत्र प्रमादवता भाव्यं। न केवलमत्र जीवितेऽपिन प्रमादवता भाव्यमिति, आह च-'जीवियं' इत्यादि, जीवितम्-आयुष्कं तत् क्षीणं सत् 'दुष्प्रतिबृंहणीयं' दुरभावार्थे, नैव वृद्धिं नीयते इतियावत्, अथवा जीवितं-संयमजीवितं तदुष्प्रतिबृंहणीयं, कामानुषक्तजनान्तर्वर्त्तिना दुःखेन वृद्धिं नीयते, दुःखेन निष्प्रत्युहः संयमः प्रतिपाल्यते इति, उक्तं च--

| 11911 | "आगासे गंगसोउव्व, पडिसोउव्व दुत्तरो ।  |
|-------|--|
|       | बाहाहिं चेव गंभीरो, तरिअव्वो महोँ अही  |
| શરા   | वालुगाकवलो चेव, निरासाए हु संजमो ।     |
|       | जवा लोहमया चेव, चावेयव्वा सुदुक्क रं " |

इत्यादि, येन चाभिप्रायेण कामा दुरतिक्रमा इति प्रागभ्यधायि तमभिप्रायमाविष्कुर्वन्नाह-'कामकामी' इत्यादि, कामान् कामयितुम्-अभिलषितुं शीलमस्येति कामकामी 'खलु:' वाक्यालङ्कोरे 'अयम्' इत्यध्यक्षः 'पुरुषः' जन्तुः । यस्त्वेवंविधोऽविरतचेताः कामकामी स नानाविधान् शारीरमानसान् दुःखविशेषाननुभवतीति दर्शयति-'से सौयई'त्यादि, 'स' इति कामकामी ईप्सितस्यार्थस्याप्राप्तौ तद्वियोगे च स्मृत्यनुषङ्गः शोकस्तमनुभवति अथवा शोचत इति काममहाज्वरगृहीतः सन् प्रलपतीति, उक्तं च--

॥ १ ॥ "गते प्रेमाबन्धे प्रणयबहुमाने च गलिते, निवृत्ते सद्भावे जन इव जने गच्छति पुरः । तमुत्रेक्ष्योत्प्रेक्ष्य प्रियसखि ! गतांस्तांश्च दिवसान्, न जाने को हेतुर्दलति शतधा यन्न हृदयम् ?" इत्यादि शोचते, तथा 'जूरइ'ति हृदयेन खिद्यते, तद्यथा– ॥ १ ॥ ''प्रथमतरमथेदं चिन्तनीयं तवासीद्बहुजनदयितेन प्रेम कृत्वा जनेन । हृतहृदय ! निराश ! क्लिबसंतप्यसे किं ?, न हि जडगततोये सेतुबन्धाः क्रियन्ते" इत्योवमादि, तथा 'तिप्पइ'त्ति 'तिपृ तेपृ प्रक्षरणार्थी' तेपते-क्षरति सञ्चलति मर्यादातो प्रश्यतिनिर्मर्यादो भवतीतियावत्, तथा शारीरमानसैर्दुःखैः पीड्यते, तथा परिः-समन्ताद्बहिरन्तश्च तप्यते परितप्यते, पश्चात्तापं वा करोति, यथेष्टेपुत्रकलत्रादौ कोपात् क्वचिद्गते समया नानुवर्त्तित इति परितप्यते, सर्वाणि चैतानि शोचनादीनि विषयविषावष्टब्धान्तःकरणानां दुःखाव-स्थासंसूचकानि, अथवा शोचत इति यौवनधनमदमोहाभिभूतमानसो विरुद्धानि निषेव्य पुनर्वयःपरिणामेन मृत्युकालोपस्यानेनवामोहापगमेसतिर्किमयामन्दभाग्येन पूर्वमशेषशिष्टचीर्णः सुगतिमनैकहेतुर्दुगतिद्वारपरिघे धर्म्मो नाचीर्णः ? इत्येवं शोचत इति, उक्तं च-

- ॥ "भवित्रीं भूतानां परिणतिमनालोच्य नियतां,
   पुरा यद्यत् किश्चिद्विहितमशुभं यौवनमदात्।
   ॥ ९ ॥ पुनः प्रत्यासन्ने महति परलोकैकगमने,
   तदेवैकं पुंसां व्यथयति जराजीर्णवपुषाम् ''
   –तथा जूरतीत्यादीन्यपि खबुद्धया योजनीयानि, उक्तं च–
- II 9 II सगुणमपगुणं वा कुर्वता कार्यजातं, परिणतिरवधार्या यत्नतः पण्डितेन । अतिरभसकृतानां कर्म्पणामाविपत्तेर्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥ इत्यादि ॥ कः पुनरेवं न शोचत इत्याह--

मू. (९५) आययचक्खू लोगविपस्सी लोगस्स अहो भागं जाणइ उड्दं भागं जाणइ तिरियं भागं जाणइ, गढ्विए लोए अनुपरियट्टमाणे, संधिं विइत्ता इह मच्चिएहिं, एस वीरे पसंसिए जे बद्धे पडिमोयए जहा अंतो तहा बाहिं जहा बाहिं तहा अंतो, अंतो अंतो पूइ देहंतराणि पासइ पुढोवि संवताइं पंडिए पडिलेहाए।

**वृ.** आयतं-दीर्घमैहिकामुष्मिकापायदर्शि चक्षुः-ज्ञानं यस्य स आयतचक्षुः, कः पुनरित्येवंभूतो भवति ? यः कामानेकान्तेनानर्धभूयिष्ठान् परित्यज्य शमसुखमनुभवति, किं च-'लोगविपस्सी' लोकं विषयानुषङ्गावेशासदुःखातिशयं तथा त्यक्तकामावाप्तप्रशमसुखं विविधं द्रुष्टं शीलमस्येति लोकविदर्शी, अथवा लोकस्य ऊर्द्धाधस्तिर्यगमागर्गतिकारणायुष्कसुखदुःखविशेषान् पश्यतीति, एतदर्शयति-'लोगस्स' इत्यादि, लोकस्य-धर्माधर्मास्तिकायावच्छिन्नाकाशखण्डस्याधोभागं जानातीति-स्वरूपतोऽवगच्छति, इदमुक्तं भवति-येन कर्म्पणा तत्रोत्पद्यन्तेऽ सुमन्तः याद्धक् तत्र सुखदुःखविपाको भवति तं जानाति, एवमूर्द्धतिर्यग्भागयोरपि वाच्यं, यदिवा लोकविदर्शीति-कामार्थमर्थोपार्जनप्रसक्तं गृद्धमध्युपपन्नं लोकं पश्यतीति। एतदेव दर्शयितुमाह-'गहिए' इत्यादि, अयंहिलोको 'गृद्धः' अध्युपपन्नः कामानुषङ्गे तदुपाये वा तत्रैवानुपरिवर्त्तमानो भूयो भूयस्तदेवा-चरंस्तञ्जनितेन वा कर्म्पणा संसारचक्रे Sनुपरिवर्त्तमानः-पर्यटन्नायतचक्षुषो गोचरीभवन् कामाभिलाषनिवर्त्तनाय न प्रभवति ?, यदिवा कामगृद्धान् संसारेऽनुपरिवर्त्तमानानसुमतः पश्येत्येवमुपदेशः ।

अपिच-'संधिं' इत्यादि, इह 'मर्त्त्येषु' मनुजेषु यो ज्ञानादिको भावसन्धिः, सच मर्त्त्येत्र्वे सम्पूर्णो भवतीति मर्त्त्यग्रहणम्, अतस्तं विदित्वा यो विषयकषायादीन् परित्यजति स एव वीर इति दर्शयति-'एस' इत्यादि, 'एषः' अनन्तरोक्तः आयतचक्षुर्यथावस्थितलोकविभागस्वभाव-दर्शीभावसन्धेर्वेत्ता परित्यक्तविषयतर्षो वीरः कर्म्मविदाराणत् 'प्रशंसितः' स्तुतः विदिततत्त्वै-रति । स एवंभूतः किमपरं करोतीति चेदित्याह-'जे बद्धे' इत्यादि, यो बद्धान् द्रव्यभावबन्धनेन स्वतोविमुक्तोऽपरानपि मोचयतीत्येतदेव द्रव्यभावबन्धविमोक्षं वाचोयुक्त्याऽऽचष्टे 'जहा अंतो तहा बाहिं' इत्यादि, यथाऽन्तर्भावबन्धनमध्प्रकारकर्मनिगडनंमोचयति एवं पुत्रकलत्रादि बाह्यमपि, यथा वा बाह्यं बन्धुबन्धनं मोचयति एवं मोक्षगमनविघ्नकारणमान्तरमपीति, यदिवा-कथमसौ मोचयतीति चेत्तत्त्वाविर्मावनेन, स्यादेतत्-तदेव किंभूतमित्याह-'जहा अंतो' इत्यादि, यथा स्वकायस्यान्तः- मध्ये अमेध्यकललपिशितासृक्पूत्यादिपूर्णत्वेनासारत्वमित्येवं बहिरप्यसारता द्रष्टव्या, अमेध्यपूर्णघटवदिति, उक्तं च–

॥ १॥ 🧴 ''यदि नामास्य कायस्य, यदन्तस्तद्बहिर्भवेत् ।

दण्डमादाय लोकोऽयं, शुनः काकांश्च वारयेत् ''

इति, यथा वा बहिरसारता तथाऽन्तरपीति । किं च-'अन्तो अन्तो' इत्यादि, देहस्य मध्ये मध्ये पूत्यन्तराणि-पूतिविशेषान् 'देहान्तराणि' देहस्यावस्थाविशेषान्, इह मांसमिह रुधिरमिह मेदो मज्जा चेत्येवमादि पूतिदेहान्तराणि 'पश्यति' यथावस्थितानि परिच्छिन्नत्तीत्युक्तं भवति, यदिवा देहान्तराण्येवंभूतानि पश्यति-'पूढो' इत्यादि, 'पृथगपि' प्रत्येकमपि अपिशब्दाल्कुष्ठाद-वस्थायां यौगपधेनापिम्न वन्तिनवभिः श्रोत्रोभिः कर्णाक्षिमलश्ठेष्मलालाप्रश्रवणोद्यारादीन् तथाऽपरव्याधिविशेषापादितव्रणमुखपूतिशोणितरसिकादीनि चेति । यद्येतानि ततः किं ? - 'पंडिए पडिलेहाए' एतान्येवंभूतानि गलच्छोतोव्रणरोमकूपानि 'पण्डितः' अवगततत्त्वः 'प्रत्युपेक्षेत' यथावस्थितमस्य स्वरूपमवगच्छेदिति, उक्तं च–

 ११९॥ "मंसड्रिरुहिरण्हारुवणद्धकलमलयमेयमञासु ! पुण्णंमि चम्मकोसे दुग्गंधे असुइबीभच्छे
 ११२॥ संचारिमजंतगलंतवद्यमुत्तंतसेअपुण्णंमि । देहे हुजा किं रागकारणं असुइहेउम्मि ?"

इत्यादि । तदेवं पूतिदेहान्तराणि पश्यन् पृथगपि वन्तीत्येवं प्रत्युपेक्ष्य किं कुर्यादित्याह-

मू. (९६) से मईमं परित्राय मा य हु लालं पद्यासी, मा तेसु तिरिच्छमप्पाणमावायए, कासंकासे खलु अयं पुरिसे, बहुमाई कडेण मूढे, पुणो तं करेइ लोहं वेरं वहेइ अप्पणो, जमिण परिकहिजड इमस्स चेव पडिवूहणयाए, अमरायमहासडी अष्टमेयं तु पेहाए अपरिण्णाए कंदइ

**वृ.** 'स' पूर्वोक्तो यतिर्मतिमान्-श्रुतसंस्कृतबुद्धिर्यथावस्थितं देहस्वरूपं कामस्वरूपं च द्विविधयाऽपि परिज्ञया परिज्ञाय किं कुर्यादित्याह-'मा य हु' इत्यादि, 'मा' प्रतिषेधे चः समुघ्यये हुर्वाक्यालङ्कारे, ललतीति लाला-अनुट्यन्मुखश्रेष्मसन्ततिः तां प्रत्यशितुं शीलमस्येति प्रत्याशी, वाक्यार्थस्तु यथा हि बालो निर्गतामपि लालां सदसद्विवेकामावात् पुनरप्यश्नातीत्येवं त्वमपि लालावत्त्यक्त्वा मा मोगान् प्रत्यशान्, वान्तस्य पुनरप्यमिलाषं मा कुर्वित्यर्थः । किं च- 'मा तेषु तिरिच्छं' इत्यादि, संसारश्रोतांसि अज्ञानाविरतिमिथ्यादर्शनादीनि प्रतिकूलेन वा तिरश्चीनेन वाऽतिक्रमणीयानि, निर्वाणश्रोतांसि तु ज्ञानादीनि तत्रानुकूल्यं विधेयं, मा तेष्वात्मानं तिरश्चीनमापादयेः, ज्ञानादिकार्ये प्रतिकूलतां मा विदध्याः, तत्राप्रमादवता भाव्यं, प्रमादवांश्चेहैव शान्ति न लभते, यत आह-'कासंकासे' इत्यादि, यो हि ज्ञानादिश्रीतसि तिरश्चीनवर्त्ती भोगाभिलाषवान् स एवंभूतोऽयं पुरुषः सर्वदा किंकर्त्तव्यताकुल इदमहमकार्षमिदं च करिष्ये इत्येवं भोगाभिलाषकि याव्यापृतान्तःकरणो न स्वास्थ्यमनुभवति, खलुशब्दोऽवधारणे, वर्तमानकालस्थातिसूक्ष्मत्वादसंव्यवहारित्वमतीतानागतयोश्चेदमहमकार्षमिदं च करिष्य इत्येवमातुरस्य नास्त्येव स्वास्थ्यमिति, उक्तं च--

II 9 II ''इदं तावत् करोम्यद्य, श्वः कर्त्ताऽस्मीति चापरम् । चिन्तयत्रिह कार्याणि, प्रेत्यार्थं नावबुध्यते ''

अन्न दधिघटिकाद्रमकद्रष्टान्तो वाच्यः, स चायं-द्रमकः कर्द्धित् क्वचिन्महिषीरक्षणावाप्तदुग्धः तद्दधीकृत्य चिन्तयामास, ममातो घृतवेतनादि यावद्भार्या अपत्योत्पत्तिस्ततश्चिन्ता, कलहे पार्ष्णिप्रहारेणैव दधिघटिकाव्यापत्तिरित्येवंचिन्तामनोरथव्याकुलीकृतान्तःकरण इति तद्दद्धयानयने शिरोविण्टलीकाचीवरे आदीयमाने इव शिरो विधूयास्फोटिता दधिघटिकेत्येवं यथा तेन न तद्दधि भक्षितं नापि कस्मैचित्पुण्याय दत्तम्, एवमन्योऽपि कासंकसः- किंकर्त्तव्यतामूढो निष्फलारम्भो भवतीति, अथवा कस्यतेऽस्मिन्निति कासः-संसारस्तं कषतीति-तदभिनुखो यातीति कासंकषः, यो ज्ञानादिप्रमादवान् वक्ष्यमाणो वेत्याह-'बहुमायी' कासंकषो हि कषायैर्भवति, तन्मध्यभूताया मायाया ग्रहणे तेषामपि ग्रहणं द्रष्टव्यमिति, ततः क्रोधी मानी मायी लोभीति द्रष्टव्यमिति । अपि च-'कडेण मूढं' करणं कृतं तेन मूढः- किंकर्त्तव्यताकुलः सुखार्थी दुःखमश्नुते इति, उक्तं हि–

II 9 II ''सोउं सोवणकाले मञ्जणकाले य मञ्जिउं लोलो I जेमेउं च वराओ जेमणकाले न चाएड ''

अत्र मम्मणवणिगदृष्टान्तो वाच्यः, स चैवं कासंकषः बहुमायी कृतेन मूढस्तत्तत्करोति येनात्मनो वैरानुषङ्गोजायतइति, आहच-'पुणो तं करेई'त्यादि, मायावी परवश्चनबुद्धया पुनरपि तत्लोभानुष्ठानं तथा करोति येनात्मनो वैरं वर्द्धते, अथवा तं लोभं करोतीति-अर्जयति येन जन्मशतेष्वपि वैरं वर्द्धत इति, उक्तं च—

Il 9 II ''दुःखार्त्तः सेवते कामान्, सेवितास्ते च दुःखदाः I यदि ते न प्रियं दुःखं, रसङ्ग्रस्तेषु न क्षमः''

किंपुनःकारणमसुमांस्तत्करोति येनात्मनो वैरंवर्द्धतें ?, इत्याह-'जमिणं' इत्यादि, 'यदि'ति यस्पादस्यैव-विशरारोः शरीरकस्य परिवृहणार्धं प्राणघातादिकाः क्रियाः करोतीति, ते च तेनोपहताः प्राणिनः पुनः शतशो घ्नन्ति, ततो मयेदं कथ्यते-कासंकषः खल्वयं पुरुषो बहुमायी कृतेन मूढः पुनस्तत्करोति येनात्मनो वैरं वर्द्धयतीति, यदिवा यदिदं मयोपदेशप्रायं पौनःपुन्येन कथ्यते तदस्यैव संयमस्य परिवृहणार्थम्, इदं चापरं कथ्यते-'अमराय' इत्यादि, अमरायेऽनमरः सन् द्रव्ययौवनप्रभुत्वरूपावसक्तोऽमर इवाचरति अमरायते, कोऽसौ ?-'महाश्रद्धी' महती चासौ श्रद्धा च महाश्रद्धा सा विद्यते भोगेषु तदुपायेषु वा यस्य स तथा--

अत्रोदाहरणं-राजगृहे नगरे मगधसेना गणिका, तत्र कदाचिद्धनः सार्थवाहो महता द्रव्यनिचयेन समन्वितः प्रविष्टः, तद्रूपयौवनगुणगणद्रव्यसम्पदाक्षिप्तया मगधसेनयाऽसाव-भिसरितः, तेन चायव्ययाक्षिप्तमानसेनासौ नावलोकिताऽपि, अस्याश्चात्मीयरूपयौवन-सौभाग्यावलोपान्महतीदुःखासिकाऽभूत्, ततश्च तांपरिम्लानवदनामवलोक्य जरासन्धेनाभ्यधायि-किं मवत्यादुःखासिका कारणं?, केन वा सार्द्धमुषितेति, सा त्ववादीद्-अमरेणेति, कथमसावमर इत्युक्ते तया सद्भाावः कथितो निरूपितश्च यावत्तथैवाद्याप्यास्त इत्यतो भोगार्थिनोऽर्थे प्रसक्ता अजरामरवळियासुप्रवर्त्तत्त इति । यश्चामरायमाणः कामभोगाभिलाषुकः स किंभूतो भवतीत्याह-'अट्ट' इत्यादि, अर्त्तिः-शारीरमानसी पीडा तत्र भव आर्त्तस्तमार्त्तममरायमाणं कामार्थं महाश्रद्धावन्तं 'प्रेक्ष्य' धष्ट्वा पर्यालोच्य वा कामार्थयोर्न मनो विधेयं इति, पुनरमरायमाणभोगश्रद्धावतः स्वरूपमुच्यते -'अपरिण्णाए'इत्यादि, कामस्वरूपं तद्विपाकं वा अपरिज्ञाय तत्र दत्तावधानः कामस्वरूपापरिज्ञया वा 'क्रन्दते' भोगेष्वप्राप्तनष्टेषु काङ्कशोकावनुभवतीति, उक्तं च--

II 9 II ''चिन्ता गते भवति साध्वसमन्तिकस्थे, मुक्ते तु तप्तिरधिका रमितेऽप्यतप्तिः । द्वेषोऽन्यभाजि वशवर्त्तिनि दग्धमानः, प्राप्तिः सुखस्य दयिते न कथश्चिदस्ति '' इत्यादि । तदेवमनेकधा कामविपाकमुपदर्श्य उपसंहरति---

मू. (९७) से तं जाणह जमहं बेमि, तेइच्छं पंडिए पवयमाणे से हंता छित्ता भित्ता लुंपइत्ता विलुंपइत्ता उद्दवइत्ता, अकडं करिस्सामित्ति मन्नमाणे, जस्सवि य णं करेइ, अलं बालस्स संगेणं, जे वा से कारइ बाले, न एवं अनगारस्स जायइ।।

ष्ट्र. 'से'ति तदर्थे तदपि हेत्वर्थे, यस्मात्कामा दुःखैकहेतवः तस्मात्तज्ञानीत यदहं ब्रवीमि, मदुपदेशं कामपरित्यागविषयं कर्णे कुरुतेति भावार्थः ननु च कामनिग्रहोऽत्र चिकीर्षितः, स चान्योपदेशादपि सिद्धत्येवेत्येतदाशङ्कयाह-'तेइच्छं' इत्यादि, कामचिकित्सां 'पण्डितः' पण्डिताभिमानी प्रवदन्नपरव्याधिचिकित्सामिवोपदिशन्नपरः-तीर्थिको जीवोपमर्दे वर्तत इति, आह-'से हंता' इत्यादि, 'स' इत्यविदिततत्त्वः कामचिकित्सोपदेशकः प्राणिनां हन्ता दण्डादिभिः छेत्ता कर्णादीनां भेत्ता शूलादिभिः लुम्पयिता ग्रन्थिच्छेदनादिना विलुम्पयिता अवस्कन्दादिना अपद्रावयिता प्राणव्यपरोपणादिना, नान्यथा कामचिकित्सा व्याधिचिकित्सा वा अपरमार्थदशां सम्पद्यते,

किंच-'अकृतं' यदपरेण न कृतं कामचिकित्सनं व्याधिचिकित्सनं वा तदहं करिष्य इत्येवं मन्यमानः हननादिकाः क्रियाः करोति, ताभिश्च कर्म्मबन्धः, अतो य एवंभूत उपदिशति यस्याप्युपदिश्यते उभयोरप्येतयोरपथ्यत्वादकार्यमिति, आह च-'जस्सवि य णं' इत्यादि, यस्याप्यसावेवंभूतां चिकित्सां करोति, न केवलं स्वस्येत्यपिशब्दार्थः, तयोर्द्वयोरपि कर्तु; कारयितुश्च हननादिकाः क्रियाः, अतो 'अलं' पर्याप्तं 'बालस्य' अज्ञस्य 'सङ्गेन' कर्म्मबन्धहेतुना कर्तुरिति, योऽप्येतत् कारयति 'बालः' अज्ञस्तस्याप्यलमिति सण्टङ्कः, एतच्चैवम्भूतमुपदेशदानं विधानं वाऽवगततत्त्त्वस्य न भवतीत्याह-'न एवं' इत्यादि, एवम्भूतं प्राण्युपमर्देन चिकित्सोपदेशदानं करणं वा 'अनगारस्य' साधोः ज्ञातंसंसारस्वभावस्य न जायते-न कल्पते, ये तु कामचिकित्सां व्याधिचिकित्सां वा जीवोपमर्देन प्रतिपादयन्ति ते बालाः-अविज्ञाततत्त्वाः, तेषां वचनमवधीरणीयमेवेति भावार्थः । इतिः परिसमाप्स्यर्थे, ब्रवीमीति पूर्ववत् ।

अध्ययनं-२, उद्देशकः-५-समाप्तः

-: अध्ययनं-२, उद्देशकः- ६ :-

ष्ट्र. उक्तः पश्चमोद्देशकः, साम्प्रतंषष्ठ आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-संयमदेहयात्रार्थं लोकमनुसरता साधुना लोकेममत्वं न कर्त्तव्यमित्युद्देशार्थाधिकारोऽभिहितः, सोऽधुना प्रतिपाद्यते-अस्य चानन्तरसूत्रसम्बन्धो वाच्यो 'नैवमनगारस्य जायत' इत्यभिहितम्, एतदेवात्रापि प्रतिपिपादयिषुराह— वृ. यस्यानगारस्थैतस्पूर्वीक्तं न जायते सोऽनगारस्तत्-प्राण्युपधातकारि चिकित्सोपदेश-दानमनुष्ठानं वा संबुद्धयमानः-अवगच्छन् ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहरज्ञादातव्यम् आदानीयं तद्य परमार्थतो भावादानीयं ज्ञानदर्शनचारित्ररूपं तद् 'उत्याये' त्यनेकार्थत्वादादाय-गृहीत्वा अथवा सोऽनगार इत्येतदादानीयं-ज्ञानाद्यपवर्गेककारणमित्येवं सम्यगवबुद्धयमानः सम्यक्संयमानुष्ठानेनोत्थाय-सर्वं सावद्यं कर्म्म न मया कर्त्तव्यमित्येवं प्रतिज्ञामन्दरमारुह्य, कत्वाप्रत्ययस्य पूर्वकालाभिधायित्वात् किं कुर्यादित्याह-'तम्हा' इत्यादि, यस्मात् संयमः सर्वसावद्यारम्भनिवृत्तिरूपः तस्मात्तमादाय पापं-पापहेतुत्वात् कर्म्म क्रियां न कुर्यात् स्वतो मनसाऽपि नसमनुजानीयादित्यवधारणफलं, अपरेणापि नकारयेदिति, आहच-'नकारवे' इत्यादि, अपरेणापि कर्म्मकरादिना पापसमारम्मं न कारयेदित्युक्तं भवति, प्राणातिपातमृषावादादत्तादान-मैथुनपरिग्रहकोधमानमायालो भरागद्वेषकलहाभ्याख्यानपैशू न्यपरपरिवादारतिर-तिमायामृषावादमिथ्यादर्शनशल्यरूपमष्टादशप्रकारं पापं कर्म्म स्वतो न कुर्यात्रापरेण कारयेदेवकाराद्यापरं कुर्वन्तं समनुजानीयाद्योगत्रिकेणापि भावार्थः । स्यादेतत्-किमेकं प्राणातिपातादिकं पापं कुर्वतोऽपरमपि ढौकते आहोस्विन्नेत्याह-

मू. (९९) सिया तत्य एगयरं विष्परामुसइ छसु अन्नयरंमि, कप्पइ, सुहडी लालष्पमाणे, सएणदुक्खेण मूढेविष्परियासमुवेइ, सएण विष्पमाएण पुढो वयं पकुव्वइ, जंसिमे पाणा पव्वहिया, पडिलेहाए नो निकरणयाए, एस परिन्ना पवुच्चइ, कम्मोवसंती ।।

**वृ.** 'स्यात्तन्न' कदाचित्तत्र पापारम्भे 'एकतरं' पृथिवीकायादिसमारम्मं विपरामृशति-पृथिवीकायादिसमारम्भं करोति, एकतरं वाऽ 5श्रवद्वारं परामृशति-आरभते स षट्स्वन्यतरस्मिन् कल्यते, यस्मिन्नेवालोच्यते तस्मिन्नेव प्रवृत्तो द्रष्टव्यः, इदमुक्तं भवति-पृथिवीकायादिषु षट्सु जीवनिकायेष्वाश्रवद्वारेषु वा मध्येऽन्यतरस्मिन्नपि प्रवर्त्तमानो यस्मिन्नेव पर्यालोच्यते तस्मिन्नेव कल्यते, सर्वस्मिन्नेव वर्त्तत इति भावार्थः । कथमन्यतरस्मिन् पृथिवीकायादिसमारम्भे वर्त्तमानोऽपरकायसमारम्भे सर्वपापसमारम्भे वा वर्त्तति इत्येवं मन्यते ?, कुम्भकारशालोद-कलावनदष्टान्तेनैककायसमारम्भकोऽपरकायसमारम्भको मवति, अथवा प्राणातिपातास्रवद्वार-विघटनादेकजीवातिपातादेककायातिपाताद्वा अपरजीवातिपाती द्रष्टव्यः, प्रतिज्ञालोपाद्यानृतो, न च तेन व्यापाद्यमानेना सुमताऽऽत्मा व्यापादकाय दत्तस्तीर्थकरेण चानुज्ञातेऽतः प्राणिनः प्राणान् गृह्लत्रदत्तग्राही, सावद्योपादानाच्च पारिग्राहिकः, परिग्रहाच मैथुनरात्रीमोजने अपि गृहीते, यतोनापरिगृहीतमुपभुज्यतेपरिभुज्यते वेत्यतोऽन्यतरारम्भे षण्णामप्यारम्भोऽथवा अनावृत्तचतुरा-श्रवद्वारस्य कथं चतुर्थषष्ठव्रतावस्थानं स्याद् ?, अतः षट्स्वन्यतरस्मिन् प्रवृत्तः सर्वेष्वपि प्रवृत्त

इति, अधवैकतरमपि पापसमारम्भं य आरभते स षट्स्वन्यतरस्मिन् कल्पते-योग्यो भवति, अकर्त्तव्यप्रवृत्तत्वाद्, अधवैकतरमपि यः पापारम्भं करोत्यसावष्टप्रकारं कर्म्मादाय षट्स्वन्यतरस्मिन् कल्पते- पौनः पुन्येनोत्सद्यत इत्यर्थः, स्यात्-किमर्थमिर्वविधं पापकं कर्म्म समारभते ?, तदुच्यते- 'सुहड्ठी लालप्पमाणे' सुखेनार्थः सुखार्थः स विद्यते यस्यासाविति मत्वर्थीयः, स एवम्भूतः सन्त्यर्थं लपति पुनः पुनर्वा लपति लालप्यते वाचा कायेन धावनवल्गनादिकाः क्रियाः करोति मनसा च तत्साधनोपायांश्चिन्तयति, तथाहि-सुखार्थी सन्कृष्यादिकर्म्भीभः पृथिवीं समारभते स्नानार्थमुदकं वितापनार्थमर्गिन धर्मापनोदार्थं वायुं आहारार्थी वनस्पतिं त्रसकायं वेत्यसंयतः संयतो वा रससुखार्थी सचित्तं लवणवनस्पतिफलादि गृह्वात्येवमन्यदपि यथासंभवमायोज्यं। स चैवं लालप्यमानः किंभूतो भवतीत्याह-'सएण'इत्यादि, यत्तदुप्तमन्यजन्मनि दुःखतरुकर्म्भबीजं तदात्सीयं दुःखतरुकार्यमाविर्मावयति, तच्च तेनैव कृत्तमित्यात्मीयमुच्यते, अतस्तेन स्वकीयेन 'दुःखेन' स्वकृतकर्म्भोदयजनितेन 'मूढः' परमार्थमजानानो 'विपर्यासमुपैति' सुखार्थी प्राण्युपधातकारणमारम्भमारभते, सुखस्य च विपर्यासो दुःखं तदुपैति, उक्तं च—

II 9 II 'दुःखद्विट् सुखलिप्सुर्मोहान्धत्वाददष्टगुणदोषः । यां यांकरोति चेष्टां तया तया दुःखमादत्ते "

यदिवा 'मूढो' हिताहितप्राप्तिपरिहाररहितो विपर्यासमुपैति-हितमप्यहितबुद्धयाऽधितिष्ठस-हितं च हितबुद्धयेति, एवं कार्याकार्यपथ्यापथ्यवाच्यावाच्यादिष्वपि विपर्यासो योज्यः, इदमुक्तं भवति-मोहोऽज्ञानं मोहनीयमेदो वा, तेनोभयप्रकारेणापि मोहेन मूढोऽल्पसुखकृते तत्तदारभते येन शारीरमानसदुःखव्यसनोपनिपातानामनन्तमपि कालं पात्रतां व्रजतीति । पुनरपि मूढस्यानर्थपरम्परां दर्शयितुमाह-'सएण' इत्यादि, स्वकीयेनात्मना कृतेन प्रमादेन-मद्यादिना 'विविध'मिति मद्यविषयकषायविकथानिद्राणां स्वभेदग्रहणं, तेन पृथग्-विभिन्नं व्रतं करोति, यदिवा पृष्टु विस्तीर्णं 'वय' मिति वयन्ति-पर्यटन्ति प्राणिनः स्वकीयेन कर्म्मणा यस्मिन् स वयः-संसारस्तं प्रकरोति, एकैकस्मिन् काये दीर्घकालावस्थानाद्, यदिवा कारणे कार्योपचारात् स्वकीयेन नानाविधप्रमादकृतेन कर्म्मणा वयः- अवस्थाविशेषस्तमकेन्द्रियादिकललार्बुदादितदर्जात-बालादिव्याधिगृहीतदारिद्यदौर्भाग्यव्यसनोपनिपातादिरूपं प्रकर्षेण करोति-विधत्त इति ।

तसिंगश्च संसारेऽवस्थाविशेषे वा प्राणिनः पीडयन्ते इति दर्शयितुमाह-

'जंसिमे' इत्यादि, यस्मिन् स्वकृतप्रमादापादितकर्म्यविपाकर्जनिते चतुर्गतिकसंसारे एकेन्द्रियाद्यवस्थाविशेषे वा 'इमे' प्रत्यक्षगोचरीभूताः 'प्राणा' इत्यमेदोपचाराद्याणिनः 'प्रव्यथिताः' नानाप्रकारेव्यसनोपनिपातैः पीडिताः, सुखार्थिभिरारम्भप्रवृत्तैर्मोहाद्विपर्यस्तैः प्रमादवद्मिश्च गृहस्थै पाषण्डिकैर्यत्यामासैश्चेति वा । यदि नामात्र प्रव्यथिताः प्राणिनस्ततः किमित्याह-'पडि' इत्यादि, एतत् संसारचक्रवाले स्वकृतकर्म्भफलेश्वराणामसुमतां गृहस्थादिभिः परस्परतो वा कर्म्यविपाकतो वा प्रव्यथनं प्रत्युपेक्ष्य विदितवेद्यः साधुर्निश्चयेन नितरां वा नियतं वा क्रियन्ते नानादुःखावस्या जन्तवो येन तन्करणं निकारः- शारीरमानसदुःखोत्पादनं तस्मै नो कर्म्म कुर्याद्, येन प्राणिनां पीडोत्पद्यते तमारम्भं न विदध्यादिति मार्वार्थः । एवं च सति किं भवतीत्याह- 'एस' इत्यादि, येयं सावद्ययोगनिवृत्तिरेषा परिज्ञा-एततत्त्वतः परिज्ञानं प्रकर्षेणोच्येत प्रोच्यते, न पुनः शैलूषस्येव ज्ञानं निवृत्तिफलरहितमिति । एवं द्विविद्ययाऽपि ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्राणिनिकारपरिहारे सति किं भवतीत्याह- 'कम्मोवसंती'त्ति कर्म्पणाम्-अशेषद्वन्द्वव्राता-त्यक्रंसारतरुबीजमूतानामुपशान्तिः-उपशमः, कर्म्याद्यः प्राणिनिकारक्रियानिवृत्तेर्भवतीत्युक्तं भवति । अस्य च कर्म्यक्षयप्रत्युहस्य प्राणिनिकरणस्य मूलमात्मात्मीयग्रहः, तदपनोदार्थमाह-मू (१००) जे ममाइयमइं जहाइ से चयइ ममाइयं, से हुदिइपहे मुनी जस्स नत्थि ममाइयं,

## तं परित्राय मेहावी विइत्ता लोगं वंता लोगसन्नं से मइमं परिक्रमिज्ञासि –त्तिबेमि ।।

**दू.** भमायितं-मामकंतत्र मतिर्ममायितमतिस्तां यः परिग्रहविपाकज्ञो 'जहाति' परित्यजति स 'ममायितं' स्वीकृतं परिग्रहं 'जहाति' परित्यजति, इह द्विविधः परिग्रहो-द्रव्यतो भावतश्च, तत्र परिग्रहमतिनिषेधादान्तरो भावपरिग्रहो निषिद्धः, परिग्रहबुद्धिविषयप्रतिषेधाच्च बाह्यो द्रव्यपरिग्रह इति । अयवा काक्वा नीयते, यो हि परिग्रहाध्यवसायकलुषितं ज्ञानं परित्यजति स एव परमार्थतः सबाह्याभ्यन्तरं परिग्रहं परित्यजति, ततश्चेदमुक्तं मवति-सत्यपि सम्बन्धमात्रे वित्तस्य परिग्रहकालुष्यामावात्रगरादिसम्बन्धः पृथ्वीसम्बन्धेऽपि जिनकल्पिकस्येव निष्परिग्रहतैव, यदि नामैवं ततः किमित्याह-'से हु' इत्यादि, यो हि मोक्षैकविघ्नहेतोः संसारभ्रमणकारणात् परिग्रहात्रिवृत्ताध्यवसायः, हुः अवधारणे, स एव मुनिः दृष्टो ज्ञानादिको मोक्षपथो येन स दृष्टपथः, यदिवा ६ष्टभयः- अवगतसप्तप्रकारभयः शरीरादेः परिग्रहात्साक्षात्पारम्पर्येण वा पर्यालोच्यमानं सप्तप्रकारमपि भयमापनीपद्यतइत्यतः परिग्रहपरित्यागे ज्ञात्तभयत्वमवसीयत इति । एतदेव पूर्वोक्तं स्पष्टयितुमाह—

'जस्स' इत्यादि, यस्य 'ममायितं' स्वीकृतं परिग्रहो न विद्यते स ध्र्ष्टमयो मुनिरिति सम्बन्धः, र्किच-'तं' इत्यादि, 'तं' पूर्वव्यावर्णितस्वरूपं परिग्रहं द्विविधयाऽपि परिज्ञया परिज्ञाय 'मेधावी' ज्ञातज्ञेयो विदित्वा 'लोकं' परिग्रहाग्रहयोगविपाकिनमेकेन्द्रियादिप्राणिगणं 'वान्त्वा' उद्गीर्य 'लोकस्य' प्राणिगणस्य संज्ञा दश्तप्रकारा अतस्तां 'स' इति मुनिः, किंमूतो ?-- 'मतिमान्' स्दसदिवेकज्ञः 'पराक्रमेथाः' संयमानुष्ठाने समुद्यच्छेः, संयमानुष्ठानोद्योगं सम्यग्विदध्याइतियावद्, अथवाऽष्टप्रकारं कर्म्मारिषड्वर्गं वा विषयकषायान् वा पराक्रमस्वेति, इतिरधिकारसमाप्तौ, इ वीमीति पूर्ववत् । स एवं संयमानुष्ठाने पराक्रममाणस्त्यक्तपरिग्रहाग्रहयोगो मुनिः किंमूतो मवतीत्याह-

# मू. (९०९) नारइं सहई वीरे, चीरे न सहई रतिं । जम्हा अविमणे वीरे, तम्हा वीरे न रज्जइ ।।

वृ. तस्य हित्यक्तगृहगृहिणीधनहिरण्यादिपरिग्रहस्य निष्किश्चनस्य संयमानुष्ठानं कुर्वतः साधोः कदाचिन्मोहनीयोदयादरतिराविः स्यात्, तामुत्पन्नां संयमविषयां 'न सहते' न क्षमते, कोऽसौ ?- विशेषेणेरयत्ति-प्रेश्यति अप्टप्रकारं कम्मारिषड्वर्गं वेति वीरः-शक्तिमान्, स एव वीरोऽसंयमे विषयेषु परिग्रहे वा या रतिरुत्पद्यते तां 'न सहते' न मर्थति, या चारतिः संयमे विषयेषु च रतिस्ताभ्यां विमनीभूतः शब्दादिषु न रज्यति, अतो रत्यरतिपरित्यागान्न विमनस्को भवतिनापि रागमुपयातीतिदर्शयति-यस्मात्त्यक्तरत्यरतिरविभना वीरस्तस्मात् कारणाद्वीरो 'न रज्यति' शब्दादिविषयग्रामे न गाद्घ्यं विदघाति । यत एवं ततः किमित्याह—

मू. (१०२) सद्दै फासे अहियासमाणे निव्विंद नंदिं इह जीवियस्स । मुनी मोनं समायाय, धुणे कम्पसरीरगं ।।

वृ. यस्माद्वीरो रत्यरती निराकृत्य शब्दादिषु विषयेषु मनोझेषु न रागमुपयाति, नापि दुष्टेषु द्वेषं, तस्माच्छब्दान् स्पर्शाश्च मनोझेतरमेदमिन्नान् 'अहियासमाणे'त्ति सम्यक् सहमानो निर्विद नन्दीत्युत्तरसूत्रेण सम्बन्धः, एतदुक्तं मवति-मनोझान् शब्दान् श्रुत्वा न रागमुपयाति, नापीतरान् द्वेष्टि, आद्यन्तग्रहणाचेतरेषामप्युपादानं द्रष्टव्यं, तत्राप्यतिसहनं विधेयमिति, उक्तं-

''सद्देसु अ भद्दयपावएसु, सोयविसयमुवगएसु । तुट्ठेण व रुट्ठेण व समणेण सया न होअव्वं

एवं रूवेसु अ भद्दयपावएसु। तहा गंधेसु अ ०॥'' इत्यादि वाच्यं, ततश्च शब्दादीन्विषया-नतिसहमानः किं कुर्यादित्याह- 'निव्विंद' इत्यादि, इहोपदेशगोचरापत्रो विनेयोऽभिधीयते, सामान्येन वा मुमुक्षोरयमुपदेशः, निर्विन्दस्व जुगुप्सस्व ऐश्वर्यविभवात्मिका मनसस्तुष्टिर्नन्दिस्ताम् 'इह' मनुष्यलोके यज्जीवितमसंयमजीवितं वा तस्य या नन्दिः-तुष्टिः प्रमोदो यथा ममैतत्समृद्धया-दिकमभूद्मवति भविष्यति वेत्येवंविकल्पजनितां नन्दीं जुगुप्सस्व-यथा किमनया पापोपादा-नहेतुभूतयाऽस्थिरयेति ?, उक्तं च-

II 9 II विभव इति किं मदस्ते ?, च्युतविभवः किं विषादमुपयासि ? I

करनिहितकन्दुकसमाः, पातोत्पाता मनुष्याणाम् "

एवं रूपबलादिष्वपि वाच्यं, सनत्कुमारध्धान्तेनेति, अयवा पञ्चानामप्यतीचाराणामतीतं निन्दति प्रत्युत्पन्नं संवृणोत्यनागतं प्रत्याचष्टे, स्यादेतत्-किमालम्ब्य करोतीत्याह-'मुनी' त्यादि, मुनिस्त्रिकालवेदी यतिरित्यर्थः, मुनेरयं मौनः-संयमो, यदिवा मुनेर्मावः मुनित्वं तदप्यसावेव मौनं वा वाचः संयमनम्, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात् कायमनसोरपि, अतः सर्वथा संयममादाय, किं कुर्यात् ?-धुनीयात् कर्म्पशरीरकं औदारिकादिशरीरं वा, अथवा 'धुनीहि' विवेचय पृथक्कुरु तदुपरिममत्वं माविधत्स्वेति मावार्थः । कथंतच्छरीरकंधूयते, ममत्वं वा तदुपरिन कृतं भवतीत्याह-

मू. (१०३) पंतं लूहं सेवंति वीरा संमत्तदंसिणो । एस ओहंतरे मुनी तिन्ने मुत्ते विरए वियाहिए– तिबेमि ।।

ष्ट्र. 'प्रान्तं' स्वाभाविकरसरहितं स्वल्पं वा 'रूक्षम्' आगन्तुकस्नेहादिरहितं द्रव्यतो भावतोऽपि प्रान्तं-द्वेषरहितं विगतधूमं रूक्षं-रागरहितमपगताङ्गारं 'सेवन्ते' मुझते, के ? - 'वीराः' साधवः, किंभूताः ? - 'समत्वदर्शिनः' रागद्वेषरहिताः सम्यकत्वदर्शिनो वा-सम्यक् तत्त्त्त्वं सम्यकत्वं तद्दर्शिनः परमार्थदेशः, तयाहि-इदं शरीरकं कृतघ्नं निरुपकारि एतत्कृते प्राणिनः ऐहिकामुष्मिक क्लेशभाजो भवन्ति, अनेकादेशे चैकादेश इतिकृत्वा, प्रान्तरूक्षसेवी समत्वदर्शी च कं गुणमवाप्नोतीत्याह-'एस' इत्यादि, एष इतिप्रान्तरूक्षाहारसेवनेन कर्मादिशरीरं धुनानो भावतो भवौधं तरतीति । कोऽसौ ? - 'मुनिः' यतिः, अथवा क्रियमाणं कृतमितिकृत्वा तीर्ण एव भवौधं, कश्च भवौधं तरतीते । कोऽसौ ? - 'मुनिः' यतिः, अथवा क्रियमाणं कृतमितिकृत्वा तीर्ण एव भवौधं, कश्च भवौधं तरति ? - यो 'मुक्तः' सबाह्याभ्यन्तरपरिग्रहरहितः, कश्च परिग्रहान्मुक्तो भवति ?-यो भावतः शब्दादिविषयाभिष्वङ्गाद्विरतः, ततश्च यो मुक्तत्वेन विरतत्वेन वा विख्यातो मुनिः स एव भवौधं तरति, तीर्ण एवेति वा स्थितम् । इतिरधिकार परिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । यश्च मुक्तत्वविरतत्वाभ्यां न विख्यातः स किंभूतो भवतीत्याह–

मू. (१०४) दुव्वसुमुणी अणाणाए, तुच्छए गिलाइ वत्तए, एस वीरे पसंसिए, अमेइ लोयसंजोगं, एस नाए पवुच्चइ।

11911

**वृ.** वसु-द्रव्यमेतच्च भव्येऽर्थे व्युत्पादितं 'द्रव्यं च भव्य' इत्यनेन, भव्यश्च-मुक्तिगमनयोग्यः, ततश्च मुक्तिगमनयोग्यं यद्रव्यं तद्वसु, दुष्टं वसु दुर्वसु दुर्वसु चासौ मुनिश्च दुर्वसुमुनिः-मोक्षगमनायोग्यः, स च कुतो भवति ?- अनाज्ञया तीर्थंकरोपदेशशून्यः स्वैरीत्यर्थः, किमन्न तीर्थकरोपदेशे दुष्करं येन स्वैरित्वमभ्युपगम्यते ?, तदुच्यते-उद्देशकादेरारभ्य सर्वं ययासम्भ-वमायोज्यं, तथाहि-मिथ्यात्वमोहिते लोके संबोद्धं दुष्करं व्रतेष्वात्सानमध्यारोपयितुं रत्यरती निग्रहीतुं शब्दादिविषयेष्विष्टानिष्टेषु मध्यस्थतां भावयितुं प्रान्तरूक्षाणि मोक्तुम्, एवं यथोहिष्टया मौनीन्द्राज्ञया असिधारकल्पया दुष्करं सञ्चरितुं, तथाऽनुकूलप्रतिकूलांश्च नानाप्रकारानुपसर्गान् सोढुम्, असहने चकर्मोदयोऽनाद्यतीतकालसुखभावना च कारणं, जीवो हि स्वभावतो दुःखभीरुरनिरोधसुखप्रियः, अतो निरोधकल्पायामाज्ञायां दुःखं वसति, अवसंश्च किंभूतो भवतीत्याह--

'तुच्छ' इत्यादि, तुच्छो-रिक्तः, स च द्रव्यतो निर्द्धनो घटादिर्वा जलादिरहितो भावतो ज्ञानादिरहितः, ज्ञानादिरहितो हिक्वचित्संशीतिविषये केनचित्पृष्टोऽपरिज्ञानात् ग्लायति वक्तुं, ज्ञानसमन्वितो वा चारित्ररिक्तः पूजासत्कारभयात् शुद्धमार्गप्ररूपणावसरे ग्लायति यथावस्थितं प्रज्ञापयितुं, तथाहि-प्रवृत्तसन्निधिः सन्निधेर्निर्दोषतामाचष्टे, एवमन्यत्रापीति । यस्तु कषायमहाविषागदकल्पभगवदाज्ञोपजीवकः स सुवसुर्मुनिर्भवत्यरिक्तो न ग्लायति च वक्तुं, यथावस्थितवस्तुपरिज्ञानादनुष्टानाच्च, आह च-'एस' इत्यादि, 'एष' इति सुवसुमुनिर्ज्ञानाद्यरिक्तो यथावस्थितवस्तुपरिज्ञानादनुष्टानाच्च, आह च-'एस' इत्यादि, 'एष' इति सुवसुमुनिर्ज्ञानाद्यरिक्तो यथावस्थितमार्गप्ररूपको वीरः कर्म्मविदारणात् 'प्रशंसित्तः' तद्विद्मिः श्लाधित इति । किं च-'अचेई' त्यादि, स एवं भगवदाज्ञानुवर्त्तको वीरोऽत्येति-अतिक्रामति,

कं ?-'लोकसंयोगं' लोकेनासंयतलोकेन संयोगः- सम्बन्धः ममत्वकृतस्तमत्येति, अथवा लोको बाह्योऽभ्यन्तरश्च, तत्र बाह्यो धनहिरण्यमातृपित्रादिः आन्तरस्तु रागद्वेषादिस्तत्कार्यं वा अष्टप्रकारं कर्म्मतेन सार्द्ध संयोगमत्येति-अतिलङ्कयतीत्युक्तं भवति । यदि नामैवं ततः किमित्याह-'एस' इत्यादि, योऽयं लोकसंयोगातिक्रमः 'एष न्यायः' एष सन्मार्गः मुमुक्षूणामयमाचारः 'प्रोच्यते' अभिधीयते, अथवा परम् आत्मानं च मोक्षं नयतीति छान्दसत्वात्कर्त्तरि धञ् नायः, यो हि त्यक्त-लोकसंयोग एष एव परात्मनो मोक्षस्य न्यायः प्रोच्यते-मोक्षप्रापकोऽभिधीयते सदुपदेशात्। स्यादेतत्-किंभूतोऽसावुपदेश इत्यत आह—

मू. (9०५) जं दुक्खं पवेइयं इह माणवाणं तस्स दुक्खस्स कुसला परित्रमुदाहरति, इह कम्पं परित्राय सव्वसो जे अणन्नदंसी से अणन्नारामे जे अणन्नारामे से अणन्नदंसी, जहा पुन्नस्स कत्यइ तहा तुच्छस्स कत्यइ जहा तुच्छस्स कत्यइ तहा पुण्णस्स कत्यइ ।।

**ष्ट्र.** यद्दःखं दुःखकारणं वा कर्म्मलोकसंयोगात्मकं वा 'प्रवेदितं' तीर्थकृद्भिरावेदितं 'इह' अस्मिन् संसारे 'मानवानां' जन्तूनां, ततः किं ?- तस्य 'दुःखस्य' असातलक्षणस्य कर्मणो वा 'कुशला' निपुणा धर्म्मकयालब्धिसम्पन्नाः स्वसमयपरसमयविद उद्युक्तविहारिणो यथावादिन-स्तथाकारिणोजितनिद्राजितेन्द्रियादेशकालादिक्रमज्ञास्ते एवंभूताः परिज्ञाम्उपादानकारणपरिज्ञानं निरोधकारणपरिच्छेदं चोदाहरन्ति ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहरन्ति परिहारयन्ति च । किं च - 'इति कम्मं इत्यादि, इतिः पूर्वप्रकान्तपरामर्शको यत्तदुःखं प्रवेदितं मनुजानां यस्य च दुःखस्य परिज्ञानं कुशला उदाहरन्ति तदुःखं कर्म्मभूतं तत्कर्माष्टप्रकारं परिज्ञाय तदाश्रवद्वाराणि च, तद्यथा-ज्ञानप्रयलीकतया ज्ञानावरणीयमित्यादि, प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याख्याय तदाश्रवद्वारेषु 'सर्वशः' सर्वैः प्रकारैयोंगत्रिककरणत्रिकरूपैर्न वर्त्तेत, अथवा सर्वशः परिज्ञाय कथयति, सर्वशः परिज्ञानं च केवलिनो गणधरस्य चतुर्द्दशपूर्वविदो वा, यदिवा सर्वशः कथयति आक्षेपण्याद्या चतुर्विधया धर्मकथयेति । सा च कीध्क्रथेत्याह-'जे' इत्यादि, अन्यद्रष्टुं शीलमस्येत्यन्यदर्शी यस्तथा नासावनन्यदर्शी-यथावस्थितपदार्थद्रथ, कश्चैवंभूतो ? -यः सम्यग्दष्टिर्मीनीन्द्रप्रवचनाविर्भूततत्त्वार्थो, यश्चानन्यदर्शी-यथावस्थितपदार्थद्रथ, कश्चैवंभूतो ? -यः सम्यग्दष्टिर्मीनीन्द्रप्रवचनाविर्भूततत्त्वार्थो, यश्चानन्यदृष्टिः सोऽनन्यारामो-मोक्षमार्गादन्यत्र न रमते । हेतुहेतुमद्भाावेन सूत्रं लगयितुमाह-'जे' इत्यादि, यश्च भगवदुपदेशादन्यत्र न रमते सोऽनन्यदर्शी, यश्चैवम्भूतः सोऽन्यत्र न रमत इति, उक्तं च–

### II 9 II "शिवमस्तु कुशास्त्राणां वैशेषिकषष्टितन्त्राबौद्धानाम् । येषां दुर्विहितत्वाद्भगवत्यनुरज्यते चेतः ''

इत्यादि । तदेवं सम्यकत्वस्वरूपमाख्यातं कथयंश्चारक्तद्विष्टः कथयतीति दर्शयति - 'जहा पुन्नस्स' इत्यादि, तीर्थकरणगधराचार्यादिना येन प्रकारेण 'पुण्यवतः' सुरेश्वरचक्रवर्त्तिमाण्ड-लिकादेः 'कथ्यते' उपदेशो दीयते 'तथा' तेनैव प्रकारेण 'तुच्छस्य' द्रमकस्य काष्ठहारकादेः कथ्यते, अथवा पूर्णो जातिकुलरूपाद्युपेतस्तद्विपरीतस्तुच्छो, विज्ञानवान् या पूर्णस्ततोऽन्यस्तुच्छ इति, उक्तं च-

11911

''ज्ञानैश्वर्यधनोपेतो, जात्यन्वयबलान्वितः।

तेजस्वी मतिमान् ख्यातः, पूर्णस्तुच्छो विपर्ययात् ''

एतदुक्तं भवति-यथा द्रमकादेस्तदनुग्रहबुद्धया प्रत्युपकारनिरपेक्षः कथयत्येवं चक्रवत्यादेरपि, यथा वा चक्रवत्यादेः कथयत्यादरेण संसारोत्तरणहेतुमेवमितरस्यापि, अत्र च निरीहता विवक्षिता, न पुनरयं नियमः- एकरूपतयैव कथनीयं, तथा हि-यो यथा बुध्यते तस्य तथा कथ्यते, बुद्धिमतो निपुणं स्थूलबुद्धेस्त्वन्यथेति, राज्ञश्च कथयता तदभिप्रायमनुवर्त्तमानेन कथनीयं, किमसावभिगृहीतमिध्यार्धष्टेरनभिगृहीतो वा संशीत्यापन्नो वा ?, अभिगृहीतोऽपि कुतीर्थिकैव्युद्ग्राहितःस्वत एव वा ?, तस्य चैवम्भूतस्य यद्येवं कथयेद्यथा-

॥१॥ "दशसूनासमश्चक्री, दशचक्रिसमो ध्वजः ।

दशध्वजसमा वेश्या, दशवेश्यासमो नृपः ''

तद्भक्तिविषयरुद्रादिदेवताभवनचरितकथने च मोहोदयात्तथाविधकर्म्भोदये कदाचिदसौ प्रद्वेषमुपगच्छेद्, द्विष्टश्चैतद्विदध्यादित्याह च-

मू. (90६) अवि य हणे अणाइयमाणे, इत्थंपि जाण सेयंति नत्थि, केयं पुरिसे कं च नए?, एस वीरेपसंसिए, जे बद्धे पडिमोयए, उड्ढं अहंतिरियं दिसासु, से सव्वओ सव्वपरिश्राचारी, न लिप्पई छणपएण, वीरे, से मेहावी अणुग्धायणखेयन्ने, जे य बन्धपमुक्खमन्नेसी कुसले पुण नो बद्धे नो मुक्के ।

वृ. अपिः सम्भावने, आस्तां तावद्वाचा तर्छनम्, अनाद्रियमाणो ह्रन्यादपि, चशब्दा-दन्यदप्येवंजातीयक्रोधाभिभूतो दण्डकशादिना ताडयेदिति, उक्तं च--

(1 ) ।। "तत्येव य निट्ठवणं बंधण निच्छुभण कडगमद्दो वा । निच्चिसयं व नरिंदो करेज संधंपि सो कुद्धो " तथा तद्यनिकोपासको नन्दबलात् बुद्धोत्पत्तिकथानकाद्मागवतो वा मल्लिगृहोपाख्यानाद्रौद्रौ वा पेठालपुत्रसत्यक्युमाव्यतिकराकर्णनात् प्रद्वेषमुपगच्छेत्, द्रमककाणकुण्टादिर्वा कश्चित्तमेवोद्दिश्योद्दिश्य धर्म्भफलोपदर्शनेनेति। एवमविधिकथनेनेहैव तावद्बाधा, आमुष्मिकोऽपि नकश्चिद्युणोऽस्तीत्याहच-'एत्यंपि' इत्यादि, मुमुक्षोः परहितार्थंधर्म्मकथांकथयतत्सावसुन्यमस्ति, परिषदं त्वविदित्वाऽनन्तरोपवर्णितस्वरूपकथने 'अत्रापि' धर्म्मकथांकथयतत्सावसुन्यमस्ति, परिषदं त्वविदित्वाऽनन्तरोपवर्णितस्वरूपकथने 'अत्रापि' धर्म्मकथाकथयतत्सावसुन्यमस्ति, परिषदं त्वविदित्वाऽनन्तरोपवर्णितस्वरूपकथने 'अत्रापि' धर्म्मकथाकथयतत्सावसुन्यमस्ति, परिषदं त्वविदित्वाऽनन्तरोपवर्णितस्वरूपकथने 'अत्रापि' धर्म्मकथिकमपि 'श्रेयः' पुन्य-मित्येतन्नास्तीत्येवं जानीहि, यदिवाऽसौ राजादिरनाद्रियमाणस्तं साधुं धर्म्मकथिकमपि हन्यात् । कथमित्याह-'एत्थपी'त्यादि, यद्यवत्त्री पशुवधतर्प्थणादिकं धर्म्मकारणमुपन्यस्यति तत्त्तदसौ धर्म्कथिकोऽत्रापि श्रेयो न विद्यते इत्येवं प्रतिहन्ति, यदिवा यद्यविधिकथनं तत्र तत्रेदमुपतिष्ठते-अत्रापि श्रेयो नात्तीति, तथाहि-अक्षरकोविदपरिषदि पक्षहेतुद्ध्यन्ताननाहंत्य प्राकृतभाषया कथनमविधिरितरस्यां चान्यथेति। एवं च प्रवचनस्य हीलनैव केवलं कर्म्भबन्धश्च, न पुनः श्रेयो, विधिमजानानस्य मौनमेव श्रेय इति, उक्तं च—

II 9 II ''सावझणवझाणं वयणाणं जो न याणइ विसेसं i वुत्तुंपि तस्स न खमं किमंग पूण देसणं काउं ? ''

स्यादेतत्-कथं तर्हि धर्म्मकथा कार्येत्युच्यते-'कोऽयं' इत्यादि, यो हि दश्येन्द्रियो विषयविषपराङ्चुखः संसारोद्विग्नमना वैराग्याकृष्यमाणहृदयो धर्म्मं पृच्छति, तेनाचार्यादिना धर्म्मकथिकेनासौ पर्यालोचनीयः- कोऽयं पुरुषो ?,मिथ्याध्ष्टिरुत भद्रकः, केन वाऽऽशयेनायं पृच्छति, कं च देवताविशेषं नतः, किमनेन दर्शनमाश्रितमित्येवमालोच्य यथायोग्यमुत्तरकालं कथनीयं, एतदुक्तं भवति-धर्म्मकथाविधिज्ञो ह्यात्मना परिपूर्णः श्रोतारमालोचयतिद्रव्यतः- क्षेत्रतः किमिदं क्षेत्रं तच्चनिकैर्भागवतैरन्यैर्वा तज्ञातीयैः पार्श्वस्थादिभिर्वोत्सर्गरुचिभिर्वा मावितं, कालतो दुष्षमादिकं कालं दुर्ल्तमद्रव्यकालं वा, भावतोऽरक्तद्विष्टमध्यस्थभावापन्नमेवं पर्यालोच्य यथायथाऽसौ बुध्यते तथा तथा धर्म्मकथा कार्या, एवमसौ धर्म्मकथायोग्यः, अपरस्य त्वधिकार एव नास्तीति, उक्तं च--

।। ९ ।। 🛛 ''जो हेउवायपक्खंमि हेउओ आगमम्मि आगमिओ ।

सो ससमयपन्नवओ सिद्धंतविराहओ अन्नो "

य एवं धर्म्मकथाविधिज्ञः स एव प्रशस्त इत्याह च-'एस' इत्यादि, यो हि yण्यापुण्यवतोर्धर्म्मकथासमध्रिर्विधिज्ञः श्रोतृविवेचकः 'एषः' अनन्तरोक्तो 'वीरः कर्म्मविदारकः 'प्रशंसितः' श्लाधितः । किंभूतश्च यो भवतीत्याह-'जे बद्धे' इत्यादि, यो ह्यष्टप्रकारेण कर्म्मणा स्नेहनिगडादिना वा बद्धानां जन्तूनां प्रतिमोचकः धर्म्मकथोपदेशदानादिना, सच तीर्थकृद्गणघर आचार्यादिर्वा यथोक्तधर्म्मकयाविधिज्ञ इति । क्व पुनर्व्यवस्थितान् जन्तून् मोचयतीत्याह-'उड्ढं' इत्यादि, ऊर्द्धंज्योतिष्कादीन् अधो भवनपत्यादीन् तिर्यक्ष मनुष्यादीनिति । किं च-'से सच्वओ' इत्यादि, 'स' इति वीरो बद्धप्रतिमोचकः 'सर्वतः' सर्वकालं सर्वपरिज्ञया द्विविधयाऽपि चरितुं शीलमस्येति सर्वपरिज्ञाचारी-विशिष्टज्ञानान्वितः सर्वसंवरचारित्रोपेतो वा, स एवंभूतः कं गुणमवाप्नोतीत्याह-'न लिप्पई'त्यादि, 'न लिप्यते;' नावगुण्ठयते, केन ?- 'क्षणपदेन' हिंसास्पदेन प्राण्युपमर्दजनितेन, 'क्षणु हिंसायामि'त्यस्थैतद्रूपं।कोऽसौ ?, वीर इति। किमेतावदेव वीरलक्षण- मुतान्यदप्य (स्त्य)स्तीत्याह- 'से मेहावी'त्यादि, स 'मेधावीबुद्धिमान् यः 'अणोद्धातनस्य खेदज्ञः' अणत्यनेन जन्तुगणश्चतुर्गतिकं संसारमित्यणं कर्म्म तस्योत्-प्राबल्येन घातनम्-अपनयनं तत्य तत्र वा खेदज्ञो-निपुणः, इह हि कर्म्मक्षपणोद्यतानां मुमुक्षूणां यः कर्म्मक्षपणविधिज्ञः स मेधावी कुशलो वीर इत्युक्तं भवति, किं चान्यत्-'जे य' इत्यादि, यश्च प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशरूपस्य चतुर्विधस्यापि बन्धस्य यः प्रमोक्षः तदुपायो वा तमन्वेष्टुं-मृगयितुं शीलमस्येत्यन्वेषी, यश्चैवन्भूतः सवीरो मेधावी खेदज्ञ इति पूर्वेण सम्बन्धः, अणोद्धातनस्य खेदज्ञ इत्यनेन मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नस्य योगनिमित्तायातस्य कषायस्थितिकस्य कर्म्पणो बघ्यमानावस्थां बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचितरूपां तदपनयनोपायं च वेत्तीत्येतदभिहितं, अनेन चापनयनानुष्ठानमिति न पुनरुक्तदोषानुषङ्गः प्रसजति

स्यादेतत्-योऽयमणोद्धातनस्य खेदज्ञो बन्धमोक्षान्वेषको वाऽभिहितः स किं छद्रास्य आहोस्वित् केवली ?, केवलिनो यथोक्तविशेषणासम्भवात् छद्रास्यग्रहणं, केवलिनस्तर्हि का वार्तेति ?, उच्यते-'कुसले' इत्यादि कुशलोऽत्र क्षीणघातिकर्म्मांशो विवक्षितः, स च तीर्थकृत् सामान्यकेवली वा छद्दास्थो हि कर्म्मणा बद्धो मोक्षार्थी तदुपायान्वेषकः, केवली तु पुनर्धातिकर्म्मक्षयात्रोबद्धो भवोपग्राहिकर्म्मसद्भावान्नो मुक्तो, यद्विछद्मस्य एवाभिधीयते-'कुशलः' अवाप्तज्ञानदर्शनचारित्रो मिथ्यात्वद्वादशकषायोपशमसद्भावात् तदुदयवानिवन बद्धोऽदद्यापि तत्सत्कर्म्मतासद्भाावान्नो मुक्त इति । एवम्भूतश्च कुशलः केवली छद्रास्थो वा यदाचीर्णवानाचरति वा तदपरेणापि मुमुक्षुणा विधेयमिति दर्शयति-

मू. (१०७) से जं च आरभे जं च नारभे, अनारद्धं च न आरभे, छणं छणं परिन्नाय लोगसन्नं च सव्वसो।।–

**वृ.** 'स' कुशलो यदारभते आरब्धवान् वा अशेषकर्म्मक्षपणोपायं संयमानुष्ठानं यद्य नारभते मिथ्यात्वाविरत्यादिकं संसारकारणं, तदारब्धव्यमारम्भणीयमनारब्धमनारम्भणीयं चेति, संसारकारणस्य च मिथ्यात्वाविरत्यादेः प्राणातिपाताद्यष्टादशरूपस्य चैकान्तेन निराकारयत्वात्, तन्निषेधे च विधेयस्य संयमानुष्ठानस्य सामर्थ्यावातत्वात्तन्निषेधमाह - 'अनारद्धं च' इत्यादि, अनारब्धम्-अनाचीर्णं केवलिभिर्विशिष्टमुनिभिर्वा तन्मुमुक्षुर्नारभते-न कुर्यादित्युपदेशो, यद्य मोक्षाङ्गमाचीर्णं तत्कुर्यादित्युक्तं भवति । यत्तद्भगवदनाचीर्णं परिहार्यं तन्नामग्राहमाह - 'छणं' छणं' इत्यादि, 'क्षणु हिंसायां' क्षणनं क्षणो-हिंसनं कारणे कार्योपचारात् येन येन प्रकारेण हिंसोत्पद्यते तत्तञ्ज्ञापरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेद्, यदिवा क्षणः-अवसरः कर्त्तव्यकालस्तं तं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वाऽऽसेवनापरिज्ञया च आचरेदिति । किं च - 'लोयसन्नं' इत्यादि, 'लोकस्य' गृहस्थलोकस्य संज्ञानं संज्ञा-विषयाभिष्वङ्गजनितसुखेच्छा परिग्रहसंज्ञा वा तां च ज्ञपर्रिजया ज्ञात्या प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहरेत्, कयं ? - 'सर्वशः' सर्वैः प्रकारैर्योगत्रिककरणत्रिकेणेल्पर्थः, तस्यैवंविधस्य यथोक्तगुणावस्थितस्य धर्म्पकथाविधिज्ञस्य बद्धप्रतिमोच्यकस्य कर्म्नो-द्धातनखेदज्ञस्य बन्धमोक्षान्वेषिणः सत्यथव्यवस्थितस्य कुमार्गनिराचिकीर्षोहिंसाद्यद्व दशपापस्थान- विरतस्यावगत्तलोकसंज्ञस्य यद्भवति तद्दर्शयति –

मू. (१०८) उद्देसो पासगस्स नत्थि, बाले पुणे निहे कामसमणुन्ने असमियदुक्खे दुक्खी दुक्खाणमेव आवहं अनुपरियहइ– त्तिबेमि॥ **वृ**. उद्दिश्यते नारकादिव्यपदेशेनत्युद्देशः स 'पश्यकस्य' परमार्थ६शो न विद्यते इत्यादीनि च सूत्राण्युद्देशकपरिसमाप्तिं यावत्तृ तीयोद्देशके व्याख्यातानि, तत एवार्थोऽवगन्तव्यः, आक्षेपपरिहारौ चेति । तानि चामूनि बालः पुनर्निहः काम समनुज्ञः अशमितदुःखः दुःखी दुखानामेवावर्त्तमनुपरिवर्त्तते । इतिः परिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥

## अध्ययनं-२ उद्देशकः-६ समाप्तः

तत्परिसमाप्तौ चोक्तः सूत्रानुगमः सूत्रालापकनिष्पन्ननिक्षेपश्च ससूत्रस्पर्शनिर्युक्तिकः । साम्प्रतं नैगमादयो नयाः, ते चान्यत्र न्यक्षेण प्रतिपादिता इति नेह प्रतन्यन्ते, संक्षेपतस्तु ज्ञानक्रियानयद्वयान्तर्गतत्वात्तेषां तावेव प्रतिपाद्येते, तयोरप्यात्मीयपक्षसावधारणतया मोक्षाङगत्वामावात् प्रत्येकं मिथ्याद्धष्टित्वम्, अतः पङ्गचन्धवत् परस्परसापेक्षतयेष्टकार्यावा-त्तिरवगन्तव्येति उपगम्यते ।।

अध्ययनं-२ समाप्तम्

## मुनि दीपरल सागरेण संशोधिता सम्पादिता शीलाङ्काचार्य विरचिता प्रथम श्रुतस्कन्धे द्वीतीय अध्ययन टीका परि समाप्ता।

( अध्ययनं-३ - शीतोष्मीयं )

वृ उक्तं द्वितीयमध्ययनं, साम्प्रतं तृतीयमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, तत्र शस्त्रपरिज्ञायामस्यार्थाधिकारोऽभाणि, यथाशीतोष्णयोरनुकूलप्रतिकूलपरिषहयोरतिसहनंकर्त्तव्यं, तदधुना प्रतिपाद्यते, अध्ययनसम्बन्धस्तु शस्त्रपरिज्ञोक्तमहाव्रतसम्पन्नस्य लोकविजयाध्ययन-प्रसिद्ध संयमव्यवस्थितस्य विजितकषायादिलोकस्य मुमुक्षोः कदाचिदनुलोमप्रतिलोमाः परीषहाः प्रादुष्वन्ति, तेऽविकृतान्तः करणेन सम्यक्, सोढव्या इत्यनेन सम्बन्धेनायातमिदमध्ययनम्, अस्य चोपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमेऽर्थाधिकारो द्वेधा, तत्राष्यध्ययना-र्थाधिकारोऽभिहितः, उद्देशार्थाधिकारप्रतिपादनार्थं तु निर्युक्तकार आह -

नि. [१९८] पढमे सुत्ता अस्संजयत्ति १ बिइएँ दुहं अनुहवंति २ ।

तइए न हु दुक्खेणं अकरणयाए व समणुत्ति ३ ॥

नि. [१९९] उद्देसंभि चंउत्थे अहिगारो उ वमणं कसायाणं । पावविरईओ विउणो उ संजमो इत्य मुक्खुत्ति ४ ॥

वृ. प्रथमोद्देशकेऽयमर्थाधिकारो, यथा-भावनिद्रया सुप्ताः-सम्यगविवेकरहिताः, के ?-असंयताः- गृहस्थास्तेषां च भावसुप्तानां दोषा अभिधीयन्ते, जाग्रतां च गुणाः, तद्यथा -'जरामद्युवसोवणीएनरे' इत्यादि १, द्वितीये तु त एवासंयता यथा भावनिद्रापन्ना दुःखमनुभवन्ति तथोच्यते, तद्यथा - 'कामेसु गिद्धा निचयं करंति' २, तृतीये तु 'न हु' नैव दुःखसहनादेव केवलाच्छ्रमणः अकरणतयैव-अक्रिययैव संयमानुष्ठानमन्तरेणेत्यर्थः, वक्ष्यति च - 'सहिए दुक्खमायाय तेणेव य पुट्ठो नो झंझाए' ३, चतुर्थोद्देशके त्वयमधिकारो, यथा-कषायाणां वमनं कार्यं, पापस्य च कर्म्सणो विरतिः, 'विदुषो' विदितवेद्यस्य संयमोऽत्रैव प्रतिपाद्यते, क्षपकश्रेणिप्रक्रमात् केवलं भवोपग्राहिक्षयान्मोक्षश्चेति गाथाद्वयार्थः ॥ नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे शीतोष्णीयमध्ययनमतः शीतोष्णयोर्निक्षेपं निर्दिदिक्षुराह -

नि. [२००] नामं ठवणा सीयं दव्वे मार्वे य होइ नायव्वं । एमेव य उण्हरसवि चउव्विहो होइ निक्खेवो ।।

**यृ.** सुगमा । तत्र नामस्थापने अनाधत्य द्रव्यशीतोष्णे दर्शयितुमाह –

नि. [२०९] दव्वे सीयलदव्वं दव्वुण्हं चेव उण्हदव्वं तु। भावे उ पुग्गलगुणो जीवस्स गुणो अनेगविहो ॥

वृ. इशरीरमव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यशीतं शीतगुणोपेतं गुणगुणिनोरभेदात् शीतकारणं वा यद्रव्यं द्रव्याप्राधान्याच्छीतलद्रव्यभेव द्रव्यशीतं-हिमतुषारकरकादि, एवं द्रव्योष्णमपीति । मावतस्तु द्वेधा-पुद्गलाश्रितं जीवाश्रितं च, गाथा शकलेनाचष्टे-तत्र पुद्गलाश्रितं मावशीतं पुद्गलस्य शीतो गुणो गुणस्य प्रधान्यविवक्षयेति, एवं मावोष्णमपि, जीवस्य तु शीतोष्णरूपोऽनेकविधो गुणः, तद्यथा-औदयिकादयः षड् मावाः, तत्रौदयिकः कर्म्मोदयाविर्मूतनारकादिमवकषा-योत्पत्तिलक्षणः उष्णः, औपशमिकः कर्म्भोपशमवात्तसम्यक्त्वविरत्तिरूपः शीतः, क्षायिकोऽपि शीत एव, क्षायिकसम्यक्त्वचारित्रादिरूपत्वाद्, अथवाऽशेषकर्म्मदाहान्यथानुप-पत्तेरुष्णः, शेषा अपि विवक्षातो द्विरूपा अपीति । अस्य च जीवभावगुणस्य शीतोष्णविवेकं स्वत एव निर्युक्तिकारः प्रचिकटयिषुराह —

नि. [२०२] सीयं परीसहपमायुवसमविरई सुहं चउण्हं तु। परीसहतवुज़मकसाय सोगाहिवेयारई दुक्खं ।। दारं ॥

**वृ.** 'शीत'मिति भावशीतं, तच्चेह जीवपरिणामस्वरूपं गृह्यते, स चायं परिणामो-मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः 'प्रमादः' कार्यशैथिल्यं शीतलविहारता 'उपशमो' मोहनीयोपशमः, सचसम्यक्त्वशविरतिसर्वविरतिलक्षणः, उपशमश्रेण्याश्रितो वा, तत्क्षयो वेति, 'विरति'रिति प्राणातिपातादिविरत्युपुलक्षितः सप्तदशविधः संयमः 'सुखं च' सातावेदनीय-विपाकाविर्भूतमिति । एतत् सर्वं परीषहादि शीतमुष्णं च गाथाशकलेनाह-परीषहाः पूर्वव्यावर्णितस्वरूपाः तपस्युद्यमो-यथाशक्ति द्वादशप्रकारतपोऽनुष्ठानं 'कषायाः' क्रोधादयः 'शोक' इष्टाप्राप्तिविनाशोद्भवः आधिः 'वेदः' स्त्री पुंनपुंसकवेदोदयः 'अरतिः' मोहनीयविपा-काग्चित्तदौःस्थ्यं 'दुःखं च' असातावेदनीयोदयादीनि, एतानि परीषहादीनि पीडा-कारित्वादुष्णमिति गाथासमासार्थः । व्यासार्थं तुनिर्युक्तकारः स्वत एवाद्यष्टे-तत्र परीषहाः शीतोष्णयोर्द्योरप्यभिहिताः, ततो मन्दबुद्धेरनघ्यवसायः संशयो विपर्ययो वा स्याद् अतस्तदपनोदार्थमाह –

नि. [२०३] इत्यी सकारपरीसहो य दो भावसीयला एए। सेसा वीसं उण्हा परीसहा हुंति नायव्वा ॥

ष्ट्र. स्त्रीपरीषहः सत्कारपरीषहश्च द्वावप्येतौ शीतौ, भावमनोऽनुकूलत्वात्, शेषास्तु पुनर्विशतिरुष्णा ज्ञातव्या भवन्ति, मनसः प्रतिकूलत्वादिति गायार्थः ॥

यदिवा परीषहाणां शीतोष्णत्वमन्यथा आचष्टे --

नि. [२०४] जे तिव्वप्परिणामा परीसहा ते भवंति उण्हा उ । जे मंदप्परिणामा परीसहा ते भवे सीया ॥ दारं ॥ **वृ.** तीव्रो-दुःसहः परिणामः-परिणतिर्येषां ते तया, य एवम्भूताः परीषहास्ते उष्णाः, ये तु मन्दपरिणामास्ते शीता इति, इदमुक्तं भवति-ये शरीरदुःखोत्पादकत्वेनोदीर्णाः सम्यक्सहना-भावाद्याधिविधायिनस्ते तीव्रपरिणामत्वादुष्णाः, ये पुनरुदीर्णाः शारीरमेव केवलं दुःखमुत्पादयन्ति महासत्त्वस्य न मानसं ते भावतो मन्दपरिणामाः, यदिवा ये तीव्रपरिणामाः-प्रबलाद्रिर्भूतस्वरूपास्ते उष्णाः, ये तुमन्दपरिणामाः-ईषल्लक्ष्यमाणस्वरूपास्ते शीता इति । यत्परीषहानन्तरं प्रमादपदमुपन्यस्तं शीतत्वेन यद्य तपस्युद्यम इत्युष्णत्वेन तदुभयं गाथयाऽऽचष्टे --

नि. [२०५] धंमंमि जो पमायइ अत्ये वा सीअलुत्ति तं बिंति । उज्जुत्तं पुण अत्रं तत्तो उण्हंति णं बिंति ।। दारं ।।

वृ. 'धर्म्में' श्रमणधर्म्मे यः 'प्रमाद्यति'नोधमं विधत्ते 'अर्थे वा' अर्थ्यतइत्यर्थो-धनधान्य-हिरण्या- दिस्तत्र तदुपाये वा शीतल इत्येवं तं 'ब्रुवते' आचक्षते, उद्युक्तं पुनरन्यं ततः-संयमोधमात् कारणादुष्णमित्येवं ब्रुवते, णमिति वाक्यालङ्कार इति गाथार्थः ॥ उपशमपदव्याचिख्यासयाऽऽह

नि. [२०६] सीऊभुओ परिनिव्नुओ य संतो तहेव पण्हाणो (ल्हाओ)।

होउवसंतकसाओ तनुवसंतो भवे जीवो ॥ दारं ॥

वृ. उपशमो हि क्रोधाधुदयामावे मवति, ततश्च कषायाग्नयुपशमात् शीतीभूतो भवति, क्रोधादिज्वालानिर्वाणात् परिनिर्वृत्तो भवति, चः समुच्चये, रागद्वेषपावकोपशमपदुशान्तः, तथा क्रोधादिपरितापोपशमात् 'प्रह्लादितः' आपन्नसुखो, यतो ह्युपशान्तकषाय एव एवम्भूतो भवति तेनोपशान्तकषायः शीतो भवतीति, एकार्थकानि वैतानीति गायार्थः ॥

अधुना विरतिप- दव्याख्यामाह --

नि. [२०७] अभयकरो जीवाणं सीयघरो संजमो भवइ सीओ। अस्संजमो य उण्हो एसो अन्नोऽवि पज्ञाओ ॥ दारं ॥

मृ. अभयकरण शीलः, केषां ? जीवानां, शीतं-सुखं तद्गृहं-तदावासः, कोऽसौ ?-संयमः सप्तदशमेदः, अतोऽसौ शीतो मवति, समस्तदुःखहेतुद्वन्द्वोपरमाद्, एतद्विपर्ययस्त्वसंयम उष्णः, 'एष' शीतोष्णलक्षणः संयमासंयमयोः पर्यायोऽन्यो चा सुखदुःखस्वरूपो विवक्षाव-शादमवतीति गाथार्थः ।। साम्प्रतं सुखपदविवरणायाह --

नि. [२०८] निव्वाणसुहं सायं सीईभूयं पयं अनाबाहं। इहमवि जं किंचि सुहं तं सीयं दुक्खमवि उण्हं !!

वृ. सुखं शीतमित्युक्तं, तम्च सँगस्तद्वन्द्वोपरमादात्यन्तिकैकान्तिकानाबाधलक्षणं निरुपाधिकंपरमार्थचिन्तायां मुक्तिसुखमेव सुखंनापरम्, एतच्च समस्तकर्म्भोपतापाभावाच्छीतमिति दर्शयति- 'निर्वाणसुख'मिति, निर्वाणम् - अशेषकर्म्भक्षयस्तदवाप्तौ वा विशिष्टाकाशप्रदेशः तेन तत्र वा सुखं निर्वाणसुखम्, अस्य चैकार्थिकानि-सातं शीतीमूतं पदमनाबाधमिति। इहापि संसारे यत्किञ्चित् सातावेदनीयविपाकोद्भूतं सातं-सुखं तदपि शीतं मनआल्हादाद्, एतद्विपयर्यस्तुदुःखं, तद्योष्णमिति गाथार्थः ।। कषायादिपदव्याचिख्यासयाह –

नि. [२०९] डज्झइ तिव्वकसाओ सोगभिभूओ उइन्नवेओ य । उण्हयरो होइ तवो कसायमाईवि जं डहइ ।। **ष्ट्र.** 'दह्यते' परिपच्यते, कोऽसौ ?- 'तीव्रा' उत्कटा उदीर्णा विपाकानुभवेन कषाया यस्य स तथा, न केवलं कषायाग्निना दह्यते, 'शोकाऽभिभूतश्च' इष्टवियोगादिजनितः शोकस्तेनाभिभूतः तिरोहितशुमव्यापरोऽसावपि दह्यते, तथा उदीर्णोविपाकापन्नो वेदो यस्य स तथा, उदीर्णवेदो हि पुमान् स्त्रियं कामयते, साऽपीतरं, नपुंसकस्तूभयमिति, तत्याप्त्यमावे काङ्कद्भूतारतिदाहेन दह्यते, चशब्दादिच्छाकामाग्राप्तिजनितारतिपावकेन दह्यते, तदेवं कषायाः शोको वेदोदयश्च दाहकत्वादुष्णः, सर्वं वा मोहनीयमष्टप्रकारं वा कर्म्मोष्णं, ततोऽपि तद्दाहकत्वादुष्णातरं तप इति गाथाशकलेन दर्शयति-उष्णतरं तपो भवति, किमिति ?-यतः कषायादिकमपि दहति, आदिशब्दाच्छोकादिपरिग्रह इति गाथार्थः । येनाभिप्रायेण द्रव्यभाव-भेदभिइन्ने परीषहप्रमादोध-मादिरूपे शीतोष्णे जगादाचार्यस्तमभिप्रायमाविष्करोति --

नि. [२९०] सीउण्हफाससुहदुहपरीसहकसायवेयसोयसहो । हुञ्ज समणो सया उज्जुओ य तवसंजमोवसमे ।।

ष्ट्र. शीतं चोष्णं च शीतोष्णे तयोः स्पर्शः तं सहत इति सम्बन्धः, शीतस्पर्शोष्ण-स्पर्शजनितवेदनामनुभवन्नार्त्तध्यानोपगतो भवतीतियावत्, शरीरमनसोरनुकूलंसुखमति, तद्विपरीतं दुःखं, तथा परीषहकषायवेदशोकान् शीतोष्णभूतान् सहत इति । तदेवं शीतोष्णादिसहः सन् भवेत् 'श्रमणः' यतिः सदोद्युक्तश्च, क्व ? -तपःसंयमोपशमे इति गायार्थः ॥ साम्प्रतमुपसंहार-व्याजेन साधुना शीतोष्णातिसहनं कर्त्तव्यमिति दर्शयति -

नि. [२९९] सीयाणि य उण्हाणि य भिक्खूणं हुंति विसहियव्वाइं। कामा न सेवियव्वा सीओसणिज़रस निजुत्ती ॥

वृ. 'शीतानि' परीषहप्रमादोपशमविरतिसुखरूपाणि यान्यभिहितानि 'उष्णानि च' परीषहतपउद्यमकषायशोकवेदारत्यात्मकानि प्रागभिहितानि तानि 'भिश्रूणां' मुमुश्रूणांविषोढव्यानि, न सुखदुःखयोः उत्सेकविषादौविधेयौ, तानि चैवं सम्यग्दृष्टिना सह्यन्ते यदि कामपरित्यागो भवतीति गाथाशकलेनाह - 'कामा' इत्यादि गाथार्द्ध सुगमं । गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतमशेषदोषव्रातविकलं सूत्रमुचारयितव्यं, तम्रेदम्

-: अध्ययनं ३--उद्देशक- 9 :-

मू. (१०९) सुत्ता अमुनी सया मुनिनौ जागरति ।

वृ. अस्यचानन्तरसूत्रेणसम्बन्धोवाच्यः, सचायम्-इहदुःखीदुःखानामेवावर्त्तमनुपरिवर्त्तत इत्युक्तं, यदिहापि भावसुप्ता अज्ञानिनो दुःखिनो दुःखानामेवावर्त्तमनुपरिवर्त्तन्ते इति, उक्तं च –

11911

# "नातः परमहं मन्ये, जगतो दुःखकारणम्।

यथाऽज्ञानमहारोगो, दुरन्तः सर्वदेहिनाम् '

' इत्यादि, इह सुप्ता द्विधा-द्रव्यतो भावतश्च, तत्र निद्राप्रमादवन्तो द्रव्यसुप्ताः, भावसुप्तासु मिथ्यात्वाज्ञानमयमहानिद्राव्यामोहिताः, ततो ये 'अमुनयः' मिथ्याद्रप्टयः सततं भावसुप्ताः सढिज्ञा-नानुष्ठानरहितत्वात् निद्रयातु भजनीयाः, मुनयस्तु सद्बोधोपेता मोक्षमार्गादचलन्तस्ते सत-तम्अनवरतं 'जाग्रति' हिताहितप्राप्तिपरिहारं कुर्वते, अतो द्रव्यनिद्रोपगता अपि क्विचद्वितीयपौरुष्यादौ सततं जागरूका एवेति ॥ एनमेव भावस्वापं जागरणं च विषयीकृत्य निर्युक्तिकारो गायां जगाद–

### नि. [२१२] सुत्ता अमुणिओ सया मुणिओ सुत्तावि जागरा हुंति । धम्मं पडुद्य एवं निद्दासुत्तेण भइयव्यं ।।

**q**. सुप्ता द्विधा-द्रव्यतो मावतश्च, तत्र निद्रया द्रव्यसुप्तान् गाथान्ते वक्ष्यति, भाव-सुप्तास्त्वमुनयो-गृहस्था मिथ्यात्वाज्ञानावृता हिंसाद्यास्रवद्वारेषु सदा प्रवृत्ताः, मुनयस्त्व-पगतमिथ्यात्वादि- निद्रतयाऽवाप्तसम्यक्त्वादिबोधा भावतो जागरूका एव, यद्यपि क्वचिदाचार्यानुज्ञाता द्वितीयपौरुष्पदौ दीर्घसंयमाधारशरीरस्थित्यर्थं निद्रावशोपगता भवन्ति तथापि सद जागरा एव, एवं च धर्म्म प्रतीत्योक्ताः सुप्ता जाग्रदवस्थाश्च । द्रव्यनिद्रासुप्तेन तु भाज्यमेतद्-धर्म्मः स्याद्वा न वा, यद्यसौ भावतो जागत्तिं ततो निद्रसुप्तस्यापि धर्म्मः स्यादेव, यदिवा भाज्यमेतद्-धर्म्मः स्याद्वा न वा, यद्यसौ भावतो जागत्तिं ततो निद्रसुप्तस्यापि धर्म्मः स्यादेव, यदिवा भाज्यमेतद्-धर्म्मः स्याद्वा न वा, यद्यसौ भावतो जागत्तिं ततो निद्रसुप्तस्यापि धर्म्मः स्यादेव, यदिवा भाज्यमेतद्-धर्म्मः स्याद्वा न वा, यद्यसौ भावतो जागत्तिं ततो निद्रसुप्तस्यापि धर्म्मः स्यादेव, यदिवा भाजतो जाग्रतो निद्राप्रमादा- वष्टब्र्यान्तःकरणस्य न स्यादपि, यस्तु द्रव्यभावसुप्तस्तस्य न स्यादेवेति भजनार्थः । अथ किमिति द्रव्यसुप्तस्य धर्म्मो न भवतीति ?, उच्यते, द्रव्यसुप्तो हि निद्रया भवति, तद्वन्धश्च मिथ्यार्धष्टिसास्वादनयोरनन्तानुबन्धिबन्धसहचरितः, क्षयस्वनिर्ख्तिकास्यापि न भवति, तद्वन्धश्च मिथ्यार्धष्टिसास्वादनयोरनन्तानुबन्धिबन्धसहचरितः, क्षयस्वनिर्ख्तिवासरगुणस्थान-कालसंख्येयमागेषु कियत्स्वपि गतेषु-सत्सु भवति, निद्राप्रचल्योरपि उदये प्राग्वदेव, बन्धोपरमस्त्वपूर्वकरणकालसंख्येयभागान्ते भवति, क्षयः पुनः क्षीणकषायद्विचरमसमये, उदयस्तूपशमकोपशान्तमोहयोरपि भवतीत्यतो दुरन्तोनिद्राप्रमादः । यथा च द्रव्यसुप्तो दुःखमवापप्नोत्येवं मावसुप्तोऽपि (इति) दर्शयितुमाह –

नि. [२९३] जह सुत्त मत्त मुच्छिय असहीणो पावए बहुं दुक्खं। तिव्वं अपडियारंपि वट्टमाणो तहा लोगो।।

**वृ.** सुप्तो निद्रया भत्तो मदिरादिना मूच्छितो गाढमर्म्मप्रहारादिना अस्वाधीनः-परायत्तो वातादिदोषोद्भवग्रहादिना यथा बहु दुःखमप्रतीकारमवाप्नोति, तथा भावस्वापे-भिथ्यात्वादिरतिप्रमादकषायादिकेऽपि 'वर्त्तमानः' अवतिष्ठमानो 'लोकः' प्राणिगणो नरकमवादिकं दुःखमवाप्नोतीति गायार्थः ॥ पुनरपि व्यतिरेकद्दष्टान्तद्वारेणोपदेशदानायाह -

नि. [२१४] एसेव य उवएसो पदित्त पयलाय पंथमाईसुं। अनुहवइ जह सचेओ सुहाइं समणोऽवि तह चेव ॥

ष्ट्र. 'एष एव' पूर्वोक्त उपदेशो यो विवेकाविवेकजनितः, तथाहि-सचेतनो विवेकी प्रदीप्ते सति प्रपलायमानः सुखमनुभवति, पथिविषये च सापायनिरपायविवेकज्ञः, आदिग्रहणादन्यस्मिन्वा दस्युभयादौ समुपस्थिते सति, यथा विवेकी सुखेनैव तमपायं परिहरन् सुखभाग् भवति, एवं श्रमणोऽपि भावतः सदा विवेकित्वाज्ञाग्रदवस्थामनुभवन् समस्तकल्याणास्पदीभवति । अत्र च सुप्तासुप्ताधिकारगाधाः–

| 11911 | ''जागरह नरा निम्नं जागरमाणस्स वड्ढए बुद्धी । |
|-------|--|
|       | जो सुअइ न सो धन्नो जो जग्गइ सो सया धन्नो ।।  |
| ાસા   | सुअइ सुअंतरस सुअं संकियखलियं भवे पमत्तरस ।   |
|       | जागरमाणस्स सुअं थिरपरिचिअमण्पमत्तस्स ॥       |

| ારો   | नालस्सेण समं सुक्खं, न विज्ञा सह निद्दया । |
|-------|--|
|       | न चेरग्गं पमाएणं, नारंभेण दयालुया ॥        |
| 11×11 | जागरिआ धम्मीणं आहम्मीणं तु सुत्तया सेआ ।   |
|       | वच्छाहिवभगिणीए अकहिंसु जिणो जयंतीए ।।      |
| 11411 | सुयइ य अयगरभूओ सुअंपि से नासई अमयभूअं ।    |
|       | होहिड गोणब्मओ नईमि सए अमयभए ॥''            |

हा।हइ गाणब्मूआ नहाम सुए अमयमूए ॥ तदेवं दर्शनावरणीयकर्म्मविपाकोदयेन क्वचित्स्वपन्नपि यः 'संविग्नो यतनावांश्च स दर्शनमोहनीयमहानिद्रापगमाजाग्रदवस्य एवेति । ये तु सुप्तास्तेऽज्ञानोदयाद्भवन्ति, अज्ञानं च महादुःखं, दुःखं च जन्तूनामहितायेति दर्शयति –

मू. (990) लोयंसि जाण अहियाय दुक्खं, समयं लोगस्स जाणित्ता, इत्य सत्थोवरए, जस्सिमे सद्दा य रूवा य रसा य गंधा य कासा य अभिसमन्नागया भवंति ।।

**q**. 'लोके' षड्जीवनिकाये 'जानीहि' परिच्छन्द्या दुःखहेतुत्वादुःखम्-अज्ञानं मोहनीयं वा तदहिताय-नरकादिभवव्यसनोपनिपाताय, इह वा बन्धवधशारीरमानसपीडायै जायत इत्येतज्ञानीहि, परिज्ञानाद्यैतत्फलं यदुत-द्रव्यभावस्वापादज्ञारूपाटुःखहेतोरपसर्प्पणमिति, किं चान्यत् - 'समय'मित्यादि, समयः-आचारोऽनुष्ठानं तं लोकस्यासुमद्यातस्य ज्ञात्वा अत्र शस्त्रोपरतो भवेदित्युत्तरसूत्रेण सम्बन्धो, लोको हि भोगाभिलाषितया प्राण्युपमर्दादिकषायहेतुकं कर्म्मोपादाय नरकादियाननास्थानेषूत्पद्यते, ततः कथश्चिद्वृत्त्यावाप्य चाशेषक्लेशव्रातष्टां धर्म्मकारणमार्यक्षेत्रावी मनुष्यजन्म पुनरपि महामोहनोहितमतिस्तत्तदारभते येन येनाधोऽधो व्रजति, संसाराज्ञोन्मज्ञतीति, अयं लोकाचारस्तं ज्ञात्वा अथवा समभावः समता तां ज्ञात्वा, 'लोकस्ये'ति सप्तम्यर्थे षष्ठी, ततश्चायमर्थे 'लोके जन्तुसमूहे 'समता' समशत्रुमित्रतां समात्मपरतं वा ज्ञात्वा, यदिवा सर्वेऽये-

लाक जनुसमूह समता समरागुनियता समराग्रस्त साला, पायम स्वउ प केन्द्रियादयो जन्तवः सदा स्वोत्पत्तिस्यानरिरंसवो मरणमीरवः सुखेप्सवो दुःखढिष इत्येवम्भूतां समतां ज्ञात्वा, किं कुर्यादित्याह - 'एत्य सत्योवरए', 'अत्र' अस्मिन् षट्कायलोके शस्त्राद्रव्य-मावमेदादुपरतो धर्म्मजागरणेन जागृहि, यदिवा यद्यत्संयमशस्त्रं प्राणातिपाताद्यास्रवद्यारं शब्दादिपञ्चप्रकारकामगुणामिष्वङ्गो वा तस्माद्य उपरतः समुनिरिति, आह च 'जस्सिमे' इत्यादि, यस्य मुनेरिमे-प्रत्यात्मवेद्याः समस्तप्राणिगणेन्द्रियप्रवृत्तिविषयभूताः शब्दरूपरसगन्धस्पर्शा मनोज्ञेतरभेदेमिन्ना 'अभिसमन्वागता' इति, अभिः-आभिमुख्येन सम्यग्-इष्टानिष्टाव-धारणतयाऽन्विति-शब्दादिस्वरूपावगमात् पश्चादागताः-ज्ञाताः परिच्छिन्ना यस्य मुनेर्भवन्ति स लोकं जानातीति सम्बन्धः, इदमुक्तं भवति-इष्टेषु न रागमुपयाति नापीतरेषु द्वेषम्, एतदेवाभिसमन्वागमनं तेषांनान्यदिति, यदिवेहैव शब्दादयो दुःखाय भवन्त्यास्तां तावत्परलोक इति, उक्तं च –

| <b>, .</b> . |  |
|--------------|--|
| 11911        | ''रक्तः शब्दे हरिणः स्पर्शे नागो रसे च वारिचरः । |
|              | कुपणपतङ्गो रूपे भुजगो गन्धे ननु विनष्टः ।।       |
| ાસા          | पञ्चसु रक्ताः पञ्च विनष्टा यत्रागृहीतपरमार्थाः । |
|              | एकः पञ्चसु रक्तः प्रयाति भस्मान्ततामबुधः ॥''     |

अथवा शब्दे पुष्पशालाद्भद्रा ननाश रूपे अर्जुनकतस्करः गन्धे गन्धप्रियकुमारः रसे सौदासः स्पर्शे सत्यकिः सुकुमारिकापतिर्वा ललिताङ्गकः, परत्र च नारकादियातनास्थानभय-मिति ॥

एवं शब्दादीनुभयदुःखस्वभावानवगम्य यः परित्यजेदसौ कं गुणमवाप्नुयादित्याह –

मू. (१९९) से आयवं नाणवं वेयवं धंमवं बंभवं पन्नाणेहिं परियाणइ लोयं, मुणीति वुद्ये, धम्मविऊ उज्जू, आवद्वसोए संगमभिजाणइ ।।

**वृ.** यो हि महामोहनिद्रावृते लोके दुःखमहिताय जानानो लोकसमयदर्शी शस्त्रोपरतः सन् शब्दादीन् कामगुणान् दुःखैकहेतूनभिसमन्वागच्छति ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया च प्रत्याचष्ट 'स' मुमुक्षुरात्मवान्-आत्मा ज्ञानादिकोऽस्यास्तीत्यत्मवान्, शब्दादिपरित्यागेन ह्यालाऽनेन रक्षितो भवति, अन्यथा नारकैकेन्द्रियादिपाते सत्यात्मकार्याकरणात्कुतोऽस्यात्मेति, पाठान्तरं वा 'से आयवी नाणवी' आत्मानं श्वभ्रादिपतनरक्षणद्वारेण वेत्तीत्यात्मवित्, तथा ज्ञानं यथावस्थितपदार्थ-परिच्छेदकं वेत्तीति ज्ञानवित्, तथा वेद्यते जीवादिस्वरूपम् अनेनेति वेदः-आचाराद्यागमः तं वेत्तीत्ति वेदवित्, तथा दुर्गतिप्रसृतजन्तुधरणस्वभावं स्वर्गापवर्गमार्गं धर्म्म वेत्तीति धर्म्मवित्, एवं ब्रह्म-अशेषमलकलङ्कविकलं योगिशर्म्म वेत्तीति ब्रह्मवित्, यदिवा अष्टादशधा ब्रह्मेति, एवम्भूतश्चात्सौ प्रकर्षेण ज्ञायते ज्ञेयं यैस्तानि प्रज्ञानानि-मत्यादीनि तैर्लोकं यथावस्थितं जन्तुलोकं तदाधारं वा क्षेत्रं जानाति-परिच्छिनत्तीत्युक्तं भवति, य एव शब्दादिविषयसङ्गस्य परिहर्ता स एव यथावस्थितलोकस्वरूपरिच्छेदीति। यश्चानन्तरगुणोपेतः स किं वाच्य ? इत्यत आह –

'मुनी' त्यादि, यो ह्यात्मवान् ज्ञानवान् घेदवान् धर्म्मवान् ब्रह्मवान् प्रज्ञानैर्व्यस्तैः समस्तैर्वा लोकं जानाति स मुनिर्वाच्यो, मनुते मन्यते या जगतस्त्रिकालावस्थां मुनिरितिकृत्वा, किं च -'धम्म' इत्यादि, धर्म्म-घेतनाचेतनद्रव्यस्वभावं श्रुतचारित्ररूप वा वेत्तीति धर्मवित्, 'ऋजु'रिति ऋजोः-ज्ञानदर्शनचारित्राख्यस्य मोक्षमार्गस्यानुष्टानादकुटिलो यथावस्थितपदार्थस्वरूपपरिच्छेदाद्वा ऋजुः सर्वोपाधिशुद्धोऽवक्र इतियावत् । तदेवं धर्म्मविद्युर्मुनिः किम्भूतो भवतीत्याह - 'आवट्ट' इत्यादि, भावावर्त्तो-जन्मजरामरणरोगशोकव्यसनोपनिपातात्मकः संसार इति, उक्तं हि --

19 ॥ "रागद्वेषवशाविद्धं, मिथ्यादर्शनदुस्तरम् ।

जन्मावर्त्ते जगत्सिप्तं, प्रमादाद्भ्राम्यते भृशम् ॥''

भावश्श्रोतोऽपि शब्दादिकामगुणविषयाभिलापः, आवर्त्तश्च श्रोतश्चवर्त्तश्रोतसी तयो रागद्वेषाभ्यां सम्बन्धः-सङ्गरतमभिजानाति-आभिमुख्येन परिच्छिनत्ति-यथाऽयं सङ्गःआवर्त्तश्रो-रोतसोः कारणं, जानानश्च परमार्थतः कोऽभिधीयते ? , योऽनर्थं ज्ञात्वा परिहरति, ततश्चायमर्थः-संसारश्रोतः-सङ्गं रागद्वेषात्मकं ज्ञात्वा यः परिहरति स एव नाआवर्त्तस्रोतसोः सङ्गस्याभिज्ञाता ॥ सुप्तजाग्रतां दोषगुणपरिच्छेदी क गुणमवापुयादित्याह –

्रमू. (१ १ २) सीउसिणद्याई से निग्गंधे अरइरइसहै, फरुसयं नो वेएइ, जागर वेरोवरए, वीरे एवं दुक्खा पमुक्खसि, जरामद्युवसोवणिए नरे सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ।

वृ. सबाह्याभ्यन्तरग्रन्थरहितः सन् शीतोष्णत्यागी सुखदुःखानभिलाषुकः शीतोष्णरूपौ वा परीषहावतिसहमानः संयमासंयमरत्यरतिसहः सन् परुषतां-कर्कशतां पीडाकारितां

1 11

परीषहाणामुपसर्गाणां चा कर्मक्षपणायोद्यतः साहाय्यं मन्यमानो 'नो वेत्ति' न तान् पीडाकारित्वेन गृह्णतीत्युक्तं भवति, यदिवा संयमस्य तपसो वा परुषतांशरीरपीडोत्पादनात् कर्म्मलेपापनयनाद्वा संसारोद्विग्नमना मुमुक्षुर्निराबाधसुखोन्मुखो 'न वेत्ति' न संयमतपसी पीडाकारित्वेन गुह्णातीतिया-वत्।किं च - 'जागर' इत्यादि, असंयमनिद्रापगमाज्ञागर्तीति जागरः, अभिमानसमुत्योऽ मर्षावेशः परापकाराध्यवसायो वैरं तस्मादुपरतो वैरोपरतो, जागरश्चासौ वैरोपरतश्चेति विगृह्य कर्म्यधारयः, क एवम्पूतो ?—

'वीरः' कर्म्मापयनशक्खुपेतः, एवम्भूतश्च त्वं वीर ! आत्मानं परं वादुःखादुःखकारणाद्वा कर्म्मणः प्रमोक्ष्यसीति । यश्च यथोक्ताद्विपरीतः आवर्त्तश्चोत्तसोः सङ्गमुपगतोऽजागरः स किमाप्नुयादित्याह - जरा च मृत्युश्च ताभ्यामात्मवशमुपनीतो 'नरः' प्राणी 'सततम्' अनवरतं 'मूढो' महामोहमोहितमतिर्द्धर्म्म-स्वर्गापवर्गमार्गं नाभिजानीते-नावगच्छति, तत्त् संसरे स्थानमेव नास्ति यत्र जरामृत्यू न स्तः, देवानां जराऽभाव इति चेत्, न तत्राप्युपान्त्यकाले लेश्या-बलसुखप्रभुत्ववर्णहान्युपपत्तेरस्त्येव च तेषामपि जरासद्भावः, उक्तं च –''देवा णं मंते ! सब्वे समवण्णा ?, नोइणट्ठे समट्ठे, सेकेणट्ठेणं भंते ! एव वुद्यइ?, गोयमा ! देवा दुविहा-पुब्वोववण्णगा य पच्छोववण्णगा य । तत्थ णं जे ते पुब्वोववण्णगा ते णं अविसुद्धवण्णयरा, जेणं पच्छोववण्णगा ते णं विसुद्धवण्णयरा'' एवं लेश्याद्यपीति, च्यवनकाले तु सर्वस्यैवैतद्भवति, तद्यथा –

II9 II "माल्यग्लानिः कल्पवृक्षप्रकम्पः, श्रीहीनाशो वाससां चोपरागः ।

दैन्यं तन्द्रा कामरागाङ्गभङ्गी, धष्टिभ्रान्तिर्वेपथुश्चारतिश्च ॥"

यतश्चैवमतः सर्वं जरामृत्युवशोपनीतमभिसमीक्ष्य किं कुर्यादित्याह -

मू. (१९३) पासिय आउरपाणे अप्पमत्तो परिव्वए, मंता य मइमं, पास आरंभजं दुक्खमिणंति नद्या, माई पमाई पुण एइ गब्मं, उवेहमाणो सद्दरूवेसु उज्जू माराभिसंकी मरणा पमुद्यई, अप्पमत्तो कामेहिं, उवरओ पावकम्मेहिं, वीरे आयगुत्ते खेयन्ने, जे पज्ञवज्ञायसत्थस्स खेयन्ने से असत्थस्स खेयन्ने, जे असत्थस्स खेयन्ने से पज्जवज्ञायसत्थस्स खेयन्ने,/अकम्मस्स ववहारो न विज्ञइ, कम्मुणा उवाही जायइ,∕कम्मं च पडिलेहाए ।।

**षृ.** स हि भावजागरस्तैस्तैर्भावस्वापजनितैः शारीरमानसैर्दुः खैरातुरान्-किंकर्त्तव्यतामूढान् दुः खसागरावगादान् प्राणानभेदोपचारात् प्राणिनो '६ष्टवा' ज्ञात्वाऽप्रमत्तः परिव्रजेद्-उद्युक्तः सन् संयमानुष्ठानं विदध्यात् । अपि च - 'मंता' इत्यादि, हे मतिमन् !- सश्रुतिक ! भावसुप्तातुरान् पश्य, मत्वा चैतज्ञाग्रत् सुप्तगुणदोषापादनं मा स्वापमतिं कुरु, किं च - 'आरंभज' मित्यादि, आरम्भः-सावद्यक्रि यानुष्ठानं तस्माजातमारम्भजं, किं तद् ?- दुःखं तत्कारणं वा कर्म्म । 'इद'मिति प्रत्यक्षगोचरापन्नमशेषारम्भप्रवृत्तप्राणिगणानुभूयमानमित्सेतत् 'ज्ञात्वा' परिच्छिद्य निरारम्भो भूत्वाऽऽत्महिते जागृहि । यस्तु विषयकषायाच्छादितचेता भावशायी स किमाजुयादित्याह -'माई' इत्यादि, मध्यग्रहणाचाद्यन्तयोर्ग्रहणं, तेन क्रोधादिकषायवान् मद्यादिप्रमादवान्नारकदुःख-मनुभूय पुनस्तिर्यक्षु गर्भमुपैति । यस्त्वकषायी प्रमादरहितः स किम्भूतो भवतीत्याह – 'उवेह' इत्यादि, बहुवचननिर्देशदाद्यर्थी गम्यते, शब्दरूपादिषु यौ रागद्वेषौ तावुपेक्षमाणः-अकुर्वन् ऋजुर्भवति-यतिर्भवति, यतिरेव परमार्थत ऋजुः, अपरस्त्वन्यथाभूतः स्त्र्यादिपदार्थान्य- थाग्रहणाद्धकः , किं च-सऋजुः शब्दादीनुपेक्षमाणो मरणं मारस्तदभिशङ्की-मरणादुद्विजंस्तत्करोति येनमरणात् प्रमुच्यते । किं तत्करोतीत्याह - 'अप्पमत्त' इत्यादि, कामैर्यः प्रमादस्तत्राप्रमत्तोभवेत् कश्चाप्रमत्तः स्याद् ? , यःकामारम्भकेभ्यः पापेभ्य उपरतो भवतीति दर्शयति –

'उवरओ' इत्यादि, उपरतो मनोवाक्कायैः, कुतः ? पापोपदानकर्म्भेभ्यः, कोऽसौ ? -वीरः, किम्भूतो ? - गुप्तात्मा, कश्च गुप्तो भवति ? , यः खेदज्ञो, यश्च खेदज्ञः स कं गुणमवाप्नुयादित्याह 'जेपज्जव' इत्यादि, शब्दादीनां विषयाणां पर्यवाः-विशेषास्तेषु-तत्रिमित्तं जातं शस्त्रं पर्यवजातशस्त्रं-शब्दादिविशेषोपादानाथ यत्राण्युपघातकार्यनुष्ठानं तत्पर्यवजातशस्त्रं तत्स्य पर्यवजातशस्त्रं-शब्दादिविशेषोपादानाथ यत्राण्युपघातकार्यनुष्ठानं तत्पर्यवजातशस्त्रं तत्स्य पर्यवजातशस्त्रं-शब्दादिविशेषोपादानाथ यत्राण्युपघातकार्यनुष्ठानं तत्पर्यवजातशस्त्रं तत्स्य पर्यवजातशस्त्रत्स् यः खेदज्ञो-निपुणः सोऽशस्त्रस्य-निरवद्यानुष्ठानरूपस्य संयमस्य खेदज्ञो, यश्चाशस्त्रस्य संयमस्य खेदज्ञः स पर्यवजातशस्त्रस्य खेदज्ञः, इदमूक्तं भवति-यः शब्दादिपर्यायानिष्ठानिष्टात्मकान् तत्राप्तिपरिहरानुष्ठानं च शस्त्रभूतं वेत्ति सोऽनुपघातकत्वात्संयममप्यशस्त्रभूतमात्मपरोपकारिणं वेत्ति, शस्त्राशस्त्रे च जानानस्तद्याप्तिपरिहारौ विधत्ते, एतत् फलत्वात् ज्ञानस्येति, यदिवा शब्दादिपर्यायेभ्यस्तञ्जनितरागद्वेषपर्यायेभ्यो वा जातं यज्ज्ञानावरणीयादि कर्म्प तस्य यच्छस्त्रं दाहकत्वात् तपस्तस्य यः खेदज्ञः तज्ज्ञानानुष्ठन्तः सोऽशस्त्रस्य संयमस्यापि खेदज्ञः, पूर्वोक्तादेव हेतोः, हेतुहेतुमद्भावाद्य योऽशस्त्रस्य खेदज्ञः स पर्यवजातशस्त्रस्यापि खेदज्ञ इति, तस्य च 'संयमतपःखेदज्ञस्यावनिरोधादनादिभवोपात्तकर्म्भक्षयः । कर्म्मक्षयाद्य यद्भवतितदप्यतिदिशति

'अकम्परस' इत्यादि, न विद्यते कर्म्पाष्टप्रकारमस्येत्यकम् तस्य 'व्यवहारो न विद्यते' नासौ नारकतिर्यग्नरामरपर्याप्तकापर्याप्तकबालकुमारादिसंसारिव्यपदेशभाग् भवति । यश्च सकर्म्पा स नरकादिव्यपदेशेन व्यपदिश्यत इत्याह - 'कम्पुण' इत्यादि, उपाधीयते-व्यपदिश्यते येनेत्युपाधिः-विशेषणं स उपाधिः कर्म्पणा-ज्ञानवरणीयादिना जायते, तद्यथा-मतिश्चतावधिमनःपर्यायवान् मदमतिस्तीक्ष्णो वेत्यादि, चक्षुर्दर्शनी अचक्षुर्दर्शनी निद्रालुरित्यादि, सुखी दुःखी वेति, मिथ्याध्ष्टिः सयग्मिथ्यार्धष्टिः स्त्री पुमान्नपुंसकः कषायीत्यादि, सोपक्रमायुष्को निरुपक्र मायुष्कोऽल्पायुरित्यादि, नारकः तिर्यग्योनिक एकेन्द्रियो द्वीन्द्रियः पर्याप्तकोऽपर्याप्तकः सुभगो दुर्भग इत्यादि, उच्चैर्गोत्रो नीचैर्गोत्रो वेति, कृपणस्त्यागी निरुपभोगो निर्वीर्यः, इत्येवं कर्म्पणा संसारी व्यपदिश्यते । यदि नार्मेवं ततः किं कर्त्तव्यमित्याह –

'कम्मंच इत्यादि, कर्म्म-ज्ञानवरणीयादि तद्यत्युपेक्ष्यबन्धं वा प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशासकं पर्यालोच्य, तत्सत्ताविपाकापन्नांश्च प्राणिनो यथा भावनिद्रया शेरते तथाऽवगम्याकर्म्मतोपाये भावजागरणे यतितव्यमिति, तदभावश्चानेन प्रक्र मेण भवति, तद्यथा-अष्टविधसत्कर्म्मा-पूर्वादिकरणक्षपकश्चेणिप्रक्रमेण मोहनीयक्षयं विधायान्तर्मुहूर्त्तमजधन्योत्कृष्टं कालं सप्तविधसत्कर्म्मा-पूर्वादिकरणक्षपकश्चेणिप्रक्रमेण मोहनीयक्षयं विधायान्तर्मुहूर्त्तमजधन्योत्कृष्टं कालं सप्तविधसत्कर्म्मा, ततः शेषघातित्रयेक्षीणेचतुर्विधभवोपग्राहिसत्कर्म्मा जघन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टवो देशानां पूर्वकोटिं यावत्, पुनरूध्ध्वं पञ्चह्स्वाक्षरोद्गिरणकालीयां शैलेश्यवस्थामनुभूयाकर्म्मा भवति । साम्रतमुत्तरप्रकृतीनां सदसत्कर्म्मताविधानमुच्यते-तत्र ज्ञानावरणीयान्तराययोः प्रत्येक-मुपात्तपञ्चभेद योश्चतुर्द्शस्वपि जीवस्थानकेषु गुणस्थानकेषु च भिथ्याद्येरारभ्य केवलिगुणस्था-नावारतोऽपर- विकल्पाभावात् पञ्चविधसत्कर्म्मता । दर्शनावरणस्य त्रीणि सत्कर्म्मतास्थानानि, तष्यया –

Jain Education International

नवविधं निद्रापञ्चकदर्शनचतुष्टयसमन्वयाद् एतत् सर्वजीवस्थानानुयायि, गुणस्थानेष्व-प्यनिवृत्तिबादरकालसङ्ख्येयभागान् यावत् १, ततः कतिचित्सङ्ख्येयभागावसाने स्त्यानर्डित्रयक्ष-यात् षट्सत्कर्म्मतास्थानं २, ततः क्षीणकषायद्विचरमसमये निद्राप्रचलाद्वयक्षयाच्चतुः-सत्कर्म्मतास्थान, तस्यापि क्षयः क्षीणकषायकालान्त इति ३ । वेदनीयस्य द्वे सत्कर्म्मतास्थाने, तद्यथा - द्वेअपि साता सात्तेइत्येकं, अन्यतरोदयारूढशैलेश्यवस्थेतरद्विचरमक्षणक्षये सति सातमसातं वा कर्म्मति द्वितीयं २ । मोहनीयस्य पञ्चदश सत्कर्म्मतास्थाननि, तद्यथा –

षोडश कषाया नव नोकषाया दर्शनत्रये सति सम्यग्दृष्टेरष्टविंशतिः १, सम्यक्लोद्धलने सम्यग् मिथ्याध्टेः सप्तविंशतिः २, दर्शनद्वयोद्धलनेऽनादिमिथ्याध्घ्टेर्वा षड्विंशतिः ३, सम्यग्ध्टेष्ट्यविंशतिसत्कर्म्मणोऽनन्तानुबन्ध्युद्धलने क्षपणे वा चतुर्विंशतिः ४, मिथ्यात्वक्षये त्रयोविंशतिः ५, सम्यग्मिथ्यात्वक्षये द्वविंशतिः ६, क्षायिकसम्यग्दृष्टेरेकविंशतिः ७, अप्रत्याख्यान-प्रत्याख्यानावरणक्षये त्रयोदश ८, अन्यतरवेदक्षये द्वादश ९, द्वितीयवेदक्षये सत्येकादश १०, हास्याद्विषट्कक्षये पश्च ११, पुंवेदाभावे चत्वारि १२, सञ्जवलनक्रोधक्षये त्रयः १३, मानक्षये द्वौ १४, मायाक्षये सत्येको लोभः १५, तत्क्षये च मोहनीयासत्तेति आयुषो द्वे सत्कर्म्पतास्थाने सामान्येन, तद्यथा-परभवायुष्कवन्धोत्तरकालमायुष्कद्वयमेकं १, द्वितीयं तु तद्वन्धामाव इति।

नाम्नो द्वादश सत्कर्म्सतास्थानानि, तद्यथ - त्रिनवतिः १ द्विनवतिः २ एकोननवतिः ३ अष्टाशीतिः ४ षडशीतिः ५ अशीतिः ६ एकोनाशीतिः ७ अष्टसप्ततिः ८ षट्सप्ततिः ९ पश्च सप्ततिः १० नव १९ अष्टौ १२ चेति, तन्न त्रिनवतिः-गतयश्चत म्रः ४ पश्च जातयः ५ पश्च शरीराणि ५ पश्च सङ्घाताः ५ वन्धनानि पश्च ५ संस्थानानि षट् ६ अङ्गोपाङ्गन्नयं ३ संहननानि षट् वर्णपश्चकं ५ गन्धद्वयं २ रसाः पश्च ५ अष्टौ स्पर्शा ८ आनुपूर्वीचतुष्टयं ४ अगुरुलघूपघातपराघा-तोच्छ्वासातपोद्योताः षट् ६ प्रशस्तेतरविहायोगतिद्वयं २ प्रत्येकशरीरत्रसशुभसुभगसुस्वर्ग् स्वस्पर्याप्तक स्थिरादेययशांसि सेतराणीति विंशतिः २०निर्म्पाणं तीर्थकरत्वमित्येवं सर्वसमुदाये त्रिनवतिर्भवति ९३, तीर्थकरनामाभावे द्विनवतिः ९२, त्रिनवतेराहारकशरीरसङ्गातबन्ध-नाङ्गोपाङ्गचतुष्टयाभावे सत्येकोननवतिः ८९, ततोऽपि तीर्थकरनामाभावेऽष्टाशीतिः ८८, देवगतितदानुपूर्वीद्वयवैक्रियचतुष्कबन्धकस्य षडशीतिः, देवगतिप्रायोग्यबन्धकस्य वेति, ततो नरकगत्यानुपूर्वीद्वयवैक्रि रियचतुष्ट्योद्वलनेऽशीतिः ८० पुनर्मनुष्यगत्यानुपूर्वीद्वयत्तनेऽष्टसप्तकिः ७८, एतान्यक्षपकाणां सत्कर्मतास्थानानि ।

क्षपकश्रेण्यन्तर्गतानां तु प्रोच्यन्ते, तद्यथा-त्रिनवतेर्नरकतिर्यग्गतितदानुपूर्वीद्वयैक दित्रिचतुरिन्द्रियजात्यातपोद्योत स्यावरसूक्ष्मसाधारणरूपैर्नरकतिर्यग्गतिप्रायोग्यैस्त्रयो-दश्नपि कर्म्भभिः क्षपितैरशीतिर्भवति, द्विनवतेस्त्वेभिस्त्रयोदशभिः क्षपितैरेकोनाशीतिः, याऽसावहार कचतुष्टयापगमेनैकोननवतिः सआता ततस्त्रयोदशनाम्नि क्षपिते षटसप्ततिर्भवति, तीर्थकरनामाभावापादिताऽद्यशीतिः, अष्टाशीतेस्त्रयोदशनामाभावे पश्चसप्ततिः, तत्राशीते षट्सप्ततेर्वा तीर्थकरकेवलिशैलेश्यापन्नद्विचरमसमये तीर्थकरनाम्नः प्रक्षेपात् वेद्यमाननवकर्म प्रकृतिव्युदासेन क्ष्यमुपगते शेषनाम्नि अन्त्यसमये नवसत्कर्म्यतास्यानं, ताश्च वेद्यमाना नवेमा, तद्यथा-मनुजगति १ पश्चेन्द्रियजाति २ त्रस ३ बादर ४ पर्याप्तक ५ सुभगादेय ६-७ यशःकीर्त्ति ८ तीर्थकररूपाः ९, एता एव शैलेश्यन्त्यसमये सत्तां बिम्रति, शेषास्तु एकसप्ततिः सप्तषष्टिर्वा द्विचरमसमयेक्षयमुपयान्ति एता एव नव अतीर्थकरकेवलिनस्तीर्थकरनामरहिता अष्टौभवन्ति, अतोऽन्त्यसमयेऽष्टसत्कर्म्पतास्थानमिति ।

सामान्येन गोत्रस्य द्वे सत्कर्म्मतास्थाने, तद्यथा - उज्ञनीचगोत्रसद्भावे सत्येकं सत्कर्म्मता-स्थानं, तेजोवायूच्चैर्गोत्रोढलने कालंकलीभावावस्थायां नीचैर्गौत्रसत्कर्म्मतेति ढितीयं, यदिवा अयोगिढिचरमसमये नीचैर्गोत्रक्षये सत्युच्चैर्गोत्रसत्कर्म्मता, एवं ढिरूपगोत्रावस्थाने सत्येकं सत्कर्म्मतास्थानमन्यतरगोत्रसद्भावे सति ढितीयमित्येवं कर्म्म प्रत्युपेक्ष्य तत्सत्तापगमाय यतिना यतितव्यमिति । किं च –

मू. (९९४) कम्पमूलं च जं छणं, पडिलेहिय सब्वं समायाय दोहिं अंतेहिं अदिस्समाणे तं परित्राय मेहावी, विइत्ता लोगं वंता लोगसन्नं से मेहावी परिक्वमिज्ञासि –त्तिबेभि ।।

**वृ.** कर्मणो मूल-कारणं मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगाः, च समुच्चये, कर्म्ममूलं च प्रसुपेक्ष्य 'यत्सण'मिति 'क्षणु हिंसायां' क्षणनं-हिंसनं यत्किमपि प्राण्युपघातकारि तत् कर्म्ममूलत्या प्रसुपेक्ष्य परित्यजेत्, पाठान्तरं वा 'कम्मामाहूय जं छणं' य उपादानक्षणोऽस्य कर्म्मणः तत्क्षणं कर्माहूय-कर्म्मोपादाय तत्क्षणमेव निवृत्तिं कुर्याद्, इदमुक्तं भवति-अज्ञानप्रमादादिना यस्मित्रेव क्षणे कर्महितुकमनुष्ठानं कुर्यात्तस्मिन्नेव क्षणे लब्धचेताः तदुपादानहेतोर्नवृत्तिं विदध्यादिति, पुनरप्युपदेशदानायाह-'पडिलेहिअ' इत्यादि, 'प्रत्युपेक्ष्य' पूर्वोक्तं कर्म्म तद्विपक्षमुपदेशं च सर्वं 'समादाय' गृहीत्वा अन्तहेतुत्वादन्ती-रागद्वेषौ ताभ्यां सहादश्यमानः ताभ्यामनपदिश्यमानो वा तत्कर्मतिदुपादानं वा रागादिकं ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेदिति, रागादिमोहितं लोकंविषयकषायलोकं वा ज्ञात्वा वान्त्वा च 'लोकसंज्ञां' विषयपिपासासंज्ञितां धनायाग्रहग्रहरूपां वा 'स' मेघावी मर्यादाव्यवस्थितः सन् 'पराक्र मेत' संयमानुष्ठाने उद्युक्तो भवेत् विषयपिपासा-मरिषड्वर्गं वाऽष्टप्रकारं वा कर्म्पावधभ्याद् । इतिः परिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत् ।

अध्ययनं-३ - उद्देशकः-१ समाप्तः

-: अध्ययनं-३, उद्देशकः २ :-

**वृ.** उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, पूर्वद्दिशके भावसुप्ताः प्रदर्शिताः, इह तु तेषां स्वापविपाकफलमसातमुच्यते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्—

मू. (११५) जाइं च वुड्विंढ च इहऽज्र ! पासे, भूएहिं जाणे पडिलेह सायं । तम्हाऽतिविञ्जे परमंति नद्या, संमत्तदंसी न करेइ पावं ।।

वृ. जातिः-प्रसूतिः बालकुमारयौवनवृद्धावस्थावसाना वृद्धिः 'इह' मनुष्यलोके संसारे बाअधैव कालक्षेपमन्तरेण, जातिं च वृद्धिं च 'पश्य' अवलोकय, इदमुक्तं भवति-जायमानस्य बदुःखं वृद्धावस्थायां च यच्छारीरमानसमुत्पद्यते तद्विवेकचक्षुषा पश्य, उक्तं च--॥१॥ ''जायमाणस्स जं दक्खं. मरमाणस्स जंतणो ।

''जायमाणस्स जं दुक्खं, मरमाणस्स जंतुणो । तेन दुक्खेन संतत्तो, न सरइ जाइमप्पणो

| ।। २ ।। | विरसरसियं रसंतो तो सो जोणीमुहाउ निष्फ्रिडइ । |
|---------|--|
|         | माऊए अप्पणोऽचिअ वेअणमउलं जनेमानो ''          |

II ३ ।। (तथा) - 'हीनभिन्नसरो दीनो, विवरीओ विचित्तओ । दुब्बलो दुक्खिओ वसइ, संपत्तो चरिमं दसं '

इत्यादि, अथवा आर्य इत्यामन्त्रणं भगवान् गौतममामन्त्रयति, इह आर्य ! जातिं वृद्धिं च तत्कारणं कर्म्म कार्य च दुःखं पश्य, ध्ष्टाऽवबुद्धयस्व, यथा च जात्यादिकं न स्यात् तथा विध-स्त्व।किं चापरं - 'भूएहि'मित्यादि, भूतानि-चतुर्द्दशभूतग्रामास्तैः सममात्मनः सातं-सुखं 'प्रत्युपेक्ष्य' पर्यालोच्य जानीहि, तथाहि-यथा त्वं सुखप्रिय एवमन्येऽपीति, यथा च त्वं दुःखद्विडेवमन्येऽपि जन्तवः, एवं मत्वाऽन्येषामसातोत्पादनं न विदध्याः, एवं च जन्मादिदुःखं न प्राप्स्यसीति, उक्तं च--

॥ ९ ॥ ''यथेष्टविषयाः सातमनिष्टा इतरत्तेवं । अन्यत्रापि विदित्वैवं, न क्यादप्रियं जने ''

यद्येवंततः किमित्याह- 'तम्हा' इत्यादि, 'तस्माद्' जातिवृद्धिसुखदुःखदर्शनादतीय विद्या-तत्त्वपरिच्छेत्री यस्यासावतिविद्यः स 'परमं' मोक्षं ज्ञानादिकं वा तन्मार्गं ज्ञात्वा सम्यकत्वदर्शी सन् पापं न करोति, सावद्यमनुष्ठानं न विदधातीत्युक्तं भवति । पापस्य च मूलं स्नेहपाशा-स्तदपनोदार्थमाह–

मू. (११६) उम्मुंच पासं इह मझिएहिं, आरंभजीवी उभयानुपस्ती। कामेसु गिद्धा निचयं करंति, संसिद्यमाणा पुनरिंति गब्भं।।

**वृ**. 'इह' मनुष्यलोके चतुर्विधकषायविषयविमोक्षक्षमाधारे मत्यैः सार्द्ध द्रव्यभावभेदभिन्नं पाशमुत्-प्राबल्येन 'मुश्च' अपाकुरु, स हि कामभोगलालसस्तदादानहेतोहिंसादीनि पापान्यारभते अतोऽपदिश्यते- 'आरंभ' इत्यादि, आरम्भेण जीवितुं शीलमस्येत्यारम्भजीवी-महारम्भपरिग्रहण्-रिकल्पितजीवनोपायः उभयं-शारीरमानसमैहिकामुष्भिकं वा द्रष्टुं शीलमस्येति स तथा, किं च-'कामेसु' इत्यादि, कामा-इच्छामदनरूपास्तेषु गृद्धाः-अध्युपपन्ना निचयं-कर्म्मोपचयं कुर्वनि । यदि नामैवं ततः किमित्याह-'संसिद्य' इत्यादि, तेन कामोपादानजनितेन कर्म्मणा 'संसिच्यमानाः' आपूर्यमाणा गर्भाद्गर्भान्तरमुपयान्ति, संसारचक्र वालेऽरघट्टघटीयन्त्रन्यायेन पर्यटन्ते, आसत इत्युक्तं भवति । तदेवमनिभृतात्मा किंभूतो भवतीत्याह--

# मू. (999) अवि से हासमासज्ज, हंता नंदीति मन्नई। अलं बालस्स संगेण, वेरं वट्टेइअप्पणी।।

ष्ट्र. हीभयादिनिमित्तश्चेतोविप्लवो हासस्तमासाद्य-अङ्गीकृत्य 'स' कामगृघ्नुर्हत्वाऽपि प्राणिनो 'नन्दी'ति क्रीडेति मन्यते, वदति च महामोहावृत्तोऽशुभाध्यवसायो यथा एते पशवो मृगयार्थं सृष्टाः, मृगया च सुखिनां क्रीडायै भवति, इत्येवं मृषावादादत्तादानादिष्वप्यायोज्यं। यदि नामैवं ततः किमित्याह-'अल'मित्यादि, अलं-पर्याप्तं बालस्य-अज्ञस्य यः प्राणातिपातादिरूपः सङ्गो विषयकषायादिमयो वा तेनालं, बालस्य हास्यादिसङ्गेनालं, किमिति चेद् ?, उच्यते, 'वेर' मित्यादि, पुरुषादिवधसमुत्थं वैरं तद्बालः सङ्गानुषङ्गी सन्नात्मनो वर्द्धयति, तद्यथा--गुणसेनेन हास्यानुषङ्गादग्नि- शर्माणं नानाविधैरुपायैरुपहसता नवभवानुषङ्गि वैरं वर्द्धितं, एवमन्यज्ञापि विषयसङ्गादावा योज्यं ।। यतश्चैवमतः किमित्याह--

मू. (99८) तम्हातिविज्ञो परमंति नद्या, आयंकदंसी न करेइ पावं । अग्गं च मूलं च विगिंच धीरे, पलिच्छिंदिया णं निक्षमदंसी ।।

**ष्ट्र.** यस्माद्बालसङ्गिनो चैरं वर्द्धते तस्मादतिविद्धान् परमं-मोक्षपदं सर्वसंवररूपं चारित्रं वा सम्यग्ज्ञानं सम्यग्दर्शनं वा, एतत्परमिति ज्ञात्वा किं करोतीत्याह- 'आयंके'त्यादि, आतङको-नरकादिदुःखं तद्रष्टुं शीलमस्येत्यातङ्कदर्शी स 'पापं' पापानुबन्धि कर्म्म न करोति, उपलक्षणार्थत्वान्न कारयति नानुमन्यते। पुनर्प्युपदेशदानायाह- 'अग्गं च' इत्यादि, अग्रंभवोपग्राहिकर्म्मचतुष्टयं मूलं-घातिकर्म्मचतुष्टयं, यदिवा मोहनीयं मूलं शेषाणि त्वग्रं, यदिवा मिथ्यात्वं मूलं शेषं त्वग्रं, तदेवं सर्वमग्रं मूलं च 'विगिंच' इतित्यजापनय पृथक्कुरु, तदनेनेदमुक्तं भवति-न कर्म्मणः पौद्गलिक-स्यात्यन्तिकः क्षयः, अपि त्वात्सनः पृथक्करणं, कथं मोहनीयस्य मिथ्यात्वस्य वा मूलत्वम् ? इति चेत्, तद्दशाच्छेषप्रकृतिबन्धो यतः, उक्तं च--

॥१॥ "न मोहमतिवृत्त्य बन्ध उदितस्त्वया कर्म्मणां,

न चैकविधबन्धनं प्रकृतिबन्धविभवो महान् ।

अनादिभवहेतुरेष न च बध्यते नास--

कृत्त्वयाऽतिकुटिला गतिः कुशल ! कर्म्मणां दर्शिता ''

तथा चागमः- ''कहन्नं भंते ! जीवा अड कम्पपगडीओ बंधति ? , गोयमा ! नाणावरणिञ्जस्स उदएणं दरिसनावरणिञ्जं कम्मं नियच्छइ, दरिसनावरणिञ्जस्स कम्पस्स उदएणं दंसणमोहणीयं कम्मं नियच्छइ, दंसणमोहणिञ्जस्स कम्पस्स उदएणं मिच्छत्तं नियच्छइ, मिच्छत्तेणं उदिण्णेणं एवं खवुजीवे अडुकम्पपगडीओ बंधइ'', क्षयोऽपि मोहनीयक्षयाविनाभावी, उक्तं च---

11 9 11 ''नायगंमि हते संते, जहा सेना विनस्सई।

एवं कम्मा विनस्संति, मोहणिञ्जे खयं गए''

इत्यादि, अथवा मूलम्-असंयमः कर्म्म वास अग्नं-संयमतपसी मोक्षो वा ते मूलाग्ने 'धीरः' अक्षोभ्यो धीविराजितो वा विवेकेन दुःखसुखकारणतयाऽवधारय । किं च-'पलिच्छिदिया ण'मित्यादि, तपःसंयमाभ्यां रागादीनि बन्धनानि तत्कार्याणि वा कर्म्माणि छित्त्वा निष्कर्म्मदर्शी भवति, निष्कर्म्माणमात्मानं पश्यति तच्छीलश्च निष्कर्म्मत्वाद्वा अपगतावरणः सर्वदर्शी सर्वज्ञानी च भवति ।। यश्च निष्कर्म्मदर्शी भवति सोऽपरं किमाप्नुयादित्याह–

मू. (१९९) एस मरणा पमुद्धइ, से हु दिहभए मुनी, लोगंसि परमदंसी विवित्तजीवी उवसंते समिए सहिए सया जए कालकंखी परिवए, बहुं च खलु पावं कम्मं पगडं।

**द्**, 'एष' इत्यनन्तरोक्तो मूलाग्ररेचको निष्कर्म्मदर्शी मरणाद्-आयुःक्षयलक्षणात् मुच्यते, आयुषो बन्धनाभावाद्, यदिवा आजवंजवीभावादावीचीमरणाद्वा सर्व एव संसारो मरणं तस्मात्र्रमुच्यते । यश्चैवं स किम्भूतो भवतीत्याह-'से हु' इत्यादि, 'सः' अनन्तरोक्तो मुनिध्धं संसाराद्मयं सप्तप्रकारं वा येन स तथा, हुरवधारणे ध्धभय एव । किंच 'लोयंसि' इत्यादि, लोके द्रव्याधारे चतुर्द्दशभूतग्रामात्मकेवा परमो-मोक्षस्तत्कारणं वा संयमः तंद्रष्टुं शीलमस्येति परमदर्शी, तथा 'विविक्तं' स्त्रीपशुपण्डकसमन्वितशय्यादिरहितं द्रव्यतः भावतस्तु रागद्वेषहितमसङ्क्लिष्टं जीवितुं शीलमस्येति विविक्तजीवी, यश्चैयम्भूतः सइन्द्रियनोन्द्रियोपशमादुपशान्तो, यश्चोपशान्तः स पश्चभिः समितिभिः सम्यग्वा इतो-गतो मोक्षमार्गे समितः, यश्चैयं स ज्ञानादिभिः सहितः-समन्वितो, यश्च ज्ञानादिसहितः स सदा यतः- अप्रमादी किमवधिश्चायमनन्तरोक्तो गुणोपन्यास इत्याह–

'काल' इत्यादि, कालो-मृत्युकालस्तमाकाङ्कितुं शीलमस्येति कालाकाङ्क्षी स एवम्भूतः परिः-समन्तात्व्रजेत्परिव्रजेत्, यावत्पर्यायागतं पण्डितमरणं तावदाकाङ्घमाणो विविक्तजीवित्वादि-गुणोपेतः संयमानुष्ठानमार्गे परिष्यष्केदिति । स्यादेतत्-किमर्थं एवं क्रियते ? इत्याह-मूलोत्तरप्रकृतिभेदभिन्नं प्रकृतिस्थित्यनुभावप्रदेशबन्धात्मकं बन्धोदयसत्कर्म्मताव्यवस्थामयं तथा बद्धस्पृष्टनिधत्तनि- काचितावस्था गतं कर्म्म तच्च न इसीयसा कालेन क्षयमुपयातीत्यतः कालाकाङक्षीत्युक्तं, तत्र बन्धस्थानापेक्षया तावन्मूलोत्तरप्रकृतीनां बहुत्वं प्रदर्श्यते, तद्यधा-सर्वमूलप्रकृतीर्बध्नतोऽन्तमुई्त्तं यावदधविधं, आयुष्कवर्ज्नं सप्तविधं, तज्जधन्येनान्तर्मुहुर्त्तमुऌुष्ट-तस्तद्रहितानि त्रयस्त्रिशंत्सागरोपमाणि पूर्वकोटित्रिभागाभ्यधिकानि, सुक्ष्मसंपरायस्य मोहनीयबन्धोपरमे आयुष्कबन्धाभावात् षड्विधम्, एतच्च जघन्यतः सामयिकमुत्कृष्ट-तस्त्वन्तर्मुहूर्त्तमिति, तथोपशान्तक्षीणमोहसयोगिकेवलिनां सप्तविधबन्धोपरमे सांतमेकं बध्नतामेकविधं बन्धस्थानं, तच्च जधन्येन सामयिकमुत्कष्टतो देशोनपूर्वकोटि कालियं। इदानीभुत्तर प्रकृतिबन्धस्थानान्यमिधीयन्ने–तत्र ज्ञानावरणान्तराययोः पञ्चभेदयोरप्येकमेव ध्रुवबन्धित्वादुबन्ध-स्थानं, दर्शनावरणीयस्य त्रीणि बन्धस्थानानि-निद्रापश्चकदर्शनचतुष्टयसमन्वयाद् ध्रुवबन्धित्वान्न-वविधं १, ततः स्त्यानर्खित्रिकस्यानन्तानुबन्धिभिः सह बन्धोपरमे षड्विधं २, अपूर्वकरण-सङ्क्षयेयभागे निद्राप्रचलयोर्बन्धोपरमे चतुर्विधं बन्धस्थानं ३ । वेदनीयस्यैकमेव बन्धस्थानं-सातमसातं वा बधन्तः, उभयोरपि यौगपद्येन विरोधितया बन्धाभावात् । मोहनीयबन्धस्थानानि दश, तद्यथा-द्वाविंशतिः-मिथ्यात्वं ९ षोडश कषाया १७अन्यतरवेदो १८ हास्यरतियुग्मारति- शोकयुग्मयोर-न्यतर २० द्भयं २१ जुगुप्सा २२ चेति १, मंथ्यात्वबन्धोपरमे सास्वादनस्य सैवैक- विंशतिः २, सैव सम्यगमिथ्यादृष्टेरविरतसम्यग्दृष्टेर्वा अनन्तानुबन्ध्यभावे सप्तदशविधं बन्धस्थानं ३, तदेव देशविरतस्याप्रत्याख्यानबन्धाभावे त्रयोदशविधं ४, तदेव प्रमत्ताप्रमत्तापूर्वकरणानां यतीनां प्रत्याख्यानावरणबन्धाभावान्नवविधं ५, एतदेव हास्यादियुग्मस्य भयजुगुप्सयोश्चापूर्वकरण-चरमसमये बन्धोपरमात्पञ्चविधं ६, ततोऽनिवृत्तिकरणसद्धयेयभागावसाने पुंवेदबन्धोपरमाचतुर्विधं ७, ततोऽपि तस्मित्रेव सङ्घयेयभागे क्षयमुपगच्छति सति क्रोधमानमायालोभसञ्जवलनानां क्रमेण बन्धोपरमात्रिविधं ८ द्विविध ९ मेकविधं १० चेति, तस्याप्यनिवृत्तिकरणचरमसमये बन्धोपरमान्मोहनीयस्वाबन्धकः ।

आयुषः सामान्येनैकविधं बन्धस्थानं चतुर्णामन्यतरत्, द्वयादेर्योगपद्येन बन्धाभावे विरोधादिति । नाम्नोऽष्टौ बन्धस्थानानि, तद्यथा-त्रयोविंशतिस्तिर्यग्गतिप्रायोग्यं बछ-तस्तिर्यग्गतिरिकेन्द्रियजातिरौदारिकतैजसकार्म्मणानि हुण्डसंस्थानं वर्णगन्धरसस्पर्शा-स्तिर्यग्गतिप्रायोग्यानुपूर्वी अगुरुलधूपघातं स्थावरं बादरसूक्ष्मयोरन्यतरदपर्याक्तकं प्रत्येक-साधारणयोरन्यतरत् अस्थिरं अशुभं दुर्भं अनादेयं अयशःकीर्त्तिर्निर्माणमिति, इयमेकेन्द्रिया- पर्याप्तकप्रायोग्यं बध्नतो मिथ्यादप्टेर्भवति १, इयमेव पराधातोच्छ्वाससंहिता पञ्चविंशतिः, नवरमपर्याप्तकस्थाने पर्याप्तकमेव वाच्यं २, इयमेव चातपोद्योतान्यतरसमन्विता षड्विंशतिः, नवरं बादरप्रत्येके एव वाच्ये ३, तथा देवगतिप्रायोग्यं बध्नतोऽष्टाविंशतिः, तथाहि-देवगतिः १ पञ्चेन्द्रियजातिः २ वैक्रिय ३ तैजस ४ कार्म्मणानि ५ शरीराणि समचतुरस्नं ६ अङ्गोपाङ्गं ७ वर्णादिचतुष्टयं १९ आनुपूर्वी १२ अगुरुलघू १३ पद्यात १४ पराघात १५ उच्छ्वासाः १६ प्रशस्तविहायोगतिः १७ त्रसं १८ बादरं १९ पर्याप्तकं २० प्रत्येकं २१ स्थिरास्थिरयोरन्यतरत् २२ शुभाशुभयोरन्यतरत् २३ सुभगं २४ सुस्वरं २५ आदेयं २६ यशः कीत्त्यॅयशःकीर्त्त्योरन्यतरत् २७ निर्माणमिति २८, एषैव तीर्थकरनामसंहिता एकोनत्रिंशत्, साम्प्रतं त्रिंशत्

देवगतिः १ पश्चेन्द्रियजातिः २ वैक्रिया ३ हारका ४ झोपाङ्ग ६ चतुष्टयं तैजस ७ कार्म्मणे ८ संस्थानमाद्यं ९ वर्णादिचतुष्कं १३ आनुपूर्वी १४ अगुरुलघू १५ पघातं १६ पराघातं १७ उच्छ्वासं १८ प्रशस्तविहायोगतिः १९ त्रसं २० बादरं २१ पर्याप्तकं २२ प्रत्येकं २३ स्थिरं २४ शुभं २५ सुभगं २६ सुस्वरं २७ आदेयं २८ यशःकीर्त्ति २९ निर्माण ३० मिति च बध्नत एकं बन्धस्थानं ६, एषैव त्रिंशत्तीर्थकरनामसहिता एकत्रिंशत् ७, एतेषां च बन्धस्थाना-नामेकेन्द्रियद्वीन्द्रियत्रीन्द्रियनत्कगत्यादिभेदेन बहुविधता कर्म्मग्रन्थादवसेया, अपूर्व-करणादिगुणस्थानकत्रयेदेवगतिप्रायोग्यबन्धोपरमाद्यशःकीर्त्तिमेव बध्नतः एकविधं बन्धस्थानमिति ८, तत ऊर्द्धनाम्नो बन्धाभाव इति । गोत्रस्य सामान्यनैकं बन्धस्थानं-उच्चनीचयोरन्यतरत्, यौगपधेनोभयोर्बन्धाभावो विरोधादिति । तदेवं बन्धद्वारेण लेशतो बहुत्वन्येनैकं बन्धस्थानं-उच्चनीचयोरन्यतरत्, यौगपधेनोभयोर्बन्धाभावो विरोधादिति। तदेवं बन्धद्वारेण लेशतो बहुत्मावेदितं कर्मणां, तच्च बहु कर्म्म प्रकृतं बद्धं प्रकटंवा, तत्कार्यप्रदर्शनात्, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारेठवधारणे वा, बह्वेव तत्कर्म् । यदि नामैवं ततस्तदपनयनार्थं किं कर्त्तव्यमित्याह–

मू. (१२०) सद्यंमि धिइं कुव्वहा, एत्योवरए मेहावी सव्वं पावं कम्मं जोसइ।

वृ. संद्भ्यो हितः सत्यः-संयमस्तत्र धृतिं कुरुध्वं, सत्यो वा मनीन्द्रागमो यथावस्थित-वस्तुस्वरूपाविर्भावनात्, तत्रभगवदाज्ञायां धृतिं कुमार्गपरित्यागेन कुरुध्वमिति, किंच-'एत्योवरए' इत्यादि, 'अत्र' अस्मिन् संयमेभगवद्वचसि वा उपसामीप्येन रतो-व्यवस्थितो 'मेधावी' तत्त्वदर्शी 'सर्वम्' अशेषां 'पापं' कर्म्म संसारार्णवपरिभ्रमणहेतुं झोषयति-शोषयति क्षयं नयतीतियावत् । उक्तोऽप्रमादः, तत्यत्यनीकस्तु प्रमादः, तेन च कषायादिप्रमादेन प्रमत्त; किंगुणो भवतीत्याह-

मू. (१२१) अनेगवित्ते खलु अयं पुरिसे, से केयणं अरिहए पूरिण्णए, से अन्नवहाए अन्नपरियावाए अन्नपरिग्गहाए जणवयवहाए जणवयपरियावाए जणवयपरिग्गहाए ।

**वृ.** अनेकानि चित्तानिकृषिवाणिज्यावलगनादीनि यस्यासावनेकचित्तः, खलुरवधारणे, संसारसुखाभिलाष्यनेकचित्त एव भवति, 'अयं पुरुष' इति प्रत्यक्षगोचरीभूतः संसार्यपदिश्यते, अत्र च प्रागुपन्यस्तदधिघटिकया कपिलदरिद्रेण च दृष्टान्तो वाच्य इति । यश्चानेकचित्तो भवति स किं कुर्यादित्याह-'से केयण'मित्यादि, द्रव्यकेतनं चालिनी परिपूर्णकः समुद्रो वेति भावकेतनं लोभेच्छा, तदसावनेकचित्तः केनाप्यभूतपूर्वं पुरयितुमर्हति, अर्थितया शक्याशक्यविचारा-क्षमोऽशक्यानुष्ठानेऽपि प्रवर्त्ततइत्युक्तं भवति, स च लोभेच्छापूरणव्याकुलितमतिः किं कुर्यादित्याह- 'से अन्नवहाए' इत्यादि, स लोभपूरणप्रवृत्तोऽन्येषां प्राणिनां वधाय भवति, तथाऽन्येषां शारीरमानसपरितापनाय, तथाऽन्येषां द्विपदचतुष्पदादीनां परिग्रहाय, जनपदे भवा जानपदाः कालप्रष्टादयो राजादयो वा तद्वधाय, मगधादिजनपदा वा तद्वधाय, तथा जनपदानां लोकानां परिवादाय-दस्युरयं पिशुनो वेत्येवं मर्मोदघट्टनाय, तथा जनपदानां-मगधादीनां परिग्रहाय, प्रभवतीति सर्वत्राध्याहारः ॥ किं य एते लोभप्रवृत्ता वधादिकाः क्रियाः कुर्व्वन्ति ते तथाभूता एवासते उतान्यधाऽपीति दर्शयति-

मू. (१२२) आसोवित्ता एतं अडुं इद्येवेगे समुडि़या, तम्हा तं बिइयं नो सेवे, निस्सारं पासिय नाणी, उववायं चवणं नद्या, अनन्नं चर माहणे, से न छणेन छणावए छणंतं नाणुजाणइ, निव्विंद नंदिं, अरए पयासु, अणोमदंसी, निसण्णे पावेहिं कम्पेहिं।

**दृ**. एवम्-अनन्तरोक्तमर्थमन्यवधपरिग्रहपरितापनादिकमासेव्यच 'इत्येवे'ति लोभेच्छाप्रतिपूरणायैव 'एके' भरतराजादयः 'समुस्थिताः' सम्यग्योगत्रिकेणोस्थिताः संयमानुष्ठाने-नोद्यतास्तेनैव भवेन सिद्धिमासादयन्ति । संयमसमुत्थानेन च समुत्याय कामभोगान् हिंसादीनि चाम्रवद्वाराणि हित्वा किं विधेयमित्याह-'तम्हा' यस्माद्वान्तभोगतया कृतप्रतिज्ञस्तस्माद्मोग-लिप्सुतया तं द्वितीयं मृषावादमसंयमं वा नासेवेत । विषयार्थमसंयमः सेव्यते, ते च विषया निःसारा इति दर्शयति-'निस्सारं' इत्यादि, सारो हि विषयगणस्य तस्नाप्तौ तृप्तिस्तदभावान्निःसारसं धष्टवा 'ज्ञानी' तत्त्वेदी न विषयाभिलाषं विदध्यात् । न केवलं मनुष्याणां, देवानामपि विषयसुखास्पदमनित्यं जीवितमिति च दर्शयति-'उववायं चवणं नद्या' उपपातं-जन्म च्यवनं-पातस्तच्च ज्ञात्वा न विषयसङ्गोन्मुखो भवेदिति, यतो निःसारो विषयग्रामः समस्तः संसारो वा सरवाणि च स्थानन्यशाश्वतानि, ततः किं कर्त्तव्यमित्याह-'अनन्न'मित्यादि, मोक्षमार्गादन्योऽनन्यः-ज्ञानादिकस्तं चर 'माहण' इति मुनिः ।

किं च-'से न छणे' इत्यादि, स भुनिरनन्यसेवी प्राणिनो न क्षणुयात्-न हन्यात् नाप्यपरं धातयेत् धातयन्तं न समनुजानीयात् । चतुर्धव्रतसिद्धये त्विदमुपदिश्यते-'निव्विद' इत्यादि, निर्विन्दरव-जुगुप्सरव विषयजनितां 'नंदी' प्रमोदं, किम्भूतः सन् ? 'प्रजासु' स्त्रीषु अरक्तो-रागरहितो, भावयेच्च यथैते विषयाः किम्पाकफलोपमास्त्रीपुषीफलनिबन्धनकटवः, अतस्तदर्थे परिग्रहाग्रहयोगपराङ्चुखो भवेदिति, उत्तमधर्म्मपालनार्थमाह-'अणोम' इत्यादि, अवमं-हीनं मिथ्यादर्शनाविरत्यादि तद्विपर्यस्तमनवमं तष्टुंशीलमस्येत्यनवमदर्शी सम्यद्गर्शनज्ञानचारित्रवान्, एवम्भूतः सन् प्रजानुगां नन्दिं निर्विन्दस्वेति सण्टङ्कः । यश्चानवमसंदर्शी स किम्भूतो भवतीत्याह-'निसन्न' इत्यादि पापोपादानेभ्यः कर्म्मभ्यो निषण्णो-निर्विण्णः पापकर्म्मभ्यः पापकर्म्मसु वा कर्त्तव्येषु निवृत्त इतियावत् ॥ किं च-

## मू. (१२३) कोहाइमानं हणिया य वीरे, लोभस्स पासे निरयं महंतं। तम्हा य वीरे विरए वहाओ, छिंदिज्ञ सोयं लहुभूयगामी।।

षृ. क्रोध आदिर्येषां ते क्रोधादयः मीयते-परिच्छिंदतेऽनेनेति मानं-स्वलक्षणं अनन्तानुबन्ध्यादिविशेषः,क्रोधादीनां मानंक्रोधादिमानं,क्रोधादिर्वायोमानो-गर्वः क्रोधकारणस्तं हन्यात्, कोऽसौ ?- वीरः, द्वेषापनोदमुक्त्वा रागापनोदार्थमाह – 'लोहस्स' इत्यादि, लोभस्यानन्तानुबन्ध्यादेश्चतुर्विधस्यापि स्थितिं विपाकं च पश्य, स्थितिर्महती सूक्ष्मसम्प-रायानुयायित्वाद्विपाकोऽप्यप्रतिष्ठानादिनरकापत्तेर्महान्, यत्त आगमः—''मच्छा मणुआ य सत्तमिं पुढविं'' ते च महालोभाभिभूताः सप्तमपृथिवीभाजो भवन्तीति भावार्थः । यद्येवं ततः किं कर्त्तव्यमित्याह-'तन्हा' इत्यादियस्माल्लोभाभिभूताः प्राणिवधादिप्रवृत्तित्या महानरकभाजोभवन्ति, तस्माद्वीरो लोभहेतोः-वधाद्विरतः स्यात्, किंच-'छिंदिज्ञ' इत्यादि, शोकं भावश्रोतो वा छिन्द्यात्-अपनयेत्, किम्भूतो ? — लघुभूतो-मोक्षः संयमो वा तं गन्तुं शीलमस्येति लघुभूतगामी, लघुभूतं वा कामयितुं शीलमस्येति लघुभूतकामी,

मू. (१२४) गंधं परिण्णाय इहऽञ्ज ! धीरे, सोयं परिण्णायचरिज दंते । उम्पञ लद्धं इह माणेवेहिं, नो पाणिणं पाणे समारभिज्ञा सि ।। तिबेमि ।

षृ. पुनरप्युपदेशदानायाह—'गन्थ' मित्यादि, 'ग्रन्थं' बाह्याभ्यन्तरभेदभिन्नं इपरिज्ञया परिज्ञाय इहाधैव कालनतिपातेन धीरः सन् प्रत्याख्यानपरिज्ञया परित्यजेत्, किंच-'सोय' मित्यादि, विषयाभिष्वङ्गः संसारश्रोतस्तत् ज्ञात्वा दान्त इन्द्रियनोइन्द्रियदमेन संयमं चरेदिति, किमभिसन्धाय संयमं चरेदित्याह—'उम्मज लद्धु'मित्यादि, इह मिथ्यात्वादिशैवलाच्छादितसंसारहदे जीवकच्छपः श्रुतिश्रद्धासंयमवीर्यरूपमुन्मज्जनमासाद्य-लब्ध्वा, अन्यन्न सम्पूर्णमोक्षमार्गासम्भवात् मानुष्ये-श्वित्युक्तं, कत्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियासच्यपेक्षत्वादुत्तरक्रियानाह-'नो पाणिण' मित्यादि, प्राणा विद्यन्ते, कत्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियासव्यपेक्षत्वादुत्तरक्रियामाह-'नो पाणिण' मित्यादि, प्राणा विद्यन्ते येषां ते प्राणिनस्तेषां प्राणान्-पश्चेन्द्रियत्रिविधबलोच्छ्वासनिश्वासायुष्कलक्षणान् 'नो समारभेथाः' न व्यपरोपयेः, तदुपधातकार्यनुष्ठानं मा कृथा इत्युक्तं भवति, इतिः परिसमाप्तौ, व्रवीमीति पूर्ववत् ।

अध्ययनं-३, उद्देशकः २ समाप्तः

-: अध्ययननं-३, उद्देशकः-३ :-

**वृ.** उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके दुःखं तत्सहनं च प्रतिपादितं, न च तत्सहनेनैव संयमानुष्ठानरहितेन पापकर्म्माकरणतया वा श्रमणो भवतीत्येतत् प्रागुद्देशार्थाधिकारनिर्दिष्टमुच्यते, ततोऽनेन सम्बन्धोनायातस्यास्योद्देशकस्य सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम्--

मू. (१२५) संधिं लोयस्स जाणित्ता, आयओ बहिया पास, तम्हा न हंता विधायए, जमिणं अत्रमन्नवितिगिच्छाए पडिलेहाए न करेइ पावं कम्पं, किं तत्य मुनी कारणं सिया ?

**वृ** तत्र सन्धिर्द्रव्यतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः कुड्यादिविवरं भावतः कर्मवियरं, तत्र दर्शनमोहनीयं यदुदीर्णं तत्क्षीणं शेषमुपशान्तमित्ययं सम्यक्त्वावाप्तिलक्षणो भावसन्धिः, यदिवा ज्ञानावरणीयं विशिष्टक्षायोपशमिकभावमुपगतमित्ययं सम्यक्त्वावाप्तिलक्षणो भावसन्धिः, अधवा चारित्रमोहनीयक्षयोपशमात्मकः सन्धित्तं ज्ञात्वा न प्रमादः श्रेयानिति, यथा हि लोकस्य चारकाद्यवरुद्धस्य कुड्यनिगडादीनां सन्धि-छिद्रं ज्ञात्वोपलभ्य न प्रमादः श्रेयान्, एवं मुमुक्षोरपि कर्मविवरमासाद्य लवक्षणमपि पुत्रकलत्रसंसारसुखव्यामोहो न श्रेयसे भवतीति, यदिवा सन्धानं सन्धिः, स च भावसन्धिर्ज्ञानदर्शनचारित्राध्यवसायस्य कर्म्भोदयात् त्रुट्यतः पुनः सन्धानं मीलनम्, एतत्क्षायोपशमिकादिभावलोकस्य विभक्तिपरिणामाद्वा लोके ज्ञानदर्शनचारित्रार्हेभावसन्धि ज्ञात्वा तदक्षुण्णप्रतिपालनाय विधेयमिति, यदिवा सन्धिः-अवसरो धर्मानुष्ठानस्य तं ज्ञात्वा लोकस्य-भूतग्रामस्य दुःखोत्पादनानुष्ठानं न कुर्यात् ।

सर्वत्रात्मौपम्यं समाचरेदित्यांह-'आयओ' इत्यादि, यथा स्नात्मनः सुखमिष्टमितरत्त्वन्यथा तथा बहिरपि-आत्मनो व्यतिरिक्तानामपि जन्तूनां सुखप्रियत्वमसुखाप्रियत्वं च 'पश्य' अवधारय तदेवमात्मसमतां सर्वप्राणिनामवधार्य किं कर्त्तव्यमित्याह-'तम्हा' इत्यादि, यस्मात्सर्वेऽपि जन्तवो दुःखद्विषः सुखलिप्सवस्तस्मात्तेषां 'न हन्ता' न व्यापादकः स्यान्नाप्यपरैस्तान् जन्तून् विविधैः-नानाप्रकारैरुपायैर्घातयेत् विघातयेदिति, यद्यपि कांश्चित् स्थूलान् सत्त्वान् स्वयं पाषण्डिनो न ध्नन्ति तथाऽप्यौद्देशिकसन्निघ्यादिपरिमोगानुमतेरपरैर्घातयन्ति । न चैकान्तेन पाषकर्म्माकरण-मात्रतया श्रमणो मवतीति दर्शयति- 'जमिण' मित्यादि, यदिदं यदेतत् पापकर्म्माकरणताकरणं, किं तद् ?, दर्शयति-अन्योऽन्यस्य परस्परं या विचिकित्सा-आशङ्का परस्परतो भयं लज्जा वा तया तां वा प्रत्यूपेक्ष्य परस्पराशङ्कयाऽपेक्षया वा–

पापं-पापोपादानं कर्म्मानुष्ठानं 'न करोति' न विधत्ते, किं प्रश्ने क्षेपे वा, 'तत्र' तस्मिन् पापकर्म्माकरणे किं मुनिः कारणं स्यात् ?, किं मुनिरितिकृत्वा पापकर्म्म न करोति ?, काक्वा पृच्छति, यदिवा यदि नामासौ यथोक्तनिमित्तात्पापानुष्ठानविधायी न सञ्जज्ञे किमेतावतैव मुनि-रसौ ?, नैव मुनिरित्यर्थः, अद्रोहाध्यवसायो हि मुनिभावकारणं, स च तत्र न विद्यते, अपरोपाध्या-वेशात्, विनेयो वा पृच्छति-यदिदं परस्पराशङ्कर्या आधाकर्म्मादिपरिहरणं तन्मुनिभावाङ्गतां यात्याहोस्विन्नेति ?, आचार्यआह-सौम्य ! निरस्तापरव्यापारः श्रृ णु-'जमिण' मित्यादि, अपरोपाध्य-निरस्तहेयव्या---पारत्वमेव मुनिभावकारणमिति भावार्थः, यतः शुभान्तः करणपरिणामव्यापारा-पादितक्रि यस्य मुनिभावो नान्यथेति, अयं तावन्निश्चयनयाभिप्रायोय व्यवहाराभिप्रायेण तूच्यते-यो हि सम्यग्दष्टिरुत्सिपञ्चमहाव्रतभारस्तद्वहने प्रमाद्यन्यपरसमानसाधुलञ्जया गुर्व्वदाराध्यभयेन गौरवेण वाकेनिचिदाधाकर्म्मादि परिहरन् प्रत्युपेक्षणादिकाः क्रियाः करोति, यदि च तीर्थोद्मासनाय मासक्षपणातापनादिका जनविज्ञाताः क्रियाः करोति, तत्र तस्य मुनिमाव एव कारणं, तद्व्यापा-रापादितपारम्पर्यशुमाध्यवसायोपपत्तेः ॥ तदेवं शुभान्तःकरणव्यापारविकलस्य मुनित्ते सदसद्मावः प्रदर्शितः, कयं तर्हि नैश्चयिको मुनिभाव इत्यत आह-

#### मू. (१२६) समयं तत्युवेहाए अप्पाणं विष्पसायए-

अन्नन्नपरमं नाणी, नो पमाए कयाइवि । आयगुत्ते सया वीरे, जायामायाइ जावए

ष्ट्र. समभावः समता तां तत्रोद्रोक्ष्य-पर्यालोच्यं समताव्यवस्थितो यद्यकरकरोति येन केनचिद्राकारेणानेषणीयपरिहरणं लज्जादिना जनविदितं चोपवासादितत्सर्वं मुनिभावकारणमिति, यदिवा समयम्-आगमं तत्रोद्येक्ष्य यदागमोक्तविधिनानुष्ठानं तत्सर्वं मुनिभावकारणमिति भावार्थः, तेन चा गमोद्येक्षणेन समतोद्येक्षया वाऽ ऽत्मानं 'विप्रसादयेद्' विविधं प्रसादयेदागमपर्यालोचनेन समतादृष्टया वा आत्मानं विविधैरुपायैरिन्द्रियप्रणिधानाप्रमादादिभिः प्रसन्नं विदध्याद् । आत्मप्रसन्नता च संयमस्थस्य भवति, तत्राप्रमादवता भाव्यमित्याह च-'अनन्नपरम'मित्याद्यनुष्टुप्, न विद्यतेऽन्यः परमः-प्रधानोऽस्मादित्यनन्यपरमः-संयमस्तं 'ज्ञानी' परमार्थवित् 'नोप्रमादयेत्' तस्य प्रमादं न कुर्याकदाचिदपि, यथा चाप्रमादवत्ता भवति तथा दर्शयितुमाह-'आयगुत्ते' इत्यादि, इन्द्रियनोइन्द्रियात्मना गुप्तः आत्मगुप्तः 'सदा' सर्वकालं यात्रा-संयमयात्रा तस्यां मात्रा यात्रामात्रा, मात्रा च 'अच्चाहारो न सहे' इत्यादि, तयाऽऽत्मानं यापयेद्यथा विषयानुदीरणेन दीर्घकालं संयमाधारदेहप्रतिपालनं भवति तथा कुर्यादित्युक्तं भवति, उक्तं च—

॥ ९ ॥ "आहारार्थं कर्म्म कुर्यादनिन्दं, स्यादाहारः प्राणसन्धारणार्थम् ।

प्राणाः धार्यास्तत्त्वजिज्ञासनाय, तत्त्वं झेयं येन भूयो न भूयात् ''

–सैवात्मगुप्तता कथं स्यादिति चेदाह–

मू. (१२७) विरागं रूवेहिं गच्छिज्ञा महया खुडुएहि य, ।। आगइं गइं परिण्णाय दोहिवि अंतेहिं अस्समाणेहिं से न छिज्रइ न भिज़इ न डज्झइ न हंमइ ळंचणं सव्वलोए

**वृ.** 'विराग' मित्यादि, विरञ्जनं विरागस्तं विरागं रूपेषु मनोज्ञेषु चक्षुर्गोचरीभूतेषु 'गच्छेद्' यायात्, रूपमतीवाऽऽक्षेपकारी अतो रूपग्रहणम्, अन्यथा शेषविषयेष्वपि विरागं गच्छेदित्युक्तं स्यात्, महता-दिव्यभावेन यद्वयवस्थितं रूपं क्षुख्लेषु वा मनुष्यरूपेषु सर्वत्र विरागं कुर्यादिति, अथवा दिव्यादि प्रत्येकं महत् क्षुख़ं चेति क्रिया पूर्ववत्, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति–

॥ ९ ॥ ''विसयंमि पंचगंमीवि, दुविहंमि तियं तियं ।

भावओ सुद्व जाणित्ता, से न लिप्पइ दोसुवि ''

शब्दादिविषयपञ्चकेऽपिइप्टॉनिप्टरूपतया द्विविधे हीनमध्यमोॡ्रप्टभेदमित्येतत् भावतः-परमार्थतः सुष्ठु ज्ञात्वा स मुनिः पापेन कर्म्मणा द्वाभ्यामपि-रागद्वेषाभ्यां न लिप्यते, तदकरणादति भावः, स्यात्-किमालम्ब्यैतत्कर्त्तव्यमित्याह-'आगइ' मित्यादि, आगमनम्-आगतिः सा च तिर्यङ्गनु-ष्योश्चतुर्द्धा, चतुर्विधनरकादिगत्यागमनसद्भावाद्, देवनारकयोर्द्धेधा, तिर्यग्मनुष्यगतिभ्यामेवाग-मनसद्मावाद्, एवं देवगतिरपि, मनुष्येषु तु पञ्चधा, तत्र मोक्षयतिसद्भावाद्, अतस्तामागतिं गतिं च परिज्ञाय संसारचक्र वालेऽकधट्टधटीयन्त्रन्यायमवेत्य मनुष्यत्वे च मोक्षगतिसद्भावमा-कलप्यान्तहेतुत्वादन्तौ-रागद्वेषौ ताभ्यां द्वाभ्यामन्ताम्यामदृश्यमानाभ्यामनपदिश्यमानाभ्यां वा, क्त्वाप्रत्ययस्योत्तरक्रियामाह-'से' इत्यादि, सः-आगतिगतिपरिज्ञाता रागद्वेषाभ्यामनपदिश्यमानो न छिद्यतेऽस्यादिना न भिद्यते कुन्तादिना न दह्यते पावकादिना न हन्यते नरकगत्यानुपूर्व्यादिना बहुशः, अथवा रागद्वेषाभावात् सिद्धयत्येव, तदवस्यस्य चैतानि छेदनादीनि विशेषणानि-

'कंचण' मिति विभक्तिपरिणामात् केनचित्सर्वस्मिन्नपि लोके न छिद्यते नापि भिद्यते रागद्वेषोपशमादिति, तदेवमागतिगतिपरिज्ञानाद्रागद्वेषपरित्यागस्तदभावाच्च छेदनादिसंसार-दुःखाभावः।अपरेचसाम्प्रतेक्षिणः कुतो वयमागताः? क्वयास्यामः? किं वा तत्र नः सम्पत्त्यते? नैवं भावयन्त्यतः संसारभ्रमणपात्रतामनुभवन्तीति दर्शयितुमाह–

मू. (१२८) अवरेण पुर्व्वि न सरंति एगे, किमस्स तीयं किं वाऽऽगमिस्सं भासंति एगे इह माणवाओ, जमस्स तीयं तमागमिस्सं।।

**वृ.** रूपकं, 'अपरेण' पश्चात्कालभाविना सह पूर्वमतिक्रान्तं न स्मरन्त्येकेऽन्ये मोहाज्ञाना-वृतबुद्धयो यथा किमस्य जन्तोर्नरकादिभवोद्मूतं बालकुमारादिवयोपचितं वा दुःखाद्यतीतं किं वाऽऽगमिष्यति आगामिनि काले किमस्य सुखाभिलाषिणो दुःखद्विषो भावीति, यदि पुनरतीतागामिपर्यालोचनं स्यान्न तर्हि संसाररतिः स्यादिति, उक्तं च-- एके पुनर्महामिथ्याज्ञानिनो भाषन्ते- 'इह्र' अस्मिन् संसारे मनुष्यलोके वा मानवा-मनुष्य यथा यदस्य जन्तोरतीतं स्त्रीपुंनपुंसकसुभगदुर्भगश्वगोमायुब्राह्मणक्षत्रियविट्शूद्रादिभेदावेशात् पुनरप्यन्यजन्मानुभूतं तदेवागमिष्यम्-आगामीति, यदिवा न विद्यते परः-प्रधानोऽस्मादित्यपरः-संयमस्तेन वासितचित्ताः सन्तः 'पूर्वं' पूर्वानुभूतं विषयसुखोपभोगादि 'न स्मरन्ति' न तदनुस्मृतिं कुर्वते, एके रागद्वेषविप्रमुक्ताः, तथाऽनागतदिव्याङ्गनाभोगमपि नाकाङ्घन्ति, किं च-अस्य जन्तोरतीतं सुखदुःखादि किं वाऽऽगमिष्यम्-आगामीत्येतदपि न स्मरन्ति, यदिवा कियान् कालोऽतिक्रान्तः कियानेष्यति, लोकोत्तरास्तुभाषन्ते-एके रागद्वेषरहिताः केवलिनश्चतुर्द्दशपूर्वविदो वा यदस्य जन्तोरनादिनिधनत्वात् कालशरीरसुखाद्यतीतमागामिन्यपि तदेवेति, अपरे तु पठन्ति-॥ 9 ॥ ''अवरेण पव्वं किह से अतीतं, किह आगमिस्सं न सरंति एसे ।

 "अवरेण पुव्वं किह से अतीतं, किह आगमिस्सं न सरंति एसे । भार्सन्ति एगे इह माणवाओ, जह स अईअं तह आगमिस्सं "

अपरेण-जन्मादिना सार्खं पूर्वम्-अतिक्रान्तं जन्मादि न स्मरन्ति, 'कथनं वा' केन वा प्रकारेणातीतं सुखदुःखादि, कथं चैष्यमित्येतदपि नस्मरन्ति, एके भाषन्ते-किमन्न ज्ञेयं?, यथैवास्य रागद्वेषमोहसमुत्थैः कर्म्मभिर्बद्धयमानस्य जन्तोस्तद्विपाकांश्चानुभवतः संसारस्य यदतिक्रान्त -मागाम्यपितत्यकारमेवेति, यदिवा प्रमादविषयकषायादिना कर्म्माण्युपचित्येष्टानिष्टविषयाननुभवतः सर्वज्ञवाक्सुधास्वादासंविदो यथा संसारोऽतिक्रान्तस्तथागाम्यपि यास्यति, ये तु पुनः संसारार्णवतीरभाजस्ते पूर्वोत्तरवेदिन इत्येतद्दर्भयितुमाह–

मू. (१२९) नाईयमडं न य आगमिस्सं, अडं नियच्छन्ति तहागया उ । विहुयकप्पे एयाणुपस्सी, निज्झोसइत्ता खवगे महेसी ।।

म्नू. 'नाईय' मित्यादि, तथैव-अपुनरावृत्त्या गतं-गमनं येषां ते तथागताः-सिद्धाः, यदिवा यथैव ज्ञेयं तथैव गतं-ज्ञानं येषां ते तथागताः-सर्वज्ञाः, ते तु नातीतमर्थमनागतरूपतयैव नियच्छन्ति-अवधारयन्ति नाप्यनागतमतिक्रान्तरूपतयैव, विचित्रत्वात् परिणतेः, पुनरर्थग्रहणं पर्यायरूपार्थं, द्रव्यार्थतया त्वेकत्वमेवेति, यदिवा नातीतमर्थं विषयभोगादिकं नाप्यनागतं दिव्याङ्गनासङ्गादिकं स्मरन्त्यभिलषन्ति वा, के ?, तथागताः-रागद्वेषाभावात् पुनरावृत्तिरहिताः, तुशब्दो विशेषमाह, यथा मोहोदयादेके पूर्वमागामि बाऽभिलषन्ति, सर्वज्ञास्तु नैवमिति । तन्मार्गानुयाय्यप्येवम्भूत एवेति दर्शयितुमाह–

'विद्र्य कप्पे' इत्यादि, विविधम्-अनेकधा धूतम्-अपनीतमष्टप्रकारं कर्म्म येन स विधूतः, कोऽसौ ? कल्पः-आचारो, विधूतः कल्पो यस्य साधोः स विधूतकल्पः स एतदनुदर्शी भवति, अतीतानागतसुखाभिलाषी न भवतीतियावत्, एतदनुदर्शी च किंगुणो भवतीत्याह-'निज्झेस' इत्यादि, पूर्वोपचितकर्म्मणां निज्झोषयिता-क्षपकः क्षपयिष्यति वा तृजन्तमेतल्लुङन्तं वा । कर्म्मक्षपणायोद्यतस्य च धर्म्मध्यायिनः शुक्लध्यायिनो वा महायोगीश्वरस्य निरस्तसंसारसुख-दुःखविकल्पाभासस्य यत्स्यात्तद्दर्शयति--

मू. (९३०) का अरई के आनंदे ?, इत्यंपि अग्गहे चरे, सव्वं हासं परिद्यज्ञ आलीनगुत्तो परिव्वए, पुरिसा !- तुममेव तुमं मित्तं किं बहिया मित्तमिच्छसि ? **वृ.** इष्टाप्राप्तिविनाशोत्योमानसो विकारोऽरतिः,अभिलषितार्थावाप्तवानन्दः, योगिचित्तस्यतु धर्मशुक्लध्यानावेशावष्टब्धध्येयान्तरावकाशस्यारत्यानन्दयोरुपादानकारणाभावदनुत्यानमेवेत्यतोऽ-पदिश्यतेकेयमरतिर्नाम को वाऽऽनन्द इति ?, नास्त्येवेतरजनक्षुण्णोऽयं विकल्प इति । एवं तर्द्धरतिरसंयमे संयमे चानन्द इत्येतदन्यत्रानुमतमनेनाभिप्रायेण न विधेयमित्येतदनिच्छतोऽ-प्यापन्नमिति चेत्, न, अभिप्रायापरिज्ञानाद् यतोऽत्रारतिरतिविकल्पाध्यवसायो निषिषित्सितः, न प्रसङ्गायाते अप्यरतिरती, तदाह-'एत्यंपी'त्यादि, अत्राप्यरतावानन्दे घोपसर्जनप्राये न विद्यते 'ग्रहो' गार्ख्य तात्पर्यं यस्य सोऽग्रहः, स एवम्भूतश्चरेद्-अवतिष्ठेत, इदमुक्तं मवतिशुक्लध्या-नादारतोऽरत्यानन्दी कुतश्चिन्निमित्तादायातौ तदाग्रहग्रहरहितस्तावप्यनुचरेदिति । पुनरप्यु-पदेशवानायाह-'सव्य' मित्यादि, सर्वं हास्यं तदास्पदं वा परित्यज्याङ्-मर्यादयेन्द्रियनिरोधादिकया त्तीनः आलीनो गुप्तो मनोवाक्कायकर्मभिः कूर्म्भवद्वा संवृतगात्रः, आलीनश्चासौ गुप्तश्चालीनगुप्तः स एवम्भूतः--

परिः-समन्ताद्व्रजेत् परिव्रजेत् - संयमानुष्ठानविधायी भवेदिति । तस्य च मुमुक्षोरात्मसा-मर्थ्यात् संयमानुष्ठानं फलवद्भवति न परोपरोधेनेति दर्शयति-'पुरिसा' इत्यादि, यदिवा त्यक्तगृहपुत्रकलत्रधनधान्यहिरण्यादितया अकिञ्चनस्य समतृणमणिमुक्तालेष्टुकाञ्चनस्य मुमुक्षोरुपसर्गव्याकुलितमतेः कदाचिन्मित्राद्याशंसा भवेत्तदपनोदार्थमाह-'पुरिसा' इत्यादि, पूर्णः सुखदुःखयोः पुरि शयनाद्वा पुरुषो-जन्तुः, पुरुषद्वारामन्त्रणं तु पुरुषस्यैवोपदेशार्हत्वात्तद-नुष्ठानसमर्थत्वाच्चेति, कश्चित्संसारादुद्विग्नो विषमस्थितो वाऽऽत्मानमनुशास्ति, परेण वा साध्वादिनाऽनुशास्यते-यथा हेपुरुष-हेजीव! तव सदनुष्ठानविधायित्वात्त्वमेव मित्रं, विपर्यया-द्यामित्रः, किमिति वहिर्मित्रमिच्छसि ? –मृगयसे, यतो ह्युपकारि मित्रं, स चोपकारः षापार्थिकात्यन्तिकैकान्तिकगुणोपेतं सन्मार्गपतितमात्मानं विहायनान्येन शक्योविधातुं, योऽपि संसारसाहाय्योपकारितया मित्रामासाभिमानस्तन्मोहविजृन्भितं, यतो महाव्यसनोपनिपा-तार्णवपतनहेतुत्वादमित्र एवासौ, इदमुक्तं भवति-आत्मैवात्मनोऽप्रमत्तो मित्रम्, आत्यन्तिकै-कान्तिकपरमार्थसुखोत्पादनात्, विपर्ययाच्च विपर्ययो, न बहिर्मित्रमन्वेष्टव्यमिति, यत्त्वचं बाह्यो मित्रमित्रविकलपः सोऽदधोदयनिमित्तत्वादौपचारिक इति, उक्तं हि-

1) 9 1) ''दुप्पत्थिओ अमित्तं अप्पा सुपत्थिओ अ ते मित्तं । सुहदुक्खकारणाओ अप्पा मित्तं अमित्तं च''

II 9 II (तथा)—"अप्येकं मरणं कुर्यात्, संक्रुद्धो बलवानरिः । मरणानि त्वनन्तानि, जन्मानि च करोत्ययम् "

यो हि निर्वाणनिर्वर्त्तकं व्रतमाचरति स आत्मनो मित्रं, स चैवम्भूतः कुतोऽवगन्तव्यः ? किंफलश्चेत्याह–

मू. (१३१) जं जाणिज़ा उद्यालइयं तं जाणिज़ा दूरालइयं, जं जाणिज़ा दूरालइयं तं जाणिज़ा उद्यालइयं, पुरिसा ! अत्ताणमेवं अभिनिगिज्झ एवं दुक्खा पमुच्चसि, पुरिसा ! सद्यमेव समभिजाणाहि, सद्यस्त आणाएसे उवट्ठिए मेहावी मारंतरइ, सहिओधम्ममायाय सेयं समनुपस्सइ वृ. 'यं' पुरुषं 'जानीयात्' परिच्छिन्द्यात्कर्म्मणां विषयसङ्गानां चोच्चालयितारम्-अपनेतारं तं जानीयाद् 'दूरालयिक' मिति, दूरे सर्वहेयधर्म्भेभ्य इत्यालयो दूरालयः-मोक्षस्तन्मार्गे वा स विद्यते सय्येति मत्वर्थीयछन् दूरालयिकस्तमिति, हेतुहेतुमद्भावं दर्शयितुं गतप्रत्यागतसूत्रमाह-'जं जाणेञ्जे'त्यादि, यं जानीयाद्रूरालयिकं तं जानीयादुच्चालयितारमिति, एतदुक्तं भवति-यो हि कर्म्भणां तदस्रवद्वाराणां चोच्चालयिता-अपनेता स मोक्षमार्गव्यवस्थितो मुक्तो वेति, यो वा सन्मार्गानुष्ठयीा स कर्म्भणामुच्चालयितेति, स च आत्मनो मित्रमतोऽपदिश्यते –

'पुरिसा' इत्यादि, हे जीव ! आत्मानमेवाभिनिगृह्य धर्म्मध्यानाद्बहिर्विषयाभिष्वन्नाय निःसरन्तमवरुध्यततः 'एवम्' अनेन प्रकारेणदुःखात्सकाशादात्मानं प्रमोक्ष्यसि, एवमात्मा कर्म्मणां उच्चालयिताऽऽत्मनो मित्रं भवति । अपि च-'पुरिसा' इत्यादि हे पुरुष ! सद्च्यो हितः सत्यः-संयमस्तमेवापरव्यापारनिरपेक्षः समभिजानीहि-आसेवनापरिज्ञया समनुतिष्ठ, यदिवा सत्यमेव समभिजानीहिगुरुसाक्षिगृहीतप्रतिज्ञानिर्वाहको भव, यदिवा सत्यः-आगमस्तत्परिज्ञानं च मुमुक्षोस्तदुक्तप्रतिपालनं। किमर्थमेतदिति चेदाह-'सच्चस्से' त्यादि, सत्यस्य-आगमस्तात्परिज्ञानं च मुमुक्षोस्तदुक्तप्रतिपालनं। किमर्थमेतदिति चेदाह-'सच्चस्से' त्यादि, सत्यस्य-आगमस्याज्ञयोपस्थितः सन् मेधावी 'मारं' संसारं तरति, किं च-'सही'त्यादि, सहितो-ज्ञानादियुक्तः सह हितेन वा युक्तः सहितः 'धर्मां' श्रुतचारित्राख्यं 'आदाय' गृहीत्वा, किं करोतीत्याह-'श्रेयः' पुण्यमात्महितं वा सम्यग्-अविपरीतततयाऽनुपश्यति समनुपश्यति । उक्तोऽप्रमत्तः तद्गुणाश्च, तद्विपर्ययमाह-

मू. (१३२) दुहओ जीवियस्स परिवंदणमाणणपूयणाए, जंसि एगे पमायंति ।

**वृ.**द्विधा-रागद्वेषप्रकारद्वयेनात्मपरनिभित्तमैहिकामुष्मिकार्थं वायदिवा द्वाभ्यां-रागद्वेषाभ्यां हतो द्विहतो दुष्टं हतो वा दुर्हतः, स किं कुर्याद् ?-जीवितस्य कदलीगर्भनिःसारस्य तडिल्लता-समुल्लसितचञ्चलस्य परिवन्दनमाननपूजनार्थं हिंसादिषु प्रवर्ततते, परिवन्दनं-परिसंस्तवस्त-दर्थमाचेष्टते, लावकादिमांसोपभोगपुष्ट सर्वाङ्गोपाङ्गसुन्दरमालोक्य मांजनाः सुखमेव परिवन्दिष्यन्ते, श्रीमान् जीयास्त्वं बहूनि वर्षशतसहम्राणीत्येवमादिपरिवन्दनं,

तथा माननार्थं कम्मपिचिनोति, ध्धौरसबलपराक्रमं मामन्येऽभ्युत्थानविनयासन-दानाञ्जलिप्रग्रहैर्मानयिष्यन्तीत्यादिमाननं, तथापूजनार्थमपिप्रवर्त्तमानाः कमार्भ्रवैरात्मानां भावयत्ति मम हि कृतविद्यस्योपचितद्रव्यप्राग्भारस्य परो दानमानसत्कारप्रणामसेवाविशेषैः पूजां करिष्यतीत्यादि पूजनं, तदेवमर्थं कर्मोपचिनोति । किं च-'जंसि एगे'इत्यादि, यस्मिन् परिवन्दनादिनिमित्ते एके रागद्वेषोपहताः प्रमाद्यन्ति, न ते आत्माने हिताः ।। एतद्विपरीतं त्हाव-

मू. (१३३) सहिओ दुक्खमत्ताए पुट्ठो नो झंझाए, पासिमं दविए लोकालोकपवंचाओ मुछइ– त्तिबेमि ।।

ष्ट्र. सहितो-झानादिसमन्वितो हितयुक्तो वा दुःखमात्रया उपसर्गजनितया व्याध्युद्मवया वा स्पृष्टः सन् 'नो झंझाए'ति नो व्याकुलितमतिर्भवेत्, तदपनयनाय नोद्यच्छेद्, इष्टविषयावाप्तौ रागझञ्झाऽनिष्टावाप्तौ च द्वेषझञ्झेति, तामुभयप्रकारामपि व्याकुलतां परित्यजेदिति भावः । किंच-'पासिम' मित्यादि, यदुक्तमुद्देशकादेरारभ्यानन्तरसूत्रं यावत् तमिममर्थं पश्य-परिच्छिन्द्रि कर्त्तव्याकर्त्तव्यतया विवेकेनावधारय

कोऽसौ ?-द्रव्यभूतो-मुक्तिगमनयोग्यः साधुरित्यर्थः, एवम्भूतश्च कं गुणमवाप्नोति ?-आलोक्यत इत्यालोकः, कर्म्मणि धञ्, लोके चतुर्द्वशरज्वात्मके आलोको लोकालोकस्तस्य प्रपश्चः- पर्याप्तकापर्याप्तकसुभगादिद्वन्द्वविकल्पः, तद्यथा-नारको नारकत्वेनावलोक्यते, एकेन्द्रियादिरेकेन्द्रिय (यादि) त्वेन, एवं पर्याप्तकापर्याप्तकाद्यपि वाच्यं, तदेवम्भूताट्यपश्चन्मुच्यते-चतुर्द्वशजीवस्था-नान्यतरव्यपदेशार्ही न भवतीतियायद्। इतिः परिसमाप्तौ, व्रवीमीति पूर्ववत्।।

अध्ययनं-३, उद्देशकः ३ समाप्तः

-: अध्ययनं-३, उद्देशकः-४ :-

वृ. उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थ आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके पापकर्म्माकरणतया दुःखसहनादेव केवलाच्छ्रमणो न भवतीति अपि तु निष्प्रत्यूहसंयमा-नुष्ठानादित्येतत्र्यतिपादितं, निष्प्रत्यूहताचकषायवमनाद्भवति, तदधुना प्रागुद्देशार्याधिकारनिर्द्दिष्टं प्रतिपाद्यते, तदनने सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य सूत्रानुगमे सूत्रमुद्यारयितव्यं, तच्चेदम्-

मू. (१३४) से वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च, एयं पासँगस्स दंसणं, उवरयसंत्यस्स पलियंतकरस्स, आयाणं सगडब्भि ।

**वृ.** 'स' ज्ञानादिसहितो दुःखमात्रास्पृष्टोऽव्याकुलितमतिर्द्रव्यभूतो लोकालोकप्रपञ्चात् मुक्तदेश्यः स्वपरापकारिणं क्रोधं च वभिता 'टुवम् उद्गिरणे' इत्यस्मात्ताच्छीलिकस्तृन्, तद्योगे चषष्ठयाः प्रतिषेधे क्रोधशब्दाद् द्वितीया, लुङन्तं वैतत्, यो हि यथोक्तसंयमानुष्ठायी सोऽचिरात् क्रोधं वमिष्यति, एवमुत्तरत्रापि यथासम्भवमायोज्यं, तत्रात्मात्मीयोपघातकारिणि क्रोध-कर्म्यविपाकोदयात्क्रोधः, जातिकुलरूपबलादिसमुत्यो गर्वो मानः, परवञ्चनाध्यवसायो माया, तृष्णापरिग्रहपरिणामो लोभः, क्षपणोपशमक्रभमाश्चित्य च क्रोधादिकक्रमोपन्यासः, अनन्ता-नुबच्यप्रत्याख्यानप्रत्याख्यानावरणसञ्जवलनस्वगतभेदाविर्भावनाय व्यस्तनिर्द्देशः,

चशब्दस्तु पर्वतपृथ्वीरेणुजलराजिलक्षणलक्षकः, क्रोधस्य, शैलस्तम्भास्थिकाष्ठतिनिशल-तालक्षणलक्षको मानस्य, वंशकुडङ्गीमेषश्रृङ्गगोमूत्रिकाऽवलेखकलक्षणलक्षको मायायाः, कृमिरागकर्द्दमखअनहरिद्रालक्षणसूचको लोभस्य, तथा यावज्जीवसंवत्सरचातुर्मास-पक्षस्थित्याविर्मावकश्चेति । तदेवं क्रोधमानमायालोभवमनादेव पारमार्थिकः श्रमणभावो, न तत्सम्भवे सति, यत उक्तम्-

 ॥ १ ॥ सामन्नमनुचरंतस्स कसाया जस्स उक्कडा हुंति । मन्नमि उच्छुपुष्फं व निष्फलं तस्स सामण्णं
 ॥ २ ॥ जं अज़िअं चरित्तं देसूणाएवि पुव्यकोडीए । तंपि कसाइयमेत्तो हारेइ नरो मुहुत्तेणं ''

स्वमनीषिकापरिहारार्थं गौतमस्वाम्याह-'एय' मित्यादि, 'एतद्' यत्कषायवमनमनन्तर-मुपादेशि तत् 'पश्यकस्य दर्शन' सर्वं निरावरणत्वात्पश्यति-उपलभत इति पश्यः स एव पश्यकः-तीर्थकृत् श्रीवर्द्धमानस्वामी तस्य दर्शनम्-अभिप्रायो यदिवा दृश्यते यथावस्थितं वस्तुतत्त्वमनेनेति दर्शनम्-उपदेशो, न स्वमनीषिका, किम्भूतस्य पश्यकस्य दर्शनमित्याह-'उवरय' इत्यादि, उपरतं द्रव्यभावशस्त्रं यस्यासावुपरतशस्त्रः शस्त्राद्वोपरतः शस्त्रोपरतः भावे शस्त्रं त्वसंयमः कषाया वा, तस्मादुपरतः इदमुक्तं भवति-तीर्थकृतोऽपि कषायवमनमृते न निरावरणसकलपदार्थ-ग्राहिपरमज्ञानावाप्तिः, तदभावे च सिद्धिवधूसमागमसुखाभावः, एवमन्येनापि मुमुक्षुण । [1]12 तदुपदेशवर्त्तिना तन्मार्गानुयायिना कषायवमनं विधेयमिति, शस्त्रोपरमकार्यं दर्शयन् पुनरपि तीर्थकरविशेषणमाह-

'पलियंतकरस्स' पर्यन्तं कर्म्मणां संसारस्य वा करोति तच्छीलश्चेति पर्यन्तकरस्तस्यैतद् दर्शनमिति सण्टङ्कः । यथा च तीर्थकृत् संयमापकारिकषायशस्त्रोपरमात्मकर्म्मपर्यन्तकृदेवमन्योऽपि तदुक्तानुसारीति दर्शयितुमाह-'आयाण' मित्यादि, आदीयते-गृह्यते आत्माप्रदेशैः सह श्रिष्यतेऽध्प्रकारं कर्म्म येन तदादानं-हिंसाद्याश्रवद्वारमधादशपापस्थानरूपं वा तत्स्थितेर्निमित्तत्वा-त्कषाया वाऽऽदानं तद्वमिता स्वकृतमिद्भवति, स्वकृत्तमनेकजन्मोपात्तं कर्म्म भिनत्तीति स्वकृतभित्, योह्यादानं कर्म्मणां कषायादि निरुणद्धि सोऽपूर्वकर्म्मप्रतिषिद्धप्रवेशः स्वकृतकर्म्मणां भेत्ता भवतीति भावः, तीर्थकरोपदेशेनापि परकृतकर्म्मक्षपणोपायाभावात् स्वकृत्तकर्म्मणां भेत्ता भवतीति भावः, तीर्थकरोपदेशेनापि परकृत्तकर्म्मक्षपणोपायाभावात् स्वकृतग्रहणं, तीर्थकरेणापि परकृतकर्म्मक्षपणोपायो न व्यज्ञायीति चेत्, तन्न, तञ्ज्ञानस्य सकलपदार्थसत्ता-व्यापित्वेनावस्था-नात्।।ननुच हेयोपादेयपदार्थहानोपादानोपदेशज्ञोऽसीन सर्वज्ञ इति सङ्गिरामहे, एतावतैव परोपकारकर्तृत्वेन तीर्थकरत्वोपपत्तेः, तदेतन्न सत्तां मनांस्यानन्दयति, युक्तिविकलत्वात्, यतः सम्यग्ज्ञानमन्तरेण हिताहितप्राप्तिपरिहारोपदेशासम्भवो, यथावस्थितैकपदार्थपरिच्छेदश्च न सर्वज्ञतामन्तरेणेति दर्शयितुमाह–

मू. (१३५) जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ ।

ष्ट्र. 'यः' कश्चिदविशेषितः 'एकं' परमाण्वादि द्रव्यं पश्चात्पुरस्कृतपर्यायं स्वपरपर्यायं वा 'जानाति' परिच्छिनत्ति स सर्वं स्वपरपर्यायं जानाति, अतीतानागतपर्यायिद्रव्यपरिज्ञानस्य समस्तवस्तुपरिच्छेदाविनाभावित्वाद्, इदमेव हेतुहेतुमद्भावेन लगयितुमाह-'जे सव्व' मित्यादि, यः सर्वं संसारोदरविवरवर्त्ति वस्तु जानाति स एकं घटादि वस्तु जानाति, तस्यैवातीतानागत-पर्यायभेदैस्तत्तत्स्वभावापत्त्याऽनाधनन्तकालतया समस्तवस्तुस्वभावगमनादिति, तदुक्तम्-

(1) १) "एगतदवियस्स जे अत्थपञ्जवा चयणपञ्जवा वावि । तीयाणागयभूया तावइयं तं हवइ दव्वं ''

तदेवं सर्वज्ञस्तीर्थकृत्, सर्वज्ञश्च सम्भविनमेव सर्वसत्त्वोपकारिणमुपदेशं ददातीति दर्शयति-मू. (१३६) सव्वओ पमत्तरस भयं, सव्वओ अप्पमत्तरस नत्यि भयं, जे एगं नामे से बहुं नामे, जे बहुं नामे से एगं नामे, दुक्खं लोगरस जाणित्तावंता लोगरस संजोगं जंति धीरा महाजाणं, परेण परं जंति, नावकंखंति जीवियं।

ष्ट्र. सर्वतः-सर्वप्रकारेण द्रव्यादिना यद्भयकारि कर्म्भोपादीयते ततः 'प्रमत्तस्य' मद्यादिप्रमादवतो 'भयं' भीतिः, तद्यथा प्रमत्तो हि कर्म्भोपचिनोति द्रव्यतः सर्वैरात्मप्रदेशैः क्षेत्रतः षड्दिण्व्यवस्थितं कालतोऽनुसमयं भावतो हिंसादिभिः, यदिवा 'सर्वत्र' सर्वतो मयमिहामुत्र च, एतद्विपरीतस्य च नास्ति भयमिति, आह च- 'सव्वओ' इत्यादि, 'सर्वतः' ऐहिकामुष्मिकापायाद् 'अप्रमत्तस्य' आत्महितेषु जाग्रतो नास्ति भयं संसारापसदात्सकाशात्कर्म्मणो वा, अप्रमत्तता च कषायाभावद्भवति, तदभावाद्यशेषमोहनीयाभावः, ततोऽप्यशेषकर्म्मक्षयः, तदेवमेकाभावे सति बहूनामभावसम्भवः, एकाभावोऽपि बहूवभावानान्तरीयक इत्येवंगतप्रत्यागतसूत्रेण हेतुहेतुमद्भावं दर्शयितुमाह--

'जेएग' मित्यादि, यो हि प्रवर्द्धमानशुभाध्यवसायधिरूढकण्डकः एकम्-अनन्तानुवन्धिनं क्रोधं 'नामयति' क्षपयति स बहूनपि मानादीत्रामयति क्षपयति अप्रत्याख्यानादीन् वा स्वभेदान्नामयति, मोहनीयं चैकं यो नामयति स शेषा अपि प्रकृतीर्नामयति, यो वा बहून् स्थिति-शेषात्रामयति सोऽनन्तानुबन्धिनमेकं नामयति मोहनीयं वा, तथाहि–एकोन- सप्तति-भिर्मोहनीयकोटीकोटिभिः क्षयमुपागताभिः ज्ञानावरणीयदर्शनावरणीयवेदनीयान्तरायाणा-मेकोनत्रिंशद्भिः नामगोत्रयोरेकोनविंशतिभिः शेषकोटीकोटचाऽपि देशोनया मोहनीयक्षपणार्हो भवति, नान्य इत्यतोऽपदिश्यतेयो बहुनामः स एव परमार्थत एकनाम इति, नाम इति क्षपकोऽभिधीयते उपशामको वा, उपशमश्रेण्याश्रयेणैकबहूपशमता बह्वेकोपशमता वा वाच्येति. तदेवं वह्नेककर्म्माभावमन्तरेण मोहनीयक्षयस्योपशमस्य वाऽभावः, तदभावे च जन्तूनां बहुदुःखसम्भव इति दर्शयति- 'दुक्ख' मित्यादि, 'दुःखम्' असातोदयस्तत्कारणं वा कर्म्म तत् 'लोकस्य' भूतग्रामस्य इपरिजया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया च यथा तदभावो भवति तथा विदध्यातु, कथं तदभावः ? का वा तदभावे गुणावाप्तिरित्युभयमपि दर्शयितुमाह-'वंता' इत्यादि, 'वान्त्वा' त्यक्त्वा लोकस्य–आत्मव्यतिरिक्तस्य धनपुत्रशरीरादेः 'संयोगं' ममत्वपूर्वकं सम्बन्धं शारीरदुःखादिहेतुतद्धेतुकर्म्भोपादानकारणंवा 'यान्ति' गच्छन्ति 'धीराः''' कर्म्भविदारणसहिष्णावः यान्यनेन मोक्षमिति यानं चारित्रं तच्चानेकभवकोटिदुर्लभं लब्धमपि प्रमाद्यतस्तथाविधकर्म्भोदयात् खप्नावाप्तनिधिसमतामवाप्नोत्यतो महच्छब्देन विशेष्यते, महद्य तद्यानं च महायानं, यदिवा महद्यानं-सम्यग्दर्शनादित्रयं यस्य स महायानो-मोक्षस्तं यान्तीति सम्बन्धः । स्यात–किमेकेनैव भवेनावात्तमहायानदेश्यचारित्रस्य मोक्षावांतिरुत पारम्पर्येण ? , उभयथाऽपि ब्रुमः, तद्यथा

अवाप्ततद्योग्यक्षेत्रकालस्य लघुकर्म्मणस्तेनैव भवेन मुक्त्यवाप्तिरपरस्य त्वन्यथेति दर्शयति-परेण पर' मित्यादि, सम्यकत्वप्रतिषिद्धनरकगतितिर्य्यग्गतयो ज्ञानावाप्तियथाशक्तिप्रतिपा-लितसंयमा आयुषः क्षयात् सौधर्म्मादिकं देवलोकमवाप्नुवन्ति, ततोऽपि पुण्यशेषत्तया कर्म्मभूम्यार्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्त्यारोग्यश्वद्धाश्रवणसंयमादिकमवाप्य विशिष्टतरं स्वर्गमनुत्तरोप-पातिकपर्यन्तमधितिष्ठन्ति, पुनरपिततश्चयत्तस्यावाप्तमनुष्यादिसंयमभावस्याशेषकर्म्मक्षयान्मोक्षः, तदेवं परेण - संयमेनोदिष्टविधिना 'परं' स्वर्गं पारम्पर्येणापवर्गमपि यान्ति, यदिवा 'परेण' सम्यग्दृष्टिगुणस्थानेन 'परं' देशविरत्याद्ययोगिकेवलिपर्यन्तं गुणस्थानकमधितिष्ठन्ति, परेण वाऽनन्तानुबन्धिक्षयेणोछसत्कण्डकस्थानाः 'परं' दर्शनमोहनीयचारित्रमोहनीयक्षयं घातिभवोप-ग्राहिकर्म्मणां वाक्षयमवाप्नुवन्ति, एवंविधाश्च कर्म्मक्षपणोद्यताजीवितं कियद्गतं किं वा शेषमित्येवं नावकाङ्कन्ति, दीर्घजीवित्तं नाभिलषन्तीत्यर्थः, असंयमजीवितं वा नावकाङ्कनीति, यदिवा परेण परं यान्तीत्युत्तरोत्तरां तेजोलेश्र्याभवाप्नुवन्तीति, उक्तं च–

"जे इमे अजत्ताए समणा निर्ग्या विहरंति एए णं कस्स तेयलेस्सं वीईवयंति ?, गोयमा ! मासपरियाए समणे निग्गंधे वाणमंतराणं देवाणं तेयलेस्सं वीइवयइ, एवं दुमासपरियाए अधुरिंदवञ्जियाणं भवणवासीणं देवाणं, तिमासपरियाए असुरकुमाराणं देवाणं चउमासपरियाए गहगणनक्खत्ततारारूवाणं जोइसियाणं देवाणं, पंचमासपरियाए चंदिमसूरियाणं जोइसिंदाणं जोइसराईणं तेउलेस्सं, छम्मासपरियाए सोहम्मीसाणाणं देवाणं, सत्तमासपरिआए सनंकुमारमाहिंदाणं देवाणं, अड्ठमासपरियाए बंभलोगलंतगाणं देवाणं, नवमासपरिआए महा सुक्कसहस्साराणंदेवाणं, दसमासपरियाए आणयपाणयआरणच्चुआणंदेवाणं, एगारसमासपरियाए गेवेज्ञाणं, बारसमासे समणे निग्गंथे अनुत्तरोववाइयाणं देवाणं तेयलेसं वीयवयइ, तेण परं सुक्वे सुक्काभिजाई भवित्ता तओ पच्छा सिज्झइ।'' यश्चानन्तानुबन्ध्यादिक्षपणोद्यतः स किमेकक्षयादेव प्रवर्त्तते उत नेत्याह—

मू. (१३७) एगं विगिंचमाणे पुढो विगिंचइ, पुढोवि, सड्ढी आणाए मेहावी लोगं च आणाए अभिसमिद्या अक्तुओभयं, अत्थि सत्थं परेण परं, नत्थि असत्थं परेण परं।

**वृ. 'एकम्' अनन्तानुबन्धिनं क्रोधं क्षपकश्रेण्यारूढः क्षपयन् 'पृथग्' अन्यदपि दर्शनादिकं** क्षपयति, बद्धायुष्कोऽपि दर्शनसतकमं यावत्क्षपयति, पृथगन्यदपि क्षपयन्नवश्यमनन्तानुबन्धि-नामकं क्षपयति पृथग्-अन्यद् क्षयान्यथानुपपत्तेः, किं गुणः क्षपकश्रेणियोग्यो भवतीत्याह-'सड्ढी' इत्यादि, श्रद्धा--मोक्षमार्गोधमेच्छा विद्यते यस्यासौ श्रद्धावान् 'आज्ञाया' तीर्थकरप्रणीतायमानुसारेण यथोक्तानुष्ठानविधायी 'मेधावी' अप्रमत्तयतिः मर्यादाव्यवस्थितः श्रेण्यर्ह्यो नापर इति । किं च-'लोगं च' इत्यादि, चः समुद्यये 'लोकं' षड्जीवनिकायात्मकं कषायलोकं वा 'आज्ञाया' मौनीन्द्राय-मोपदेशेन 'अभिसमेत्य' ज्ञात्वा षड्जीवनिकायलोकस्य यथा न कुतश्चित्रिमित्ताद्भयं भवति तथा विधेयं, कषायलोकप्रत्याख्यानपरिज्ञानाच्च तस्यैव परिहर्तुर्न कुतश्चिद्भयमुपजायत इति, लोकं वा चराचरमाज्ञया--आगमाभिप्रायेणाभिसमेत्य न कुतश्चिद्दिकामुष्मिकापायसन्दर्शनतो भयं भवति । तद्य भयं शस्त्राद्मवति, तस्य च शस्त्रस्य प्रकर्षगतिरस्त्युत नेति ?, अस्तीतिदर्शयति-

'अस्थि' इत्यादि, तत्र द्रव्यशस्त्रं कृपाणादि तत्परेणापि परमस्ति-तीक्ष्णादपि तीक्ष्णतरमस्ति, लोहकर्तृ संस्कारविशेषात्, यदिवा शस्त्रमित्युपघातकारि तत एकस्मात्पीडाकारिणोऽन्यत् पीडाकार्युत्पद्यते ततोऽप्यपरमिति, तद्यथा-कृपाणाभिघाताद्वातोत्कोपः ततः शिरोऽर्त्तिः तस्या ज्वरः ततोऽपि मुखशोषमूच्छदिय इति, भावशस्त्रपारम्पर्यं त्वेकसूत्रान्तरितं स्वत एव प्रत्याख्यानपरिज्ञाद्वारेण वक्ष्यति, यथा च शस्त्रस्य प्रकर्षगतिरस्ति पारम्पर्यं वा विद्यते अशस्त्रस्य तथा नास्तीति दर्शयितुमाह-'नन्धि' इत्यादि, 'नास्ति' न विद्यते, किंतद्? – 'शस्त्र' संयमः तत् 'परेण पर'मिति प्रकर्षगत्यापन्नमिति, तथाहि-पृथिव्यादीनां सर्व तुल्यता कार्या न मन्दतीव्रभेदोऽस्तीति, पृथिव्यादिषु समभावत्वात् सामायिकस्य, अथवा शैलेश्यवस्थासंयमादपि परः संयमो नास्ति, तदूध्ध्व्वं गुणस्थानाभावादिति भावः । यो हिक्रोधमुपादानतो बन्धतः स्थिति विपाकतोऽनन्तानुबन्धिलक्षणतः क्षयमाश्रित्य प्रत्याख्यानपरिज्ञया जानाति सोऽपरमाना-दिदर्श्यपीत्येतदेव प्रतिसूत्रं लगयितव्यमित्याह-

मू. (93८) जे कोहदंसी से माणदंसी, जे माणदंसी से मायादंसी, जे मायादंसी से लोभदंसी, जे लोभदंसी से पिञ्चदंसी, जे पिञ्जदंसी से दोसदंसी, जे दोसदंसी से मोहदंसी, जे मोहदंसी से गब्भदंसी, जे गब्भदंसी जम्मदंसीसे जे जम्मदंसी से मारदंसी, जेमारदंसी से नरयदंसी, जे नरयदंसी से तिरियदंसी, जे तिरियदंसी से दुक्खदंसी।

से मेहावी अभिनिवट्टिज़ा कोहं च माणं निच मायं च लोभं च पिज़ं च दोसं च मोहं च गब्धं च जम्मं च मारं च नरयं च तिरियं च दुक्खं च । एयं पासगस्स दंसणं उवरयसत्यस्स पलियंतकरस्स, आयाणं निसिद्धा सगडब्भि, किमत्थि ओवाही पासगस्स ? न विज्ञइ ?, नत्थि – त्तिबेमि ।। वृ. यो हि क्रोधं स्वरूपतो वेत्ति अनर्थपरित्यागरूपत्वाज्ज्ञानस्य परिहरति च स मानमपि पश्यति परिहरति चेति, यदिवा यः क्रोधं पश्यत्याचरति स मानमपि पश्यति, मानाध्यातो मक्तीत्पर्थः, एवमुत्तरत्रापि आयोज्यं, यावत् स दुःखदर्शीति, सुगमत्वान्न विद्रियते । साम्प्रतं क्रोधादेः साक्षात्रिवर्त्तनमाह—'से' इत्यादि, स मेधावी 'अभिनिवर्त्तयेद्' व्यावर्त्तयेत्, किं तत् ?-'क्रोधमित्यादि यावदुःखं', सुगमत्वाद्वयाख्यानाभावः, स्वभनीषिकापरिहारार्थमाह—'एय' मित्यादि, 'एतद्' अनन्तरोक्तमुद्देशकादेरारभ्य पश्यकस्य-तीर्थकृतो दर्शनम्—अभिप्रायः, किम्पूतस्य ?-उपरतशस्त्रय पर्यन्तकृतः, पुनरपि किम्भूतोऽसौ ?---'आयाण'मित्यादि, आदानं कर्म्भोपादानं निषेध्य पूर्वस्वकृतकर्म्भभिदसाविति, किं चास्य भवतीत्याह-'किमत्त्यी'त्यादि, 'पश्यकस्य'; केवलिनः ।

'उपाधिः' विशेषणं उपाधीयत इति वोपाधिः, द्रव्यतो हिरण्यादिर्भावतोऽष्टप्रकारं कर्म्म, स द्विविधोऽप्युपाधिः किमस्त्याहोस्विन्न विद्यते ?, नास्तीति, एतदहं व्रवीमि, सुधर्म्भस्वामी जखूखामिनं कथयति, यथा सोऽहं व्रवीमि येन मया भगवत्पादारविन्दमुपास(य)ता सर्वमेतदश्रावि तद्मवते तदुपदिष्टार्थानुसारितया कथयामि, न पुनः स्वर्मतिविकल्पशिल्परचनयेति

अध्ययनं-३, उद्देशकः-४ समाप्तः

**वृ.** गतः सूत्रानुगमः, तद्गतौ घ समाप्तश्चतुर्थोद्देशकः ॥ तत्समाप्तौ चातीतानागतन-यविचारातिदेशात् ।

अध्ययनं-३ - समाप्तम्

# मुनि दीपरत्नसागरेण संशोधिता सम्पादिता शीलाङ्काचार्य विरचिता प्रथम श्रुतस्कन्धे द्वितीय अध्ययन टीकापरिसमाप्ता

(अध्ययनं-४-सम्यकत्व)

**वृ.** उक्तं तृतीयमध्ययनं, साम्प्रतं चतुर्थमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इह शस्त्रपत्ज्ञिायामन्ययव्यतिरेकाभ्यां षड्जीवनिकायान् व्युत्पादयता जीवाजीवपदार्थद्वयं व्युत्पादितं, तद्वधे च बन्धं विरतिं च मणताऽऽस्रवसंवरपदार्थद्वयमूचे, तथा लोकविजयाध्ययने लोको यथा बध्यते यथा च मुच्यत इति वदता बन्धनिजरे गदिते, शीतोष्णीयाध्ययने तु शीतोष्णरूपाः परीषहाः सोढव्या इति भणता तत्फललक्षणो मोक्षोऽभिहितः, ततश्चाध्ययनत्रयेण सप्तपदार्थत्मकं तत्त्वभभिहितं, तत्त्वार्थश्रद्धानं च सम्यकत्वमुच्यते, तदधुना प्रतिपाद्यते, अनेन सम्बन्धेनायातस्या-साध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि व्यावर्ण्योपक्रमेऽर्थाधिकारो द्वेधा, तत्राध्ययनार्थाधिकारः सम्यकत्वाख्यः शस्त्रपरिज्ञायां प्रागेवाभाणि, उद्देशकार्याधिकारप्रतिपादनाय तुनिर्युक्तिकार आह—

 नि. [२१५] पढमे सम्मावाओ बीए धम्मप्पवाइयपरिक्खा । तइए अणवञ्जतवो न हु बालतवेण मुक्खुत्ति ।।
 नि. [२१६] उद्देसंमि चउत्ये समासवयणेण नियमनं भणियं । तम्हा य नाणदंसणतवचरणे होइ जडयव्वं ।। ष्ट्र. प्रथमोद्देशके सम्यग्वाद इत्ययमर्थाधिकारः, सम्यग्-अविपरीतो वादः सम्यग्वादो-यथावस्थितवस्त्वाविर्भावनं, द्वितीये तु धर्म्मप्रवादिकपरीक्षा, धर्म्मं प्रवदितुं शीलं येषां ते धर्म्मप्रवादिनस्त एवधर्म्मप्रवादिकाः, धर्म्मप्रावादुकाइत्यर्थस्तेषां परीक्षा-युक्तायुक्तविचारणमिति, तृतीयेः नवद्यतपोव्यावर्णनं, न च बालतपसा-अज्ञानितपश्चरणेन मोक्ष इत्ययमर्थाधिकारः, चतुर्थोद्देशके तु 'समासवचनेन' सङ्क्षेपवचनेन 'नियमनं भणितं' संयत उक्त इति ।

तदेवं प्रथमोद्देशके सम्यग्दर्शनमुक्तं, द्वितीये तु सम्यग्ज्ञानं, तृतीये बालतपोव्युदासेन सम्यक्तपः, चतुर्थे तु सम्यक्चारित्रमिति, तस्माद्यशब्दो हेतौ, यतश्चतुष्टयमपि मोक्षाङ्गं प्रागुक्तं तस्मात् ज्ञानदर्शनस्तपश्चरणेषु 'मुमुक्षुणा यतितव्यं' तस्प्रतिपालनाय यावञ्जीवं यत्नो विधेय इति गाथाद्वयार्थः ॥ अधुना नामनिष्पन्ननिक्षेपायातस्य सम्यकत्वाभिधानस्य निक्षेपं चिकीर्षुराह--

नि. [२९७] नामंठवणासम्मं दव्वसम्मं च मावसम्मं च।

एसो खलु सम्परसा निक्खेवो चउव्विहो होइ ।।

**ष्ट्**.अक्षरार्थः सुगमः, भावार्थं तु सुगमनामस्थापनाव्युदासेन द्रव्यभावगतं निर्युक्तिकारः प्रतिपिपादयिषुराह–

नि. [२९८] अह दव्यसम्म इच्छानुलोमियं तेसु तेसु दव्वेसुं।

कयसंखयसंजुत्तो पउत्त जढ भिन्न छिन्नं वा ॥

**q**. 'अथे'त्यानन्तर्ये ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरितं द्रव्यसम्यकत्वमित्याह, 'ऐच्छानुलोमिकं' इच्छा-चेतः-प्रवृत्तिरभिप्रायस्तरयानुलोमम्-अनुकूलं तत्र भवमैच्छानुलोमिकं तद्य तेषु तेष्विच्छा भावानुकूल्यताभाक्षु द्रव्येषु कृताद्युपाधिभेदेन सप्तधा भवति, तद्यधा-कृतम्-अपूर्वमेव निर्वित्तिंतं रथादि, तस्य यथाऽवयवलक्षणनिष्पत्तेर्द्रव्यसम्यकर्तुस्तन्निमित्तचित्तस्वास्थ्योत्पत्तेः यदर्थं वा कृतं तस्य शोभनाशुकरणतया समाधानहेतुत्वाद्वा द्रव्यसम्यग् १, एवं संस्कृतेऽपि योज्यं, तस्यैव रयादेर्भग्नजीर्णपिढापरावयसंस्कारादिति २, तथाययोर्द्रव्ययोः संयोगोगुणान्तराधानाय नोपमर्दाय उपभोक्तुर्वा मनःप्रीत्यै पयः- शर्क्व रयोरिव तत्संयुक्तद्रव्यसम्यक् ३, तथा यद्ययुक्तं द्रव्य लामहेतुत्वादात्मनः समाधानाय प्रभवति तद्ययुक्तद्रव्यसम्यक् ४, पाठान्तरं वा-'उवउत्त'त्ति यदुपयुक्तम्-अम्यवहृतं द्रव्यं मनःसमाधानाय प्रभवति तदुपयुक्तद्रव्यसम्यक् ४, तथा जढं -परित्यक्तं यद्भारादि तत्त्यक्तद्रव्यसम्क् ५, तथा दधिभाजनादि भिन्नं सत् काकादिस-माधानोत्पत्तेर्भिन्नद्रव्यसम्यक् ६, तथाऽधिकमांसादिच्छेदाच्छिन्नसम्यक्, ७, सर्वमप्येतत्समाधान-कारणत्ताद्रव्यसम्यक् , विपर्ययादसम्यगिति गाथार्थः ॥ भावसम्यक्रतिपादनायाह-

नि. [२९९] तिविहं तुं भावसम्मं दंसणं नाणे तहा चरित्ते य । दंसणचरणे तिविहं नाणे दुविहं तु नायव्वं ॥

**वृ**.त्रिविधं भावसम्यक्-दर्शनज्ञानचारित्रभेदात्, पुनरप्येकैकं भेदत आचष्टे-तत्र दर्शनचरणे प्रत्येकं त्रिविधे, तद्यधाअनादिमिध्याद्धेरकृतत्रिपुअस्य यधाप्रवृत्तकरणक्षीणशेषकर्म्मणो देशोनसागरोपमकोटिकोटीस्थितिकरयापूर्वकरणभिन्नग्रन्थेर्मिध्यात्वानुदयलक्षणमन्तरकरणं विधायानिवृत्तिकरणेन प्रथमं सम्यकत्वमुत्पादयत औपशमिकं दर्शनम् १, उक्तं च --

II 9 II ''ऊसरदेसं दङ्ढेल्लयं च विज्झाइ वणदवो पप्प । इय मिच्छत्तानुदए उवसमसम्मं लहइ जीवो '' उपशमश्रेण्यां चौपशमिकमिति २, तथा सम्यकत्वपुद्गलोपष्टम्भजनिताध्यवसायः क्षायोपशमिकं २, दर्शनमोहनीयक्षयात् क्षायिकं ३, चारित्रमप्युपशमश्रेण्यामौपशमिकं १ कषायक्षयोपशमात् क्षायोपशमिकं चारित्रं २ चारित्रमोहनीयक्षयात्कायिकं ३,

ज्ञाने तु भावसम्यग् द्विधा ज्ञातव्यं, तद्यधा-क्षायोपशमिकं क्षायिकं च, तत्र चतुर्विध-ज्ञानावरणीयक्षयोपशमात् मत्यादि चतुर्विधं क्षायोपशमिकं ज्ञानं, समस्तक्षयात्क्षायिकं केवलज्ञानमिति।तदेवंत्रिविधे।ऽपिभावसम्यकत्वे दर्शिते सति परश्चोदयति-यद्येवं त्रयाणामपि सम्यग्वादसम्भवे कथं दर्शनस्यैव सम्यकत्वादो रूढो ? यदिहाध्ययने व्यावर्ण्यते, उच्यते, तद्भावभावित्वादितरयोः, तथाहि-मिथ्यार्ध्रष्टेर्ते न स्तः, अत्र च सम्यकत्वप्राधान्यख्यापनाय अन्धेतरराजकुमारद्वयेन बालाङ्गनाद्यवोधार्थं र्ध्रान्तमाचक्षते-तद्यथा--

उदयसेनराज्ञो वीरसेनसूरसेनकुमारद्वयं, तत्र वीरसेनोऽन्धः, स च तत्प्रायोग्या गान्ध-वदिकाः कला ग्राहितः, इतरस्त्वभ्यस्तधनुर्वेदो लोकश्लाध्यां पदवीमगभत्, एतच्च समाकर्ण्य वीरसेने नापि राजा विज्ञसोयथाऽहमपि धनुर्वेदाभ्यासंविदधे, राज्ञाऽपि तदाग्रहमवगम्यानुज्ञातः, ततोऽसौ सन्यगुपाध्यायोपदेशात् प्रज्ञातिशयादभ्यासविशेषाच्च शब्दवेधी सञ्जज्ञे, तेनचारूढयौवनेन स्वभ्यस्तधनुर्वेदविज्ञानक्रियेणागणितचक्षुर्दर्शनसदसद्मावेन शब्दवेधी सञ्जज्ञे, तेनचारूढयौवनेन स्वभ्यस्तधनुर्वेदविज्ञानक्रियेणागणितचक्षुर्दर्शनसदसद्मावेन शब्दवेधी त्वायष्टभ्यात्सरबलोपस्थाने सति राजा युद्धायादेशं याचितः, तेनापि याच्यमानेन वितेरे, वीरसेनेन च शब्दानुवेधितया परानीके जजुम्भे, परैश्चावगतकुमारान्धभावैर्मूकतामालम्ब्यासौ जग्रहे, सूरसेनेन च विदितवृतान्तेन राजानमापृच्छय निशितशरशतजालावष्टब्धपरानीकेन भोचितः । तदेवमभ्यस्तविज्ञानक्रियोऽपि चक्षुर्विकलत्वात्रालमभिप्रेतकार्यसिद्धये इति । एतदेव निर्युक्तिकारो गाथयोपसंहर्त्तुमाह–

नि. [२२०] कुणमाणोऽवि य किरियं परिचयंतोचि सयणधनभोए।

दिंतोऽवि दुहस्स उरं न जिणइ अंधो पराणीयं ।।

**वृ**. कुर्वन्नपि क्रियां परित्यजन्नपि स्वजनधनभोगान् दददपि दुःखस्योरः न जयत्यन्धः परानीकमिति गाथार्थः ॥ तदेवं दृष्टान्तमुपदश्य दार्धन्तिकमाह—

नि. [२२९] कुणमाणोऽवि निवित्तिं परिच्चयंतोऽवि सयणधणभोए । दिंतोऽविदुहस्स उरं मिच्छद्विड्डी न सिज्झइ उ ॥

**वृ.** कुर्वन्नपि निवृत्तिम्—अन्यदर्शनाभिहितां, तद्यथा-पञ्च यमाः पञ्च नियमा इत्यादिकां तया परित्यजन्नपि स्वजनधनभोगान् पञ्चाग्नितपआदिना दददपि दुःखस्योरः मिथ्याधर्ष्टर्न सिध्यति, तुरवधारणे, नैव सिध्यति, दर्शनविकलत्वाद्, अन्धकुमारवत् असमर्थः कार्यसिद्धये। यत एवं ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—

नि. [२२२] तम्हा कम्माणीयं जेउमणो दंसणंमि पयइञ्जा। दंसणवओ हि स फलाणि हुंति तयनाणचरणाइं ।।

**वृ.** यस्मात्सिद्धिमार्गमूलास्पदं सम्यग्दर्शनमन्तरेण न कर्म्पक्षयः स्यात्, तस्मात्कार-णात्कर्म्पानीकं जेतुमनाः सम्यग्दर्शने प्रयतेत, तस्मिश्च सति यद्मवति तद्दर्शयति--दर्शनवतो हि 'हिः' हेतौ यस्मात्सम्यगदर्शनिनः सफलानि भवन्ति तपोज्ञानचरणान्यतस्तत्र यत्नवता भाव्यमिति गार्थार्थः ॥प्रकारान्तरेणापि सम्यग्दर्शनस्य तत्पूर्वकाणां च गुणस्थानकानां गुणमाविर्भावयितुमाह-

#### नि. [२२३] सम्पत्तुपत्ती सावए य विरए अनंतकम्पंसे । दंसणमोहक्खवए उवसामन्ते य उवसंते । नि. [२२४] खवए य खीणमोहे जिणे अ सेढी भवे असंखिज्ञा ।

तव्विवरीओ कालो संखिजगुणाइ सेढीए ॥

**वृ.**सम्यक्त्वस्योत्पत्तिः सम्यकत्त्वोत्पत्तिस्तस्यां विवक्षितायामसङ्खयेयगुणा श्रेणिर्भवे-दित्युत्तरगाथार्द्धान्ते क्रियामपेक्ष्य सम्बन्धो लगयितव्यः, कथमसङ्खयेयगुणा श्रेणिर्भवेदिति ?, अत्रोच्यते, इह मिथ्याध्ष्टयोदेशोनकोटीकोटिकर्म्सस्थितिका ग्रन्थिकसत्त्वास्ते कर्म्मनिर्जरामाश्रित्य तुल्याः, धर्म्मप्रच्छनोत्पन्नसंज्ञास्तेभ्योऽसङ्खयेयगुणनिर्ज्जरकाः, ततोऽपि पिपृच्छिषुः सन् साधुसमीपं जिगमिषुस्तस्मादपि क्रियाविष्टः पृच्छन्, ततोऽपि धर्म्म प्रतिपित्सुः, अस्मादपि क्रियाविष्टः प्रतिपद्यमानः, तस्मादपि पूर्वप्रतिपन्नोऽसङ्खयेयगुणनिर्जरक इति सम्यकत्वोत्पत्तिव्याख्याता, तदनन्तरं विरताविरतिं प्रतिरित्सुप्रतिपद्यमानपूर्वप्रतिपन्नसर्वविरतेः सकाशात् ।

'अनंतकम्मंसे'ति 'पदैकदेशे पदप्रयोग' इति यथा भीमसेनो भीमः सत्यभामाभामा एवमनन्तशब्दोपलक्षिता अनन्तानुबन्धिनः, ते हि मोहनीयस्यांशाः-भायाः– तांश्चिक्षपयि-षुरसङ्खयेयगुणनिर्ज्ञरकः, ततोऽपि क्षपकः, तस्मादपि क्षीणानन्तानुबन्धिकषायः, एतदेव दर्शनमोहनीयत्रयेऽभिमुखक्रियारूढापवर्गत्रयमायोज्यं, ततोऽपि क्षीणसप्तकात्क्षीणसप्तक एवोपशमश्रेण्यारूढोऽसङ्खयेयगुणनिर्जरकः, ततोऽप्युपशान्तमोहः, तस्मादपि चारित्रमोहनी-यक्षपकः, ततोऽपि सप्तक एवोपशमश्रेण्यारूढोऽसङ्खयेयगुणनिर्जरकः, ततोऽप्युपशान्तमोहः, तस्मादपि चारित्रमोहनीयक्षपकः, ततोऽपि क्षीणमोहः, अत्र चाभिमुखादित्रयं यथासम्भवमा-योजनीयम्, अस्मादपि 'जिनो' भवस्थकेवली, तस्मादपि शैलेश्यवस्थोऽसङ्खयेयगुणनिर्जरकः।

तदेवं कर्म्मनिर्जरायै असङ्खयेयलोकाकाशप्रदेशप्रमाणनिष्पादितसंयमस्थानप्रचयोपात्त-श्रेणिः सोत्तरोत्तरेषामसङ्खयेयगुणा, उत्तरोत्तरप्रवर्द्धमानाध्यवसायकण्डकोपपत्तेरिति, कालस्तु तद्विपरीतोऽयोगिकेवलिन आरभ्य प्रतिलोमतया सङ्खयेयगुणया श्रेण्या ज्ञेयः, इदमुक्तं भवति-यावत्कालेन यावत्कर्मायोगिकेवली क्षपयति तावन्मात्र कर्म्म सयोगिकेवली सङ्खयेयगुणेन कालेन क्षपयति एवं प्रतिलोमतया यावद्धर्मं पिपृच्छिषुस्तावन्नेयमिति गाथाद्वयार्थः ॥ एवमनन्तरोक्तया नीत्या दर्शनवतः सफलानि तपोज्ञानचरणान्यभिहितानि, यदि पुनः केनचिदुपाधिना विदधाति ततः सफलत्बाभावः, कश्चासावुपाधिस्तमाह–

नि. [२२५] आहारउवहिपूआ इड्ढीसु य गारवेसु कइतवियं। एमेव बारसविहे तवंमि न हु कइतवे समणो॥

ृ आहारश्च उपधिश्च पूजा च ऋदिश्च-आमर्षोषध्यादिका आहारोपधिपूजर्द्धयस्तासु निमित्तभूतासुज्ञानचरणक्रियां करोति, तथा गारवेषुत्रिषुप्रतिबद्धोयत्करोति तत्कृत्रिममित्युच्यते, यथा च ज्ञानचरणयोराहाराद्यर्थमनुष्ठानं कृत्रिमं सन्न फलवद्मवति एवं सबाह्याभ्यन्तरे द्वादशप्रकारे तपस्यपीति, न च कृत्रिमानुष्ठायिनः श्रमणभावो, न चाश्रमणस्यानुष्ठानं गुणवदिति, तदेवं निरुपधेर्दर्शनवतस्तपोज्ञानचरणानि सफलानीति स्थितमतो दर्शने यतितव्यं, दर्शनं च तत्त्वार्थश्रद्धानं, तत्त्वं चोत्पत्रापगतकलङ्काशेषपदार्थसत्ताव्यापिज्ञानैस्तीर्थकृद्मिर्यदभाषि, तदेव सूत्रानुगमायातेन सूत्रेण दर्शयति—

-: अध्ययनं-४ - उद्देशक: १ :-

मू. (१३९) से बेमि जे अईया जे य पडुपन्ना आगमिस्सा अरहंता भगवंतो ते सब्वे एवमाइक्खन्ति एवं भासंति एवं पन्नविंति एवं परूविंति-सब्वे पाणा सब्वे भूया सब्वे जीवा सब्वे सत्ता न हंतव्वा न अज़ावेयव्वा न परिधित्तब्वा न परिष्येचवा न उद्दवेयव्वा,

एस धम्मे सुद्धे निइए समिच्च लोयं खेयण्णेहिं पवेइए, तंजहा-उडिि्एसु वा अनुडिि्एसु वा उवडि़ि्एसु वा अनुवडि़ि्एसु वा उवरयदंडेसु वा अनवरयदंडेसु वा सोवहिएसु वा अणोवहिएसु वा संजोगरएसु वा असंजोगरएसु वा, तच्चं चेयं तहा चेयं अस्ति चेयं पवुच्चइ ।।

**q**. गौतमस्वाग्याह-यथा सोऽहं व्रवीमि योऽहं तीर्थकरवचनावगततत्त्वः श्रद्धैयवचन इति, यदिवा शौद्धोदनिशिष्याभिमतक्षणिकत्वव्युदासेनाह-येन मया पूर्वमभाणि सोऽहमद्यापि ब्रवीमि नापरो, यदिवा सेशब्दस्तच्छब्दार्थे यच्छ्रद्धाने सग्यकत्वं भवति तदहं तत्वं व्रवीमीति, येऽतीताः- अतिक्रान्ता ये च प्रत्युत्पन्नाः-वर्त्तमानकालमाविनो ये चागामिनः त एवं प्ररूपयन्तीति सग्बन्धः, तत्रातिक्रान्ता स्तीर्थकृतः कालस्यानादित्वादनन्ता अतिक्रान्ता अनागता अप्यनन्ता आगामिकालस्यानन्तत्वात्तेषां च सर्वदैव भावादिति, वर्त्तमानतीर्थकृतां च प्रज्ञापकापेक्षितया अगवस्थितत्वे सत्यप्युत्कृष्टजधन्यपदिन एव कथ्यन्ते, तत्रोत्सर्गताः समयक्षेत्रसम्भविनः सप्तत्युत्तरशतं, तद्यैवं-- पश्चस्वपि विदेहेषु प्रत्येकं द्वात्रिंशत्सेत्रात्मकत्वादेकैकस्मिन् द्वात्रिंशत् दात्रिंशत् पश्चस्वपि भरतेषुपश्चैवमैरावतेष्व्वपीति, तत्र द्वात्रिंशत्सेत्रात्मकत्वादेकैकस्मिन् द्वात्रिंशत् दात्रिंशत् पश्चस्वपि भरतेषुपश्चैवमैरावतेष्व्वपीति, तत्र द्वात्रिंशत्सेत्रात्मकत्वादेकैकस्मिन् द्वात्रिंशत् व्हात्रिंशत् पश्चस्वपि भरतेषुपश्चैवमैरावतेष्व्वपीति, तत्र द्वात्रिंशतिः, सा चैवं-पश्चस्वपि महाविदेहेषु महाविदेहान्तर्महानद्युमयतटसद्मावात्तीर्थकृतां प्रत्येकं चत्वारः, तेऽपि पश्चभिर्गुणिता विंशतिर्भरत्वैरावतयोक्त्वात्तसुषमादावमाव एवेति, अन्ये तु व्याचक्षते-मेरोः पूर्वापरवि-देहयोरेकैकसद्मावान्महाविदेहे द्वावेव, ततः पश्चस्वपि दशैवेति, तथा च ते आहु:--

II 9 II ''सत्तरसयमुक्कोसं इअरे दस समयखेत्तजिणमाणं I चोत्तीस पढमदीवे अनंतरऽद्धे य ते दुगुणा ''

के इमे ?-'अर्हन्तो' अर्हन्ति पूजासत्कारादिकमिति, तथा ऐश्वर्याद्युपेता भगवन्तः, ते सर्व एव परप्रश्नावसरे एवमाचक्षते यदुत्तरत्र वक्ष्यते, वर्त्तमाननिर्देशस्योपलक्षणार्थत्वादिदमपि द्रष्टव्यम्-एवमाचचक्षिरे एवमाख्यास्यन्ति, एवं सामान्यतः सदेवमनुजायां परिषदि अर्द्धमागधया सर्वसत्त्वस्वभाषानुगामिन्या भाषया भाषन्ते, एवं प्रकर्षेण संशीत्यपनोदायान्तेवासिनो जीवाजीवास्रवबन्धसंवरनिर्छरामोक्षपदार्थान् ज्ञापयन्ति प्रज्ञापयन्ति, एवं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्गः मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा बन्धहेतवः स्वपरभावेन सदसती तत्त्वं सामान्यविशेषात्मकमित्यादिना प्रकारेण प्ररूपयन्ति, एकार्थिकानि वैतानीति, किं तदेवमाचक्षते इति दर्शयति–

यथा 'सर्वे प्राणाः' सर्व एव पृथिव्यप्तेजोवायुवनस्पतयः द्वित्रिचतुःपश्चेन्द्रियाश्चेन्द्रियब-लोच्छासनिश्वासायुष्कलक्षणप्राणधारणात् प्राणाः, तथा सर्वाणि भवन्ति भविष्यन्त्यभूवन्निति च भूतानि चतुर्द्वशभूतग्रामान्तःपातीनि, एवं सर्व एव जीवन्ति जीविष्यन्ति अजीविषुरिति जीवाः–नारकतिर्यग्नरामरलक्षणाश्चतुर्गतिकाः,तयासर्व एव स्वकृतसातासातोदयसुखदुःखभाजः सत्त्वाः, एकार्थावैते शब्दाः 'तत्त्वभेदपर्ययिः प्रतिपादन'मितिकृत्वेति, एते च सर्वेऽपि प्राणिनपर्याय-शब्दावेदिता न हन्तव्याः दण्डकशादिभिः नाज्ञापयितव्याः प्रसद्याभियोगदानतो न परिग्राज्ञा मृत्यदासदास्यादिममत्वपरिग्रहतो न परितापयितव्याः शारीरमानसपीडोत्पादनतो नापद्रावयितव्याः प्राणव्यपरोपणतः 'एषः' अनन्तरोक्तो 'धर्म्मो' दुर्गत्यर्गलासुगतिसोपानदेश्यः, अस्य च प्रधानपुरुषार्थत्वाद्विशेषणं दर्शयति–

'शुद्धः' पापानुबन्धरहितः न शाक्यधिग्जातीनामिवैकेन्द्रियपश्चेन्द्रियवधानुमति-कलङ्काङ्कितः, तथा 'नित्यः' अप्रच्युतिरूपः, पश्चस्वपि विदेहेषु सदाभवनात्, तथा 'शाश्वतः' शाश्वतगतिहेतुत्वात् यदिवा नित्यत्वाच्छाश्वतो, न तुनित्यं भूत्वा न भवति, भव्यत्ववत्, अभूत्वा च नित्यं भवति घटाभाववदिति, अयं तु त्रिकालावस्थायीति, अमुं च 'लोकं' जन्तुलोकं दुःख-सागरावगाढं 'समेत्य' ज्ञात्वा तदुत्तरणाय 'खेदज्ञैः' जन्तुदुःखपरिच्छेन् भिः 'प्रवेदितः' प्रतिपादित इति, एतच्च गौतमस्वामी स्वमनीषिकापरिहारेण शिष्यमतिस्थैर्यार्थं बभाषे ॥

एनमेव सूत्रोक्तमर्थं निर्युक्तिकारः सूत्रसंस्पर्शकेन गाथाद्वयेन दर्शयति-

नि. [२२६] जे जिनवरा अईया जे संपइ जे अनागए काले। सब्वेवि ते अहिंस वदिंसु वदिहिंति विवर्दिति॥

नि. [२२७] छप्पिय जीवनिकाए नोवि हणे नोऽवि अ हणाविज्ञा। नोऽवि अ अणुमन्निज्ञा सम्मत्तस्सेस निज्जुत्ती।।

**दृ.** तीर्थकरोपदेशश्च परोपकारितया तत्स्वाभाव्यादेव प्रवर्त्तमानो भास्करोदय इव प्रबोध्यविशेषनिरपेक्षतया प्रवर्त्तते (तत्) तद्ययेत्यादिना दर्शयति-'तंजहा-उट्टिऐस वा' इत्यादि, धर्म्यचरणायोद्यता उत्थिता-ज्ञानदर्शनचारित्रोद्योगवन्तः, तद्विपर्ययेणानुत्थिताः तेषु निमित्तभूतेषु तानुद्दिश्य भगवता सर्ववेदिना त्रिजगत्पतिना धर्म्मः प्रवेदितः, एवं सर्वत्र लगयितव्यं, यदिवा उत्थितानुत्थितेषु द्रव्यतो निषण्णानिषण्णेषु, तत्रैकादशसु गणधरेषूत्थितेष्वेव वीरवर्द्धमानस्वामिना धर्म्मः प्रवेदितः, तत उपस्थिता धर्म्म शुश्रूषवो जिधृक्षवो वा तद्विपर्ययेणानुपस्थितास्तेष्विति, निमित्तसप्तमी चेयं, यथा चर्म्मणि द्वीपीनं इन्तीति, ननु च भावोपस्थितेषु चिलातिपु त्रादिष्विव धर्म्मकथा युक्तिमती अनुपस्थितेषु तु कं गुणं पुष्णाति ?, अनुपस्थितेष्वपीन्द्रनागादिषु विचित्रत्वात्कर्म्मपरिणतेः क्षयोपशमापादनाद्युणवत्येवेति यत्विश्विदेतत्त्, प्राणिन आत्सानं वा दण्डयतीति दण्डः, स च मनोवाक्कायलक्षणः, उपरत्तो दण्डो येषां ते तथा, तद्विपर्ययेणानुपरतदण्डला तेषूभयरूपेष्वपि, तत्रोपरतदण्डेषु तत्स्थैर्यगुणान्तराधानार्थं देशना, इतरेषु तूपरतदण्डत्वार्थमिति,

उपधीयते–सङ्ग ह्यत इत्युपधिः, द्रव्यतो हिरण्यादिः भावतो माया, सह उपधिना वर्त्तन्त इति सोपधिकास्तद्विपर्ययेणानुपधिकास्तेष्विति, संयोगः–सम्बन्धः पुत्रकलत्रमित्रादिर्जनितस्तत्र रताः संयोगरतास्तद्विपर्ययेणेकत्वभावनाभाविता असंयोगरतास्तेष्वति, तेवमुभयरूपेष्वपि यद्भगवता धम्मदिशनाऽकारितत् 'तथ्यं' सत्यमेतदिति, चशब्दोनियमार्थः, तथ्यमेवैतद्मगवद्वचनं, ययाग्ररूपितवस्तुसद्भावात्तध्यता वचसौ भवतीत्यतो वाच्यमपि तथैवेति दर्शयति–तथा चैतद्वस्तु यथा भगवान् जगाद्, यथा--सर्वे प्राणा न हन्तव्या इत्यादि, एवं सम्यग्दर्शनं श्रद्धानं विधेयम्, एतच्चास्मिन्नेव मौनीन्द्रप्रवचने सम्यग्मोक्षमार्गविधायिनि समस्तदम्मप्रबन्धोपरते प्रकर्षेणोच्यते प्रोच्यतेइति, नतुयथा अन्यत्र 'नहिंस्यात्सर्वभूतानी' त्यभिधायान्यत्र वाक्ये यज्ञपशुवधाभ्यनुज्ञानात् पूर्वोत्तरबाधेति ॥ तदेवं सम्यकत्वस्वरूपमभिधाय तदवासौ यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह-

मू. (१४०) तं आइतु न निहे न निक्खिवे जाणित्तु धम्मं जहा तहा, दिट्ठेहिं निब्वेयं गच्छिज्ञा, नो लोगस्सेसणं चरे।

**वृ.** 'तत्' तत्त्वार्थश्रद्धानलक्षणं सम्यग्दर्शनमादाय-गृहीत्वा तत्कार्याकरणतो 'न निहे'ति न गोपयेत्, तथाविधसंसर्गा दिनिमित्तोत्थपितमिथ्यात्वोऽपि जीवसामर्थ्यगुणात्र त्यजेदपि, यथा वा शैवशाक्यादीनां गृहीत्वा व्रतानि पुनरपि व्रतेश्वरयागादिविधिना गुरुसमीपे निक्षिप्योत्यव्रजनं, एवं गुवदिः सकाशादवाप्य सम्यग्दर्शनं 'न निक्षिपेत्' न त्यजेत्, किं कृत्वा ?—

यथा तथाऽवस्थितं धर्म्म झात्वा श्रुत्तचारित्रात्मकमवगम्य, वस्तुनां वा धर्म्म-स्वभावमवबुध्येति।तदवगमेतुकिंचापरं कुर्यादत्याह-'दिट्ठेहिं' इत्यादि, द्ष्टैरिष्टानिष्टरूपैर्निर्वेदं गच्छेद्, विरागं कुर्यादित्यर्थः, तथाहि शब्दैः श्रुतैः रसैरास्वादितैर्गन्धैराघ्रातैः स्पर्शैः सृष्टैः सद्भिरेवं भावयेत्यथा शुभेतरतापरिणामवशाद्भवतीत्यतः कस्तेषु रागो द्वेषो वेति।किंच-'नो लोयस्स' इत्यादि, 'लोकस्य' प्राणिगणस्यैषणा-अन्वेषणा इष्टेषु शब्दादिषु प्रवृत्तिरनिष्टेषु तु हेयबुद्धिस्तां 'नचरेत्' न विदथ्यात्।। यस्य चैषा लोकैषणा नास्ति तस्यान्याप्यप्रशस्ता मतिर्नास्तीति दर्शयति-

मू. (१४१) जस्स नत्थि इमा जाई अण्णा तस्स कओ सिया ? , दिट्ठं सुयं मयं विण्णायं जं एयं परिकहिज्जइ, समेमाणा पलेमाणा पुणो पुणो जाई पकप्पंति ।

वृ. यस्यमुमुक्षोरेषा ज्ञातिः-लोकैषणाबुद्धिः 'नास्ति' नविधते, तस्यान्या सावद्यारम्भप्रवृत्तिः कुतः स्यात् ?, इदमुक्तं भवति–भोगेच्छारूपां लोकैषणां परिजिहीर्षोर्नैव सावद्यानुष्ठान प्रवृत्तिरुपजायते, तदर्थत्वात्तस्या इति, यदिवा 'इमा' अनन्तरोक्तत्वात् प्रत्यक्षा सम्यकत्वज्ञातिः प्राणिनो न हन्तव्या इति वा यस्य न विद्यते तस्यान्या अविवेकिनी बुद्धिः कुमार्गसावद्या-नुष्ठानपरिहारद्वारेण कुतः स्यात् ? । शिष्यमतिस्थैर्यार्थमाह–

'दिट्ठ'मित्यादि, यदेतन्मया परिकथ्यते तत्सर्वज्ञैः केवलज्ञानावलोकेन ६ष्टं, ततः शुश्रूषुभिः श्रुतं, लघुकर्म्मणां मव्यानां मतं, ज्ञानावरणीयश्रयोपशमाढिशेषेण ज्ञातं विज्ञातम्, अतो भवताऽपि सम्यकत्वादिके मत्कथिते यत्नवता भवितव्यमिति । ये पुनर्यथोक्तकारिणो न स्युः ते कथम्भूता भवेयुरित्याह-'समेमाणा' इत्यादि तस्मिन्नेव मनुष्यादिजन्मनि 'शाम्यन्तो' गार्ध्येनात्यर्थमासेवां कुर्वन्तः तथा 'प्रलीयमानाः' मनोज्ञेन्द्रियार्थेषु पौनःपुन्येनैकेन्द्रियद्यीन्द्रियादिकां जातिं प्रकल्पयन्ति, संसाराविच्छित्तिं विदधतीत्पर्थः ॥ यद्येवमविदितवेद्याः साम्प्रतेक्षिणो यथाजन्मकृतरतय इन्द्रियार्थेषु प्रलीनाः पौनःपुन्येन जन्मादिकृतसन्धाना जन्तवस्ततः किं कर्त्तव्यमित्याह—

मू. (१४२) अहो अ राओ य जयमाणे धीरे सया आगयपण्णाणे पमत्ते बहिया पास अप्पमत्ते सया परिक्रमिज्ञासि–त्तिबेमि।।

**वृ.** अहश्च रात्रिं च यतमान एव यत्नवानेव मोक्षाध्वनि 'धीरः' परीषहोपसर्गाक्षोभ्यः 'सदा' सर्वकालम् 'आगतं' स्वीकृतं 'प्रज्ञानं' सदसद्विवेको यस्य स तथा, 'प्रमत्तान्' असंयतान् परतीर्थिकान्वा धर्म्माद्बहिर्व्यस्थितान् पश्य, तांश्च तथा भूतान् ध्ष्ट्वा किं कुर्यादित्याह–'अप्पमत्ते' इत्यादि, अप्रमत्तः सन्निद्राविकथादिप्रमादरहितोऽक्षिनिमेषोन्मेषादावपि सदोपयुक्तः पराक्रमेथाः कर्म्मरिपून् मोक्षाध्वनि वा । इतिरधिकारसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । अध्ययनं-४ - उद्देशकः १ - समाप्तः

-: अध्ययनं-४ - उद्देशकः २ :-

**वृ**. उक्तः प्रथमोद्देशकः । साम्प्रतं द्वितीयव्याख्या प्रतन्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः--इह अनन्तरोद्देशके सम्यग्वादः प्रतिपादितः, स च प्रत्यनीकमिथ्यावादव्युदासेनात्मलाभं लभते, व्युदासश्च न परिज्ञानमन्तरेण, परिज्ञानं च न विचारमृते, अतो मिथ्यावादभूततीर्थिकमतविचारणाय-इदमुपक्रम्यते, अनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्येदमादिसूत्रं- 'जे आसवा' इत्यादि, यदिवेह सम्यकत्वमधिकृतं, तच्च सप्तपदार्थश्रद्धानात्मकं, तत्र मुमुक्षुणाऽवगतशस्त्रपरिज्ञाजीवाजीवपदार्थेन-संसारमोक्षकारणे निर्णेतव्ये, तत्र संसारकारणमाम्नवस्तद्गहणाच्च बन्धग्रहणं, मोक्षकारणं तुनिर्जरा तद्रहणाच संवरस्तत्कार्यभूतश्च मोक्षः सूचितो भवतीत्यत आश्रवनिर्जरे संसारमोक्षकारणभूते सम्यकत्वविचारायाते दर्शयितुमाह-

मू. (९४३) जे आसवा ते परिस्सवा जे परिस्सवा ते आसवा, जे अणासवा ते अपरिस्सवा जे अपरिस्सवा ते अणासवा, एए पए संबुज्झमाणे लोयं च आणाए अभिसमिद्या पुढो पवेइयं।

**वृ.** 'य' इति सामान्यनिर्देशः, आश्रवत्यष्टप्रकारं कर्म्म यैरारम्भैस्ते आस्रवाः, परिः-समन्तात्वति–गलति यैरनुष्ठानविशेषैस्ते परिस्रवाः, य एवास्रवाः–कर्म्मबन्धस्थानानि त एव परिवास्रः-कर्म्मनिर्ज्ञरास्पदानि, इदमुक्तं भवति-यानि इतरजनाचरितानि स्रगङ्गनादीनि सुखकारणतया तानि कर्म्मबन्धहेतुत्वादास्रवाः, पुनस्तान्येव तत्त्वविदां विषयसुखपराङ्घुखानां निःसारतया संसारसरणिदेश्यानीतिकृत्वा वैराग्यजनकानि अतः परिवास्रः-निर्ज्ञरास्थानानि । सर्ववस्तूना मनैकान्तिकतां दर्शयितुमेतदेव विपर्ययेणाइ–

'जे परिस्सवा' इत्यादि, य एव परिश्चवाः-निर्जरास्थानानि-अर्हत्साधुतपश्चरण-दशविधचक्रवालसामाचार्यनुष्ठानादीनि, तान्येव कर्ममोदयावष्टव्यशुभाध्यवसायस्य दुर्गति-मार्गप्रवृत्तसार्थवाहस्य जन्तोर्महाशातनावतः सातर्खिरसागरवप्रवणस्यास्नवा भवन्ति-पापोपादानकारणानि जायन्ते, इदमुक्तं भवति-यावन्ति कर्म्यनिर्जरार्थं संयमस्थानानि तद्बन्धनायासंयमस्थानन्यपि तावन्त्येव, उक्तं च–

**॥ ९ ॥** ''यथाप्रकारा यावन्तः, संसारावेशहेतवः । तावन्तस्तद्विपर्यासान्निर्वाणसुखहेतवः ''

तथाहि-रागद्वेषवासितान्तःकरणस्य विषयसुखोन्मुखस्य दुष्टाशयत्वात्सर्वं संसाराय, पिचुमन्दरसवासितास्यस्य दुग्धशर्करादिकटुकत्वाप्तिवदिति, सम्यग्ध्ष्टेस्तु विदितसंसारोदन्वतः न्यक तविषयाभिलाषस्य सर्वमशुचि दुःखकारणमिति च मावयतः सञ्जातसंवेगस्येतरजन-संसारकारणमपि मोक्षायेति मावार्थः । पुनरेतदेव गतप्रत्यागतसूत्रं सप्रतिषेधमाह- 'जे अणासवा' इत्यादि, प्रसज्यप्रतिषेधस्य क्रियाप्रतिषेधपर्यवसानतया परिस्रवा इत्यनेन सह सम्बन्धाभावात् पर्युदासोऽयम्, अस्रावेभ्योऽन्येऽनास्रवाः-व्रतविशेषाः, तेऽपि कर्म्भोदयातशुमाध्यवसायिनोऽ-परिवास्रः कर्म्भणः, कोङ्कणार्यप्रमृतीनामिवेति, तथाऽपरिसवाः-पापोपादानकारणानि केनचिदुपाधिना प्रवचनोपकारादिना क्रियमाणाः कणवीरलताभ्रामकक्षुक्लकस्येवानासवाः-कर्म्पबन्धनानि न भवन्ति, यदिवा आवन्तीत्यावाः, पचाद्यच्, एवं परिस्रवन्तीति परिस्रवाः, अत्र चतुर्भङ्गिका-तत्र मिथ्यात्वविरतिप्रमादकषाययोगैर्य एव कर्म्पणामावाः- बन्धकाः त एवापरेषां परिवास्नः- निर्ज्ञरकाः, एते च प्रथमभङ्गपतिताः सर्वेऽपि संसारिणश्चतुर्गतिकाः, सर्वेषां प्रतिक्षणमुभयसद्मावात्, तथा ये आस्रवास्तेऽपरिवा इति शून्योऽयं दितीयभङ्गको, बन्धस्य शाटाविनाभावित्वाद्, एवं येऽनास्रवास्ते परिस्रवाः, एते चायोगिकेव-लिनस्तृतीयभङ्गको, बन्धस्य शाटाविनाभावित्वाद्, एवं येऽनास्रवास्ते परिस्रवाः, एते चायोगिकेव-लिनस्तृतीयभङ्गको सूत्रोपात्तौ, तदुपादाने च मध्योपादानस्यावश्यंभावित्वात् मध्यभङ्गकद्वयग्रहणं द्रष्टव्यमिति । यद्येवं ततः किमित्याह--

'एए पए' इत्यादि, एतानि-अनन्तरोक्तानि पद्यते-गम्यते येभ्योऽ र्थस्तानि पदानि, तद्यया-ये आस्रवा इत्यादीनि, परस्य चार्थावगत्यर्थं शब्दप्रयोगादेतत्पदवाच्यानर्याश्च सम्यग्—अविपर्यासेन बुध्यमानस्तथा 'लोकं' जन्तुगणमास्रवद्वारायातेन कर्म्णा बध्यमानं तपश्चरणादिना च मुच्यमानमाज्ञया- तीर्थं करप्रणीतागमानुसारेणाभिसमेत्य-आभिमुख्येन सम्यक् परिच्छिद्य चशब्दो भिन्नक्रमः पृथक् प्रवेदितं चाभिसमेत्य पृथगास्रवोपादानं निर्झरोपादानं चेत्येतज्ञ ज्ञात्वा को नाम धर्म्मचरणं प्रतिनोद्यच्छेदिति?, कथं प्रवेदितमिति चेत्?, तदुच्यते, आस्रवस्तावज्ज्ञानप्रत्यनीकतया ज्ञाननिह्नवेन ज्ञानान्तरायेण ज्ञानप्रदेषेण ज्ञानात्याशातनया ज्ञानविसंवादेन ज्ञानावरणीयं कर्म्म बध्यते, एवं दर्शनप्रत्यनीकतया यावद्दर्शनविसंवादेन दर्शनावरणीयं कर्म्म बध्यते, तथा प्राणिनामनुकम्यनतया भूतानुकम्पनतया जीवानुकम्पनतया सत्त्वानुकम्पनत्त्वन बहूनां प्राणिनामदुःखोत्पादनतयाआशोचनतया अजूरणतया अपीडनतया अपरितापनतया सातावेदनीयं कर्म्म बध्यते, एतद्विपर्ययाच्यासातावेदनीयमिति,

तथाऽनन्तानुबन्ध्युत्कटतया तीव्रदर्शनमोहनीयतया प्रबलचारित्रमोहनीयसद्भा-वाम्गेहनीयं कर्म्म बध्यते, महारम्भतया महापरिग्रहतया पश्चेन्द्रियवधात् कुणिमाहारेण नरकायुष्कं बध्यते, मायावितया अनृतवादेन कूटतुलाकूटमानव्यवहारात्तिर्यगायुर्वध्यते, प्रकृतिविनीततया सानुक्रोशतया अमात्सर्यान्मुष्यायुष्कं, सरागसंयमेन देशविरत्या बालतपसा अकामनिर्जरया देवायुष्कमिति, कायर्जुतया भावर्जुतया भाषर्जुतया अविसंवादनयोगेन शुभनाम बध्यते, विपर्ययाद्य विपर्यय इति, जातिकुलबलरूपतपःश्रुतलामैश्चर्यमदाभावादुद्यैर्गोत्रं, जात्यादिमदात् परपरिवादाद्य नीचैर्गोत्रं, दानलाभभोगोपभोगवीर्यान्तरायविधानादान्तरायिकं कर्म्म बध्यते, एते ह्यास्रवाः,

साम्प्रतं परिस्रवाः प्रतिपाद्यन्ते-अनशनादि सबाह्याभ्यन्तरं तप इत्यादि, एवमास्रव-कनिर्ज़रकाः सप्रभेदा जन्तवो वाच्याः, सर्वेऽपि च जीवादयः पदार्था मोक्षावसाना वाच्याः । एतानि च पदानि सन्बुध्यमानैस्ती-र्थकरगणधरैर्लोकमभिसमेत्य पृथक् पृथक् प्रवेदितम्, अन्योऽपि तदाज्ञानुसारी चतुर्द्दशपूर्वविदादिः सत्त्वहिताय परेभ्य आवेदयतीत्येतद्दर्शयितुमाह--

मू. (१४४) आघाइ नाणी इह माणवाणं संसारपडिवण्णाणं संबुज्झमाणाणं विन्नाणपत्ताणं, अट्टावि संता अदुवा पमत्ता अहा सद्यमिणं तिबेमि, नाणागमो मद्युमुहस्स अत्थि, इच्छा पणीया वंकानिकेया कालगहिया निचयनिवट्ठा पुढो पुढो जाइं पकप्पयंति।

व. ज्ञानं सकलपदार्थाविर्मावकं विद्यते यस्यासौ ज्ञानी स 'आख्याति' आचष्टे 'इहे'ति प्रवचने केषां ? – मानवानां, सर्वसंवरचारित्राईत्वात्तेषाम्, अथवोपलक्षणं चैतद्देवादीनां, तत्रापि केवल्यादिव्युदासाय विशेषणमाह-'संसार' इत्यादि, संसारं-चतुर्गतिलक्षणं प्रतिपन्नाः संसारप्रतिपन्नाः, तत्रापि ये धर्म्म भोल्स्यन्ते ग्रहीष्यन्ते च मुनिसुव्रतस्वामिधोट- कद्रष्टान्तेनतेषामे-वाख्यातीत्येतदर्शयति- 'सम्बुध्यमानानां' यथोपदिष्टं धर्म्म सम्यगवबुध्यमानानां, छद्मस्थेन त्वज्ञातबुध्यमानेतर-विशेषेण यादग्भूतानां कथयितव्यं तानु सुत्रेणैव दर्शयति-'विज्ञानप्राप्तानां' हिताहितप्राप्तिपरिहाराध्यवसायो विज्ञानं तत्र्याप्ता विज्ञानप्राप्ताः, समस्तपर्याप्तिभिः पर्याप्ताः, संज्ञिन इत्यर्थः.

नागार्जुनीयास्तु पठन्ति–''आघाइ धम्मं खलु से जीवाणं, तंजहा–संसारपडिवन्नाणं माणुसभवत्थाणं आरंभविणईणं दुक्खुव्वेअसुहेसगाणं धम्मसवणगवेसयाणं सुस्सूसमाणाणं पडिपुच्छमाणाणं विण्णाणपत्ताणं'' एतच्च प्रायोगतार्थमेव, नवरमारम्भविनयिनामित्यारम्भविनयः-आरम्भाभावः स विद्यते येषामिति मत्वर्थीयस्तेषामिति । यथा च ज्ञानी धर्म्पामाचष्टे तथा दर्शयति-

'अडावि' इत्यादि, विज्ञानां प्राप्ता धर्म्म कथ्यमानं कुतश्चित्रिमित्तादार्त्ता अपि सन्तः चिलातिपुत्रादय इव अथवा प्रमत्तविषयाभिष्वङ्गादिना शालिभद्रादय इव तथाविधकर्म्मक्षयो-पशमापत्तेर्यया प्रतिपद्यन्ते तयाऽऽचप्टे-यदिवाऽऽर्त्ताः-दुःखिनः प्रमत्ताः– सुखिनः, तेऽपि प्रतिपद्यन्ते धर्म्म, किं पुनरपरे ?.

अथवा आर्त्ताः--- रागढेषोदयेन प्रमत्ता विषयैः, ते च तीर्थिका गृहस्था वा संसारकान्तारं विशन्तः कथं भवतां विज्ञातज्ञेयानां करुणास्पदानां रागद्वेषविषयाभिलाषोन्मूलनाय न प्रभवन्ति एतचान्यया मा मंस्था इति दर्शयितुमाह-'अहा सच्च' मित्यादि, इदं यन्मया कथितं कथ्यमानं च तद्यथासत्यं, यायातथ्यमित्यर्थः, इत्येतदहं ब्रवीमि, यथा दुर्लभमवाप्य सम्यकत्वं चारित्रपरिणामं वा प्रमादो न कार्यः, स्यात् किमालच्व्य प्रमादो न कार्यस्तदाह – 'नाणागमो' इत्यादि, न ह्यनागमो मृत्योर्मुखस्य कस्यचिदपि संसारोदरवर्त्तिनोऽस्तीति उक्तं च-

| 11 9 11 | ''वदत यदीह कश्चिदनुसंततसुखपरिभोगलालितः ।  |
|---------|---|
|         | प्रयत्नशतपरोऽपि विगतव्यथमा युरवाप्तवान्नरः  |
| li s li | न खलु नरः सुरौधसिद्धासुरकिन्नरनायकोऽपि यः।  |
|         | सोऽपि कृतान्तदन्तकुलिशांक्रमेण कृशितो न नश्यति"                                     |
|         | तथोपायोऽपि मृत्युमुखप्रतिषेधस्य न कश्चिदस्तीति, उक्तं च                             |
| 11 9 11 | ''नश्यति नौति याति वितनोति करोति रसायनक्रियां,                                      |
|         | चरति गुरुव्रतानि विवराण्यपि विशति विशेषकातरः ।                                      |
|         | तपति तपांसि खादति मितानि करोति च मन्त्रसाधनं,                                       |
|         | तदपि कृतान्तदन्तयन्त्रक्र कचक्र मणैर्विदार्यते ''                                   |
| येपुन   | र्विषयकषायाभिष्वङ्गात् प्रमत्ता धर्म्म नावबुध्यन्ते ते किम्भूता भवन्तीत्याह–'इच्छा' |
|         | र्यमनोविषयानुकूला प्रवृत्तिरिहेच्छा तया विषयाभिमुखमभिकर्म्मबन्धं संसाराभि           |
|         | र्भेण नीता इच्छाप्रणीताः. ये चैवम्भूतास्ते 'वंकानिकेता' वङ्कस्य–असंयमस्य आ-         |

मर्यादया संयमावधिभूतया निकेतभूताः–आश्रया वङ्कानिकेताः, वङ्को वा निकेतो येषां ते वङ्कानिकेताः, पूर्वपदस्य दीर्धत्वं, येचैवम्भूतास्ते 'कालगृहीताः' कालेन-मृत्युना गृहीताः कालगृहीताः, पौनःपुन्यमरणभाज इत्यर्थः, धर्मचरणाय वा गृहीतःअभिसन्धितः काल चैस्ते कालगृहीताः, आहिताग्निदर्शनादार्षत्वाद्वा निष्ठान्तस्य परनिपातः,

तथाहि-पाश्चात्ये वयसि परुत्परारि वा अपत्यपरिणयनोत्तरकालं वा धर्म्मं करिष्याम इत्येवं गृहीतकालाः, ये चैवम्भूतास्ते निचये निविद्य-निचये कर्म्मनिचये तदुपादाने वा सावद्यारम्भनिचये निविद्याः-अध्युपपन्नाः, ये चेच्छाप्रणीता वङ्कानिकेताः कालगृहीता निचये निविद्यास्ते तद्धर्माणः किमपरं कुर्वन्तीति दर्शयितुमाह-'पुढोपुढो' इत्यादि, पृथवपृथगेकेन्द्रियद्वीन्द्रियादिकां जातिमनेकशः 'प्रकल्पयन्ति' प्रकुर्वन्ति, पाठान्तरं वा 'एत्थ' मोहे पुणो पुणो' 'अत्र' अस्मिन्निच्छाप्रणीतादिके हषीकानुकूले मोहे कर्म्मरूपे वा मोहे निमग्नाः पुनः पुनस्तत्कुर्वन्ति येन तदप्रच्युतिः स्यात् ।।

तदप्रच्युतौ च किं स्यादित्याह—

मू. (१४५) इहमेगेसिं तत्थ तत्थ संथवो भवइ अहोववाइए फासे पडिसंवेयंति, चिड्ठं कम्मेहिं कूरेहिं चिड्ठं परिचिट्ठइ, अचिड्ठं करूरेहिं कम्मेहिं नो चिड्ठं परिचिट्इ, एगे वयंति अदुवावि गाणी नाणी वयंति अदुवावि एगे

**वृ.** 'इह' अस्मिश्चतुर्द्दशरज्ञ्यात्मके लोके 'एकेषां' मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषायवतां 'तन्न तत्र' नरकतिर्यगगत्यादिषु यातनास्थानकेषु 'संस्तवः' परिचयो भूयोभूयोगमनाद्मवति, ततः किमित्याह-'अहोववाइए' इत्यादि, त एवभिच्छया प्रणीतत्वादिन्द्रियवशगास्तद्वशित्वात्त-दनुकूलमाचरन्तो नरकादियातनास्थानजातसंस्तवास्तीर्थिका अप्यौद्देशिकादि निर्दीषमाचक्षाणा 'अधऔपपातिकान्' नरकादिभवान् 'स्पर्शान्' दुःखानुभवान् 'प्रतिसंवेदयन्ति' अनुभवन्ति, तथाहि-त्तोकायतिका ब्रुवते--

॥ ९ ॥ 🥂 ''पिब खाद च चारुलोचने !, यदतीतं वरगात्रि ! तन्न ते ।

न हि भीरु ! गतं निवर्त्तते, समुदयमात्रमिदं कलेवरम् ''

वैशेषिका अपि सावधयोगारम्भिणः, तथाहिते भाषन्ते-'अभिषेचनोपवासब्रह्मचर्यगुरुकुल-वासवानप्रस्थयज्ञदानमो क्षणदिग्नक्षत्रमन्त्रकालनियमाः' इत्यादि, अन्ये Sपि सावध-योगानुष्ठायिनो Sनया दिशा वाच्याः, स्यात् किं सर्वो Sपीच्छाप्रणीतादिर्यावत्तत्र तत्र कृतसंस्तवो S-धऔपपातिकान् स्पर्शान् प्रतिसंवेदयत्याहोस्वित्कश्चिदेव तद्योग्यकर्म्मकार्येवानुभ- वति ?, न सर्व इति दर्शयति- "चिट्ठं" इत्यादि, चिट्ठं-भृशमत्यर्थं 'क्रूरैः' वधबन्धादिभिः 'कर्म्मभिः' क्रियाभिः 'चिट्ठ'मिति भृशमत्यर्थमेव विरूपां दशां वैतरणीतरणासिपत्रवनपत्रपाताभिघातशाल्मली-वृक्षालिङ्गादिजनितामनुभवंस्तमस्तमादिस्थानेषु परितिष्ठति, यस्तु नात्पर्थं हिंसादिभिः कर्म्मभिर्वत्तते सो Sत्यन्तवेदनानिचितेष्ठ्वपि नरकेषु नोत्पद्यते, स्यात्-क एवं वदतीत्याह--

'एगे वयंती' त्यादि, 'एके' चतुर्द्दशपूर्वविदादयो 'वदन्ति' ब्रुवतेऽथवाऽपि ज्ञानी वदति, ज्ञानं-सकलपदार्थाविर्भावकम् अस्यास्तीति ज्ञानी, स चैतद् ब्रवीति, यद्दिव्यज्ञानी केवली भाषते श्रुतकेवलिनोऽपि तदेव भाषन्ते, यद्य श्रुतकेवलिनो भाषन्ते निरावरणज्ञानिनोऽपि तदेव वदन्तीत्येतद्गतप्रत्यागतसूत्रेणदर्शयति-'नाणी' इत्यादि, 'ज्ञानिनः' केवलिनो यद्वदन्त्यथवाऽप्येके- श्रुतकेवलिनो यद्वदन्ति तद्यथार्थमाषित्वादेकमेव, एकेषां सर्वार्थप्रत्यक्षत्वादपरेषां तदुपदेशप्रवृत्तेरिति, वक्ष्यमाणेऽप्येकवाक्यतेति । तदाह—

मू. (१४६) आवंति केयावंती लोयंसि समणा य माहणा य पुढो विवायं वयंति, से दिट्ठं च णे सुयं च णे मयं च णे विण्णायं च णे उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ सुपडिलेहियं च णे-सब्वे पाणा सव्वे जीवा सव्वे भूया सव्वे सत्ता हन्तव्वा अझावेयव्वा परियावेयव्वा परिघेत्तव्वा उद्दवेयव्वा, इत्यवि जाणह नत्थित्य दोसो अनारिवयणमेयं, तत्य जे आरिआ ते एवं वयासी–

से दुद्दिइं च मे दुस्सुयं च मे दुम्पयं च भे दुव्विण्णायं च भे उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सव्वओ दुप्पडिलेहियं च भे, जं णं तुब्भे एवं आइक्खह एवं भासह एवं परूवेह एवं पन्नवेह-सव्वे पाणा ४ हंतव्वा ५, इत्यवि जाणह नत्थित्थ दोसो, अनारियवयणमेयं, वयं पुण एवमाइक्खामो एवं भासामो एवं परूवेमो एवं पण्णवेमो-सव्वे पाणा ४ न हंतव्वा ? न अज्ञावेयव्वा २ न परिधित्तव्वा ३ न परियावेयव्वा ४ न उद्दवेयव्वा ५,

इत्यवि जाणह नत्थित्य दोसो, आयरियवयणमेयं पुव्वं निकाय समयं पत्तेयं पत्तेयं पुच्छिस्सामि, हंभो पवाइया ! किंभे सायं दुक्खं असायं ? समिया पडिवण्णे यावि एवं बूया-सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सव्वेसिं जीवाणं सव्वेसिं सत्ताणं असायं अपरिनिव्वाणं महब्भयं दुक्खं – तिबेमि ।।

**ष्ट्र.** 'आवन्ती'ति यावन्तः 'केआवन्ती'ति केचन 'लोके' मनुष्यलोके 'श्रमणापाषण्डिकाः 'ब्राह्मणा' द्विजातयः पृथक्पृथग् विरुद्धो चादो विवादस्तं वदन्ति, एतदुक्तं भवति-यावन्तः केचन परलोकं ज्ञीप्सवस्ते आत्मीयदर्शनानुरागितया पाराक्यं दर्शनमपवदन्तो विवदन्ते, तथाहि-भागवता ब्रुवते- ''पश्चविंशतितत्त्वपरिज्ञानान्मोक्षः, सर्वव्याप्यात्मा निष्क्रियो निर्गुणश्चैतन्यलक्षण, निर्विशेषं सामान्यं तत्त्व' मिति, वैशेषिकास्तु माषन्ते - ''द्रव्यादिषट्पदार्थपरिज्ञानान्मोक्षः, समवायिज्ञान-गुणेनेच्छाप्रयत्नद्वेषादिभिश्च गुणैर्गुणवानात्मा, परस्परनिरपेक्षं सामान्यविशेषात्मकं तत्त्व' मिति शाक्यास्तु वदन्ति- ''यथा परलोकानुयाय्यात्मैव न विद्यते, निःसामान्यं वस्तु क्षणिकं चे''ति, मीमांसकास्तु मोक्षसर्वज्ञामावेन व्यवस्थिता इति, तथा केषाश्चित् पृथिव्यादय एकेन्द्रिया जीवा न भवन्ति, अपरे वनस्पतीनामप्यचेतनतामाहुः, तथा द्वीन्द्रियादीनामपि कृम्यादीनां न जन्तुरवभावं प्रतिपद्यन्ते, तद्भावे वा न तद्वधे बन्धोऽल्पबन्ध्यता वेति, तथा हिंसायामपि भिन्नवाक्यता, तदुक्तम्

॥१॥ प्राणी प्राणिज्ञानं घातकचित्तं च तद्गता चेष्ट । प्राणैश्च विप्रयोगः पञ्चभिरापद्यते हिंसा ॥

इत्येवमादिक औद्देशिकपरिभोगाभ्यनुज्ञादिकश्च विरुद्धो वादः स्वतं एवाभ्यूह्यः । यदि वा ब्राह्मणाः श्रमणा धर्म्यविरुद्धं वादं यद्वदन्ति तत्सूत्रेमणैव दर्शयति - 'से दिष्ठं च णे' इत्यादि यावत् 'नत्थित्थ दोसो'त्ति, 'से'त्ति तच्छब्दार्थे यदहं वक्ष्ये तत् 'ध्ष्टम्' उपलब्धं दिव्यज्ञानेनास्माभिरस्माकं वा सम्बन्धिना तीर्थकृता आगमप्रणायकेन चशब्द उत्तरापेक्षया समुद्ययार्थः, श्रुतंचास्माभिर्गुवदिः सकाशात्, अस्मद्गुरुशिष्यैर्वातदन्तेवासिभिर्वामतम्-अभिमतं युक्तियुक्तत्वादस्माकमस्म तीर्थकराणां वा विज्ञातं च तत्त्वभेदपर्यायैस्माभिरस्मत्तीर्थकरेणवा, स्वतो न परोपदेशदानेन, एतन्रोर्ध्वाधत्तिर्यक्षु दशस्वपि दिक्षु सर्वतः सर्वैः-प्रत्यक्षानुमानो- षमानागमार्थापत्त्यादिभिः प्रकारैः सुष्ठु प्रत्युप्रेक्षितं च - पर्यालोचितं च, मनःप्रणिधानादिना अस्माभिरस्मत्तीर्थकरेण वा, किं तदित्याह –

सर्वे प्राणाः सर्वे जीवाः सर्वे भूताः सर्वे सत्त्वा हन्तव्या आज्ञापयितव्याः परिगृहीतव्याः परितापयितव्या अपद्रापयितव्याः, 'अत्रापि' धर्म्मचिन्तायामप्येवं जानीथ, यथा नास्त्यत्र यागार्थं देवतोपयाचितकतया वा प्राणिहननादौ 'दोषः' पापानुबन्ध इति, एवं यावन्तः केचन पाषण्डिका औद्देशिकभोजिनोब्राह्मणा वा धर्म्मविरुद्धं परलोकविरुद्धं वा वाद भाषन्ते। अयं च जीवोपमर्दकत्वात् पापानुबन्धी अनार्यप्रणीत इति, आह च-आराद्याताः सर्वहेयधर्म्भेभ्यः इत्यार्यास्तद्विपर्यासादनार्याः-क्रूरकर्म्माणस्तेषां प्राण्युपधातकारीदं चचनं, ये तु तथाभूता न ते किम्भूतं प्रज्ञापयन्तीत्याह -'तत्य' इत्यादि, 'तत्रे'ति वाक्योपन्यासार्थे निर्धारणे वा, ये ते आर्या देशभाषाचारित्रार्यास्त एवमवादिषुर्यधा यत्तदनन्तरोक्तं दुर्दृष्टमेतदुष्टं दृष्टं दुर्दृष्टं 'भे' युस्माभिर्युष्मत्तीर्थकरेण वा, एवं यावहुष्प्रत्युपेक्षितमिति । तदेवं दुर्दृष्टादिकं प्रतिपाद्य दुष्प्रज्ञापनानुवादद्वारेण तदभ्युपगमे दोषाविष्करणमाह –

'जंण' मित्यादि, णमिति वाक्यालङ्कारे, यदेतद्वक्ष्यमाणंयूयमेवमाचध्वमित्यादि यावदत्रापि यागोपहारादौ जानीथ यूयं यथा नास्त्येवात्र-प्राण्युपमर्दानुष्ठाने दोषः-पापानुबन्ध इति, तदेवं परवादे दोषाविर्भावनेन धर्म्मविरुद्धतामाविर्भाव्य स्वमतवादमार्या आविर्भावयन्ति - 'वय' मित्यादि, पुनःशब्दः पूर्वस्माद्विशेषमाह, वयं पुनर्यथ । धर्म्मविरुद्धवादो न भवति तथा प्रज्ञापयाम इति, तान्येव पदानि सप्रतिषेधानि हन्तव्यादीनि यावन्न केवलमन्त्र-अस्मदीये वचने नास्ति दोषोऽन्नापि-अधिकारे जानीथ यूयं यथा 'अन्न' हननादिप्रतिषेधविधौ नास्ति दोषः-पापानुबन्धः, सावधारणत्वाद्याक्यस्य नास्त्येव दोषः, प्राण्युपधातप्रतिषेधाद्यार्यवचनमेतत्, एवमुक्ते सति ते पाषण्डिका ऊचुः-

भवदीयमार्यवचनमस्मदीयं त्वनार्यमित्येतन्निरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, युक्तिविकलत्वात्, तदत्राचार्यो यथा परमतस्यानार्यता स्यात्तथा दिदर्शयिषुः स्ववाग्यन्त्रिता वादिनो न विचलयिष्यन्तीतिकृत्वा प्रत्येकमतप्रच्छनार्थमाह - 'पुव्व' मित्यादि, 'पूर्वम्' आदावेव 'समयम्' आगमं यद्यदीयागमेऽभिहितं तत् 'निकाच्य' व्यवस्थाप्य पुनस्तादिरूपापादनेन परमतानार्यता प्रतिपाधेत्यत्स्तदेवपरमतं प्रश्नयति, यदिवा पूर्वं प्राश्निकान्निकाच्य ततः पाषण्डिकान् प्रश्नयितुमाह

'पत्तेय' मित्यादि, एकमेकं प्रति प्रत्येकं भोः प्रावादुकाः ! भवतः प्रश्नयिष्यामि, किं 'भे' युष्माकं 'सातं' मनआह्लादकारि दुःखमुतासातं-मनःप्रतिकूलं ?, एवं पृष्टाः सन्तो यदि सातमित्येवं द्र्युः ततः प्रत्यक्षागमलोकबाधा स्याद्, अथ चासातमित्येवं द्र्युः ततः 'समिया' सम्यक् प्रतिपन्नांस्तान् प्रावादुकान् स्वचाग्यन्त्रितानप्येवं द्रूयात्-'अपिः' सम्भावने, सम्भाव्यते एतद्भणनं-यथा न केवलं भवतांदुःखमसातं, सर्वेषामपिप्राणिनां दुःखमसातंमनसोऽनभिप्रेतम् अपरिनिर्वाणम्-अनिर्वृत्तिरूपं महद्भयं दुःखमित्येतत् परिगणय्य सर्वेऽपि प्राणिनो न हन्तव्या इत्यादि वाच्यं, तद्धनने च दोषः, यस्वदोषमाह तदनार्यवचनम् । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्, तदेवं प्रावादुकानां स्ववाग्नियन्त्रणयाऽनार्यता प्रतिपादिता, अत्रैव रोहगुप्तमन्त्रिणा विदितागमसद्भावेन माध्यस्यमवलम्बमानेन तीर्थिकपरीक्षाद्वारेण यथानिराकरणंचक्रे तथा निर्युक्तिकारो गाधाभिराचष्टे

1 13

नि. [२२७] खुडुग पायसमासं धम्मकहंपि य अजंपमाणेणं । छन्नेण अन्नलिंगी परिच्छिया रोहगुत्तेणं ॥

**वृ.** अनया गाथया सङ्खेपतः सर्वं कथानकमावेदितं क्षुल्लकस्य, 'पादसमासो' गाधा-पादसङ्खेपत्तमजल्पताधर्म्मकथांच 'छन्नेन' प्रकटेनअन्यलिङ्गिनः' प्रावादुकाः 'परीक्षिताः' निरूपिताः 'रोहगुप्तेन' रोहगुप्तनाम्ना मन्त्रिणेति गाथासमासार्थः । भावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तद्येदम्-चम्पायां नगर्यां सिंहसेनस्य राज्ञो रोहगुप्तो नाम महामन्त्री, स चार्हद्-दर्शभावितान्तःकरणो विज्ञातसदसद्वादः, तत्रच कदाचिद्राजाऽऽस्थानस्थोधर्म्मविचारं प्रस्तावयति, तत्र यो यस्याभिमतः स तं शोभनमुचाच, स च तूष्णीभावं भजमानो राज्ञोक्तः-धर्म्मविचारं प्रति किमपि न ब्रूतै भवान् ?,

स त्याह-किमेभिः पक्षपातवचोभिः ?, विमर्शामः स्वत एव धर्म्म परीक्षामहे तीर्थिकानित्यभिधाय राजानुमत्या 'सकुण्डलं वा वदनं न व'त्ति, अयं गाथापादो नगरमध्ये आललस्बे, सम्पूर्णा तु गाथा भाण्डागारिता, नगर्यां चोद्घुष्टं, यथा-य एनं गाथापादं पूरयिष्यति तस्य राजा यथेप्सितं दानं दास्यति तद्भक्तश्च भविष्यतीति, तं च गाथापादं सर्वेऽपि गृहीत्वा प्रावादुका निर्जुग्मुः, पुनश्च सप्तमेऽहनि राजानमास्थानस्थमुपस्थिताः, तत्रादावेव परिवाड् ब्रवीति –

नि. [२२८] भिक्खं पविट्ठेण मएऽज दिइं, पमयामुहं कमलविसालनेत्तं। वक्खित्तचित्तेण न सुद्धनायं, सकुंडलं वा वयणं न वत्ति ॥

वृ. सुगमं, नवरमपरिज्ञाने व्याक्षेपः कारणमुपन्यस्त न पुनर्वीतरागतेति पूर्वगाथाविसंवादा-दसौ तिरस्कृत्य निर्द्धाटितः । पुनस्तापसः पठति –

नि. [२२९] फलोदएणं मि गिह्नं पविहो, तत्थासणत्था पमया मि दिहा । वक्खित्तचित्तेण न सुद्व नायं, सकुंडलं वा वयणं न वत्ति ।।

**वृ.** सुगमं पूर्ववत् । तदनन्तरं शौद्धोदनिशिष्यक आह –

नि. [२३०] मालाविहारंमि मएऽज्ञ दिडा, उवासिया कंचणभूसियंगी । वक्खित्तचित्तेण न सुडु नायं, सकुंडलं वा वयणं न वत्ति ।।

**वृ.** पूर्ववद्, एवमनया दिशा सर्वेऽपि तीर्थिका वाच्याः, आर्हतस्तु पुनर्न कश्चिदागत इति राज्ञाऽभाणि, मन्त्रिणा त्वार्हतक्षुल्लकोऽप्येवम्भूतपरिणाम् इत्येवं संप्रत्यय एषां स्यादित्यतो भिक्षार्थं प्रविष्टः प्रत्युषस्येव क्षुल्लकः समानीतः, तेनापि गाथापादं गृहीत्वा गाथा बभाषे, तद्यथा -

नि. [२३१] खेंतरस दंतरस जिइंदियस्स, अज्झण्पजोगे गयमाणसत्स ।

किं मञ्झ एएण विचिंतएणं ?, सकुंडलं वा वयणं न वत्ति ॥ षृ.सुगमा, अत्र चक्षान्त्यादिकमपरिज्ञाने कारणमुपन्यस्तं न पुनर्व्यक्षिप इत्यतो गाथासंवादात् क्षान्तिदमजितेन्द्रियत्वाध्यात्मयो गाधिगतेश्च कारणाद्राज्ञो धर्म्मं प्रति भावो छासो Sभूत्, क्षु छकेन च धर्म्मप्रश्नोत्तरकालं पूर्वगृहीतशुप्केतरकर्द्दमगोलकढयं भित्तौ निक्षिप्य गमनमारेभे, पुनर्गच्छन् राज्ञोक्तं-किमिति भवान् धर्म्म पृष्टो Sपि न कथयति ? स चावोचत्-हे मुग्ध ! ननु कथित एव धर्म्मो भवतः शुष्केतरगोलकदृष्टान्तेन । एतदेव गाधाद्वयेनाह – नि. [२३२] उल्लो सुक्को य दो छूढा, गोलया मट्टियामया ।

३२) उल्ला सुका यदा थूबा, गालया माट्यामया । दोवि आवडिया कुड्डे, जो उल्लो तत्य लग्गइ ||

## नि. [२३३] एवं लग्गंति दुम्मेहा, जे नरा कामलालसा । विरत्ता उ न लग्गंति, जहा से सुक्वगोलए ॥

ष्ट्र. अयमत्र भावार्थः-ये ह्यङ्गग्रत्यङ्गनिरीक्षणव्यासङ्गात् कामिनीनां मुखं न पश्यन्ति तदभावे तु पश्यन्ति ते कामगृघ्नु तया सार्ग्राः, सार्द्रतया च संसारपङ्के कर्म्मकर्दमे वा लगन्ति, ये तु पुनः क्षान्यादिगुणोपेताः संसारसुखपराङ्गुखाः काष्ठमुनयस्ते शुष्कगोलकसन्निभा न क्वचिछगन्तीति गाथाद्वयार्थः । सन्यक्त्वाध्ययने द्वितीयोद्देशकनिर्युक्तिः ।

अध्ययनं-४-उद्देशकः-२ समाप्त

-: अध्ययन-४ - उद्देशक:-३ :-

**वृ.** उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके परमतव्युदासद्वारेण सम्यक्त्वमविचलंप्रतिपादयता तत्सहचरितं ज्ञानं तत्फलभूता च विरतिरभिहिता, सत्यपि चासिंमस्त्रये न पूर्वोपात्तकर्म्मणो निरवद्यतपोऽनुष्ठानमन्तरेण क्षयो भवतीत्यतस्तदधुना प्रतिपाद्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादि ।

मू. (१४७) उवेहि णं बहिया य लोगं, से सव्वलोगंमि जे केइ विष्णू, अणुवीइ पास निक्खित्तंदंडा, जे केइ सत्ता पलियं चयंति, नरा मुयद्या धम्मविउत्ति अंजू, आरंभजं दुक्खमिणंति नद्या, एवमाहु संमत्तदंसिणो, ते सब्वे पावाइया दुक्खरस कुसला परिन्नमुदाहरंति इय कम्मं परिन्नाय सब्बसो ।

वृ. योऽयमनन्तरं प्रतिपादितः पाषण्डिलोकः एनं धर्म्माद्वहिर्व्यवस्थितमुपेक्षस्व-तदनुछानं मा अनुमंस्थाः, चशब्दोऽनुक्तसमुच्चयार्थः, तदुपदेशमभिगमनपर्युपासनदानसंस्तवादिकं च मा कृथा इति । यः पाषण्डिलोकोपेक्षकः स कं गुणमवाप्नुयादित्याह - 'से सव्वलोए' इत्यादि, यः पाषण्डिलोकमनार्यवचनमवगम्य तदुपेक्षां विधत्ते स सर्वसिंमछोके-मनुष्यलोके ये केचिद्विद्वांसस्तेम्योऽग्रणीर्विद्वत्तमइतिस्यात्, लोकेकेचन विद्वांसः सन्ति? येभ्योऽधिकः स्यादित्यत्त आह --

'अणुवीइ' इत्यादि, ये केचन लोके 'निक्षिप्तदण्डाः' निश्चयेन क्षिप्तो निक्षिप्तः-परित्यक्तः कायमनोवाङ्मयः प्राण्युपघातकारी दण्डो यैस्ते विद्वांसो भवन्त्येव एतदनुविचिन्तय-पर्यालोच्य पश्य-अवगच्छ । के चोपरतदण्डा इत्यत आह- 'जे केइ' इत्यादि, ये केचनावगतधर्म्माणः सत्त्वाः-प्राणिनः 'पलित'मिति कर्म्म तत्त्यजन्ति, ये चोपरतदण्डा भूत्वाऽष्टप्रकारं कर्म्म घ्नन्ति ते विद्वांस इत्येतदनुविचिन्त्य-अक्षिनिमीलनेन पर्यालोच्य 'पश्य' विवेकिन्या मत्याऽवधारय । के पुनरशेषकर्म्मक्षयं कुर्वन्ति ? इत्यत आह –

'नरे' इत्यादि, नराः-मनुष्यास्त एवाशेषकर्म्मक्षयायालं नान्ये, तेऽपिन सर्वे अपि तुमृतार्च्चा-मृतेव मृता संस्काराभावादर्च्चा शरीरं येषां ते तथा, निष्प्रतिकर्म्मशरीरा इत्यर्थः, यदिवा अर्च्चा-तेजः, स च क्रोधः, स च कषायोपलक्षणार्थः, ततश्चायमर्थो-मृता-विनष्टा अर्च्चा कषायरूपा येषां ते मृतार्च्चाः, अकषायिण इत्यर्थः, किं च - 'धर्म्म' श्रुतचारित्राख्यं विदन्तीति धर्म्मविदः, इति हेतौ, यत एव धर्म्मविदोऽत एव ऋजवः-कौटिल्परहिताः । स्यादेतत्-किमालम्ब्यैतद्विधेयमित्यत आह-'आरंभज' मित्यादि, सावद्यक्रियानुष्ठानमारम्भरतस्माज्ञातमारम्भजं, किंतद् ? -दुःखमिदमिति सकलप्राणिप्रत्यक्षं, तथाहि-कृषिसेवावाणिज्याचारम्भप्रवृत्तो यच्छाआरीरमानसं दुःखमनुभवति तद्वाचामगोचरमित्यतः प्रत्यक्षामिधायिनेदमोक्तम्, 'इतिः' उपप्रदर्शने, इत्येतदनुभवसिद्धं दुःखं ज्ञात्वा मृतार्च्चा धर्म्मविद ऋजुवश्च भवन्तीति । एतच्च समस्तवेदिनो भाषन्त इति दर्शयति -

'एव'मित्यादि, 'एवं' पूर्वोक्तप्रकारेण 'आहुः' उक्तवन्तः, के एवमाहुः ? -समत्वदर्शिनः सम्यक्त्वदर्शिनः समस्तदर्शिनो वा, यदुद्देशकादेराभ्योक्तं तदेवमूचुरित्यर्थः, कस्मात्त ऊचुरित्याह

'ते सव्वे' इत्यादि, यस्मात्ते सर्वेऽपि सर्वविदः 'प्रावादिकाः' प्रकर्षेण मर्यादयां वदितुं शीलं येषां तेप्रावादिनः, त एव प्रावादिकाः-यथावस्थितार्थस्य प्रतिपादनाय वावदूकाः, 'दुःखस्य' शारीरमानसलक्षणस्य तदुपादानस्य वा कर्म्पणः 'कुशला' निपुणास्तदपनोदोपायवेदिनः सन्तः ते सर्वेऽपि इपरिज्ञया परिज्ञाय हेयार्थस्य प्रत्याख्यानपरिज्ञामुदाहरन्ति, 'इतिः' उपप्रदर्शने, इत्येवं पूर्वोक्तनीत्या कर्म्पबन्धोदयसत्कर्म्पताविधानतः परिज्ञाय 'सर्वशः' सर्व्वैः' प्रकारैः कुशलाः प्रत्याख्यानपरिज्ञामुदाहरन्ति, यदिवा मूलोत्तरप्रकृतिप्रकारैः सर्वैः परिज्ञायेति मूलप्रकारा अधौ उत्तरप्रकृतिप्रकारा अष्टपञ्चाशदुत्तरं शतम्, अथवा प्रकृतिस्थित्वनुभावप्रदेशप्रकारैः, यदिवोदयप्रकारैर्बन्धसत्कर्म्पताकार्यभूतैरागामिबन्धसत्कर्म्पताकारणैश्च कर्म्प परिज्ञायेति, तेचामी उदयप्रकाराः, तद्यथा –

मूलप्रकृतीनां त्रीण्युदयस्थानानि, अष्टविधं सप्तविधं चतुर्विधमिति, तत्राष्टापि कर्म्मप्रकृतीयौंगपद्येन वेदयतोऽष्टविधं, तच्च कालतोऽनादिकमपर्यवसितमभव्यानां भव्यानां त्वनादिसपर्यवसितंसादिसपर्यवसितंचेति, मोहनीयोपशमेक्षयेवा सप्तविधं, घातिक्षयेचतुर्विधमिति साम्प्रतमुत्तरप्रकृतीनामुदयस्थानान्युञ्यन्ते, तत्र ज्ञानावरणीयान्तराययोः पञ्चप्रकारं एकमुदयस्थानं, दर्शनावरणीयस्य द्वे, दर्शनचतुष्कस्योदयाद्यत्वारि अन्यतरनिद्रया सह पञ्च, वेदनीयस्य सामान्येनैकमुदयस्थानं सातमसातं वेति, विरोधाधौगपद्योदयामावः, मोहनीयस्य सामान्येन नवोदयस्थानानि, तद्यथा-दश नव अधै सप्त षट् पञ्च चत्वारि द्वे एकं चेति, तत्र दश मिथ्यात्वं १ अनन्तानुबन्धी क्रोघोऽप्रत्याख्यानः प्रत्याख्यानावरणः सञ्जवलनश्चेत्येतक्रोधचतुष्टयम् ५ एवं मानादि चतुष्टयमपि योज्यं अन्यतरो वेदः ६ हास्यरतियुग्मम् अरतिशोकयुग्मं वा ८ मयं ९ जुगुप्सा १० चेति, मयजुगुप्सयोरन्यतरामावे नव, द्वयामावेऽष्टौ –

अनन्तानुबन्ध्यभावे सप्त भिथ्यात्वाभावे षट्, अप्रत्याख्यानोदयाभावे पञ्च, प्रत्याख्यानावरणाभावे चत्वारि, परिवर्त्तमानयुगलाभावे सञ्जवलनान्यतरवेदोदये सति द्वे, वेदभावे एकमिति, आयुषोऽप्येकमेवोदयस्थानं चतुर्णामायुषामन्यतरदिति, नाम्नो द्वादशोदयस्थानानि, तद्यथा-विंशतिः एकविंशतिः चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड् विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टविंशतिः एकोनत्रिंशत् एकत्रिंशत् चतुर्विंशतिः पञ्चविंशतिः षड् विंशतिः सप्तविंशतिः अष्टविंशतिः एकोनत्रिंशत् एकत्रिंशत् नव अष्टै चेति, तत्र संसारस्थानां सयोगिनां जीवानां दशोदयस्थानानि नाम्नो भवन्ति, अयोगिनां तु चरमद्वयमिति, अत्र च द्वादशद्युवोदयाः कर्म्मप्रकृतयः, तद्यया-

तैजसकार्म्मणे शरीरें २ वर्णगन्धसस्पर्शचतुष्टय ६ अगुरुलघु ७ स्थिरं ८ अस्थिरं ९ शुमं १० अशुमं ११ निर्म्माण १२ मिति, तत्र विंशतिरतीर्थकरकेवलिनः समुद्धातगतस्य कार्मणशरीरयोगिनो मवति, तद्यथा-मनुष्यगतिः १ पश्चेन्द्रियजातिः २ त्रसं ३ बादरं ४ पर्याप्तकं ५ सुभगं ६ आदेयं ७ यशःकीर्त्तिरिति ८ ध्रुवोदय १२ सहिता विंशतिः २०, एकविंशत्यादीनि तूदयस्थानानि एकत्रिंशत्पर्यन्तानि जीवगुणस्थानभेदादनेकभेदानि भवन्ति, तानि चेह ग्रन्थगौरवभयात् प्रत्येकं नोच्यन्त इत्यत एकैकभेदावेदनं क्रियते –

तत्रैकविंशतिः गतिः १ जातिः २ आनुपूर्वी ३ त्रसं ४ बादरं ५ पर्याप्तापर्याप्तयोरन्यतरत् ६ सुमगदुर्मगयोरन्यतरत् ७ आदेयानादेययोरन्यतरत् ८ यशःकीर्त्त्ययशःकीत्त्योरन्यतरत् ९, एताश्च नव घ्रुवोदय १२ सहिता एकविंशतिः २१, चतुर्विंशतिस्तु तिर्यग्गतिः १ एकेन्द्रियजातिः २ औदारिकं ३ हुण्डसंस्थानं ८ उपघातं ५ प्रत्ये कसाधारणयोरन्यतरत् ६ स्थावरं ७ सूक्ष्मबादरयोरन्यतरत् ८ दुर्मगं ९ अनादेयं १० अपर्याप्तकं ११ यशःकीत्त्ययशःकीत्त्योरन्यतर १२ दिति, तत्रैवापर्याप्तकापनयनेपर्याप्तकपराघाताभ्यांप्रक्षिप्ताभ्यांपश्चविंशतिः २५, षड्विंशतिस्तु याऽसौ केवलिनो विंशतिरमिहिता सैवौदारिकशरीराङ्गोपाङ्गद्वयान्यतरसंस्थानाद्यसंहननोपघा-तप्रत्येकसहिता वेदितव्या मिश्रकाययोगे वर्त्तमानस्य २६, सैव तीर्थकरनामसहिता केवलिसमुद्धातवतो मिश्रकाययोगिन एव सप्तविंशतिः २७, सैव प्रशस्तविहायोगतिसम-न्विताऽष्टाविंशतिः २८, तत्र तीर्थकरनामापनयने उच्छ्वास १ सुस्वर २ पराघात ३ प्रक्षेपे सति त्रिंशत्मवति ३०, तत्र सुस्वरे निरुद्धेएकोनत्रिंशत् २९, सैव त्रिंशतिर्या एकत्रिंशत्

नवोदयस्तु मनुष्यगतिः १ पञ्चेन्द्रियजातिः २ त्रसं ३ बादरं ४ पर्याप्तकं ५ सुभगं ६ आदेयं ७यशःकीर्त्ति ८ स्तीर्थकरमिति ९, एता अयोगितीर्थकरकेवलिनः, एता एव तीर्थकरनामरहिता अष्टाविति ८, गोत्रस्थैकमेव सामान्येनोदयस्थानं, उच्चनीचयोरन्यतरद्, यौगपद्येनोदयाभावो विरोघादिति, तदेवमुदयभेदैरनेकप्रकारतां कर्म्मणः परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञामुदाहरन्तीति ॥

यदि नाम कर्म्मपरिज्ञामुदाहरन्ति ततः किं कार्यमित्याह –

मू. (१४८) इह आणार्केखी पंडिए अनिहे, एगमप्पाणं संपेहाए धुणे सरीरं, कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं, - जहा जुन्नाइं कट्ठाइं हव्ववाहो पमत्यइ । एवं अत्तसमाहिए अनिहे, विगिंच कोहं अविकंपमाणे ।

**वृ**. 'इह' अस्मिन् प्रवचने आज्ञामाकाङ्कितुं शीलमस्येति आज्ञाकाङ्क-सर्वज्ञोपदेशानुष्ठायी, यश्चैक्म्मूतः स 'पण्डितो' विदितवेद्यः अस्निहो मवति, स्निह्यते-श्रिष्ठ्यतेऽष्टप्रकारेण कर्म्मणेति स्निहो न स्निहोऽस्निहः, यदिवा स्निह्यतीति स्निहो-रागवान् यो न तथा सोऽस्निहः, उपलक्षणार्थत्तवाद्यास्य रागद्वेषरहित इत्यर्थः, अथवा निश्चयेन हन्यत इति निहतः मार्थरेपुभिरिन्द्रियकषायकर्म्मभिः यो न तथा सोऽनिहतः, इह प्रवचने आज्ञाकाङ्क्षीपण्डितो भावरिपुभिरिन्द्रियकषायकर्म्मभिः यो न तथा सोऽनिहतः, इह प्रवचने आज्ञाकाङ्क्षीपण्डितो भावरिपुभिरनिहतो, नान्यत्र, यश्चनिहतः स परमार्थतः कर्म्मणः परिज्ञाता । यश्चैवम्भूतः स किं कुर्यादित्याह - 'एगमप्पाण' मित्यादि, सोऽनिहतोऽस्निहो वा आत्मानमेकं धनधान्यहिरण्य-पुत्रकलत्रशरीरादिव्यतिरिक्तं 'संप्रेक्ष्य' पर्यालोच्य धुनीयाच्छरीरकं, सम्मावनायां लिङ्, सर्वस्मादात्मानं व्यतिरिक्तं पश्यतः सम्माव्यत एतच्छरीरविधूननमिति, तद्य कुर्वता संसारस्वभावैकत्वमावनैवं-रूपा भावयितव्येति -

- II911 "संसार एवायमनर्थसारः, कः कस्य कोऽत्र स्वजनः परो वा ?। सर्वे भ्रमन्तः स्वजनाः परे च, भवन्ति भूत्वा न भवन्ति भूयः ।।
- II२।। विधिन्यमेतद्भवताऽहमेको, न मेऽस्ति कश्चित्पुरतो न पश्चात् । स्वकर्म्मभिभ्रान्तिरियं ममैव, अहं पुरस्तादहमेव पश्चात् ।।

।।३।। सदैकोऽहं न मे कश्चित्, नाहमन्यस्य कस्यचित् । न तं पश्यामि यस्याहं, नासौ भावीति यो मम ।। ।।४।। (तथा) - एकः प्रकुरुते कर्म्म, भुनक्त्येकश्च तत्फलम् ।

जायते स्रियते चैक, एको याति भवान्तरम् ॥

इत्यादि, 'किं च-'कसेहि अप्पाणं जरेहि अप्पाणं' परव्यतिरिक्त आत्मा शरीरं तत् कष्टतपश्चरणादिना कृशं कुरु, यदिवा 'कष' कस्मै कर्म्मणेऽलमित्येवं पर्यालोच्य यच्छक्नोषि तत्रनियोजयेदित्यर्थः, तथा 'जर' शरीरकंजरीकुरु, तपसा तथाकुरु यथा जराजीर्णमिव प्रतिभासते, विकृतिपरित्यागढारेणात्मानं निःसारतामापादयेदित्यर्थः, किमर्यमित्येतदिति चेदाह- 'जहा' इत्यादि, यथा 'जीर्णानि' निःसाराणि काष्ठानि 'हव्यवाहो' हुतभुक्खप्रमग्नाति-शीघ्रं भरमसात् करोति, ध्वान्तं प्रदर्श्य दार्ष्टन्तिकमाह - 'एवं अत्तसमाहिए' 'एवम्' अनन्तरोक्तदृद्यान्तप्रकरेणात्मना समाहितः आत्मसमाहितः, ज्ञानदर्शनचारित्रोपयोगेन सदोपयुक्त इत्यर्थः, आत्मा वा समाहितोऽस्थेत्यात्मसमाहितः, सदा शुभव्यापारवानित्यर्थः, आहिताग्न्यादिदर्शनादार्षत्वाद्वा निष्ठान्तरय परनिपातः, यदिवा प्राकृते पूर्वोत्तरनिपातोऽतन्त्रः, समाहितात्मेत्यर्थः, 'अत्निहः' स्नेहरहितः संस्तपोऽग्निना कर्म्मकाष्ठं दहतीति भाषार्थः ॥ एतदेव ध्व्यन्तदार्ष्टान्तिकगतमर्थं निर्युक्तिकारो गाथयोपसञ्जिधृश्रुराह –

नि. [२३४] जह खलु झुसिरं कहं सुचिरं सुक्वं लहुं डहइ अग्गी। तह खलु खवंति कम्मं सम्भच्चरणे ठिया साहू।।

**ष्ट्र.** गतार्था । अत्र चास्निंहपदेन रागनिवृत्तिं विधाय द्वेषनिवृत्तिं विधित्सुराह – 'विगिंच कोह'मित्यादि, कारणेऽकारणे वाऽतिक्रूराध्यवसायः क्रोधः तं परित्यज, तस्य च कार्यं कम्पनं तत्रतिषेधं दर्शयति - अविकम्पमानः ।। किं विगणय्यैतत्कुर्यादित्याह –

मू. (१४९) इमं निरुद्धाउयं संपेहाए, दुक्खं च जाण अदु आगमेस्सं, पुढो फासाइं च फासे, लोयं च पास विफंदमाणं, जे निव्वुडा पावेहिं कम्मेहि अणियाणा ते वियाहिया, तम्हा अतिविज्रो नो पडिसंजलिज्ञासि-- त्तिबेमि ।।

**वृ**. 'इदं' मनुष्यत्वं 'निरुद्धायुष्कं निरुद्धं-परिगलितमायुष्कं 'सम्प्रेक्ष्य' पर्यालोच्य क्रोधादिपरित्यागं विदध्यात्, किं च - 'दुक्ख' मित्यादि, क्रोधादिना दन्दह्ममानस्य यन्मानसं दुःखमुत्पद्यते तज्ञानीहि, तज्ञनितकर्म्मविपाकपादितं चागामि दुःखं सम्प्रेक्ष्य क्रोधादिकं प्रत्याख्यानपरिज्ञया जानीहि, परित्यजेरित्यर्थः, आगामिदुःखस्वरूपमाह - 'पुढो' इत्यादि, पृथक् सप्त नरकपृथिवीसम्भवशीतोष्णवेदनाकुम्मीपाकादियातनास्थानेषु 'सर्शान्' दुःखानि, चः समुच्चये, न केवलं क्रोधाध्मातस्तस्मिन्नेव क्षणेदुःखमनुभवतीत्यागामीनिपृथग्दुःखानि च स्पृशेद्- अनुभवेत्, तेन चातिदुःखेनापरोऽपि लोको दुःखित इत्येतदाह –

'लोयं च' इत्यादि, न केवलं क्रोधादिविपाकदात्मा दुःखान्यनुभवति, लोकं च शारीरमानसदुःखापन्नं विस्पन्दमानमस्वतन्त्रमितश्चेतश्च दुःखप्रतीकाराय धावन्तं 'पश्च' विवेकचक्षुषाऽवलोकय । ये त्येवं न ते किम्भूता भवन्तीत्यत आह – 'जे निव्वुडा' इत्यादि, ये तीर्थकरोपदेशवासितान्तःकरणा विषयकषायाग्न्युपशमान्निर्वृताः-शीतीभूताः पापेषु कर्म्मसु 'अनिदानाः' निदानरहितास्ते परमसुखास्पदतया व्याख्याताः, औपशमिकसुखभाक्त्वेन प्रसिद्धा इत्यर्थः, यत एवं ततः किमित्याह – 'तम्हा' इत्यादि, यस्माद्रागद्वेषाभिभूतो दुःखभाग्भवति तस्मादतिविद्वान् – विदितागमसद्भावः सन्न प्रतिसञ्जवलेः-क्रोधाग्निनाऽऽत्मानं नोद्दीपयेः, कषायोपशमं कुर्वित्यर्थः । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति, पूर्ववत् ।

अध्ययनं-४ - उद्देशकः-३ समाप्तः

### अध्ययनं-४ - उद्देशकः-४

**वृ.** उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थ आरम्भयते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके निरवद्यं तपोऽभिहितं, तद्य विकलं सत्संयमव्यवस्थितस्य भवतीत्यतः संयमप्रतिपादनाय चतुर्थोद्देशक इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशस्यादि सूत्रम् –

मू. (१५०) आवीलए पवीलए निप्पीलए जहित्ता पुव्वसंजोगं हिद्या उवसमं, तम्हा अविमणे वीरे, सारए समिए सहिए सया जए, दुरनुचरो मग्गो वीराणं अनियद्टगामीणं, विगिंच मंससोणियं, एस पुरिसे दविए वीरे, आयाणिन्ने वियाहिए, जे धुणाइ समुस्सयं वसित्ता बंभचेरंसि ।

**मृ**. आर्ड्ड्षदर्थे, ईषत्पीडयेद्, अविकृष्टेन तपसा शरीरकमीपीडयेद्, एतच्च प्रथम-प्रव्रज्याऽवसरे, तत उर्द्धवधीतागमः परिणतार्थसद्भावः सन् प्रकर्षेण विकृष्टतपसा पीडयेत्प्रपीडयेत्, पुनरध्यापितान्तेवासिवर्गः सङक्रामितार्थसारः शरीरं तित्यक्षुर्मासा-र्द्धमासक्षपणादिभिः शरीरं निश्चेयन पीडयेन्निष्पीडयेत्, स्यात्-कर्म्पक्षयार्थं तपोऽनुष्ठीयते, स चपूजालाभख्यात्यर्थेन तपसान भवत्यतो निर्रथकएव शरीरपीडनोपदेश इत्यतोऽन्यथा व्याख्यायते-कर्मेव कार्मणशरीरं वा आपीडयेखपीडयेन्निष्पीडयेत्, अत्रापीषदर्थादिका प्रकर्षगतिरवसेया, यदिवा आपीडयेत्कर्म्स अपूर्वकरणादिकेषु सम्यन्ध्यादिषुगुणस्थानकेषु, ततोऽपूर्वकरणा-निवृत्तिबादरयोः प्रपीडयेत्, सूक्ष्मसम्परायावस्थायां तुनिष्पीडयेत्, अथवा आपीडनमुपीशमश्रेण्यां प्रपीडनं क्षपकश्रेण्यां निष्पीडनं तु शैलेश्यवस्थायामिति । किं कृत्त्वैतत्कुर्यादित्याह--

'जहित्ता' इत्यादि, पूर्वः संयोगः पूर्वसंयोगो-धनधान्यहिरण्यपुत्रकलत्रादिकृतस्तं त्यक्त्वा, यदिवा पूर्वः-असंयमोऽनादिभवाभ्यासात्तेन संयोगः पूर्वसंयोगस्तं त्यक्त्वा 'आवीलये'-दित्यादिसम्बन्धः, किं च - 'हिद्या' इत्यादि, 'हि गता'वित्यस्मात् पूर्वकाले क्त्वा 'हित्वा' गत्वा, किंतत् ? -उपशमं-इन्द्रियनोइन्द्रियजयरूपं संयमं वा 'गत्वा' प्रतिपद्यापीडयेदिति वर्त्तते, इदमुक्तं भवति-असंयमं त्यक्त्वा संयमं प्रतिपद्य तपश्चरणादिनाऽऽत्मानं कर्म्म वाऽऽपीडयेत्, प्रपीडयेन्निष्पीडयेदिति, यतः कर्म्मापीडनार्थमुपशमप्रतिपत्तिस्तत्यतिपत्तौ चाविमनस्कतेत्याह –

'तन्हा' इत्यादि, यस्मात्कर्म्मक्षयायासंयमपरित्यागस्तत् परित्यागे चावश्यंभावी संयमस्तत्र च न चित्तवैमनस्यमिति, तस्मादविमना विगतं भोगकषायादिष्वरतौ वा मनो यस्य स विमना यो न तथा सोऽविमनाः, कोऽसौ ?, वीरः-कर्म्मविदारणसमर्थः, । अविमनस्कत्वाच्च यत्स्यात्तदाह -'सारए' इत्यादि, सुष्ट्वा-जीवनमर्यादया संयमानुष्ठाने रतः स्वारतः, पञ्चभिः समितिभिः समितः, सह हितेन सहितो ज्ञानादिसमन्वितो वा सहितः, 'सदा' सर्वकालं सकृदारोपितसंयमभारः संस्तत्र 'यतेत' यत्नवान् भवेदिति किमर्थं पुनः पौन-पुन्येन संयमानुष्ठानं प्रत्युपदेशो दीयते ? इत्याह -'दुरनुचरो' इत्यादि, दुःखेनानुचर्यत इति दुरनुचरः, कोऽसौ ? – मार्गः-संयमानुष्ठानविधिः, केषां ?- 'वीराणाम्' अप्रमत्तयतीनां, किम्भूतानामित्याह -'अमियट्ट' इत्यादि, अनिवत्तों-मोक्षस्तत्र गन्तुं शीलं येषां ते तथा तेषामिति, यथा च तन्मार्गानुचरणं कृतं भवति तद्दर्शयति - 'विगिंच' इत्यादि, 'मांस' शोणित दर्पकारि विकृष्टतपोऽनुष्ठानादिना 'विवेचय' पृथक्कुरु, तद्ध्रासं विधेहीतियावत्, एवं वीराणां मार्गानुचरणं कृतं भवतीति भावः । यश्चैवम्मूतः स कं गुणमवाजुयादित्याह - 'एस' इत्यादि, 'एष' मांसशोणितयोरपनेता पुरि शयनात् पुरुषः द्रवः-संयमः स विद्यते यस्यासौ द्रविकः, मत्वर्धीयष्ठन्, द्रव्यभूतो वा मुक्तिगमनयोग्यत्वात्, कर्म्मरिपुविदारणसहिष्णुत्वाद्वीर इति, मांसशोणितापचयप्रतिपादनाच्च तदुत्तरेषामपि मेदआदीनामपचय उक्त एव द्रष्टव्यः, तद्भावभावित्वात्तेषामिति । किं च--

'आयाणिञ्जे' इत्यादि, स वीराणां मार्गं प्रतिपन्नः मांसशोणितयोरपनेता मुमुक्षूणामादानीयो-ग्राह्य आदेयवचनश्च व्याख्यात् इति । कश्चैवम्भूत इत्याह - 'जे धुणाइ' इत्यादि, 'ब्रह्मचर्ये' संयमे मदनपरित्यागे वोषित्वा यः 'समुच्छ्यं' शरीरकं कर्म्भोपचयं वा तपश्चरणादिना 'धुनाति' कृशीकरोति स आदानीय इति विवधमाख्यातो व्याख्यात इति सम्बन्धः ।। उक्ता अप्रमत्ताः, तद्विधर्म्मणस्तु प्रमत्ताभिधित्सुराह --

मू. (949) नित्तेहिं पलिच्छित्रेहिं आयाणप्तोयगढिए बाले, अव्वोच्छिन्नबंधणे अनभिक्कंतसंजोए तमंसि अवियाणओ आणाए लंभो नत्थि – तिबेमि।।

**वृ.** नयत्यर्थदेशम्-अर्थक्रियासमर्थमर्थमाविर्भावयन्तीति नेत्राणि - चक्षुरादीनीन्द्रियाणि तैः परिच्छिन्नैः- यथाखं विषयग्रहणं प्रति निरुद्धैः सद्भिरादानीयोऽपि भूत्वोषित्वा ब्रह्मचर्ये पुनर्मोहोदयादादानोतोगृद्धः-आदीयते-सावद्यानुष्ठानेन स्वीकियतइत्यादानं-कर्म्म संसारबीजभूतं तस्य ास्रोतांसि-इन्द्रियविषया मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगा वा तेषु गृद्धः-अध्युपपन्नःस्यात्, कोऽसौ ? –बालः' अज्ञः सगद्वेषमहामोहाभिभूतान्तःकरणः । यश्चादानम्रोतोगृद्धः सकिम्भूतः स्यादित्याह – 'अव्वोच्छिन्नबंधणे' इत्यादि, अव्यवच्छिन्नं जन्मशतानुवृत्ति बन्धनम्-अष्टप्रकारं कर्म्म यस्य स तथा, किं च –

'अनभिक्कंतं इत्यादि, अनभिक्रान्तः-अनतिलक्कितः संयोगो धनधान्यहिरण्यपुत्र-कलत्रादिकृतोऽसंयमसंयोगो वा येनासावनभिक्रान्तसंयोगः तस्य चैवम्भूतस्येन्द्रियानुकूल्यरूपे मोहात्मके वा तमसि वर्त्तमानस्यात्महितं मोक्षोपायं वाऽविजानत आज्ञायाः-तीर्थकरोपदेशस्य लाभो नास्तीत्येतदहंब्रवीमितीर्थकरवचनोपलब्धसद्भाव इति, यदिवाऽऽज्ञाबोधिः सम्यक्त्वम्, अस्तिशब्दश्चायं निपातस्त्रिकालविषयी, तेनायमर्थ;-तस्यानभिक्रान्तसंयोगस्य भावतमसि वर्त्तमानस्य बोधिलाभो नासीन्नास्ति न भावीति । एतदेवाह ~

मू. (१५२) जस्स नत्थि पुरा पच्छा मज्झे तस्स कुओ सिया ?, से हु पन्नाणमंते बुद्धे आरंभोवरए, संममेयंति पासह, जेण बंधं वहं घोरं परियावं च दारुणं पलिछिंदिय बाहिरगं च सोयं, निक्क्मदंसी इह मच्चिएहिं, कम्माणं सफलं दट्टूण तओ निज्जाइ वेयवी।।

**मृ.** यस्य कस्यचिदविशेषितस्य कर्म्मादानोतोगृद्धस्य बालस्याव्यवच्छिन्नबन्धस्यान-भिक्रान्तसंयोगस्याज्ञानतमसि वर्त्तमानस्य 'पुरा' पूर्वजन्मनि बोधिलाभो नास्ति-सम्यक्त्वं नासीत् 'पश्चादपि' एष्येऽपि जन्मनि न भावि 'मध्ये' मध्यजन्मनि तस्य कुतः स्यात् इति ?, एतदुक्तं भवति-यस्थैवपूर्वंबोधिलाभः संवृत्तोभविष्यतिवा तत्यैव वर्त्तमानकालेभवति, येन हि सम्यक्त्वमा-खादितं पुनर्मिथ्यात्वोदयात्तस्रच्यवते तस्यापार्द्धपुद्गलपरावर्त्तेनापि कालेनावश्यं तत् सद्भावात्, न ह्ययं सम्भवोऽस्ति प्रच्युतस्य सम्यक्तवस्य पुनरसम्भव एवेति, अथवा निरुद्धेन्द्रियोऽपि आदिनस्रोतोगृद्ध इत्युक्तः, तद्विपर्ययभूतस्य त्वतिक्रान्तसुखस्मरणमकुर्वतः आगामि च दिव्याङ्गनाभोगमनभिकाङ्कतो वर्त्तमानसुखाभिष्वङ्गोऽपि नैव स्यादित्येतद्दर्शयितुमाह ---

'जस्स नत्थि' इत्यादि, यस्य भोगविपाकवेदिनः पूर्वभुक्तानुस्मृतिर्नास्ति नापि पाश्चात्यकालभोगाभिलाषिता विद्यते तस्य व्याधिचिकित्सारूपान् भोगान् भावयतो 'मध्ये' वर्तमानकाले कुतो भोगेच्छा स्यात् ?, भोहनीयोपशमान्नैव स्यादित्यर्थः । यस्य तु त्रिकालविषया भोगेच्छा निवृत्ता स किम्भूतः स्यादित्याह – 'से हु' इत्यादि, 'हुः' यस्मादर्थे यस्मान्निवृत्तभोगा-भिलाषस्तस्मात्स प्रज्ञानवान्-प्रकृष्टं ज्ञानं प्रज्ञानं-जीवाजीवादिपरिच्छेत्त तद्विद्यते यस्यासौ प्रज्ञानवान्, यत एव प्रज्ञानवानत एव बुद्धः-अवगततत्त्वो, यत एवम्भूतोऽत एवाह –

'आरंभोवरए' सावद्यानुष्ठानमारम्भस्तस्मादुपरत आरम्भोपरतः । एतच्चारममोपरमणं शोभनमिति दर्शयन्नाह – 'सम्म'मित्यादि, यदिदं सावधारम्भोपरमणं सम्यगेतत्-शोभनमेतत् सम्यक्त्वकार्यत्वाद्या सम्यक्त्वमेतदित्येवं पश्यत-एवं गृह्णीत यूयमिति । किमित्यारम्भोपरमणं सम्यगिति चेदाह – 'जेण' इत्यादि, येन कारणेन सावधारम्भप्रवृत्तो बन्धं निगडादिभिः बन्धं कशादिभिः 'धोरं' प्राणसंशयरूपं 'परितापं' शारीरमानसं 'दारुणं' असह्यमवाप्नोत्यत आरम्भोपरमणं सम्यग् भूतं कुर्यात्, किं कृत्वेत्याह –

'पलिच्छिन्दि' इत्यादि, 'परिच्छिन्द्य' अपनीय, किंतत्? – 'म्रोतः' पापोपादानं, तद्यवाह्यं धनधान्यहिरण्यपुत्रकलन्नादिरूपं हिंसाद्याश्रवद्वारात्मकं वा, चशब्दादान्तरं च रागद्वेषात्मकं विषयपिपासारूपं वेति, किंच – 'निक्रम्पदंसी' त्यादि, निष्क्रान्तः कर्म्मणो निष्कर्म्मा मोक्षः संवरो वा तं द्रष्टुं शीलमस्येति निष्कर्म्मदर्शी, 'इहे'ति संसारे मर्त्येषु मध्ये य एव निष्कर्म्मदर्शी स एव बाह्याभ्यन्तरस्रोतसच्छेत्तेति स्यात् । किमभिसन्ध्य स बाह्याभ्यन्तरसंयोगस्य छेत्ता निष्कर्म्मदर्शी वा भवेत् इत्यत आह – 'कम्माणं'इत्यादि, मिथ्यात्वाविरतिप्रमादकषाययोगैः क्रियन्ते-बध्यन्त इति कर्म्मणि-ज्ञानावरणीयादीनि तेषां सफलत्वं ध्ट्वा स वा निष्कर्म्मदर्शी वेदविद्वा कर्म्मणां फलं ध्रटवा, तेषां च फलं –

ज्ञानावरणीयस्य ज्ञानावृत्तिः दर्शनावरणस्य दर्शनाच्छादनं वेदनीयस्य विपाकोदयजनिता वेदनेत्यादि, ननु च न सर्वेषां कर्म्मणां विपाकोदयमिच्छन्ति, प्रदेशानुभवस्यापि सद्भावात् तपसा च क्षयोपपत्तेरित्यतः कयं कर्म्मणां सफलत्वं ?, नैष दोषो, नात्र प्रकारकात्स्न्यमभिप्रेतम्, अपितु द्रव्यकात्स्नर्य, तच्चात्त्येव, तथाहि-यद्यपि प्रतिबन्धव्यक्ति न विपाकोदयस्तथाप्यष्टानामपि कर्म्मणां सामान्येन सोऽस्त्येवेत्यतः कर्म्मणां सफलत्वमुपलभ्यते, तत्मात्-कर्म्मणस्तदुपादानादास्नवाद्वा निश्चयेन याति निर्याति-निर्गच्छति, तन्न विधत्त इतियावत् कोऽसौ ?- 'वेदविद्' वेद्यते सकलं चराचरमनेनेति वेदः- आगमस्तं वेत्तीति वेदवित्, सर्वज्ञोपदेशवर्त्तीत्वर्थः ॥ न केवलस्य ममैवायमभिप्रायः, सर्वेषामेव तीर्थकराणामयमाशय इति दर्शयितुमाह -- मू. (१५३) जे खलु भो ! वीरा ते समिया सहिया सयाजया संघडदंसिणो आओवरया अहातहं लोयं उवेहमाणा पाईणं पडिणं दाहिणं उईणं इय सद्यंसि परि (चिए) चिट्ठिंसु, साहिस्सामो नाणं वीराणं समियाणं सहियाणं सयाजयाणं संघडदंसीणं आओवरयाणं अहातहं लोयं समुवेहमाणाणं किमत्यि उवाही ?, पासगस्स न विज्ञइ नत्थि – त्तिबेमि ।।

**q**. यदिवा उक्तः सम्यग्वादो निरवद्यं तपश्चारित्रं च, अधुना तत्फलमुच्यते – 'जे खलु' त्यादि, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, ये केचनातीतानागतवर्त्तमानाः 'भो' इत्यामन्त्रणे 'वीराः' कर्म्मविदारणसहिष्णवः समिताः समितिभिः सहिता ज्ञानादिभिः सदा यताः सत्संयमेन ''त्तिनिरन्तरदर्शिनः शुभाशुभस्य आत्मोपरताः पापकर्म्मभ्यो यथा तथा अवस्थितं 'लोकं' चतुर्दसरज्ञ्वात्मकं कर्म्मलोकं वोपेक्षमाणाः–पश्यन्तः सर्वासुप्रच्यादिषुदिक्षुव्यवस्थिताइत्येवंप्रकाराः 'सत्य'मिति ॠतं तपः संयमो वा तत्र परिचिते-स्थिरे तस्थुः-स्थितवन्तः, उपलक्षणार्थत्वात् त्रिकालविषयता द्रष्टव्या, तत्रातीते काले अनन्ता अपि सत्यो तस्थुः वर्त्तमाने पश्चदशसु कर्म्मभूमिषु सङ्घयेयास्तिष्ठन्ति अनागते अनन्ता अपि स्थास्यन्ति, तेषां चातीतानगतवर्त्तमानानां सत्यवतां यज्ज्ञानं योऽभिप्रायःतदहं कथयिष्मामि भवतां श्रृ णुत यूयं, किम्भूतानां तेषां ?–

'वीराणा'मित्यादीनि विशेषणानि गतार्थानि, किम्पूतं ज्ञानामिति चेदाह-किंप्रश्ने 'अस्ति' विद्यते ?, कोऽसौ ?- 'उपाधिः' कर्म्मजनितं विशेषणं, तद्यथा-नारकस्तिर्यग्योनः सुखी दुःखी सुभगो दुर्भगः प्रयाप्तकोऽपर्याप्तक इत्यादि, आहोस्विन्न विद्यत इति परमतमाशङ्कय त ऊचुः-'पश्यकस्य' सन्यग्वादिकमर्थं पूर्वोपात्तं पश्यतीति पश्यः स एव पश्यकस्तस्य कर्म्मजनितोपाधिर्न विद्यते, इत्येतदनुसारेणहमपि ब्रवीमि न स्वमनीषिकयेति गतः सूत्रानुगमः, ॥

अध्ययनं-४ उद्देशक-४ समाप्त

## अध्ययनं-४ समाप्तम्

## मुनि दीपरल सागरेण संशोधिता सम्पादिता शिलाङ्काचार्य विरचित्ता प्रथम श्रुतस्कन्धे चतुर्थ अध्ययनटीका परि समाप्त ।।

## अध्ययनं-५-सोकसारं)

ष्ट्र. उक्तं चतुर्थमध्ययनं, साम्रतं पञ्चममारम्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तराध्ययने सम्यकत्वं प्रतिपादितं तदन्तर्गतं च ज्ञानं, तदुभयस्य च चारित्रफलत्वात् तस्यैव च प्रधानमोक्षाङ्गतया लोकसारत्वात् तस्रतिपादनार्थमिदमुपक्रम्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्याध्ययनस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमेऽर्थाधिकारो द्वेधा, तत्राप्यध्यनार्थाधिकारोऽभिहितः, उद्देशार्थाधिकारं तु निर्युक्तिकारः प्रतिपिपादयिसुराह—

| નિ. [૨૩૬] | हिंसगविसयारंभग एगचरुत्ति न मुणी पढमगंमि। |
|-----------|--|
|           | विरओ मुनित्ति बिइए अविरयवाई परिग्गहिओ ॥  |
| नि. [२३७] | तइए एसो अपरिग्गहो य निव्विन्नकामभोगो य । |
|           | अव्वत्तस्सेगचरस्स पद्मवाया चउत्यंमि ।।   |

#### नि. [२३८] हरओवमो य तवसंयमगुत्ती निस्संगया य पंचमए। उम्मग्गवज्रणा छडुंगंमितह रागदोसे य ॥

**q**. हिनस्तीति हिंसकः आरम्भणमारम्भो विषयाणामारम्भोऽस्येति विषयारम्भकः व्यधिकरणस्यापि गमतकत्वात्समासः, ण्वुलन्तस्य वा याजकादिदर्शनात् समासो, विषयाणा-मारम्भकोविषयार्म्भक इतिहिंसकश्चविषयारम्भकश्चेतिविगृह्य समाहारद्वन्द्वः, प्राकृतत्वार्खुल्लिङ्गता, अयमर्थो-हिंसकः प्राणिनां विषयारम्भकश्च विषयार्थं सावद्यारम्भप्रवृत्तश्च न मुनिः, तथा विषयार्थमेव एक एव चरत्येकचरः स च न मुनिरिति, एतदधिकारत्रयं प्रथमो देशके १, द्वितीये तु हिंसादिपापस्थानकेभ्यो विरतो मुनिर्भवतीत्ययमर्थाधिकारः, वदनशीलो वादी अविरतस्य वादी अविरतवादी परिग्रहवान् भवतीत्येतच्चात्रोदेशके प्रतिपादयिष्यत इति २, तृतीये त्वेष एव विरतो मुनिरपरिग्रहो भवतीति निर्विण्णकामभोगश्चेत्ययमर्थाधिकारः ३, चतुर्थेत्वव्यक्तस्य-अभीतार्थस्य सूत्रार्थापरिनिष्ठितस्य प्रत्यपाया भवन्तीत्त्ययमर्थाधिकारः ४,

पञ्चमके तु इदोपमेन साधुना भाव्यं, यथा हि इदो जलभृतोऽप्रतिवः प्रशस्यो भवति, एवं साधुरपि ज्ञानदर्शनचारित्रभृतो विम्रोतसिकारहित इति, तथा तपःसंयमगुप्तयो निःसङ्गता चेत्यमर्थाधिकारः ५, षष्ठे तून्मार्गवर्जना-कुर्धष्टिपरित्यागः, तथा रागद्वेषौ च त्याज्यावित्य-यमर्थाधिकारः ६, इति गाथात्रयार्थः । नामनिष्पन्ने तु निक्षेपेऽत्र द्विधा नाम-आदानपदेन गौणं चेति, एतत् द्विविधमपि निर्युक्तिकारः प्रतिपादयितुमाह--

नि. [२३९] आयणपएणावंति गोण्णनामेण लोगसारुत्ति । लोगस्स य सारस्स य चउक्कओ होइ निक्खेवो ।।

**वृ.**आदीयते-प्रथममेव गृह्यत इत्यादानं तच्च तत्पदं च आदानपदं तेन करणभूतेना-वन्तीत्येतन्नाम, अध्ययनादावावन्तीशब्दस्योच्चारणाद्, गुणैर्निष्पन्नं गौणं तच्च तन्नाम च गौणनाम तेन हेतुनालोकसार इति, लोकस्य-चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य सारः-परमार्थोलोकसारः द्विपदं नामेत्यतः लोकस्य सारस्य च प्रत्येकं चतुष्कको निक्षेपो भवति, तद्यथा-नामलोको यस्य कस्यचिल्लोक इति नाम क्रियते, स्थापनालोकश्चतुर्दशरज्ज्वात्मकस्य लोकस्य स्थापना गाथात्रयादवसेयातचैतत्-

| 11 9 11       | तिरिअं चउरो दोसुं छद्दोसुं अह दस य एक्नेके ।                          |
|---------------|---|
|               | बारस दोसुं सोलस दोसुं वीसा य चउसुं तु                                 |
| <b>२</b>      | पुनरवि सोलस दोसुं बारस दोसुं तुं हुंति नायव्वा ।                      |
|               | तिसु दस तिसु अङ्टच्छ य दोसु दोसुं तु चत्तारि                          |
| 3             | ओयरिअ लोअ मज्झा चउरो चउरो य सव्वहिं नेया ।                            |
|               | तिअ तिअ दुग दुग एक्वेकगं च जा सत्तमीए उ                               |
| द्रव्यलोक     | ो जीवपुद्गलधर्म्पाधर्म्पाकाशकालात्मकः षड्विधः भावलोकस्त्वौदयिका-      |
| दिषड्भावात्मक | : सर्वद्रव्यपर्यात्मको वा । सारोऽपि नामादि चतुर्विधः, तत्र नामस्थापने |
|               |   |

सुगमत्वादनाध्त्य द्रव्यसारप्रतिपादनायाह--

## नि. [२४०] सव्वस्स थूल गुरुए मज्झे देसप्पहाण सरिराई। धण एरंडे वइरे खइरं च जिनादुरालाई॥

ष्ट्र.अत्र पूर्वार्द्धपश्चार्द्धयोर्ययासङ्ख्यं लगनीयं, सर्वस्वे धनं सारभूतं, तद्यया--कोटिसारोऽयं पञ्चकपर्दकसारो वा, स्यूले एरण्डः सारः, सारशब्दोऽत्र प्रकर्षवाची, स्यूलानां मध्ये एरण्डो भिण्डो वाप्रकर्षभूतः, गुरुत्वे वज्रं, मध्ये खदिरः, देशेआम्रवृक्षो वेणुर्वा, प्रधाने यो यत्र प्रधानभावमनुभवति सचितोऽचित्तो मिश्रश्चेति,

सचित्तो द्विपदश्चतुष्पदोऽपदश्चेति, द्विपदेषु जिनः चतुष्पदेषु सिंहः अपदेषु कल्पवृक्षः, अचित्तेषु वैडूर्यो मणिः, मिश्रेषु तीर्थकर एव विभूषितः, शरीरेष्वौदारिकं मुक्तिगमनयोग्य-लाद्विशिष्टरूपापत्तेश्च आदिग्रहणात् स्वामित्वकरणाधिकरणेषु सारता योज्या, तद्यया-स्वामित्वे गोरसस्य घृतं सारभूतं, करणत्वे मणिसारेण मुकुटेन शोमते राजा, अधिकरणे दध्नि घृतं जत्ते पद्ममुत्थितमित्यादिगायार्थः ॥ मावसारप्रतिपादनायाह--

नि. [२४९] भावे फलसाहणया फलओ सिद्धी सुहुत्तमवरिडा। साहणय नाणदंसणसंजमतवसा तर्हि पगयं ॥

**ष्टृ.'**मावे' मावविषये सारे चिन्त्यमाने फलसाधनता सारः फलम्-अर्थक्रियावाप्तिस्तस्य साधनता फलसाधनता-फलार्थमारम्भे प्रवर्तनं ततः फलावाप्तिः प्रधानं, फलतोऽप्यनैका-न्तिकानात्यन्तिकरूपात् सांसारिकात्सकाशात्तद्विपर्यस्तं फलं सारः, किं तत् ? – सिद्धिः, किम्मूताऽसौ? – 'उत्तमसुखवरिष्ठा' उत्तमं च तदात्यन्तिकैकान्तिकानाबाधत्वात् सुखंच उत्तमसुखं तेन वरिष्ठा-वरतमा, तत्साधनानि च गाथाशकलेन दर्शयति –

'साधनकानि' प्रकृष्टोपकारकाणि ज्ञानदर्शनसंयमतपांसि, तस्मिश्च भावसारे सिध्ध्वा-ख्यफलसाधने ज्ञानादिके प्रकृतं ज्ञानदर्शनचारित्रेण मावसाररूपेणात्राधिकार इति गायार्थः ॥ तस्यैव ज्ञानादेः सिद्धयुपायस्य भावसारतां प्रतिपादयन्नाह--

नि. [२४२] लोगंमि कुसमएसु य कामपरिग्गहकुमग्गलग्गेसुं। सारो हु नाणदंसणतवचरणगुणा हियद्वाए।।

यृ. 'लोके' गृहस्थलोके कुसिताः समयाः कुसमयाः तेषु च, किम्भूतेषु ?-कामपरिग्रहेष ये कुस्तिता मार्गास्तेषु लग्नेषु, हुईतौ, यस्पाल्लोकः कामपरिग्रहाग्रही गृहस्थमावमेव प्रशंसति-

ll 🤋 ll 'गृहाश्रमसमो धर्म्मो, न भूतो न भविष्यति l

पालयन्ति नराः शूराः, क्लीबाः पाषण्डमाश्रिताः '

गृहाश्रमाधाराश्च सर्वेऽपि पाषण्डिनः इत्येवं महामोहमोहित इच्छामदनकामेषु प्रवर्त्तते, तथातीर्थिका अप्यनिरुद्धेन्द्रियप्रसरा दिरूपकामाभिष्वङ्गिणः इत्यतस्तेषु सारो ज्ञानदर्शनतपश्चर-णगुणाः, उत्तमसुखवरिष्ठसिद्धिहेतुत्वातु, हिता-सिद्धिस्तदर्थत्वादिति गाथार्थः ॥

यतो ज्ञानदर्शनतपश्चरणगुणा हितार्थतया सारस्तस्मात्किं कर्त्तव्यमित्याह--

नि. [२४३] चइऊणं संकपयं सारपयमिणं दढेण धित्तव्वं । अत्थि जिओ परमपयं जयणा जा रागदोसेहिं ।।

ष्ट्र. 'त्यकत्वा' प्रोज्झ्य, कं तत् ?- 'शङ्कापदं' किमेतन्मदारब्धमनुष्ठानं निष्फलं स्यादित्येवंम्भूतो विकल्पः शङ्कातस्याः पदं-निमित्तकारणं तच्चाई ओक्तेष्वत्यन्तसूक्ष्मेष्वतीन्द्रियेषु केवलागमग्राहेष्वर्येषु या संशीतिः-सन्देह इत्येतद्रूपं तच्छङ्कापदं विहाय सारपदं-इदं ज्ञानादिकं प्रागुपन्यस्तं ध्ढेन—अनन्यमनस्केन तीर्थिकदम्भप्रतारणाक्षोभ्येन ग्राह्यं, तदेव शङ्कापदव्युदासकार्यं गायाशकलेन दर्शयति—अस्ति जीवः अस्य च पदार्थानामादावुपन्यासाञ्जीवपदार्थस्य च प्राधान्यादुपलक्षणार्थत्वाद्वा शेषपदार्थग्रहणं, अस्ति—विद्यते जीवितवान् जीवति जीविष्यतीति वा जीवः शुभाशुभफलमोक्तेति, स च प्रत्यकक्ष एवाहंप्रत्यसाध्यः, इच्छाद्वेषप्रयत्नादिकार्यानु-मानसाध्यो वा,

तथा अजीवा अपि धर्म्पाधर्म्पाकाशपुद्गला गतिस्थितित्यवगाहद्वयणुकादिस्कन्धहेतवः सन्ति, एवमास्रवसंवरबन्धनिर्जरा अपि विद्यन्ते, प्रधानपुरुषार्थत्वाद् आद्यन्तग्रहणे मध्यग्रहणस्यावश्यंमावित्वादाद्यं जीवपदार्थं साक्षादुपन्यस्यान्त्यं मोक्षपदार्थमुपन्यस्यति--परमं च तत्पदं च परमपदं, तच्चास्तीति सम्बन्ध इति, अस्ति मोक्षः शुद्धपदवाच्यत्वाद् बन्धस्य सप्रतिपक्षत्वान्मोक्षाविनामावित्त्वाद्वा बन्धस्येति, सत्यपि मोक्षे यदि तदवाप्तावुपायो न स्यात्ततो जनाः किं कुर्युरित्यतस्तत्कारणास्तित्वं दर्शयति-'यतना'यत्नो रागद्वेषु, रागद्वेषोपशमाद्यः संयमोऽसावप्यस्तीति । तदेवं सति जीवे परमपदे च शङ्कापदव्युदासेन ज्ञानादिकं सारपदं धढेन ग्राहमिति गायार्थः ।। तत्तोऽप्यपरापरसारप्रकर्षगतिरस्तीति दर्शयञ्जुपक्षेपमाह–

नि. [२४४] लोगस्स उ को सारो ? तस्स य सारस्स को हवइ सारो ? । तस्स य सारो सारं जइ जाणसि पुच्छिओ साह ॥

**मृ.** 'लोकस्य' चतुर्द्दशरज्ज्वात्मकस्य कः सारः ?, तस्यापि सारस्य कोऽपरः सारः ?, तस्यापि सारसारस्य सारं यदि जानासि ततः पुष्टे मया कथयेति गाथार्थः ।। प्रश्नप्रतिवचनार्थमाह–

नि. [२४५] लोगस्स सार धम्पो धम्पंपि य नाणसारियं बिंति । नाणं संजमसारं संजमसारं च निव्वाणं ॥

वृ. समस्तस्यापि लोकस्य तावर्ख्यमः सारो, धर्म्यमपि ज्ञानसारं ब्रुवते, ज्ञानमपि संयमसारं, संयमस्यापि सारभूतं निव्वाणभिति गाथार्थः ॥ उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमे सूत्रमुद्यारयितव्यं, तच्चेदम्—

-: अध्ययनं-५ उद्देशकः १ :-

मू. (९५४) आवंती केयावंती लोयंसि विप्परामुसंति अट्ठाए अणट्ठाए, एएसु चेव विप्परामुसंति, गुरु से कामा, तओ से मारंते, जओ से मारंते तओ से दूरे, नेव से अंतो नेव दूरे

**ष्ट्र.** 'आवन्ती'त्ति यावन्तो जीवा मनुष्या असंयता वा स्युः, 'केआवंति'त्ति केचन 'लोके' चतुर्दशरज्ञ्वात्मके गृहस्थान्यतीर्थिकलोकेवा षड्जीवनिकायान् आरम्मप्रवृत्ता विविधम्-अनेकप्रकारं विषयाभिलाषितया 'परामृशन्ति' उपतापयन्ति, दण्डकशताडनादिभिर्घातयन्तीत्पर्यः, किमर्थं विपरामृशन्तीति दर्शयति-'अर्थाय' अर्थार्थं अर्थाद्वा अर्थः-प्रयोजनं धर्म्पार्थकामरूपं, कर्म्मणि ल्यब्लोपे पञ्चमी, अर्थमुद्दिश्य-प्रयोजनमुद्धेक्ष्य प्राणिनो घातयन्ति, तयाहि-धर्म्मनिमित्तं शौचार्थं पृथिवीकायं समारभन्ते, अर्थार्थं कृष्यादि । करोति, कामार्थमाभरणादि, एवं शेषेष्वपि कायेषु यथायोगं वाच्यं,

अनर्थाद्वा-प्रयोजनमनुद्दिश्यैव तच्छीलतयैव मृगयाद्याः प्राण्युपधातकारिणीः क्रियाः

कुर्वन्ति, तदेवमर्यादनर्याद्वाप्राणिनो हत्वा एतैष्वेव-षङ्जीवनिकायस्थानेषुविविधम्-अनेकप्रकारं सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकादिभेदेन तानेकेन्द्रियादीन् प्राणिनस्तदुपधातकारिणः परामृशन्ति, तान् प्रपीड्य तेष्वेवानेकश उत्पद्यन्त इतियावत्, यदिवा तत्पङ्जीवनिकायबाधाऽवाप्तं कर्म तेष्वेव कायेषूत्पद्य ते तैस्तैः प्रकारैरुदीर्णं विपरामृशन्ति-अनुभवन्तीति, नागार्ज्जुनीयास्तु पठन्ति कायबाधाऽवाप्तं कर्म्म तेष्वेव कायेषूत्पद्य ते तैस्तैः प्रकारैरुदीर्णं विपरामृशन्ति, नागार्ज्जुनीयास्तु पठन्ति–

''जावंतिकेइअलोए छक्कायवहं समारभंति अष्ठाए अणञ्ठाएवा'' इत्यादि, गतार्थं, स्याद्-असौ किमर्थमेवंविधानि कर्म्मणि कुरुते यान्यस्य कायगतस्य विपचन्ते ?, तदुच्चते-'गुरू से कामा' 'से' तस्यापरमार्थविदः काम्यन्त इति कामाः- शब्दादयस्ते गुरवो दुस्त्यजत्वात्, कामा ह्यल्पसत्त्चैरनवाप्तपुण्योपचयैरुञ्जङ्कद्वितुं दुष्करमित्यतस्तदर्शं कायेषु प्रवर्त्तते तत्प्रवृत्तौ च पापोपचयस्तदुपचयाद्य यत्स्यात्तदाह-'ततः' षङ्जीवनिकायविपरामर्शात् परमकामगुरुत्वाद्यासौ मरणं मारः- आयुषः क्षयस्तस्यान्तर्वर्त्तते, मृतस्य च पुनर्जन्म जन्मनि चावश्यंभावि मृत्युरेवं जन्ममरणात् संसारोदन्वति मञ्जनोन्मञ्जनरूपान्न मुच्यते ॥ ततः किमपरमित्याह--

'जओ से' इत्यादि, यतोऽसौ मृत्योरन्तस्ततोऽसौ 'दूरे' परमपदोपायात् ज्ञानादित्रयात् तत्कार्याद्वा मोक्षाद्, यदिवा सुखार्थी कामान्न परित्यजति, तदपरित्यागे च मारान्तर्वर्त्ती, यतश्चमारान्तर्वर्त्ती ततो जातिजरामरणरोगशोकाभिभूतत्वादसौ सुखाद्द्रे । यस्मादसौ कामगुरुस्तद्गुरुत्वान्मारान्तर्वर्तीतदन्तर्वर्त्तित्वात्किम्भूतो भवतीत्यत आह-'नेव से'इत्यादि, नैवासौ विषयसुखस्यान्तर्वर्त्तते, तदभिलाषापरित्यागाद्य नैवासौ दूरे, यदिवा यस्य गुरवः कामाः स किं कर्म्मणोऽन्तर्वहिर्वेति प्रश्नावसरे सत्याह-

'नेव से' इत्यादि, नैवासौ कर्म्मणोऽन्तः-मध्ये भिन्नग्रन्थित्वात्सम्भाविता-वश्यंभाविकर्म्मक्षयोपपत्तेः, नाप्यसौ दूरे देशोनकोटीकोटिकर्म्मस्थितिकत्वात्, चारित्रावाप्तवपि नैवान्तर्नेव च दूरे इत्येतच्छक्यते वक्तुं, पूर्वोक्तादेव कारणादिति, अथवा येनेदं प्राणायिकिमसा वन्तर्भूतः संसारस्याहोश्विद्बहिर्वर्त्तते इत्याशङ्कयाह-'नेव से'इत्यादि, नैवासौ संसारान्तः घातिकर्म्मक्षयात् नापि दूरे अद्यापि भवोपग्राहिकर्म्मसद्मावादिति । यो हि भिन्नग्रन्थिको दुरापावाप्तसम्यकत्वः संसारारातीयतीरवर्ती स किमध्यवसायी स्यादित्याह-

मू. (१५५) सो पासइ फुसियमिव कुसग्गे पणुन्नं निवइयं वाएरियं, एवं बालस्स जीवियं मंदस्स अवियाणओ, कूराइं कम्पाइं बाले पकुव्वमाणे तेन दुक्खेण मूढे विष्परिआसमुवेइ, मोहेण गर्व्म मरणाइ एइ, एत्य मोहे पुणो पुणो

षू. 'से पासई' त्यादि, 'सः' अपगतमिथ्यात्वपटलः सम्यकत्वप्रमावावगतसंसारासारः 'पश्यति' धेशरुपलब्धिक्रिय इत्यत उपलभते-अवगच्छति, किं तत् ? - 'फुसियमिव'त्ति कुशाग्र उदकबिन्दुमिव बालस्य जीवितमिति सम्बन्धः, तत्किम्भूतमित्याह-- 'पणुन्न'मित्यादि, प्रणुन्नम्-अनवरतापरापरोदकपरमाणूपचयात् प्रणुन्नं-प्रेरितं वातेनेरितं सन्निपतितं भाविनि भूतवदुपचारात्रिपतदेव वा निपतितं, दार्धन्तिकं दर्शयति-- 'एव'मिति यथा कुशाग्रे बिन्दुः क्षणसम्भावितस्थतिकः एवं बालस्थापि जीवितम्, अवगततत्त्वो हि स्ययमेवागच्छति नाप्यसै तदभिकाङ्कति अतो बालग्रहणं, बालो ह्यज्ञः, स चाज्ञानत्वादेव जीवितं बहु मन्यते, यत एव बालोऽत एव मन्तः– सदसद्विवेकापटुः, यत एव बुद्धिमन्दोऽत एव परमार्थं न जानाति, अतः परमार्थमविजानत् एवम्भूतं जीवितमित्येवं पश्यति।

परमार्थमजानंश्च यत्कुर्यात्तदाह—'कूराणि' इत्यादि, 'क्रूराणि' निर्दयानि निरनुक्रोशानि 'कर्म्पाणि' अनुष्ठानानि हिंसानृतस्तेयादीनि सकललोकचमत्कृतिकारीणि अष्टादश वा पापस्थानानि 'बालः' अज्ञः प्रकर्षेण कुर्वाण, कर्त्रभिप्राये क्रियाफले आत्मनेपदविधानात्तस्यैव तन्क्रियाफलविपाकं दर्शयति-'तेन' कूरकर्म्मविपाकापादितेन दुःखेन 'मूढः' किंकर्त्तव्याताऽऽकुलः, केन कृतेन ममैतहुःखमुपशमं या यादिति मोहमोहितो विपर्यासमुपैति-यदेव प्राण्युपघातादि दुःखोत्पादने कारणं तदुपशमाय तदेव विदधातीति । किं च–

'मोहेण'इत्यादि, 'मोहः' अज्ञानं मोहनीयं वा मिथ्यात्वकषायविषयाभिलाषमयं तेन मोहेन मोहितः सन् कर्म बध्नाति, तेन च गर्भमवाप्नोति, ततोऽपि जन्म पुनर्बालकुमारयौवना-दिवयोविशेषाः, पुनर्विषयकषायादिना कर्म्मोपादायायुषः क्षयात् मरणमवाप्नोति, आदिग्रहणात्पुनर्गर्भमित्यादि, नरकादियातनास्थानमेतीत्यतोऽभिधीयते-'एत्थ;इत्यादि, 'अन्न' अस्मिन्ननन्तरोक्ते 'मोहे' मोहकार्ये गर्भमरणादिके पौनः पुन्येनानादिकमपर्यन्तं चतुर्गतिकं संसारकान्तारं पर्यटति, नास्मादपैतीतियावत्,-

कयं पुनः संसारे न बम्भ्रम्यात्?, तदुच्यते-मिथ्यात्वकषायविषयाभिलाषाभावाद्, असावेव कुतो?, विशिष्टज्ञानोत्पत्तेः?, सैव कुतो?, मोहाभावात्, यद्येवमित्तरेतराश्रयत्वं, तथाहि-मोहोऽज्ञानं मोहनीयं वा, तदभावो विशिष्टज्ञानोत्पत्तेः, साऽपि तदभावादिति भणता स्पष्टमेव इतरेतरा-श्रयत्वमुक्तं, ततश्च न यावद्विशिष्टज्ञानोत्पत्तिः संवृत्ता न तावत्कर्म्पशमनाय प्रवृत्तिः स्यात्, नैष दोषः, अर्थसंशयेनापि प्रवृत्तिदर्शनादिति । आह च-

मू. (१५६) संसयं परिआणओ संसारे परिन्नाए भवइ, संसयं अपरियाणओ संसारे अपरिन्नाए भवइ।

**वृ.** 'संसय' मित्यादि संशीतिः संशयः-उभयांशावलम्बा प्रतीतिः संशयः, स चार्थसंशयोऽनर्थसंशयश्च, इह चार्थो मोक्षो मोक्षोपायश्च, तत्र मोक्षे न संशयोऽस्ति, परमपदभितिप्रतिपादनात्, तदुपाये तु संशयेऽपि प्रवृत्तिर्भवत्येव, अर्थसंशयस्य प्रवृत्त्यङ्गत्वात्। अनर्थस्तु संसारः संसारकारणं च, तत्सन्देहेऽपि निवृत्तिः स्यादेव, अनर्थसंशयस्य निवृत्त्यङ्गत्वात्। अतः संशयमर्थानर्थगतं परिजानतो हेयोपादेयप्रवृत्तिः स्यादित्येतदेव परमार्थतः संसारपरिज्ञान-मिति दर्शयति—

तेन संशयं परिजानता संसारश्चतुर्गतिकः तदुपादानं वा मिथ्यात्वाविरत्यादि अनर्थरूपतया परिज्ञातं भवति ज्ञपरिज्ञया, प्रत्याख्यानपरिज्ञया तु परिहतमिति, यस्तु पुनः संशयं न जानीते स संसारमपि न जानातीति दर्शयितुमाह-'संसयं' इत्यादि, 'संशयं' सन्देहं द्विविधमप्यपरिजानतो हेयोपादेयप्रवृत्तिर्न स्यात्, तदप्रवृत्तौ च संसारोऽनित्याशुचिरूपो व्यसनोपनिपातबहुलो निःसारो न ज्ञातो भवति ॥ कुतः पुनरेतन्निश्चीयते ? यथा तेन संशयवेदिना संसारः परिज्ञात इति ?, किमत्रनिश्चेतव्यं ?, संसारपरिज्ञानकार्येविरत्युपलब्धे, तन्न सर्वविरतिप्रष्ठांविरतिं निर्दिदिश्वराह– मू. (१५७) जे छेए से सागारियं न सेवइ, कड्ड एवमवियाणओ बिइया मंदस्स बालया, लन्ह्या हुरत्या पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्ञा अनासेवणय–त्ति बेमि।

वृ. 'जे छेए' इत्यादि यश्छेको—निपुण उपलब्धपुण्यपापः स 'सागारियं'ति मैथुनं न सेवते मनोवाकायकर्म्मभिः, स एव यथावस्थितसंसारवेदी, यस्तु पुनर्मोहनीयोदयात्पार्श्वर्र्स्यादिः तत्सेवते, सेवित्वा च सातगौरवभयात् किं कुर्यादित्याह—'कद्टु' इत्यादि, रहसि मैथुनप्रसङ्गंकृत्वा पुनर्गुर्वादिना पृष्टः सन्नपलपति, तस्य चैवमकार्यमपलपतोऽविज्ञापयतो वा किं स्यादित्याह—'बिइया' इत्यादि, 'मन्दस्य' अबुद्धिमत एकमकार्यासेवनमियं बालता—अज्ञानता, द्वितीया तदपह्लवनं मृषावादः तदकरणतया वा पुनरनुत्यानमिति,

नागार्जुनीयास्तु पठन्ति—''जे खलु विसए सेवई सेवित्ता वा नालोएइ, परेण वा पुहो निन्हवइ, अहवा तं परं सएण वा दोसेण पाविडयरेण वा दोसेण उवलिंपिज्ञ'त्ति'' सुगमं । यद्येवं ततः किं कुर्यादित्याह-'लद्धाहु' इत्यादि, लब्धानपिकामान् 'हुरत्थे'त्ति बहिश्चित्रक्षुल्लकादिवत्तद्विपाकं प्रत्युपेक्ष्य चित्ताद्बहिः कुर्यात्, यदिवा हुशब्दोऽपिशब्दार्थे, रेफागमः सुब्व्यत्ययेन द्वितीयार्थे प्रथमा, ततोऽयमर्थो-लब्धानप्यर्थ्यन्ते-अभिलष्यन्त इत्यर्थाः–शब्दादयस्तानुपनतानपि तद्विपाकद्वारेण– 'प्रत्युपेक्ष्य' पर्यालोच्य ततः 'आगम्य' ज्ञात्वा दुरन्तं शब्दादिविषयानुषङ्गं, कत्वाप्रत्य- यत्योत्तरक्रियासव्यपेक्षत्वात्तां दर्शयति– तदनासेवनतया परानाज्ञापयेत्, स्वतोऽपि परिहरेदिति, एतदहं ब्रवीमि येन मया पूर्वार्थव्यावर्णनमकारि स एवाहमव्यवच्छिन्नसम्यग्ज्ञानप्रवाहः शब्दादिविषयस्वरूपो पलम्भात् समुपजनितजिनवचनसंमद इति । एतद्य वक्ष्यमाणं ब्रवीमिति–

मू. (१५८) पासह एगे रूवेसु गिद्धे परिनिजमाणे, इत्य फासे पुणो पुणो, आवंती केयावंती लोयंसि आरंभजीवी, एएसु चेव आरंभजीवी, इत्यवि बाले परिपच्चमाणे रमई पावेहिं कम्मेहिं असरणे सरणंति मन्नमाणे, इहमेगेसिं एगचरिया भवइ, से बहुकोहे बहुमाणे बहुमाए बहुलोभे बहुरए बहुनडे बहुसढे बहुसंकप्पेआसवसत्ती पलिउच्छन्ने उडियवायं पवयमाणे, मा मे केइ अदक्खू अन्नायपमायदोसेणं, सययं मूढे धम्मं नाभिजाणइ, अट्टा पया माणव ! कंमकोविया जे अनुवरवा अविज्ञाए पलिमुक्खमाहु आवट्टमेव अनुपरियर्ट्टाति – त्तिबेमि ।।

**वृ.** 'पासह' इत्यादि, हे जनाः ! पश्यत यूयमेकान्तपुष्टधर्म्माणो, बहुवचननिर्देशादाद्ययों गम्यते, 'रूपेषु' रूपादिष्विन्द्रियविषयेषु निःसारकटुफलेषु 'गृद्धान्' अध्युपपन्नान् सतः इन्द्रियैर्विषयाभिम् खं संसाराभिमुखं वा नरकादियातनास्थानकेषु वा परिणीयमानान् प्राणिन इति । ते च विषयगृघ्नव इन्द्रियवशगाः संसारार्णवे किमाप्नुयुरित्याह- 'एत्य फासे' इत्यादि, 'अत्र' अस्मिन् संसारे हषीकवशगः सन् कर्म्मपरिणतिरूपान् स्पर्शान् पौनःपुन्येन-आवृत्त्या तानेव तेषु तेष्वेव स्थानेषु प्राप्नुयादिति । पाठान्तरं वा 'एत्य मोहे पुणो पुणो' 'अत्र' अस्मिन् संसारे ' भोहे' अज्ञाने चारित्रमोहे वा पुनः पुनर्मवतीति । कोऽसावेवस्पूत; स्यादित्यत आह- 'आवंती'त्यादि, यावन्तः केचन 'लोके' गृहस्थलोके 'आरम्भजीविनः' सावद्यानुष्ठानस्थितिकाः, ते पौनःपुन्येन दुःखान्यनुभवेयुरिति । येऽपि गृहस्थाश्रिताः सारम्पास्तीर्थिकादयस्तेऽपि तहुःखमाजिन इति दर्शयति-'एएसु'इत्यादि, 'एतेषु' सावद्यारम्पप्रवृत्तेषु गृहस्थेषु शरीरयापनार्थं वर्त्तमानस्तीर्थिक पार्श्वस्थादिर्वा 'आरम्भजीवी' सावद्यानुष्ठानवृत्तिः पूर्वोक्तदुःखभाग् भवति । आत्ता तावद्गृहस्थस्तीर्थिको, वा योऽपि संसारार्णवतटदेशमवाप्य सम्यकत्वरत्नं लब्ध्वाऽपि मोक्षैककारणं विरतिपरिणामं सफलतामनीत्वा कर्म्मोदयात् सोऽपि सावद्यानुष्ठायी स्यादित्याह—

'एत्यवि बाले'इत्यादि, 'अत्र' अस्मिन्नप्यर्हस्रणीतसंयमाभ्युपगमे 'बालो' रागद्वेषाकुलितः परितप्यमानः परिपच्यमानो वा विषयपिपासया रमते, कैः ? -पापैः कर्म्मभिः, विषयार्थं सावद्यानुष्ठाने धृतिं विधत्ते, किं कुर्वाण इत्याह - 'असरण'मित्यादि, कामाग्निना पांपैर्वा कर्म्मभिः परिपच्यमानः सावद्यानुष्ठानमशरणमेव शरणमिति मन्यमानो भोगेच्छाऽज्ञानतमिस्नाच्छादितधर्धिर्विपर्ययः सन् भूयो भूयो नानारूपावेदना अनुभवेदिति ।

आस्तां तावदन्ये, प्रव्रज्यामप्यभ्युपेत्य केचिद्विषयपिपासार्त्तास्तान् कल्काचाराना-चरन्तीति दर्शयितुमाह-'इहमेगेसि'मित्यादि, 'इह' मनुष्यलोके एकेषां न सर्वेषां, चरणं चर्यते वा चर्या एकस्य चर्या एकचर्या, सा च प्रशस्तेतरभेदेन द्विधा-साऽपि द्रव्यभावभेदात् प्रत्येकं द्विधा, तत्र द्रव्यतो गृहस्थपाषण्डिकादेर्विषयकषायनिमित्तमेकाकिनो विहरणं, भावतस्तु अप्रशस्ता न विद्यते, साहि रागद्वेविरहाद्भवति, नचतद्रहितस्याप्रशस्ततेति।प्रशस्ता तु द्रव्यत्तः प्रतिमाप्रतिपन्नस्य गच्छनिर्गतस्य स्थविरकल्पिकस्य चैकाकिनः सङ्घादिकार्यानिमित्तात्रिर्गतस्य, भावतस्तु पुना रागद्वेषविरहाद्मवति, तत्र द्रव्यतो भावतस्त्रैकचर्या अनुत्वज्ञानानां तीर्थकृत्तां प्रतिपन्नसंयमानाम्, अन्ये तु चतुर्भङ्गपतिताः, तन्नाप्रशस्तद्रव्यैकचर्योदाहरणं, तद्यथा–

पूर्वदेशे धान्यपूरकाभिधाने सन्निवेशे एकस्तापसः प्रथमवया देवकुमारसद्दशविग्रहः षष्ठभक्तेन तद्ग्रामनिर्गमपथे तपस्तेपे, द्वितीयोऽप्युपग्राम गिरिगह्नरेऽष्टमभक्तेन तपः-कर्म्मणाऽऽताप नां विधत्ते, तस्मै च ग्रामनिर्गमपथवर्त्तिने शीतोष्णसहिष्णवे गुणैराकृष्टो लोक आहारादिभिः सपर्ययोपतिष्ठते, स च तथा लोकेन पूज्यमानो वाग्भिरभिष्टूयमानः आहारादिनो-पचर्यमाणो जनमूचे-मत्तोऽपि गिरिपरिसरातापी दुष्करकारकः, ततोऽसौ लोकस्तेन भूयो भूयः प्रोज्यमानस्तमेकाकिनं तापसमद्रिकुहरवासिनं पर्यपूजयद्, दुष्करं च परगुणोत्कीर्त्तनमितिकृत्वा तस्यापि सपर्यादिकं व्यधात्, तदेवमाभ्यां पूजाख्यात्यर्थमेकचर्या विदधे, अतोऽप्रशस्ता, एवमनया दिशाऽन्येऽप्यप्रशस्तैकचर्याश्रिता दृष्टान्ता यथासम्भवमायोज्या इति । तदेवं सूत्रार्थे व्याख्याते सूत्रस्पर्शिकनिर्युक्त्या निर्युक्तिकारो व्याचिख्यासुराह-

नि. [२४६] चारो चरिया चरणं एगडं वंजणं तर्हि छक्कं। दव्वं तु दारुसंकम जलथलचाराइयं बहुहा ॥

ष्ट्र. 'चार' इति 'चर गतिंभक्षणयोः' भावे घञ्, चर्येति 'गर्दमदचरयमश्चानुपसर्गे' इत्यनेन कर्मणि भावे वा यत्, चरणमिति, वा, भावे ल्युट्, एकः-अभिन्नोऽधोंऽस्येत्येकार्थ, किं तत् ?-'व्यञनं' व्यज्यते-आविष्क्रियतेऽधोंऽनेनेति व्यञ्जनं-शब्द इत्येतत्यूर्वोक्तं शब्दत्रयमेकार्थं, एकार्थत्वाद्य न पृथग् निक्षेपः, 'तत्र' चारनिक्षेपे षट्, चारस्य षट्प्रकारो निक्षेप इत्यर्थः, तद्यथा-नामस्थापनेत्यादि, तत्र सुगमत्वान्नामस्थापने अनाधत्य झशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यचारं गाथाशकलेन दर्शयति-'दव्वं तु' ति तुशब्दः पुनःशब्दार्थे द्रव्यं पुनरेवम्भूतं भवति, दारुसङ्कमश्च जलस्थलचारश्च दारुसङ्कमजलस्थलचारौतावादी यस्य तद्दारुसङक्रमजलस्थलचारादिकं 'बहुधा'

114

अनेकधा, तत्र दारुसङक्रमो जले सेत्वादिः क्रियते, स्थले वा गर्सलङ्घनादिकः, जलचारो नावादिन, स्थलचारो रथादिना, आदिग्रहणात् प्रासादादौ सोपानपङ्कत्यादिरिति, यद्यद्देशाद्देशान्तरावाप्तये द्रव्यं स स द्रव्यचार इति गाथार्थः ।। सामप्रतं क्षेत्रादिकमाह---

नि. [२४७] खित्तं तु जंमि खित्ते कालो काले जर्हि भवे चारो । भावमंमि नाणदंसणचरणं तु पसत्यमपसत्यं ॥

**वृ.**क्षेत्रं पुनर्यस्मिन् क्षेत्रे चारः क्रियते यावद्धां क्षेत्रं चर्यते स क्षेत्रचारः, कालस्तु यस्मिन् काले चरति यावन्तं वा कालं स कालचारः, भावे तु द्विधा चरणं-प्रशस्तमप्रशस्तं च, तत्र प्रशस्तं ज्ञानदर्शनचरणानि, अतोऽन्यदप्रशस्तं गृहस्थान्यतीर्थिकाणामिति गाथार्थः ॥ तदेवं सामान्यतो द्रव्यादिकं चारं प्रदश्य प्रकृतोपयोगितया यतेर्भावचारं प्रशस्तं प्रश्नद्वारेण दर्शयितुमाह-

नि. [२४८] लोगे चउव्विहंमी समणस्स चउव्विहो कहं चारो ? । होई धिई अहिगारो विसेसओ खित्तकालेसुं ॥

षृ. 'लोके' चतुर्विध द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपे 'श्रमणस्य' श्राम्यतीति श्रमणो—यतिस्तस्य कथम्भूतो द्रव्यादिश्चतुर्विधश्चारः स्याद् ?, इतिप्रश्ने निर्वचनमाह-भवति धृतिरित्येषोऽधिकारः, द्रव्ये तावदरसविरसप्रान्तरूक्षादिके धृतिर्भावयितव्या, क्षेत्रेऽपि कुतीर्थकभाविते प्रकृत्यभद्रके वा नोद्वेगः कार्यः, कालेऽपि दुष्कालादौ यथालाभं सन्तोषिणा भाव्यं, भावेऽप्यक्रोशोपहसनादौ नोद्दीपितव्यं, विशेषतस्तुक्षेत्रकालयोरवमयोरपि धृतिर्भाव्या, द्रव्यभावयोरपि प्रायस्तन्निमित्तत्वात् पुनरपि द्रव्यादिकं विशेषतो यत्तेश्चारमाह-

नि. [२४९] पावोवरए अपरिग्गहे अ गुरुकुलनिसेवए जुत्ते । उम्मग्गवञ्जए रागदोसविरए य से विहरे ॥

ष्ट्र. 'पापोपरतः' पापात्-पापहेतोः सावद्यानुष्ठानाद्धिंसाऽनृतादत्तादानाब्रह्मरूपादुपरतः पापोपरतः, तथा न विद्यते परिग्रहोऽस्येत्यपरिग्रहः, पापोपरतोऽपरिग्रहश्चेति द्रव्यचारः क्षेत्रचारमाह--गुरोः कुलं गुरुकुलं-गुरुसान्निध्यं तत्सेवको-युक्तः समन्वितो यावज्जीवं गुरूपदेशादिनेति, अनेन कालचारः प्रदर्शितः, सर्वकालं गुरूपदेशविधायित्वोपदेशाद्, भावचारमाह--उद्गतोमार्गादुन्मार्गः-अकार्याचरणंतद्वर्जकः, तथा रागद्वेषविरतः स साधुर्विहरेत्-संयमानुष्ठानं कुर्यादिति, गता निर्युक्तिः । साम्प्रतं सूत्रमनुश्रियते-

तत्र विषयकषायनिमित्तं यस्यैकचर्या स्यात् स किम्भूतः स्यादित्याह-

'से बहु कोहे' इत्यादि, 'स' विषयगृष्नुरिन्द्रियानुकूलवत्त्येकचर्यापरतिपन्नस्तीर्थिको गृहस्ये वा परैः परिभूयमानो बहुः क्रोधोऽस्येति बहुक्रोधः, तथा वन्द्यमानो मानमुद्धहत इति बहुमानः, तथा कुरुकुचादिभिः कल्कतपसा च बहुमायी, सर्वमेतदाहारादिलोभात्करोतीत्यतो बहुलोभः, यत एवमतो बहुरजाः--बहुपापो बहुषु वाऽऽरम्भादिषु रतो बहुरतः, तथा नटवद्भोगार्थं बहून् वेषान् विधत्त इति बहुनटः, तथा बहुभिः प्रकारैः शठो बहुशठः, तथा बहवः सङ्कल्पाः-कर्त्तव्याध्य-वसाया यस्य सबहुसङ्कल्पः, इत्येवमन्येषामपि चौरादीनामेकचर्या वाच्येति, स एवम्भूतः किमवस्यः स्यादित्याह--

'आसव' इत्यादि, आम्रयाः–हिंसादयस्तेषु सक्तं–सङ्ग आश्रवसक्तं तद्विद्यते

यस्यासावाश्रवसक्ती-हिंसाद्यनुपङ्गवान् पलितं-कर्म्म तेनावच्छन्नः, कर्मावष्टब्ध इतियावत्, स चैवम्भूतोऽपि किंब्रूयादित्याह-'उट्टिय'इत्यादि, धर्म्मचरणायोद्युक्तः उत्थितस्तद्वाद उत्थितवादस्तं प्रवदन्, तीर्थिकोऽप्येवमाह-यथा अहमपि प्रव्रजितो धर्म्मचरणायोद्यत इत्येवं प्रवदन् कर्म्मणाऽवच्छाद्यत इति । स चोत्थितवादी आवेषु प्रवर्त्तमानः आजीविकाभयात् कथं प्रवर्त्तत इत्याह-'मा मे'इत्यादि, मा मां 'केचन' अन्येऽद्राक्षुरवद्यकारिणमित्यतः प्रच्छन्नमकार्यं विदधाति, एतद्याज्ञानदोषेण प्रमाददोषेण वा विधत्त इति । किं च-

'सयय'मित्यादि, 'सततम्' अनवरतं मूढो मोहनीयोदयादज्ञानाद्वा 'धर्म्य' श्रुतचारित्राख्यं नाभिजानाति, न विवेचयतीत्यर्थः । यद्येवं ततः किमित्याह–'अट्टा' इत्यादि, आर्त्ता विषायकषायैः 'प्रजायन्त' इति प्रजाः–जन्तवः हेमानव !, मनुजस्यैवोपदेशार्हत्वान्मानवग्रहणं, 'कर्म्मणि' अष्टप्रकारे विभंत्सते 'कोविदाः' कुशलाः, न धर्म्मानुष्ठान इति, के पुनः ते ये सततं धर्म्मं नाभिजानन्ति कर्म्मबन्धकोविदाश्चेति ?, अत आह–'जे अनुवरया' इत्यादि, ये केचनानिर्दिष्टस्वरूपाः 'अनुपरताः' पापानुष्ठानेभ्योऽनिवृत्ता ज्ञानदर्शनचारित्राणि मोक्षमार्ग इत्यादि, ये केचनानिर्दिष्ठ, त्यादि, पाविद्या त्या परि–समन्तात् मोक्षमाहुः ते धर्म्यनाभिजानन्त इति सम्बन्धः, धर्म्यमजानानाश्च किमाप्नुयुरित्याह– 'आवट्टं' इत्यादि, भावावर्त्तः--संसारत्तमरघट्टघटीयन्त्रन्यायेनानुपरिवर्त्तन्ते, तास्वेव नरकादिगतिषु भूयो भूयो भवन्तीतियावत् । इतिरधिकारपरित्तमाप्ती, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥

अध्ययनं-५ - उद्देशक :- १ समाप्तः

## -: अध्ययनं-५ - उद्देशकः २ :-

वृ. उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतंद्वितीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहप्रागुद्देशके एकचर्याप्रतिपन्नोऽपि सावद्यानुष्ठानाद्विरतेरभावाच्च न मुनिरित्युक्तम्, इह तु तद्विपर्ययेण यथा मुनिभावः स्यात्तथोच्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादि सूत्रम्-

मू. (१५९) आवन्ती कैयावन्ती लोए अनारंभजीविणो तेसु, एत्योवरए तं झोसमाणे, अयं संधीति अदक्खू, जे इमस्स विग्गहस्स अयं खणेत्ति अन्नेसि एस मग्गे आरिएहिं पवेइए, उद्विऐ नो पमायए, जाणितुदुक्खं पत्तेयं सायं, पुढोछंदा इह माणवा पुढो दुक्खं पवेइयं से अविहिंसमाणे अणवयमाणे, पुढो फासे विपणुन्नए।

**मृ.** 'यावन्तः' केचन 'लोके' मनुष्यलोके 'अनारम्मजीविनः' आरम्भः–सावद्यानुष्ठानं प्रमत्तयोगो वा, उक्तं च–

II % II ''आदाने निक्खेवे भासुस्सग्गे अ ठाणगमणाई । सब्वो पमत्तजोगो समणस्सवि होइ आरंभो ''

तद्विपर्ययेणत्वनारम्भस्तेन जीवितुंशीलं येषां इत्यनारम्भजीविनो यतयः समस्तारम्भनिवृत्ताः तेष्वेव-गृहिषु पुत्रकलत्रस्वशरीराद्यर्थमारम्भप्रवृत्तेष्वनारम्भजीविनो भवन्ति, एतदुक्तं भवति-सावद्यानुष्ठानप्रवृत्तेषु गृहस्थेषु देहसाधनार्थमनवद्यारम्भजीविनः साधवः पद्भाधारपद्भजवत्रिर्लेपा एव भवन्ति। यद्येवंततः किमित्याह-'अत्र' अस्मिन् सावद्यारम्भेकर्त्तव्ये 'उपरतः' सङ्कुचितगात्रः, अत्र वाऽऽर्हते धर्म्भे व्यवस्थित उपरतः पापारम्भात्, किं कुर्यात् स? - 'तत्' सावद्यानुष्ठानायातं कर्म्म 'झोषयन्' क्षपयन् मुनिभावं भजत इति। किमभिसन्धायात्रोपरतः स्यादित्याह- 'अयं संधी' इत्यादि, अविवक्षितकर्म्मका अप्यकर्मका धातवो, तथा पश्य मृगो धावति, एवमत्राप्यद्राक्षीदित्येतकियायोगेऽप्ययं सन्धिरिति प्रथमा कृतेति, 'अय'मिति प्रत्यक्षगोचरापन्न आर्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्तीन्द्रियनिर्वृत्तिश्रद्धासंवेगलक्षणः 'सन्धिः' अवसरो मिथ्यात्वक्षयानुदयलक्षणो वा सम्यक्त्वावाप्तिहेतुभूतकर्म्मविवरलक्षणः सन्धिः शुभाध्यवसायसन्धानभूतो वा सन्धिरित्येनं स्वात्भनि व्यवस्थापितमद्राक्षीद्भवान्तित्यतः क्षणमप्येकं न प्रमादयेत् न विषयादिप्रमादवश्रगो भूयात् । कश्च न प्रमत्तः स्यादित्याह—

'जेइमस्स' इत्यादि, 'य' इत्युपलब्धतत्त्वः 'अस्य' अध्यक्षस्य विशेषेण गृह्यते अनेनाष्ट्राकारं कर्म्म तद्वेतरशरीरविशिष्टं बाह्येन्द्रियेण गृह्यत इति विग्रहः—औदारिकं शरीरं तस्य 'अयं' वार्त्तमानिकक्षणः एवम्भूतः सुखदुःखान्यतररूपश्च गतः एवम्भूतश्च भावीत्येवं यः क्षणान्वेषणशीलः सोऽन्वेषी सदाऽप्रमत्तः स्यादिति । स्वमनीषिकापरिहारार्धमाह–'एस मग्गे' इत्यादि, 'एषः' अननन्तरोक्तो 'मार्गो' मोक्षपथः 'आर्यैः' सवहियधर्म्मारातीय(तीर)वर्त्तिभिस्तीर्थकरगणधरैः प्रकर्षेणादौ वा वेदितः-कथितः प्रवेदित इति । न केवलमनन्तरोक्तो वक्ष्यमाणश्च तीर्थकरैः प्रवेदित इति तदाह—'उट्टिए' इत्यादि, सन्धिमधिगम्योत्थितो धर्म्मचरणाय क्षणमप्येकं न प्रमादयेत्। किं चापरमधिगम्धेत्याह–

'जाणित्तु' इत्यादि, ज्ञात्वा प्राणिनां प्रत्येकं दुःखं तदुपादानं वा कर्म्म तथा प्रत्येकं सातं च-मनअह्लादि ज्ञात्वा समुत्थितो न प्रमादयेत् । न केवलं दुःखं कर्म्म वा प्रत्येकं, तदुपादान-भूतोऽध्यवसायोऽपि प्राणिनां भिन्न एवेति दर्शयितुमाह-'पुढो' इत्यादि, पृथग्-भिन्नः छन्दः--अभिप्रायो येषां ते पृथग्छन्दाः, नानाभूतबन्धाध्यवसायस्थाना इत्यर्थः, 'इहे'ति संसारे संज्ञिलोके वा, के ते ? – 'मानवाः' मनुष्याः, उपलक्षणार्थत्वादन्येऽपि, संज्ञिनां पृथक्सङ्कल्पत्वाच्च तत्कार्यमपि कर्म्म पृथगेव, तत्कारणमपि दुःखं नानारूपमिति, कारणभेदे कार्यभेदत्य अवश्यंभावित्वादिति, अतः पूर्वोक्तं स्मारयन्नाह-'पुढो' इत्यादि, दुःखोपादानभेदाद् दुःखमपि प्राणिनां पृथक् प्रवेदितं, सर्वस्य स्वकृतकर्म्मफलेश्वरत्वात् नान्यकृतमन्य उपभुङ्गेइति।एतन्मत्वा किं कुर्यादित्याह--

'से' इत्यादि, 'सः' अनारम्भजीवी प्रत्येकसुखदुःखाध्यवसायी प्राणिनो विविधैरुपायैरहिंसन् तथाऽनपवदन्-अन्यथैव व्यवस्थितं वस्त्वन्यथा वदन्नपवदन् नापवदन् अनपवदन्, मृषावादमन्नुवन्नित्यर्थः, पश्य च त्वं तस्यापि प्राकृतत्वादार्षत्वाद्वा लोपः, एवं परस्वमगृह्णत्रि-त्याद्यप्यायोज्यम्। एतद्विधायी च किमपरं कुर्यादित्याह--'पुट्ठो' इत्यादि, स पश्चमहाव्रतव्यवस्थितः सन् यथागृहीतप्रतिज्ञानिर्वहणोद्यतः स्पृष्टः परीषहोपसर्गेस्तान् तत्कृतान् शीतोष्णादिस्पर्शान् दुःखस्पर्शान् वा तत्सहिष्णुतया अनाकुलो विविधैरुपायैः-प्रकारैः संसारासारमावनादिभिः प्रेरयेत्, तत्येरणं च सम्यक्सहनं, न तत्कृतया दुःखासिकयाऽऽत्मानं भावयेदितियावत् ।। यो हि सम्यक्करणतया परीषहान् सहेत स किंगुणः स्यादित्याह-

मू. (१६०) एस समिया परियाए वियाहिए, जे असत्ता पावेहिं कम्मेहिं उदाहु ते आयंका फुसंति, इति उदाहु धीरे ते फासे पुट्टो अहियासइ, से पुच्चिंपेयं पच्छापेयं भेउरधम्मं विद्धंसणधम्ममधुवं अनिइयं असासयं चयावचइयं विप्परिणामधम्मं, पासह एयं रूवसंधिं। **ष्टृ.** 'एषः' अनन्तरोक्तो यः परीषहाणां प्रणोदकः 'समिया' सम्पक् शमिता वा शमोऽ-स्यास्तीति शमी तद्भावः शमिता 'पर्यायः' प्रव्रज्या सम्यक् शमितया वा पर्यायः–प्रव्रज्याऽस्येति विगृह्य बहुव्रीहिः स सम्यक्पर्यायः शमितापर्यायो वा व्याख्यातो नापर इति । तदेवं परीषहोप-सर्गाक्षोभ्यतां प्रतिपाद्य व्याधिसहिष्णुतां प्रतिपादयन्नाह–'जे असत्ता' इत्यादि, येऽपाकृतमदनतया समतृणमणिलेष्टुकाश्चनाः समतापन्नाः पापेषु कर्म्मस्वसक्ताः–पापोपादानानुष्ठानारताः 'उदाहु' कदाचित्तान् तथाभूतान् साधून् 'आतङ्का' आशुजीवितापहारिणः शूलादयो व्याधिविशेषाः 'स्पृशन्ति' अभिभवन्ति पीड्यन्ति । यदि नामैवं ततः किमित्याह–

'इति उदाहु' इत्यादि, 'इति' एतद्वक्ष्यमाणमुदाहतवान्-व्याकृतवान्, कोऽसौ ? – 'धीरो' धीः-बुद्धिस्तया राजते, स च तीर्थकृद्गणधरो वा, किं तदुदाहतवान् ? – तैरातङ्कैः स्पृष्टः सन् तान् सर्शान्-दुःखानुभवान् व्याधिविशेषापादितानध्यासयेत्-सहेत । किमाकलय्येत्याह– 'से पुव्व' मित्यादि, स स्पृष्टः पीडितः आशुकारिभिरातङ्कैरेतद्भावयेद् यथा पूर्वमप्येतद्असातावेद-नीयविपाकजनितं दुःखं मयैव सोढव्यं, पश्चादप्येतन्मयैव सहनीयं, यतः संसारोदरविवरवर्त्ती न विद्यत एवासौ यस्यासातावेदनीयविपाकापादिता रोगातङ्का न भवेयुः, तथाहि-केवलिनोऽपि मोहनीयादिघातिचतुष्टयक्षयादुत्पन्नज्ञानस्य वेदनीयसद्भावेन तदुदयात्तत्सम्भव इति, यतश्च तीर्थकरैरप्येतद्बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचनावस्थायातं कर्म्यावश्वं वेद्यं नान्यथा तन्मोक्षः, अतोऽन्येनाप्यसातावेदनीयोदये सनत्कुमारध्धान्तेन मयैवैतत्सोढव्यमित्याकलय्य नोद्विजितव्यमिति उक्तंच–

<mark>॥ १</mark> ॥'स्वकृतपरिणतानां दुर्नयानां विपाकः, पुनरपि सहनीयोऽन्यत्र ते निर्गुणस्य ।

स्वयमनुभवतोऽसौ दुःखमोक्षाय सद्यो, भवशतगतिहेतुर्जायतेऽनिच्छतस्ते''

अपिच-एतदौदारिकंशरीरंसुचिरमप्यौषधरसायनाद्युपवृंहितं मृन्मयामघटादपिनिःसारतरं सर्वया सदाविशराव्विति दर्शयन्नाह-'भिदुरधम्म'मित्यादि, यदिवा पूर्वं पश्चादप्येतदौदारिकंशरीरं वक्ष्यमाणधर्म्मस्वभावमित्याह-'भिदुरधम्म'मित्यादि, स्वयमेव भिद्यत इति भिदुरः स धर्म्मोऽस्य शरीरस्येति भिदुरधर्म्म, इदमौदारिकंशरीरं सुपोषितमपि वेदनोदयाच्छिरोदरचक्षुरुरःप्रभृत्यवयवेषु स्वत एव भिद्यत इति भिदुरं, तथा विध्वसंनधर्म्मं पाणिपादाद्यवयवधिध्वंसनात्, तथा अवश्यंभावसम्भावितं त्रियामान्ते सूर्योदयवत् ध्रुवं न तथा यत्तदघ्रुवं, तथा अप्रच्युतानु-सन्नस्थिरैकस्वभावतया कूटस्थनित्यत्वेन व्यवस्थितं सन्नित्यं नैवं यत्तदनित्यमिति, तथा तेन तेन रूपेणोदकधारावच्छश्वद्भवतीति शाश्वतं ततोऽन्यदशाश्वतं, तथेष्टाहारोपभोगतया धृत्युपष्टम्भादौदारिकशरीरवर्गणापरमाणूपचयाद्ययः तदभावेन तद्विचटनादपचयः, चयापचयौ विद्येते यस्य तद्ययापचयिकम्, --

अत एव विविधः परिणामः-अन्यथाभावात्मको धर्म्मः-स्वभावो यस्य तद्विपरिणामधर्म्मं यतश्चैवम्मूतमिदं शरीरकमतोऽस्योपरि कोऽनुबन्धः का मूच्छा? , नास्य कुशलानुष्ठानमृतेऽन्यथा साफल्यमित्येतदेवाह-'पासह' इत्यादि, पश्यतैनं पूर्वोक्तं रूपसन्धि, भिदुरधर्म्माधाघ्रातौदारिकं पश्चेन्द्रियनिर्वृत्तिलाभवसरात्मकं, ४ष्ट्वा च विविधातङ्कजनितान् स्पर्शानध्यासयेदिति ।।

एतत्पश्यतश्च यत्स्यात्तदाह-

मू. (१६९) समुप्पेहमाणस्स इक्वयणरयस्स इह विप्पमुक्कस नत्थि मग्गे विरयस्स त्तिबेमि

ष्ट्र. सम्यगुस्नेक्षमाणस्य-पश्यतोऽनित्यताघ्रातमिदं शरीरमित्येवमवधारयतो नास्ति मार्ग इति सम्बन्धः, किं च-आङ्अभिविधौ समस्तपापारम्भेभ्यः आत्मा आयत्यते-आनियम्यते यस्मिन् कुशलानुष्ठाने वा यत्नवान् क्रियत् इत्यायतनं ज्ञानादित्रयम् एकम्-अद्वितीयमायतनमेकायतनं तत्र रतस्तस्य, किं च-'इह' शरीरे जन्मनि वा विविधं परमार्थभावनया शरीरानुबन्धात् प्रमुक्तो विप्रमुक्तस्तस्य 'नास्ति' न विद्यते, कोऽसौ ?-

'मार्गो' नरकतिर्यङ्गनुष्यगमनपद्धतिः, वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानदर्शनान्न मविष्यतीति नास्तीत्युक्तं, यदिवा तस्मिन्नेव जन्मनि समस्तकर्मक्षयोपपत्तेर्नास्ति नरकादिमार्गः, कस्येति दर्श्वयति-'विरतस्य' हिंसाद्याश्चवद्वारेभ्यो निवृत्तस्य, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत्, सुधर्म्मस्वाम्यात्मानमाह, यद्भगवता वीरवर्द्धमानस्वामिना दिव्यज्ञानेनार्थानुपलभ्य वाग्योगेनोक्तं तदहं भवतां ब्रवीमि, न स्वमतिविरचनेनेति । विरत एव मुनिर्भवत्त्येतत्प्रतिपाद्य साम्प्रतम् 'अविरतवादी परिग्रहवानि'ति यदुक्तं तस्रतिपादयन्नाह-

मू. (१ ६२) आवंती केयावंती लोगंसि परिग्गहावंती, से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा धूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं वा एएसु चेव परिग्गहावंती, एतदेव एगेसिं महब्भयं भवइ, लोगवित्तं च णं उवेहाए, एए संगे अवियाणओ ।

ष्ट्र. यावन्तः केचन लोके 'परिग्रहवन्तः' परिग्रहयुक्ताः स्युस्तत(त्र)एवम्भूतपरिग्रह-सद्मावादित्याह-'से अप्पं वा' इत्यादि, तद्रव्यं यत्परिगृह्यते तदल्पं वा-स्तोकं वा स्यात् कपर्दकादि, बहु वा स्यात् धनधान्यहिरण्यग्रामजनपदादि, अणु वा स्यात् मूल्यतस्तृणकाष्ठादि प्रमाणतो वज्रादि, स्थूलं वा स्यात् मूल्यतः प्रमाणतश्च हस्त्यश्वादि, एतच्च चित्तवद्वा स्यादचित्तवद्वेति । एतेन च परिग्रहेण परिग्रहवन्तः सन्त एतेष्वेव परिग्रहवत्सु गृहस्थेष्वन्तर्वर्त्तिनो व्रतिनोऽपि स्युः, यदिवैतेष्वेव षट्सु जीवनिकायेषु विषयभूतेष्वल्पादिषु वा द्रव्येषु मूच्छा कुर्व्वन्तः परिग्रहवन्तो भवन्ति, तथा चाविरतो विरतिवादं वदन्नल्पादपि परिग्रहात् परिग्रहवान् मवति, एवं शेषेष्वपि व्रतेष्वायोज्यम्, एकदेशापराधादपि सर्वापराधितासम्भवः, अनिवारितास्रवत्वात् ।

यद्येवमल्पेनापि परिग्रहेण परिग्रहवत्त्वमतः पाणिपुटमोजिनो दिगम्बराः सरजस्कबोटि कादयोऽपरिग्रहाः स्युः, तेषां तदभावात्, नैतदस्ति, तदभावादित्यसिद्धो हेतुः, तथाहि-सरजस्क नामस्थ्यादिपरिग्रहद्बोटिकानामपि पिञ्छिकादिपरिग्रहाद् अन्त(न्तत)श्च शरीराहारादि-परिग्रहसद्भावात्, धर्मोपष्टम्भकत्वाददोष इति चेद् तद् इतरत्रापि समानं, किं दिगम्बराग्रहग्रहेणेति एतद्याल्पादिपरिग्रहेण परिग्रहवत्त्वमपरिग्रहाभिमानिनां चाहारशरीरादिकं महतेऽनर्थायेति एतद्याल्पादिपरिग्रहेण परिग्रहवत्त्वमपरिग्रहाभिमानिनां चाहारशरीरादिकं महतेऽनर्थायेति दर्शयन्नाह-'एतदेवे'त्यादि, एतदेव-अल्पबहुत्वादिपरिग्रहेण परिग्रहवत्त्वमेकेषां-परिग्रहवत्तां नरकादिगमनहेतुत्वात् सर्वस्याविश्वासकारणाद्वा महाभयं भवति, प्रकृतिरियं परिग्रहस्य, यदुत-तद्वान् सर्व्यस्पाद्यकति, यदिवैतदेव शरीराहारादिकमपरस्याल्पस्यापि पात्रत्वक्त्राणादेर्द्धर्म्योपकरण-स्याभावाद् गृहिगृहे सन्यगुपायाभावादविधिनाऽशुद्धमाहारादिकं मुआनस्य कर्म्यबन्धजनितमहा-भयहेतुत्वान्महाभयं, तथैतद्धर्मिशरीरं समस्ताच्छादनाभावाद्बी भत्संपरेषां महाभयं, तन्निरवद्यवि धिपालनाभावाद्य महाभयमिति । यतः परिग्रहो महाभयमतोऽपदिश्यते– 'लोगं' इत्यादि, 'लोकस्य' असंयतलोकस्य 'वित्तं' द्रव्यमल्पादिविशेषणविशिष्टं, चशब्दः पुनःशब्दार्थे, णमिति वाक्यालङ्कारे, लोकवित्तं लोकवृत्तं वा आहारभयमैथुनपरिग्रहोत्कटसंज्ञात्मकं महते भयाय पुनरुस्रेक्ष्य-ज्ञात्वा ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरेततत्परिहर्त्तुश्च यत्स्यात्तदाह-'एए संगे' इत्यादि, 'एतान्' अल्पादिद्रव्यपरिग्रहसङ्गान् शरीराहारादिसङ्गान् वा 'अविजानतः' अकुर्वाणस्य वा तत्परिग्रहजनितं महाभयं न स्यात् ।। किं च—

मू. (१ ६ ३) से सुपडिवद्धं सूवणीयंति नद्या पुरिसा परमचक्खू विपरिक्रमा, एएसु चेव बंभचेरं तिबेमि, से सुयं च मे अज्झत्थयं च मे-बंधपमुक्खो अज्झत्थेव, इत्थ विरए अनगारे दीहरायं तितिक्खए, पमत्ते बहिया पास, अप्पमत्तो परिव्वए, एयं मोणं सम्मं अनुवासिआसि – तिबेमि।

वृ. 'से' तस्य परिग्रहपरिहर्तुः सुष्ठु प्रतिबद्धं सुप्रतिबद्धं सुष्ट्पनीतं सूपनीतं ज्ञानादि इत्येतत् ज्ञात्वा 'हे पुरुष !' मानव ! परमं ज्ञानं चक्षुर्यस्यासौ परमचक्षुः मोक्षैकदष्टिर्वा सन् विविधं तपोऽनुष्ठानविधिना संयमे कर्म्मणि वा पराक्र मस्वेति । अथ किमर्थं पराक्रमणोपदेश इत्यत आह-'एएसु चेवे' त्यादि, य इमे परिग्रहविरताः परमचक्षुषश्चैतेष्वेव परमार्थतो ब्रह्मचर्यं नान्येषु, नवविधब्रह्मचर्यगुप्तभावाद्, यदिवा ब्रह्मचर्याख्योऽयं श्रुतस्कन्धः, एतद्वाच्यमपि ब्रह्मचर्यं तदेतेष्वेवापरिग्रहवत्सु, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीम्यहं यदुक्तं वक्ष्यमाणं च सर्वज्ञोपदेशादित्याह-

'से सुअं च मे' इत्यादि, तद्यत् कथितं यद्य कथयिष्यामि तच्छुतं च मया तीर्थकरसकाशात् तथा आत्मन्यधि अध्यात्मं ममैतच्चेतसि व्यवस्थितं, किं तदध्यात्मनि स्थितमिति दर्शयति-बन्धात्सकाशाद्यमोक्षः बन्धप्रमोक्षस्तथा 'अध्यात्मन्येव' ब्रह्मचर्येव्यवस्थितस्यैवेति।किं च-'इत्स' इत्यादि, 'अत्र' अस्मिन् परिग्रहे जिघृक्षिते विरतः, क्रोऽसौ ?—

नास्यागारं-गृहं विद्यत इत्यनगारः, स एवम्भूतो 'दीर्घरात्रं' यावज्ञीवं परिग्रहाभावात् यत् क्षुत्पिपासादिकमागच्छति तत् 'तितिक्षेत' सहेत ।पुनरप्युपदेशदानायाह-'पमत्ते' इत्यादि, प्रमत्तान्-विषयादिभिः प्रमादैर्बहिर्द्धम्मव्धिवस्थितान् पश्य गृहस्थतीर्थिकादीन् । ६टा च किं कुर्यादिति दर्शयति-अप्रमत्तः सन् संयमानुष्ठाने परिव्रजेदिति । किं च-'एय' मित्यादि, 'एतत्' पूर्वोक्तं संयमानुष्ठानं मुनेरिदं मौनं-सर्वज्ञोक्तं सम्यग् 'अनुवासयेः' प्रतिपालयेः 'इति' अधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ।

अध्ययनं-५ - उद्देशकः २ - समाप्तः

# -: अध्ययनं -५ - उद्देशकः ३ :-

**वृ.** उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीय आरभ्यते-अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोक्तोद्देशकेऽविरतवादी परिग्रहवानित्यभिहितम्, इह तु तद्विपर्यय उच्यते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्-

मू. (१६४) आवंती केयावंती लोयंसि अपरिग्गहावंती एएसु चेव अपरिग्गहावंती, सुद्या वई मेहावी पंडियाण निसामिया समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए जहित्थ मए संधी झोसिए एवमन्नत्थ संधी दुज्ञोसए भवइ, तम्हा बेमि नो निहाणिज्ञ वीरियं।

**ंवृ.** यावन्तः केचन लोकेऽपरिग्रहवन्तो विरता यतय इत्यर्थः, ते सर्वे एतैष्वेव-अल्पादिषु

द्रव्येषु त्यक्तेषु सत्त्वपरिग्रहवन्तो भवन्ति, यदिवैतेष्वेव षट्सु जीवनिकायेषु ममत्वाभावादपरिग्रहा भवन्ति । स्यात्–कथमपरिग्रहभावः स्यादित्याह-'सोच्चा' इत्यादि 'वई'ति सुब्व्यत्ययेन द्वितीयार्थे प्रथमाऽतो वाचं-तीर्थकराज्ञामागमरूपां 'श्रुत्वा' आकर्ण्य 'मेधावी' मर्यादाव्यवस्थितः सश्रुतिको हेयोपादेयपरिहारप्रवृत्तिज्ञः, तथा 'पण्डितानां' गणधराचार्यादीनां विधिनियमात्मकं वचनं निशप् सचित्ताचित्तपरिग्रहपरित्यागादपरिग्रहो भवति । स्यादेतत्-कदा पुनरुत्वन्ननिरावरणज्ञानानां तीर्थकृतां चाग्योगो भवति येनासावाकर्ण्यते ?, उच्यते धर्म्मकथाऽवसरे, किम्भूतस्तैः पुनर्धर्मः प्रवेदित इत्यारेकापनोदार्थमाह–'समिय'त्ति 'समता' समशत्रुमित्रता तयाऽऽर्थेर्द्धर्मः प्रवेदित इति, उक्तं च–

II 9 II ''जो चंदणेण बाहुं आलिंपइ वासिणा व तच्छेति । संथुणइ जो अ निंदति महेसिणो तत्थ समभावा '

यदिवाऽऽर्येषु-देशभाषाचरित्राऽऽर्येषुसमतया भगवता धर्म्सः प्रवेदितः, तथा चोक्तम्-"जहा पुण्णस्स कत्थइ तहा तुच्छस्स कत्थई''त्यादि, अथवा शमिनो भावः शमिता तया सर्वहेयधर्म्पारातीयवर्त्तभिः आर्येः प्रकर्षेणादी वा धर्म्भो चेदितः प्रवेदितः, इन्द्रियनोइन्द्रियोपशमेन तीर्थकृद्भिर्म्दर्म्माः प्रज्ञापित इतियावत् । स्याद्-अन्यैरपि स्वाभिप्रायेण धर्म्माः प्रवेदिता एवेत्यतस्तदव्युदासार्थं भगवानेवाह-'जहेत्थे'त्यादि, सदेवमनुजायां पर्षदि भगवानेवमाह-यथाऽत्र मया ज्ञानादिको मोक्षसन्धिः 'झोसिओ'ति सेवित इति, यदिवा ।-

'अत्र' अस्मिन् ज्ञानदर्शनचारित्रात्मके मोक्षमार्गे समभावात्मकेइन्द्रियनोइन्द्रियोपशमल्पे मया मुमुक्षुणा स्वत एव सन्धानं सन्धिः-कर्म्पसन्ततिः सन्धीयत इति वा भवाद्भवान्तरमनेनेति सन्धिः-अष्टप्रकारकर्म्पसन्ततिरूपः स झोषितः- क्षपितः अतो य एव तीर्थकृद्भिर्द्धर्म्मोऽभिहितः स ए बमोक्षमार्गो नापर इत्येतदेवाह-यथाऽत्र मया सन्धिर्झोषितः एवमन्यत्र-अन्यतीर्थिकप्रणीते मोक्षमार्गे सन्धिः-कर्म्पसन्ततिरूपः दुर्झोष्यो भवति-दुःक्षयो भवति, असमीचीनतया तदुपायाभावाद्, यदि नाम भगवताऽत्र कर्म्मसन्धिर्झोषितत्त्ततः किमित्याह-

यस्मादस्मिन्नेव मार्गे व्यवस्थितेन मयाऽपि विकृष्टतरेण तपसा कर्म्म क्षपितं ततोऽन्योऽपि मुमुक्षुः संयमानुष्ठाने तपसि च वीर्यं 'नो निहन्यात्' नो निगूहयेद् अनिगूहितबलवीर्यो भूयाद्, एतदहं ब्रवीमि परमकारुण्याकृष्टहृदयः परहितैकोपदेशशदायीत्येतद्वीरवर्द्धमानस्वाम्याह, सुधर्मस्वामी स्वशिष्याणां कथयति स्म ॥ कश्चैवम्भूतः स्यादित्याह--

मू. (१६५) जे पुव्वुडाई नो पच्छानिवाई, जे पुव्वुडाई पच्छानिवाई, जे नो पुव्वुडायी नो पच्छानिवाई, सेऽवि तारिसिए सिया, जे परिन्नाय लोगमत्रेसयंति ।

**वृ. यः कश्चि**द्वितिसंसारस्वभावतया धर्म्मचरणैकप्रवणमनाः पूर्वं-प्रव्रज्याऽवसरे संयमानुष्ठानेनोत्थातुं शीलमस्येति पूर्वोत्थायी पश्चाच्च श्रद्धासंवेगतया विशेषेण वर्द्धमानपरिणामो नो निपाती, निपतितुं शीलमस्येति विगृह्य णिनिः निपतनं वा निपातः सोऽस्यास्तीति निपाती, सिंहतया निष्कान्तः सिंहतया विहारी च गणधरादिवत् प्रथमो भङ्गः । द्वितीयभङ्गं सूत्रेणैव दर्शयन्नाह-पूर्वमुत्यातुं शीलमस्येति पूर्वोत्थायी, पुनर्विचिन्नत्वात् कर्म्मपरिणतेस्तथविधभवित-व्यतानियोगात्पश्चात्रिपती स्यात्, नन्दिषेणवत्, कश्चिद्दर्शनतोऽपि गोष्ठामाहिलवदिति । तृतीयभङ्गस्य चाभावादनुपादानं, स चायम्– 'जे नो पुव्वुद्धायी पच्छानिवाती', तथाहि-उत्थाने सति निपातोऽनिपातो वा चिन्यते, सति धर्म्मिणि धर्म्मचिन्ता, तदुत्यानप्रतिषेधे च दूरोत्सादितैव निपातचिन्तेति। चतुर्थमङ्गदर्शनाय त्वाह—यो हि नो पूर्वोत्यायी न च पश्चात्रिपाती सोऽविरत एव गृहस्थः सन्नोत्थायी भवति सम्यग्विरतेरभावात् नापि पश्चान्निपाती उत्यानाविनामावित्वान्निपातस्य, शाक्यादयो वा चतुर्थमङ्गपतिता द्रष्टव्याः, तेषामप्युभयासद्भावादिति। ननु च गृहस्या एव चतुर्यभङ्गपतिता युक्ता वक्तुं, तथाहि—तेषां सावद्ययोगानुष्ठानेनानुत्यानतयाप्रतिज्ञामन्दरारोपाभावान्निपाताभावः, शाक्यादिरपि चतुर्थभङ्गपतित इत्यत आह—'सोऽपि' शाक्यादिर्गणः पश्चमहान्नतभारारोपणाभावेन सावद्ययोगानुष्ठानतया नो पूर्वोत्यायी निपातस्य च तत्पूर्वकत्वान्नोपश्चान्निपातीत्यतस्ताध्श एव-गृहस्थतुल्य एव स्याद्, आस्रवद्वाराणामुभयेषाम्प्यसंवृतत्वात्त्, उदायिनृपमारकवत्। अन्येऽपि येसावद्यानुष्ठायिनस्तेऽपि ताध्क्षा एवतिदर्शयन्नाह-येऽपि स्वयूथ्याः पार्श्वस्थादयोद्विविधयाऽपि परिज्ञया लोकं परिज्ञाय पुनः पचनपाचनाद्यर्थ तमेव लोकमन्वाश्रिता अन्वेषयन्ति वा तेऽपि गृहस्थतुल्या एव भवेयुः ॥ स्वभनीषिकापरिहारार्थमाह–

मू. (१६६) एयं नियाय मुनिना पवेइयं, इह आणाकंखी पंडिए अनिहे, पुव्वावररायं जयमाणे, सया सीलं सुपेहाए सुणिया भवे अकामे अझंझे, इमेण चैव जुज्झाहि, किं ते जुज्झेन बुज्झओ ?

ष्ट. 'एतद्' यदुत्याननिपातादिकं प्रागुपन्यस्तं तत्केवलज्ञानावलोकनेन 'नियाय'ति ज्ञात्वा 'मुनिना' तीर्थकृता 'प्रवेदितं' कथितम् । इदं चान्यस्रवेदितमित्याह—इह' अस्मिन् मौनीन्द्रे प्रवचने व्यवस्थितः सन् 'आज्ञां' तीर्थकरोपदेशमाकाद्धितुं शीलमस्येत्याज्ञाकाङक्षी-आगमानुसारप्रवृत्तिकः, कश्चैवम्भूतः ? -- 'पण्डितः' सदसद्विवेकज्ञः 'अस्निहः' स्नेहरहितः । रागद्वेषविप्रमुक्तोऽहर्निशं गुरुनिर्देशवर्ती यत्नवान् स्यादित्येतदाह-पूर्वरात्रं-रात्रेः प्रथमो यामोऽपररात्रं-रात्रेः पाश्चात्यः एतद्यामद्वयमपि 'यतमानः' सदाचारमाचरेत्, मध्यवर्त्तियामद्वयमपि यथोक्तविधिना स्वपन् यैरात्रादिकं विदध्यात्, रात्रियतनाप्रतिपादनेन चाह्नयपि प्रतिपादित्तैव भवति, आद्यन्तग्रहणे मध्यग्रहणस्यावश्यंभावित्वात् ।

किंच-'सदा' सर्वकालं 'शीलम्' अष्टादशभेदसहस्रसङ्घयं संयमं वा यदिवा चतुर्खा शीलंम-हाव्रतसमाधानंतिस्रोगुप्तयः पश्चेन्द्रियदमः कषायनिग्रहश्चेत्येतच्छीलं सम्प्रेक्ष्य मोक्षाङ्गतयाऽनुपालयेत् नाक्षिनिमेषमात्रमपि कालं प्रमादवशगो भूयात् । कश्च शीलसम्प्रेक्षकः स्यादित्याह-यो हि श्रुत्वा शीलसम्प्रेक्षणफलं निःशीलनिर्व्रतानां च नरकादिपातविपाकमाकर्ण्यागमात्, 'भवेत्' स्यात् 'अकाम' इच्छामदनकामरहित इति, तथा नास्य 'झञ्झा' माया लोभेच्छा वा विद्यत इत्यझञ्झः, कामझञ्झाप्रतिषेधाद्य मोहनीयोदयः प्रतिषिद्धः, तत्यतिषेधाद्य शीलवान् स्यादिति, एतदुक्तं मवति-धर्म्भश्रुत्वा स्यात् अकामोऽड्क्षश्चेत्यनेन चोत्तरगुणा गृहीताः, उपलक्षणार्थत्वाद्य मूलगुणा अपि गृहीताः, ततः स्यात् अहिंसकः सत्यवादीत्याद्यपि द्रष्टव्यं ।

ननु चान्यजीवाच्छरीरमित्येवंभावनायुक्तस्यानिगूहितबलवीर्यस्य पराक्र ममाणस्या षटदशशीलाङ्गसहस्रधारिणोऽपि मे यथोपदेशं प्रवर्त्तमानस्यापि नाशेषकर्म्ममलापगमोऽद्यापि भवतीत्यतस्तथाभूतम साधारणकारणमाचक्ष्वयेनाहमाश्वेवाशेषमलकलङ्करहितः स्याम्, अहं च भवदुपदेशाद् अपि सिंहेनापि सह युद्धये, न मे कर्म्मक्षयार्थं प्रवृत्तस्य किञ्चिदशक्यमस्तीत्यत्रोत्तरं सूत्रेणैवाह-अनेनैवौदारिकेण शरीरेणेन्द्रियनोइन्द्रियात्मकेन विषयसुखपिपासुना स्वैरिणा सार्खं युध्यस्व, इदमेव सन्मार्गावतारणतो वशीकुरु, किमपरेण बाह्यतस्ते युद्धेन ?, अन्तरारिषङ्वर्गकर्मरिपुजयाद्वा सर्वं सेत्स्यति भवतो, नातोऽपरं दुष्करमस्तीति ॥ किंत्वियमेव सामग्री अगाधसंसारार्णवे पर्यटतो भवकोटिसहेष्वपि दुष्प्रापेति दर्शयितुमाह–

मू. (१६७) जुद्धारिहं खलु दुझहं, जहित्य कुसलेहिं परित्राविवेगे भासिए, चुए हु बाले गब्माइसु रज़इ, असिंस चेयं पवुच्चइ, रूवंसि वा छणंसि वा, से हु एगे संविद्धपहे मुनी, अन्नहा लोगमुवेहमाणे, इय कम्म परिन्नाय सव्वसो से न हिंसइ, संजमई नो पगब्भइ, उवेहमाणो पत्तेयं सायं, वण्णाएसी नारभे कंचनं सव्वलोए एगप्पमुहे विदिसप्पइन्ने निव्विण्णचारी अरए पयासु

**वृ.** एतदौदारिकं शरीरं भावयुद्धाईं, खलुरवधारणे, स च भिन्नक्रमो, दुर्लभमेव-दुष्प्रापमेव, उक्तं च—

> ''ननु पुनरिदमतिदुर्लममगाधसंसारजलधिविभ्रष्टम् । मानुष्यं खद्योतकतडिल्लताविलसितप्रतिमम् "

इत्यादि, पाठान्तरं वा–"जुद्धारियं च दुछहं" तत्रानार्यं सङग्रामयुद्धं परीषहादिरिपुयुद्धं त्वार्यं तद् दुर्लभमेव तेन युद्धयस्व, ततो भवतोऽशेषकर्म्मक्षयलक्षणो मोक्षोऽचिरादेव भावीति भावार्थः । तद्य भावयुद्धार्हं शरीरं लब्ध्वा कश्चित्तेनैव भवोनाशेषकर्म्मक्षयं विधत्ते, मरुदेवीस्वामिनीव, कश्चित् सप्तभिरष्टभिर्वा भवैर्भरतवत्, कश्चिदपार्द्धपुद्गलपरावर्त्तेन, अपरो न सेत्स्यत्येव, किमित्येवं यत आह–

यथा येन प्रकारेण 'अत्र' अस्मिन् संसारे 'कुशलैः' तीर्थकृदिः 'परिज्ञाविवेकः' परिज्ञानविशिष्टता, कस्यचित कोऽप्यध्यवसायः संसारवैचित्र्यहेतुः 'भाषितः' प्रज्ञापितः, स च मतिमता तथैवाभ्युपगन्तव्य इति । तदेव परिज्ञाननानात्वं दर्शयन्नाह—लब्ध्वाऽपि दुर्लमं मनुजत्वं प्राप्य च मोक्षेकगमनहेतुं धर्म्मं पुनरपि कर्म्भोदयात्तस्मात् च्युतो 'बालः' अज्ञः 'गर्भादिषु रज्यते' गर्भ आदिर्येषां कुमारयौवनावस्थाविशेषाणां ते गर्भादयः तेष्वेव गार्द्धयमुपयाति, यथैभिः सार्द्ध मम वियोगो मा भूत्इत्यध्यवसायी भवति, यदिवा धर्म्माच्युतस्तत्करोतियेन गर्भादिषु यातनास्थानेषु सङ्गमुपयाति, 'रिज्जइ'त्ति वा क्वचित्याठः, रीयते-गच्छतीत्यर्थः । स्यात्-कृवोक्तमिदं ?

यत् प्राग् व्यावर्णितमित्याह-'अस्मित्रि'ति आर्हते प्रवचने 'एतत्' पूर्वोक्तं प्रकर्षेणोच्यते प्रोच्यते । एतच्च वक्ष्यमाणमत्रैवोच्यते इति दर्शयन्नाह--'रूपे' चक्षुरिन्द्रियविषयेऽध्युपपन्नो, वाशब्दादन्यत्र वा स्पर्शरसादौ 'क्षणे' प्रवर्त्तते, 'क्षणु हिंसायां' क्षणनं क्षणो-हिंसा तस्यां प्रवर्त्तते, वाशब्दादन्यत्र चानृतस्तेयादाविति, रूपप्रधानत्वाद्विषयाणां रूपित्वाच्च रूपोपादानं, आम्रवद्वाराणां च हिंसाप्रधानत्वात्तदादित्वाच्चतदुपादानमिति। बालो रूपादिविषयनिमित्तं धर्माच्युतः सन् गर्भादिषु रज्यते, अत्रार्हते मार्गे इदमुच्यते, यस्तु पुनर्गभादिगमनहेतुं ज्ञात्वा विषयसङ्गं धर्म्भादच्युतो हिंसाद्याश्रवद्वारेभ्यो निवर्त्तते स किंभूतः स्यादित्याह--

'स' जितेन्द्रियो, हुरवधारणे, स एवैकः- अद्वितीयो 'मुनिः' जगत्रयमन्ता 'संविद्धपथः' सम्यग्विद्धः--ताडितः क्षुण्णः पन्थाः--मोक्षमार्गा ज्ञानदर्शनचारित्राख्यो येन स तथा, 'संविद्धभये'ति

11911

वा पाठः, संविद्धभयो ६ष्टभय इत्यर्थः, यो ह्यास्रवद्वारेभ्यो हिंसादिभ्यो निवृत्तः स एव मुनिः क्षुण्णमोक्षमार्गइतिभावार्थः । किंच--अन्येन प्रकारेणान्यथा-विषयकषायाभिभूतं हिंसादिकर्म्मसु प्रवृत्तं 'लोकं' गृहस्थलोकं पाखण्डिलोकं वा पचनवपाचनौद्देशिकसच्चित्ताहारादिप्र-वृत्तमुद्येक्षमाणोऽन्यथा वा आत्मानं निवृत्ताशुभव्यापारमुद्रेक्षमाणः संविद्धपथो मुनिः स्यात् इति लोकं चान्यथोद्येक्ष्य किं कुर्यादित्याह-'इति' पूर्वोक्तैर्हेतुभिर्यद्बद्धं कर्म्म तदुपादानं च सर्वतः परिज्ञाय ज्ञपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञयाऽपि सर्वतः परिहरेत् । कथं परिहरतीत्याह--

'स' कर्म्मपरिहर्त्ता कायवाङ्गनोभिर्न हिनस्ति जन्तून् न घातयत्यपरैर्नाप्यनुमन्यते । किं च-पापोपादानप्रवृत्तमात्मानंसंयमयति, सप्तदशप्रकारंवा संयमंकरोति संयमयति, आचारक्ति्वबन्तं वैतत् संयम इवाचरति संयमयति । किं च-'नो पगब्मइ' 'गल्म धाष्टर्ये' असंयमकर्म्मसु प्रवृत्तः सन् न प्रगल्भत्वमायाति, रहस्यप्यकार्यप्रवृत्तो जिद्वेति न धृष्टतां अवलम्बत इति, उपलक्षणार्थत्वादस्य क्षुण्णमोक्षपथो मुनिर्न क्रुध्यति, न जात्यादिमानमुद्वहति, न वञ्चनां विधत्ते, न लुभ्यति । किमाकलय्यैतत्कुर्यादित्याह—'उत्प्रेक्षमाणः' अवगच्छन् प्रत्येकं प्राणिनां सातं मनोऽनुकूलं नान्यसुखेनान्यः सुखीति नापि परदुःखेन दुःखीत्यतः प्राणिनो न हिंस्यादिति । प्राणिनां प्रत्येकं सातमुद्रेक्षमाणश्च किं कुर्यादित्याह—

वर्ण्यते-प्रशस्यते येन स वर्णः- साधुकारस्तदादेशी वणदिशी-वर्णाभिलाषी सन् नारभते कञ्चन पापारम्भं सर्वस्मित्रपि लोके, यदिवा-तपः संयमादिकमप्यारम्भं यशः कीत्यर्थं नारभते, प्रवचनोद्मावनार्थं त्वारभते, तदुद्मावकाश्चामी—

1) 9 ।। "प्रावचनी धर्म्मकथी वादी नैमित्तिकस्तपस्वी च ।

विद्यासिद्धः ख्यातः कविरपि चोद्मावकास्त्वष्टौ ''

यदिवा वर्णो-स्तपं तदादेशी-तदभिलाषुकः नोद्धर्त्तनादिकाः क्रिया आरभेत, किम्पूतः सन्नेतत्कुर्यादित्याह-'एको' मोक्षोऽशेषमलकलङ्करहितत्वात् संयमो वा रागद्वेषरहितत्वात् तन्न प्रगतं मुखं यस्य स तथा मोक्षे तदुपाये वा दत्तैकध्ष्टिर्न कञ्चन पापारम्भमारभेत इति, किं च-मोक्षसंयमाभिमुखा दिक्ततोऽन्या विदिक्तांप्रकर्षेणतीर्णोविदिक्प्रतीर्णः, स चैवम्भूतः सन्नारम्भी स्यात्, कुमार्गपरित्यागेन न पापारम्भान्वेषी भवतीत्यर्थः, किंच-चरणं चारः--अनुष्ठानं निर्विण्णस्य चारो निर्विण्णत्त्यारः सोऽस्यास्तीति निर्विण्णचारी, कुत इति चेत्, यतः 'प्रजास्वरतः' प्रजायन्त इति प्रजाः-प्राणिनस्तत्रारतः--तदारम्भाप्रवृत्तो निर्म्पात्वो वा, यश्च शरीरादिष्वपि ममत्वरहितः सनिर्विण्णचार्येव भवति, यदिवाप्रजाः-स्त्रियस्तास्वरतः आरम्भेऽपिनिर्वेदमागच्छति, कारणाभावे कार्यस्याप्यभावादिति ॥ यश्च प्रजास्वरक्तः आरम्भरहितः स किम्भूतः स्यादित्याह-

मू. (१६८) से यसुमं सव्वसमन्नागयपन्नाणेणं अप्पाणेणं अकरणिज्ञं पावकम्मं तं नो अन्नेसी, जं संमंति पासहा तं मोणंति पासहा जं मोणंति पासहा तं संमंति पासहा, न इमं सक्व. सिढिलेहिं अद्दिजमाणेहिं गुणासाएहिं वंकसमायारेहिं पमत्तेहिं गारमावसंतेहिं, मुनी मोनं समायाए धुणे सरीरगं, पंतं लूहं सेवंति वीरा सम्पत्तदंसिणो, एस ओहन्ते मुणी, तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए --तिबेमि ।।

**मृ.** वसु-द्रव्यं, स चाम्र संयमस्तद्विद्यते यस्य स निवृत्तारम्भो मुनिर्वसुमान् सर्वं सम्यगन्वागतं

प्रज्ञानं पदार्थीविर्भावकं यस्यात्मनस्तेनात्मना सर्वसमन्वागतप्रज्ञानं रूपापन्नेन यदकर्त्तव्यं पापकर्म्म तन्नो कदाचिदप्यन्वेषति, उपलब्धपरमार्थरूपेणात्मना न सावद्यानुष्ठानविधायी स्यादिति भावार्थः यदेव सम्यक् प्रज्ञानं तदेव पापकर्मवर्जनं, यदेव च पापकर्म्मवर्जनं तदेव च सम्यक् प्रज्ञानमित्येतद्गतप्रत्यागतसूत्रेणैव दर्शयितुमाह-सम्यगिति-सम्यग्ज्ञानं सम्यकत्वं वा तत्सहचरितं, अनयोः सहभावादेकग्रहणे द्वितीयग्रहणं न्याय्यं, यदिदं सम्यग्ज्ञानं सम्यकत्वं वा तत्सहचरितं, अनयोः सहभावादेकग्रहणे द्वितीयग्रहणं न्याय्यं, यदिदं सम्यग्ज्ञानं सम्यकत्वं वेत्येतत्पश्यत तन्मुनेर्भावो मौनं-संयमानुष्ठानमित्येतत्पश्यत, यच्च मौनमित्येतत् पश्यत तत्सम्यग्ज्ञानं नैश्चयिकसम्यकत्वं वा पश्यत, ज्ञानस्य विरतिफलत्वात् सम्यकत्वस्य चाभिव्यक्तिकारणत्वात् सम्यकत्वज्ञानचरणानामेकताऽध्यवसेयेति मावार्थः ।

एतच्च न येन केनचिच्छक्यमनुष्ठातुमित्याह-नैतत्सम्यकत्वादित्रयं सम्यगनुष्ठातुं शक्यं, कैः ? – 'शिथिलैः' अल्पपरिणामतयामन्दवीर्यैः संयमतपसोर्धृति६ढिमरहितैरिति, किं च-आई्रैंः पुत्रकलत्राद्यनुषङ्गजनितस्नेहादार्द्रीक्रियमाणैरेतत्पूर्वोक्तमशक्यमिति सम्बन्धः, किं च-गुणाः-शब्दादयस्तेष्वास्यादो येषां ते गुणास्वादास्तैरिति, किं च-वक्रः समाचारो येषां ते तथा तैः, मायाविभिरित्यर्थः, तथा-विषयकषायादिप्रमादैः प्रमत्तैरिति, किं च-अगारं-गृहं तद् आद्यक्षरत्नोपाद्गारमित्युक्तं तदगारमा चसद्मिः- सेवमानैः, पापकर्म्मवर्ज्जनरूपं मौनम-नुष्ठानमशक्यमिति सर्वत्र योजनीयं । कथं तर्हि शक्यमित्याह-

'मुनिः' जगत्रयस्य मन्ता मौनं-मुनित्वमशेषसावद्यानुष्ठानवर्जनरूपं 'समादाय' गृहीत्वा धुनीयाच्छरीरकमौदारिकं कर्म्मशरीरं वेति। कथं च तद्धुननमित्याह-प्रान्तं-पर्युषितं वछचनकाद्यल्यं वा, तदपि रूक्षं विकृतेरमावात्, तत् 'सेवन्ते' तदभ्यवहरन्ति, के ते ?- 'वीराः' कर्मविदारण-सहिष्णवः, किंभूताः ?-सम्यकत्वदर्शिनः समत्वदर्शिनो वा। यश्च प्रान्तरूक्षसेवी स किंगुणः स्यादित्याह-'एषः' अनन्तरोक्तविशेषणविशिष्टः ओघो-भावौधः संसारस्तं तरतीति, कोऽसौ?-मुनिः, वर्त्तमानसामीप्ये वा वर्त्तमानवद्वेति तीर्ण एवासौ, सबाह्याभ्यन्तरसङ्गाभावान्मुक्तवन्मुक्तः, कश्चैवम्भूतो ?-यः सावद्यानुष्ठानाद्विरत् इत्येवं व्याख्यातः। इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमिति पूर्ववत् ।

#### अध्ययनं-५ उद्देशकः ३ - समाप्तः

## ः अध्ययनं-५ - उद्देशकः ४ :-

ष्ट्र. उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थआरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः- इहाद्योद्देशके हिंसकस्य विषयारम्भकस्यैकचरस्य मुनित्वाभावः प्रदर्शितो, द्वितीयतृतीययोस्तु हिंसाविषया-रम्भपरिग्रहव्युदासेन तद्वतो दोषं प्रदर्श्य विरत एव मुनिर्भवतीत्येतत्प्रतिपादितम्, अस्मिश्च एकचरस्यामुनिभावेदोषोद्मावनतः कारणमाह, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्-

मू. (१६९) गामाणुगामं दूइज़माणस्स दुज़ाइं दुप्परक्वंतं भवइ अवियत्तस्स भिक्खुणो षृ. ग्रसति बुद्धयादीन् गुणानिति ग्रामः, ग्रामादनु-पश्चादपरो ग्रामो ग्रामानुग्रामस्तं, 'दूयमानस्य' अनेकार्थत्वाद्धातूनां विहरतः एकाकिनः साधोर्यत्स्यात् तद्दर्शयति-दुष्टयातं दुर्यातं, गमनकियाया गर्हा, गच्छत एवानुकूलप्रतिकूलोपसर्गसद्भावादर्हत्रकस्येव कृतगतिभेदस्य दुष्टव्यन्तरीजद्वाच्छेदवत्, तथा दुष्टं पराक्रान्तम्-आक्रन्तं स्थानमेकाकिनो भवति, स्यूलम-

इति. उक्तं च--

इत्यादि, गच्छान्तर्वर्त्तिनस्तु बहवो गुणाः, तन्निश्रया अपरस्यापि बालवृद्धादेरुद्यत-विहाराभ्युपगमात्, यथाहि उदके समर्थस्तरन्नपरमपि काष्ठादि विलग्नं तारयति, एवं गच्छेऽप्युद्यतविहार्यपरं सीदन्तमुद्यमयति, तदेवमेकाकिनो दोषानु वीस्य गच्छान्तर्विहारिणश्च गुणान् कारणामावे व्यक्तेनापि नैकचर्या विधेया, कुतः पुनरव्यक्तेनेतिस्थितं । नन् च सति सम्भवे प्रतिषेधो युक्तो, न चास्ति सम्भवः एकाकिविहारितायाः, को हि नाम बालिशः सहायान् विहाय समस्तापायास्पदमेकाकिविहारितामभ्युपेयादिति, अत्रोच्यते, न किञ्चिदपि कर्म्मपरिण-तेरशक्यमस्ति, तथाहि स्वातन्त्रयगदागदकल्पस्य समस्तव्यसनप्रवाहसेतुभूतस्याशेष-कल्याणनिकेनस्य शुभाचाराधारस्य गच्छस्यान्तर्वर्त्तिनः कचित्रमादस्खलिते चोदिताः अवगणय्य

| 11 9 11 | ''साहंमिएहिं संमुझएहिं एगागिओ अ जो विहरे । |
|---------|--|
|         | आयंकपउरयाए छक्कायवहंमि आवडइ                |
| 11311   | एगागिअस्स दोसा इत्यी साणे तहेव पडिणीए ।    |
|         | भिक्खऽविसोहि महव्वय तम्हा सबिइञ्जए गमणं"   |

लाम मन्नइ धीरो जहत्तराणं अभावंमि ''

इत्येवमादिनोपदेशेन गच्छान्तर्गतो गुरुणाऽनुशास्यते. गच्छनिर्गतस्य पुनर्दोषा एव केवला

तत आत्मविराधना, तथाऽतिसारदौ मूत्रपुरीषजम्बालान्तर्वर्त्तित्वात् प्रवचनहीलना, अपि च-ग्रामादिव्यवस्थितः सन् धिग्जात्यादिना केशलुश्चिताद्यधिक्षेपेणाधिक्षिप्तः सन परस्परोपमर्दकारि दण्डादण्डि भण्डनं विदध्यात्, तच्च गच्छगतस्य न सम्भवति, गुर्वाधुपदेशसम्भवात्, तदुक्तं च-''अक्कोसहणणमारणधम्मष्मंसाण बालसलभाणं। 11911

संयमात्मविराधना प्रवचनहीलना च, तत्र यदि करुणापन्ना गृहस्थाः प्रतिजागरणं कुर्युस्तर्ह्यज्ञानतया षट्कायोपमर्दनं कुर्वाणाः संयमबाधामापादयेयुः, अथ न कश्चित्तत्र तथाभूतः कर्त्तव्योद्यतः स्यात्

द्रेर्ष्याश्रितोपकोशागृहसाधोरिवेति, यदिवा−चतुष्प्रोषितभर्तृकागृहोषितसाधोरिव, तस्य महासत्त्वतया अक्षोमेऽपि दुष्पराक्रान्तमेवेति, एतच्च न सर्वस्यैव दुर्यातं दुष्पराक्रान्तं च भवतीत्यतो विशिनष्टि-अव्यक्तस्य भिक्षोरिति, भिक्षणशीलो भिक्षुस्तस्य, किम्भूतस्य ?--अव्यक्तस्य, स चाव्यक्तः श्रुतवयोभ्यां स्यात्, तत्र श्रुताव्यक्तो येनाचारप्रकल्पोऽर्थतो नाधिगतो भवति गच्छगतानां तन्निर्गतानां तु नवमपूर्वतृतीयवस्तित्वति, वयसा चाव्यक्त आषोडशवर्षाद्गच्छगतानां तन्निर्गतानां चत्रिंशत इति, अत्र चतुर्भङ्गिका, श्रुतवयोभ्यामव्यक्तस्यैकचर्या न कल्पते, संयमात्मविराधनातः इत्याद्यो भङ्गः, तथा श्रुतेनाव्यक्तो वयसा च व्यक्तः, अस्याप्येकचर्या न कल्पते, अगीता-र्थत्वादुभयविराधनासद्भगवादति द्वितीयः, तथा श्रुतेन व्यक्तो वयसा चाव्यक्तः, तस्यापि न कल्पते, बालतया सर्वपरिभवास्पदत्वाद् विशेषतः स्तेनकुलिङ्गादीनामिति तृतीयः, यस्तुभयव्यक्तः स सति कारणे प्रतिमामेकाकिविहारित्वमभ्युद्यतविहारं वा प्रतिपद्यताम्, अस्यापि कारणाभावे एकचर्या नानुमता, यतस्तस्यां गुप्तीर्यामाषेषणादिविषया बहवो दोषाः प्रादुष्वन्ति, तथाहि--एकाकी पर्यटन् यदीर्यापर्थं शोधयति ततः श्वाद्युपयोगाद्भ्रश्यति तदुपयुक्तश्चेन्नेर्यापर्थं शोधयेदित्यादिकाः शेषा अपि समितयो वाच्याः, अन्यच्च-अजीर्णेन वातादिक्षोभेण वाव्याध्युदुभवे

ł

सदुपदेशमपर्यालोच्य सद्धर्ममविचार्य कषायविपाककटुकतामनवधार्य परमार्थपृष्ठतः कृत्वा कुलपुत्रतां वाङ्मात्रादपि केचित्कोपनिघ्नाः सुखैषिणोऽगणितापदो गच्छान्निर्गच्छन्ति, तत्र चैहिकामुष्मिकापायानवामुवन्तीति, उक्तं च–

| 11 9 11 | ''जह सायरंभि भीणा संखोह सायरस्स असहंता ।     |
|---------|--|
|         | निति तओ सुह्रकामी निग्गयमित्ता विणरसंति      |
| ॥ २ ॥   | एवं गच्छसमुद्दे सारणवीईहिं चोईया संता ।      |
|         | निंति तओ सुहकामी मीना व जहा विणस्संति        |
| llşli   | गच्छंमि केइ पुरिसा सउणी जह पंजरंतरनिरुद्धा । |
|         | सारणवारणचोइय पासत्यगया परिहरति               |
| X       | जहा दियापोयमपक्खजायं, सवासया पविउमणं मणागं   |
|         |  |

तमचाइया तरुणमपत्तजायं, ढंकादि अव्वत्तगमं हरेज्ञा ''

एवमजातसूत्रवयःपक्षस्तीर्थिकघ्वाङक्षादिभिर्विलुप्यते गच्छालयान्निर्गतो वाङ्मात्रेणापि चोदितः सन् इति । एतद्दर्शयितुमाह–

मू. (१७०) वयसावि एगे बुइया कुप्पंति माणवा, उन्नयमाणे य नरे महया मोहेण मुज्झइ, संबाहा बहवे मुझो २ दुरइक्कम्पा अजाणओ अपासओ, एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं, तद्दिडीए तम्मुत्तीए तप्पुरकारे तस्सन्नी तन्निवेसणे, जयं विहारी चित्तनिवाई पंथनिज्झाई पलिबाहिरे, पासिय पाणे गच्छिज्ञा

**ष्ट्र. क्**वचित्तपःसंयमानुष्ठानादाववसीदन्तः प्रमादस्खलिता वा गुर्वादिना धर्मेण वचसाऽपि 'एके' अपुष्टधर्माणः अनवगतपरमार्थाः 'उक्ताः' चोदिताः कुप्यन्ति, के ते ? - 'मानवा' मनुजाः क्रोधवशगा भवन्ति, ब्रुवते च-कथमहमनेनेयतां साधूनां मध्ये तिरस्कृतः, किं मया कृतम् ?, अथवाऽन्येऽप्येतत्कारिणः सन्त्येव, ममाप्येवम्भूतोऽधिकारोऽभूत्, धिग्मे जीवितमित्यादि, महामोहोदयेन क्रोधतमिस्नाच्छादितद्ष्टयः उज्झितमसुचिताचारा उमयान्यतराव्यक्ता मीना इव गच्छसमुद्रार्त्रिगत्य विनाशमाप्रुवन्ति, यदिवा वचसाऽपियथाक इमे लुझिताः मलोपहतगात्रयप्टयः प्रगेतनावसर एवास्माभिर्द्रष्टव्या इत्यादिनोक्ता एके क्रोधान्धाः कुप्यन्ति मानवाः, अपिशब्दात् त्कायेनापि स्पृष्टाः कुप्यन्ति, कुपिताश्चाधिकरणादि कुर्वन्तीत्येवमादयो दोषा अव्यक्तैकचर्यायां गुर्वादिनियामकामावास्रादुष्ट्युरिति, गुरुसान्निध्यै चैवम्भूत उपदेशः सम्मवेत्, तद्यथा-

- II 9 II ''आक्रुप्टेन मतिमता तत्त्वार्थान्वेषणे मतिः कार्या । यदि सत्यं कः कोपः ? स्यादनृतं किं नु कोपेन ? ''
- II २ II (तथा)- ''अपकारिणि कोपश्चेत्कोपे कोपः कथं न ते ? । धर्मार्थकाममोक्षाणां प्रसह्य परिपन्थिनि ''

इत्यादि, किंपुनः कारणंवचसाऽप्यभिहिता ऐहिकामुष्मिकापकारकारिणः स्वपरबाधकस्य क्रोधस्यावकाशं ददतीत्याह-उन्नतो मानोऽस्येत्युन्नतमानः, उन्नतं वाऽऽत्मानं मन्यत इति, स चैवम्भूतो 'नरो' मनुष्यो महता मोहेन-प्रबलमोहनीयोदयेन अज्ञानोदयेन वा 'मुह्यति' कार्याकार्यविचार– विवेकविकलो भवति, स च मोहमोहितः केनचिच्छिक्षणार्थमभिहितो मिथ्यार्धष्टेना वा वाचा तिरस्कृतो जात्यादिमदस्थानान्यतरसद्मावेनोन्नतमानमन्दरारूढः कुप्यति, मामप्येवमयं तिरस्करोति, धिग्मे जातिं पौरुषं विज्ञानं चेत्येवमभिमानग्रहगृहीतो वाङ्मात्रादपि गच्छान्निर्गच्छति, तत्रिर्गतो वाऽधिकरणादिविडम्बनयाऽऽत्मानं विडम्बयति, अथवोन्नम्यमानेः केनचित् दुर्विदग्धेनाहोऽयं महाकुलप्रसूत आकृतिनामन् पटुप्रज्ञो मृष्टवाक् समस्तशास्त्रवेत्ता सुभगः सुखसेव्यो वेत्यादिना वचसा तथ्येनातथ्येन वोठ्यास्यमान उन्नतमानो गर्वाध्यातो महता चारित्रमोहेन मुह्यति संसारमोहेन वोह्यत इति ।

तस्य चोन्नतमानतया महामोहेन मुद्यतो मोहाच वाङ्मात्रेणापि कुप्यतः कोपाच गच्छनिर्गतस्यानभिव्यक्तस्यभिक्षोर्ग्रामानुग्राममेकाकिनः पर्यटतो यत्स्यात्तदाह-तस्याव्यक्तस्यैक-चरस्य पर्यटतः सम्बाधयन्तीति सम्बाधाः-पीडाः उपसर्ग्णजनिता नानाप्रकारातङ्कजनिता वा भूयो भूयो बह्वयः स्युः, ताश्चैकाकिनाऽव्यक्तेन निरवद्यविधिना 'दुरतिक्रमा' दुरतिलङ्घनीयाः, किम्भूतस्य दुरतिक्रमा इत्याहतासां नानाप्रकारनिमित्तोत्थापितानां बाधानामतिसहनोपायमजानानस्य सम्यक्वरणसहनफलं चापश्यतो दुरतिक्रमणीयाः पीडा भवन्ति, ततश्चातङ्कपीडाकूलीभूतः सन्नेषणामपि लङ्घयेत्, प्राण्युपमर्दमप्यनुमन्येत्, वाक्वण्टकनुदितः सन्नव्यक्ततया प्रज्वलेत, नैतद्भावयेद् यथा मत्कर्म्भविपाकापादिता एताः पीडाः परोऽत्र केवलं निमित्तभूतः, किं च-

।। ९ ।। 🛛 ''आत्मद्रोह्रममर्यादं, मूढमुज्झितसत्पथम् ।

सुतरामनुकम्पेत, नरकार्चिष्मदिन्धनम् "

इत्यादिका भावना आगमापरिमलितमतेर्न भवेदिति । एतत्यदर्श्य भगवान् विनेयमाह-'एतद्' एकचर्याप्रतिपन्नस्य बाधादुरतिक्रमणीयत्वमजानानस्यापश्यतश्च 'ते' तव मदुपदेशवर्त्तिनो माभवतु, आगमानुसारितया सदा गच्छान्तर्वर्त्ती भवेत्यर्थः । सुधर्मस्वाग्याह-'एतत्' पूर्वोक्तं तत् 'कुशलस्य' श्रीवर्द्धमानस्वामिनो 'दर्शनम्' अभिप्रायो यथाऽव्यक्तस्यैकचरस्य दोषाः सततमाचार्यसमीपवर्त्तिनश्च गुणाइति । आचार्यसमीपवर्त्तिना च किं विधेयमित्याह-तस्य-आचार्यस्य धरितधरित्तया सततं वर्त्तितव्यहेयोपादेयार्थेषु, यदिवा तस्मिन् संयमे धरित्तधरिः, स एव वाऽऽगमो धरितधरित्तया सर्वकार्येषु व्यवहर्त्तव्यम्, तथा-तेनोक्ता सर्वसङ्गेभ्यो विरतिर्मुक्तििस्तया सदा यतितव्यम्, तथा पुरस्करणं पुरस्कारः-सर्वकार्येष्वग्रतः स्यापनं, तस्य-आचार्यस्य पुरस्कार-स्तसुरस्कारस्तस्मिन्-तदिषये यतितव्यम्, तथा तस्य संज्ञा तत्संज्ञा-तज्ज्ञानं तद्वांस्तत्संज्ञी सर्वकार्येषु स्यात्, न स्वमतिविरचनया कार्यं विदध्यात्,

तथा तस्य-गुरोर्निवेशनं-स्थानं यस्यासौ तन्निवेशनः, सदागुरुकुलवासी स्यादिति भावः । तत्र गुरुकुलेनिवसन् किम्भूतः स्यादित्याह-यतमानो-यतनया विहरणशीलो विहारी स्यात्, यतमानः प्राण्युपमर्दनमकुर्वन् प्रत्युपेक्षणादिकाः क्रियाः कुर्यादिति, किं च-चित्तम्-आचार्याभिप्रायस्तेन निपतितुं-क्रियायां प्रवर्त्तितुं शीलमस्येति चित्तनिपाती सदा स्यादिति, तथा गुरोः क्वचिद्गतस्य पन्थानं निद्धर्यातुं-प्रलोकितुं शीलमस्येति चित्तनिपाती सदा स्यादिति, तथा गुरोः क्वचिद्गतस्य पन्थानं निद्धर्यातुं-प्रलोकितुं शीलमस्येति पथनिद्धर्यायी, उपलक्षणं चैतत् तेन सुषुप्सोः संस्तारकप्रलोकी बुभुक्षोराहारन्वेषीत्यादिना गुरोराराधकः सदा स्यात्, किं च-परिः-समन्तालुरोरवग्रहात् पुरतः पृष्ठतो वाऽवस्थानात्सदा कार्यमृते बाह्यः स्याद्, एतस्माच सूत्रात्रयः ईर्योद्देशका निर्गता इति । किं च-क्वचित्कार्यादी गुर्यादिना प्रेषितः सन् धष्ट्वाप्राणिनो युगमात्रद्धिस्तदुपघातं परिहरन् गच्छेत् । किं च-

मू. (१७९) से अभिक्रममाणे पडिक्रममाणे संकुचमाणे पसारेमाणे विनिवद्वमाणे संपलिज्रमाणे, एगया गुणसमियस्स रीयओ कायसंफासं समणुचित्रा एगतिया पाणा उद्दार्थति, इहलोगवेयणविज्ञावडियं, जं आउद्विकयं कंमं तं परित्राय विवेगमेइ, एवं से अप्पमाएण विवेगं किट्टइ वेयवी।

**वृ.** 'स' भिक्षुः सदा गुवदिशविधायी एतद्व्यापारवान् भवति, तद्यया-अभिक्रामन्-गच्छन् प्रतिक्रामन्-निवर्त्तमानः सङकुचन् हस्तपादादिसङ्कोचनतः प्रसारयन् हस्तादीनवयवान् विनिवर्त्तमानः समस्ताशुभव्यापारात्, सम्यक् परिः- समन्ताद्धस्तपादादीनवयवांस्तन्निक्षेपस्थानानि वा रजोहरणादिना मृजन्--परिमृजन् गुरुकुलवासे वसेदिति सर्वत्र सम्बन्धनीयं, तत्र निविष्टस्य विधिः-भूम्यामेकमूरुंव्यवस्थाप्य द्वितीयमुत्सिप्य तिष्ठेत्, निश्चलस्थानासहिष्णुतया भूमीं प्रत्युपेक्ष्य प्रमाज्य च कुक्कु टीविजृम्भितध्द्यान्तेन सङ्कोचयेत् प्रसारयेद्वा, स्वपन्नपि मयूरवत्स्वपिति, स किलान्यसत्त्व-मयादेकपार्श्वशायी सचेतनश्च स्वपिति, निरीक्ष्य च परिवर्त्तनादिकाः क्रिया विधत्ते, इत्येवमादि संपरिमृजन् सर्वाः क्रियाः करोति । एवं चाप्रमत्ततया पूर्वोक्ताः क्रियाः कुर्वतोऽपि कदाचिदव- श्यंभावितया यत्स्यात्तदाह-

'एकदा' कदाचित्, 'गुणसमितस्य' गुणयुक्तस्याप्रमत्ततया यतेः 'रीयमाणस्य' सम्यगनुष्ठानवतोऽभिक्रामतः परिक्रामतः सङ्कुचतः प्रसारयतो विनिवर्त्तमानस्य संपरिमृजतः कस्याश्चिदवस्थायां कायः-शरीरं तत्संस्पर्शमनुचीर्णाः- कायसङ्गमागताः सम्पातिमादयः प्राणिनः एके परितापमाप्नुवन्ति-एके ग्लानतामुपयान्ति एकेऽ वयवविध्वंसमापद्यन्ते, अपश्चिमावस्यांतु सूत्रैणेव दर्शयति-एके 'प्राणाः' प्राणिनः 'अपद्रान्ति' प्राणैर्विमुच्यन्ते, अत्र च कर्म्पबन्धं प्रति विचित्रता, तयाहि-शैलेश्यवस्थाया मशकादीनां कायसंस्पर्शेन प्राणत्यागेऽपि बन्धोपादानकारण-योगाभावान्नास्ति बन्धः, उपशान्तक्षीणमोहसयोगिकेवलिना स्थितिनिमित्तकषायाभावात् सामयिकः, अप्रमत्तयतेर्जधन्यतोऽन्तर्मुहूर्त्तमुत्कृष्टतश्चान्तःकोटीकोटीस्थितिरिति, प्रमत्तस्य उत्कृष्टतश्च प्राक्तन एव विशेषिततरः ।

स च तेनैव भवेन क्षिप्यत इति सूत्रेणैव दर्शयितुमाह-इह-अस्मिन् लोके-जन्मनि वेदनम्-अनु- भवनमिहलोकचेदनं तेन वेद्यम्-अनुभवनीयमिहलोकवेदनवेद्यं तत्रापतितमिह-लोकवेदनवेद्यापतितं, इदमुक्तं भवति-प्रमत्तयतिनाऽपि यदकामतः कृतं कर्म्म कायसङ्घटनादिना तदैहिकभवानुबन्धि, तेनैव भवेन क्षप्यमाणत्वाद्, आकुट्टीकृतकर्मणि तु यद्विधेयं तदाह-यतु पुनः कर्म्माकुट्टया कृतम्-आगमोक्तकारणमन्तरेणोपेत्य प्राण्युपमर्देन विहितं तत्परिज्ञाय इपरिज्ञ् 'विवेकमेति' विविच्यतेऽनेनेति विवेकः-प्रायश्चित्तं दशविधं तस्यान्यतरं मेदमुपैति, तद्विवेकं वा-अभावाख्यमुपैति-तत्करोति येन कर्म्मणोऽभावो भवति । यथा च कर्म्मणो विवेको भवति तथा दर्शयितुमाह-'एव'मिति वक्ष्यमाणेन प्रकाण 'से' तस्य कर्म्मणः साम्परायिकस्य सदा वेदक्षि 'अप्रमादेन' प्रमादाभावेन दशविद्यप्रायश्चित्तान्यतरभेदसम्यगनुष्ठानेन 'विवेकम्' अभावं कीर्त्तयति 'वेदर्वित्' तीर्थकरो वेदविद्धा-आगमविद्गाणघरश्चतुर्द्दशपूर्वविद्वेति ।। किम्पूतः पूनरप्रमादवानु भवतीत्याह- मू. (१७२) से पभूयदंसी पभूयपरिन्नाणे उवसंते समिए सहिए सयाजए, दट्ठुं विप्पडिजिवेएइ अप्पाणं किमेस जणो करिस्सइ ?, एस से परमारामो जाओ लोगंमि इत्यीओ, मुनिना हु एयं पवेइयं, उब्बाहिज्रमाणे गामधम्मेहिं अवि निब्बलासए अवि ओमोयरियं कुज़ा अवि उड्ढं ठाणं ठाइज़ा अवि गामाणुगामं दूइज़िज़ा अवि आहारं वुच्छिदिज्ञा अवि चए इत्यीसु मणं,

पुब्वं दंडा पच्छा फाँसा पुव्वं फासा पच्छा दंडा, इच्चेए कलहासंगकरा भवंति, पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्ञा अणासेवणाए त्तिबेमि, से नो काहिए नो पासणिए नो संपसारणिए नो मामए नो कयकिरिए वइगुत्ते अज्झप्पसंवुडे परिवज्जइ सया पावं एयं मोनं समनुवासिज्ञासित्तिबेमि

वृ. 'स' साधुः प्रभूतं प्रमादविपाकादिकमतीतानागतवर्त्तमानं वा कर्म्मविपाकं द्रष्टुं शीलमस्येतिप्रभूतदर्शी, साम्प्रतेक्षितया न यत्किञ्चनकारीत्यर्थः, तथा प्रभूतं सत्त्वरक्षणोपायपरिज्ञानं संसारमोक्षकारणपरिज्ञानं वा यस्य स प्रभूतपरिज्ञानः, यथावस्थितसंसारस्वरूपदर्शीत्यर्थः, किं च-उपशान्तः कषायानुदयादिन्द्रियनोइन्द्रियोपशमाद्वा, तथा पश्चभिः समितिभिः समितः सम्यग्वा मोक्षमार्गमितः समितः, तथा ज्ञानादिभिः सहितः-समन्वितः सहहितेन वा सहितः, 'सदा' सर्वकालं यतः सदायतः, स एवम्भूतोऽप्रमत्तो गुरोरन्तिकमावसन् प्रमादजनितस्य कर्म्मणोऽन्तं विधत्ते । स च स्त्र्याद्यनुकूलपरीषहोपपत्ती किं विदध्यादित्याह-'धष्ट्वा' अवलोक्य स्त्रीजनमुपसर्गा-करणायोद्यतमात्मानं 'विप्रतिवेदयति' पर्यालोचयति, तद्यथा--

सम्यग्ध्रष्टिरस्मि, तथोत्सिप्तमहाव्रतभारः शरच्छशाङ्कनिर्म्मलकुललबब्धजन्मा अकार्याक-रणतयोत्थित इत्येवमात्मानं पर्यालोचयति, तं च स्त्रीजनं किमेष स्त्रीजनो मम त्यक्तजीविता-शस्योज्झितैहिकसुखाभिलाषस्योपसर्गादिकं कुर्यात्?, अथवा वैषयिकसुखस्य दुः खप्रतीकाररूप-लात् किमेष स्त्रीजनः सुखं विदध्याद्? अन्यो वा पुत्रकलत्रादिको जनो मम मृत्युना जिघृक्षितस्य व्याधिना वाऽऽदित्सितस्य किंतव्रतीकारादिकं कुर्यादिति?।यदिवैवं स्त्रीजनस्वभावं चिन्तयेदिति सूत्रेणैव दर्शयति-सएष स्त्रीजन आरमयतीत्यारामः परमश्चासावारामश्च परमारामः ज्ञाततत्त्वमपि जनं हासविलासोपाङ्गनिरीक्षणादिभिर्विब्बोकैर्मोहयतीत्यर्थः, याः काश्चनास्मिन् लोके स्त्रियः ता मोहरूपा विज्ञाय यावन्न परित्यजन्ति तावत्स्वत एव परित्यजेत्। एतज्च तीर्थकरेण प्रवेदितमिति दर्शयितुमाह-

'मुनिना' श्रीवर्द्धमानस्वामिनेात्पन्नज्ञानेनैव 'एतत्' पूर्वोक्तं, यथा स्त्रियां भावबन्धनरूपाः, 'प्रवेदितं' प्रकर्षेणादौ वा व्याख्यातमिति । एतच्च वक्ष्यमाणं प्रवेदितमित्याह-उत्-प्रावल्येन मोहोदयाद् बाध्यमानः-पीड्यमानः उद्बाध्यमानः कैः ? -प्रामधर्मैः ग्रामाः-इन्द्रियग्रामास्तेषां धर्म्माः-स्वभावा यथास्वं विषयेषु प्रवर्त्तनं तैरुद्बाध्यमानो गच्छान्तर्गतः सन् गुर्वादिनाऽनुशास्यते, कथमनुशास्यत इत्यत आह-अपिः सम्भावनायां, निर्बलं-निःसारमन्तप्रान्तादिकं यद्रव्यं तदाशकः-तद्मोजी स्पात्, यदिवा निर्गतं बलं-सामर्थ्यस्येति निर्बलः एवम्भूतः सन्नाशीत, बलाभावे च ग्रामधर्म्भोपशमदर्शनाद्, बलाभावश्चाहाराहान्या स्यादिति दर्शयति–

अप्यवमीदर्यं कुर्याद्, यदि ह्यन्तप्रान्ताशिनोऽपि न मोहोपशमः स्यात् ततस्तदपि वल्लचनकादिना द्वात्रिंशत्कवलमात्रं गृह्णीयात्, तेनाप्यनुपशमे कायोत्सर्गादिना कायक्लेशं कुर्यादित्येतद्दर्शयति-अप्यूर्ध्वंस्थानंतिष्ठेत्, शीतोष्णादौकायोत्सर्गेणातापनांकुर्यात्, तेनाप्यनुपशमे ग्रामानुग्राममपि विहरेत्, निष्कारणे विहारो निषिद्धो मोहोपशमनार्थं तु कुर्यात्, किं बहुना ?, येन येनोपायेन विषयेच्छा निवर्त्तते तत्तत्कुर्यात्, पर्यन्ते आहारमपि व्यवच्छिन्दाद्, अपि पतं विदध्यात् अप्युद्बन्धनं कुर्यात् न च स्त्रीषु मनः कुर्यादित्याह च-अपिः समुद्यये, स्त्रीषु यन्मनः प्रवृत्तं तत् परित्यजेत्, तत्परित्यागे हि कामा दिरूपा अपि दूरत एव परित्यक्ता भवन्तीति, उक्तं

II 9 II "काम ! जानामि ते रूपं, संकल्पात्किल जायसे । न त्वां संकल्पयिष्यामि, ततो मे न भविष्यसि ''

किंपुनः कारणं स्त्रीषु मनो न विधेयमित्याह-स्त्रीसङ्गप्रवृत्तानामपरमार्थदशां 'पूर्वं' प्रथममेव तत्सङ्गाविच्छेदार्थमर्थोपार्जनप्रवृत्तस्य कृषिवाणिज्यादिक्रियाः कुर्वतोऽ गणितक्षुत्पिपासाशीतोष्णा-दिपरीषहस्यैहिकदुःखरूपा दण्डाः, ते च स्त्रीसम्भोगात्प्रथममेव क्रियन्त इति पूर्वमित्युक्तं, पश्चान्न विषयनिमित्तजनितकर्म्मविपाकापादितनरकादिदुःखविशेषाः स्पर्शा भवन्ति, यदिवा स्त्र्याद्यकार्यप्रवृत्तस्य पूर्वं दण्डपाताः पश्चाद्धस्तपादच्छेदादिकाः स्पर्शा भवन्ति, यदिवा पूर्वं सर्ग्रा पश्चाद्दण्डपाता इति, अथवा पूर्वं दण्डाः-ताडनादिकाः पश्चात्स्पर्शाः-सम्बाधनालिङ्गनचुम्बनादिकाः, तद्यधा-बन्दानीतावरुद्धराजकुमारीगवाक्षक्षिप्तपतदावीलग्रहणाद्राजपुरुषावलोकनताडनेन मूच्छिंतराजकुमारीतद्दर्शनतो वणिगिन्द्रदत्तस्याग्रतो दण्डाः पश्चात्स्पर्शा इति, पूर्वं वा सुखादिस्पर्शः पश्चादण्डा ललिताङ्गकस्येवान्येषां चोपपतीनामिति ।

किं च-इत्येते स्त्रीसम्बन्धाः कलहः-सङग्रामस्तत्रासङ्गः-संबन्धस्तत्करा भवन्ति, यदिव कलहः-क्रोध आसङ्गो--राग इत्यतो रागढेषकारिणो भवन्ति, यद्येवं ततः किं कुर्यादित्यारू ऐहिकामुष्मिकापा-यत; स्त्रीसङ्गप्रत्युपेक्षया 'आगमेत्त'त्ति ज्ञात्वा आज्ञापयेदात्मानमनासेवनयेति, इतिरधिकारपरिस- माप्तौ, ब्रवीम्यहं तीर्थकरवचनानुसारेण-दुःखं च ताः परिहर्त्तुमिति । पुनर्ग तत्परिहरणोपायमाह- 'स' स्त्रीसङ्गपरित्यागी स्त्रीनेपथ्यकयां श्रृ ङ्गारकयां वा नो कुर्यात्, एवं च तास्त्यक्ता भवन्ति, तथा-तासां नरकवीथीनां स्वर्गापवर्गमार्गार्गलानामङ्गप्रत्यङ्गादिकं न पश्चेत्, यतस्तन्निरीक्ष्यमाणं महत्तेऽनर्थाय भवतीति, उक्तं च-

II ''सन्मार्गे तावदास्ते प्रभवति पुरुषस्तावदेवेन्द्रियाणां, लज्ञां तावद्विधत्ते विनयमपि समालम्बते तावदेव । भ्रूचापाकृष्टमुक्ताः श्रवणपथजुषो नीलपक्ष्माण एते, यावल्लीलावतीनां न हृदि धृतिमुषो दृष्टिबाणाः पतन्ति ''

तथा-ताभिर्नरकविम्नम्भभूमिभिः सार्खन सम्प्रसारणं-पर्यालोचनमेकान्ते निजस्वादिभिरापि कुर्यादिति, उक्तं च--

II 9 II 'मात्रा स्वास्ना दुहित्रा वा, न विविक्तासनो भवेत् । बलवानिन्द्रियग्रामः, पण्डितोऽप्यत्र मुह्यति ''

इत्येवमादि, तथा-न तासु स्वार्थपरासु ममत्वं कुर्यात्, तथा-कृता-अनुष्ठिता तदुपकारिणे मण्डनादिका क्रिया येन स कृतक्रिय इत्येवम्भूतो न भूयात्, न स्त्रीणां वैयावृत्त्यं कुर्यात्, काययोगनिरोध इति भावः, तथा तथैताः शुभानुष्ठानपरिपन्धिनीर्न वाङमात्रेणाप्यालपेरिति वाग्योगनिरोधः, तथा-आत्मन्यधि अध्यात्मं-मनस्तेन संवृत्तोऽध्यात्मसंवृत्तः-स्त्रीभोगादत्तमनः सूत्रार्थोपयुक्तनिरुद्धम-नोयोगः, एवम्भूतश्च किमपरं कुर्यादित्याह-परिःसमन्तात् वर्ञ्जयेत्-परिहरेत् 'सदा' सर्वकालं 'पापं' किल्बिषं तदुपादानं वा कर्म्म, उपसंहरणार्थमाह-'एतद्' यदुद्देशकादेरारभ्योक्तं, मुनेरिदं मौनं मुनिभावो वा तदात्मनि समनुवासयेः-आत्मनि विदध्याः ॥ इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ॥

अध्ययनं-५ उद्देशकः - ४ समाप्तः

-: अध्ययनं-५ - उद्देशकः - ५ :-

**वृ.** उक्तश्चतुर्थोद्देशकः, साम्प्रतं पश्चम आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्त-रोद्देशकेऽव्यक्तस्यैकचरस्य प्रत्यपायाः प्रदर्शिताः, अतस्तान् परिजिहीर्षुणा सदाऽऽचार्यसेविना भवितव्यम्, आचार्येण च द्रहोपमेन भाव्यं, तदन्तेवासिना च तपःसंयमगुप्तेन निःसङ्गेन च विहर्त्तव्यमिति, एतत्प्रतिपादनसम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्–

मू. (१७३) से बेमि तंजहा-अवि हरए पडिपन्ने समंसि भोमे चिट्ठइ उवसंतरए सारक्खमाणे, से चिट्ठइ सोयमज्झगए से पास सव्वओ गुत्ते, पास लोए महेसिणो जे य पन्नाणमंता पबुद्धा आरम्भोवरया सम्ममेयंति पासह, कालस्स कंखाए परिव्वयंति-- त्तिबेमि ।

**ष्ट्र**. सेशब्दस्तच्छब्दार्थे, यद्गुण आचार्यो भवति तदहं तीर्थकरोपदेशानुसारेण ब्रवीमीति, तद्यथेति वाक्योपन्यासार्थे, अपिशब्दो भङगसमुच्चयार्थः, ते चामी भङ्गाः-एको द्रहो-जलशयः परिगलवेताः पर्यागलतोताश्च, सीतासीतोदाप्रवाहह्दवत्, अपरस्तु परिगलतोताः नो पर्यागलतोताः, पद्बहदवत्, तथा परो नो परिगलवेताः पर्यागलवेताश्च, लवणोदधिवत्, अपरस्तु नो परिगलवेता नो पर्यागलवेताश्च, मनुष्यलोकाद्बहिः समुद्रवत् । तत्राचार्यः श्रुतमङ्गीकृत्य प्रथमभङ्गपतितः, श्रुतस्य दानग्रहणद्भावात्, साम्परायिककम्पपिक्षया तु द्वितीयभङ्गपतितः, कषायोदयाभावेन ग्रहणाभावात्तपःकायोत्सर्गादिना क्षपणोपपत्तेश्चेति, आलोचनामङ्गीकृत्य तृतीयभङ्गपतितः, आलोचनाया अप्रतिश्चावित्वात्, कुमार्गं प्रतिचतुर्थमङ्गपतितः, कुमार्गस्य हि प्रवेशनिर्गमाभावात्, यदिवा धर्भिभेदेन भङ्गा योज्यन्ते–

तत्र स्थविरकल्पिकाचार्याः प्रथमभङ्गपतिताः, द्वितीयभङ्गपतितस्तीर्थकृत्, तृतीय-भङ्गस्थत्त्वहालन्दिकः, स च क्वचिदर्धापरिसमाप्तावाचायदित्रिर्णयसद्मावात्, प्रत्येकबुद्धा-स्तूभयाभावाञ्च- तुर्यभङ्गस्था इति, इह पुनः प्रथमभङ्गपतितेनोभयसद्माविनाऽधिकारः, तथाभूतस्यैवायं इददष्टान्तः, स च इदो निर्म्मलजलस्य 'प्रतिपूर्णो' जलजैः सर्वर्त्तुजैरुपशोभितः समे भूभागे विद्यमा- नोदकनिर्गमप्रवेशो नित्यमेव तिष्ठति, न कदाचिच्छोषमुपयाति, सुखोत्तारावतारसमन्वितः, उपशान्तम्-उपगतं रजः कालुष्यापादकं यस्य स तथा, नानाविधांश्च यादसां गणान् संरक्षन् सह वायादोगणैरात्मानमारक्षन् – प्रतिपालयन् सारक्षन् तिष्ठतीत्येषाक्रिया प्रकृत्तैव ।

यथा चासौ इदस्तथाऽऽचार्योऽपीति दर्शयति– 'सः' आचार्यः प्रथमभङ्गपतितः पञ्चविधाचारसमन्वितोऽष्टविद्याचार्यसम्पदुपेतः तद्यथा–

II १ II "आयार सुअ सरीरें वयणे वायण मई पओगमई I एए सुसंपया खलु अठ्ठमिआ सङ्ग्रहपरित्रा " षट्रिंत्रशद्गुणगणाधारो इदकल्पो निर्म्सलज्ञानप्रतिपूर्णः समेभूभागइति संसक्तादिदोषरहिते सुखविहारे क्षेत्रे समो वा ज्ञानदर्शनचारित्राख्यो मोक्षमार्गः उपशमवतां तत्र तिष्ठति–समध्यास्ते, किंभूतः ? – 'उपशान्तरजा' उपशान्तमोहनीय इति, किं कुर्वन् ? -जीवनिकायान् रक्षन् स्वतः परतश्च सदुपदेशदानतो नरकादिपाताढेति, 'म्रोतोमध्यगत' इत्यनेन प्रथमभङ्गपतितं स्थविराचार्यमाह, तस्य हि श्रुतार्थदानग्रहणसद्भावात् म्रोतोमध्यगतत्वम्, स च किम्भूतः स्यादित्याह–'सः' आचार्योऽक्षोभ्यइदकल्पः 'सर्वतः' सर्वप्रकारतयेन्द्रियनोइन्द्रियरूपया गुल्या गुप्त इत्येतत्पश्य आचार्य्यविर्त्रेणान्येऽप्येवम्भूता बहवः साघवः सम्भवन्तीत्येतन्निर्दिदिक्षुराइइह मनुष्यलोके पूर्वव्यावर्णितस्वरूपाः 'महर्षयो' महामुनयः सन्ति, इत्येतत्पश्च, किम्भूतास्ते महर्षय इत्यत आह–न केवलमाचार्या इदकल्पा ये चान्ये साधवस्तेऽपि इदकल्पाः किम्भूताः ? –

प्रकर्षेण ज्ञायतेऽनेनेति प्रज्ञानं-स्वपरावभासकत्वादागमस्तद्वन्तः प्रज्ञावन्तः, आगमस्य वेत्तार इत्यर्थः, तज्ज्ञा अपि मोहोदयात् क्वचिद्धेतूदाहरणासम्भवे ज्ञेयगहनतया संशयानाः न सम्यक् श्रद्धानं विदध्युरित्यतो विशिनष्टि-'प्रबुद्धोः' प्रकर्षेण यथैव तीर्थकृदाह तथैवावगततत्त्वाः प्रबुद्धाः, तथाभूता अपि कर्म्मगुरुत्वान्न सावद्यानुष्ठानविरतिं कुर्युरित्यतो विशेषयति-'आरम्भोपरताः' आरम्भः-सावद्यो योगस्तस्मादुपरता आरम्भोपरताः, एतद्य न मदुपरोधेन ग्राह्मम् अपि तु स्वत एव कुशाग्रीयया बुद्धया विचार्यमित्याह-एतद्यन्मया प्रोक्तं तत्सम्यग् मध्यस्था भूत्वा समर्यादं यूयमपि पश्यत । अपि चैतत्पश्यत—

े कालः' समाधिमरणकालस्तदभिकाङ्खया साधवो मोक्षाध्वनि संयमे परिः-समन्ताद्रजन्ति परिव्रजन्ति-उद्यच्छन्ति, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीत्येतत्प्रकरणोद्देशकाध्ययनश्रुतस्कन्धा-ङ्गपरिसमाप्तौ प्रयुज्यते, तदिहाधिकारपरिसमाप्तौ द्रष्टव्यमिति ॥

आचार्याधिकारं परिसमापय्य विनेयवक्तव्यतामाह—

मू. (१७४) वितिगिच्छसमावन्नेणं अप्पाणेणं नो लहइ समाहिं, सिया वेगे अनुगच्छंति असिता वेगे अनुगच्छंति, अनुगच्छमाणेहिं अन्नुगच्छमाणे कहं न निच्चिन्ने ?

**वृ.** विचिकित्सा या चित्ताविष्तुतिः यथा इदमप्यस्तीत्वेवमाकारा युक्तया समुपपन्नेऽपर्ये मतिविभ्रमो मोहोदयाद्मवति, तथाहि--अस्य महतस्तपःक्लेशस्य सिकताकणकवलनिःस्वादस्य स्यात् सफलता न वेति ? कृषीबलादिक्रियाया उमयथाऽप्युपलब्धेरिति, इयं च मतिर्मिथ्या-त्वांशानुवेधाद्भवति ज्ञेयगहनत्वाद्य, तथाहि-अर्थस्त्रिविध;-मुखाधिगमो दुरधिगमोऽनधिगमश्च श्रोतारं प्रति भिद्यते, तत्र सुखाधिगमो यथा चक्षुष्मतश्चित्रकर्म्मनिपुणस्य रूपसिद्धिः दुरधिगमस्त्वनिपुणस्य अनधिगमत्त्वन्धस्य, तत्रानधिगमरूपोऽवस्त्वेव, सुखाधिगमस्तु विचिकित्साया विषयएव न भवति, देशकालस्वमावविप्रकृष्टस्तु विचिकित्सागोचरीभवति, तस्मिन् धर्म्माधर्म्माकाशादौ या विचिकित्सेति, यदिवा 'विइगिच्छ'ति विद्वज्जुगुप्सा, विद्वांसः-साधवो विदितसंसारस्वभावाः परित्यक्तसमस्तङ्गास्तेषां जुगुप्सा-निन्दा अस्नानात् प्रस्वेदजलक्लिन्न मलत्वाहुर्गन्धिवपुषस्तान्निन्दति–

-को दोषः स्याद्यदि प्रासुकेन वारिणाऽङ्गक्षालनं कुर्वीरन्नित्यादि जुगुप्सा तां विचिकित्सां विद्वज्जुगुप्सां वा सम्यगापन्नः-प्राप्तः आत्मा यस्य स तथा तेन विचिकित्सासमापन्ननात्मना नोपलभते 'समाधिं' चित्तस्वास्थ्यं ज्ञानदर्शनचारित्रात्मको वा समाधिस्तं न लभते, विचिकित्साकलुषिन्ता-'तःकरणे हि कथयतोऽप्याचार्यस्य सम्यकत्वाख्यां बोधिं नावाप्नोति । यश्चावाप्नोति स गृहस्थो वास्याद्यतिर्वेतिदर्शयितुमाह-'सिताः' पुत्रकलत्रादिभिरवबद्धाः, वाशब्द उत्तरापेक्षया पक्षान्तरमाह, 'एके' लघुकर्म्माणः सम्यकत्वं प्रतिपादनयन्तमाचार्यमनुगच्छन्ति-आचार्योक्तं प्रतिपद्यन्ते, तथा 'असिता वा' गृहवासविमुक्ता वा 'एके' विचिकित्सादिरहिता आचार्यमार्गमनुगच्छन्ति । तेषां च मध्ये यदि कश्चित् कङ्कटुकदेश्यः स्यात् स तान् प्रभूताननपाचीनमार्गप्रतिपन्नानवलोक्यासावपि कर्म्मविवरतः प्रतिपद्येतापीति दर्शयितुमाह-आचार्योक्तं सम्यकत्वमनुगच्छद्भिर्विरताविरतैः सह संवसंत्तैर्वा चोद्यमानोऽननुगच्छन्-अप्रतिपद्यमानः कथं न निर्वेदं यच्छेद् ? –

--असदनुष्ठानस्य, मिथ्यात्वादिरूपां विचिकित्सां परित्यञ्याचार्योक्तं सम्यकत्वमेव प्रतिपद्येतेत्यर्थः, यदिवा सितासितैराचार्योक्तमनुगच्छद्मिः--अवगच्छद्मिःर्बुध्यमानैः सद्भिः कश्चि-दज्ञानोदयान्मतिजाड्यतया क्षपकादिश्चिरप्रव्रजितोऽप्यननुगच्छन्--अनवधारयन् कयं ननिर्विद्येत ? न निर्वेदं तपः संयमयोर्गच्छेत्, निर्विण्णश्चेदमपि मावयेत्, यथा--नाहं भव्यः स्यां नचमे संयतभावोऽप्यस्तीति, यतः स्फुटविकटमपि कथितं नावगच्छामि, एवं च निर्विण्णस्याचार्याः समाधिमाहुः--यथा-मोः साधो ! मा विषादमवलम्बिष्ठाः, भव्यो भवान्, यतो भवता सम्यकत्व-मभ्युपगतं, तद्य न ग्रन्थिभेदमृते, तद्मेदश्च न भव्यत्वमृते, अभव्यस्य हि भव्याभव्यशङ्काया अमावादिति मावः ॥

किं चायं विरतिपरिणामो द्वादशकषायक्षयोपशमाद्यन्यतमसद्मावे सति भवति,स च भवताऽवाप्ताः, तदेवं दर्शनचारित्रमोहनीये भवतः क्षयोपशमं समागते, दर्शनचारित्रान्यथानुपपत्तेः, यखुनः कथ्यमानेऽपि समस्तपदार्थावगतिर्न भवति तज्ज्ञानावरणीयविजृम्भितं, तत्र च श्रद्धानरूपं सम्यकत्वामालम्बनमित्याह--

### मू. (९७५) तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं।

वृ. यत्र क्वचित्त्वसमयपरसमयज्ञाचार्यामावात् सूक्ष्मव्यवहितातीन्द्रियपदार्थेषूभय-सिद्धद्दष्टा- तसम्यग्हेत्वमावाच्च ज्ञानावरणीयोदयेन सम्यग्ज्ञानामावेऽपि शङ्काविचिकित्सादिरहित इदं मावयेत्, यथा-तदेवैकं सत्यम्-अवितथं, 'निःशङ्क'मिति अर्हदुक्तेष्वत्यन्तसूक्ष्मेष्वतीन्द्रियेषु केवलागमग्राह्येष्वर्थेष्वेवं स्यात् एवं वा इत्येवमाकारा संशीतिः शङ्का निर्गता शङ्का यस्मिन् प्रवेदने तज्ञिःशङ्क, यत्किमपि धर्म्माधर्म्माकाशपुद्गलादि प्रवेदितं, कैः ? - 'जिनैः' तीर्थकरै रागद्वेषजयन-शीलैः, तत्तथ्यमेवेत्येवम्भूतं श्रद्धानं विधेयं सम्यक्पदार्थानवगमेऽपि, न पुनर्विचिकित्सा कार्येति किंयतेरपि विचिकित्सास्याधेनेदमभिधीयते?, संसारान्तर्वर्त्तिनो मोहोदयात्तकत्किं? यन्न स्यादिति, तथा चागमः-

''अत्थि णं भंते ! समणावि निग्गंथा कंखामोहणिज्ञं कम्मं वेदेति ?, हंता अत्थि, कहन्नं समणावि निग्गंथा कंखामोहणिज्ञं कम्मं वेयंति ?, गोअमा ! तेसु तेसु नाणन्तरेसु चरित्तंतरेसु संकिया कंखिया विइगिच्छासमावन्ना मेयसमावन्ना कलुससमावन्ना, एवं खलु गोयमा ! समणावि निग्गंथा कंखामोहणिज्ञं कम्मं वेदंति, तत्थालंबणं 'तमेव सच्चं नीसंकं जं जिणेहिं पवेइयं,' सनूनं मंते ! एवं मणं धारेमाणे आणाए आराहए भवति ?, हंता गोअमा ! एवं मणं धारेमाणे आणाए आराहए भवति'' किं चान्यत् ?

''वीतरागा हि सर्वज्ञा, मिथ्या न ब्रुवते क्वचित् । यस्मात्तस्माद्वचस्तेषां, तथ्यं भूतार्थदर्शनम् ''

इत्यादि ।। सा पुनर्विचिकित्सा प्रविद्रजिषोर्भवत्या गमापरिकर्म्भितमतेः, तत्राप्येतसूर्वोक्तं भावयितव्यमित्याह--

मू. (१७६) सङ्किस णं समणुन्नस्स संपच्चयमाणस्स समिर्याते मन्नमाणस्स एगया समिया होइ १, समियंति मन्नमाणस्स एगया असमिया होइ २, असमियंति मन्नमाणस्स एगया समिया होइ ३, असमियंति मन्नमाणस्स एगया असमिया होइ ४, समियंति मन्नमाणस्स समिया वा असमिया वा समिआ होइ उवेहाए ५—

असमियंति मन्नमाणस्स समिया चा असमिया चा असमिया होइ उवेहाए ६, उवेहमाणो अनुवेहमाणं बूया-उवेहाहि समियाए, इद्येवं तत्य संधी झोसिओ भवइ, से उट्टियस्स ठियस्स गइं समणुपासह, इत्यवि बालभावे अप्पाणं नो उवदंसिजा

ष्ट्र. श्रद्धा-धर्म्मेच्छा सा विद्यते यस्यासौ श्रद्धावांस्तस्य 'समनुज्ञस्य' संविग्नविहारिभि-भावितस्य संविग्नादिभिर्वागुणैः प्रव्रज्यार्हस्य 'संप्रव्रजतः' सम्यक्प्रव्रज्यामभ्युपगच्छतो विचिकित्सा-शङ्का भवेत् तत्रैतस्य सम्यग्जीवादिपदार्थावधारणाशक्तस्येदमुपदेष्टव्यम्, यथा-तदेव सत्यं निः शङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितमिति, तदेवं प्रव्रज्यावसरे तदेव निः शङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितमित्येवं यथोपदेशं प्रवर्त्तमानस्य प्रवर्द्धमानकण्डकस्य सत उत्तरकालमपि तदधिकता तत्समता तन्न्यूनता तदमावो वा स्यादित्येवंरूपां विध्नित्रपरिणामतां दर्शयितुमाह-तस्य श्रद्धावतः समनुज्ञस्य संप्रव्रजतस्तदेव निः शङ्कं यज्जिनैः प्रवेदितमित्येतत्सम्यगित्येवं मन्यमानस्य 'एकदा' इत्युत्तरकालमपि शङ्काकाङ्कविचिकित्सादिरहिततया सम्यगेव भवति-न तीर्थकरमाषिते शङ्काद्युत्पद्यत इति ?

-कस्यचित्तु प्रव्रज्यावसरे श्रद्धानुसारितया सम्यगिति मन्यमानस्य तदुत्तरकालमधीता-न्वीक्षिकीकस्य दुर्गृहीतहेतुध्र्ष्टान्तलेशस्य ज्ञेयगहनताव्याकुलितमतेः 'एकदे'ति मिथ्यात्वांशो-दयेऽसम्यगिति भवति, तथाहि-असौ सर्वनयसमूहाभिप्रायतया अनन्तधर्म्माध्यासितवस्तुप्रसाधने सति मोहादेकनयाभिप्रायेणैकांशसाधनायप्रक्रमते, यदि नित्यंकथमनित्यमनित्यं चेत्कयं नित्यमिति, परस्परिहारलक्षणतयाऽनयोरवस्यानात्, तथाहि-अप्रच्युतानुरान्नस्थिरैकस्वभावं हि नित्यम् अतोऽन्यत्यतिक्षणविशरारुरूपमनित्यमित्येव- मादिकमसम्यग्भावमुपयाति, न पुनर्विवेचयति, यथा अनन्तधर्म्माध्यासितं वस्तु सर्वनयसमूहात्मकं च दर्शनमतिगहनं मन्दधियां श्रद्धागम्यमेव न हेतुक्षोभ्यमिति, उक्तं च-

II 9 II "सर्वेर्नयैर्नियतनैगमसङग्रहाधैरेकैकशो विहिततीर्थिकशासनैर्यत् ।

निष्ठां गतं बहुविधैर्गमपर्यंयैस्तेः, श्रद्धेयमेव वचनं न तु हेतुगम्यम् "

इत्यादि, यतो हेतुः प्रवर्त्तमानः एकनयाभिप्रायेण प्रवर्त्त, एकं च धर्म साधयेत्, सर्वधर्म्मप्रसाधकस्य हेतोरसम्भवादिति २। पुनरपि विचित्रभावनामाह-कस्यचित् मिथ्यात्वलेशानु-विद्धस्य कयं पौद्गलिकः शब्द इत्यादिकमसम्यगिति मन्यामानस्य 'एकदे'ति मिथ्यात्वपरमाणूपश-मतया शङ्काविचिकित्साद्यमावे गुर्वाद्युपदेशतः सम्यगिति भवति, यदि हि पौद्रगलिकः शब्दो न

11911

स्यात् ततस्तत्कृतावनुग्रहोपघातौ श्रवणेन्द्रियस्य न स्याताम्, अमूर्त्तत्वादाकाशवदित्यादिकं सम्यग् भवति ३ । कस्यचित्त्वागमापरिमिलितमतेः कथमेकेनैव समयेन परमाणोर्लोकान्तगमनमित्यादिक-मसम्यगिति मन्यमानस्यैकदेति-कुहेतुवितर्काविर्मावावसरे नितरामसम्यगेव भवति,

तथाहि-चतुर्दशरञ्चात्मकस्य लोकस्याद्यन्ताकाशप्रदेशयोः समयाभेदतया यौगपद्य-संसर्शात् तावन्मात्रता परमाणोः स्यात्, प्रदेशयर्लोकान्तद्वयगतयोर्वेक्यमित्यादिकमसम्पगिति भवति, न त्वसौ स्वाग्रहाविष्ट एतद्भावयति, यथा-विस्रसापरिणामने शीघ्रगतित्वात् परमाणोरेकसमयेनासङ्कयेय-प्रदेशातिक्रमणं, यथाहिअङ्गुलिद्रव्यमेकसमयेनासङ्कयेयान-याकाश-प्रदेशानतिलङ्बयति, एतदेव कुत इति चेत्, न हि दृष्टेऽनुपपन्नं नाम, न च सकलप्रमाणप्रष्ठप्रत्य-क्षसिद्धेऽर्थनुमानमन्वेष्टव्यं, तथाहि-यद्यनेकप्रदेशातिक्रमणं सामयिकं न भवेत् ततोऽङ्गुलमात्रमपि क्षेत्रयेत्रमसङ्कयेयसमयातिक्रमणीयं स्यात्, तथा च सति दृष्टेष्टबाधाऽऽपद्येतेति यत्निश्चिदेतत् ४ । साम्रतं भङ्गकोपसंहारद्वारेण परमार्थमाविर्भावयन्नाह-सम्यगित्येवं मन्यमानस्य शङ्काविचिकित्सा-दिरहितस्य सतस्तद्वस्तु यत्नेन तथारूपतयैव भावितं तत्सम्यग्वा स्यादसम्यग्वा, तथापि तस्य तत्र सम्यगुद्धेक्षया-पर्यालोचनया सम्यगेव भवति, ईर्यापथोपयुक्तस्य क्वचिठाण्युपमर्दवत् ५ ।

-साम्प्रतमेतदिपर्ययमाह-असम्यगिति किश्चिद्वस्तु मन्यमानस्य शङ्का स्यादर्वाग्दर्शितया छद्मस्यस्य सतस्तद्वस्तु सम्यग्वा स्यादसम्यग्वा, तस्य तदसम्यगेवोद्धेक्षया, असम्यग्पर्यालोचनतयाऽ-शुद्धाध्यवसायतयेतियावत्, 'यद्यथा शङ्कवेत्तत्त्यैव समापद्येते'ति वचनादिति ६ ॥ यदिवा -''समियंति मन्नमाणस्स'' इत्याद्यन्यथा व्याख्यायते–शमिनो भावः शमिताः 'इतिः' उपप्रदर्शने तामेतां शमितां मन्यमानस्य शुभाध्यवसायिनः 'एकदे'त्युत्तरकालमपि शमितैव भवति-उपशम-वत्तैवोपजायते, अन्यस्य तु शमितामपि मन्यमानस्य कषायोदयादशमितोपजायत इति, अनया दिशोत्तरभङ्गेष्वपि सम्यगुपयुज्यायोज्यमिति । तदेवं सम्यगसम्यगित्येवं पर्यालोचयन्न-परस्याप्युपदेशदानायालमिति, आह च-आगमपरिकर्म्तितमतित्वाद्यथावस्थित- पदार्थस्वभाव-दर्शितया सम्यगसम्यगिति चोद्येक्षमाणः-पर्यालोचयन्नपरमनुद्येक्षमाणं गडुरिकायूथप्रवाहप्रवृत्तं गतानुगतिकन्यायानुसारिणं शङ्कयावाऽपधावन्तं बूयाद्, यथा-'उद्येक्षस्व'पर्यालोचय सम्यग्भावेन माध्यस्थमवलम्ब्य किमेतदर्हदुक्तंजीवादितत्त्वं घटामियतत्पाहोश्चित्रेत्यक्षिणी निमील्प चिन्तयेति भावः ।

--यदिवा उत्प्रेक्षमाणः संयममुत्-प्राबल्येनेक्षमाणः- संयमे उद्यच्छन्ननुद्रोक्षमाणं ब्रूयात्, यथा-सम्यग्भावापन्नः सन् संयममुद्धेक्षस्व-संयमे उद्योगं कुरु। किमवलम्ब्येत्हा-'इत्येवं' पूर्वोक्तेन प्रकारेण 'तन्न' तस्मिन् संयमे 'सन्धिः' कर्म्मसन्ततिरूप 'झोषितः' क्षपितो भवति, यदि संयमे सम्यग्भावे वोद्येक्षणं स्यात्, नान्यथेति । सम्यगुद्धेक्षमाणस्य च यत्स्यात्तदाह-'से' तस्य सम्य-गुत्यानेनोत्थितस्य निःशङ्कस्य श्रद्धावतः स्थितस्य गुरुकुले गुरोराज्ञायां वा या गतिर्भवति-या पदवी भवति तां सम्यगनुपश्चत यूयं, तद्यथा-सकललोकश्लाध्यता ज्ञानदर्शनस्थैर्यं चारित्रे निष्प्रकम्पता श्रुतज्ञानाधारता च स्यादिति, यदिवा स्वर्गापवर्गादिका गतिः स्यात्, तां पश्यतेति सम्बन्धः, अथवा उत्थितस्य-संयमोद्योगवतः तदभावेन च स्थितस्य पार्श्वस्थादेर्गतिं-सकल-जनोपहास्य-रूपामधमस्थागतिं वा पश्यतेति । तदेवमुद्युक्तेतरयोर्गतिमुपलभ्य पश्चविद्याचारसारे प्रक्रमितव्यं, यदि नामानुपस्थितस्य विरूपा गतिर्भवति ततः किमित्याह--'अत्रापि'असंयमे बालमावरूपे इतरजनाचरिते आत्मानं सकलकल्याणास्पदं नोपदर्शयेत्, बालानुष्ठानविधायी मा भूदिति यावत्, तथाहि-बालाः शाक्यकापिलादयस्तद्भावितो बालभावमाचरति, वक्तिच-नित्यत्वादयमूर्त्तत्वाच्चात्मनः प्राणातिपात एव नास्त्याकाशस्येव, न हि वृक्षादिच्छेदेदाहे वाऽऽकाशस्य भिदा प्लोषो वा स्यात्, एवमात्मनोऽपि शरीरविकारेऽविकारित्वम्, उक्तं च-

(19)
 ('न जायते न म्रियते कदाचिन्नायं मूत्वा भवितेति ।)
 नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि, नैनं दहति पावकः ।
 न चैनं क्लेदयन्त्यापो, न शोषयति मारुतः
 (12)
 (12)
 (13)

२॥ अच्छद्याऽयमभद्याऽयमावकारा स उच्चत (

नित्यः सततगः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः "

इत्यादि अध्यवसायात्तद्धननादौ प्रवृत्तस्य तत्प्रतिषेधार्थमाह–

मू. (१७७) तुर्मसि नाम सद्येव जं हंतव्वंति मन्नसि, तुर्मसि नाम सद्येव जं अज्ञावेयव्वंति मन्नसि, तुर्मसि नाम सद्येव जं परियावेयव्वंति मन्नसि, एवं जं परिधित्तव्वंति मन्नसि, जं उद्दवेयंति मन्नसि, अंजू चेयपडिबुद्धजीवी, तम्हा न हंता नवि धायए, अनुसंवेयणमप्पाणेणं जं हंतव्वं नाभिपत्थए

ष्ट्र, योऽयं हन्तव्यत्वेन भवताऽध्यवसितः सत्वमेव, नामशब्दः सम्भावनायां, यथा भवान् शिरःपाणिपादपार्श्वपृष्ठोरूदरवान् एवमसावपि यं इन्तव्यमिति मन्यसे, यथा य भवतो हननोद्यतं दृट्वावा दुःखमुत्पद्यते एवमन्वेषामपि, तद्दुःखापादनाच्च किल्बिषानुषङ्गः, इदमुक्तं भवति-नात्रान्तरात्पनः आकाशदेशस्य व्यापादनेन हिंसा, अपितु शरीरात्मनः, तस्य हियत्र क्वचित्स्वाधारं शरीरं नितरां दयितं तद्वियोजीकरणमेव हिंसेति, उक्तं च –

(19) "पश्चेन्द्रियापि त्रिविधं वलं च, उच्छ्वासनिः श्वासमयान्यदायुः । प्राणा दशैते भगवद्भिरुक्तास्तेषां वियोजीकरणं तु हिंसा ।।''

न च संसारस्थस्य सर्वथा अमूर्त्तत्वावाप्तिः, येनाकाशस्येव विकारो न स्यात्, सर्वत्रैव च प्राण्युपमर्दचिकीर्षितायामात्मतुल्यता भावयितव्येत्येतदुत्तरसुत्रैर्दर्शयितुमाह-त्वमपि नाम स एव यं प्रेषणादिना आज्ञापयितव्यमिति मन्यसे, तथा त्वमपि नाम स एव यं परितापयितव्यमिति मन्यसे, एवं यं परिगृहीतव्यमिति मन्यसे, यमपद्रावयितव्यमिति मन्यसेक्रमौत्वमेव, यथा भवतोऽ-निष्टापादनेन दुःखमुत्पद्यते एवमस्यापीत्यर्थः, यदिवा यं कायं हन्तव्यादितयाऽध्यवस्यसिस्वानेकशो भवतोऽपि भावात्त्वमेवासौ, एवं मृषावादादावप्यायोज्यम् । यदि नाम हन्तव्यघातक-योरुक्तक्रमेणैक्यं ततः किमित्याह - 'अञ्जु'रिति ऋजुः प्रगुणः साधुरितियावत्, चशब्दोऽवधारणे, एतस्य-हन्तव्यघातकैकत्वस्य प्रतिबोधः प्रतिबुद्धमेतद्यतिबुद्धं तेन जीवितुं शीलमस्येत्येस्रति-बुद्धजीवी साधुरेव तत्परिज्ञानेन जीवति नापर इत्युक्तं भवति । यदि नामैवं ततः किमित्याह – – 'तस्माद्' हन्यमानस्यात्मन इव महद्दुःखमुत्पद्यते तस्मादात्मौपम्यादन्येषां जन्तूनां न

हन्ता स्यात् नाप्यपरैर्घातयेत् न च घ्नतोऽनुमन्येत्, किं च--संवेदनम्-अनुभवनं अनु--पश्चात्संवेदनं केन ? --आत्मना, यत्परेषा मोहोदयाद्धननादिना दुःखोत्पादनं विधीयते तत्पश्चादात्मना संवेद्यमित्याकलय्य थत्किमपि हन्तव्यमिति चिकीर्षितं तन्नभिप्रार्थयेत्–नाभिलषेत् । ननु चात्पनाऽनुसंवेदनमित्युक्तं, संवेदनं च सातासातरूपं, तद्य यथा नैयायिकवैशेषिकाणमात्मनो भिन्नेन गुणभूतेनैकार्थसमवायिना ज्ञानेन भवति तथा भवतामप्याहोस्विदभिन्नेनात्मन इत्यस्य प्रतिवचनमाह –

मू. (१७८) जे आया से विन्नाया जे विन्नाया से आया जेण वियाणइ से आया तं पडुच पडिसंखाए, एस आयावाई समियाए परियाए वियाहिए –तिबेमि ।।

ृष्ट. य आत्मा नित्य उपयोगलक्षणः विज्ञाताऽप्यसावेव, न तु पुनस्तस्मादात्मनो भिन्नं ज्ञानं पदार्थसंवेदकं, यश्च विज्ञाता-पदार्थानां परिच्छेदक उपयोगः आत्माऽप्यसावेव, उपयोग-लक्षणत्वाञ्जीवस्य उपयोगस्य च ज्ञानत्मकत्वादिति।ज्ञानात्मनोरभेदाभिधानाद्वौद्धाभिमतं ज्ञानमेवैकं स्यादिति चेत्, तन्न, भेदाभावोऽन्न केवलं चिकीर्षित नैक्यं, एतदेवैक्यं यो भेदाभाव इति चेद्, वार्त्तमेतत् तथाहि-पटशुक्लत्वयोर्भेदेनावस्थानाभावेऽपि नैकत्वापत्तिः, अत्रापि शुक्लत्वव्यतिरेकेण नापरः पटः कश्चिदप्यस्तीति चेद्, अशिक्षितस्योल्लापो, यताः शुक्लगुणविनाशे सर्वथा पटाभावापरि स्यात्, तदात्मना विनष्ट एवेति चेत्, भवतु का नो हानिः ?, अनन्तधर्मात्मकत्वादस्तुनोऽ-परमृद्वादिधर्म्मसद्भावे तद्धर्मविनाशेऽप्यविनष्ट एव, इत्येवमात्मनोऽपि प्रत्युत्पन्नज्ञानात्मनकतया विनाशेऽप्यपरामूर्त्तत्वासङ्वयेयप्रदेशताऽगुरुल-ध्वादिधर्म्मसद्भावादविनास एवत्यलं प्रसङ्गेन । ननु च य आत्मा स विज्ञातेत्यन्न तृजन्तेन कर्तुरभिधानादात्मनश्च कतृत्वात्ततश्च य एवात्मा स एव विज्ञातेत्यत्र विप्रतिपत्त्वभावो, येन चासौ जानाति तद्भिन्नमपि स्यात्,

'तथाहि-तत्करणं क्रिया वा भवेद् ?, यदि करणं तद्दात्रादिवद्भिन्नं स्यात्, अद्य क्रिया सा यथा कर्तृस्था सम्भवत्येवं कर्म्मस्थाऽपीत्येवं मेदसम्भवे कुत एक्यमिति यश्चोदयेत्तं प्रति स्पष्टतरमाह-'येन' मत्यादिना ज्ञानेन करणभूतेन क्रियारूपेण वाविविधं-सामान्यविशेषाकारतया वस्तुजानाति विजानाति आत्मा, न तस्मादात्मनो भिन्नं ज्ञानं, तथाहि-न करणतया भेदः, एकस्यापि कर्तृकर्म्मकरणभेदेनोपलब्धेः, तद्यथा-देवदत्त आत्मानमात्मना परिच्छिनत्ति, क्रियाक्षवे पाक्षिको ह्यभेदो भवताऽप्यभ्युपगत एव, अपि च - 'भूतिर्येषां क्रिया सैव, कारकं सैव चोच्यत' इत्यादिनैक-त्वमेवेति । ज्ञानात्मनोश्चैकत्वे यद्भवति तद्दर्शयितुमाह - 'तं' ज्ञानपरिणामं 'प्रतीत्य' आश्रित्यात्मा तेनैव 'प्रतिसङ्ख्यायते' व्यपदिश्यते,

तद्यथा-इन्द्रोपयुक्त इन्द्र इत्यादि, यदिवा मतिज्ञानी श्रुतज्ञानी यावत्केवलज्ञानीति, यश्च ज्ञानात्मनोरेकत्वमभ्युपगच्छति स किंगुणः स्यादित्याह - 'एषः' अनन्तरोक्तया नीत्या यथावस्थितात्मवादी स्यात्, तस्यच सम्यग्भावेन शमितया वा 'पर्यायः' संयमानुष्ठानरूपो व्याख्यातः इत्यधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ।।

अध्ययनं-५ - उद्देशकः-५ - समाप्तः

# -: अध्ययनं-५ - उद्देशकः-६ :-

ष्ट्र. उक्तः पञ्चमोद्देशकः साम्प्रतं षष्ठ आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्ध-इहानन्तरोद्देशके इदोपमेनाचार्येण माव्यमित्येतदुक्तं, तथाभूताचार्यसंपक्कचिकुमार्गपरित्यागो रागद्वेषहानिश्चाव-श्यंभाविनीत्यतस्तद्यतिपादनसम्बन्धेनागतस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम् – मू. (१७९) अणाणाए एगे सोवडाणा आणाए एगे निरुवडाणा एयं ते मा होउ, एयं कुसलस्स दंसणं, तदिडीए तम्मुत्तीए तप्पुरकारे तस्सत्री तत्रिवेसणे।

**षृ. इह** तीर्थकरगणधरादिनोपदेशगोचरीभूतो विनेयोऽभिधीयते, यदिवा सर्वभाव-सम्भवित्वाद्भावस्य सामान्यतोऽभिधानम्, अनाज्ञा-अनुपदेशः स्वमनीषिकाचरितोऽ नाचारस्त-याऽनाज्ञयातस्यां वा 'एके' इन्द्रियवशगा दुर्गतिंजिगमिषवः स्वाभिमानग्रहग्रस्ताः सह उपस्थानेन-धर्म्यचरणाभासोद्यमेन वर्त्तन्त इति सोपस्यानाः, किल वयमपि प्रव्रजिताः सदसद्धर्मविशेषविवेक-विकलाः सावद्यारम्भतया प्रवर्त्तन्ते, एके तु न कुमार्गवासितान्तःकरणाः, किन्तु आलस्यावर्णस्त-म्पाद्युपबृंहितबुद्धयः, 'आज्ञायां' तीर्थकरोपदेशप्रणीते सदाचारे निर्गतमुपस्थानम् - उद्यमो येषां ते निरुपस्थानाः-सर्वज्ञप्रणीतसदाचारानुष्ठानविकलाः । एतत्कुमार्गानुष्ठानं सन्मार्गावसीदनं च द्वयमपि 'ते' तव गुरुविनयोपगतस्य दुर्गतिहेतुत्वान्मा भूदिति । सुधर्म्मस्वामी स्वमनीषिका-परिहारार्थमाह --

'एतद्' यत्पूर्वोक्तं यदिवा अनाज्ञायां निरुपस्थानत्वमाज्ञायां च सोप स्थानत्वमित्येत् 'कुशलस्य' तीर्थकृतो दर्शनमभिप्रायः, यदिवैतद्वस्थमाणंकुशलस्य दर्शनमित्याह-कुमार्गं परित्यज्य सदाऽऽचार्यान्तेवासिना एवंभूतेन भाव्यं, तस्य-आचार्यस्य दृष्टिस्तदृष्टिस्तया वर्त्तितव्यं, सा वा तीर्थकरप्रणीतागमदृष्टिस्तदृष्टिस्तयेति, तथा तस्य-आचार्यस्य तीर्थकृतो वा मुक्तिस्तन्मुक्तिस्तया, तथा तमाचार्यं सर्वकार्येषु पुरः, करोतीति तत्पुरस्कारः-आचार्यातुमृत्या क्रियानुष्ठायीत्यर्थः, तथा तत्संज्ञी-तज्ज्ञानोपयुक्तः, तथा तन्निवेशनः-सदा गुरुकुलनिवासी।।स एवंभूतः किंगुणः स्यादित्याह

मू. (१८०) अभिभूय अद्क्खू अनभिभूए पभू निरालंबणयाए जे महं अबहिमने, पवाएण पवायं जाणिज्ञा, सहसंमइयाए परवागरणेणं अत्रेसिं वा अंतिए सुद्या ।

 मृ. 'अभिभूय' पराजित्य परीषहोपसर्गान् घातिचतुष्ट्यं वा तत्त्वमद्राक्षीत्, किं च-नाभिभूतोऽनभिमूतः अनुकूलप्रतिकूलोपसर्गैः परतीर्थिकैर्वा, स एवम्भूतः 'प्रभुः' समर्थो निरालम्बनतायाः-नात्र संसारेमातापितृकलत्रादिकमालम्बनमस्तीतितीर्थकृद्धचनमन्तरेणनरकादौ पततामित्येवम्भूतभावनायाः समर्थो भवति, कः पुनः परीषहोपसर्गाणां जेता केनचिदनभिभूतो निरालम्बनतायाः प्रभुर्भवति ? इत्येवं पृष्टेतीर्थकृत् सुधर्मस्वाम्यादिको वाऽ ऽचार्योऽन्तेवासिनमाह-यः पुरस्कृतमोक्षो 'महान्' महापुरुषो लघुकर्म्पाममाभिप्रायान्न विद्यतेबहिर्मनो यस्यासावबहिर्म्मनाः, सर्वज्ञोपदेशवर्त्तीति यावत्, कुतः पुनस्तदुपदेशनिश्चय इति चेदाह–प्रकृष्टो वादः प्रवादः-आचार्यपारम्पर्योपदेशः प्रवादस्तेन प्रवादेन प्रवादं-सर्वज्ञोपदेशं 'जानीयात्' परिच्छिन्द्यादिति । यदिवाऽणिमाद्यधिश्वर्यदर्शनादपि न तीर्थकृत्द्यचनाद्धहिर्मनो विधत्ते, तीर्थिकानिन्द्र-जालिककल्पानिति मत्वा तदनुष्ठानं तद्वादांश्च पर्यालोचयति, कथमित्याह--पवाएण पवायं जाणिज्ञा' प्रकृष्टो वादः प्रवादः-सर्वज्ञवाक्यं तेन मौनीन्द्रेण प्रवादेन तीर्थिकप्रवादं 'जानीयात्' परीक्षयेत्, तद्यया–वैशेषिकाः तनुभुवनकरणादिकमीश्वरकर्त्वकमिति प्रतिपन्नाः, तदुक्तम् – ॥१९॥ ''अन्यो जन्तुरनीशः स्यादात्यनः सुखदुःखयोः ।

ईश्वरप्रेरितोगच्छेत्त्वर्गं वा श्वभ्रमेव च ॥"

इत्यादिकं प्रवादमात्मीयप्रवादेन पर्यालोचयेत्, तद्यथा-अभ्रेन्द्रधनुरादीनां विस्नसा-

परिणामलब्धात्मलाभानां तदतिरिक्तेश्वरादिकारणपरिकल्पनायामतिप्रसङ्भः स्यात्, तथा घटपटादीनांदण्डचक्रचीवरसलिलकुलालतुरीवेमशलाकाकुविन्दादिव्यापारानन्तरावाप्तासलाभानां तदनुपलब्धव्यापारेश्वरस्य कारणपरिकल्पनायां रासभादेरपि किं न स्यात् ?, तनुकरणादीना-मप्यवन्ध्यस्वकृतकर्म्पार्पादितंवैचित्र्यं, कर्म्पणोऽनुपलब्धेः कुत एतदिति चेत्, समानः पर्यनुयोगः, अपि च-तुल्ये मातापित्रादिके कारणेऽपत्यवैचित्र्यदर्शनात्तदधिकेन निमित्तेन भाव्यं, तच्चेश्वराभ्युपगमेऽप्यध्ष्टमेवेष्टव्यं, नान्यथासुखदुःखसुभगदुर्भगादि जगद्वैचित्र्यं स्यादिति !तथा साह्वया एवमाहुः

यथा 'सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महांस्ततोऽहङ्कारः, तस्मादेका-दशेन्द्रियाणि पञ्च तन्मात्राणि, तन्मात्रेभ्यः पञ्चभूतानि, बुद्धयध्यवसितमर्थं पुरुषश्चेतयते, स घाकर्ता निर्गुणश्चेति, तथा प्रकृतिः करोति पुरुष उपभुङ्कते ततः कैवल्यावस्थायां हृष्टाऽस्मीति निवर्त्तते' इत्यादिकं युक्तिविकलत्वात्रिरन्तराः सुहृदः प्रत्येष्यन्ति, तथाहि-प्रकृतेरचेतनत्वात् कुत आत्मोपकाराय क्रियाप्रवृत्तिः स्यात्?, कुतो वा ध्टेत्यात्मोपकाराय प्रवृत्तिर्न स्यात्?, अचेतना-यास्तद्विकल्पा- सम्भवात्, नित्यायाश्च प्रवृत्तिनिवृत्त्यभावात्, पुरुषस्याप्यकर्तृत्वे संसारोद्वेग-भोक्षौत्सुक्यभोक्तृ- वाद्यभावः स्यादिति, उक्तं च --

| 11911 |  |
|-------|--|
|       | न मोक्षसुखकाङ्क्षीवा, पुरुषो निष्क्रियात्मकः ॥       |
| ારા   | कः प्रव्रजति साङ्कयानां, निष्क्रिये क्षेत्रभोक्तरि । |

निष्क्रियत्वात्कथं वाऽस्य, क्षेत्रभोक्तुत्वमिष्यते ? ॥"

इति । तथा शौद्धोदनिशिष्यका यत्सत्तत्सर्वं क्षणिकमित्येवं व्यवस्थिताः तत्रोत्तरम्, यदि निरन्वयो विनाशः स्यात् ततः प्रतिनियतः कार्यकारणमाव एव न स्यात्, एकसन्तानान्तर्गतत्वा-त्त्यादिति चेत्, अशिक्षितस्योल्लापः, तथाहि-न सन्तानिव्यतिरेकेण कश्चित्सन्तानोऽस्ति, तथा च सति पूर्वकालक्षणावस्थायित्वमेव कारणत्वम्, एवं च सर्वं सर्वस्य कारणं स्यात्, सर्वस्य पूर्वकालक्षणावस्थायित्वाद्यात्किश्चिदेतदिति, किं च --

| 11911       | ''यज्ञातमात्रमेव प्रध्वस्तं तस्य का क्रिया कुम्भे ?।                       |
|-------------|--|
|             | नोत्पन्नमात्रमग्ने क्षिप्तं सन्तिष्ठते वारि ।।                             |
| ાારા        | कर्त्तरि जातविनष्टे धर्माधर्म्मक्रिया न सम्भवति ।                          |
|             | तदभावे बन्धः को बन्धाभावे च को मोक्षः ? ॥''                                |
| इत्या       | दे । बाईस्पत्यानां तु भूतवादेनात्मपुण्यपापपरलोकाभाववादिनां निर्म्मर्यादतया |
| जनतातिगानां | i न्यक्कारपदव्याधानमनुत्तरमेवोत्तरमिति । अपि च –                           |
| 11911       | "अब्रह्मचर्यरक्तैर्मूढैः परदार्र्षणाभिरतैः ।                               |
|             | मायेन्द्रजालविषवव्यर्त्तिवतमसत्किमप्येतत् ॥'' (तथा) –                      |
| ારા         | ''मिथ्या च द्धिर्मवदुःखधात्री, मिथ्यामतिश्चापि विवेकशून्या।                |
|             | धर्म्माय येषां पुरुषाधमानां, तेषामधर्मी भुवि कीद्दशोन्यः ?॥"               |
| इत्यन       | या दिशा सर्वेऽपि तीर्थिकवादाः सर्वज्ञवादमनुश्रित्य निराकार्या इति स्थितं । |
|             | -  |

तन्निराकरणं च सर्वज्ञप्रवादं निराकार्यं च तीर्थिकप्रवादमेभिस्त्रिभिः प्रकारेर्जानीयादित्याह-मननं मतिः-ज्ञानं ज्ञानावरणीयक्षयक्षयोपशमान्यतरसद्मावानन्तरमेव सहसा--तत्क्षणमेव मत्या प्रातिभबोधावध्यादिज्ञानेन परिच्छिन्दात् सह वा ज्ञानेन ज्ञेयं सच्छोभनया मिय्यात्वकलङ्काङ्करहितया मत्याऽवगच्छेत्, स्वपरावमासकत्वान्मतेरिति, छदाचित्परव्याकरणेनाप्यवगच्छेत् परः-तीर्थकृतस्य तेन वा व्याकरणं-यथावस्थितार्थप्रज्ञापनम् आगमः परव्याकरणं तेन वा जानीयात्, तथाऽप्यन-वगमेऽन्येषामाचार्यादीनां अन्तिके श्रुत्वा यथावस्थितवस्तुसद्भावमवधारयेद् ।।

अवधार्य च किं कुर्यादित्याह –

मू. (१८१) निद्देसं नाइवड्रेजा मेहावी सुपडिलेहिया सव्वओ सव्वप्पणा सम्मं समभिष्णाय, इह आरामो परिव्वए निड्रियडी वीरे आगमेण सथा परक्कमेज्ञासि– त्तिबेमि ।

ष्ट्र. निर्दिश्यत इति निर्देशः-तीर्थकराद्युपदेशस्तं नातिवर्तेत 'मेघावी' मर्यादावानिति । किं कृत्वा निर्देशं नातिवर्तेतित्यत आह-सुष्ठु प्रत्युपेक्ष्य हेयोपदेयतया तीर्थिकवादान् सर्वज्ञवादं च 'सर्वतः' सर्वैः प्रकारैर्द्रव्यक्षेत्रकालभावरूपैः सर्वात्मनासामान्यविशेषात्मकतया पदार्थान् पर्यालोच्य सहसन्पत्यादित्रिकेण परिच्छिद्य सदाऽ ऽचार्यनिर्देशवर्ती तीर्थिकप्रवादनि राकरणं कुर्यात्, किं च कृत्वेत्यत आह-सम्यगेव स्वपरतीर्थिकवादान् 'समभिज्ञाय' बुद्धवा ततो निराकरण कुर्यात् , किं च कृत्वेत्यत आह-सम्यगेव स्वपरतीर्थिकवादान् 'समभिज्ञाय' बुद्धवा ततो निराकरण कुर्यात् । किं च – 'इह' अस्मिन् मनुष्यलोके आरमणमारामो रतिरित्यर्थः, स चारामः परमार्थचिन्तायामा-त्यन्तिकैकान्तिकरतिरूपः संयमः तमासेवनपरिज्ञया परिज्ञाय आलीनो गुप्तश्च 'परिव्रजेत्' संयमानु-ष्ठाने विहरेत्, किंभूत इत्याह-निष्ठितो-मोक्षस्तेनार्थी यदिवा निष्ठितः-परिसमाप्तः अर्थ;-प्रयोजनं यस्य स निष्ठितार्थः 'वीरः' कर्मविदारणसहिष्णुः सन् 'आगमेन' सर्वज्ञप्रणीताचारादिना 'सदा' सर्वकालं 'पराक्रमेयाः' कर्भरिपून् प्रति मोक्षाध्वनि वा गच्छेः । इत्यधिकारपरिसमाप्तौ, द्रवीमीति पूर्ववत् । किमर्थं पुनः पौनःपुन्येनोपदेशदानमित्याह -

मू. (१८२) उड्ड ं सोया अहे सोया, तिरियं सोया वियाहिया । एए सोया विअक्खाया, जेहिं संगंति पासह ।।

ष्ट्र. श्रोतांसि-कर्म्पासवद्वाराणि तानि च प्रतिमवाभ्यासाद्विषयानुबन्धादीनि गृह्यन्ते, तत ऊध्ध्वै श्रोतांसि-वैमानिकाङ्गनाऽभिलाषेच्छा वैमानिकसुखनिदानं वा, अघो भवनपतिसुखा-मिलाषिता, तिर्यग् व्यन्तरमनुष्तिर्यग्विषयेच्छा, यदिवा प्रज्ञापकापेक्षयोध्ध्वै गिरिशिखरप्राग्पा-रनितम्बप्रपातोदकादीनि अघोऽपि श्वप्रनदीकूलगुहालयनादीनि तिर्यगप्यारामसभाऽऽवसथादीनि प्राणिनां विषयोपमोगस्थानानि विविधमाहितानि-प्रयोगविस्नसाभ्यां स्वकर्म्परिणत्या वा जनितानि व्याहितानि ।

एतानि च कर्म्माझवद्वाराणीतिकृत्वा श्रोतांसव स्रोतांसि, एभिश्च त्रिभिः प्रकारैएप्यन्यैश्च पापोपादानहेतुभूतैर्यैः 'सङ्गं' प्राणिनामासर्वित कर्म्मानुषङ्गं वा पश्यत, इतिर्हेतौ, तस्मात्कर्मानुषङ्गात् कारणादेतानि स्रोतांसीत्यतोऽपदिश्यते, आगमेन सदा पराक्र मेथा इति ।। किं च –

मू. (१८३) आवर्ट तु पेहाए इत्य विरामिज वेयवी, विणइतु सोयं निक्खम्म एसमहं अकम्पा जाणइ पासइ पडिलेहाए नावकंखइ इह आगइं गइं परित्राय ।

**मृ**. रागद्वेषकषाविषयावर्त्त कर्म्मबन्धावर्त्त वा तुशब्दः पुनःशब्दार्थे भावावर्त्त पुनरुत्रेक्ष

'अत्र' अस्मिन् भावावर्त्ते विषयरूपे 'वेदविद्' आगमविद् 'विरमेद्' आस्रवद्वारनिराधं विदध्यात्, पाठान्तरं वा ''विवेगं किट्टइ वेदवी'' आस्रवद्वारनिरोधेन तञ्जनितकर्म्भविवेकम्-अभावं 'कीर्त्तयति' प्रतिपादयति वेदविदिति । आस्रवद्वारनिरोधेन च यत्स्यालदाहस्रोतः—आस्रवद्वारं तद्विनेतुम्—अपनेतुं 'निष्क्रम्य' प्रव्रज्य 'एष' इति प्रत्यक्षः प्रस्तुतार्थस्य चावश्यभावित्वादेष इति प्रत्यक्षवाचिना सर्वनाम्नोक्तोयः कश्चिदित्पर्थः 'महान्' महापुरुषः अतिशयिकर्म्भविधायी, एवम्भूतश्च किंविशिधः स्यादिति दर्शयति -

--'अकर्म्मा'नास्य कर्म्मविद्यतइत्यकर्म्मा, कर्म्मशब्देन चात्र धातिकर्म्मविवक्षितं, तदभावाच्च जानाति विशेषतः पश्यति च सामान्यतः, सर्वाश्च लब्धयो विशेषोपयुक्तस्य भवन्तीत्यतः पूर्वं जानाति पश्चाच्च पश्यति, अनेन च क्रमोपयोग आविष्कृतः, स चोत्पन्नदिव्यज्ञानस्त्रैलोक्यलला-मचूडामणिः सुरासुरनरेन्द्रैकपूज्यः संसारार्णवपारवर्त्तीविदितवेद्यः सन् किं कुर्यादित्याह-स हि ज्ञातज्ञेयः सुरासुरनरोपहितां पूजामुपलभ्य कृत्रिमामनित्यामसारां सोपाधिकां च 'प्रत्युपेक्ष्य' प्रयालीच्य हषीकविजयजनितसुखनिःस्पृहत्तया तां नाकाङ्घति-नाभिलषतीति । किं च - 'इह' अस्मिन् मनुष्यलोके व्यवस्थितः सन् उत्पन्नज्ञानः प्राणिनामागतिं गतिं च संसारघ्रमणं तत्कारणं च ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया निराकरोति । तत्निराकरणे च यत्त्यात्तदाह -

मू. (१८४) अग्नेइ जाईमरणस्स वट्टमग्गं विक्खायरए, सब्वे सरा नियट्टंति, तक्का जत्थ न विज्ञइ, मई तत्थ न गाहिया, ओए, अप्पइडाणस्स खेयन्ने, से न दीहे न हस्से न वट्टे न तंसे न चउरंसे न परिमंडले न किण्हे न नीले न लोहिए न हालिद्दे न सुक्किन्ने न सुरभिगंधे न दुरभिगंधे ।

–न तित्ते न कडुए न कसाए न अंबिले न महुरे न कवखडे न मउए न गरुए न लहुए न उण्हे न निद्धे न लुक्खे न काऊ न रुहे न संगे न इत्थी न पुरिसे न अत्रहा परित्रे सत्रे उवमा न विज्ञए, अरूवी सत्ता, अपयस्स पयं नत्थि।

ष्ट्र. 'अत्येति' अतिक्रामति जातिश्च मरणं च जातिमरणं तस्य 'चट्टमग्गं'ति पन्यानं मार्गं उपादानं कर्म्मेतियावत्, तदत्येति-अशेषकर्म्मक्षयंविधत्ते, तत्स्तयाद्य किंगुणः स्यादित्याह-विविधम्-अनेकप्रकारं प्रधानपुरुषार्थतयाऽऽरब्धशास्त्रार्थतया तपःसंयमानुष्ठानार्थत्वेन व्याख्यातो मोक्षः-अशेषकर्म्मक्षयलक्षणो विशिष्टाकाशप्रदेशाख्यो वा तत्र रतो व्याख्यातरतः, आत्यन्तिकैकान्तिका-नाबाधसुखक्षायिकज्ञानदर्शनसंपदुपेतोऽनन्तमपि कालं संतिष्ठते ।

–किम्भूत इति चेत्, न तत्र शब्दानां प्रवृत्तिः, न च सा काचिदवस्थाऽस्ति या शब्दैरभिधीयेत इत्येतव्यतिपादयितुमाह - 'सर्वे' निरवशेषाः 'स्वरा'ध्वनयस्तस्मात्रिवर्त्तन्ते, तद्याच्यवाचकसम्बन्धे न प्रवर्त्तन्ते, तथाहि-शब्दाः प्रवर्त्तमाना रूपरसगन्धस्पर्शानामन्यतमे विशेषे सङ्केतकालगृहीते तत्तुल्ये वा प्रवर्त्तेरन्, न चैतत्तत्र शब्दादीनां प्रवृत्तिनिमित्तमस्ति, अतः शब्दानभिधेया मोक्षावस्थेति । न केवलं शब्दानभिधेया, उत्प्रेक्षणीयाऽपि न सम्भवतीत्याह –

-सम्भवत्पदार्थविशेषास्तित्वाध्यवसायऊहस्तर्कः-एवमेवं चैतत्स्यात्, सच यत्र न विद्यते ततः शब्दानां कुतः प्रवृत्तिः स्यात् ? । किमिति तत्र तक्रभािव इति चेदाह-मननं मतिः-मनसो व्यापारः पदार्थचिन्ता सौत्पत्तिक्यादिका चतुर्विधाऽपि मतिस्तत्र न ग्राहिका, मोक्षावस्थायाः सकलविकल्पातीतत्वात्, तत्र च मोक्षे कर्म्पांशसमन्वितस्य गमनमाहोश्वित्रिष्कर्मणः ?, न तत्र कर्म्ससमन्वितस्य गमनमस्तीत्येतद्दर्शयितुमाह – 'ओजः' एकोऽशेषमलकलङ्काङ्करहितः, किं च -- न विद्यते प्रतिष्ठानमौदारिकशरीरादेः कर्म्मणो वा यत्र सोऽप्रतिष्ठानो-मोक्षस्तस्य 'खेदज्ञो' निपुणो, यदिवा अप्रतिष्ठानो--नरकस्तत्र स्थित्यादिपरिज्ञानतया खेदज्ञो, लोकनाडिपर्यन्तपरिज्ञानावेदनेन च समस्तलोकखेदज्ञता आवेदिता भवति । सर्वस्वरनिवर्त्तनं च येनाभिप्रायेणोक्तवांस्तमभिप्रायमाविष्कुर्वज्ञाह-'स' परमपदाध्यासी लोकान्तक्रोशषड्भागक्षेत्रावस्थानोऽनन्तज्ञानदर्शनोपयुक्तः संस्थानमाश्रित्य न दीर्घो न इस्वो न वृत्तो न त्र्यस्नो न चतुरस्नो न परिमडण्लो वर्णमाश्रित्य न कृष्णो न नीलो न लोहितो न हारिद्रो न शुक्लो गन्धमाश्रित्य न सुरभिगन्धो न दुरभिगन्धो ।--

-रसमाश्रित्य न तिक्तो न कटुको न कषायो नाम्लो न मधुरः स्पर्शमाश्रित्य न कर्कशो न मृदुर्न लघुर्न गुरुर्न शीतो नोष्णो न स्निग्धो न रुक्षो 'न काऊ' इत्यनेन लेश्या गृहीता, यदिवा न कायवान् यथा वेदान्तवादिनाम्-'एक एव मुक्तात्मा तत्कायमपरे क्षीणक्लेशा अनुप्रविशन्ति आदित्यरश्मय इवांशुभन्तमिति, तथा न रुहः 'रुह बीजजन्मनि प्रादुभवि च' रोहतीति रुहः, न रुहोऽरुहः, कर्म्मबीजाभावादनपुनर्मावीत्यर्थः, नपुनर्यथा शाक्यानां दर्शननिकारतो मुक्तात्मनोऽपि पुनर्भवोपादानमिति, उक्तं च –

II9 II "दग्धेन्धनः पुनरुपैति भवं प्रमध्य, निर्वाणमप्यनवधारितमीरुनिष्ठम् ।

मुक्तिः स्वयंकृतभवश्च परार्थशूरस्त्वच्छासनप्रतिहतेष्विह मोहराज्यम् ॥"

तथा च न विद्यते सङ्गोऽमूर्त्तत्वाद्यस्य स तथा, तथा न स्त्री न पुरुषो नान्यथेति-न नपुंसकः, केवलं सर्वेरात्मप्रदेशैः परिः—समन्ताद्विशेषतो जानातीति परिज्ञः, तथा सामान्यतः सम्यग्जानाति-पश्यतीति संज्ञः, ज्ञानदर्शनयुक्त इत्यर्थः, यदि नाम स्वरूपतो न ज्ञायते मुक्तात्मा तथाऽप्युमपाद्वारे-णादित्यगतिरिव ज्ञायत एवेति चेत्, तत्र, यत आह-उपमीयते साध्श्यात् परिच्छिद्यते यया सोपमा-तुल्यता सा मुक्तात्मनस्तज्ञ्ञानसुखयोर्वा न विद्यते, लोकातिगत्वात्तेषा, कुत एतदिति चेदाह –

-तेषां मुक्तात्मनां या सत्ता सा अरूपिणी, अरूपित्वं च दीर्घादिप्रतिषेधेन प्रतिपादितमेव किंच-न विद्यते पदम्-अवस्थाविशेषो यस्य सोऽपदः, तस्य पद्यते—गम्यते येनार्थस्तत्पदम्-अभिधानं तच्च 'नास्ति' न विद्यते, वाच्यविशेषामावात्, तथाहि—योऽभिधीयते स श्रब्दरूपगन्धरसस्पर्शान्यतर-विशेषेणाभिधीयते, तस्य च तदभाव इत्येतद्दर्शीयेतुमाह, यदिवा दीर्घ इत्यादिना रूपादिविशेष-निराकरणं कृतं, इह तु तत्सामान्यनिराकरणं कर्तुकाम आह-

मू. (१८५) से न सद्दे न रूवे न गंधे न रसे न फासे, इच्चेय –त्तिबेमि।।

**म्नृ.** 'स' मुक्तात्मा न शब्दरूपः न रूपात्मा न गन्धः न रसः न स्पर्श इत्येतावन्त एव वस्तुनो मेदाः स्युः, तत्यतिषेधाञ्च नापरः कश्चिद्विशेषः सम्माव्यते येनासौ व्यपदिश्येतेति भावार्थः । इतिरधिकारपरिसमासौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । गतः सूत्रानुगमः तद्गतौ चापवर्ग्यमाप्त उद्देशकः तदपवर्गावासौ च नयवक्तव्यताऽतिदेशात्समाप्तं ।

अध्ययनं-५ - उद्देशकः-६ समाप्तः

अध्ययनं-५ - समाप्तम् मुनि दीपरल सागरेण सम्पादिता - संशोधिता शीलाङ्काचार्येणविरचिता प्रथमश्रुतस्कन्धे पंचमअध्ययनटीका परिसमाप्ताः

# (अध्ययनं-६ धूतं )

वृ. उक्तंपञ्चममध्ययनं, साम्प्रतंषष्ठमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तराध्ययने लोकसारभूतः संयमो मोक्षश्च प्रतिपादितः, स च निःसङ्गताव्यतिरेकेण कर्म्मधुननमन्तरेण च न भवतीत्यस्तव्यतिपादनार्थमिदमुप्रक्रन्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्धा-राणि भवन्ति, तत्रोपक्रमेऽर्धाधिकारो द्वेधा-अध्ययनार्धाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययनार्थाधिकारः प्रागभाणि, उद्देशार्थाधिकारं तुनिर्युक्तिकारो बिभणिषुराह –

नि. [२५०] पढमे नियगविहुणणा कम्माणं बितियए तइयगंमि । उवगरणसरीराणं चउत्थए गारवतिगस्स ॥

वृ.प्रथमोद्देशके निजकाः स्वजनास्तेषां विधूननेत्ययमर्थाधिकारः, द्वितीयेकर्म्मणां, तृतीये उपकरणशरीराणां, चतुर्थे गौरवत्रिकस्य, विधूननेति सर्वत्र सम्बन्धनीयम्, उपसर्गाः सन्माननानि च, यथा साधुभिर्विधूतानि तथा पञ्चमोद्देशके प्रतिपाद्यत इत्यर्थाधिकारं परिसमापय्य निक्षेपमाह-स च त्रिधा, तत्रौषनिष्ठपन्नेऽध्ययनं, नामनिष्पन्ने तु धूतं, तच्च चतुर्द्धा, तत्रापि नामस्थापने सुगमत्वादनाधत्य द्रव्यभावधूतप्रतिपादनाय गाथाशकलम् ---

नि. [२५९] उवसंग्गा सम्माणयविहूआणि पश्चमंमि उद्देसे । दव्वधुयं वत्याई भावधुयं कम्म अइविहं ।।

वृ. द्रव्यधूतंद्विधा-आगमतो नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः, नोआगमत-स्तु ज्ञशरीरमव्यशरीरव्यतिरिक्तं द्रव्यधूतं द्रव्यं च तद्वस्त्रादि धूतं च रजोऽपनयनार्थं द्रव्यधूतं, आदिग्रहणाद्वृ क्षादि फलार्थं, भावधूतं कर्म्भाष्टविधं, तद्विमोक्षार्थं धूयत इति गाथाशकलार्थः ॥ पुनरप्येनमेवार्थं विशेषतः प्रतिपादयितुमाह –

नि. [२५२] अहियासित्तुवसग्गे दिव्वे माणुस्सए तिरिच्छे य। जो विहुणइ कम्माइं भावधुयं तं वियाणाहि।।

ष्ट्र. अधिकमासह्यात्यर्थं सोढ्वा, कानतिसह्य ? –उपसर्ग्यान्, किंभूतान् ? – दिव्यान्मानुषांस्तैरश्चाश्च यः कर्म्मणि संसारतरुबीजानि विधुनाति-अपनयति तद्भावधुतमित्येवं जानीहि, क्रियाकारकयोरमेदाद्वा कर्म्मधूननं भावधूतं जानीहीति भावार्थः ॥ गतो नामनिष्मन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम् –

#### -: अध्ययनं-६- उद्देशकः-१ :-

मू. (१८६) ओबुज्झमाणे इह माणवेसु आघाइ स नरे, जस्स इमाओ जाइओ सव्वओ सुपडिलेहियाओ भवंति, आधाइ से नाणमणेलिसं, से किट्टइ तेसिं समुट्टियाणं निक्खित्तदण्डाणं समाहियाणं पत्राणमंताणं इह मुत्तिमग्गं, एवं(अवि) एगे महावीरा विष्परिक्रमंति, पासह एगे अवसीयमाणे अणत्तपत्रे से बेमि,

– से जहावि कुंमे हरए विणिविडचित्ते पच्छन्नपलासे उम्पग्गं से नो लहइ भंजगा इव संनिवेसं नो चर्यति एवं एगे अनेगरूवेहिं कुलेहिं जाया रूवेहिं सत्ता कलुणं थर्णति नियाणओ ते न लभंति मुक्ख, अह पात तेहि कुलेहिं आयत्ताए जाया, **ष्ट्र.** स्वर्गापवर्ग्गी तत्कारणानि च तथा संसारं तत्कारणानि चवबुध्यमानोऽनावारक-झानसद्भावाद् 'इह ति मर्त्यलोके मानवेषु विषयभूतेषु धर्म्माख्याति स नरो भवोपग्राहिकर्म्मस-द्भावात् मनुष्यभावव्यवस्थितः सन् धर्म्ममाचष्टे, नपुनर्यथा शाक्यानांकुड्यादिभ्योऽपि धर्म्मदेशनाः प्राहुष्ष्यन्ति, यथा वा वैशेषिकाणामुलूकभावेन पदार्थाविर्मावनम्, एवमस्माकं न, कथं ?-धातिकर्म्मक्षये तूर्पन्ननिरावरणज्ञानो मनुष्यभावापन्न एव कृतार्थोऽपि सत्त्वहिताय सदेवमनुजायां पर्षदि कथयतीति ।

किं तीर्थकर एव धर्म्ममाचष्टे उतान्योऽपि ?, अन्योऽपि यो विशिष्टज्ञानः सम्यक्प-दार्थपरिच्छेदी स धर्म्याविर्मावनं करोतीति दर्शयितुमाह-यस्यातीन्द्रियज्ञानिनः श्रुतकेवलिनो वा 'इमाः' शस्त्रपरिज्ञायां साधितत्वात् प्रत्यक्षवाचिनेदमाऽभिहिताः 'जातयः' एकेन्द्रियादयः 'सर्वतः' सर्वैः प्रकारैः सूक्ष्मबादरपर्याप्तकापर्याप्तकरूपै सुष्ठु-शङ्कादिव्युदासेन 'प्रत्युपेक्षिताः' प्रति उप--सामीप्येन ईक्षिताः-ज्ञाता भवन्ति सधर्म्ममाचष्टे नापर इति । इदमेवाह-'आख्याति' कथयति तीर्थकृत्सामा- न्यकेवली अपरो वाऽतिशयज्ञानी श्रुतकेवली वा, किमाख्याति ? –

'ज्ञानं' ज्ञायन्ते परिच्छिद्यन्ते जीवादयः पदार्थाः येन तज्ञ्ञानं-मत्यादि पश्चधा, किम्भूतं ज्ञानमाख्याति ?- 'अनीध्शं' नान्यत्रेध्मस्तीत्यनी ध्शं, यदिध्शव सकलसंशयापनयनेन धर्म्यमाचक्षाण एव स आत्मनो ज्ञानमनन्यसध्शमाख्याति । केषां पुनः स धर्म्यमाचष्ट इत्यत आह - 'स' तीर्थकृद्गणधरादिः 'कीर्त्तियति' यथावस्थितान् भावान् प्रतिपादयति 'तेषां' धर्म्यचरणाय सम्यगुत्थितानां, यदिवा उत्थिता द्रव्यतोभावतश्च, तत्र द्रव्यतः शरीरेण भावतो ज्ञानादिभिः, तत्र स्त्रियः समवसरणस्था उभयधाऽप्युत्थिताः श्रृण्वन्ति, पुरुषास्तु द्रव्यतो भाज्याः, भावोत्थितानां तु धर्म्यमावेदयति उत्तिष्ठासूनां च देवानां तिरश्चां च, येऽपि कौतुकादिना श्रृण्वन्ति तेभ्योऽप्याचप्टे, भावसमुत्थितान् विशिशेषयिषुराह –

निक्षिप्ताः – संयमिताः मनोवाकायरूपाः प्राण्युपमर्दकारित्वाद्दण्डा इव दण्डा यैस्ते तथा तेषां निक्षिप्तदण्डानां, तथा समाहिताणं' सम्यगाहिताः न्तपः संयम उद्युक्ताः समाहिता अनन्यमन-स्कास्तेषां, तथा प्रकर्षेण ज्ञायतेऽनेनेति प्रज्ञानं तद्वतां सश्चुतिकानाम् 'इह' अस्मिन्मनुष्यलोके 'मुक्तिमार्गं' ज्ञानदर्शनचारित्रात्मकं कीर्त्तयतीति सम्बन्धः । तस्य च तीर्थकृत साक्षाद्धर्ममावेदयतः केचन लघुकर्म्माणस्तथैव प्रतिपद्य धर्मचरणायोद्यच्छन्त्यपरे त्वन्यथेत्येतव्यतिपादयितुमाह-अपिशब्दश्चार्थे, चशब्दश्च वाक्योपन्यासार्थे, एवं च तीर्थकृताऽऽवेदिते सत्येके-लब्धकर्म्मविवरा विविधं संयमसङग्राग्मशिरसि पराक्रमन्ते, परान् वा इन्द्रियकर्म्मरिपून् आक्रमन्ते पराक्र मन्तइति

एतद्विपर्ययमाह-साक्षात्तीर्थकरे सकलसंशयच्छेत्तरि धर्म्यमावेदयति सत्येकान् प्रबलमोहोदयावृतान् संयमेऽवसीदतः पश्यत यूयं, किम्धूतानित्याह-नात्मने हिता प्रज्ञा येषां ते अनात्मप्रज्ञास्तानिति, कुतः पुनः संयमानुष्ठानेऽवसीदन्ति इत्यारेकायां सोऽहं ब्रवीमि । अत्र ध्ष्टान्तद्वारेण सोपपत्ति किं कारणमित्याह – सेशब्दस्तच्छब्दार्थे, अपिशब्दश्चार्थे, स च वाक्योपन्यासार्थः, तद्यथा च कूर्म्नो महाइदे विनिविष्टं चित्तं यस्यासौ विनिविष्टचित्तो-गार्द्धयमुपगतः पलाशैः-पत्रैः प्रच्छन्नः पलाशप्रच्छन्नः, सूत्रेतुप्राकृतत्वाद्वत्ययः, 'उम्मग्तं'ति विवरं उन्मज्यतेऽनेनेति वोन्मज्यम्, उद्धर्वं वा मार्गमुन्मार्गं, सर्वया अरन्ध्रमित्यर्थः, तदसौ न लभतः इत्यक्षरार्थः । भावार्थस्तवयम् – कश्चिद् इदो योजनशतसहस्रविस्तीर्णः प्रबलशेवालघनकठिनविताना-च्छादितो नानारूपकरिमकरमत्स्यकच्छपादिजलचरा श्रयः तन्मेध्ये चैकं विस्नसापरिणामापादितं कच्छपग्रीवामात्रप्रमाणंविवरमभूत्, तत्र चैकेन कूर्म्मेण निजयूथात् प्रभ्रष्टेन वियोगाकुलतयेतस्ततश्च शिरोधरां प्रक्षिपता कुतश्चित्तथाविधभवितव्यतानियोगेन तद्रन्ध्रे ग्रीवानिर्गमनमाप्तं, तत्र चासौ शरचन्द्रचन्द्रिकया क्षीरोदसलिलप्रवाहकल्पयोपशोभितं विकचकुमुदनिकरकृतोपचारमिव तारकाकीर्णं नमस्तलमीक्षाश्चके, ध्ष्ट्वा चातीव मुमुदे, आसीज्ञास्य मनसि–यदि तानि मद्वर्ग्या-ण्येतत्प्त्वर्गद्रिश्यमध्ष्टपूर्वं मनोरथानामप्यविषयभूतं पश्यन्ति ततः शोभनमापद्यत इत्येतदवधार्य तूर्णमन्वेषणाय बन्धूनामितश्चेतश्च बभ्राम, अवाप्य च निजान् पुनरपि तद्विवरान्वेषणार्थं सर्वतः पर्यटति, न च तद्विवरं विस्तीर्णतया इदस्य प्रचुरतया यादसामीक्षते, तत्रैव च विनाशमुपयात इति--

अस्यायमर्थोपनयंः-संसारह्रदेजीवकूर्माः कर्मशेवालविवरतो मनुष्यार्यक्षेत्रसुकुलोत्पत्ति-सम्यक्त्वावसाननभस्तलमासाद्य मोहोदयात् ज्ञात्यर्थं विषयोपभोगाय वा सदनुष्ठानविकलो न सफलतां नयति, तत्त्यागे कुतः पुनः संसारह्रदान्तर्वत्तिनस्तदवाप्तिः ?, तस्मादवाप्य भवशतदुरापं कर्मविवरभूतं सम्यक्त्वंक्षणमप्येकंतत्र न प्रमादवता भाव्यमिति तात्पर्यार्थः । पुनरपि संसारानुषङ्गिणां धष्टान्तान्तरमाह – 'मञ्जगा' वृक्षास्त इव शीतोष्णप्रकम्पनच्छेदनशाखाकर्षणक्षोभामोटनभञ-नरूपानुपद्रवान् सहमाना अपि 'सत्रिवेशं' स्थानं कर्म्पपरतया न त्यजन्ति, एवमित्पादिना दार्ष्टन्ति-कमर्य दर्शयति –

'एव'मिति वृक्षोपमया 'अपिः' सम्भावने, 'एके' कर्म्मगुरुवोऽनेकरूपेषुकुलेषूच्चावचेषु जाता धर्म्मचरणयोग्या अपि रूपेषु चक्षुरिन्द्रियानुकूलेषूपलक्षणार्थत्वाच्छब्दादिषु च विषयेषु 'सक्ताः' अध्युपपन्नाः शारीरमानसदुःखदुःखिता राजोपद्रवोपद्रुताः अग्निदाहदग्धसर्वस्वा नानानिमित्ता-हिताधयोऽपि न सकलदुःखावासं गृहवासं कर्म्मनिघ्नास्त्यक्तुमलम्, अपि तु तत्स्या एव तेषु तेषु व्यसनोपनिपातेषु सत्सु 'करुणं स्तन्ति' दीनमाक्रोशन्ति, तद्यथा–हा तात ! हा मातः हा दैव ! न युज्यते भवत एवंविधेऽवसरे एवम्भूतं व्यसनमापादयितुं, तदुक्तम् --

II१।। "किमिदमचिन्तितमसर्धशमनिष्टमतिकष्टमनुपमं दुःखम् । सहसैवोपनतं मे नैरयिकस्येव सत्त्वस्य ? ।।''

इत्यादि, यदिवा रूपादिविषयासक्ता उपचितकर्माणो नरकादिवेदनामनुभवन्तः करुणं स्तनन्तीति, न च करुणं स्तनन्तोऽप्येतस्मात्दुःखान्मुष्यन्ते इत्येतद्दर्शयितु माहदुःखस्य निदानम् - उपादानं कर्म्म ततस्ते विलपन्तोऽपि न लमन्ते 'मोक्षं' दुःखापगमं मोक्षकारणं वा संयमानुष्ठा नामिति।दुःखविमोक्षामाव च यथा नानाव्याध्युपसृष्टाः संसारोदरे प्राणिनो विर्त्तन्ते तथा दर्श्रयितुमाह 'अथ' इति वाक्योपन्यासार्थे पश्च त्वं तेपुच्चावचेषू कुलेषु, आत्मात्वाय-आत्मीयकर्म्मानुभवाय जाताः, तदुदयाद्येमां अवस्थामनुभवन्त त्याह-षोडशरोगवक्तव्यानुगतं श्लोकत्रयं,

मू. (१८७)

गंडी अहवा कोढी, रायसी अवमारियं। काणियं झिमियं चेव, कुणियं खुज्जियं तहा।।

1116

कुष्ठमाष्टादशभेदं तदस्यास्तीति कुष्ठी, तत्र सप्त महाकुष्ठानि, तद्यथा-अरुणोदुम्बरनिशयजि-ह्नकपालकाकनादपौण्डरीकदद्रुकुष्ठानीति, महत्त्वं चैषां सर्वधात्वनुप्रवेशादसाध्यत्वा झेति, एकादश क्षुद्रकुष्ठानि, तद्यथा-स्थूलारुष्क १ महाकुष्ठै २ ककुष्ठ ३ चर्मदल ४ परिसर्प ५ विसर्प ६ सिध्म ७ विचर्चिका ८ किटिम ९ पामा १० शतारुक ११ संज्ञानीति, सर्वाण्यप्यष्टादश, सामाम्यतः कुष्ठं सर्वं सन्निपातजमपि वातादिदोषोत्कटतया तु मेदमाग्यभवतीति । तथा-राजांसो-राजयस्मा सोऽस्यास्तीति राजांसी, क्षयीत्यर्थः, स च क्षयः सन्निपातजश्चतुर्भ्यः कारणेभ्यो भवति इति, उक्तं च--'

II 9 II 'त्रिदोषो जायते यक्ष्मा, गदोहेतुचतुष्टयात् ।

वेगरोधात् क्षयाश्चेव, साहसादिषमाशनात् ''

तथा-अपस्मारो वातपित्तश्लेष्मसन्निपातजत्वाच्चतुर्खा, तद्वानपगतसदसद्विवेकः भ्रममूर्च्छादिकामवस्थामनुभवति प्राणीति, उक्तं च—

॥१॥ "भ्रमावेशः ससंरम्भो, द्वेषोद्रेको हतस्मृतिः । अपस्मार इति ज्ञेयो, गदो घोरश्चतर्विधः "

तथा 'काणियं'ति अक्षिरोगः, स च द्विधा--गर्मतस्योत्पएते जातस्य च, तत्र गर्मस्यस्य दृष्टिभागमप्रतिपन्नं तेजो जात्यन्धं करोति, तदेवैकाक्षिगतं काणं विधत्ते, तदेव रक्तानुगतं रक्ताक्षं पित्ताातनुगतं पिङ्गाक्षं श्लेष्मानुगतं शुक्लाक्षं वातानुगतं विकृताक्षं, जातस्य च वातादिजनितोऽ-भिष्यन्दो भवति, तस्माह्य सर्वे रोगाः प्रादुष्वन्तीति, उक्तं च--

II १ ।। "वातात्पित्तात्कफाद्रक्तादभिष्यन्दश्चतुर्विधः । प्रायेण जायते घोरः, सर्वेनेत्रामयाकरः "

इति, तथा-'झिमियंति जास्यता सर्वशरीरावयवानामवशित्वमिति, तथा 'कुणियंति गर्भाधानदोषाद् इस्वैकपादो न्यूनैकपाणिर्वा कुणिः, तथा 'खुजियं'ति कुब्जं पृष्ठादावस्यास्तीति कुष्ठ मातापितृशोषितशुक्र दोषेण स्थदोषोद्यवाः कुब्जवामनकादयो दोषा भवन्तीति, उक्तं च-

 ॥ १॥ "गर्भे वातप्रकोपेन, दौहदे वाऽपमानिते । भवेत् कुब्जः कुणिः पङ्गुर्मूको मन्मन एव वा " –मूको मन्मन एवेत्येतदेकान्तरिते मुखदोषे लगनीयमिति । तथा–
 मू. (१८८) उदरिं च पास मूयं च, सूर्णीयं च गिलासणिं । वेवइं पीढसप्पिं च, सिलिवयं महुमेहणिं ।। व्वद्दं पीढसप्पिं च, सिलिवयं महुमेहणिं ।। दृ. 'उदर्रि च'ति चः समुद्यये वातपित्तादिसमुत्यमष्टधोदरं तदस्यास्तीत्युदरी, तत्र जलोदर्यसाध्यः शेषास्त्वचिरोत्थिताः साध्या इति, ते चामी भेदाः--॥ १ ॥ "पृथक् समस्तैरपि चानिलाधैः, प्लीहोदरं बद्धगुदं तथैव । आगन्तुकं सप्तमभष्टमं तु, जलोदरं चेति भवन्ति तानि "

इति, तथा 'पास भूयं च'त्ति पश्य-अवधारय मूकं मन्मनभाषिणं वा, गर्भदोषदेव जातं तदुत्तरकालं च, पञ्चषष्टिर्मुखे रोगाः सप्तस्वातयतनेषु जायन्ते, तत्रायतनानि ओष्ठी दन्तमूलानि दन्ता जिह्ना तालु कण्ठः सर्वाणि चेति, तत्राष्टावोष्ठयोः पञ्चदश दन्तमूलेष्टशै दन्तेषु पञ्च जिह्नायां नव तालुनि सप्तदश कण्ठे त्रयः सर्वेवायतनेष्विति, 'सुणियं च'त्ति शूनत्वं-श्वयथूर्वातपित्त-श्लोष्मसन्निपातरक्ताभिघातजोऽयं षेढेति. उक्तं च-

''शोफः स्यात् षड्विधो धोरो, दोषैरुत्सेधलक्षणः । 11 6 11 व्यस्तैः समस्तैश्चापीह, तथा रक्ताभिधातजः ''

इति, तथा 'गिलासणि'ति मस्मको व्याधिः, स च वातपित्तोत्कटतया श्लेष्मन्युनतयोपजायत इति, तथा 'वेवइं'ति वातसमुत्यः शरीरावयवानां कम्प इति, उक्तं च-

"प्रकामं वेपते यस्तु, कम्पमानश्च गच्छति । 11911 कलापखञ्जं तं विद्यान्मुक्तसन्धिनिबन्धनम् ''

इति, तथा 'पीढेसप्पिं च'त्ति जन्तुर्गर्भदोषात् पीढसर्पित्वेनोत्पद्यते, जातो वा कर्म्यदोषाद्भवति, स किलपाणिगृहीतकाष्ठः प्रसर्प्यतीति, तथा 'सिलिवयं'ति श्लीपद-पादादी कठिन्यं, तद्यथा-प्रकृपितवातपित्तश्लेष्माणोऽधः प्रपन्ना वङ्खणा रुजङ्घास्ववतिष्ठमानाः कालान्तरेण पादमाश्रित्य शनैः श्रेनैः शोफमपजनयन्ति तच्छलीपद्मित्याचक्षते –

| 11 9 11 | ''पुराणोदकभूमिष्ठाः, सर्वर्त्तुषु च शीतलाः ।  |
|---------|---|
|         | ये देशास्तेषु जायन्ते, श्लीपदानि विशेषतः      |
| 11 R II | पादयोईस्तयोश्चापि, श्लीपदं जायते नृणाम् ।     |
|         | कर्णोष्ठनाशास्वपि च, केछिदिच्छन्ति तद्विदः '' |

तथा 'महुमेहणिं'ति मधुमेहो-बस्तिरोगः स विद्यते यस्यासौ मधुमेही, मधुतूल्यप्रमाव वानित्यर्थः, तत्र प्रमेहाणां विंशतिर्मेदाः, स्तत्रास्यासाध्यत्वेनोपन्यासः, तत्र सर्व एव प्रमेहाः प्रायशः सर्वदोषोत्यास्तयापि वाताद्युत्कटभेदाद्विंशतिर्मेदा भवन्ति, तत्र कफार्ध्श षट् पित्तात् वातजाश्चत्वार इति, सर्वेऽपि चैतेऽसाध्यावस्थायां मधुमेहत्वमुपयान्तीति, उक्तं च-

सर्वएव प्रमेहा स्तुकालेनाप्रतिकारिणः । 11911 मधुमेहत्वमायान्ति, तदाऽसाध्या भवन्ति ते " (इति) । सोलस एए रोगा अक्खाया अणुपुव्वसो । मू. (१८९) अह णं फुसंति आयंका, फास य असमंजसा ।।

व. तदेवं षोडशाप्येते-अनन्तरोक्ताः 'रोगा' व्याघयो व्याख्याताः 'अनुपूर्वशो' अनुक्रमेण 'अय' अनन्तरं' 'णं' इति वाक्यालङ्कारे 'स्पृशन्ति' अभिमवन्ति 'आतङ्का' आशुजीवितापहारिणः शूलादयो व्याधिविशेषाः 'स्पर्शाश्च' गाढप्रहारादिजनिता दुःखविशेषाः 'असमञ्जसाः' क्रमयौगपद्यनिमित्तानिभित्तोत्पन्नाः स्पृशन्तीति सम्बन्धः । न रोगातङ्कैरेव केवलैर्मुच्यते, अन्यदपि यत् संसारिणोऽधिकं स्यात्तदाह-तेषां कर्म्मगुरूणां गृहवासासक्तमनसामसमञ्जसरोगैः क्लेशितानां 'मरणं' प्राणत्यागलक्षणं —

'संप्रेक्ष्य' पर्यालोच्य पुनरुपपातं च्यवनं च देवानां कर्मीदयात् सञ्चितं ज्ञात्वा तद्विधेयं For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org येन गण्डादिरोगाणां मरणोपपातयोश्चात्यन्तिकोऽभावो भवति, किं च-कर्माणां मिथ्यात्वा-विरतिप्रमादकषाययोगाहितानामबाधोत्तरकालमुदयावस्यायं परिपाळं च 'सम्यप्रेक्ष्य' शारीर-मानसदुःखोत्पादकं पर्यालोच्य तदुच्छित्तये यतितव्यं ॥ स च करुणं स्तनन्तीत्यादिना ग्रन्थेनोप-पातच्यवनावसानेनावेदितोऽपि पुनरपि तद्गरीयस्त्वख्यापनाय प्राणिनां संसारे निर्वेद-वैराग्योत्पत्त्यर्थमभिधित्सुकाम आह–

मू. (१९०) मरणं तेसिंसंपेहाए उववायं चवणं नद्या परियागं च संपेहाए तं सुणेह जहा तहा संति पाणा अंधा तमसि वियाहिया, तामेव सइं असइं अइअद्य उद्यावयफासे पडिसंवेएइ, बुद्धेहिं एयं पवेइयं-संति पाणा वासगा रसगा उदए उदएचरा आगासगामिणो पाणा पाणे किलेसंति, पास लोए महब्भयं।

षट्. 'तं' कर्म्मविपाकं यथावस्थितं तथैव ममावेदयतः श्रृ णुत यूयं, तद्यथा-नारकतिर्यङ्न-रामरलक्षणाश्चतम्रो गतयः, तत्र नरकगतौ चत्वारो योनिलक्षाः पश्चविंशतिकुलकोटिलक्षाः त्रयस्त्रिंशत्सागरोपमाण्युत्कृष्ट स्थितिः वेदनाश्च परमाधार्मिकपरस्परोदीरितस्वामाविकदुःखानां नारकाणां या भवन्ति ता वाचामगोचराः, यद्यपि लेशतश्चिकथयिषोरभिधेयविषयं न वागवतरति तथाऽपि कर्म्यविपाकावेदनेन प्राणिनां वैराग्यं यथा स्यादित्येवमर्थं श्लोकैरव किश्चिदभिधीयते-119 ।।''श्रवणलवनं नेत्रोद्धारं करक्रमपाटनं, हृदयदहनं नासाच्छेदं प्रतिक्षणदारुणम् । कटविदहनं तीक्ष्णापातन्त्रिशूलविभेदनं, दहनवदनैः कङ्कैधोरैः समन्तविभक्षणम् तीक्ष्णैरसिमिर्दीप्तैः कुन्तैर्विषमैः परश्चधैश्वक्रैः। ા રા परशुत्रिशूलमुद्गरतोमरवासीमुषण्ढीभिः सम्भिन्नतालुशिरस शिवन्नमुजाश्विन्नकर्णनासौष्ठाः । 11 3 11 भिन्नहृदयोररान्त्रा भिन्नाक्षिपुटाः सुदुःखार्त्ताः निपतन्त उत्पतन्तो विचेष्टमाना महीतले दीनाः । || & || नेक्षन्ते त्रातारं नैरयिकाः कर्म्मपटलान्धाः 11 4 11 छिद्यन्ते कृपणाः कृतान्तपरशोस्तीक्ष्णेन धारासिना, क्रन्दन्तो विषवीचि (वच्छ्व)भिः परिवृताः संभक्षणव्यापृतैः । पाट्यन्तेककचेन दारुवदसितिप्रच्छिन्नबाहुद्वयाः, कुम्मीषु त्रपुपानदग्धतनवो मूषासु चान्तर्गताः || Ę || भूज्यन्ते ज्वलदम्बरीषहुतभुग्ज्वालाभिराराविणो, दीसाङ्गारनिभेषु वज्रभवनेष्वङ्गारकेषुत्थिताः । दह्यन्ते विकृतोध्वबाहुवदनाः क्रन्दन्त आर्त्तस्वनाः, पश्यन्तः कृपणा दिशो विशरणास्त्राणाय को नो भवेतु ? '' इत्यादि । तथा तिर्यग्गतौ पृथिवीकायजन्तूनां सप्त योनिलक्षा द्वादश कुलकोटिलक्षाः स्वकायपरकायशस्त्राणि शीतोष्णादिका वेदनाः, तथाऽप्कायस्यापि सप्त योनिलक्षाः सप्त च कुलकोटिलक्षाः वेदना अपि नानारूपा एव, तथा तेजस्कायस्य सप्त योनिलक्षाः त्रयः कूलकोटीलक्षाः पूर्ववद्वे दनादिकं, वायोरपि सप्त योनिलक्षाः सप्त च कुलकोटीलक्षाः वेदना अपि शीतोष्णादिजनिता For Private & Personal Use Only

नानारूपा एव, प्रत्येकवनस्पतेर्दश योनिलक्षाः साधारणवनस्पतेश्चतुर्दश उभयरूपस्याप्यष्टार्विशतिः कुलकोटीलक्षाः, तत्र च गतोऽसुमनानन्तमपिकालं छेदनभेदनमोटनादिजनिता नानारूपा वेदना अनुभवन्नास्ते, विकलेन्द्रियाणामपि द्वौद्वौयोनिलक्षौ कुलकोट्यस्तु द्वीन्द्रियाणां सप्त त्रीन्द्रियाणामष्टौ चतुरिन्द्रियाणां नव, दुःखं तु क्षुत्पिपासाशीतोष्णादिजनितमनेकधाऽध्यक्षमेव तेषामिति,

पञ्चेन्द्रियतिरश्चामपि चत्वारो योनिलक्षाः कुलकोटीलक्षास्तु जलचराणामर्द्धत्रयोदशा पक्षिणां द्वादश चतुष्पदानां दश उरःपरिसर्प्पाणां दश मुजपरिसर्प्पाणां नव वेदनाश्च नानारूपा यास्तिश्चां रसम्भवन्ति ताः प्रत्यक्षा एवेति, उक्तं च–

॥ १॥ "क्षुत्तृङ्हिमात्युष्णभयार्दितानां, पराभियोगव्यसनातुराणाम् । अहो ! तिरश्चामतिदुः- खितानां, सुखानुषङ्गः किल वार्त्तमेतद् " इत्यादि । मनुष्यगतावपि चतुर्द्दश योनिलक्षा द्वादश कुलकोटीलक्षाः, वेदनास्त्वेवम्भूता इति-

॥ १॥ ''दुःखं स्त्रीकुक्षिमध्ये प्रथममिह भवे गर्भवासे नराणां, बालत्वे चापि दुःखं मललुलिततनुस्त्रीपयःपानमिश्रम् । तारुण्ये चापि दुःखं भवति विरहजं वृद्धभावोऽप्यसारः, संसारे रे मनुष्या ! वदत यदि सुखं स्वल्पमप्यस्ति किश्चित्

॥ २ ॥ बाल्यास्रमृति च रोगैर्दष्टोऽभिमवश्च यावदिह मृत्युः । शोकवियोगायोगैर्दुर्गतदोषैश्च नैकविधैः

॥ ३ ॥ अत्तृङ्गिष्णानिलशीतदाहदारिद्यशोकप्रियविप्रयोगैः ।

दौर्भाग्यमौख्यानभिजात्यदारयवैरुष्यरोगादिभिरस्वतन्त्रः'' इत्यादि ।

देवगतावपि चत्वारो योनिलक्षाः षङ्विंशतिः कुलकोटीलक्षाः तेषामपीष्याविषादम त्सरच्य-वनभयशल्यवितुद्यमानमनसां दुःखानुषङ्ग एव, सुखामासाभिमानस्तु केवलमिति, उक्तं च--

॥ १॥ ''देवेषु च्यवनवियोगदुःखितेषु, क्रोधेष्यामदमदनातितापितेषु । आर्या ! नस्तदिह विचार्य संगिरन्तु, यत्सौख्यं किमपि निवेदनीयमस्ति '' इत्यादि । तदेवं चतुर्गतिपतिताः संसारिणो नानारूप कर्म्मविपाकमनुभवन्तीत्येतदेव सूत्रेण दर्शयितुमाह-'सन्ति' विद्यन्ते 'प्राणाः' प्राणिनः 'अन्धा' चक्षुरिन्द्रियविकला भावान्धा अपि सद्विवेक-विकलाः 'तमुसि' अन्धकारे नरकगत्यादौ भावान्धकारेऽपि च मिथ्यात्वाविरतिप्रमादषायादिके

कर्म्मविपाकापादिते व्यवस्थिता व्याख्याताः

किं च-तामेवावस्थां कुष्ठाद्यापादितामेकेन्द्रियापर्याप्तकादिकां वा सकृदनुभूय कर्म्मोदयात्तामेव असकृद्-अनेकशोऽतिगत्योच्चवचान्-तीव्रमन्दान् स्पर्शन्-दुःखविशेषान् 'प्रतिसंवेदयत्ति' अनुभवति । एतच्च तीर्थकृद्भिरावेदितमित्याह-'बुद्धैः' तीर्थकृद्भिः 'एतद्' अनन्तरोक्तं प्रकर्षेणादौ वा वेदितं प्रवेदितम् । एतच्च वक्ष्यमाणं प्रवेदितमित्याह-'सन्ति' विद्यन्ते 'प्रणाः' प्राणिनो 'वासकाः' 'वासृ शब्दकुत्सायां' वासन्तीति वासकाः-भाषालब्धिसम्पन्ना द्वीन्द्रि-यादयः, तथा रसमनुगच्छन्तीति रसगाः-कटुतिक्तकषायादिरसवेदिनः संज्ञिन इत्यर्थः, इत्येवम्भूतः कर्म्मविपाकः संसारिणां सम्प्रेक्ष्य इति सम्बन्धः, तथा -- 'उदके' उदकरुपा एवैकेन्द्रिया जन्तवः पर्याप्तकापर्याप्तकभेदेन व्यवस्थिताः, तथा उदके चरन्तीत्युदकचराः-पूतरकच्छेदनकलोडुणकत्रसा मत्स्यकच्छपादयः, तथा स्थलजा अपिकेचन जलाश्चिता महोरगादयः पक्षिणश्च केचन तद्मतकृतगे द्रष्टव्याः, अपरे तु आकाशगामिनः पक्षिणः, इत्येवं सर्वेऽपि 'प्राणाः' प्राणिनोऽपरान् प्राणिनः आहाराद्यर्थं मत्सरादिना वाक्लेशयानिउपतापयन्ति। यद्येवं ततः किमित्यत आह-'पश्च' अवधारय 'लोके' चतुर्द्दशरज्वात्मके, कर्म्मविपाकात्सकाशात् 'महद्भयं' नानागतिदुःखक्लेशवि-पाकात्मकमिति॥ किमिति कर्म्मविपाकान्महद्भयमित्याह–

मू. (१९१) बहुदुक्खा हु जन्तवो, सत्ता कामेसु माणवा, अवलेण वहं गच्छन्ति सरीरेण पर्भगुरेण अट्टे से बहुदुक्खे इइ बाले पकुव्वइ एए रोगा बहू नच्चा आउरा परियावए नालं पास, अलं तवेएहिं, एयं पास मुनी ! महब्मयं नाइवाइज कंचनं।

**वृ.** बहूनि दुःखानि कर्म्मविपाकापादितानि येषां जन्तूनां ते तथा, हुर्यस्मादेवं तस्मात्तत्राप्रमादवता भाव्यं । किमित्येवं भूयो भूयोऽपदिश्यत इत्यत आह--यस्मादनादिभवाभ्यासे-नागणितोत्तरपरिणामाः 'सक्ताः' गृद्धाः 'कामेषु' इच्छामदनरूपेषु 'मानवाः' पुरुषा इत्यतो न पुनरुक्तदोषानुषङ्गः । कामासक्ताश्च यदवाप्नुवन्ति तदाह-बलरहितेन निःसारेण तुषमुष्टि-कल्पेनौदारिकेण शरीरेण 'प्रभङ्खरेण' स्वत एव भङ्गशीलेन तत्सुखाधानाय कर्मोपचित्याऽनेकशो वधं गच्छन्ति, कः पुनरसौ विपाककटुकेषु कामेषु यो रतिं विदघ्यादित्याह-मोहोदयादार्त्तः अगणितकार्याकार्यविवेकः सोऽसुमान्बहुदुःखं प्राप्तव्यमनेनेति बहुदुःखइत्येनं कामानुषङ्गं प्राणिनां क्तेशं वा 'वालो' रागद्देषाकुलितः प्रकर्षेण करोति प्रकरोति, तज्जनितकर्म्मविपाकाद्य अनेकशो वधं गच्छति, यदिवा रोगेषु सत्सु इत्येतद्वस्यमाणं बालोऽज्ञः प्रकरोति तदाहएतान्गण्डकुष्ठरा-जयक्ष्मादीन् रोगान् बहुनूत्पन्नानिति ज्ञात्वा तद्रोगवेदनया आतुराः सन्तः चिकित्सायै प्राणिनः परितापयेयुः, 'लावकादिपिशिताशिनः किल क्षयव्याध्युपशमः स्यादि'त्यादिवाक्याक र्णनाज्जीविताशया गरीयस्यपिप्राण्युपमर्देप्रवर्त्तरन्, नैतदबधारयेयुः यथा-स्वकृताबच्यकर्म्यविपा कोदयादेतत्, तदुपशमाच्चोपशमः, प्राण्युपमर्दीचकित्सत्या च किल्बिषानुषङ्ग एवेति, एतदेवाह-पश्यैतद्विमलविवेकावलोकनेन यथा 'नालं' न समर्थाः चिकित्साविधयः कर्म्भोदयोपशमं विधातुं, यद्येव ततः किं कर्त्त्यमिति दर्शयति–

'अलं' पर्याप्तं 'तव' सदसद्विवेकिनः 'एभिः' पापोपादानभूतैश्चिकित्साविधिभिरिति। किं च--'एतत्' प्राण्युपमर्दादिकं 'पश्च' अवधारय हे 'मुने' ! जगत्त्रयस्वमाववेदिन्, महद्-बृहद्भयहेतुत्वाद्भयं, यद्येवं ततः किंकुर्यादिति दर्शयति-'नातिपातयेत्' न इन्यात् कञ्चन प्राणिनं, यत एकस्मिन्नपि प्राणिनि-हन्यमानेऽष्टप्रकारमपि कर्म बध्यते, तद्यानुत्तारसंसारगमनायेत्यतो महाभयमिति, यदिवा एए रोगे बहू नद्येत्यादिको ग्रन्थः कामानधिकृत्य नेयः, एतान् रोगरूपान् कामान् बहून् ज्ञात्वा आसेवनाप्रज्ञयेति आतुराः-कामेच्छान्धा अपरान् प्राणिनः परितापयेयुः इत्यादिना परक्र मेणेति। तदेवं रोगकामातुरतया सावद्यानुष्ठानप्रकृत्तानामुपदेशदानपुरस्सरं महाभयं प्रदर्श्य तद्विपर्यस्तानां सस्वरूपां गुणवत्तां दिदर्शयिषुः प्रस्तावमारचयन्नाह-

मू. (१९२) आयाण भो सुस्पूस ! भो धूयवाँयं पवेयइस्सामि इह खलु अत्तत्ताए तेहिं तेहिं कुलेहिं अभिसेएण अभिसंभूया अभिसंजाया अभिनिच्चुडा अभिसंवुड्दा अभिसंबुद्धा अभिनिक्कंता अनुपुच्चेण महामुनी । **षृ.** 'भोः' इतिशिष्यामन्त्रणं, यदहमुत्तरत्रावेदयिष्यामि भवतस्तद् 'आजानीहि'—अवधारय, 'शुश्रूषस्व' श्रवणेच्छां विधेहि 'भोः' इति पुनरप्यामन्त्रणमर्थगरीयस्त्वख्यापनाय, नात्र भवता प्रमादो विधेयो, धूतवादं कथयिष्याम्यहं, धूतम्अष्टप्रकारकर्म्मधूननं ज्ञातिपरित्यागो वा तस्य वादो धूतवादः तं प्रवेदयिष्यामि, अवहितेन च भवेता भाव्यमिति । नागार्ज्जुनीयास्तु पठन्ति -''धुतोवायं पवेयंति'' अष्टप्रकारक्रर्म्मधूननोपायं निजधूननोपायं वा प्रवेदयन्ति तीर्थकरादयः । कोऽसावूपाय इत्यत आह—

'इह' अस्मिन् संसारे 'खलुः' वाक्यालङ्कारे आत्मनो भाव आत्मता—जीवास्तिता स्वकृतकर्म्मपरिणतिर्वातयाऽभिसम्भूताः-सञ्जाताः, न पुनः पृथिव्यादिभूतानां कायाकारपरिणा-मतयाईश्वरप्रजापतिनियोगेन वेति, तेषु तेषूच्चावचेषु कुलेषु यथाखं कर्म्मोदयापादितेषु 'अभिषेकेण' शुक्र शोणितनिषेकादिक्र मेणेति, तत्रायं क्रमः–

II 9 II ''सप्ताहं कललं विन्दात्ततः सप्ताहमर्बुदम् । अर्बुदाज्ञायते पेशी, पेशीतोऽपि घनं भवेत् ''

इति, तत्र यावत्कललं तावदभिसम्भूताः, पेशीं यावदभिसञ्जाताः, ततः साङ्गोपाङ्गस्ना-युशिरोरोमादिक्रमाभिनिवर्त्तनादभिनिर्वृत्ताः, ततः प्रसूताः सन्तोऽभिसंवृद्धाः, धर्म्मश्रवण- योग्याव-स्थायां वर्तमाना धर्म्मकथादिकंनिभित्तमासाद्योपलब्धपुण्यपापतयाऽभिसम्बुद्धाः, ततः सदसद्विवेकं जानानाः अभिनिष्कान्ताः, ततोऽधीताचारादिशास्त्रास्तदर्शभावनोपर्वृहितचरणपरिणामा अनुपूर्वेण शिक्षकगीतार्थक्षपकपरिहारविशुद्धिकैकाकिविहारिजिनकल्पिकावसाना मुनयोऽभूवन्तिि ॥ अभिसम्बुद्धं च प्रविव्रजिषुमुपलभ्य यन्निजाः कुर्युस्तद्दर्शयितुमाह–

मू. (१९३) तं परिक्वमंतं परिदेवमाणा मा चयाहि इय ते वयंति-छंदोवणीया अज्झोववन्ना अर्क्वदकारी जणगा रुयंति, अतारिसे मुनी नो ओहंतरए जणगा जेण विष्पजढा, सरणं तत्थ नो समेइ, कहं नु नाम से तत्थ रमइ ?, एयं नाणं सया समनुवासिजासि– त्तिबेमि ।।

**ष्ट्र.** 'तम्' अवगततत्त्वं गृहवासपराङ्कुखं महापुरुषसेवितं पन्थानं पराक्र ममाणमुपलभ्य मातापितृपुत्रकलत्रादयः परिदेवमाना माऽस्मान् परित्यज 'इति' एतत् ते कृपामापादयन्तो वदन्ति, किं चापरं वदन्तीत्याह-छन्देनोपनीताः छन्दोपनीताः-तवाभिप्रायानुवर्त्तिनस्त्वयि चाभ्युपपन्नाः, तदेवम्भूतानस्मान्माऽवमंस्था इत्येवमाक्रन्दकारिणो 'जनका' रुवन्ति । एवं च यदेयुरित्याह-न ताधशो मुनिर्भवति, न चौघं संसारं तरति, येन पाखण्ड विप्रलब्धेन 'जनका' मातापित्रादयः 'अपोढाः' त्यक्ता इति ।

सचावगतसंसारस्वभावो यत्करोति तदाह-नह्यसावनुरक्तमपि बन्धुवर्गं 'तत्र' तस्मिन्नवसरे शरणं समेति, न तदम्युपवगमं करोतीत्यर्थः । किमित्यसौ शरणं नैतीत्याहकथं नु नामासौ 'तत्र' तस्मिन् गृहवासे सर्वनिकारास्पदे नरकप्रतिनिधौ शुभद्वारपरिधे रमते ?, कथं गृहवासे द्वन्दौ कहेतो विघटितमोहकपाटः सन् रतिं कुर्यादिति ? । उपसंहारमाह-'एतत्' पूर्वोक्तं ज्ञानं सदा आत्मनि 'सम्यगनुवासयेः' व्यवस्थापयेः, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् । अध्ययनं - ६ - उद्देशकः १ - समाप्तः

### -: अध्ययनं-६ उद्देशकः २ :-

ष्ट्र. उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीय आरम्भयते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके निजकविधूनाना प्रतिपादिता, सा चैवं फलवति स्याद्यदि कर्म्मविधूननं स्याद्, अतः कर्म्मविधूननार्थमिदमुपक्रम्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्थास्योद्देशकस्यादि सूत्रम्-

मू. (१९४) आउरं लोगमायाए चइत्ता पुव्वसंजोगं हिद्या उवसमं वसित्ता बंभचेरंसि वसु वा अनुवसु वा जाणित्तु धम्मं अहा तहा अहेगे तमचाइ कुसीला।

**ष्ट्र.** 'लोकं' मातापितृपुत्रकलत्रादिकं तमातुरं स्नेहानुषङ्गतया वियोगात् कार्यावसादेन वायदिवा जन्तुलोकंकामरागातुरम् 'आदाय' झानेन 'गृहीत्वा' परिच्छिद्य तथा त्यक्त्वा च 'पूर्वसंयोगं' मातापित्रादिसम्बन्धं, तथा 'हित्वा' गत्वोपशमं उषित्वापि ब्रह्मचर्ये, किम्भूतः सन्निति दर्शयति-वसु द्रव्यं तद्भूतः कषायकालिकादिमलापगमाद्वीतराग इत्यर्थः, तद्विपर्ययेणानुवसु सराग इत्यर्थः, यदिवा वसुः-साधुः अनुवसुः-श्रावकः, तदुक्तम्-

(19) (19) "वीतरागो वसुईंयो, जिनो वा संचयोऽथवा।

सरागो ह्यऽनुवसुः प्रोक्तः, स्याविरः श्रावकोऽपि वा ''

तथा ज्ञात्वा 'धर्म्म श्रुतचारित्राख्यं यथातथावस्थितं धर्म्मं प्रतिपद्याप्यथैके मोहोद-यात्तधविद्यभवितव्यतानियोगेन 'तं' धर्म्मं प्रति पालयितुं न शक्नुवन्ति, किंमूताः । कुसितं शीलं येषां ते कुशीला इति यत एव धर्मपालनाशक्ता अत एव कुशीलाः एवम्भूताश्च सन्तः किं कुर्युरित्याह---

मू. (१९५) वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं विउसिज्ञा, अनुपुव्वेण अनहियासेमाणा परीसहे दुरहियासए, कामे ममायमाणस्स इयाणिं वा मुहुत्तेण वा अपरिमाणाए भेए, एवं से अंतराएहिं कामेहिं आकेवलिएहिं अवइन्नः चेए।

ष्ट्र. केचिद्भवशतकोटिदुरापमवाप्यमानुषंजन्म समासाद्यलब्यपूर्वी संसारार्णवोत्तरणप्रत्यलां बोधिद्रोणीमङ्गीकृत्य मोक्षतरुबीजं सर्वविरतिलक्षणं चरणं पुनर्दुर्त्रिवारतया मन्मथस्य पारिजवतया मनसो लोलुपतयेन्द्रियग्रामस्यानेकभवाभ्यासापादितविषयमधुरतया प्रबलमोह्रनीयोदयादशु-भवेदनीयोदयासन्नप्रादुर्भावदयशःकीर्त्त्युत्कटतया अवगणय्याऽऽयतिमविचार्य कार्याकार्य उररीकृत्य महाव्यसनसागरं साम्प्रतेक्षितयाऽधःकृतकुलक्रमाचारास्तत्त्यजेयुः, तत्त्यागश्च धर्म्मोपकरणपरित्यागाद्मवतीत्यतस्तद्दर्शयति--

वस्त्रमित्यनेन क्षौमिकः कल्पो गृहीतः, तथा 'पतद्ग्रहः' पात्रं कम्बलं' और्णिकं कल्पं पात्रनिर्योगं वा 'पादपुञ्छनकं' रजोहरणं एतानि निरपेक्षतया व्युत्सृज्य कश्चिद्देशविरतिमभ्यु-पगच्छति, कश्चिद्दर्शनमेवालम्बते, कश्चित्ततोऽपि भ्रश्यति । कयं पुनर्दुर्लमं चारित्रमवाय पुनस्तत्त्यजेदित्याह-परीषहान् दुरधिसहनीयान् 'अनुक्रमेण' परिपाट्या यौगपद्येन वोदीर्णान-नधिसहमानाः-परीषहैर्भग्नामोहपरवशयतयापुरस्कृतदुर्ग्तयो मोक्षमार्गं परित्यजन्ति । भोगार्थं त्यक्तवतामपि पापोदयाद्यत्त्याद्यन्

'कामान्' विरूपानपि 'ममायमाणस्स'त्ति स्वीकुर्वतो भोगाध्यवसायिनोऽन्तरायोदयात् 'इदानीं' तत्क्षणमेव प्रव्रज्यापरित्यागानन्तरमेव भोगप्राप्तिसमनन्तरमेव वा अन्तर्मुहूर्त्तेन वा कण्डरीकस्येवाहोरात्रेण वा ततोऽप्यूर्घ्वं शरीरभेदो भवत्यपरिमाणाय, एवम्भूत आत्माना सार्ख्तं विवक्षितशरीरभेदो भवति येनानन्तेनापि कालेन पुनः पश्चेन्द्रियत्वं न प्राप्नोति । एतदेवोप-सञ्जिहीर्षुराह--

'एवं' पूर्वोक्तप्रकारेण 'स' भोगाभिलाषी आन्तरायिकैः कामैः – बहुप्रत्यपायैः न केवल-मकेवलं तत्र भवा आकेवलिकाः – सद्वन्द्वाः सप्रतिपक्षा इतियावत् असम्पूर्णा वा, तैः सद्भिरवतीर्णाः संसारं तान् वा द्वितीयार्थे तृतीया, 'चः' समुच्चये, 'एत' इति भोगाभिलाषिणः, कामैरतृप्ता एव शरीरभेदमवाप्नुवन्तीति तात्पर्यार्थः ॥ अपरे त्वासन्नतया मोक्षस्य कथञ्चित्कुतश्चित् कदाचिदवाप्य चरणपरिणामं प्रतिक्षणं लघुकर्म्मतया प्रवर्द्धमानाध्यवसायिनो भवन्तीतिदर्शयितुमाह–

मू. (१९६) अहेगे धम्पमायाय आयाणप्पभिइसु पणिहिए चरे, अप्पलीयमाणे दढे सच्चं गिद्धि परिन्नाय, एस पणए महामुनी, अइअच्च सव्वओ संगं न महं अत्यित्ति इय एगो अहं, असिंस जयमाणे इत्थ विरए अनगारे सव्वओ मुंडे रीयंते, जे अचेले परिवुसिए संचिक्खइ ओमोयरियाए, से आकुट्ठे वा हए वा लुंचिए वा पलियं पकत्य अदुवा पकत्थ अतहेहिं सद्दफासेहिं इय संखाए एगयरे अन्नयरे अभिन्नाय तितिक्खमाणे परिव्वए जे य हिरी जे य अहिरीमाणा ।

म्नृ. 'अथ' अनन्तरमेके विशुद्धपरिणामतया आसन्नापवर्गतया 'धर्म्मं श्रुतचारित्राख्यं 'आदाय' गृहीत्वा वस्त्रपतद्ग्रहादिधर्म्भोपकरणसमन्विता धर्म्मकरणेषु प्रणिहिताः परीषहसहिष्णवः सर्वज्ञोपदिष्टं धर्म्म चरेयुरिति । अत्र च पूर्वाणि प्रमादसूत्राण्यप्रमादाभिप्रायेण पठितव्यानीति, उक्तं च–

II 9 II "यत्र प्रमादेन तिरोऽप्रमादः, स्याद्वाऽपि यत्नेन पुनः प्रमादः ।

विपर्ययेणापि पठन्ति तत्र, सूत्राण्यधीकारवशाद्विधिज्ञाः "

किम्भूताः पुनर्धर्म्यं चरेयुरित्याह-कामेषु मातापित्रादिके वा लोके न प्रलीयमाना अप्रलीयमानाः – अनमिषक्ता धर्म्यचरणे '६ढाः' तपःसंयमादौद्रढिमानमालम्बमाना धर्म्यं चरन्तीति, किं च – सर्वां 'गृद्धिं' भोगकाङ्घादुःखरूपतया इापरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया परित्यजेत् तत्परित्यागे गुणमाह-'एष' इति कामपिपासापरित्यागी प्रकर्षेण नतः-प्रह्नः संयमे कर्म्मधुननायां वा महामुनिर्भवति नापर इति । किं च-'अतिगत्य' अत्येत्यातिक्रम्य 'सर्वतः' सर्वैः प्रकारैः 'सङ्गं' सम्बन्धं पुत्रकलत्रादिजनितं कामानुषङ्गं वा, किं भावयेदित्याह-न मम किमप्यस्तीति यत्संसारे पतत आलम्बनाय स्यादिति, तदभावाद्य 'इति' उक्तक्रमेणैकोऽहमसिन्-संसारोदरे, न चाहमन्यस्य कर्त्यचिदिति । एतद्भावनाभावितश्च यत्कुर्यात्तदाह-'अत्र' अस्मिन् मौनीन्द्रे प्रवचने विरतः सन् सावद्यानुष्ठानादृशविधचक्रवालसामाचार्यां यतमानः, कोऽसौ ? – 'अनगारः' प्रव्रजितः, एकत्व-भावना भावयन्नवमौदर्ये संतिष्ठत इत्युत्तरसूत्रेण सम्बन्धः, इयमेव क्रिया अनन्तरसूत्रेष्वपि लगयितव्येति, किं च-

'सर्वतः' द्रव्यतो भावतश्च मुण्डो 'रीयमाणः' संयमानुष्ठाने गच्छन्, किम्भूत इत्याह-यः 'अचेलः' अल्पचेलो जिनकल्पिको वा 'पर्युषितः' संयमे उद्युक्तविहारी अन्तप्रान्तमोजी, तदपि नप्रकामतयेत्याह–'संचिक्खइ' संतिष्ठते अवमौदर्ये। न्यूनोदरतायां वर्त्तमानः सन् कदाचिद्यत्य-नीकतया ग्रामकण्टकैस्तुद्येतेत्येतद्दर्शयितुमाह–'स' मुनिर्वाग्भिराकुष्टो वा दण्डादिभिर्हतो वा लुञ्चितो वा केशोत्पाटनतः पूर्वकृतकर्म्पपरिणत्युदयादेतदवगच्छन् सम्यक्तितिक्षमाणः परिव्रजेदिति, एतद्य भावयेत्, तद्यथा--

''पावाणं च खलु भो कडाणं कम्माणं पुव्विदुच्चिन्नाणं दुप्पडिक्वंताणंवेदयित्ता मुक्खो, नत्थि अवेयइत्ता, तवसा वा झोसइत्ता'' इत्यादि । कथं पुनर्वाग्भिराक्नुश्यत इत्याह-'पलिअं'ति कर्म्म जुगुप्सितमनुष्ठानं तेन पूर्वाचरितेन कुविन्दादिना प्रकथ्य जुगुप्स्यते, तद्यथा-भो कोलिक ! प्रव्रजित ! त्वमपि मया सार्खमेवं जल्पसीति, अथवा जकारचकारादिभिरपरैः प्रकारैः प्रकथ्य निन्दां विद्यते एभिर्वा वक्ष्यमाणैः प्रकारैरित्याह-'अतथ्यैः' वितथैरसद्मूतैः शब्दैश्चौरस्त्वं पारदारिक इत्येवमादिकैः स्पर्शैश्च असद्भूतैः साधोः कर्त्तुमयुक्तैः करचरणच्छेवभिः स्वकृताद्धफलमित्येतत् 'सङ्खयाय' ज्ञात्वा तितिक्षमाणः प्रव्रजेदिति, यदिवा एतत् सङ्खयाय, तद्यथा-

"पंचहिं ठाणेहिं छउमत्थे उप्पन्ने उवसग्गे सहइ खमइ तितिक्खइ अहियासेइ, तंजहा-जक्खाइडे अयं पुरिसे १, उम्मायपत्ते अयं पुरिसे २, दित्तचित्ते अयं पुरिसे ३, ममं च णं तब्मववे-अणीयाणि कम्माणि उदिन्नाणि भवंति-जन्नं एस पुरिसे आउसइ बंधइ तिप्पइ पिट्टइ परितावेइ ४, ममं च णं सम्म सहमाणस्स जाव अहियासेमाणस्स एगंतसो कम्मनिज्ञरा हवइ ५ ।

-पंचहिं ठाणेहिं केवली उदिन्ने परीसहे उवसग्गे जाव अहियासेझा, जाव ममं च णं अहियासेमाणस्स बहवे छउमत्या समणा निग्गंथा उदिन्ने परीसहोवसग्गे सम्मं सहिस्संति जाव अहियासिस्संति'' इत्यादि, परीषहाश्चानुकूलप्रतिकूलतया भिन्ना इत्येतद्दर्शयितुमाह-एकतरान्-अनुकूलान् अन्यतरान्-प्रतिकूलान् परीषहानुदीर्णानभिज्ञाय सम्यक्तितिक्षमाणः परिव्रजेत् यदिवाऽन्यथा परीषहाणां द्वैविध्यमित्याहन्ये च परीषहाः सत्कारपुरस्कारादयः साधोर्हारिणो-मन आह्लादकारिणो ये तु प्रतिकूलतया अहारिणो-मनसोऽनिष्टा, यदिवा झीरूपाः-याचनाऽ-चेलादयः, अद्वीमनसश्च-अलज्ञाकारिणः शीतोष्णादयः इत्येतान् द्विरूपानपि परीषहान् सम्यक् तितिक्षमाणः परिव्रजेदिति ॥ किं च-

मू. (१९७) विद्या सब्वं विसुत्तियं फासे समियदंसणे, एए भो नगिना वुत्ता जे लोगंसि अनागमणधम्मिणो आणाए मामगं धम्मं एस उत्तरवाए इह माणवाणं वियाहिए, इत्योवरए तं झोसमाणे आयाणिञ्जं परित्राय परियाएण विगिंचइ, इह एगेसिं एगचरिया होइ तत्थियरा इयरेहिं कुलेहिं सुखेसणाए सब्वेसणाए से मेहावी परिव्वए सुब्मिं अदुवा दुब्मिं अदुवा तत्थ भेरवा पाणा पाणे किलेसंति, ते फासे पुडो धीरे अहियासिज्ञासि--- त्तिबेमि ।।

ष्ट्र. त्यक्त्वा सर्व्वा परीषहकृतां विस्नोतसिकां परीषहापादितान् स्पर्शान्-दुःखानुभवान् 'स्पृशेत्' अनुभवेत् सम्यगधिसहेत, स किम्भूताः ? - सम्यग् इतं-गतं दर्शनं यस्य स समितदर्शनः, सम्यग्धष्टिरित्यर्थः । तत्सहिष्णवश्च किम्भूताः स्युरित्याह-'भोः' इत्यामन्त्रणे 'एते' परीषहसहिष्णवो निष्कि श्चना निर्ग्रन्था भावनग्ना 'उक्ताः' अभिहिताः, यस्मिन्मनुष्यलोके अनागमनं धर्म्भो येषां तेऽनागमनधर्म्माणः, यथाऽऽरोपितप्रतिज्ञाभारवाहित्वान्न पुनर्गृहं प्रत्यागमनेप्सव इति, किं च-आज्ञाप्यतेऽनयेत्याज्ञा तया मामकं धर्म्म सम्यगनुपालयेत् तीर्थकर एवमाहेति, यदिवा धर्म्मानुष्ठाय्येवमाह-धर्म्म एवैको मामकः अन्यत्तु सर्वं पारक्यमित्यतस्तमहमाज्ञयाःतीर्थकरोपदेशेन सम्यक्करोमीति, किमित्याज्ञया धर्म्मोऽनुपाल्यत इत्यत आह— 'एषः' अनन्तरोक्तः 'उत्तरवाद' उत्कृष्टवाद इह मानवानां व्याख्यत इति। किं च --'अत्र' अस्मिन् कर्म्यधुननोपाये संयमे उप-सामीप्येन रत उपरतः तद्-अध्प्रकारं कर्म्म 'झोषयन्' क्षपयन् धर्म्म चरेदिति, किं चापरं कुर्यादित्याह-आदीयत इत्यादानीयं-कर्म्म तत्परिज्ञाय मूलोत्तरप्रकृतिमेदतो ज्ञात्वा 'पर्यायेण' श्रामण्येन विवेचयति, क्षपयतीत्यर्थः । अत्र चाशेषकर्म्मधुननासमर्थं तपस्तद्बाह्यमधिकृत्योच्यते-'इह' अस्मिन् प्रवचने 'एकेषां' शिथिलकर्म्मणामेकचर्या मवति-एकाकिविहारप्रतिमाऽम्युपगमो भवति, तत्र च नानारूपामिग्रहविशेषास्तपश्चरणविशेषाश्च भवन्तीत्यस्तावद्याभृतिकामधिकृत्याह-

'तत्र' तस्मिन्नेकाकिविहारे 'इतरे' सामान्यसाधुभ्यो विशिष्टतरा 'इतरेषु' अन्तप्रान्तेषु कुलेषु शुद्धैषणया दशैषणादोषरहितेनाहारादिना 'सर्वैषणये'ति सर्वा याऽऽहाराद्युद्गमोत्पादन-ग्रासैषणारूपा तया सुपरिशुद्धेन विधिना संयमे परिव्रजन्ति, बहुत्वेऽप्येकदेशतामाह-स मेधावी मर्यादाव्यवस्थितः संयमे परिव्रजेदिति, किं च--स आहारस्तेष्वितरेषु कुलेषु सुरभिर्वा स्यात् अथवा दुर्गन्धः, न तत्र रागद्वेषौ विदध्यात्, किं च-अथवा तत्रैकाकिविहारित्वे पितृवनप्रतिमाप्रतिपन्नस्य सतो 'भैरवा' यानका यातुधानादिकृताः शब्दाः प्रादुर्भवेयुः, यदिवा 'भैरवा' बीमत्साप्राणाः' प्राणिनो दीप्तजिह्वादयोऽपरान् प्राणिनः 'क्लेशयन्ति' उपतापयन्ति, त्वं तु पुनस्तैः स्पृष्टस्तान् स्पर्शान्दुःखविशषान् 'धीरः' अक्षोभ्यः सन्नतिसहस्व।इतिरधिकारपरिसमाप्ती, व्रवीमीति पूर्ववत्। अध्ययनं-६ - उद्देशकः- २ समाप्तः

-: अध्ययनं - ६ - उद्देशक: ३ :-

**वृ.** उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशकेकर्म्मधूननाऽभिहिता, साचनोपकरणशरीरविधूननामन्तरेण, इत्यतस्तद्विधून-नार्थमिदमारभ्यते, इत्यनेनसम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्य सूत्रमुच्चारयितव्यम्, तच्चेदम्-

मू. (१९८) एयं खु मुणी आयाणं सया सुयक्खायधम्मे विहूयकपे निज्झोसइत्ता, जे अवेलेपरिवुसिए तस्सणं भिक्खुस्स नो एवं भवइ-परिजुण्णे मे वत्यं जाइस्सामि सुत्तं जाइस्सामि सूइं जाइस्सामि संधिस्सामि सीविस्सामि उक्कसिस्सामि वुक्कसिस्समि परिहिस्सामि पाउणिस्सामि, अदुवा तत्थ परिक्कमंतं मुज्जो अचेलं तणफासा फुसंति सीयफासा फुसंति तेउफासा फुसंति दंसमसगफासा फुसंति एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ अचेले लाघवं आगममाणे, तये से अभिसमन्नागए भवइ, जहेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिद्या सव्वओ सव्वत्ताए संमत्तमेव समभिजाणिज्जा, एवं तेसिं महावीराणं चिररायं पुब्वाइं वासाणि रीयमाणाणं दवियाणं पास अहियासियं।

ष्ट्र. 'एतत्' यत्पूर्वोक्तं वक्ष्यमाणं वा 'खुः' वाक्यालङ्कारे, आदीयते इत्यादानं-कर्म्म आदीयते वाऽनेन कर्म्मेत्यादानंकर्म्मोपादानं, तद्य धर्म्मोपकरणातिरिक्तं वक्ष्यमाणं वस्त्रादि तन्मुनिः निर्झोषयितेति सम्बन्धः, किम्भूतः ? — 'सदा' सर्वकालं सुष्ठवाख्यातो धर्म्मोऽस्येति स्वाख्यातधर्म्मा-संसारमीरुत्वाद्यथारोपितभारवाहीत्पर्थः, तथा विधूतः-क्षुण्णः सम्यग्स्पृष्टः कल्पः – आचारो येन सतथा, स एवम्भूतो मुनिरादानं झोषयित्वा आदानमपनेष्यति, कथं पुनस्तदादानं वस्त्रादि स्याधेन तत्त झोषयितव्यं भवेदित्याह –

Jain Education International

अल्पार्थे नञ्, यथाऽयंपुमानज्ञः, स्वल्पज्ञानइत्यर्थः, यः साधुर्नास्यचेलं-वस्त्रमस्तीत्यचेलः, अल्पचेल इत्यर्थः, संयमे 'पर्युषितो' व्यवस्थित इति, तस्य भिक्षोः 'नैतद्मवति' नैतत्कल्पते यथा परिजीर्णं मे वस्त्रमचेलकोऽहं भविष्यामि न मे त्वग्क्राणं भविष्यति, ततश्च शीताद्यर्दितस्य किं शरणं मे स्यादिति वस्त्रं विनेत्यतोऽहं कञ्चन श्रावकादिकं प्रत्यग्रं वस्त्रं याचिष्ये, तस्य वा जीर्णस्य वस्त्रस्य सन्धानाय सूत्रं याचिष्ये, सूर्धि च याधिष्ये, अवाप्तभ्यां च सूचिसूत्राभ्यां जीर्णवस्त्ररन्ध्रं सन्धास्यामि-पाटितं सेविष्यामि, लघु वा सदपरशकललगनत उत्कर्षयिष्यामि, दीर्धं वा सत् खण्डापनयनतो व्युत्कर्षयिष्यामि, एवं च कृतं सत्परिधास्यामि तथा प्रावरिष्यामीत्याद्यार्त्तध्या-नोपहता असत्यपि जीर्णादिवसद्मावे यद्मविष्यत्ताऽध्यवसायिनो धर्म्मैकप्रवणस्य न भवत्यन्तःकरणवृत्तिरिति, यदिवा जिनकल्पिकाभिप्रायेणैवैतत्सूत्रं व्याख्येयं, तद्यथा–

'जे अचेले' इत्यादि, नास्य चेलं-वस्त्रमस्तीत्य चेलः- अच्छिद्रपाणित्वात् पाणिपात्रः, पाणिपात्रत्वात् पात्रादिससविधतन्निर्योगरहितो 5 भिग्रहविशेषात् त्यक्तकल्पत्रयः केवलं रजोहरणमुखर्वस्त्रिकासमन्वितस्तस्याचेलस्य भिक्षोर्नेतद्मवति, यथा-परिजीर्णं मे वस्त्रं छिद्रं पाटितं चेत्येवमादि वस्त्रगतमपध्यानं न भवति, धर्म्मिणो 5 भावाद्धर्म्माभावः, सति तु धर्म्मिणि धर्म्मान्वेषणं न्याय्यभिति सत्पथः, तथेदमपि तस्य न भवत्येव यथा-अपरं वस्त्रमहं याचिष्ये इत्यादि पूर्ववन्नेयं, योऽपि छिद्रपाणित्वात् पात्रनिर्योगसमन्वितः कल्पत्रयान्यतरयुक्तो 5 सावपि परिजीर्णादिसद्भावे तद्गतमपध्यानं न विधत्ते, यथाकृत्तस्याल्पपरिकर्म्मणो ग्रहणात्सूचिसूत्रान्वेषणं न करोति । तस्य चाचेलस्याल्पचेलस्य वा तृणादिस्पर्शसद्भावे यद्विधेयं तदाह—

तस्य ह्यचेलतया परिवसतो जीर्णवस्त्रादिकृत्तमपघ्यानं न भवति, अथवैतत्स्यात्-तत्राचेलले पराक्रममाणं पुनस्तं साधुभचेलं कृवचिद्रागमादौ त्वक्राणाभावात् तृणशय्याशायिनं तृणानां स्पर्शाः परुषास्तृणैर्वा जनिताः स्पर्शाः-दुःखविशेषास्तृणस्पर्शास्ते कदाचित्स्पृशन्ति, तांश्च सम्यग् अदीनमनस्कोऽतिसहत इति सम्बन्धः, तया शीतस्पर्साः स्पृशन्ति, तथा दंशमशकस्पर्शाः स्पृशन्ति, एतेषां तु परीषहाणामेकतरेऽविरुद्धा दंशमशकतृणस्पर्शादयः प्रादुर्भवेयुः, शीतोष्णादिपरीषहाणां वा परस्परविरुद्धानामन्यतरे प्रादुष्ण्युः, प्रत्येकं बहुवचननिर्द्देशश्च तीव्रमन्दमध्यमावस्यासंसूचकः, इत्येतदेव दर्शयति-विरूपं-बीमत्सं मनोऽनह्लादि विविधं वा मन्दादिभेदाद्भूपं-स्वरूपं येषां ते विरूपरूपाः, के ते ? –

'स्पर्शाः' दुःखविश्रेषाः, तदापादकास्तृणादिस्पर्शा वा, तान् सम्यक्षणेनापध्यानरहितोऽधि-सहते, कोऽसौ ? – 'अचेलः' अपगतचेलोऽल्पचेलो वा अचलनस्वरूपो वा सम्यक्तितिक्षते, किमभिसन्ध्य परीषहानधिसहत इत्यत आह-लघोर्भावो लाघवं, द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतो ह्युपकरणलाघवं भावतः कर्म्पलाघवं 'आगमयन्' अवगमयन् बुध्यमान इतियावद् अधिसहते परीषहोपसम्पनिति, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति एवं खलु से उवगरण लाघवियं तवं कम्पक्खय कारंण करेह एवं-- उक्तक्रोण भावलाघवार्थमुपकरणलाघवं तपश्च करोति इति भावार्थः । किं च –

'से' तस्योपकरणलाधवेन कर्म्मलाधवमागमयतः कर्म्मलाधवेन चोपकरणलाधवमागमयत-स्तृणादिस्पर्शानधिसहमानस्य 'तपः' कायक्लेशरूपतया बाह्यमभिसमन्वागतं भवति-सम्यग् आमिमुख्येन सोढं भवति । एतच्च न मयोच्यते इत्येतद्दर्शयितुमाह-'यथा' येन प्रकारेण 'इद'मिति यदुक्तं वक्ष्यमाणं चैतद्भगवता-वीरवर्द्धमानस्वामिना प्रकर्षेणादौ वा वेदितं प्रवेदितमिति, यदि नाम भगवता प्रवेदितं ततः किमित्याह-तद्-उपकरणलाघवमाहारलाघवं वा 'भिसमेत्य' ज्ञात्वा एवकारोऽवधारणे, तदेव लाघवं ज्ञात्वेत्यर्थः, कथमिति चेत् तदुच्यते-'सर्वत' इति द्रव्यतः क्षेत्रतः कालतो भावतश्च, तत्र द्रव्यतः आहारोपकरणादौ क्षेत्रतः सर्वत्र ग्रामादौ कालतोऽहनि रात्रौ वा दुर्भिक्षादौ वा सर्वात्मनेति भावतः कृत्रिमकत्काद्यभावेन, तथा 'सम्यकत्व' मिति प्रशस्तं शोभनं एकं सह्नतं वा तत्त्वं सम्यकत्वं, यदुक्तम्–

II 9 II ''प्रशस्तः शोमनश्चैव, एकः सङ्गत एव च I इत्येतैरुपसृष्टस्तु, भावः सम्यकत्वमुच्यते ''

तदेवम्भूतं सम्यकत्वमेव समत्वमेव वा 'समभिजानीयात्' सम्यगाभिमुख्येन जानीयात्-परिच्छिन्द्यात्, तथाहि-अचेलोऽप्येकचेलादिकं नावमन्यते, यत उक्तम्–

॥ ९ ॥ "जोऽवि दुवत्यतिवत्यो एगेण अचेलगो व संथरइ।

न हु ते हीलंति परं सब्वेऽवि य ते जिणाणाए ''

- II २ It (तथा)- "जे खलु विसरिसकप्पा संघयणधियादिकारणं पप्प । नऽवमञ्रइ ण य हीणं अप्पाणं मन्नई तेहिं ''
- II ३ II सव्वेऽवि जिणाणाए जहाविहिं कम्पखवणअडाए । विहरति उज्जया खलु सम्पं अभिजाणई एवं ''

यदिवा तदेव लाघवमभिसमेत्य सर्वतो द्रव्यादिना सर्वात्मना नामादिनसम्यकत्वमेव सम्यगभिजानीयात्, तीर्थकरगणधरोपदेशात् सम्यक्क्यीदिति तात्पर्यार्थः । एतच्च नाशक्यानुष्ठानं ज्वरहरतक्षकचूडालङ्काररत्नोपदेशवद्भवतः केवलमुपन्यस्यते, अपित्वन्यैर्बहुभिश्चिरकालमासेवित-मित्येतद्दर्शयितुमाह-'एवम्' इत्यचेलतया पर्युषितानां तृणादिस्पर्शानधिसहमानानां तेषां महावीराणां सकललोकचमत्कृतिकारिणां 'चिररात्रं' प्रभूतकालं यावज्ञीवमित्यर्थः, तदेव विशेषतो दर्शयति-

'पूर्वणि' प्रभूतानि वर्षाणि 'रीयमाणानां' संयमानुष्ठानेन गच्छतां, पूर्वस्य तु परिमाणं वर्षाणां सप्ततिः कोटिलक्षाः षट्पञ्चाशच्च कोटिसहाः, तथा प्रभूतानि वर्षाणि रीयमाणानां, तत्र नाभेयादारम्य शीतलं दशमतीर्थकरं यावत्पूर्वसङ्ख्यासद्भावत् पूर्वाणीत्युक्तं, ततः आरतः श्रेयांसादारम्य वर्षसङ्ख्याप्रवृत्तेर्वषाणीत्युक्तमिति, तथा 'द्रव्याणां' भव्यानां मुक्तिगमनयोग्यानां 'पश्च' अवधारय यत्तृणस्पर्शादिकं पूर्वमभिहितं तदधिसोढव्यमिति सम्यक्कणेन स्पर्शातिसहनं कूमेतदवगच्छेति ॥ एतद्याधिसहमानानां यत्स्यात्तदाह–

्रमू. (१९९) आगयपत्राणाणं किसा बाहवो भवंति पयणुए य मंससोणिए विस्सेणिं कट्ट परित्राय, एस तिण्णे मुत्ते विरए वियाहिए – तिबेमि– ।।

ष्ट्र. आगतं प्रज्ञानं पदार्थाविर्भावकं येषां ते तथा तेषामागतप्रज्ञानानां तपसा परीषहातिसहनेन च कृशा 'बाहवः' भुजा भवन्ति, यदिवा सत्यपि महोपसर्गपरीषहादावागतप्रज्ञानत्वाद् 'बाधाः' पीडाः कृशा भवन्ति, कर्म्मक्षपणायोत्थितस्य शरीरमात्रपीडाकारिणः परीषहोपसर्गान् सहायानिति मन्यमानस्य न मनःपीडोत्पद्यत इति, तदुक्तम्-

## II 9 II "निम्माणेइ परो चिय अप्पाण उ ण वेथणं सरीराणं । अप्पाणो चिअ हिअयस्स न उण दुक्खं परो देइ ''

इत्यादि, शरीररस्य तु पीडा भवत्येवेति दर्शयितुमाइ-प्रतनुके च मांसं च शोणितं च मांसशोणिते ढे अपि, तस्य हि रूक्षाहारत्वादल्पाहारत्वाद्य प्रायशः खलत्वेनैवाहारः परिणमति, न रसत्वेन, कारणाभावाद्य प्रतन्वेव शोणितं तत्तनुत्वान्मांसमपीति ततो मेदादीन्यपि, यदिवा प्रायशो रूक्षं वातलं भवति, वातप्रधानस्य च प्रतनुतैव मांसशोणितयोः, अचेलतया च तृण-स्पर्शादिप्रादुर्भावेन शरीरोपतापात् प्रतनुके मांसशोणिते भवत इति सम्बन्धः, 'संसारश्रेणी' संसारावतरणी रागढेषकषायसंततिस्तां क्षान्त्यादिना विश्रेणीं कृत्वा, तथा 'परिज्ञाय' झात्वा च समत्वमावनया, तद्यथा--

जिनकल्पिकः कश्चिदेककल्पधारी द्वौत्रीन् वा बिमर्त्ति, स्थविरकल्पिको वा मासार्द्धमा-सक्षपकः तथा विकृष्टविकृष्टतपश्चारी प्रत्यहं भोजी कूरगडुको वा, एते सर्वेऽपि तीर्थकृद्धचनानुसारतः परस्परानिन्दया समत्वदर्शिन इति, उक्तं च-

II 9 II '' जोवि दुवत्थतिवत्थो एगेण अचेलगो व संथरइ I न हु ते हीलेंति परं सच्वेवि हु ते जिणाणाए ''

तथा जिनकल्पिकः प्रतिमाप्रतिपन्नो वा कश्चित्कदाचित् षडपि मासानात्मकल्पेन भिक्षां नलमेत तथाऽप्यसौ कूरगडुकमपि यथौदनमुण्डस्त्वमित्येवं न हीलयति। तदेवं समत्वदृष्टिप्रज्ञया विश्रेणीकृत्य 'एष; उक्तलक्षणो मुनिः तीर्णः संसारसागरं एष एव मुक्तः सर्वसङ्गेभ्यो विरतः सर्वसावद्यानुष्ठानेभ्यो व्याख्यातो नापर इति । ब्रवीमीतिशब्दौ पूर्ववत् ॥ तदेवं संसारश्रेणीं विश्लेषयित्वा यः संसारसागरतीर्णवत्तीर्णो मुक्तवन्मुक्तो विरतो व्याख्यातः, तं च तथाभूतं किमरतिरभिभवेदुत नेति, अचिन्त्यसामर्थ्यात् कर्म्पणोऽभिभवेदित्येतदेवाह--

भू. (२००) विरयं भिक्खुं रीयंतं चिरराओसियं अरई तत्य किं विधारए?, संघेमाणे समुहिए, जहा से दीवे असंदीणे एवं से धम्मे आरियपदेसिए, ते अनवकंखमाणा पाणे अनइवाएमाणा जइया मेहाविणो पंडिया, एवं तेसिं मगवओ अनुद्वाणे जहा से दियापोए एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अनुपुच्वेण बाइय – तिबेमि–॥

ष्ट्र. विरतमसंयमाद्भिक्षणशीलं भिक्षुं 'रीयमाणं' निस्सरन्तमप्रशस्तेभ्योऽसंयमस्यानेभ्यः प्रशस्तेष्वपि गुणोत्कर्षादुपर्युपरि वर्त्तमानं चिररात्रं-प्रभूतं कालं संयमे उषितश्चिररात्रोषित-स्तमेवंगुणयुक्तम् 'अरतिः' संयमोद्विग्नता 'तत्र' तस्मिन् संयमे प्रवर्त्तमानं 'किं विधारयेत्' किं प्रतिस्खलयेत् ? , किंशब्दः प्रश्ने, किं तथाभूतमपि मोक्षप्रस्थितं प्रणाय्य विषयमरतिर्विधारयेत्, ओमित्युच्यते, तथाहि-दुर्बलान्यविनयवन्ति चेन्द्रियाण्यचिन्त्या मोहर्शक्तिर्विधित्रा कर्म्परिणतिः किं न कुर्यादिति, उक्तं च—

II ''कम्पाणि नूनं घणचिक्रणाइं गरुयाइं वइरसाराइं । नाणडिअंपि पुरिसं पंथाओ उप्पहं निति ''

यदिवा किं क्षेपे, किं तथाभूतं विधारयेदरतिः ? , नैव विधायरयेदित्यर्थः, तयाहि-असौ क्षणे क्षणे विशुद्धतरचरणपरिणामतया विष्कम्भितमोहनीयोदयत्वाछघुकर्म्मा भवतीति, कुतस्तमरतिर्विर्न विधारयेदित्याह-क्षणे क्षणेऽव्यवच्छेदेनोत्तरोत्तरं संयमस्थानकण्डकं संदधानः सम्यगुत्थितः समुत्यितः उत्तरोत्तरं गुणस्थानकं वा संदधानो यथाख्यातचारित्राभिमुखः समुत्यितोऽ-सावतस्तमरतिः क<sup>77</sup>विधारयेदिति ? । सचैवम्भूतो न केवलमात्मनाता परेषामप्यरतिविधारकत्वात् त्राणायेत्येतद्दर्शयितुमाह-दिर्गता आपोऽस्मिन्निति द्वीपः, स च द्रव्यभावभेदात् द्वेधा-

तत्र द्रव्यद्वीप आश्वासद्वीपः, आश्वास्यतेऽस्मिन्नित्याश्वासः आश्वासश्चासौ द्वीप-श्चाश्वासद्वीपो, यदिवा आश्वसनमाश्वासः, आश्वासाय द्वीप आश्वासद्वीपः, तत्र नदीसमुद्रबहु-मध्यप्रदेशे भिन्नबोहित्यादयस्तमवाप्याश्वसन्ति, असावपि द्वेधा-सन्दीनोऽसन्दीनश्चेति, यो हि पक्षमासादावुदकेन प्लाव्यते स सन्दीनो, विपरीतस्त्वसन्दीनः सिंहलद्वीपादिः, यथा हि सांयात्रि-कास्तंद्वीपमसन्दीनमुदन्वदादेरुत्तितीर्षवः समवाप्याश्वसन्ति एवं तं मावसंघानायोत्यितं साधु-मवाप्यापरे प्राणिनः समाश्वस्युः, यदिवा दीप इति प्रकाशदीपः, प्रकाशाय दीपः प्रकाशदीपः, स चादित्यचन्द्रमण्यादिरसन्दीनोऽपरस्तु विद्युदुल्कादिः सन्दीनो, यदिवा प्रचुरेन्धनतया विवक्षितकालावस्थाय्यसन्दीनोविपरीतस्तु सन्दीन इति, यथा ह्यसौस्यवपुटाद्यावेदनतो हेयोपादेय-हानोपादानवतां निमित्तमावमुपयाति तथा क्**वचत्समुद्राद्यन्त्वीनिः साधुर्विशिष्टोपदेशदानतो**ऽ-परेषामुपकारायेति, अपरे मावदीपं मावदीपं वा अन्यथा व्याचश्रक्षते-तद्यथा--

भावद्वीपः सम्यकत्वं, तच्च प्रतिपातित्वादौपशमिकं क्षायोपशमिकं च संदीनो भावद्वीपः, क्षायिकं त्वसन्दीनं इति, तं द्विविधमवाप्य परीतसंसारत्वात् प्राणिन आश्वसन्ति, भावदीपस्तु सन्दीनः श्रुतज्ञानम् असंदीनस्तु केवलमिति, तच्चावाप्य प्राणिनोऽवश्यमाश्वसन्त्येवेति, अथवा धर्म्पसंदधानः समुत्थितः सन्नरतेर्दुष्प्रधृष्यो भवतीत्युक्ते कश्चिद्योदयेत्—किम्भूतोऽसौ धर्म्मो ? यत्सन्धानाय समुत्थितः सन्नरतेर्दुष्प्रधृष्यो भवतीत्युक्ते कश्चिद्योदयेत्—किम्भूतोऽसौ धर्म्मो ? यत्सन्धानाय समुत्थित इति, अत्रोच्यते, यथाऽसौ द्वीपोऽसन्दीनः--असलिलज्जुतोऽवरुग्णवाहना-नाभितरेषां च वहूनां जन्तूनां शरण्यतयाऽऽश्वासहेतुर्भवत्येवमसावपि धर्म्भः 'आर्यप्रदेशितः' तीर्थकरप्रणीतः कषतापच्छेदनिर्धटितोऽसन्दीनः, यदिवाकुतर्क्वाप्रघृष्यतयाऽसन्दीनः--अक्षोभ्यः प्राणिनां त्राणायाश्वासभूमिर्भवति । तस्य चार्यदेशितस्य धर्म्पस्य किं सम्यगनुष्ठायिनः केचन सत्ति ?, ओमित्युच्यते, यदि सन्ति किम्भूतास्त इत्यत आह–

'ते' साधवो भावसन्धानोद्यताः संयमारतेः प्रणेदका मोक्षनेदिष्ठा भोगाननवकाङ्कत्तो धर्म्म सम्यगुत्यानवन्तः स्युरिति, एतदुत्तरत्रापि योज्यम्, तथा प्राणिनोऽनतिपातयन्तः, उपलक्षणार्थत्वात् शेषमहाव्रतग्रहणमायोज्यं, तथा कुशलानुष्ठानप्रवृत्तत्वाद्दयिताः सर्वलोकानां, तया 'मेघाविनो' भर्यादाव्यवस्थिताः 'पण्डिताः' पापोपादानपरिहारितया सम्यक्पदार्थज्ञा धर्म्मचरणाय समुत्यिता भवन्तीति । ये पुनस्तथाभूतज्ञानामावात् सम्यग्विवेकविकलतया नाद्यापि पूर्वोक्तरसमुत्यनवन्तः स्युः ते तथाभूता आचार्यादिभिः सम्यगनुपाल्या यावद्विवेकिनोऽभूवन्नित्येतदर्शयितुमाह-

'एवम्' उक्तविधिना 'तेषाम्' अपरिकर्मितमतीनां 'भगवतों' वीरवर्द्धमानस्वामिनो धर्म्म सम्यगनुत्थाने सति तत्परिपालनतस्तथा सदुपदेशदानेन परिकर्मितमतित्वं विधेयमिति, अत्रैव ध्द्यान्तमाह-द्विजः--पक्षी तस्य पोतः-शिशुः द्विजपोतः स यथा तेन द्विजेन गर्मप्रसवात् प्रभृत्यण्ड-कोच्छ्नोच्छूनतरभेदादिकास्ववस्थासु यावन्निष्मन्नपक्षस्तावत्पाल्यते एवमाचार्येणापि शिक्षकः प्रव्रज्यादानादारभ्य सामाचार्युपदेशदानेनाघ्यापनेन च तावदनुपाल्यते यावद्गीतार्थोऽभूत्, यः पुनराचार्योपदेशमुल्लक्ष्य स्वैरित्वाद्यथा कथञ्चिक्रियासुप्रवत्तते स उज्जयिनीराजपुत्रवद्विनश्येदिति,

तद्यथा--उज्जयिन्यां जितशत्रो राज्ञो द्वौ पुत्री, तंत्र ज्येष्ठो धर्म्यधोषाचार्यसमीपे संसारासार-तामवगम्य प्रवद्राज, क्रमेण चाधीताचारादिशास्त्रोऽवगततदर्थश्च जिनकल्पं प्रतिपित्सुः द्वितीयां सत्त्वमावनां मावयति, सा च पश्चधा--

तत्र प्रयमोपाश्रये द्वीताय तद्वहिः तृतीया चतुष्के चतुर्थी शून्यगृहे पश्चमी श्मशाने, तत्र पश्चमीं मावनां भावयतः स कनिष्ठो भ्राता तदनुरागादाचार्यान्तिकमागत्योवाच—मम ज्यायान् भ्राता क्वास्ते ? , साधुभिरमणि—किं तेन ? , स आह-प्रव्रजाम्यहं, आचार्येणोक्तो—गृहाण तावत् प्रव्रज्यां पुनर्द्रक्ष्यसि, स तु तथैव चक्ने, पुनरपि पृच्छत आचार्या ऊचुः—किं तेन ध्ष्टेन ? , नासौ कस्यचिदुल्लापमपिददाति, जिनकल्पं प्रतिपत्तुकाम इति, आसावाह-तथाऽपि पश्यामितावदिति, निर्बन्धेदर्श्तितः, तूष्णीमावस्थित एव बन्दितः, तदनुरागाद्य निषिद्धोऽप्याचार्येण निवार्यमाणोऽ-प्युपाध्यायेन ग्नियमाणोऽपि साधुभिरसाम्प्रतमेतद्मवतो दुष्करं दुरध्यवसेयमित्येवं कथ्यमानेऽप्यहमपि तेनैव पित्रा जात इत्यवष्टम्भेन मोहात्त्यैव तस्थै यथा ज्येष्ठो भ्रातेति, इतसे देवतयाऽऽगत्य वन्दितः, शिक्षकस्तु न वन्दितः, ततोऽसावपरिकर्मितमतित्वात्कुपितः, अविधिरितिकृत्वा देवताऽपि तस्योपरि कुपिता सती तलप्रहारेणाक्षिगोलकौ बहिर्निश्चिक्षेप, ततस्तज्र्यायान् हृदयेनैव देवतामाह—

किमित्ययमज्ञस्त्वया कदर्थितः, तदस्याक्षिणी पुनर्नवीकुरु, सा त्ववादीत्-जीवप्रदेशैर्मु-क्ताविमौ गोलकौ न शक्यौ पुनर्नवीकर्त्तु इत्युकत्वा ऋषिवचनमलङ्घनीयमित्यवधार्य तत्क्षणश्वा-पाकव्यापादितैलाक्षिगोलकौ गृहीत्वा तदक्ष्णोश्चकार। इत्येवमनुपदेशप्रवर्त्तनं सापाय-मित्यवधार्य शिष्येण सदाऽऽचार्योपदेशवर्तिना माव्यम्, आचार्येणापि सदा स्वपरोपकारवृत्तिना सम्यक् स्वशिष्ण यथोक्तविधिना प्रतिपालनीया इति स्थितम् । इत्येतदेवोपसंहरन्नाह-यथा द्विजपोतो मात-ापितृभ्यामनुपाल्यते एवमाचार्येणापि शिष्या अहर्निशम् 'अनुपूर्वेण' क्रमेण 'वाचित्तैः' पाठिताः शिक्षां ग्राहिताः समस्तकार्यसहिष्णवः संसारोत्तरणसमर्थाश्च भवन्ति । इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीति पूर्ववत् ।

अध्ययनं-६ - उद्देशकः- ३ समाप्तः

# -: अध्ययनं-६ - उद्देशकः - ४ :-

ष्ट्र उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थं आरम्पते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके शरीरोपकरणधूननाऽभिहिता, सा च परिपूर्णा न गौरवत्रिकसमन्वितस्येत्यतस्यद्धूननार्थभिक् मुपक्रम्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यास्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुद्यारणीयं, तच्चेवम्

मू. (२०९) एवं ते सिस्सा दिया य राओ य अनुपुच्चेण वाइया तेहिं महावीरेहिं पत्राणमनेति तेसिमंतिए पत्राणमुवलब्भ हिम्रा उवसमं फारुसियं समाइयंति, वासित्ता बंभचेररिस आणं तं नोत्ति मत्रमाणा आधायं तु सुद्धा निसम्म, समणुत्रा जीविस्सामो एगे निक्खमंते असंभन्त विडज्झमाणा कामेहिं गिद्धा अज्झोववत्रा समाहिमाधायमजोसयंता सत्थारमेव फरुसं वयंति, षु. 'एवम्' इति द्विजपोतसंवर्द्धनक्रमेणैव 'ते शिष्ट्याः' स्वहस्तप्रव्राजिता उपसम्पदागतः प्रातीच्छकाश्च दिवाच रात्रौच 'अनुपूर्वेण' क्रमेण 'वाचितः' पाठिताः, तत्र कालिकमह्तः प्रथमचतुर्थ-पौरुष्योरध्याप्यते उत्कालिकं तु कालवेललावर्जं सकलमप्यहोरात्रमिति, तच्चाध्यापन-माचारादिक्रमेण क्रियते, आचारश्च त्रिवर्षपर्यायोऽध्याप्यत इत्यादिक्रमेणाध्यापिताः शिष्याश्चारित्रं च ग्राहिताः, तद्यथा–

युगमात्रद्धष्टिना गन्तव्यम् कूर्म्मवत्सङ्कुचिताङ्गेन भाव्यमित्याधेवं शिक्षां ग्राहिता वाचिताः-अध्यापिताः, कैरिति दर्शयति–तैर्महावीरेः-तीर्थकरैर्गणधराचार्यादिभिः, किम्भूतैः ? –प्रज्ञानवदिभः, ज्ञानिभिरेवोपदेशादि दत्तं लगतीत्यतो विशेषणं, ते तुशिष्याः द्विप्रकारा अपि प्रेक्षापूर्वकारिणस्तेषाम्-आचार्यादीनाम्अन्तिके' समीपे प्रकर्षेण ज्ञायते अनेनेति प्रज्ञानं–श्रुतज्ञानं, तस्यैवापरस्मादाप्तिस-द्भावादित्यतस्तद्, 'उपलभ्य' लब्ध्वा बहुश्रुतीभूताः प्रबलमोहोदयापनीतसदुपदेशोत्कटमदत्वात् त्यक्तचोपशमं,

-स च द्वेधा-द्रव्यभावभेदात्, तत्र द्रव्योपशमः कतकफलाद्यापादितः कलुषजलादेः भावोपशमस्तु ज्ञानादित्रयात्, तत्र यो येन ज्ञानेनोपशाम्यति स ज्ञानोपशमः, तद्यया-आक्षेपण्या-धन्यतरया धर्म्मकथया कश्चिद् उपशाम्यतीत्यादि, दर्शनोपशमस्तु यो हि शुद्धेन सम्यग्दर्शनेनाप-रमुशपशमयति, यथाश्रेणिकेनाश्चद्दधानो देवः प्रतिबोधित इति, दर्शनप्रभावकैर्वा सम्यग्दर्शनेनाप-रमुशपशमयति, यथाश्रेणिकेनाश्चद्दधानो देवः प्रतिबोधित इति, दर्शनप्रभावकैर्वा सम्यग्दर्शनेनाप-कश्चिदुपशाम्यति, चारित्रोपशमस्तुक्रोधाद्युपशमो विनयनम्रतेति, तत्र केचन क्षुद्रका ज्ञानोदन्वतोऽ-द्याप्युपर्येव प्लवमानास्तमेवंभूतमुपशमं त्यक्त्वा ज्ञानलवोत्तन्भितगर्वाध्माताः 'पारुष्यं' परुषतां 'समाददति' गृह्णन्ति, तद्यथा–

परस्परंगुणनिकायां मीमांसायां वा एकोऽपरमाह-त्त्वं न जानीषे न चैषां शब्दानामयमर्थी यो भवताऽभाणि, अपि च-कश्चिदेव माद्दशः शब्दार्थनिर्णयायालं, न सर्व इति, उक्तं च–

॥ ९॥ "पृष्टा गुर्वः स्वयमपि प्रीक्षितं निश्चितं पुनरिदम् नः ।

वादिनि च मल्लमुख्ये च माध्गेवान्तरं गच्छेत् "

द्वितीयस्वाह—नन्वस्मदाचार्या एवमाझापयन्तीत्युक्ते पुनराह-सोऽपि वाचिकुण्ठो षुद्धिविकलः किं जानीते ? , त्वमपि च शुकवत्पाठितो निरूहापोह इत्यादीन्यन्यान्यपि दुर्गृहीतक-तिचिदक्षरो महोपशमकारणं ज्ञानं विपरीततामापादयन् स्वौद्धत्यमाविर्मावयन् भाषते, उक्तं च

II 9 II ''अन्यैः स्वेच्छारचितानर्थविशेषान् श्रमेण विज्ञाय ! कृत्स्नं वाङ्गयमित इति खादत्यङ्गानि दर्प्पेण

II २ II क्रीडनकमीश्वराणां कुक्रुटलावकसमानवाल्लभ्यः । शास्त्राण्यपि हास्यकथां लुतां वा क्षुल्लको नयति ''

इत्यादित पाठान्तरं वा ''हेच्चा उवसमं अहेंगे पारुसिंयं समारुहंति'' त्यक्त्वोपशमम् 'अय' अनन्तरं बहुश्रुतीभूताः एके न सर्वे परुषतामालम्बन्ते, ततश्चालप्ताः शब्दिता वा तूष्णीभावं भजन्ते हुद्भारशिरः-कम्पनादिना वा प्रतिवचनं ददति । किंच-एके पुनर्ब्रह्मचर्यं-संयमस्तत्रोषित्वा आचारो वा ब्रह्मचर्यं तदर्थोऽपि ब्रह्मचर्यमेव तत्रोषित्वा आचारार्थानुष्ठायिनोऽपि तद्भर्त्सितास्तामाज्ञां-तीर्थकरोपदेशरूपां 'नो इति मन्यमानाः' नोशब्दोदेशप्रतिषेधे देशतस्तीर्थकरोपदेशं न बहु मन्यमानाः सातागौरवबाहुल्याच्छरीबाकुशिकतामालम्बन्ते, यदिवा अपवादमालम्ब्य वर्त्तमाना [1]17] उत्सर्गचोदनाचोदिताः सत्तः नैषा तीर्थकराज्ञेत्येवं मन्यन्ते, दर्शयन्ति चापवादपदानि ''कुञ्जा भिक्खू गिलाणस्स, अगिलाए समाहियं'' इत्यादि,

ततश्च यो येन ग्लायति तस्य तदपनयनार्थमाधाकर्म्माद्यपि कार्यं, स्यादेतत् किं तेषां नाख्याताः कुशीलानां प्रत्यपायाः यथाऽऽशातनाबहुलानां दीर्घः संसार इति ?, तदुच्यते--'तुः' अवधारणे, आख्यातमेवैतत्कुशीलविपाकादिकं श्रुत्वा 'निशम्य' अवबुध्य च शास्तारमेव परुषं वदन्तीति सम्बन्धः । किमर्थं तर्हिश्रूण्वन्तीति चेत्तदाह--'समनोज्ञा' लोकसम्मता जीविष्याम इतिकृत्वाप्रश्नव्याकरणार्थमेव शब्दशास्त्रादीनि शास्त्राण्यधीयते, यदिवा अनेनोपायेन लोकसम्मता जीविष्याम इतिकृत्त्वैके निष्क्राम्य, अथवा समनोज्ञा उद्युक्तविहारिणः सन्तो जीविष्यामः संयम-जीवितेनेत्येवं निष्क्रम्य पुनर्मोहोदयाद् असम्भवन्तः-ते गौरवत्रिकान्यतरदोषात् ज्ञानादिके मोक्षमार्ये न सम्यग्भवन्तो-नोपदेशे वर्त्तमाना विविधं दह्यमानाः कामैर्गृद्धा गौरवत्रिकेऽध्युपपन्ना विषयेषु 'समाधिं' इन्द्रियप्रणिधानमाख्यातं तीर्थकृदाद्भिः यमा वेदितं तं 'अजोषयन्तः' असेवमाना दुर्विदग्धा आचार्यादिना शास्त्राभिप्रायेण चोद्यमाना अपि तच्छास्तारमेव परुषं वदन्ति-

नास्मिन्विषये भवान् किश्चिआनाति, यथाऽहं सूत्रार्थं शब्दं गणितं निमित्तं वा जाने तथा कोऽन्यो जानीते ?, इत्येवमाचार्यादिकं शास्तारं हीलयन्तः परुषं वदन्ति, यदिवा शास्ता-तीर्थकृदादिस्तमपि परुषं वदन्ति, तथाहि-क्वचित्स्खलिते चोदिता जगदुः-किमन्यदधिकं तीर्थकृद्वक्ष्यत्यस्मद्गलकर्त्तनादपीति, इत्यादिभिरपाचीनैरालापैरलीकविद्यामगदावलेपाच्छा-स्त्रकृतामपिदूषणानि वदेयुः ॥ न केवलं शास्तारं परुषं वदन्त्यपरानपि साधूनपवदेयुरित्येतदाह-

मू. (२०२) सीलमंता उवसंता संखाए रीयमाणा असीला अनुवयमाणस्स बिइया मंदस बालया ।

ष्ट्र. शीलम्-अष्टादशशीलाङ्गसहस्रसङ्घयं, यदिवा महाव्रतसमाधानं पञ्चेन्द्रियजयः कषायनिग्रहस्त्रिगुप्तिगुप्तता चेत्येतच्छीलंविद्यतेयेषां तेशीलवन्तः, तया उपशान्ताः कषायोपशमात्, अत्र शीलवद्गहणेनैव गतार्थत्वादुपशान्ता इत्येतद्विशेषणं कषायनिग्रहप्राधान्यख्यापनार्थं, सम्यक् ख्यायते-प्रकाश्यतेऽनयेति संख्या–

प्रज्ञा तया 'रीयमाणाः' संयमानुष्ठाने पराक्र ममाणाः सन्तः कस्यचिढिश्रान्तभागधेयतया अशील। एत इत्येवमनुवदतोऽतु-पश्चाद्वदतः पृष्ठतो वदतोऽन्येन वा मिथ्याध्ष्य्यादिना कुशीला इत्येवमुक्तेऽनुवदतः पार्श्वस्थादेः द्वितीयैषा 'मन्दस्य' अज्ञस्य 'बालता' मूर्खता, एकं तावत्स्वतश्चारित्रापगमः पुनरपरानुद्युक्तविहारिणोऽपवदत इत्येषा द्वितीया बालता, यदिवा शीलवन्त एते उपशान्ता वेत्येवमन्येनाभिहिते क्वैषां प्रचुरोपकरणानां शीलवत्तोपशान्तता वा इत्येवमनुवदतो हीनाचारस्य द्वितीया बालता भवतीति । अपरे तु वीर्यान्तरायोदयात् स्वतोऽ-यसीदन्तोऽप्यपरसाधुप्रशंसान्विता यथावस्थितमाचारमावेदयेयुः, इत्येतद्दर्शयितुमाह-

मू. (२०३) नियहमाणा वेगे आयारगोयरमाइक्खंति, नाणब्भद्वा दंसणलूसिणो ।

ष्ट्र. एके-कर्म्भोदयात् संयमात्रिवर्त्तमाना लिङ्गाद्वा, वाशब्दादनिवर्त्तमाना वास यथावस्थितमाचारगोचरमाचक्षते, वयं तु कर्त्तुमसहिष्णव आचारस्त्वेवम्मूत इत्येवं वदतां तेषां द्वितीया बालता न भवत्येव, न पुनर्वदन्ति-एवंभूत एवाचारो योऽस्माभिरनुष्ठीयते, साम्प्रतं दुष्षमानुभावेन बलाद्यपगमान्मध्यभूतैव वर्त्तनी श्रेयसी नोत्सर्गावसर इति, उक्तं हि--

१। १ ।। "नात्ययतं न शियिलं, यथा युञ्जीत सारयिः । तथा भद्रं वहन्त्यश्वा, योगः सर्वत्र पूजितः "

II २ II (अपि च)-जो जत्य होइ भग्गो, ओवासं सो परं अविंदंतो । गंतुं तत्यऽचयंतो, इमं पहाणंति घोसेति "

इत्यादि । किम्भूताः पुनरेतदेवं समर्थयेयुरित्याह-सदसद्विवेको ज्ञानं तस्पाद्भ्रष्टा ज्ञानम्रष्टाः, तथा 'दंसणलूसिणो'त्ति सम्यग्दर्शनविध्वंसिनोऽसदनुष्ठानेन स्वतोविनष्टा अपरानपि शङ्कोत्पादनेन सन्पार्गाद्यायवयन्ति ।। अपरे पुनर्बाह्यक्रियोपपेता अप्यात्मानं नाशयन्तीत्याह–

मू. (२०४) नममाणा बेगे जीवियं विप्परिणामंति पुडा बेगे नियहंति जीवियस्सेव कारणा, निक्खंतंपि तेसिं दुत्रिक्खंतं भवइ, बालवयणिज्ञा हु ते नरा, पुणो पुणो जाइं पकप्पिति अहे संमवंता विद्दायमाणा अहमंसीति विउक्कसे उदासीणे फरुसं वयंति, पलियं पकये अदुवा पकये अतहेहिं, तं वा मेहावी जाणिज्ञा धम्मं ।

**वृ.** नमन्तोऽप्याचायदिर्द्रव्यतः श्रुतज्ञानार्थं ज्ञानादिमावविनयामावात् कर्म्भोदयाद् एके नसर्वे संयमजीवितं 'विपरिणामयन्ति' अपनयन्ति, सच्चरितादात्मानं ध्वंसयन्तीत्यर्थः । किंचापर-भित्याह-एके अपरिकर्म्भितमतयो गौरवत्रिक प्रतिबद्धाः स्पृष्टाः परीषहैर्निवर्त्तन्ते संयमात् लिङ्गाद्वेति, किमर्थं ? —जीवितस्यैव-असंयमाख्यस्य कारणात् —निमित्तात् सुखेन वयं जीविष्याम इतिकृत्वा सावद्यानुष्ठानतया संयमात्रिवर्त्तन्ते । तथाभूतानां च यत्स्यात्तदाह-तेषा गृहवासात्रिष्कान्तमपि ज्ञानदर्शनचारित्रमूलोत्तरगुणान्यतरोपघाताहुर्निष्क्रान्तं भवति । तद्धर्मणां च यत्स्यात्तदाह-हुर्हेतौ यस्पादसम्यगनुष्ठानात् दुर्निष्क्रान्तस्तस्माद्बालानां-प्राकृतपुरुषाणामपि वचनीयाः-गर्ह्याबाल-वचनीयास्ते नरा इति । किं च पौनःपुन्येनारहट्टघटीयन्त्रन्यायेन जातिः--उत्पत्तिस्तां कल्पयन्ति, किम्भूतास्ते इत्याह--अधः संयमस्थानेषु सम्भवन्तोवर्त्तमाना अविद्यया वर्त्तमानाः सन्तो विद्वांसो वयमित्येवं मन्यमाना लघुतयाऽऽत्मानं व्युत्कर्षयेयुरिति–आत्मनः श्लघां कुर्वते, यत्किञ्चिज्ञा-नानोऽपि मानोन्नतत्त्वाद्रससातागौरवबहुलोऽहम्वेत्त्र बहुश्रुतो यदाचार्यो जानाति तन्मयाऽल्पेनैव कालेनाधीतमित्येवमात्मानं व्युत्कर्शयेदिति । नात्मश्लायत्यैवासते, अपरानप्यपवदेयुरित्याह–

'उदासीनाः' रागद्वेषरहिता मध्यस्था बहुश्रुतत्वे सत्युपश्नान्तास्तान् स्खलितचोदनोद्यतान् परुषं वदन्ति, तद्यथा-स्वयमेव तावत्कृत्यमकृत्यं वा जानीहिततोऽन्येषामुपदेक्ष्यसीति । यथा च परुषंवदन्ति तथा सूत्रेणैव दर्शयितुमाह-'पलियं'ति अनुष्ठानं तेन पूर्वाचरितेनानुष्ठानेन तृणहारादिना प्रकथयेद्-एवम्भूतस्त्वमिति, अन्यथा वा कुण्टमण्टादिभिर्गुणैर्मुखविकारादिमिर्वा प्रकथयेदिति किभूतैः ? – 'अतथ्यैः' अविद्यमानैरिति । उपसंहरन्नाह-'तद्' वाच्यमवाच्यं वा 'तं' वा धर्म श्रुतचारित्राख्यं 'मेधावी' मर्यादाव्यवस्थितो 'जानीयात्' सम्यक् परिच्छिन्द्यादिति ॥

सोऽसभ्यवादप्रवृत्तो वालो गुर्वादिना ययाऽनुशास्यते तथा दर्शयितुमाह-

मू. (२०५) अहम्मडी तुमंसी नाम बाले आरंभडी अनुवयमाणे हण पाणे घायमाणे हणओ यावि समणुजाणमाणे, धोरे धम्मे, उदीरिए उवेहइ णं अणाणाए, एस विसन्ने वियद्दे वियाहिए – तिबेमि।। **ष्ट्र. अर्थोऽस्यास्तीत्यर्थी, अधर्म्भोणार्थी अधर्म्मार्थी, यतो नाम त्वमेचम्भूतोऽतोऽनुशास्यसे,** कुतोऽधर्म्भार्थी ? यतो 'बालः' अज्ञः, कुतो बालो ?, यत 'आरम्भार्थी' सावधारम्भप्रवृत्तः, कुतः आरम्भार्थी ?, यतः प्राण्युपमर्दवादाननुवदनैतद्ब्रूषे, तधया-जहिप्राणिनोऽपरैरेवं घातयन् घ्नतश्चापि समनुजानासि गौरवत्रिकानुबद्धः पचनापाचनादिक्रियाप्रवृत्तांस्तत्पिण्डतर्क्वी तत्समबं ताननुवदसि–कोऽत्र दोषो ?, न ह्यशरीरैर्द्धर्म्पः कर्त्तु पार्य्यते, अतो धर्म्भाधारं शरीरं यलतः पालनीयमिति, उक्तं च–

11911

"शरीरं धर्म्मसंयुक्तं, रक्षणीयं प्रयत्नतः । शरीराज्ञायते धर्म्मो, यथा बीजात्सदङ्कुरः ''

इति, किं चैवं ब्रवीषि त्वं, तद्यया-'घोरः' भयानको धर्म्भः सर्वाम्नवनिरोधात् दुरनुचरः उत्-प्राबल्येनेरितः--कथितः प्रतिपादितस्तीर्थकरणगणधरातिभिरित्येवमध्यवसायी भवांस्त-मनुष्ठानत् 'उपेक्षते' उपेक्षांविधत्ते, 'णम्' इतिवाक्यालङ्कारे, 'अनाज्ञया' तीर्थकरगणधरानुपदेशेन स्वेच्छया प्रवृत्त इति, क एवम्भूत इति दर्शयति –

'एष' इत्यनन्तरोक्तोऽधर्म्पार्थीं बाल आरम्भार्थी प्राणिनां हन्ता घातयिता घ्नतोऽनुमन्ता धम्मेपिक्षकइति, विषण्णः कामभोगेषु, विविधं तर्दतीति वितर्दो—हिंसकः 'तर्द हिंसाया' मित्यस्मात् कर्त्तरि पचाद्यच्, संयमे वा प्रतिकूलो वितर्दः इत्येवरूपस्त्वमेष व्याख्यात इत्यतोऽहं ब्रवीमि-त्वं मेघावी धर्म्म जानीया इता ॥ एतच्च वक्ष्यमाणमहं ब्रवीमीत्यत आह—

मू. (२०६) किमनेन भो ! जनेन करिस्सामित्ति मन्नमाणे एवं एगे वइत्ता मायरं पियरं हिद्या नायओ य परिग्गहं वीरायमाणा समुडाए अविहिंसा सुव्वया दंता पस्स दीणे उप्पइए पडिवयमाणे वसट्टा कायरा जणा लूसगा भवंति, अहगमेगेसिं सिलोए पावए भवइ, से समणो भवित्ता विब्मंते २ पासहेगे समन्नागएहिं सह असमन्नागए नममाणेहिं अनममाणे विरएहिं अविरए दविएहिं अद्विए अभिसमिद्या पंडिए मेहावी निट्ठियट्ठे वीरे आगमेणं सया परक्कमिज्ञासि–त्तिबेमि।

ष्ट्र. केचन-विदितवेद्या वीरायमाणाः सम्यगुत्यानेनोत्याय पुनः प्राण्युपमर्दका भवन्तीति, कयमुत्याय ? - किमहमनेन 'मोः' इत्यामन्त्रणे 'जनेन' मातापितृपुत्रकलत्रादिना स्वार्थपरेण परमार्थतोऽनर्थरूपेण करिष्यामीति, न ममायं कस्यचिदपि कार्यस्य रोगापनयनादेरलमित्यतोऽनेन किमहं करिष्ये ?, यदिवा प्रविव्रजिषुः केनचिदभिहितः किमनया सिकताकवलसन्निभया प्रवज्यया करिष्यति भवान् ?, अदृष्टवशायातं तावद्भोजनादिकं भुद्धवेत्यभिहितो विरागतामापन्नो ब्रवीति-

किमहमनेन मोजनादिना करिष्ये ?, मुक्तं मयाऽनेकशः संसारे पर्यटता तथापि तृप्तिर्नामूत्, तत्किमिदानीमनेन जन्मना भविष्यतीत्येवं मन्यमाना एके विदितसंसारस्वमावा उदित्वाऽथ्येवं ततो 'मातरं' जननीं 'पितरं' जनयितारं 'हित्वा' त्यकत्वा 'ज्ञातयः' पूर्वापरसम्बन्धिनः स्वजनास्तान् परिगृह्यत इति परिग्रहः-धनधान्यहिरण्यद्विपदचतुष्पदादिः तं, किम्भूताः ? - वीरमिवात्मानमाचरनो वीरायमाणाः, सम्यक् संयमानुष्ठानेनोत्याय समुत्याय विविधैरुपायैर्हिंसा विहिंसा न विद्यते विहिंसा येषां तेऽविहिंसाः, तथा शोभनं व्रतं येषां ते सुव्रताः, तथेन्द्रियदमाद्दान्ताः, इत्येवं समुत्याय, नागार्ज्जनीयास्तु पठन्ति—

''समणा भविस्सामो अनगारा अकिंचना अपुत्ता अपसूया अविहिंसगा सुव्वया दंता

परदत्तमोइणो पावं कम्मं न करेस्सामो समुद्वाए'' सुगमत्वान्न विव्रयते, इत्येवं समुत्याय पूर्वं पश्चात् 'पश्च' निभालय 'दीनान्' श्रॄ गालत्वविहारिणो वान्तं जिघृक्षून् पूर्वमुत्पतितान् संयमारोहणात् पश्चात्पापोदयात् प्रतिपतत इति, किमिति दीना भवन्तीति दर्शयति-यतो 'वशार्ता' वशा इन्द्रियविषयकषायाणां तत आर्त्ता वशार्त्ताः, तयाभूतानां च कर्म्पानुषङ्गः, तदुक्तम्--'सोइंदियवसट्टेणं मंते! कइ कम्मपगडीओबंधइ ?, गोयमा! आउअवआओ सत्त कम्मपगडीओ जाव अनुपरिअट्टइ । कोहवसट्टेणं मंते! जीवे एवं तं चेव'' एवं मानादिष्वपीति, तथा 'कातराः' परीषहोपसर्गोपनिपाते सति विषयलोलुपा वा कातराः ।

केते? — जनाः, किं कुर्वन्ति? — तेप्रतिभग्नाः सन्तः 'लूषका मवन्ति' व्रतानां विघ्वंसका भवन्ति, को ह्यष्टादशशीलाङ्गसहाम्राणि धारयिष्यतीत्येवमभिसन्धाय द्रव्यलिङ्ग भावलिङ्ग वा परित्यज्य प्राणिनां विराधका भवन्ति । तेषां च पश्चात्कृतलिङ्गानां यत्स्यात्तदाह – 'अथ' आनन्तर्ये 'एकेषां' भग्नप्रतिज्ञानामुद्यव्रजितानां तत्समनन्तरमेवान्तर्मुहूर्त्तेन वा पश्चत्वापत्तिः स्याद्, एकेषां तु 'श्लोको' श्लायूरूपः पापको भवेत्, स्वपक्षात्परपक्षाद्वा महत्ययशः –कीर्त्तिर्मवति, तद्यथा – स एष पितृवनकाष्ठस मानो भोगाभिलाशी व्रजति तिष्ठति वा, नास्य विश्वसनीयं, यतो नास्या-कर्त्तव्यमस्तीति, उक्तं च –

॥ १ ॥ "परलोकविरुद्धानि, कुर्वाणं दूरतस्त्यजेत् ।

आत्मानं यो न संधत्ते, सोऽन्यस्मै स्यात्कयं हितः ? "

इत्यादि, यदिवा सूत्रेणैवाश्लाघ्यतां दर्शयितुमाह-सोऽयं श्रमणो भूत्वा विविधं भ्रान्तो-भग्नः श्रमणविभ्रान्तो, वीप्सयाऽत्यन्तजुगुप्सामाह, किं च-पश्यत यूयं कर्म्मसामर्थ्यम् 'एके' विश्रान्तमागधेयाः समन्वागतैरुद्युक्तविहारिभिः सह वसन्तोऽप्यसमन्वागताः-शीतलविहारिणः, तथा 'नममानैः' संयमानुष्ठानेन विनयवद्भिः 'अनममानान्' निर्धृणतयासावद्यानुष्ठायिनो, विरतैर-विरता द्रव्यभूतैरद्रव्यभूताः पापकलङ्काङ्कितत्वादेवम्पूतैरपि साधुभिः सह वसन्तोऽपि, एवम्भूतान् 'अभिसमेत्य' ज्ञात्वा किं कर्त्तव्यमिति दर्शयति-'पण्डितः' त्वं ज्ञातज्ञेयो 'भेघावी' मर्यादाव्यवस्थितो 'निष्ठितार्थः' विषयसुखनिष्यिपासो 'वीरः' कर्म्भविदारणसहिष्णुर्भूत्वा 'आगमेन' सर्वज्ञप्रणीतोप-देशानुसारेण 'सदा' सर्वकालं परिक्रामयेरिति । इतिरधिकारपरिसमाप्ती, ब्रवीमीति पूर्ववद् ॥

अध्ययनं-६ उद्देशकः-४ समाप्तः

-: अध्ययनं-६ - उद्देशकः ५ :-

वृ. उक्तश्चतुर्थोद्देशकः, साम्प्रतं पञ्चम आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके कर्म्मविधूननार्थं गौरवत्रयविधूननाऽभिहिता, सा च कर्मविधूननोपसर्ग्यविधूननामन्तरेण न सम्पूर्णमावमनुभवति, नापि सत्कारपुरस्कारात्मकसन्मानविधूननामन्तरेण गौरवत्रयविधूनना सम्पूर्णतामियादित्यत उपसर्ग्रसन्मानविधूननार्थमिदमुपक्रम्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्दे-शकस्यास्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुद्यारणीयं, तच्चेदम्—

मू. (२०७) से गिहेसु वा गिहंतरेसु वा गामेसु वा गामंतरेसु वा नगरेसु वा नगरंतरेसु वा जण वयेसु वा जणवयंतरेसु वा गामनयरंतरे वा गामजणवयंतरे वा नगरजणवयंतरे वा संतेगइया जणा लूसगा भवंति अदुवा फासा फुसंति ते फासे पुडे वीरो अहियासए, ओह समियदंसणे, दयं लोगस्स जाणित्ता पाईणं पडीणं दाहिणं उदीणं आइक्खे, विभए किट्टे वेयवी, से उडि़एसु वा अनुडि़िएसु वा सुस्सूसमाणेसु पवेयए संतिं विरइं उवसमं निव्वाणं सोयं अज्ञवियं मद्दवियं लाघवियं अणइवत्तियं सव्वेसिं पाणाणं सव्वेसिं भूयाणं सब्वेसिं सत्ताणं सव्वेसिं जीवाणं अनुवीय भिक्खू धम्ममाइक्खिज्ञा।

मृ. 'स' पण्डितो मेधावी निष्ठितार्थो वीरः सदा सर्वज्ञप्रणीतोपदेशानुविधायी गौरवत्रिकाप्रतिबद्धो निर्ममो निष्किञ्चनो निराश एकाकिविहारितया ग्रामानुग्रामं रीयमाणः क्षुद्रतिर्यग्नरामरकृतोपसर्गपरीषहापादितान् दुःखस्पर्शान् निर्ज्ञरार्थी सन्यगधिसहेत, क् पुनव्यवस्थितस्य ते परीषहोपसर्गा अभिपतेयुरिति दर्शयति-आहाराद्यर्थं प्रविष्टस्य गृहेषु वा, उद्यनीचमध्यमावस्थासंसूचकं बहुक्चनं, तथा गृहान्तरेषुवा, ग्रसन्ति बुद्धयादीन् गुणानिति ग्रामाः तेषु वा तदन्तरालेषु वा, नैतेषु करोऽस्तीति नकराणि तेषु वा तदन्तरालेषु वा,--

-जनानां-लोकानां पदानि-अवस्थानानि येषु ते जनपदाः-अवन्त्यादयः साधु-विहरणयोग्याः अर्धषड्विंशतिर्देशास्तेषु तदन्तरालेषु वा, तया ग्रामनगरान्तरे वा ग्रामजनपदान्तरे वा नगरजनपदान्तरे वा उद्याने वा तदन्तरे वा विहारभूमिगतस्य वा गच्छतो वा, तदेवं तस्य भिक्षोर्ग्रामादीनधिशयानस्य कायोत्सर्गादि वा कुर्वत एके कालुष्योपहतात्मानो ये जना लूषयन्तीति लूषका भवन्ति, 'लूष हिंसाया'मित्यस्मात्त् ल्युड्, ते 'सन्ति' विद्यन्ते, तत्र नारकास्तावदुपसर्गकरणं प्रत्यवस्तु, तिर्यगमरयोरपि कादाचित्कत्वान्मानुष्याणामेवानु कूलप्रतिकूलसद्मावाज्जनग्रहणं, यदिवा जायन्त इति जनाः, ते च तिर्यग्नरामरा एव जनशब्दाभिहिताः, ते च जना अनुकूलप्रति कूलान्यतरोभयोप- सर्ग्गापादानेनोपसर्ग्ययुरिति, तत्र दिव्याश्चतुर्विधाः, तद्यथा–

हास्यात् ९ प्रद्वेषाद् २ विमर्शात् ३ पृथग्विमात्रातो ४ वा, तत्र केलीकिलः कश्चिद्वयन्तरो विविधानुपसर्गान् हास्यादेव कुर्यात्, यथा भिक्षार्थं प्रविष्टैः क्षुल्लकैर्भिक्षालामार्थं पललवि-कटतर्पणादिनोपयाचितकंच्यन्तरस्य प्रपेदे, भिक्षावासौ च तद्याचमानस्य कुतश्चिदुपलभ्य विकटादिकं तैईद्वैके, तेनापि केल्यैव तेश्वुल्लकाः क्षीबा इव व्यधायिषत ९, प्रद्वेषेण यथा भगवतो माघमासरजन्यन्ते तापसीरूपधारिण्या व्यन्तर्योदकजटाभारवल्कलविग्रुङ्गिरसेचनमकारि २, विमर्शाल्किमयं दृढधर्म्मा न वेत्यनुकूलप्रतिकूलोपसर्गैः परीक्षयेत्, यथा संविग्नसाधुभावितया कयाचिद्वयन्तर्या स्त्रीवेषधारिण्या शून्यदेवकुलिकावासितः साधुरनुकूलोपसर्गैरुपसर्गिती दृढधर्म्मति च कृत्व वन्दित इति ३, तथा पृथग् विविधा मात्रा येषूपसर्ग्येषु ते पृथग्विमात्राः-हास्यादित्रयान्यतरारब्धा अन्यतरावसायिनो भवन्ति, तद्यथा ।

भगवति सङ्गमकेनेव विमर्शारब्धाः प्रदेषेण पर्यवसिता इति, मानुषा अपि हास्यप्रदेषविमर्शकुशीलप्रतिसेवनाभेदाद्यतुद्धा, तत्र हास्याद्देवसेनागणिका क्षुल्लकमुपसर्ग्यन्ती दण्डेन ताडिता राजानमुपस्थिता, क्षुल्लकेन तदाहूतेन श्रीगृहोदाहरणेन राजा प्रतिबोधित इति १, प्रदेषाद्गजसुकुमारस्यैव श्वशुरसोमभूतिनेति २, विमर्शाद्यन्द्रगुप्तो राजा चाणाक्यचोदितो धर्म्यपरीक्षार्थमन्तःपुरिकाभिर्धर्म्यमावेदयन्तं साधुमुपसर्ग्यति, साधुना च प्रताड्य ताः श्रीगृहोदाहरणं राज्ञेनिवेदितमिति ३, तत्र कुत्सितं शीलं कुशीलं तस्य प्रतिसेवनं कुशीलप्रतिसेवनं तदर्शं कश्चिदुपसर्गं कुर्यात्, तद्यथा-ईष्यालुगृहपर्युषितः साधुश्चतसुभिः सीमन्तिनीभिः प्रोषितभर्तृकाभिः सकलां रजनीमेकैकया प्रतियाममुपसर्गितो न चासौ तासु लुलुभे मन्दरवत्रिष्प्रकम्पोऽभूदिति ४।

-- तैर्यग्योना अपि भयप्रद्वेषाहारापत्यसंरक्षणभेदाच्चतुर्द्धेव, तत्र भयात्सपदिभ्यः, प्रद्वेषाद्यथा भगवतश्चण्डकौशिकात्, आहारात् सिंहव्याध्रादिभ्यः, अपत्यसंरक्षणात् काक्यादिभ्य इति । तदेवमुक्तविधिनोपसर्ग्गापादकत्वाञ्जना लूषका भवन्ति, अथवा तेषु ग्रामादिषु स्थानेषु तिष्ठतो गच्छतो वा स्पर्शाः-दुःखविशेषा आत्मसंवेदनीयाः स्पृशन्ति-अभिभवन्ति, तेचतुर्विधाः -- तद्यथा-घट्टनताऽक्षिकणुकादेः पतनता भ्रमिमूच्छादिना स्तम्भनता वातादिना श्लेषणता तालुनः पातादङ्कुल्यादेर्वास्यात्, यदिवा वातपित्तश्लेष्मादिक्षोभात् स्पर्शाः स्पृशन्ति, अथवा निष्क्रिश्चनतया तृणस्पर्शदंशमशकशीतोष्णाद्यापादिताः स्पर्शाः-दुःखविशेषाः कदाचित्स्पृशन्ति-अभिभवन्ति, तैश्च स्पृष्टः परीषहैस्तान् स्पर्शान्-दुःखविशेषान् 'धीरः' अक्षोभ्योऽधिसहेत नरकादिदुःखभाव-नयाऽवन्यध्यकर्म्भोदयापादितं पुनरपि मयैवैतत्सोढव्यमित्याकलय्य सम्यक् तितिक्षेतेति ।

-कीधक्षोऽधिसहेतेत्यत आह, यदिवा स एवम्भूतो न केवलमात्सनाता सदुपदेशदानतः परेषामपीति दर्शयितुमाह-'ओजः' एको रागादिविरहात् सम्यग् इतं-गतं दर्शनमस्येति समितदर्शनः, सम्यग्धष्टिरित्यर्थः, यदिवा 'शमितम्' उपशमं नीतं 'दर्शनं' धष्टिर्ज्ञानमस्येति शमितदर्शनः, उपशान्ताध्यवसाय इत्यर्थः, अथवा समतामितंगतं दर्शनं-धष्टिरस्येति समितदर्शनः, समध्ष्टिरित्यर्थः, एवम्भूतः स्पर्शानधिसहेत, यदिवा धर्म्ममाचक्षीतेत्युत्तरक्रियया सह सम्बन्धः, क्रिमभिसन्धाय धर्म्ममाचक्षीतेति दर्शयति- 'दयां' कृपां 'लोकस्य' जन्तुलोकस्योपरि द्रव्यतो ज्ञात्वा क्षेत्रतः प्राचीनं प्रतीचीनं दक्षीणमुदीचीनमपरानपि दिग्विभागानभिसमीक्ष्य सर्वत्र दयां कुर्वन् धर्म्ममाचक्षीत, कालतो यावज्ञीवं, भावतोऽरक्तोऽद्विष्टः, कथमाचक्षीत? --तद्यथा-सर्वे जन्तवो दुःखद्विषः सुखलिप्सवः आत्मोपमया सदा द्रष्टव्या इति, उक्तं च-

119 ॥ "न तत्परस्य संदध्यात्, प्रतिकूलं यदात्मनः ।

एष सङ्गाहिको धर्माः, कामादन्यः प्रवर्त्तते ''

इत्यादि, तथा धर्म्पामाचक्षाणो 'विभजेत्' द्रव्यक्षेत्रकालभावभेदैराक्षेपण्यादिकथाविशेषैर्वा प्राणातिपातमृषावादादत्तादानमैथुनपरिग्रहरात्रीभोजनविरतिविशेषैर्वा धर्म्पविभजेत्, यदिवा कोऽयं पुरुषः कंनतो देवता विशेषमभिगृहीतो ऽनभि गृहितो वा ? एवं विभजेत्, तथा क्रीत्तयेद्व्रतानुष्ठान फलं, कोऽसौ कीर्त्त्यद्? वेदविद् आयमवदिति । नागार्ज्जुनीयास्तु पठन्ति– ''जे खलु समणे बहुस्सुए बज्झागमे आहरणहेउकुसले धर्म्पकहालद्धिसम्पन्ने खेत्तं कालं पुरिसं समासज्ज केऽयं पुरिसे कं वा दरिसणमभिसम्पन्नो ? एवंगुणजाइए पभू धम्मस्स आघवत्तए'' इति, कण्ठ्वं । स पुनः निमित्तभूतेषु कीर्त्तयेदित्याह--

'स' आगमवित् स्वसमयपरसमयज्ञाः 'उत्थितेषु वा' मावोत्धानेन यतिषु, वाशब्दः उत्तरापेक्षया पक्षान्तरद्योतकः, पार्श्वानाथशिष्येषु चतुर्यामोत्थितेष्वेव वर्द्धमानतीर्थाचार्यादिः पश्चयामं धर्म्म प्रवेदयेदिति, स्वशिष्येषु वा सदोत्थितेष्वज्ञातज्ञापनाय धर्मं प्रवेदयेदिति, 'अनुत्थितेषु वा' श्रावकादिषु 'शुश्रूषमाणेषु' धर्म्मश्रोतुमिच्छत्सु गुवदिः पर्युपास्तिं कुर्वत्सु वा संसारोत्तारणाय धर्मांप्रवेदयेत्। किम्भूतं प्रवेदयेदित्याह–शमनं शान्तिः, अहिंसेत्यर्थः, तामाचक्षीत, तथा विरतिम्, अनेन च मृषावादादिशेषव्रतसङ्ग्रहः, तथा 'उपशमं' क्रोधजयाद्, अनेन चोत्तरगुणसङ्ग्रहः, तथा निर्वृतिः निर्वाणं मूलगुणोत्तरगुणयौरेहिकामुष्मिकफलभूतमाचक्षीत, तथा 'शौचं' सर्वोपाधिशुचित्वं निर्वाच्यव्रतधारणं, तथा आर्जवं मायावक्रतापरित्यागात्, तथा मार्दवं मानस्तब्धता-परित्यागात्, तथा लाघवं सवाह्याभ्यन्तरग्रन्थपरित्यागात्, कथमाचक्षीतेतिदर्शयति-

'अनतिपत्य' यथावस्थितं वस्त्वागमाभिहितं तथाऽनतिक्रम्येत्यर्थः, केषां कथयति ?-'सर्वेषां प्राणिनां' दशविधाः प्राणा विद्यन्ते येषां ते प्राणिनस्तेषां सामान्यतः संझिपश्चेन्द्रियाणां, तथा 'सर्वेषां भूतानां' मुक्तिगमनयोग्येन भव्यत्वेन भूतानां-व्यवस्थितानां, तथा 'सर्वेषां जीवानां' संयमजीवितेन जीवतां जिजीविषूणां च, तथा 'सर्वेषां सत्त्वानां' तिर्यङ्गनरामराणां संसारे क्लिश्यमानतया करुणास्पदानामेकार्थिकानि वैतानि प्राणादीनि वचनानि इत्यतस्तेषां क्षान्यादिकं दशविधं धर्म्मं यथायोगं प्रागुपन्यस्तं शान्त्यादिपदाभिहितम् 'अनुविचिन्त्य' स्वपरोपकाराय भिक्षणशीलो भिक्षुर्धर्म्मकथालब्धिमान् 'आचक्षीत' प्रतिपादयेदिति। यथा च धर्म्मकथयेत्तयाऽऽह-

मू. (२०८) अणुवीइ भिक्खू धम्माइक्खमाणे नो अत्ताणं आसाइज्ञा नो परं आसाइज्ञा नो अन्नाइं पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं आसाइज्ञा से अणासायए अणासायमाणे वज्झमाणाणं पाणाणं भूयाणं जीवाणं सत्ताणं जहा से दीवे असंदीणे एवं से भवइ सरणं महामुनी, एवं से उहिए ठियप्पा अनिहे अचले चले अबहिल्लेसे परिव्वए संक्खाय पेसलं धम्मं दिडिमं परिनिव्वुडे, तम्हा संगंति पासह गंथेहिं गढिया नरा विसन्ना कामक्कंता तम्हा लूहाओ नो परिवित्तसिज्ञा, जसिमे आरंभा सव्वओ सव्वप्पयाए सुपरिन्नाया भवंति जेसिमे लूसिणो नो परिवित्तसंति, से वंता कोहं च माणं य मायं च लोभं च एस तुट्टे वियाहिए – त्तिबेमि ॥

**वृ.** स भिक्षुर्मुमुक्षुरनुविचिन्त्य-पूर्वापरेण धर्म्मं पुरुषं वाऽऽलोच्य यो यस्य कथनयोग्यसं धर्म्ममाचक्षाणः आङिति मर्यादया यथाऽनुष्ठानं सम्यग्दर्शनादेः शातना आशातना तया आसानं नो आशातयेत्, तथा धर्म्ममाचक्षीत यथाऽऽत्मन आशातना न भवेत्, यदिवाऽऽत्मन आशातना द्विधा-द्रव्यतो भावतश्च, द्रव्यतो यथाऽऽहारोपकरणादेर्द्रव्यस्य कालातिपातादिकृताऽऽशातना-बाधा न भवति तथा कथयेद्, आहारादिद्रव्यबाधया च शरीरस्यापि पीडा भावाशातनार्ल्स स्यात्, कथयतो वा यथा गात्रभङ्गरूपा भावाशातना न स्यात् तथा कथयेदिति, तथा नो परं शुश्रूषं आशातयेद्-हीलयेद्, य; परो हीलनया कुपितः सन्नाहारोपकरणशरीरान्यतरपीडायै प्रवत्तेति, अतस्तदाशातनां वर्छयन् धर्म्म द्रूयादिति, तथाऽन्यान् वा सामान्येन प्राणिनो भूतान् जीवान् सत्त्वान्नो आशातयेद्-बाधयेत्, तदेवं स मुनिः स्वतोऽनाशातकः परैरनाशातयन् तथाऽपरान-शातयतोऽ- ननुमन्यमानो परेषां वध्यमानानां प्राणिनां भूतानां जीवानां सत्त्वानां यथा पीडा नोत्पद्यते तथा धर्म्म कथयेदिति, तद्यथा-यदि लौकिककुप्रावचनिकपार्श्वस्थादिदानानि प्रशंसति अवटतटागादीनि वा ततः पृथिवीकायादयो व्यापादिता भवेयुः, अथ दूषयति ततोऽपरेषं अन्तरायापादनेन तत्कृतो बन्धपिताकानुभवः स्यात्, उक्तं च--

11 9 !! ''जे उ दानं पर्संसंति, वहमिच्छंति पाणिणं । जे उ णं पडिसेहिंति, वित्तिच्छेअं करिंति ते '' तस्मात्तद्दानावटतडागादिविधिप्रतिषेधव्युदासेन यथावस्थितं दानं शुद्धं प्ररूपयेत् सावद्यानुष्ठानं चेति, एवं च ब्रुवन्नुभयदोषपरिहारी जन्तूनामाश्वासभूभिर्भवतीति, एतध्ष्यन्तद्वारेण दर्शयति—ययाऽसौद्वीपोऽसन्दीनः शरणं भवत्येवमसावपि महामुनिः तद्रक्षणोपायोपदेशतः वध्यमा-नानां वधकानां च तदघ्यवसायविनिवर्त्तनेन विशिष्टगुणस्थानापादनाच्छरण्यो भवति, तयाहि-यथोदिप्टेन कयाविधानेन धर्म्मकथां कथयन् कांश्चन प्रव्राजयति कांश्चन श्रावकान् विधत्ते कांश्चन सम्यग्दर्शनयुजः करोति, केषाश्चिद्यकृतिभद्रकतमापादयति । किंगुणश्चासौ द्वीप इव शरण्यो भवतीत्याह—

'एव'मिति वक्ष्यमाणप्रकारेण 'स' शरण्यो महामुनिर्मावोत्यानेन संयमानुष्ठानरूपेण उत्-प्राबल्येन स्थित उत्थितः, तथा स्थितो ज्ञानादिके मोक्षाध्वन्यासा यस्य सस्थितात्मा, तथा स्निह्यतीति स्निहो न स्निहोऽस्निहः-रागद्वेषरहितत्वात् अप्रतिबद्धः, तथा न चलतीत्यचलः परीषहोप-सर्ग्गवातेरितोऽपीति, तथा चलः अनियतविहारित्वात्, तथा संयमाद्बहिर्निर्तगा लेश्याअध्यवसायो यस्य स बहिर्लेश्यः यो न तथा सोऽबहिर्लेश्यः, स एवम्भूतः परि-समन्तात् संयमानुष्ठाने व्रजेत् परिव्रजेत्, न क्वचिद्यतिबध्यमान इतियावत्, स च किमिति संयमानुष्ठाने परिव्रजेदित्याह-

'संख्याय' अवधार्य 'पेशलं' शोभनं 'धर्म्म' अविपरीतार्थं दर्शनं-६ष्टिः सदनुष्ठानं वा सा यस्यास्त्यसौ ६ष्टिमान्, स च कषायोपशमात् क्षयाद्वा, परिः-समन्तान्निर्वृतः--गितीभूतो । यस्त्यसङ्ख्यातवान् पेशलंधर्म्म मिथ्या६ष्टिरसौन निर्वातीतिदर्शयितुमाह-इतिर्हेतौ यस्पाद्विपरीतदर्शनो मिथ्या६ष्टिः सङ्गवात्र निर्वाति तस्मात् 'सङ्ग' मातापितृपुत्रकलन्नादिजनितं धनधान्यहिरण्यादिजनितं वा सङ्गविपाकं वा पश्यत यूयं विवेकेनावधारयत, सूत्रेणैव सङ्गमाह-त एवं सङ्गिनो नराः सबाह्याभ्यन्तरैर्ग्रन्थैर्ग्रथिता अवबद्धा विषण्णा ग्रन्थसङ्गे निमग्नाः कामैः-इच्छामदनरूपैराक्रान्ता अवष्टब्धा न निर्वात्ति, यद्येवं ततः किं कर्त्तव्यमित्याह-यस्मात्कामाद्यासक्तचेतसः स्वजनध-नधान्यादिमूच्छिताः कामजैः शारीरमानसादिभिर्दुःखैरुपतापितास्तस्माद् रूक्षात्-संयमान्निः-सङ्गात्मकात् 'नो परिवित्रसेत्' न संयमानुष्ठानादि्बभीयात्, यतः प्रभूततरदुःखानुषड्रिणो हि सडिन इति । कस्य पुनः संयमान्न परि वित्रसनं सम्भाच्यत इत्याह-

'यस्य महामुनेरवगतसंसारमोक्षकारणस्येमे सङ्गाः-आरम्भा अनन्तरोक्ता अविगानतः सर्वजनाचरितत्वात् प्रत्यक्षासन्नावाचिनेदमाऽभिहिताः 'सर्वतः' सर्वात्मकतया सुपरिज्ञाता भवन्ति, किम्भूता आरम्भाः ? –येष्विमे ग्रन्थग्रयिता विषण्णाः कामभराक्रान्ताजना 'लूषिणो' लूषणशीलाः हिंसका अज्ञानमोहोदयात् 'न परिवित्रसन्ति' न बिभ्यति, योह्येवम्भूतांश्चारम्भान् ज्ञपरिज्ञया परिज्ञाय प्रत्याख्यानपरिज्ञया च परिहरति तस्यैते सुपरिज्ञाता भवन्ति । यश्चारम्भाणां परिज्ञाता स किमपरं कुर्यादित्याह--

'स' महामुनिः पूर्वव्यार्वर्णितस्वरूपो 'वान्त्वा' त्यक्त्वा क्रोधं च मानं च मायां च लोभं चेति, स्वगतभेदसंसूचनार्थो व्यस्तनिर्देशः, सर्वानुयायित्वात् क्रोधस्य प्रथमोपादानं तत्सम्बद्धत्वा-न्मानस्य लोभार्थं मायोपादीयत इत्यतस्तत्कारणत्वान्मायाया लोभस्यादावुपन्यासः ततः सर्वदोषाश्रयत्वात् सर्वगुरुत्वाच्च सर्वोपरि लोभस्य, क्षपणाक्रमं वाऽऽश्रित्यायमुपन्यास इति, चकारो हीतरेतरापेक्षया समुद्ययार्थः । स एवं क्रोधादीन् वान्त्वा मोहनीयं त्रोटयति, स चैषोऽपगतमोहनीयः संसारसन्ततेस्तुट्टः-अपसृतो व्याख्यातस्तीर्थकृदादिभिरितिरधिकार- परिसमाप्ती, ब्रवीमीत्येतत् पूर्वोक्तं यदि वैतद्वक्ष्यमाणमित्याह-

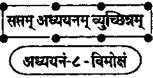
मू. (२०९) कायस्स वियाधाए एस संगामसीसे वियाहिए से हु पारंगमे मुनी, अविहम्पमाणे फलगायवट्टी कालोवणीए कंखिज कालं जाव सरीरमेउ– त्तिबेमि ।।

ष्ट. 'कायः' औदारिकादित्रयं घातिचतुष्टयं वा तस्य 'व्याघातो' विनाशः, अयवा चीयत इति कायस्तस्य विशेषेणाङ्गमर्यादयाऽऽयुष्कक्षयावधिलक्षणया घातो व्याघातः-शरीरविनाशः एषसङ्गङग्रामशीर्षरूपतया व्याख्यातो, यथा हिसङ्गाम शिरसि परानीकनिशिताकृष्ट्रकृपाणनिर्यत्प्र-भासंवलितोद्यकत्सूर्यत्विडुद्भूतविद्युन्नयनचमत्कृतिकारिणि कृतकरणोऽपि सुभटश्चित्तविकारं विधत्ते, एवं मरणकालेऽपि समुपस्थिते परिकर्म्भितमतेरप्यन्यथाभावः कदाचित्स्याद् अतो यो मरणकाले न मुह्यति स पारगामी मुनिः संसारस्य कर्म्मणो वा उत्सिप्तभारस्य वा पर्यन्तयायीति ।

किं च-विविधं परीषहोपसर्गैर्हन्यमानो विहन्यमानः न विहन्यमानोऽविहन्यमानः न निर्विण्णः सन् वैहानसं गार्द्यपृष्ठमन्यदा बालमरणं प्रतिपद्यत इति, यदिवा हन्यमानोऽपि सबाह्याभ्यन्तरतया तपः परीषहोपसर्गीः, फलकवदवतिष्ठते न कातरीमवति, तथा कालेनोपनीतः कालोपनीतो-मृत्युकालेनान्यवशतां प्रापितः सन् द्वादशवर्षसंलेखनयाऽऽत्मानं संलिख्य गिरिगह्वरादिस्थण्डिलपादपोपगमनेङ्गितमरणमक्तपरिज्ञान्यतरावस्थोपगतः 'कालं' मरणकाल-मायुष्कक्षयं यावच्छरीस्य जीवेन सार्द्धं भेदो भवति तावदाकाङ्केद, अयमेव च मृत्युकालो यदुत शरीरभेदो, न पुनर्जीवस्यात्यन्तिको विनाशोऽस्तीति। इतिरधिकारपरिसमाप्तौ, ब्रवीमीत्यादिकं पूर्ववदिति,

अध्ययनं-६ - उद्देशकः- ५ समाप्तः

अध्ययनं-६ - समाप्तम् मुनि दीपरत्नसागरेण संशोधिता-संपादिता शीलाङ्का घार्यविरचिता प्रथमञ्जुत स्कन्धे षष्ठं अध्ययनटीका परिसमाप्ता



ष्ट्र. उक्तं षष्टमध्ययनं, अथ सप्तमाष्टमाध्ययनमारम्यते, अधुना सप्तमाध्ययनस्य महापरिज्ञाख्यस्यावसरः, तद्यव्यवच्छिन्नमितिकृत्वाऽतिलङ्घयाष्टमस्य सम्बन्धो वाच्यः, सचायम्-इहानन्तराध्ययने निजकर्म्भशरीरोपकरणगौरवत्रिकोपसर्ग्यासन्मानविधूननेन निःसङ्गताऽभिता, सा चैवं साफल्यमनुभवति यद्यन्तकालेऽपि सम्यग्निर्याणं स्यादित्यतः सम्यग्निर्याणप्रतिपाद-नायेदमारभ्यते, यदिवा निःसङ्गविहारिणा नानाविधाः परीषहोपसर्ग्याः सोढव्या इत्येतस्रतिपादितं, तत्र मारणान्तिकोपसर्ग्यनिपाते सति अदीनमनस्केन सम्यग्निर्याणमेव विधेयमित्यस्यार्थस्य प्रतिपादनायेदमारभ्यते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्यप्ययनस्योपक्रमादीनि चत्वार्यनुयोगढाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमद्वारायातोऽर्थाधिकारो द्वेधा, तत्राप्यध्ययनार्थाधिका; प्रागभिहितः, उद्देशार्थाधिकारं तु निर्युक्तिकारो बिभणिषुराह-

| नि. [२५३] | असमणुन्नस्स विमुक्खो पढमे बिइए अकप्पियवमिक्खो । |
|-----------|---|
|           | पडिसेहणा य रुट्ठरस चेव सब्मावकहणा य ॥           |
| नि. [२५४] | तइयंमि अंगचिडामासिय आसंकिए य कहणा य ।           |
|           | सेसेसु अहीगारो उवगरणसरीरमुक्खेसु ॥              |
| नि. [२५५] | उद्देसंमि चउत्थे वेहाणसगिद्धपिडमरणं च ।         |
|           | पंचमए गेलन्नं भत्तपरित्रा य बोद्धव्वा ॥         |
| नि. [२५६] | छहंमि उ एगत्तं इंगिणिमरणं च होइ बोद्धव्वं ।     |
|           | सत्तमए पडिमाओ पायवगमणं च नायव्वं ।।             |
| नि. [२५७] | अणुपुन्विविहारीणं भत्तपरिन्ना य इंगिणीमरणं ।    |
|           | पायवगमणं च तहा अहिगारो होइ अडमए ।।              |

**दृ.** अत्राद्योद्देशकेऽयमर्थाधिकारः, तद्यथा—असमनुझानाम समनोझानां वा त्रयाणां त्रिष-ष्ठ्यधिकानां प्रावादुकशतानां विमोक्षः-परित्यागः कार्यः, तथा तदाहारोपधिशय्यातर्धष्टेपरित्यागश्च, पार्श्वस्थादयः पुनश्चारित्रतपोविनयेष्वसमनोझाः, यथाच्छन्दास्तु पञ्चस्वपि ज्ञानाचारादिष्वसमनोझा-स्तेषां यथायोगं त्यागो विधेय इति १। द्वितीये तु अकल्पिकस्य - आधाकम्मदिर्विमोक्षः-परित्यागः कार्यो, यदिवाऽऽधाकर्म्भणा कश्चिन्निमन्त्रयेतु, ततः प्रतिषेधो विधेयः, तत्यतिषेधे च रुष्टस्य सतः सिद्धान्तसद्मावः कथनीयो यथैवम्भूतं दानं तव मम च न गुणायेति २।

तृतीये तूद्देशकेऽयमर्थाधिकारः, त्रच्या गोचरगतस्य यतेः शीतादिना कम्मपनादिकाया-मङ्गचेष्टायां सत्यां गृहस्थस्येयमारेका स्याद् यथा-ग्रामधर्म्मेरुद्बाध्यमानस्य श्रृं ङ्गारभावावेशादस्य यतेः कम्पनमित्येवं भाषिते आशङ्कितेवा तदाशङ्काव्युदासाय यथावस्थितार्थकथना क्रियत इति ३ शेषेषु तूद्देशकेषु पञ्चस्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा-उपकरणशरीराणां विमोक्षः- परित्यागस्तद्विषयः समासतो व्यासतस्तूच्यतेचतुर्थोद्देशके त्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा-वैहानसम्-उद्बन्धनं गार्द्धपृष्ठम्-अपरमांसादिर्ह्रदयन्यासाद्गुद्धादिनाऽऽत्मव्यापादनम्, एतत् प्रकारद्वयं मरणं वाच्यं ४ ।

--पश्चमकेतुग्लानता भक्तपरिज्ञा च बोद्धव्या ५ । षष्ठे त्वेकत्वम्-एकत्वभावना तथेङ्गितमरणं च बोद्धव्यं ६ । सप्तमकेषु प्रतिमाः-भिक्षुप्रतिमा मासादिका वाच्याः, तथा पादपोपगमनं च ज्ञातव्यमिति ७ । अष्टमकेत्वयमर्थाधिकारः, स्तद्यथा-अनुपूर्वविहारिणां-प्रतिपालितदीर्धसंयमानां शास्त्रार्थग्रहणप्रतिपादनोत्तरकालमवसीदत् संयमाध्ययनाध्यापनक्रियाणां निष्पादितशिष्याणामु-त्सर्गतः द्वादशसंवत्सरसंत्तेखनाक्रमसंलिखितदेहानां भक्तपरिज्ञेङ्गित मरणं पापपोपगमनं वा यथा भवति यथोच्यत इति गाथापश्चकसमासार्थो, व्यासार्थस्तु प्रत्युद्देशकं वश्यते । निक्षेपस्तु त्रिधा-ओधनिष्पन्नो नामनिष्पन्नः सूत्रालापकनिष्पन्नश्चेति, तत्रौधनिष्यन्ने निक्षेपेऽध्ययनं, नामनिष्पन्ने तु विमोक्ष इति नाम, तत्र विमोक्षस्य निक्षेपं चिकीर्षुः निर्युक्तिकार आह--

नि. [२५९] नामंठवणविमुक्खो दव्वे खित्ते य काल भावे य। एसो उ विमुक्खस्सा निक्खेवो छव्विहो होइ॥

वृ. द्रव्यविमोक्षो द्वेघा–आगमतो नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाता तत्र चानुपयुक्तः, नोआगमतस्तुज्ञशरीरमव्यशरीरव्यतिरिक्तोनिगडादिकेषुविषयभूतेषुयोविमोक्षःसद्रव्यविमोक्षः, सुळ्यत्ययेन वा पश्चम्यर्थे सप्तमी, निगडादिभ्यो द्रव्येभ्यः सकाशाद्विमोक्षो द्रव्यविमोक्षः, अपरकारकवचनसम्भवस्तु स्वयमभ्यूह्यायोज्यः, तद्यथा–

द्रव्येण द्रव्यात् सचित्ताचित्तमिश्राद्विमोक्ष इत्यादि, क्षेत्रविमोक्षस्तु यस्मिन् क्षेत्रे चारकादिके व्यवस्थितो विमुच्यते क्षेत्रदानाद्वा यस्मिन्वा क्षेत्रे व्यावर्ण्यते स क्षेत्रविमोक्षः, कालविमोक्षस्तु चैत्यमहिमादिकेषुकालेष्वनाघातादिघोषणापादितो यावन्तंकालं मुच्यते यस्मिन्वा काले व्याख्यायते सोऽमिधीयते इति गाथार्थः ॥ भावविमोक्षप्रतिपादनायाह-

नि. [२६०] दुविहो भावविमुक्खो देसविमुक्खो य सव्वमुक्खो य । देसविमुक्खा साहू सव्वविमुक्खा भवे सिद्धा ॥

वृ. मावविमोक्षो द्विधा-आगमतो नोआगमतश्च, आगमतो ज्ञाता तत्र चोपयुक्तो, नोआगमतस्तु द्विधा-देशतः सर्वतश्च, तत्र देशतोऽविरतसम्यग्दष्टिनामाद्यकषायच-तुष्कक्ष-योपशमाद्देशविरतानामाद्याष्टकषायक्षयोपशमाद्भवति, साघूनां च द्वादशकषायक्षयोपशमात्, क्षपकश्रेण्यां च यस्य यावन्मात्रं क्षीणं तस्य तत्क्षयाद्देशविमुक्ततेत्यतः साधवो देशविमुक्ता, भवस्थकेवलिनोऽपि भवोपग्राहिसद्भावाद्देशविमुक्ता एव, सर्वविमुक्ताश्च सिद्धा भवेयुः इति गाथार्थः ॥ ननु वन्धपूर्वकत्वान्मोक्षस्य निगडादिमोक्षवदित्याशङ्घाव्यवच्छेदार्थं बन्धाभिधानपूर्वकं मोक्षमाह-

नि. [२६९] कम्पयदव्वेहि समं संजोगो होइ जो उ जीवस्स । सो बंधो नायव्वो तस्स विओगो भवे मुक्खो ॥

ष्ट्र.कर्म्मद्रव्यैः' कर्म्मवर्गणाद्रव्यैः 'समं' सांर्द्ध यः संयोगो जीवस्य सबन्धः प्रकृतिस्थि-त्यनुमावप्रदेशरूपो बद्धस्पृष्टनिधत्तनिकाचनावस्यश्च ज्ञातव्यः, तथैकैको ह्यात्मप्रदेशोऽनन्तानत्तैः कर्म्मपुद्गलैर्बद्धः, बध्यमाना अप्यनन्तानन्ता एव, शेषाणामग्रहणयोग्यत्वात्, कथं पुनरष्टप्रकारं कर्म्मबध्नातीति चेद्, उच्यते, मिथ्यात्वोदयादिति, उक्तंच- "कहंणंभंते! जीवा अडकम्मपगडीओ बंधंति ?, गोअमा ! नाणावरणिज्ञस्स कम्मस्स उदएणं दरिसणावरणिज्ञं कम्मं नियच्छन्ति, दंसणमोहणिज्ञस्स कम्मस्स उदएणं मिच्छत्तं नियच्छन्ति, मिच्छत्तेणं उइन्नेणं एवं खलु जीवे अडकम्मपगडीओ बंधइ'' यदिवा--

II 9 II ''नेहतुष्पिअगत्तरस रेणुओ लग्गई जहा अंगे I तह रागदोसनेहालियस्स कम्मंपि जीवस्स''

इत्यादि, तस्यैवम्भूतस्याष्टप्रकारस्य कर्म्मणः आस्रवनिरोधात् तपसाऽपू करणक्षपकश्रेणिप्र-क्रमेण शैलेश्यवस्थायां वा योऽसौ वियोगः-क्षयः स मोक्षो भवेदिति गाद्यार्थः ॥ अस्य च प्रधान-पुरुषार्थत्वात् प्रारब्धासिधाराव्रतानुष्ठानफलत्वात् तीर्थिकैः सह विप्रतिपत्तिसद्मावाज्ञ यथावस्थितमव्यभिचारि मोक्षस्य स्वरूपं दर्शयितुमाह, यदिवा पूर्व्व कर्म्मवियोगोद्देशेन मोक्षस्वरूपमभिहितं, साम्प्रतं जीववियोगोद्देशन मोक्षस्वरूपं दर्शयितुमाह–

नि. [२६२] जीवस्स अत्तजणिएहि चेव कम्पेहिं पुव्वबद्धस्स । सव्वविवेगो जो तेण तस्स अह इत्तिओ मुक्खो ॥ ष. जीवस्यासङ्घयेप्रदेशात्मकस्य स्वतोऽनन्तज्ञानस्वभावस्यात्मनैव-मिथ्यात्वाविरतिप्रमा- दकषाययोगपरिणतेन जनितानि—बद्धानि यानि कम्माणि तैः पूर्वबद्धस्यानादिबन्धबद्धस्य प्रवाहापेक्षयातेन कर्म्मणा 'सर्वविवेकः' सर्वामावरूपतया योविश्लेषस्तस्य-जन्तोः 'अथे'त्युपप्रदर्शने एतावन्मात्र एव मोक्षो नापरः परपरिकल्पितो निर्वाणप्रदीपकल्पादिक इति गाथार्थः ।

उक्तो मावविमोक्षः, सच यस्य भवति तस्यावश्यं भक्तपरिज्ञादिमरणत्रयान्यतरेण मरणेन भाव्यं, तत्र कार्ये कारणोपचारात् तन्मरणमेव भावविमोक्षो भवतीत्येतत्यतिपादयितुमाह--

नि. [२६३] भत्तपरित्रा इंगिणि पायवगमणं च होइ नायव्वं । जो मरइ चरिममरणं भावविमुक्खं वियाणाहि ॥

ष्ट्र. भक्तस्य परिज्ञा भक्तपरिज्ञाऽनशनमित्यर्थः, तत्र त्रिविधचतुर्विधाहारनिवृत्तिमान् सप्रतिकर्म्यशरीरो धृतिसंहननवान् यया समाधिर्भवेत्तथाऽनशनं प्रतिपद्यते, तथेङ्गिते प्रदेशे मरणमिङ्गितमरणमिदं चतुर्विधाहारनिवृत्तिस्वरूपंविशिष्टसंहननवतः स्वत एवोद्वर्त्तनादिक्रियायु-क्तस्यावगन्तव्यं, तथा परित्यक्तचतुर्विधाहारस्यैवाधिकृतचेष्टव्यतिरेकेण चेष्टान्तरमधिकृत्यैकान्त-निष्प्रतिकर्म्पशरीरस्य पादपस्येवोप-सामीप्येन गमनं-वर्त्तनं पादपोपगमनमेतच्च ज्ञातव्यं भवति, –योहि भवसद्धिकश्चरमं-अन्तिमं मरणमाश्रित्य भ्रियते स एतत्पूर्वोक्तत्रयान्यतरेण मरणेन

—याह मवसाद्धकश्चरम-आन्तममरणमाश्रत्य ।प्रयत्त संएतरपूवाक्तत्रयान्यतरणमरणम म्रियते, नान्येन वैहानसादिना बालमरणनेत्येतज्ञानन्तरोक्तं मरणं चेष्टाभेदोपाधिविशेषात् त्रैविध्यम-नुमवद्मावमोक्षं विजानीहीति गाथार्थः ।। साम्प्रतमेतदेव मरणं सपराक्र मेतरभेदाद् द्विविधमिति दर्शयितुमाह—

नि. [२६४] सपरिक्रमे य अपरिक्रमए य वाधाय आणुपुव्वीए।

सुत्तत्यजाणएणं समाहिमरणं तु कायव्वं ॥

वृ. 'पराक्रमः' सामर्थ्यसह पराक्रमेण वर्त्तइति सपराक्रमस्तस्मिश्च मरणं स्यात्, तद्विपर्यये चापराक्रमे-जङ्खाबलपरिक्षीणे तद्मक्तपरिझेङ्गितमरणपादपोपगमनभेदात्रिविधमपि मरणं सपराक्रमेतरभेदात् प्रत्येकंद्वैविध्यमनुभवति, तदपिव्याधातिमेतरभेदात् द्विधा भवेत्, तत्र व्याघातः सिंहव्याध्रादिकृतोऽव्याघातस्तु प्रव्रज्यासूत्रार्थग्रहणादिकयाऽऽनुपूर्व्याविपक्तिममायुष्कक्षयमनुभ-वतो यो भवति सोऽव्याघात इहानुपूर्वीत्युक्तं, तत्र परमार्थोपक्षेपेणोपसंहरति–

व्याघातेनानुपूर्व्या वा सपराक्रमस्यापराक्रमस्य वा मरणे समुपस्थिते सति सूत्रार्थज्ञेन कालज्ञतया समाधिमरणमेव कर्त्तव्यं, भक्तपरिज्ञेङ्गित्तमरणपादपोपगमनानामन्यतरद्यथासमाधि विधेयं, न वेहानसादिकं बालमरणं कर्त्तव्यमिति गाथार्थः ॥

तत्र सपराक्र ममरणं ध्धन्तद्वारेण दर्शयितुमाह–

नि. (२६५) सपरक्वममाएसो जह मरणं होइ अजवइराणं। पायवगमणं च तहा एयं सपरक्वमं मरणं ।।

ष्ट्र.सह पराक्रमेण वर्त्तत इति सपराक्रमं, किं तत् ? – मरणं आदिश्यते-इत्यादेशः आचार्यपारम्पर्यश्रुत्यायातो वृद्धवादो यमैतिह्यमाचक्षते, स आदेशो 'यथे'त्युदाहरणोपन्यासार्थः, यथैतत्तथाऽन्यदप्यनया दिशा द्रष्टव्यं, 'आर्यवैरा' वैरस्वामिनो यथा तेषां मरणमभूत् तथा पादपोपगमनं च, एतच्च सपराक्रमं मरणमन्यत्राप्यायोज्यमिति गाथार्थः भावार्थस्तु कथान-कादवसेयः, तच्च प्रसिद्धमेव यथाऽऽर्यवैरैर्विस्मृतकर्णाहितश्र ङ्गबेरैः प्रमादादवगतासन्नमृत्युभिः सपराक्रमैरेव रथावर्त्तशिखरिणि पादपोपगमनकारीति । साम्प्रतपराक्रमं दर्शयितुमाह-

नि. [२६६] अपरक्व ममाएसो जह मरणं होइ उदहिनामाणं । पाओवगमेऽवि तहा एयं अपरक्वमं मरणं ।।

**षृ. न** विद्यते पराक्रमः- सामर्थ्यमस्मिन्नित्यपराक्रमं, किं तत् ?- मरणं, तच्च यथा जङ्बाबलपरिक्षीणानामुदधिनाम्नाम्-आर्यसमुद्राणां मरणमभूद्, अयमादेशो-ध्द्यन्तो वृद्धवा-दायात इति, पादपोपगमनेऽपि तथैवादेशं जानीयाद् यथा पादपोपगमनेन तेषां मरणमभूदिति, एतद्-अपराक्रमं मरणं यदार्यसमुद्राणां सञ्जातमेवमन्यत्राप्यायोज्यमिति गाथाऽक्षरार्थः ॥

भावार्थस्तुकथानकोदवसेयः, तत्त्वेदम्-आर्यसमुद्रा आचार्याः प्रकृतिकृशा एवासन्, पश्चाम्र तैर्जङ्घाबलपरिक्षीणैः शरीराल्लाममनपेक्ष्य तत्तित्यक्षुभिर्गच्छस्थैरेवानशनं विधाय प्रतिश्रयैकदेशे निर्हारिमं पादपोपगमनकारि ॥ साम्प्रतं व्याघातिममाह–

नि. [२६७] वाघाइयमाएसो अवरद्धो हुज अन्नतरणं। तोसलि महिसीइ हओ एयं वाघाइयं मरणं॥

ष्ट्र. विशेषेणेणाघातो व्याघातः-सिंहादिकृतः शरीरविनाशस्तेन निर्वृत्तं तत्र वा मवं व्याघातिमं, कश्चित्सिहाद्यन्यतरेणापराद्धो मवेद्-आरब्धो मवेत् तेन यन्मरणं तद्वयाघातिमं, तत्र वृद्धवादायात आदेशो-ध्ष्टान्तः, यथा-तोसलिनामाचार्यो महिष्याऽऽरब्धश्चतुर्विधाहारपरित्यागेन मरणमभ्युपग-तवान् एतद्व्याघातिमं मरणमिति गाथाऽक्षरार्थो, मावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तद्येदम्-तोसलिनामाचार्योऽरण्यमहिषीभिः प्रारब्धः, तोसलिदेशे वा बह्वयो महिष्यः सम्भवन्ति, ताभिश्च कदाचिदेक; साधुरटव्यन्तर्वत्यारब्धः, स च ताभिः क्षुद्यमानोऽनिर्वाहमवगम्य चतुर्विधाहारं प्रत्याख्यातवानिति ॥ साम्प्रतमव्याघातिमप्रति- पादनेच्छयाऽऽह—

नि. [२६८] अनुपुव्विगमाएसो पव्वज्ञासुत्तअत्यकरणं च । चीसज़िओ(य)निन्तो मुक्को तिविह्रस्स नीयस्स ।।

ष्ट्रआनुपूर्वी-क्रमस्तं गच्छतीत्यानुपूर्वीगः, कोऽसौ ? – आदेशो-वृद्धवादः, स चायं, तद्यया-पूर्वमुत्थितस्य प्रव्रज्यादानं, ततः सूत्रकरणं पुनर्र्यग्रहणं, ततस्तदुभयनिर्म्पातः सुपात्रनिक्षिप्तसूत्रार्थः गुर्वादिनाऽनुज्ञातोभ्युद्यतो मरणत्रिकान्यतराय 'निर्यन्' निर्गच्छन् त्रिविधस्याहारोपधिशय्याख्यस्य नित्यपरिभोगात्रित्यस्य मुक्तो भवति,

तत्र यद्याचार्यस्तदा शिष्यात्रिष्पाद्याऽपरमाचार्यं विधायोत्सर्गेण द्वादशसांवत्सरिक्या संलेखनया संलिख्य ततो गच्छविसर्ज़ित गच्छानुज्ञया स्वस्थापिताचार्यविसर्जितो वा अभ्युद्य-तमरणायापराचार्यान्तिकमियात्, एवमुपाध्यायः प्रवर्त्तिः स्थविरो गणावच्छेदकः सामान्यसा-धुर्वाऽऽचार्यविसर्जितः कृतसंलेखनापरिकर्म्भा भक्तपरिज्ञादिकं मरणमभ्युपेयात्, तत्रापि भावसंलेखनां कुर्यात् ॥ द्रव्यसंलेखनायां तु केवलायां दोषसम्भवादित्याह-

नि. [२६९] पडिचोइओ य कुविओ रण्णो जह तिक सीयला आणा। तंबोले य विवेगो घडणया जा पसाओ य ॥

ष्ट्र. प्रतिचोदितः सन्नाचार्येण पुनरपि संलिखेत्येवमभिहितः 'कुपितः' क्रुद्धो यथा च राज्ञः पूर्वं तीक्ष्णाज्ञा पश्चाच्छीतलीभवति एवमाचार्यस्यापि, 'तम्बोले' नागवल्लीपत्रे च कुथिते शेषरक्षणाय 'विवेकः' परित्यागः कार्यः, ततः 'घट्टना' कदर्थना कार्या, तत्सहिष्णोः पश्चाद्यावत् प्रसाद इति गाथाऽक्षरार्थः, मावार्थस्तु कथानकादवसेयः, तच्चेदम्-एकेन साधुना द्वादशवर्षसंलेखनयाऽऽत्मानं संलिख्य पुनरभ्युद्यतमरणायाचार्यो विज्ञप्तः, तेनाप्यभाणि-यथाऽद्यापि संलिख, ततोऽ, कुपितः त्वगस्थिशेषामङ्गुलीं भङ्कत्वा दर्शयति, किमत्राशुद्धमिति ?, आचार्योऽपि येनाभिप्रायेणोक्तवांस्त-माविष्करोति-अत एवाशुद्धो भवान्,

-यतो वचनसमनन्तरमेवाङ्गुलीभङ्गद्धारेण भावाशुद्धतामाविष्कृतवानित्युक्त्वाऽऽ-चार्यस्तव्रतिबोधनाय ध्ष्टान्तं दर्शयति, यथा-कस्यचिद्राज्ञो नित्यं निष्पन्दिनी लोचने, ते च स्ववैद्योपन्यस्तानुष्ठानव तोऽपि न स्वस्थतामियातां, पुनरागन्तुकेन वैद्येनाभिहितः-स्वस्थीकरोमि भवन्तं यदि मुहूर्त्त वेदनां तितिक्षसे वेदनार्त्तश्च न मां घातयसीति, राज्ञा चाभ्युपगतं, अञ्जनप्रक्षेपान न्तरोद्मूततीव्रवेदनार्त्तेनापगते ममाक्षिणी इत्येवंवादिना व्यापादयितुमारेभे, ततो राज्ञस्तीक्ष्णाज्ञा, यतश्च पूर्वमव्यापादानमभ्युपगतमतः शीतलेति, मुहूर्त्ताद्यापगतवेदनः पटुनयनश्च पूजितवैद्यो मुमुदे राजेति,

-एवमाचार्यस्यापि तीक्ष्णा प्रतिचोदनादिकाऽऽज्ञा परमार्थतस्तु शीतलेति, यदि पुनरेवं कथितेऽपि नोपशाम्यति ततः शेषसंरक्षणार्थं विकृतनागवल्लीपत्रस्येव विवेकः क्रियते, अथाचार्योपदेशं प्रतिपद्यते ततो गच्छ एव तिष्ठतो घट्टना दुर्वचनादिभिः कदर्थना क्रियते, यदि च तथापि न ज्वलति ततः शुद्ध इतिकृत्वाऽनशनदानेन प्रतिजागरणेन च प्रसादः क्रियत इति ॥ किम्भूतः पुनः क्रियन्तं वा कालं कथं वाऽऽत्मानं संलिखेदित्येतत् हृदि व्यवस्थाप्याह–

| निष्फाईया य सीसा सउणी जह अंडगं पर्यत्तेणं ।  |
|--|
| बारससंवच्छरियं सी संलेहं अह करेड् ।।         |
| चत्तारि विचित्ताइं विगईनिज़ूहियाइं चत्तारि । |
| संवच्छरे य दुन्नि उ एगंतरियं तु आयामं ॥      |
| नाइविगिट्ठो उ तवो छम्मासे परिभियं तु आयामं   |
| अन्नेऽवि य छम्मासे होइ विगिडं तवौकम्मं ॥     |
| वासं कोडीसहियं आयामं काउ आनुपुच्वीए ।        |
| गिरिकंदरंमि गंतुं पायवगमणं अह करेइ ॥         |
|  |

**वृ**.सूत्रार्थतदुभयैः स्वशिष्याः प्रातीच्छका वा 'निष्पादिता' योग्यतामापादिताः शकुनिने-वाण्डकं प्रयत्नेन, ततोऽसौ 'अथ' अनन्तरं द्वादशसांवत्सरिकीं संलेखनां करोति, तद्यथा-चत्वारि वर्षाणि 'विचित्राणि' विचित्रतपोऽनुष्ठानवन्ति भवन्ति, चतुर्थषष्ठाष्टमदशमद्वादशादिके कृते पारणकं सविकृतिकमन्यथा वेति, पश्चमादारभ्य संवत्सरादपराणि चत्वारि वर्षाणि निर्विकृतिकमेव पारणकमिति, नवमदशमसंवत्सरद्वयं त्वेकान्तरितमाचाम्लमेकस्मिन्नइनि चतुर्थमपरेद्युराचाम्लेन पारणकमिति, तत एकादशसंवत्सरं द्विधा विधत्ते –

-तत्राधं पण्मासं नातिविकृष्टं तपः करोति, चतुर्थं षष्ठं वा विधाय परिमितेनाचाम्लेन पारणकं विधत्ते, न्यूनोदरतां करोतीत्यर्थः, अपरषण्मासं तु विकृष्टतपश्चरणवतः पूर्वोक्तमेव पारणकं, द्वादशंतु संवत्सरं कोटीसंहितमाचाम्लं करोति, प्रतिदिनमाचाम्लेन भुङ्क्ते आचाम्लस्य कोट्याः कोटिं मीलयत्यतः कोटीसंहितमित्युक्तं, चतुर्मासावशेषे तु संवत्सरे तैलगण्डूषान-

I

स्खलितनमस्कारा-द्यध्ययनायापगतवातमुखयन्त्रप्रचारार्थं पौनःपुन्येन करोतीति, तदेवमनयाऽऽनुपूर्व्या सर्वं विधाय सति सामर्थ्ये गुरुणाऽनुज्ञातो गिरिकन्दरं गत्वा स्थण्डिलं प्रत्युपेक्ष्य 'अथ' अनन्तरं पादपोपयमनं करोति, इङ्गितमरणं वा भक्तप्रत्याख्यानं वा यथासमाधि विधत्त इति गाधाचतुष्टयार्थः ।

अनया च द्वादशसंवत्सरसंलेखनाऽऽनुपूर्व्याक्रमेण आहारं परितनुं कुर्वत आहाराभिला-षोच्छेदो भवतीत्येतद्गायाद्वयेन दर्शयितुमाह –

नि. [२७४] कह नाम सो तवोकम्मपंडिओ जो न निद्युजुत्तप्पा।

लहुवित्तीपरिक्खेवं वच्चइ जेमंतओ चेव ? ।।

नि. [२७५] आहारेण विरहिओ अप्पाहारो य संवरनिमित्तं। हासंतो हासंतो एवाहारं निरुंभिज्ञा।।

**वृ.** कथं नामासौ तपःकर्मणि पण्डितः स्यात् ?, यो न नित्यमुद्युक्तात्मा सन् वर्त्तनं वृत्तिः-द्वात्रिंशत्कवलपरिमाणलक्षणा तस्याः परिक्षेपः-संक्षेपो वृत्तिपरिक्षेपः लघुर्वृत्तिपरिक्षेपोऽस्येति लघुवृत्तिपरिक्षेपः तद्मावं यो मुझान एव न व्रजति कथमसौ तपःकर्मणि पण्डितः स्यात् ?, तथाऽऽहारेण विरहितो द्वित्रान् पञ्चषान् वा वासरान् स्थित्वा पुनः पारयति तत्राप्यल्पाहारोऽसौ भवति, किमर्थं ? – 'संवरनिभित्तम्' अनञ्चननिमित्तं, एवमसावुपवासैः प्रतिपारणकमल्पाहारतया च हासयन् हासयन्नाहारमुक्तविधिना पश्चात्रिरुन्ध्याद्-मक्तप्रत्याख्यानं कुर्यादिति गाथा-द्वयार्थः ॥ उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपस्तन्निर्युक्तिश्च, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम् –

### --: अध्ययनं-८ उद्देशकः-१ :--

मू. (२१०) से बेमि समणुन्नस्स वा असमणुन्नस्स वा असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंच्छणं वा नो पादेज्ञा नो निमंतिज्ञा नो कुज्ञा वेयावडियं परं आढायमाणे – त्तिबेमि।

वृ. सोऽहं ब्रवीमि योऽहं भगवतः सकाशात् ज्ञातज्ञेय इति, किं तद्ववीमि ? —वक्ष्यमाणं, तद्यथा-'समनोज्ञस्य वा' वाशब्द उत्तरापेक्षया पक्षान्तरोधोतकः, समनोज्ञो धष्टितो लिङ्गतो न तु भोजनादिभिः तस्य, तद्विपरीतस्त्वसमनोज्ञः-शाक्यादिस्तस्य वा, अश्यत इत्यशनं--शाल्योदनादि, पीयत इति पानं-द्राक्षापानकादि, खाद्यत इति खादिमं—नालिकेरादि, स्वाद्यत इति खादिमं-कर्पूरलवङ्गादि, तथा वस्त्रं वा पात्रं वा पतग्द्रहं वा कम्बलं पादपुञ्छनं वा, नो प्रदद्यात्-प्रासुकमप्रासुकं वा तदन्येषां कुशीलानामुषभोगाय नो वितरेत्, नापि दानार्थं निमन्त्रयेत्, न च तेषां वैयावृत्त्यं कुर्यात्, परम्-अत्यर्थमाद्रियमाणइति, अत्यर्थमादरवान्न तेम्यः किमपि दद्यात्नापि तानामन्त्रयेत् न च तेषां वैयावृत्त्यमुद्धावचं कुर्यादिति, ब्रवीमीत्यधिकार- परिसमाप्तौ ॥

एतच वक्ष्यमाणमहं ब्रवीमीत्याह -

मू. (२९९) धुवं चेयं जाणिज़ा असणं वा जाव पायपुंछणं वा लभिया नो लभिया भुंजिया नो भुंजिया पंथं विउत्ता विउक्कम्म विभत्तं धम्मं जोसेमाणे समेमाणे चलेमाणे पाइज़ा वा निमंतिज्ञ वा कुज्जा वेयावडियं परं अणाढायमाणे – त्तिबेमि । **वृ.** ते हि शाक्यादयः कुशीला अशनादिकमुपर्श्यैवं बूयुः, यथा-ध्रुवं चैतज्ञानीयात्-नित्यमस्मदावसथे भवति लम्यते वाऽतो भवद्भिरेतदशनादिकमन्यत्र लब्ध्वावाऽलब्ध्वा वा भुक्त्वा वाऽभुक्त्वा वा अस्मध्धृ तयेऽवश्यमागन्तव्यं, अलब्धे लाभाय लब्धेऽपि विशेषाय भुक्ते पुनः पुनर्भोजनायाभुक्तेऽपि प्रथमालिकार्थस्मध्धृ तये यथाकथश्चिदागन्तव्यं, यद्यथा वा भवतां कल्पनीयं भवतितत्तथा दास्याम इति, अनुपम एवास्मदावसयो मवतां वर्त्तते,अन्यथाऽपस्ल्व्रते पन्थानं व्यावत्त्यापि वक्रपथेनाप्यागन्तव्यमपक्रम्य वाऽन्यगृहाणि समागन्तव्यं, नात्रागमने खेदो विधेयः, किम्भूतोऽसौ शाक्यादिरिति दर्शयति –

'विभक्तं' पृथग्भूतं धर्म्मं 'जुषन्' आचरन्, एतच्च कदाचिस्रतिश्रयमध्येन 'समेमाणे'ति समागच्छन् तथा 'चलेमाणे'ति गच्छन् ब्रूयाद् यदिवाऽशनादि प्रदद्यात् अशनादिदानेन वा निमन्त्रयेदन्यद्वा प्रश्नयवद्वैयावृत्त्यं कुर्यात्, तस्य कुशीलस्य नाभ्युपेयात् न तेन सह संस्तवमपि कुर्यात्, कधं परम्–अत्यर्थमनाद्रियमाणः-अनादरवान्, एवं हि दर्शनशुद्धिर्भवतीति ब्रवीमीत्येत-सूर्वोक्तं ॥ यदि वैतद्वक्ष्यमाणमित्याह --

मू. (२९२) इहमेगेसिं आयारगोयरे नो सुनिसंते भवति ते इह आरंभट्टी अनुवयमाणा हणपाणे घायमाणा हणओ यावि समणुजाणमाणा अदुवा अदिन्नमाययंति अदुवा वायाउ विउज्रंति, तंजहा-अत्थि लोए अपञ्चवसिए लोए सुकडेत्ति वा दुक्कडेत्ति वा कल्लाणेत्ति वा पावेत्ति वा साहुति वा असाहुत्ति वा सिखित्ति वा असिखित्ति वा निरएत्ति वा अनिरएत्ति वा, जमिणं विप्पडिवन्ना मामगं धम्मं पन्नवेमाणा इत्यवि जाणह अकस्मात् एवं तेसिं नो सुयक्खाए धम्मे नो सुपन्नते धम्मे भवइ।

**वृ.** 'इह' अस्मिन्मनुष्यलोके 'एकेषां' पुरस्कृताशुभकर्म्मविपाकानामाचरणामाचारो-मोक्षार्थमनुष्ठानविशेषस्तस्य गोचरो-विषयः नो सुष्ठु निशान्तः-परिचितो मवति ते चापरिणता-चारगोचरा यथाभूताः स्युः तथा दर्शयितुमाह – 'ते' अनधीताचारगोचरा भिक्षाचर्याऽस्ना-नस्वेदमलपरीषहतर्जिताः सुखविहारिभिः शाक्यादिभिरात्मसात्परिणामिताः 'इह' मनुष्यलोके आरम्भार्थिनो भवन्ति, ते वा शाक्यादयोऽन्ये वा कुशीलाः सावद्यारम्भार्थिनः तथा विहारारामतडागकूपकरणौद्देशिकभोजनादिभिर्धर्म्म वदन्तोऽनुवदन्तः, तथा जहि प्राणिन इत्येवमपरैर्घातयन्तो घ्नतश्चापि समनुजानन्तः, अथवा अदत्तं परकीयं द्रव्यमगणितविपाका स्तिरोहितशुभाध्यवसायाः 'आददति' गृह्नन्तीति, किं च –

-तंत्र प्रथमतृतीयव्रते अल्पवक्तव्यत्वात् पूर्वं प्रतिपाद्य ततो बहुतरवक्तव्यत्वात् द्वितीयव्रतोपन्यास इति, 'अथवेति' पूर्वस्मात् पक्षान्तरोपक्षेपकः, तद्यथा अदत्तं गृह्ण्त्त्यथवा वाचो विविधं-नानाप्रकारा युअन्ति, 'तद्यथे'त्युपक्षेपार्थः, अस्ति 'लोकः' स्थावरजङ्गमात्मकः, तत्र नवखण्डा पृथ्वी सप्तद्वीपा वसुन्धरेति वा, अपरेषां तुब्रह्माण्डान्तर्वर्त्ती, अपरेषां तुप्रभूतान्येवम्भूतानि ब्रह्माण्डान्युदकमध्ये प्लवमानानि संतिष्ठिन्ते, तथा सन्ति जीवाः स्वकृतफलभुजः, अस्ति परलोकः, स्तो बन्धमोक्षौ, सन्ति पञ्च महाभूतानि इत्यादि, तथाऽपरे चार्वाका आहुः-

1 18

--नास्ति लोको मायेन्द्रजालस्वप्नकल्पमेवैतत्सर्वं, तथा ह्यविचारितरमणीयतया भूता-भ्युपगमोऽपितेषामतो नास्तिपरलोकानुयायी जीवो, न स्तः शुभाशुभे, किण्वादिभ्यो मदशक्तिद्भू-तेभ्य एव चैतन्यमित्यादिना सर्वं मायाकारगन्धर्वनगरतुल्यम्, उपपत्त्यक्षमत्वादिति, उक्तं च -॥ १॥ ''यथा यथाऽर्थाश्चिन्चन्ते, विविच्यन्ते तथा तथा ।

| 11311 | े यथा यथाऽथाश्चित्त्वन्त, विविच्यन्त तथा तथा । |
|-------|--|
|       | यद्येतत्स्वयमर्थभ्यो, रोचते तत्र के वयम् ? ।।  |
| ારા   | भौतिकानि शरीराणि, विषयाः करणानि च ।            |
|       | तथापि मन्दैरन्यस्य, तत्त्वं समुपदिश्यते ॥''    |

इत्यादि, तथा साह्वयादय आहु:-'ध्रुवो' नित्यो लोकः, आविर्भावतिरोभावमात्रत्वादुत्पाद-विनाशयोः, असतोऽनुत्पादात् सतश्चावनाशात्, यदिवा 'ध्रुवः' निश्चलः, सरित्समुद्रभूभूधराघ्राणां निश्चलत्वात्, शाक्यादयस्त्वाहु:-अध्रुवो लोकोऽनित्यः, प्रतिक्षणं विशरारुस्वभावत्वात्, विनाशहेतोर भावात् नित्यस्य च क्रमयौगपद्याभ्यामर्थक्रियायामसामर्थ्यात्, यदिवा 'अध्रुवः' चलः, तथाहि-भूगोलः केषाश्चिन्मतेन नित्यं चलन्नेवास्ते, आदित्यस्तु व्यवस्थित एव, तत्रादित्यमण्डलं दूरत्वाधे पूर्वतः पश्यन्ति तेषामादित्योदयः आदित्यमण्डलाधे व्यवस्थितानां मध्याह्नः ये तुदूरातिक्रान्तत्वान्न पश्यन्ति तेषामस्तमित इति, अन्ये पुनः सादिको लोक इति प्रतिपन्नाः, तथा चाहुः-

| (MEALAN)     | ાવેલાંગલ રહ્ય, બેલ્વ મુવેર લોલવગે ભાવેર રહ્ય મોલવેઓ, લેવો |
|--------------|---|
| 11911        | "आसीदिदं तमोभूतमप्रज्ञातमलक्षणम् ।                        |
|              | अप्रतर्क्यमविज्ञेयं, प्रसुप्तमिव सर्वतः ॥                 |
| 11211        | तस्मिन्नेकार्णवीभूते, नष्टस्थावरजङ्गमे ।                  |
|              | नष्टामरनरे चैव, प्रनष्टोरगराक्षसे ॥                       |
| IIĮII        | केवलं गह्नरीभूते, महाभूतविवर्झिते ।                       |
|              | अचिन्त्यात्मा विभुस्तत्र, शयानस्तप्यते तपः ॥              |
| <u>  ¥  </u> | तस्य तत्र शयानस्य, नाभेः पद्मं विनिर्गतम् ।               |
|              | तरुणरविमण्डलनिभं, हद्यं काञ्चनकर्णिकम् ।।                 |
| 11411        | तस्मिन् पद्मे तु भगवान् दण्डी यज्ञोपवीतसंयुक्तः ।         |
|              | ब्रह्मा तत्रोत्पन्नस्तेन जगन्मातरः सृष्टाः ॥              |
| lişii        | अदितिः सुरसङ्घानां दितिरसुराणां मनुर्मनुष्याणाम् ।        |
|              | विनता विहङ्गमानां माता विश्वप्रकाशणाम् ॥                  |
| lloll        | कद्रुः सरीसृपाणां सुलसा माता तु नागजातीनाम् ।             |
|              | सुरभिश्चतुष्पदानमिला पुनः सर्वबीजानाम् ॥"                 |
|              |   |

इत्यादि, अपरेतुपुनरनादिको लोक इत्येवं प्रतिपन्नाः, यथा शाक्या एवमाहुः-अनवदग्रोऽयं भिक्षवः ! संसारः, पूर्वा च कोटी न प्रज्ञायते, अविद्या निरावरणानां सत्त्वानां न विद्यते, न च सत्त्वोत्पाद इति, तथा सपर्यवसितो लोको जगद्धलये सर्वस्य विनाशसद्भावात्, तथाऽपर्यवसितो लोकः, सतः आत्यन्तिकविनाशासम्भवात्, 'न कदाचिदनीध्शं जगदि'ति वचनात्, तत्र येषां सादिकस्तेषां सपर्यवसितो येषां त्वनादिकस्तेषामपर्यवसित इति, केषाश्चित्तूभयमपीति, तथा चोक्तम् – 11911

#### ''द्वावेव पुरुषौ लोके, क्षरश्चाक्षर एव च । क्षरः सर्वाणि भूतानि, कूटस्थोऽक्षर उच्यते ॥''

इत्यादि, तदेवं परमार्थमजानाना अस्तीत्याद्यम्युपगमेन लोकं विवदमानाः नानामूता वाचो नियुञ्जन्ति, तथाऽऽत्मानमपि प्रति विवदन्ते, तद्यथा-सुष्ठु कृतं सुकृतमिति वा दुष्कृतमिति वेत्येवं क्रियावादिनः संप्रतिपद्यन्ते, तथा सुष्ठु कृतं यत् सर्वसङ्गपरित्यागतो महाव्रतमग्राहि, तथाऽपरे दुष्कृतं मवता यदसौ मुग्धमृगलोचना पुत्रमनुत्पाद्योञ्झितेति, तथा य एव कश्चिद्यवञ्योद्यतः कल्याण इत्येवममिहितः स एवापरेण पाखण्डिकविप्रलब्धः कृलीबोऽयं गृहाश्रमपालनास-मर्थोऽनपत्यः पाप इत्येवममिधीयते, तथा साधुरिति वा असाधुरिति वा स्वमतिविकल्पितरुचि-भिरमिधीयते, तथा सिद्धिरिति वा असिद्धिरिति वा असाधुरिति वा स्वमतिविकल्पितरुचि-षिरमिधीयते, तथा सिद्धिरिति वा असिद्धिरिति वा नरकइति वा अनरकइति वा, एवमन्यदप्याश्रित्य स्वाग्रहग्रहिणो विवदन्तइति दर्शयति, 'यदिदं विप्रतिपन्ना' यत्पूर्वोक्तं लोकादिकं तदिदमाश्रित्य विविधं प्रतिपन्ना विग्रतिपन्नाः, तथा चोक्तम् –

| 119 It | ''इच्छंति कृत्रिमं सृष्टिवादिनः सर्वमेव मितिलिङ्गम् ।                         |
|--------|---|
|        | कृत्स्नं लोकं माहेश्वरादयः सादिपर्यन्तम् ॥                                    |
| IRII   | नारीश्वरजं केचित् केचित्सोमाग्निसम्भवंलोकम् ।                                 |
|        | द्रव्यादिषड्विकल्पं जगदेतत्केचिदिच्छन्ति ॥                                    |
| 11311  | ईश्वरप्रेरितं केचित्केचिद्धह्मकृतं जगत्।                                      |
|        | अव्यक्तप्रभवं सर्वं, विश्वमिच्छन्ति कापिलाः ।।                                |
| 11X11  | यार्धच्छिकमिदं सर्वं, केचिद्भूतविकारजम् ।                                     |
|        | केचिच्चानेकरूपं तु, बहुधा संप्रधाविताः ॥'' इत्यादि,                           |
| तदेवम  | ानवगाहितस्याद्वादोदन्वतामेकांशावलम्बिनां मतिभेदाः प्रादुष्प्यन्ति, तदुक्तम् – |
| 11911  | ''लोकोक्रियाऽऽत्मतत्त्वे विवदन्ते वादिनो विभिन्नार्थम् ।                      |

अविदितपूर्वं येषां स्याद्वादविनिश्चितं तत्त्वम् ॥''

येषां तु पुनः स्याद्वादमतं निश्चितं तेषामस्तित्वनास्तित्वादेरर्थस्य नयाभिप्रायेण कयश्चिदाश्रयणात् विवादामाव एवेति, अत्र च बहु वक्तव्यं तत्तु नोच्यते, ग्रन्थविस्तरभयाद्, अन्यत्र च सूत्रकृतादौ विस्तरेण सुविहितत्वादिति। तेच विवदन्तः परस्परतो विप्रतिपन्नाः 'मामकम्' इत्यासीयं धर्म्म प्रज्ञापयन्तः स्वतो नष्टाः परानपि नाशयन्ति, तथाहि-केचित्सुखेन धर्म्ममिच्छन्ति अपरे दुःखेनान्ये स्नानादिनेति, तथा मामक एवैको धर्म्मो मोक्षायानिर्वाच्यश्च नापर इत्येवं वदन्तोऽपुष्टधर्म्माणोऽविदितपरमार्थान् प्रतारयन्ति, तेषामुत्तरं दर्शयति –

-'अत्रापि' अस्ति लोको नास्ति वेत्यादी जानीत यूयम् 'अकस्मादि'ति मागधदेशे आगोपालाङ्गनादिना संस्कृतस्यैवोद्यारणादिहापि तथैवोद्यारित इति, कस्मादिति हेतुर्न कस्मादकस्माद् हेतोरभावादित्यर्थः, तत्रास्ति लोक इत्युक्तेऽत्राप्येवं जानीत यथा न भवत्येवमकस्माद्, हेतोरभावादिति, तथाहि--यद्येकान्तेनैव लोकोऽस्ति ततोऽस्तिना सह समानाधिकरण्याद्यदस्ति तल्लोकः स्याद् एवंच तत्प्रतिपक्षोऽप्यलोकोऽस्तीतिकृत्वा लोक एवलोकः स्याद्, व्याप्यसद्मावे व्यापकस्यापि सद्भावादलोकाभावः, तदभावेच तत्र्यतिषक्षभूतस्य लोकस्य प्रागेवामावः सर्वगतत्वं वा लोकस्य स्यादिति, अथवा लोकोऽस्ति, न च लोको भवति, लोकोऽपि नामास्ति, न च लोकोऽलोकामाव इत्येवं स्याद्, अनिष्टं चैतत्, किं च —

अस्तेव्यार्पकत्वे लोकस्य घटपटादेरपि लोकत्वप्राप्तिः, व्याप्यस्य व्यापकसद्भावनान्त-रीयकत्वात्, किं च-अस्ति लोकः इत्येषापि प्रतिज्ञा लोक इतिकृत्वा हेतोरप्यस्तित्वात्, प्रतिज्ञाहेत्वोरेकत्वावाप्तिः, तदेकत्वे हेत्वभावः, तदभावे किंकेन सिद्धयतीति ?, उतास्तित्वादग्ये लोकइत्येवं च प्रतिज्ञाहानिः स्यात्, तदेवमेकान्तेनैव लोकास्तित्वेऽम्युपगम्यमाने हेत्वभावः प्रदर्शितः, एवं नास्तित्वप्रतिज्ञायामपि वाच्यं, तथाहि-नास्ति लोक इति ब्रुवन्, वाच्यः- किं भवानस्तुयुत नेति ?, यद्यस्ति किं लोकान्तर्वर्त्ती न वेति, यदि लोकान्तर्गतः कथं नास्ति लोक इति ब्रवीषि ?,

अथ बहिर्मूतस्ततः स्वरविषाणवदसद्भूत एवेति कस्य मयोत्तरं दातव्यम्, इत्यनग दिशैकान्तवादिनः स्वयमभ्यूह्यप्रतिक्षेप्तव्या इति, 'एव' मिति यथाऽस्तित्वनास्तित्ववादस्तेषामा-कस्मिको-निर्युक्तिकः, एवं ध्रुवाध्रुवादयोऽपि वादा निर्युक्तिकः एवेति, अस्माकंतु स्याद्वादवादिनां कयश्चिदभ्युपगमान्न यथोक्तदोषानुषङ्गो, यतः स्वपरसत्ताव्युपदासोपादानापाद्यं हि वस्तुनो वस्तुत्वम्, अतः स्वद्रव्यक्षेत्रकालस्वमावतोऽस्ति परद्रव्यादिचतुष्टयान्नास्तीति, उक्तं च –

II9II "सदेव सर्वं को नेच्छेत्, स्वरूपादिचतुष्टयात् ? I असदेव विपर्यासात्र चेन्न व्यवतिष्ठते II"

इत्यादि, अलमतिप्रसङ्ग्रेनाक्षरगमनिकार्थत्वात् प्रयासस्य, एवं ध्रुवाध्रुवादिष्वपि पञ्चावयकेन दशावयवेन वाऽन्यया वैकान्तपक्षं विक्षिप्य स्याद्वादपक्षोऽभ्यूह्मायोज्य इति । साम्प्रतमुपसंहरति - 'एवं' उक्तनीत्या तेषामेकान्तवादिनां न स्वाख्यातो धर्म्मो भवति, नापि शास्त्रप्रणयनेन सुप्रज्ञापितो भवति ।। किं स्वमनीषिकिया भवतेदमभिधीयते ?, नेत्याह-यदिवा किम्भूतस्तर्हि सुप्रज्ञापितो धर्म्मो भवतीत्याह –

मू. (२९३) सेजहेयं भगवया पवेइयं आसुपन्नेण जाणया पासया अदुवा गुत्ती वओगोयरस तिबेभि सव्वत्थ संमयं पावं, तमेव उवाइक्कम्म एस महं विवेगे वियाहिए, गामे वा अदुवा रण्णे नेव गामे नेव रण्णे धम्ममायाणह पवेइयं माहणेण मइमया, जामा तिन्नि उदाहिया जेसु इमे आयरिया संबुज्झमाणा समुट्टिया, जे निव्वया पावेहिं कम्मेहिं अनियाणाते वियाहिया ॥

**दृ.** तंद्यथा 'इदं' स्याद्वादरूपं चस्तुनो लक्षणं समस्तव्यवहारानुयायि कचिदप्यप्रतिहतं 'भगवता' श्रीवर्द्धमानस्वामिना प्रवेदितम्, एतद्वाऽनन्तरोक्तं भगवता प्रवेदितमिति, किम्भूतेनेति दर्शयति-आशुप्रज्ञेन, निरावरणत्वात्, सततोपयुक्तेनेत्यर्थः, किं यौगपद्येन ?, नेति दर्शयति-'जानता' ज्ञानोपयुक्तेन, तथा 'पश्यता' दर्शनोपयुक्तेनैतव्यवेदितं, यथा नैषामेकान्तवादिनां धर्म्मः स्वाख्यातो भवति, अथवा गुप्तिर्वाग्गोचरस्य-भाषासमितिः कार्येत्येतव्रवेदितं भगवता, यदिवा अस्ति नास्ति ध्रुवाध्रुवादिवादिनां वादायोत्थितानां त्रयाणां त्रिषष्टयधिकानां प्रावादुकशतानं वादलब्धिमतां प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तोपन्यासद्वारेण तदुपन्यस्तदूषणोपन्यासेन च तत्पराजयापादनतः सम्यगुत्तरं देयम्, अथवा गुप्तिर्वाग्गोचरस्य विधेयेत्येतदहं ब्रवीमि, वक्ष्यमाणं चेत्याह --

तान् वादिनो वाँदायोत्थितानेवं ब्रूयाद्-यथा भवतां सर्वेषामपि पृथिव्यप्तेजो-वायुवनस्पत्यारम्भः कृतकारितानुमतिभिरनुज्ञातोऽतः सर्वत्र 'सम्मतम्' अभिप्रेतमप्रतिषिद्धं 'पापं' षापानुष्ठानं, ममतु नैतत्सम्मतमित्येतद्दर्शयितुमाह - 'तदेव' एतत्पापानुष्ठानमुप-सामीप्येनातिक्रम्य-अतिलङ्ध्य यतोऽहं व्यवस्थितोऽत एष मम विचेको व्याख्यातः, तत्कथमहं सर्वाप्रतिषिद्धस्रवदारैः संभाषणमपि करिष्ये ?, आस्ता तावद्वाद इत्येवमसमनुज्ञविवेकं करोतीति, अत्राह चोदकः-कयं तीर्थिकाः सम्मतपापा अज्ञानिनो मिथ्यादृष्टयोऽचरित्रिणोऽतपस्विनो वेति ?,

-तथाहिन्तेऽप्यकृष्टभूमिवनवासिनो मूलकन्दाहारा वृक्षादिनिवासिनश्चेति, अत्राहाचार्यः-नारण्यवासादिना धर्मः, अपि तु जीवाजीवपरिज्ञानात् तत्पूर्वकानुष्ठानाद्य, तद्य तेषां नास्तीत्यतोऽसमनोज्ञास्ते इति। किंच-सदसदिवेकिनो हिधर्म्मः, सच ग्रामे वा स्यात् अथवाऽरण्ये, नैवाधारो ग्रामो नैवारण्यं धर्म्मनिभित्तं, यतो भगवता न वसिममितरद्वाऽऽश्रित्य धर्म्मः प्रवेदितः, अपि तु जीवादित्तत्त्वपरिज्ञानात् सम्यगनुष्ठानाद्य, अतस्तं धर्ममाजानीत 'प्रवेदितं' कथितं 'माहणेण'त्ति भगवता, किम्भूतेन ? --

- 'मतिमता' मननं-संर्वपदार्थपरिज्ञानं मतिस्तद्धता मतिमता केवलिनेत्यर्थः । किंभूतो धर्म्यः प्रवेदित इत्याह – 'यामा' व्रतविशेषाः त्रय उदाहृताः, तद्यथा-प्राणातिपातो मृषावादः परिग्रहश्चेति, अदत्तादानमैथुनयोः परिग्रह एवान्तर्भावात् त्रयग्रहणं, यदिवायामा--वयोविशेषाः, तद्यथा--अएवर्षादात्रिंशतः प्रथमस्तत उर्द्धवमाषष्टेः द्वितीयस्तत उर्द्धवं तृतीय इति अतिबाल-वृद्धयोर्ब्युदासो, यदिवायम्यते--उपरम्यते संसारभ्रमणादेभिरिति यामाः-ज्ञानदर्शनचारित्राणीति ते 'उदाहृता' व्याख्याताः, यदि नामैव ततः किमित्याह-'येषु' अवस्थाविशेषेषु ज्ञानादिषु वा इमे देशार्या अपाकृतहेयधर्म्पा वा सम्बुध्यमानाः सन्तः समुत्यिताः, के ? - ये 'निर्वृताः' क्रोद्याद्यपगमेन शीतीभूताः पापेषु कर्म्पसु 'अनिदाना' निदानरहिताः ते 'व्याख्याताः' प्रतिपादिता इति ॥

क च पुनः पापकर्म्मस्वनिदाना इत्यत आह --

मू. (२९४) उड्ढं अहं तिरियं दिसासु सच्वओ सच्चावंति च णं पाडियक्कं जीवेहि कम्पसमारम्भे णं तं परिन्नाय मेहावी नेव सयं एएहिं काएहिं दंडं समारंभिज्ञा नेवेन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभाविज्ञा नेवेन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभंतेऽवि समनुजाणेज्ञा जेवऽन्ने एएहिं काएहिं दंडं समारंभति तेसिंपि वयं लज्जामो तं परिन्नाय मेहावी तं वा दंडं अन्नं वा नोदंडभी दंडं समारंभिज्ञासि –तिबेमि ।।

वृ. उर्द्धवमधस्तिर्यग्दिक्षु 'सर्वतः' सर्वैः प्रकारैः सर्वा याः काश्चन दिशः चशब्दादनुदिशश्च 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे 'प्रत्येकं जीवेषु' एकेन्द्रियसूक्ष्मेतरादिकेषु यः कर्म्मसमारम्भः-जीवानुद्दिश्य य उपमर्दरूपः क्रियासमारम्भः 'णम्' इति चाक्यालङ्कारे तं कर्म्मसमारम्भं ज्ञपरिज्ञया ज्ञात्वा प्रत्याख्यानपरिज्ञया प्रत्याचक्षीत, कोऽसौ? - 'मेघावी' मर्यादाव्यवस्थितइति, कथं प्रत्याचक्षीतेत्याह

नैव स्वयमात्मना 'एतेषु' चतुर्दृशभूतग्रामार्वस्थितेषु 'कायेषु' पृथिवीकायादिषु 'दण्डम्' उपमर्दं समारभेत, न चापरेण समारम्भयेत्, नैवान्यान् समारभमाणान् समनुजानीयात्, ये चान्ये दण्डं समारमन्ते, सुब्व्यत्ययेन तृतीयार्थे षष्ठी, तैरपि वयं लज्जाम इत्येवं कृताध्यवसायः सन् तज्जीवेषु कर्म्मसमारम्भं महतेऽनर्थाय 'परिज्ञाय' ज्ञात्वा 'मेघावी' मर्यादावान्, तथा पूर्वोक्तं दण्डमन्यद्वा मृषावादादिकं दण्डाद्विभेतीति दण्डभीः सन् नो 'दण्डं' प्राण्युपमर्दादिकं समारभेताः, करणत्रिकयोगत्रिकेण परिहरेदिति, इतिरधिकारपरिसमाप्तौ ब्रवीमीति पूर्ववत् । अध्ययनं-८-उद्देशकः-९ समाप्तः

#### -: अध्ययन-८ - उद्देशक:-२ :-

ष्ट्र. उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरो-देशकेऽनधसंयमप्रतिपालनाय कुशीलपरित्यागोऽभिहितः, स चैतावताऽकल्पनीयपरित्यागमृते न सम्पूर्णतामियाद् अतोऽकल्पनीयपरित्यागार्थमिदमुपक्रम्यतइत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देश-कस्यादिसूत्रम् --

मू. (२१५) से भिक्खू परिक्कमिज वा चिइज वा निसीइज वा तुयडिज वा सुसाणंसि वा सुत्रागारंसि वा गिरिगुहंसि वा रुक्खमूलंसि वा कुंभाराययणंसि वा हुरत्या वा कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई बूया-आउसंतो समणा ! अहं खलु तव अड्ढाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायुपुच्छणं वा पाणाई भूयाई जीवाई सत्ताई समारम्भ समुद्दिस्स कीयं पामिद्यं अच्छिज्रं अनिसईं अभिहडं आहट्ट चेएमि आवसहं वा समुस्सिणोमि से भुंजह वसह,

आउसंतो समणा ! भिक्खू तं गाहावइं समणसं सक्यसं पडियाइक्खे-आउसंतो ! गाहावई नो खलु ते वयणं आढामि नो खलु ते वयणं परिजाणामि, जो तुमं मम अद्वाए असणं वा ४ वत्यं वा ४ पाणाइं वा ८ समारम्भ समुद्दिस्स कीयं पामिच्चं अच्छिन्नं अनिसईं अभिहडं आहट्ट चएमि आवसहं वा समुस्सिणासि, से विरओ आउसो गाहावई ! एयस्स अकरणयाए ।

**वृ.** 'स' कृतसामायिकः सर्वसावद्याकरणतया प्रतिज्ञामन्दरमारूढो भिक्षणशीलो भिक्षुः भिक्षार्थमन्यकार्याय वा 'पराक्रमेत' विहरेत् तिष्ठेद्वा ध्यानव्यग्रो निषीदेद्वा अध्ययनाध्या-पनश्रवणश्रवणाध्तः, तथाश्रान्तः क्वचिदध्वानादौत्वग्-वर्त्तनंवा विदध्यात्, कैतानि विदध्यादिति दर्शयति-'श्मशाने वा' शबानां शयनं श्मशानं-पितृवनं तस्मिन् वा, तत्र च त्वग्वर्त्तनं न सम्भवत्यतो यथासम्पर्वं पराक्रमणाद्यायोज्यं, तथाहि-गच्छवासिनस्तत्र स्थानादिकं न कल्पते, प्रमादस्खलितादौ व्यन्तराद्युपद्रवात्, तथा जिनकल्पार्थं सत्त्वभावनां भावयतोऽपि न पितृवनमध्ये निवासोऽनुज्ञातः, प्रतिमाप्रतिपन्नस्य तु यत्रैव सूर्योऽस्तमुपयाति तत्रैव स्थानं, जिनकल्पिकस्य वा, तदपेक्षया श्मशानसूत्रम्—

एवमन्यदपि यथासम्भवमायोज्यं, शून्यागारे वा गिरिगुहायां वा 'हुरत्या व'त्ति अन्यत्र वा ग्रामोदेर्बहिस्तं भिक्षुं कचिद्विहरन्तं गृहपतिरुपसंक्रम्य विनेयदेशं गत्वा 'ब्रूयाद्' वदेदिति, यच्च ब्रूयात्तद्दर्शयितुमाह-साधुं अभञ्जानादिषु परिक्रमणादिकां क्रियां कुर्वाणमुपसङ्कम्य-उपेत्य पूर्वीस्थितो वा गृहस्थः प्रकृतिभद्रकोऽभ्युपेतसम्यक्त्वो वा साध्वाचा राकोविदः साधुमुद्दिश्यैतद्ब्रूयात्-यथैते लब्धायलब्धभोजिनः त्यक्तारम्भाः सानुक्रोशाः सत्यशुचय एतेषु निक्षिप्तमक्षयमित्यतोऽहमेतेभ्ये दास्यामीत्यभिसन्धाय साधुमुत्पत्थिते, वक्ति च --

आयुष्मन् ! भोः श्रमण ! अहं संसारावर्णवं समुत्तितीर्षुः 'खलुः' वाक्यालङ्कारे 'तवार्थाय' युष्मत्रिमित्तं अशनं वा पानं वा खादिमं वा स्वादिमं वा तथा वस्त्रं वा पतद्ग्रहं वा कम्बलं वा पादपुञ्छनं वा समुद्दिश्य-आश्रित्य किं कुर्यादिति दर्शयति-पञ्चेन्द्रियोच्छ्वासनिश्वासादिस--मन्विताः प्राणिनस्तान्, अमूवन् मवन्ति भविष्यन्ति चेति भूतानि तानि, तथा जीवतवन्तो जीवन्ति जीविष्यन्तीति वा जीवाः तान्, सक्ताः सुखदुःखेष्विति सत्त्वास्तान् समारम्य-उपमर्ध, तथाहि- अशनाद्यारम्भे प्राण्युपमर्वोऽवश्यंभावी, एतच्च समस्तं व्यस्तं वा कशअचित्रतिपद्येत, इयं चाविशुद्धिकोटिर्गृहीता, सा चेमा –

॥१॥ "आहाकम्मुद्देसिअ मीसजा बायरा य पाहुडिआ। पूड्अ अज्झोयरगो उग्गमकोडी अ छब्भेआ।।"

विशुद्धिकोटिं दर्शयति - 'क्रीतं' मूल्येन गृहीतं 'पामचिं'ति अपरस्मादुच्छिन्नमुद्यतकं गृहीतं, बलात्कारितया वाऽन्यस्मादाच्छिद्य राजोपसृष्टो वाऽन्येभ्यो गृहिभ्यः साधोर्दास्यामीत्याच्छिन्द्यात्, तथा 'अनिसृष्टं' परकीयं यत्तदन्तिके तिष्ठति न च परेण तस्य निसृष्टं-दत्तं तदनिसृष्टं, तदेवंभूतमपि साधोर्दानाय प्रतिपद्यते, तथा स्वगृहादाहृत्य 'चेएमि'त्ति ददामि तुभ्यं वितरामि, एवमश-नादिकमुद्दिश्य ब्रूयात्, तथा 'आवसयं वा' युष्मदाश्रयं समुच्छृणोमि—आदेरारभ्यापूर्वं करोमि संस्कारं वा करोमीत्येवं प्राञ्जलिरवनतोत्तमाङ्गः सन् अशनादिनानिमन्त्रयेत्, यथा–भुङ्कवाशनादिकं मत्संस्कृतावसये वसेत्यादि, द्विवचनबहुवचने अप्यायोज्ये। साधुनातु सूत्रार्थविशारदेनादीनमनस्केन प्रतिषेधितव्यमित्याह –

आयुष्मन् ! श्रमण ! भिक्षो ! तं गृहपतिं समनसं सवयसमन्यथाभूतं वा प्रत्याचक्षीत, कथमिति चेद्दर्शयति-यथा आयुष्यमन ! भो गृहपते ! न खलु तवैवभूतं वचनमहमाद्रिये खलुशब्दोऽ-पिशब्दार्थे, सच समुद्यये, नापि तवैतद्वचनं 'परिजानामि' आसेवनपरिज्ञानेन परिविदधेऽहमित्यर्थः, यस्त्वं मम कृतेऽशनादि प्राण्युपमर्देन विदधासि यावदावसथसमुच्छ्रयं विदधासि, भो आयुष्मन् गृहपते ! विरतोऽहमेवम्भूतादनुष्ठानात्, कथम् ?- एतस्य-मवदुपन्यस्तस्याकरणतयेत्यतो मवदीयमभ्युपगमं न जाने।ऽहमिति ॥ तदेवं प्रसद्धाशनादिसंस्कारप्रतिषेधः प्रतिपादितो, यदि पुनः कश्चिद्विदितसाध्वभिग्रायः प्रच्छन्नमेव विदध्यात्तदपि कुतश्चिदुपत्तभ्य प्रतिषेधयेदित्याह –

मू. (२१६) से भिक्खुं परिक्वमिज्ञ वा जाव हुरत्या वा कहिंचि विहरमाणं तं भिक्खुं उवसंकमित्तु गाहावई आयगयाए पेहाए असणं वा ४ वत्थं वा ४ जाव आहद्रु चेएइ आवसहं वा समुस्सिणाइ भिक्खू परिधासेउं, तं च भिक्खू जाणिज्ञा सहसम्मइयाए परवागरणेणं अन्नेसिं वा सुम्रा-अयं खलु गाहावई मम अडाए असणं वा ४ वत्थं वा ४ जाव आवसहं वा समुस्सिणाइ, तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्ञा अणासेवणाए –त्तिबेभि ।।

षृ. तं भिक्षुं क्वचित् श्मशानादौ विहरन्तमुपसङ्क्रम्य प्राञ्जलिर्वन्दित्वा गृहपतिः प्रकृतिभद्रकादिकः कश्चिदात्मगतया प्रेक्षयाऽनाविष्कृताभिप्रायः केनचिदलक्ष्यमाणो यथाऽहमस्य दात्यामीत्यशनादिकं प्राण्युपमर्देनारभेत, किमर्थमिति चेद्दर्शयति-तदशनादिकं भिक्षुं 'परिघात्तयितुं' भोजयितुं, साधुभोजनार्थमित्यर्थः, आवसर्थं च साधुभिरधिवासयितुमिति, तदशनादिकं साध्धर्थं निष्पादितं भिक्षुः 'जानीयात्' परिच्छिन्द्यात, कथमित्याह-त्वदसन्मत्या परव्याकरणेन वा तीर्थकरोपदिष्टोपायेन वा अन्येभ्यो वा तत्परिजनादिभ्यः श्रुत्वा जानीयादिति वर्त्तते, यथाऽयंखलु गृहपतिर्मदर्थमशनादिकं प्राण्युपमर्देन विधाय मह्तं ददात्यावसर्थं च समुच्छृणोति, तद्भिक्षुः सम्यक् 'प्रत्युपेक्ष्य' पर्यालोच्यावगम्य च ज्ञात्वा 'ज्ञापयेत्' तं गृहपतिमनासेवनया यथाऽनेन विधानेनोपकल्पितमाहारादिकं नाहं भुञ्जे एवं तस्य ज्ञापनं कुर्याद्, यद्यसौ श्रावकस्ततो लेशतः पिण्डनिर्युक्तिंत कथयेद्, अन्यस्य च प्रकृतिभद्रकस्योद्गमादिदोषानविर्भावयेत् प्रासुकदानफलं

| च प्ररूप्रयेत्, यथाशक्तितो धर्म्मकथां | च कुर्यात्, | तद्यथा – |
|---------------------------------------|-------------|----------|
|---------------------------------------|-------------|----------|

| [[9]] | ''काले देशे कल्प्यं श्रद्धायुक्तेन शुद्धमनसा च । |
|-------|--|
|-------|--|

- 🔹 सत्कृत्य च दातव्यं दानं प्रयतात्मना सद्म्यः ॥'' (तथा) -
- ''दानं सत्पुरुषेषु स्वल्पमपि गुणाधिकेषु विनयेन ।
- वटकणिकेव महान्तं न्यग्रोधं सत्फलं कुरुते ॥
  - दुःखसमुद्रं प्राज्ञास्तरन्ति पात्रार्पितेन दानेन ।

🔹 लघुनेव मकरनिलयं वणिजः सद्यानपात्रेण ॥''

इत्यादि, इतिरधिकारपरिसमाप्ती, ब्रवीमीत्येतत्पूर्वोक्तं वक्ष्यमाणं चेत्याह --

मू. (२९७) भिक्खुं च खलु पुडा वा अपुडा वा जे इमे आहच्च गंथा वा फुसंति, से हंता हणह खणह छिंदह दहह परयह आलुंपह विलुंपह सहसाकारेह विष्परामुसह, ते फासे धीरो पुडो अहियासए अदुवा आयारगोयरमाइक्खे, तक्किया नमणेलिसं अदुवा वड्गुत्तीए गोयरस्स अनुपुव्वेण संमं पडिलेहणं आयतगुत्ते बुद्धेहिं एयं एवेइयं।

**दृ**. 'चः' समुच्चये 'खलुः' वाक्यालङ्कारे भिक्षणशीलो भिक्षुस्तं भिक्षुं पृष्टवा कश्चिद्यथा भो भिक्षो ! भवदर्थमशनादिकमावसयं वा संस्करिष्येऽननुज्ञातोऽपि तेनासौ तत्करोत्यवश्यमयं चाटुभिर्बलात्कारेण वा ग्राहयिष्यते, अपरस्त्वीषत्साध्वाचारविधिज्ञोऽतोऽपृष्टैव छद्मना ग्राहयिष्यामीत्याभिसन्धायाशनादिकं विदध्यात्, सच तदपरिभोगे श्रद्धाभङ्गाच्चाटुशताय्र- हणाच्च रोषावेशात्रिःसुखदुःखतयाऽलोकज्ञाइत्यनुशयाच्च राजानुसृष्टतयाचन्यकारभावनातः प्रदेषमुपगतो हननादिकमपि कुर्यादिति दर्शयति-एकाधिकारे बह्धतिदेशाद्य इमे प्रश्नपूर्वक- मप्रश्नपूर्वकं वा आहारादिकं 'ग्रन्थात्' महतो द्रव्यव्ययाद् 'आहत्य' ढौकित्वा आहतग्रन्था वा-व्ययीकृतद्रव्यावा तदपरिभोगे 'स्पृशन्ति' उपतापयन्ति, कथमिति चेद्दर्शयति -

'स' ईश्वरादिः प्रद्विष्टः सन् हन्ता स्वतोऽपरांश्च हननादौ चोदयति, तद्यथा-हतैनं साधुं दण्डाभि-'क्षणुत'व्यापादयत छिन्नहस्तपादादिकं दहत अग्न्यादिना पचत उरुमांसादिकं लुम्पत वस्त्रादिकं विलुम्पत सर्वस्वाः पहारेण सहसात् कारयत-आशु पञ्चत्वं नयत तथा विविधं परामृशत-नानीपीडाकरणैर्बाधयत, तांश्चैवम्भूतान् 'स्पर्शान्' दुःखविशेषान् 'धीरः' अक्षेभ्यः तैः स्पर्शैः स्पृष्टः सन्नधिसहेत, तथा परैः क्षुत्पिपासापरीषहैः स्पृष्टः सन्नधिसहेत, न तु पुनरुपसर्गीः परीषहैर्व तर्जितो विक्लवतामापत्रस्तदुद्देशिकादिकमभ्युपेयादनुकूलैर्वा सान्त्ववादादिभिरुपसर्गितो नादद्याद्, अपि तु सति सामर्थ्ये जिनकल्पिकादन्यः आचारगोचरमाचक्षीतेत्याह-नानाविधोपसर्गजनितान् स्पर्शानधिसहेत, अथवा साधूनामाचारगोचरम्-आचारानुष्टानविषयं मूलोत्तरगुणभेदभिन्नमाचक्षीत, न पुनर्नयैर्द्रव्यविचारं, तत्रापि मूलगुणस्थैर्यार्थमुत्तरगुणान् तत्रापि पिण्डैषणाविशुद्धिमाचक्षीत, अत्र च पिण्डैषणासूत्राणि पठितव्यानि, अपि च ~

II9II ''यत्त्वयमदुःखितं स्यान्न च परदुःखे निमित्तभूतमपि । केवलमुपगर्हकरं धर्म्मकृते तद्भवेद्देयम् ॥''

किं सर्वस्य सर्वं कथयेत्?, नेति दर्शयति - 'तर्क्वयित्वा' पर्यालोच्य पुरुषं, तद्यथा--कोऽगं पुरुषः कश्च नतोऽभिगृहीतोऽनभिगृहीतो मध्यस्थप्रकृतिभद्रको वेत्येवमुपयुज्य यथाईं यथाशक्ति

11211

11311

चावेदयेत, सत्यां च शक्तौ पञ्चावयवेनान्यथा वा वाक्येनानीद्दशम्—अनन्यसद्दशं स्वपरक्षस्थाप-नाव्युदासद्वारेणावेदयेदिति, अथ सामर्थ्यविकलः स्यात् कुप्यति वा कथ्यमानेऽसावनुकूलप्रत्यनी-कस्ततो वाग्गुप्तिर्विधेयेत्याह-सति सामर्थ्ये श्रृ ण्वति वा दातरि आचारगोचरमाचक्षीत, 'अथवे'त्यन्यथामावेतुवाग्गुप्तयाव्यवस्थितः सन्नात्महितमाचरन् 'गोचरस्य' पिण्डविशुद्धयादेराचा-रगोचरस्य 'आनुपूर्व्या' उद्गमप्रश्नादिरूपया सन्यगशुद्धिं प्रत्युपेक्षेत, किम्मूतः ? –आत्मगुप्तः सन्, सततोपयुक्त इत्यर्थः, नैतन्मयोच्यत इत्याह – 'बुद्धैः' कल्प्याकल्प्य विधिज्ञैः 'एतत्' पूर्वोक्तं प्रवेदितम् ।। एतद्वा वक्ष्यमाणमित्याह –

मू. (२१८) से समणुन्ने असमणुन्नस्स असमणं वा जाव नो पाइज्रा नो निमंतिज्ञा नो कुज्जा वेयावडियं परं आढायमाणे त्तिबेभि।

वृ. न केवलं गृहस्थेभ्यः कुशीलेभ्यो वा अकल्प्यमितिकृत्वाऽऽहारादिकं न गृह्लीयात्, स समनोज्ञोऽसमनोज्ञाय तत् पूर्वोक्तमशनादिकं न प्रदद्यात्, नापि परम्-अत्यर्थमाद्रियमाणो-ऽशनादिनिमन्त्रणतोऽन्यथा वा तेषां वैयावृत्त्यं कुर्यादिति, व्रवीमीतिशब्दावधिकारपरि-समाप्त्यर्थो ।

किम्भूतस्तर्हि किम्भूताय दद्यादित्याह –

मू. (२९९) धम्ममायाणह पवेइयं माहणेण मइमया समणुन्ने समणुन्नस्स असणं वा जाव कुज्रा वेयावडियं परं आढायमाणे । –तिबेमि ।

**q**. 'धर्म्मं दानधर्म्मं जानीत यूयं 'प्रवेदितं' कथितं, केन ? -श्रीवर्द्धमानस्वामिना, किम्भूतेन 'मतिमता' केवलिना, किम्भूतं धर्म्ममिति दर्शयति-यथा समनोझ;-साधुरुद्यक्तविहारी अपरस्मै-समनोज्ञाय चारित्रवते संविग्नाय साब्भोगिकायैकसामाचारीप्रविष्टायाशनादिकं चतुर्विधं तथा वस्त्रादिकमपि चतुर्द्धा 'प्रदद्यात्' प्रयच्छेत्, तथा तदर्थं च निमन्त्रयेत्, पेशलमन्यद्वा वैयावृत्त्यम्-अङ्गमर्दनादिकं कुर्यात्, नैतद्विपर्यस्तेभ्यो गृहस्थेभ्यः कुतीर्थिकेभ्यः पार्श्वस्थादिभ्योऽसंविग्नेभ्योऽ-समनोज्ञेभ्यो वेत्येतत्यूर्वोक्तं कुर्यादिति, –

किन्तु समनोज्ञेभ्य एव परम्-अत्यर्थमाद्रियमाणस्तदर्थसीदने परमुत्तप्यमानः सम्यग्वैयावृत्त्यं कुर्यात्, तदेवं गृहस्थादयः कुशीलादयस्त्याज्या इति दर्शितम्, अयं तु विशेषो-गृहस्थेभ्यो यावस्त्रभ्यते तावद् गृह्यते, केवलमकल्पनीयं प्रतिषिध्यते, असमनोज्ञेभ्यस्तु दानग्रहणं प्रति सर्वनिषेध इति । इति ब्रवीमिशब्दौ पूर्ववद् ।

अध्ययनं-८ - उद्देशक-२ - समाप्त :

# -: अध्ययनं-८ - उद्देशकः ३ :-

ष्ट्र. उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृताय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्ध;-इहानन्तरो-देशकेऽकल्पनीयाहारादिप्रतिषेधोऽभिहितस्तस्रतिषेधकुपितस्य दातुर्यथावस्थितपिण्डदानप्ररूपणा च, तदिहाप्याहारादिनिमित्तं प्रविष्टेन शीताधङ्गोत्वकम्पदर्शनान्यथाभाववतो गृहपतेर्यथा-वस्थितपदार्थावेदनतो गीतार्थेन साधुनाऽसदारेकाऽपनेयेत्यनेन सम्बन्धनायातस्यास्योद्देशकस्य-सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारयितव्यं, तच्चेदम् -- मू. (२२०) मज्झिमेणं वयसावि एगे संबुज्झमाणा समुडिया, सुम्ला मेहावी वयणं पंडियाणं निसामिया समियाए धम्मे आरिएहिं पवेइए ते अणवकंखमाणा अणइवाएमाणा अपरिग्गहेमाणा नो परिग्गहावंती सव्वावंति च णं लोगंसि निहाय दंडं पाणेहिं पावं कम्मं अकुव्वमाणे एस महं अगंधे वियाहिए, ओए जुइमस्स खेयत्रे उचवायं चवर्णं च नझा ।

**वृ.** इह त्रीणि वयांसि-युवा मध्यमवया वृद्धश्चेति, तन्न मध्यमवयाः परिपक्वबुद्धित्वाद्धर्मार्ह इत्यादौ दर्शयति-मध्यमेन वयसाऽप्येके सम्बुध्यमानाः धर्म्मचरणाय सम्यगुत्यिताः समुत्यिता इति, सत्यपि प्रथमचरमवयसोरुत्याने यतो बाहुल्याद्योग्यत्वाच्च प्रायो विनिवृत्त मोगकुतू हल इति निष्प्रत्यू हधम्पधिकारीति मध्यमवयोग्रहणं । कथं सम्बुध्यमानाः समुत्यिता इत्याह-इह त्रिविधाः सम्बुध्यमानका मवन्ति, तद्यथा-स्वयंबुद्धाः प्रत्येकबुद्धाः बुद्धबोधिताश्च, तत्र बुद्धबोधितेनेहाधिकार इति दर्शयति - 'मेघावी' मर्यादाव्यवस्थितः 'पण्डितानां' तीर्थकृदादीनां 'वचनं' हिताहितप्राप्तिप-रिहारप्रवर्त्तकं 'श्रुत्वा' आकर्ण्य पूर्वं पश्चात् 'निशन्य' अवधार्य समतामालम्बेत, किमिति ? –

यतः समतया-माध्यस्थ्येनार्थैः-तीर्थकृद्भिर्धम्मः-श्रुतचारित्राख्यः 'प्रवेदितः' आदौप्रकर्षेण वा कथित इति, ते च मध्यमे वयसि श्रुत्वा धर्म्मं सम्बुध्यमानाः समुखिताः सन्तः किं कुर्युरित्याह-ते निष्क्रान्ताः मोक्षमभि प्रस्थिताः कामभोगानभिकाङ्चन्तः तथा प्राणिनोऽनतिपातयन्तः परिग्रहमपरिगृह्णन्तः, आद्यन्तयोर्ग्रहणे मध्योपादानमपिद्रष्टव्यम्, ाथा मृषावादमवदन्त इत्याद्यपि वाच्यम्, एवम्भूताः स्वदेहेऽप्यममत्वाः 'सव्वावंति'त्ति सर्वस्मिन्नपि लोके, चः समुद्यये सच भिन्नक्रमः, 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे, नो परिग्रहवन्तश्च भवन्तीतियावत्, किं च-प्राणिनो दण्डयतीति दण्डः-परितापकारी तं दण्डं प्राणिषु प्राणिभ्यो वा 'निधाय' क्षिप्त्वा त्यक्त्वा 'पापं' पापोपादानं 'कर्म्म' अष्टादशभेदभिन्नं तत् 'अकुर्वाणः' अनाचरन्नेषु महान् न विद्यते प्रन्थः सबाह्याभ्यन्तरोऽस्येत्यप्रन्थः 'व्याख्यातः' तीर्थकरगणधरादिभिः प्रतिपादित इति । कश्चैवम्भूतः स्यादित्याह --

'ओजः' अद्वितीयो रागद्वेषरहितः 'द्युतिमान्' संयमो मोक्षो वा तस्य 'खेदज्ञो' निपुणो देवलोकेऽप्युपपातं च्यवनं च ज्ञात्वा सर्वस्थानानित्यताहितमतिः पापकर्म्यवर्जी स्यादिति । केचित्तु मध्यमवयसि समुखिता अपि परीषहेन्द्रियैग्लानतां नीयन्त इति दर्शयितुमाह –

मू. (२२ 9) आहारोवचया देहा परीसहपभंगुरा पासह एगे सव्विंदिएहिं परिगिलायमाणेहिं

च्न. आहारेणोपचयो येषां ते आहारोपचयाः, के ते ? - दिह्यन्त इति देहास्तदभावे तुम्लायन्ते म्रियन्ते वा, तथ 'परीषहप्रमञ्जिनः' परीषहैः सद्भिर्मङ्घुरा देहा भवन्ति, ततश्चाहारोपचितदेहा अपि प्राप्तपरीषहा वातादिक्षोमेण वा पश्यत यूयमेके क्लीबाः सर्वैरिन्द्रियैर्ग्लायमानैः क्लीबतामीयुः, तथाहि-क्षुत्पीडितो न पश्यति न श्रृ णोति न जिघ्रतीत्यादि, तत्र केवलिनोऽप्याहारमन्तरेण शरीरं ग्लानभावं यायाद् आस्तां तावदपरः प्रकृतिमङ्गुरशरीर इति,

स्यान्मतं-अकेवल्यकृतार्थत्वात् क्षुद्वेदनीयसद्भावाद्याहारयति दयादीनि व्रतान्यनुपालयति, केवली तु नियमात् सेत्स्यतीत्यतः किमर्थं शरीरं धारयति ? तद्धरणार्थं चाहारयतीति ? , अत्रोच्चते, तस्यापि चतुःकार्म्यसद्भावान्नैकान्तेन कृतार्थता, तत्कृते शरीरं बिभृयात्, तध्धरणं च नाहारमन्तरेण, क्षुद्वेदनीयसद्भावाच्चेति, तयाहि--वेदनीयसद्भावात्तत्कृता एकादशापि परीषहाः केवलिनो व्यस्तसमस्ताः प्रादुष्य्यन्ति इत्यत आहारयत्येव केवलीति स्थितम्, अत आहारमृते ग्लानतेन्द्रियाणामिति प्रतिपादितं ।। विदितवेद्यश्च परीषहपीडितोऽपि किं कुर्यादित्याह –

मू. (२२२) ओए दयं दयइ, जे संनिहाणसत्यस्स खेयन्ने से भिक्खू कालने बलन्ने मायने खणन्ने वियणने परिग्गहं अममायमाणे कालेणुडाइ ाअपडिन्ने दुहओ छड्ता नियाइं।

ष्ट्र. 'ओजः' एको रागादिरहितः सन् सत्यपि क्षुत्पिसादिपरीषहे 'दयामेव दयते' कृपा पालयति, न परीषहैः तर्जितो दयां खण्डयतीत्यर्थः । कः पुनर्दयां पालयतीत्याह्र-यो हि लघुकर्म्पा सम्यङ् निधीयते नारकादिगतिषु येन तत्सन्निधानंकर्म्म तस्य स्वरूपनिरूपकं शास्त्रं तस्य खेदज्ञो-निपुणो, यदिवा सन्निधानस्य-कर्म्मणः शस्त्रं-संयमः सन्निधानशस्त्रं तस्य खेदज्ञः-सम्यक् संयमस्य वेत्ता, यश्च संयमविधिज्ञः स भिश्चुः।

तस्य च संयमानुष्ठाने परिव्रजतो यत्स्यात्तदाह -

मू. (२२३) तं भिक्खुं सीयफासपरिवेवमाणगायं उवसंकमित्ता गाहावई बूया-आउसंतो समणा ! नो खलु ते गामधम्मा उव्वाहंति ? , आउसंतो गाहावई ! नो खलु मम गामधम्मा उव्वाहंति, सीयफासं च नो खलु अहं संचाएमि अहियासित्तए, नो खलु मे कप्पइ अगणिकायं उज्जालित्तए वा कायं आयावित्तए वा पयावित्तए वा अत्रेसिं वा वयणाओ, सिया स एवं वयंतस्स परो अगणिकायं उज्जालित्ता पज्जालित्ता कायं आयाविज्ञ वा पयाविज्ञ वा, तं च भिक्खू पडिलेहाए आगमित्ता आणविज्ञा अणासेवणाए – त्तिबेमि ।

**वृ.** 'तम्' अन्तप्रान्ताहारतया निस्तेजसं निष्किञ्चनं भिक्षणशीलं भिक्षुमतिक्रान्तसो-ष्मयौवनावस्यं सम्यकत्वच्क्राणाभावतया शीतस्पर्शपरिवेपमानगात्रं उपसङ्क्रम्य-आसन्नतामेत्य गृहपतिः- ऐश्वर्योष्मानुगतो मृगनाभ्युनविद्धकश्मीरजबहलरसानुलिप्तदेहो मीनमदागुरुघनसार-धूपितरछिकाच्छादितवपुः प्रौढसीमन्तिनीसन्दोहपरिवृत्तो वार्तीभूतशीतस्पर्शानुभवः सन् किमयं मुनिरुपहसितसुरसुन्दरीरूपसम्पदो मर्सीमन्तिनीरवलोक्य सात्त्विकमावोपेतः कम्पते उत शीतेनेत्यवं संशयानो ब्रूयात्-भो आयुष्मन् ! श्रमण ! कुलीनतामात्मन आविर्मावयन् प्रतिषेधद्वारेण प्रश्नचति-नोभवन्तं ग्रामधर्म्पाः-विषयाउत्-प्राबल्येन बाधन्ते ?, एवं गृहपतिनोक्ते विदिताभिप्रायः साधुराह-अस्यहि गृहपतेरात्मसंचित्त्याऽङ्गनावलोकनाऽऽविष्कृतभावस्यासत्याशङ्काऽभूद्अतोऽहमस्याप-नयामीत्येवमभिसन्धाय साधुर्बमाषे-आयुष्मन् ! गृहपते !

'नो खलु' नैव ग्रामधर्म्मा मामुद्बधन्ते, यत्पुनर्वेपमानगात्रयष्टिं मामीक्षांचकृषे तच्छीतस्पर्शविजृम्मितं, न मनसिजविकारः, शीतस्पर्शमहं न खलु शक्नोम्यधिसोढुं, एवमुक्तः सन् भक्तिकरुणासाक्षिप्तहृदयो ब्रूयात्-सुप्रज्वलितमाशुशुक्षणिं किमितिन सेवसे?, महामुनिराह-भो गृहपते ! न खलु मे कल्पतेऽग्निकायं मनाय् ज्वालयितुं (उज्जवालयितुं) प्रकर्षेण ज्वालयितुं प्रज्वालयितुं स्वतो ज्वलितादौ 'कायं' शरीरमीषत् तापयितुमातापयितुं वा प्रकर्षेण तापयितुं प्रतापयितुं वा, अन्येषां वा वचनात् ममैत्कर्तु न कल्पते, यदिवाऽग्निसमारम्पायान्यो वा वक्तुं न कल्पते ममेति । तं चैवं वदन्तं साधुमवगम्य गृहपतिः कदाचिदेतत्कुर्यादित्याह- स्यात्-कदाचित्स-परोगृहस्य एवमुक्तनीत्या वदतः साघोरग्निकायमुझ्वालय्य प्रज्वालय्य वा कायमातापयेत् प्रतापयेद्वा, तच्चोझ्वालनातापनादिकं भिक्षुः 'प्रत्युपेक्ष्य' विचार्य स्वसन्मत्या परव्याकरणेनान्येषां वाऽन्तिके श्रुत्वा-अवगम्य ज्ञात्वा तं गृहपतिमाज्ञापयेत्-प्रतिबोधयेत्, कया ? -अनासेवनया, यथैतत् ममायुक्तमासेवितुं, भवता तु पुनः साधुमक्तयनुकम्पाभ्यां पुण्यप्राग्भारोपार्ज्रनमकारीति, ब्रवीमितिशब्दावुक्तार्थो ।

अध्ययनं-८ - उद्देशकः ३ - समाप्तः

-: अध्ययनं-८ - उद्देशकः- ४ :-

ष्ट्र. उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थं आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके गोचरादिगतेन शीताद्यङ्गविकारदर्शनान्यथाभावापन्नस्य गृहस्थस्यासदारेका व्युदस्ता, यदि पुनर्गृहस्थाभावे योषित एवान्यथाभावाभिप्रायेणोपसग्येयुः ततो वैहानसगार्द्धपृष्ठादिकं मरणमप्यवलम्बनीयं, कारणाभावे तु तन्न कार्यमित्येतव्यतिपादनार्थमिदमारभ्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

मू. (२२४) जे भिक्खू तिहिं वत्येहिं परिवुसिए पायचउत्येहिं तस्स णं नो एवं भवइ-चउत्यं वत्यं जाइस्सामि, से अहेसणिज्ञाइं वत्याइं इजा अहापरिग्गहियाइं वत्याइं धारिज्ञा, नो धोइज्रा नो धोयरत्ताइंवत्याइंधारिज्ञा, अपलिओवमाणे गामंतरेसु ओमचेलिए, एयं खुवत्यधारिस्स सामग्गियं।

**वृ**. इह प्रतिमाप्रतिपन्नो जिनकल्पिको वा अच्छिद्रपाणिः, तस्य हि पात्रनिर्योगसमन्वितं पात्रं कल्पन्नयं चायमेवौधोपधिर्भवति नौपग्रहिकः, तत्र शिशिरादौ क्षौभिकं कल्पडयं सार्द्धहस्तद्वयायामविष्कम्मं तृतीयस्त्वौर्णिकः, स च सत्यपि शीते नापरमाकाङ्कतीत्येतद्दर्शयति-यो भिक्षुः त्रिभिर्वस्त्रैः 'पर्युषितो' व्यवस्थितः, तत्र शीते पतत्येकं क्षौमिकं प्रावृणोति, ततोऽपि शीतासहिष्णुतया द्वितीयं क्षौमिकं, पुनरपि अतिशीततया क्षौमिककल्पद्वयोपर्यौर्णिकमिति, सर्वथौर्णिकस्य बाह्याच्छादनताविधेया, किम्भूतैस्त्रिभिर्वस्त्रैरितिदर्शयति-'पात्रचतुर्थैः' पतन्तमाहारं पातीति पात्र, तद्ग्रहणेन च पात्रनिर्योगः सप्तप्रकारोऽपिगृहीतः, तेन विना तद्गहणाभावात्, स चायम्-

''पत्तं पत्ताबंधो पायडवणं च पायकेसरिआ । पडलाइ रयत्ताणं च गोच्छओ पायनिञ्जोगो ''

तदेवं सप्तप्रकारं पात्र कल्पत्रयं रजोहरणं 9मुखवस्त्रिका २ चेत्येवं द्वादशघोपधिः, स्तस्यैवम्भूतस्य भिक्षोः 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे 'नैवं भवति' नायमध्यवसायो भवति, तद्यथा-न ममास्मिन्काले कल्पत्रयेण सम्यक् शीतापनोदो भवत्यतश्चतुर्थं वस्त्रमहं याचिष्ये, अध्यवसायनिषेधे च तद्याचनं दूरोत्सादितमेव, यदि पुनः कल्पत्रयं न विद्यते शीतकाल— श्चापतितस्ततौऽसौ जिनकल्पिकादिर्यथैषणीयानि वस्त्राणि याचेत-उत्कर्षणापकर्षण- रहितान्यपरिकर्म्पाणिप्रार्थयेदिति, तत्र ''उद्दिष्ठ १ पहे २ अंतर ३ उज्झियधम्मा ४ य'' चतोतस्रोवस्त्रैषणा भवन्ति, तत्र चाधस्त-न्योर्द्वयोरग्रह इतरयोस्तु ग्रहः, तत्राप्यन्यतरस्यामभिग्रह इति, याञ्चावाप्तानि च वस्त्राणि यथापरिगृहीतानी धारयेत्, न तत्रोत्कर्षणधावनादिकं परिकर्म्म कुर्याद्

11911

एतदेव दर्शयितुमाह-नोधावेत्प्रासुकोदकेनापि न प्रक्षालयेत्, गच्छवासिनो ह्यप्राप्तवर्षादी ग्लानावस्थायां वाप्रासुकोदकेन यतनयाधावनमुझातं, नतुजिनकल्पिकस्येति, तथा-न धौतरक्तानि वस्त्राणि धारयेत्, पूर्वं धौतानि पश्चाद्रक्तानीति, तथा ग्रामान्तरेषु गच्छन् वस्त्राण्यगोपयन् व्रजेद्, एतदुक्तं मवति-तथाभूतान्यसावन्तप्रान्तानि बिभर्ति यानि गोपनीयानि न भवन्ति, तदेव-मसाववमचेलिकः, अवमं च तच्चेलं चावमचेलं प्रमाणतः परिमाणतो मूल्यतश्च, तद्यस्यास्त्य-साववमचेलिक इत्येतत्-पूर्वोक्तं 'खुः' अवधारणे, एतदेव वस्त्रधारिणः सामर्थ्यं भवति-एषैव त्रिकल्पात्मिका द्वादशप्रकारौधिकोपध्यात्मिका वा सामग्री भवति, नापरेति ॥

शीतापगमे तान्यपि वस्त्राणि त्याज्यानीत्येतद्दर्शयितुमाह--

मू. (२२५) अह पुण एवं जाणिज्ञा-उवाइक्वंते खलु हेमंते गिम्हे पडिवन्नअहापरिजुन्नाइं वत्याइं परिट्वविज्ञा, अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले।

**वृ.** यदि तानि चस्त्राण्यपरहेमन्तस्थितिसहिष्णूनि तत उभयकालं प्रत्युपेक्षयन् बिभर्ति, यदि पुनर्जीर्णदेश्यानि जीर्णानीति जानीयात् ततः परित्यजतीत्यनेन सूत्रेण दर्शयति, अथ पुनरेवं जानीयाद्यथाऽपक्रान्तः खल्वयं हेमन्तो ग्रीष्मः प्रतिपन्नः अपगता शीतपीडा यथापरिजीर्णान्येतानि वस्त्राणि, एवभवगम्य ततः परिष्ठापयेत्–परित्यजेदिति, यदि पुनः सर्वाण्यपि न जीर्णानि ततो यद्यझीर्णं तत्तत्परिष्ठापयेत्, परिष्ठाप्य च निस्सङ्गो विहरेत्, यदि पुनरतिक्रान्तेऽपि शिशिरे क्षेत्रकालपुरुषगुणाद्मवेच्छीतं ततः किं कर्त्तव्यमित्याह–

अपगते शीते वस्त्राणि त्याज्यानि, अथवा क्षेत्रादिगुणाद्धिमकणिनि वाते वाति सत्यात्मपरितुलनार्थं शीतपरीक्षार्थं च सान्तरोत्तरो मवेत्-सान्तरमुत्तरं-प्रावरणीयं यस्य स तथा, क्वचिस्रावृणोति क्वचित्पार्श्ववर्त्तिबिभर्त्ति, शीताशङ्कया नाद्यापि परित्यजति, अथवाऽवमचेल एककल्पपरित्यागात् द्विकल्पधारीत्यर्थः, अथवा शनैः शनैः शीतेऽपगच्छति सति द्वितीयमपि कल्पं परित्यजेत् तत एकशाटकः संवृतः, अथवाऽऽत्यन्तिके शीताभावे तदपि परित्यजेदतोऽचेलो मवति, असौ मुखवस्त्रिकारजोहरणमात्रोपधिः ॥ किमर्थसावेकैकं वस्त्रं परित्यजेदित्याह-

मू. (२२६) लाघवियं आगममाणे, तवे से अभिसमन्नागए भवइ –

वृ. लधोर्भावो लाधवं लाधवं विद्यते यस्यासौ लाधविक (स्त) मात्मानमागमयन्-आपादयन् वस्त्रपरित्यागं कुर्यात्, शरीररोपकरणकर्म्मणि वा लाधवमागमयन् वस्त्रपरित्यागं कुर्यादिति । तस्य चैवम्भूतस्य किं स्यादित्याह-'से' तस्य वस्त्रपरित्यागं कुर्वतः साधोस्तपो!ऽभिसमन्वागतं भवति, कायक्लेशस्य तपोभेदत्वात्, उक्तं च-''पंचहिं ठाणेहिं समणाणं निग्गंथाणं अचेलगत्ते पसत्थे भवति, तंजहा-अष्मा पडिलेहा १ वेसासिए रूवे २ तवे अणुमए ३ लाघवे पसत्थे ४ विउले इंदियनिग्गहे ५'' ॥ एतच्च भगवता प्रवेदितभिति दर्शयितुमाह-

मू. (२२७) जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिद्यां सब्बओ सब्बत्ताए सम्पत्तमेव समभिजाणिज्ञा।

**ष्ट्र.** यदेतद्मगवता-वीरवर्द्धमानस्वामिना प्रवेदितं तदेवाभिसमेत्य-ज्ञात्वा 'सर्वतः' सवैंः प्रकारैः सर्वात्पतया सम्यकत्वमेव समत्वं वा–सचेलाचेलावस्थयोस्तुल्यतां 'समभिजानीयात्' आसेवनापरिज्ञया आसेवेतेति ॥ यः पुनरल्पसत्त्वतया भगवदुपदिष्टं नैव सम्यग् जानीयात्स एतदध्यवसायी स्यादित्याह—

मू. (२२८) जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-पुडो खलु अहमंसि नालमहमंसि सीयफासं अहियासित्तए, से वसुमं सव्वसमत्रागयपत्राणेणं अप्पाणेणं केइ अकरणथाए आउट्टे तवस्सिणो हु तं सेयं जमेगे विहमाइए तत्थावि तस्स कालपरियाए, सेऽवि तत्थ विअंतिकारए, इन्नेयं विमोहायतणं हियं सुहं खमं निस्सेसं आणुगामियं – त्तिबेमि हे

**वृ.** 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे यस्य भिक्षोर्मन्दसंहननतया एवम्भूतोऽध्यवसायो भवति, तद्यधा–स्पृष्टः खल्पहमस्मि रोगातङ्कैः शीतस्पर्शादिभिर्वा स्त्रयाद्युपसर्गैर्वा, ततो ममास्मिन्नवसरे शरीरविमोक्षंकर्तुश्रेयो 'नालं' न समर्थोऽहमस्मि, 'शीतस्पर्शं' शीतापादितंदुःखविशेषं मावशीतस्पर्शं वा स्त्र्याद्युपसर्गम् 'अध्यासयितुम्' अधिसोढुमित्यतो भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणपादपोपगमनमुत्सर्गतः कर्त्तुंयुक्तं, न च तस्य ममास्मिन्नवसरेऽवसरो यतो मेकालक्षेपासहिष्णुरुपसर्गः समुस्थितो रोगवेदनां वा चिराय सोढुं नालमतो वेहानसं गार्द्धपृष्ठं वा आपवादिकं मरणमत्र साम्प्रतं, न पुनरुप-सर्गितस्तदेवाभ्युपेयादित्याह--

'स' साधुः वसु-द्रव्यं स चात्र संयमः स विद्यते यस्यासौ वसुमान्, सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेना त्मनाकश्चिदर्द्धकटाक्षनिरीक्षणादुपसर्गसम्भवे सत्यपि तदकरणतया आसमन्तादवृत्तो-व्यवस्थित आवृत्तो, यदिवा शीतस्पर्शवातादिजनितं दुःखविशेषमसहिष्णुस्तच्चिकिसाया अकरणतया वसुमान् सर्वसमन्वागतप्रज्ञानेनात्मना आवृत्तो-व्यवस्थित इति, स चोपसर्गितो वातादिवेदनां चासहिष्णुः किं कुर्यादित्याह-हुईतौ यस्माचिराय वातादिवेदनां सोद्धमसहिष्णुः, यदिवा यस्मात् सीमन्तनी उपसर्गयितुमुपस्थिता विषमक्षणोद्बन्धनाद्युपन्यासेनापि न मुञ्चति ततस्तपस्विनः प्रमूत-तरकालनानाविधोपायोपार्ज्रिततपोधनस्य तदैव श्रेयो यदैकः कश्चित्रिज्ञैः सपत्नीकोऽपवरके प्रवेशितः आरूढप्रणयप्रेयसीप्रार्थितस्तन्निर्गमोपायमलममान आत्मोद्बन्धनाय विहायोगमनं तदाऽऽदद्याद्विषं वा भक्षयेत् पतनं वा कुर्याद् दीर्धकालं वा शीतत्पर्शादिकमसहिष्णुः सुदर्शनवत् प्राणान् जह्यात् । ननु च वेहानसादिकं बालमरणमुक्तं, तच्चानर्थाय, तत्कथं तस्याभ्युपगमः ?,

तथा चांगमः- ''इच्चेएणं बालमरणेणं मरमाणे जीवे अनंतेहिं नेरइयमवग्गहर्णेहिं अप्पाणं संजोएइ जाव अणाइयं च णं अणवयग्गं चाउरंतं संसारकतारं भुझो भुझो परियट्टइ'ति, अत्रोच्यते, नैष दोषोऽत्रास्माकमार्हतानां, नैकान्ततः किश्चिद्यतिषिद्धमभ्युपगत्यं वा मैथुनमेकं विहाय, अपि तुद्रव्यक्षेत्रकालभावानाश्चित्य तदेव प्रतिषिध्यते तदेव चाभ्युपगन्यते, उत्सर्गोऽप्यगुणायापवादोऽपि गुणाय कालझस्य साधोरिति, एतद्दर्शयितुमाह-दीर्घकालं संयमप्रतिपालनं विधाय संलेखनाविधिना कालपर्यायेण भक्तपरिज्ञादिमरणं गुणायेति, एवंविधे त्ववसरे तत्तापि वेहानसगार्द्धप्रष्ठादिमरणे अपि कालपर्याय एव, यद्वत्कालपर्यायमरणं गुणाय एवं वेहानसादिकमपीत्यर्थः, बहुनाऽपि कालपर्यायेणं यावन्मात्रं कर्म्यासौ क्षपयति तदसावल्पेनापि कालेन कर्म्यक्षयमवाप्नोतीति दर्शयति-

'सोऽपि' वेहानसादेर्विधाता, न केवलमानुपूर्व्या मक्तपरिज्ञादेः कर्त्तत्यपिशब्दार्थः, 'तत्र' तस्मिन् वेहानसादिमरणे 'विअंतिकारए'ति विशेषेणान्तिर्व्यन्तिः –अन्तक्रिया तस्याः कारको व्यन्तिकारकः, तस्यहितस्मिन्नवसे सढेहानसादिकमौत्सर्गिकमेवमरणं, यतोऽनेनाप्यापवादिकेन मरणेनानन्ताः सिद्धाः सेत्स्यन्ति च, उपसञ्जिहीर्बुराह-'इत्येतत्' पूर्वोक्तं वेहानसादिमरणं विगतमोहानामाय तनम्आश्रयः कर्त्तव्यतया तथा हितम् अपायपरिहारतया तथा सुखं जन्मान्तरेऽपि सुखहेतुत्वात् तथा 'क्षमं' युक्तं प्राप्तकालत्वात् तथा निःश्रेसं कर्म्पक्षयहेतुत्वात् तथा 'आनुगामिकं' तदर्ज्जितपुण्यानुगमनात्, इतिब्रवीमिशब्दौ पूर्ववत् ।

अध्ययनं-८ - उद्देशकः- ४ समाप्तः

#### -: अध्ययनं-८, उद्देशकः-५:-

**वृ.** उक्तश्चतुर्थोद्देशकः, साम्प्रतंपञ्चम आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके बालमरणं गार्द्धपृष्ठादिकमुपन्यस्तम्, इह तु तद्विपर्यस्तं ग्लानभावोपगतेन भिक्षुणा भक्तपरिज्ञाख्यं मरणमभ्युपगन्तव्यमित्येतस्रतिपाद्यते, तदनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

मू. (२२९) जे भिक्खू दोहिं वत्थेहिं परिवुसिए पायतइएहिं तस्स णं नो एवं भवइ-तइयं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज़ाइं वत्थाई जाइज़ा जाव एवं खु तस्स भिक्खुस्स सामग्गियं, अह पुण एवं जाणिज़ा-उवाइक्कंते खलु हेमन्ते गिम्हे पडिवन्ने, अहापरिजुञाइं वत्थाइं परिट्ठविज्ञा, अहापरिजुञ्नाइं परिट्ठवित्ता अदुवा संतरुत्तरे अदुवा ओमचेले अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाधवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ–

जमेयं भगवया पवेइयं तमेव अभिसमिद्या सव्वओ सव्वत्ताए सम्भत्तमेव समभिजाणिया, जस्त णं भिक्खुस्त एवं भवइ-पुठ्ठो अबलो अहमसि नालमहमंसि गिहंतरसंकमणं भिक्खायरियं गमणाए, से एवं वयंतस्स परो अभिहडं असणं वा ४ आहट्ट दलइझा, से पुव्वामेव आलोइझा-आउसंतो ! नो खलु मे कप्पइ अभिहडं असणं ४ भुत्तए वा पायए वा अन्ने वा एयप्पगारे

षु, तत्र त्रिकल्पपर्युषितः स्थविरकल्पिको जिनकल्पिको वा स्यात्, कल्पद्वयपर्युषितस्तु नियमाजिनकल्पिकपरिहारविशुद्धिकयथालन्दिकप्रतिमाप्रतिपन्नानामन्यतमः, अस्मिन् सूत्रेऽपदिष्टो योभिक्षुर्जिनकल्पिकादिन्द्रीभ्यां वस्त्राभ्यां पर्युषितो वस्त्रशब्दस्य सामान्यवाचित्वादेकः क्षौमिकोऽपर और्णिकं इत्याभ्यां कल्पाभ्यां पर्युषितः-संयमे व्यवस्थितः, किम्भूताभ्यां कल्पाभ्यां ? – पात्रतृतीयाभ्यां पर्युषित इत्याद्यनन्तरोद्देशकवन्नेयं यावत् 'नालमहमंसि'त्ति स्पृष्टोऽहं वातादिभी रोगैः 'अबलः असमर्थः 'नालं' न समर्थोऽस्मि गृहाद्गृहान्तरं सङक्रमितुं, तथा भिक्षार्थं चरणं घर्या भिक्षाचर्यां तद्गगमनाय 'नालं' ; न समर्थं इति, 'तमेवम्भूतं भिक्षुमुपलभ्य स्याद्गृहस्य एवम्भूतामात्मीयामवस्थां वदतः साधोरवदतोऽपि परो गृहस्यादिरनुकम्पाभक्तिरसाईहृदयोऽभिहतं जीवोपमर्दनिर्वृत्तं, किंतद् ? –अशनं पानं खादिमं स्वादिमं चेत्यारादहृत्य तस्मै साधवे 'दलएज्ञ';ति दद्यादिति। तेन च ग्लानेनापि साधुना सूत्रार्थमनुसरता जीवितनिष्पिपासुनाऽवश्यं मर्त्तव्यमित्यध्यवसायिना किं विधेयमित्याह-संजिनकल्पिकादीनां चतुर्णामप्यन्यतमः पर्वमेव-आदावेव 'आलोचयेत्' विचारयेत्, कतरेणोद्गमादिना दोषेण दुष्टमेतत्?, तत्राभ्याहृतमिति ज्ञात्वाऽभ्याहृतं च प्रतिषेधयेत्, तद्यया-आयुष्मन् गृहपते ! न खल्वेतन्ममाभिहतमभ्याहतं च कल्पते अशनं भोक्तुं पानं पातुमन्यद्वैतत्वकारमाधाकर्म्मादिदोषदुष्टं न कल्पते, इत्येवं तं गृहपतिं दानायोद्यतमाज्ञापयेदिति, पाठान्तरं वा ''तं भिक्खुं केइ गाहावई उवसंकमित्तु बूया-आउसंतो समणा ! अहन्नं तव अट्ए असणं वा ४ अभिहडं दलामि, से पुव्वामेव जाणेज्ञा-आउसंतो गाहावई ! जन्नं तुमं मम अड्ठाए

असणं वा ४ अभिहडं चेतेसि, नो य खलु मे कप्पइ एयप्पगारं असणं वा ४ मोत्तए वा पायए वा,

अन्नेवातहप्पगारे''त्ति, कण्ठ्यं, तदेवंप्रतिषिद्धोऽपिश्रावकसंंज्ञिप्रकृतिभद्रकमिथ्यार्ध्र्शनामन्यतम् एवं चिन्तयेत्, तद्यथा-एष तावत् ग्लानो न शक्नोति भिक्षामटितुं न चापरं कश्चन ब्रवीति तदस्मै प्रतिषिद्धोऽप्यहं केनचिच्छद्मना दास्यामीत्येवमभिसन्धायाहारादिकं ढौकयति, तत्साधुर-नेषणीयमितिकृत्वा प्रतिषेधयेत् ॥ किं च–

मू. (२३०) जस्स णं भिक्खुस्स अयं पगप्पे-अहं च खलु पडिन्नतो अपडिन्नतेहिं गिलाणे अगिलाणेहिंअभिकंख साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज़िस्सामि, अहं वावि खलु अप्पडिन्नतो पडिन्नत्तस्स अगिलाणो गिलाणस्स अभिकंख साहम्मियस्स क्रुज़ा वेयावडियं करणाए आहट्टु परिन्नं अणुक्खिस्सामि आहडं च साइज़िस्सामि १,

आहट्ट परित्रं आणक्खिस्सामि आहडं च नो साइज़िस्सामि २, आहट्ट परित्रं नो आणक्खिस्सामि आहडं च साइज़िस्सामि ३, आहट्ट परित्रं नो आणक्खिस्सामि आहडं च नो साइज़िस्सामि ४ एवं से अहाकिट्रियमेव धम्मं समभिजाणमाणे संते विरए सुसमाहियलेसे तत्यावि तस्स कालपरियाए से तत्य विअंतिकारए, इन्चेयं विमोहायणं हियं सुहं खर्म निस्सेसं आनुगामियं –तिबेमि ।

**वृ**. 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे यस्यत भिक्षोः परिहारविशुद्धिकस्य यथालन्तिकस्य वाऽयं-वक्ष्यमाणः 'प्रकल्पः' आचारो भवति, तद्यथा—अहं च खलु 'चः' समुच्चये 'खलुः' वाक्यालङ्कारे अहं क्रियमाणं वैयावृत्त्यमपरैः 'स्वादयिष्यामि' अभिलषिष्यामि, किम्भूतोऽहं ? –प्रतिज्ञप्तो-वैयावृत्त्यकरणायापरैरुक्तः –अभिहितो यथा तव वयं वैयावृत्त्यं यथोचितं कुर्म्म इति, किम्भूतैः परेः ? –अप्रतिज्ञप्तोः-अनुक्तेः, किम्भूतोऽहं-ग्लानो–विकृष्टतपसाकर्त्तव्यताऽशक्तो वातादिक्षोभेण वाग्लान इति, किम्भूङ्क्तैरपरैः ? –अग्लानैः–उचितकर्त्तव्यसहिष्णुभिः, तत्र परिहारविशुद्धिकस्या-नुपारिहारिकः करोति कल्पस्थितां वा परो, यदि पुनस्तेऽपि ग्लानास्ततोऽन्ये न कुर्वन्ति, एवं यथालन्दिकस्यापीति, केवलं तस्य स्थविरा अपि कुर्चन्तीनि दर्शयति –

निर्जराम् 'अभिकाङ्खय' उद्दिश्य 'साधर्म्पिकैंः' सर्दशकल्पिकैरेककल्पस्थैरपरसाधुभिर्व क्रियमाणं वैयावृत्त्यमहं 'स्वादयिष्यामि' अभिकाङ्खयिष्यामि यस्यायंय भिक्षोः प्रकल्पः-आचारः स्यात् स तमाचारमनुपालयन् भक्तपरिज्ञयाऽपि जीवितं जह्यात्, न पुनराचारखण्डनं कुर्यादिति भावार्थः ! तदेवमन्येन साधर्म्पिकेण वैयावृत्त्यं क्रियमाणमनुज्ञातं, साम्प्रतं स एवापरस्य कुर्यादिति दर्शयितुमाह–'चः' समुच्चये अपिशब्दः पुनःशब्दार्थे, स च पूर्वस्मादिशेषदर्शनार्थः, 'खलुः' वाक्यालङ्कारे, अहंचपुनरप्रतिज्ञसः-अनभिहितः प्रतिज्ञत्सस्य-वैयावृत्यकरणायाभिहितस्य अग्लानो ग्लानस्वनिर्जरामभिकाङ्खय साधर्म्पिकस्य वैयावृत्त्यं कुर्यां, क्रिमर्थं ?–

'करणाय' तदुपकरणाय तदुपकारायेत्यर्थः, तदेवं प्रतिज्ञां परिगृह्यापि भक्तपरिज्ञया प्राणान् जह्यात्, न पुनः प्रतिज्ञामिति सूत्रभावार्थः । इदानीं प्रतिज्ञाविशेषद्वारेण चतुर्भङ्गिकामाह-एकः कश्चिदेवम्भूतां प्रतिज्ञां गृह्याति, तद्यथा---ग्लानस्यापरस्य साधर्मिकस्याहारादिकमन्वेषयिष्याभि, अपरं वैयावृत्त्यं यथोचितं करिष्यामि, तथाऽपरेण च साधर्मिकेणाहृतमानीतमाहारादिकं स्वादयिष्यामि-उपभोक्ष्ये, एवम्भूतां प्रतिज्ञामाहृत्य-गृहीत्वा वैयावृत्त्यं कुर्यादिति १, तथाऽपर आहृत्य-प्रतिज्ञां गृहीत्वा यथाऽपरनिमित्तमन्वीक्षिष्ये आहारादिकमाहृतं चापरेण न स्वादयिष्यामीतितयाऽपर आहृत्य प्रतिज्ञामेवम्भूतां, तद्यया-नापरनिमित्तमन्वीक्षिष्या-म्याहारादिकमाहतं चान्येन स्वादयिष्यामीति ३, तथाऽपर आहत्य प्रतिज्ञामेवम्भूतां, तद्यया-नान्वीक्षिष्वेऽपरनिमित्तमाहारादिकं नाप्याहृतमन्येन स्वादयिष्यामीति ४,

एवम्भूतां च नानाप्रकारां प्रतिज्ञां गृहीत्वा कुतश्चिद् ग्लायमानोऽपि जीवितपरित्यागं कुर्यात्, न पुनः प्रतिज्ञालोपमिति । अमुमेवार्थमुपसंहारद्वारेण दर्शयितुमाह-'एवम्' उक्तविधिना 'स' मिक्षुरवगततत्त्वः शरीरादिनिष्पिपासुः यथाकीर्त्तमेव धर्म्मम्-उक्तस्वरूपं सम्यगभिजानन्-आसेवनापरिज्ञया आसेवमानः, तथा लाघविकमागमयत्रित्यादि यद्यतुर्थोद्देशकेऽभिहितं तदत्र वाच्यमिति, तथा 'शान्तः' कषायोपशमाच्छान्तो वा अनादिसंसारपर्यटनाद् विरतः सावद्यानुष्ठानात् शोभनाः समाहता-गृहीता लेश्याः-अन्तःकरणवृत्तयस्तैजसीप्रभृतयो वा येन स सुसमाहत्तलेश्यः,

एवम्भूतः सन् पूर्वगृहीतप्रतिज्ञापालनासमर्थो ग्लानभावोपगतस्तपसा रोगातद्वेन वा प्रतिज्ञालोपमकुर्वन् शरीरपरित्यागाय भक्तप्रत्याख्यानं कुर्यात्, 'तत्रापि' भक्तपरिज्ञायामपि 'तस्य' कालपर्यायेणानागतायामपि कालपर्याय एव निष्पादितशिष्यस्य संलिखित्तदेहस्य यः कालपर्यायो-मृत्योरवसरोऽत्रापि ग्लानावसरेऽसावेव कालपर्याय इति, कर्म्मनिर्ज्ञराया उभयञ समानत्वात्, स भिक्षुस्तञ-ग्लानतयाऽनशनविधाने व्यन्तिकारकः-कर्म्मक्षयविधायीति । उद्देशकार्यमुप सजिहीर्षुराह-सर्वं पूर्ववद् ।

अध्ययनं-८ - उद्देशकः- ५ समाप्तः

-: अध्ययनं - ८ - उद्देशकः- ६ :-

वृ. उक्तः पश्चमोद्देशकः, साम्प्रतं षष्ठ आरम्यते, अस्य चामभिसम्बन्धः- इहानन्तरोद्देशके ग्लानतया मक्तप्रत्याख्यानमुक्तम्, इह धृतिसंहननादिबलोपेत एकत्वमावनां भावयत्रिक्तितमरणं कुर्यादित्येतस्रतिपाद्यत इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादौ सूत्रानुगमे सूत्रमुद्धारणीयं, तच्चेदम्–

मू. (२३९) जे भिक्खू एगेण वत्थेण परिवुसिए पायाबिईएण, तस्स णं नो एथं भवइ-बिइयं वत्थं जाइस्सामि, से अहेसणिज्रं वत्थं जाइज्ञा अहापरिग्गहियं वत्थं धारिज्ञा जाव गिम्हे पडिवन्ने अहापरिजुन्नं वत्थं परिट्ठिवि ज्ञा २ त्ता अदुवा एगसाडे अदुवा अचेले लाघवियं आगममाणे जाव सम्पत्तमेव समभिजाणीया।

ष्ट्र. गतार्थं ।।तस्य च भिक्षोरभिग्रहविशेषात् सपात्रमेकं वस्त्रं धारयतः परिकर्म्मितमतेर्लधु-कर्म्मतया एकत्वमावनाऽध्यवसायः स्यादिति दर्शयितुमाह---

मू. (२३२) जस्त णं भिक्खुस्त एवं भवइ-एगे अहमंसि न मे अत्थि कोइ न याहमवि कस्तवि, एवं से एगागिणमेव अप्पाणं समभिजाणिज्ञा, लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ जाव समभिजाणिया।

षृ. 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे, यस्य भिक्षोः 'एव'मिति वक्ष्यमाणं भवति, तद्यथा-एकोऽहमस्मि संसारे पर्यटतो न मे पारमार्थिक उपकारकर्तृत्वे द्वितीयोऽस्ति, न चाहमन्यस्य दुःखापनयनतः कस्यचिद् द्वितीय इति, स्वकृतकर्म्मफलेश्वरत्वाळाणिनां, एवमसौ साधुरेकाकिनमेत्मानम्-अन्तरात्मानं सम्यगभिजानीयात्, नास्यात्मनो नरकादिदुःखत्राणतया [1]19] शरण्यो द्वितीयोऽस्तीत्येवं संदधानो यद्यद्रोगादिकमुपतापकारणमापद्यते तत्तदपरशरणनिरपेक्षे मयैवैतत्कृतं मयैव सोढव्यमित्येतदध्यवसायी सम्यगधिसहते । कुत एतदधिसहत इत्यत आह-लाघवियमित्यादि, चतुर्थोद्देशकवदतार्थं, यावत् 'सम्मत्तमेव समभि जाणिय'त्ति ।। इह द्वितीयोद्देशके उद्गमोत्पादनैषणा प्रतिपादिता, तद्यथा-'आउफसंतो समणा !' अहं खलु तव अट्ठाए असणं वा ४ वत्थं वा पडिग्गहं वा कंबलं वा पायपुंछणं वा पाणाइं भूयाईं जीवाइं सत्ताइं समारंभ समुद्दिसं कीयं पामिच्चं अच्छेज्ञं अणिसिट्ठं आहट्टु चेएमि' इत्यादिना प्रन्थेनेति, तथाऽनन्तरोद्देशके प्रहणेषणा प्रतिपादिता, ''सिया य से एवं वयंतरसवि परो अभिहडं असणं वा ४ आहट्टु दलएज्ञा'' इत्यादिना ग्रन्थेना ततो ग्रासैषणाऽवशिष्यते, अतस्तव्यतिपादनायाह--

मू. (२३३) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा असणं घा ४ आहारेमाणे नो वामाओ हणुयाओ दाहिणं हणुयं संचारिञ्जा आसाएमाणे, दाहिणाओ वामं हणुयं नो संचारिजा आसाएमाणे, से अणासायमाणे लाघवियं आगममाणे तवे से अभिसमन्नागए भवइ, जमेयं भगवया पवेइयं तमेवं अभिसमिद्या सव्वओ सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

**ष्ट्र.** 'स' पूर्वव्यावर्णितो 'भिक्षु:' साधुः साध्वी वा अशनादिकमाहारमुद्गमोत्पादनैषणाशुद्धं प्रत्युत्पत्रं ग्रहणैषणाशुद्धंच गृहीतं सदङ्गारिताभिधूमितवर्ज्जमाहारयेत्, तयोश्चाङ्गारिताभिधूमितयो रागद्वेषो निमित्तं, तयोरपि सरसनीरसोपलब्धिः, कारणाभावे च कार्याभाव इतिकृत्वा रसोपलब्धिनिमित्तपरिहारं दर्शयति-स भिक्षुराहारमाहारयत्रो वामतो हनुतो दक्षिणां हनुं रसोपलब्धये सञ्चारयेदास्वादयन्नशनादिकं, नापि दक्षिणतो वामां सञ्चारयेदास्वादयन्, तत्सञ्चरास्वादनेन हि रसोपलब्धी रागद्वेषनिमित्ते अङ्गारित्वाभिधूमितत्वे स्यातमतो यत्किञ्चिदप्यास्वादनीयं नास्वादयेत्,

पाठान्तरं वा 'आढायमाणे' आदरवानाहारे मूच्छिंतो गृद्धो न सञ्चारयेदिति, हन्वन्त-रसङक्रमवदन्यत्रापि नास्वादयेदिति दर्शयति-स ह्याहारं चतुर्विधमप्याहारयन् रागद्वैषो परिहरन्नास्वादयेदिति, तथा कुतश्चिन्निमित्ताद्धन्वन्तरं सञ्चारयन्नप्यनास्वादयन् सञ्चारयेदिति। किमिति यत्त आह-आहारलाधवमागमयन्-आपादयन् नो आस्वादयेदित्यास्वादनिषेधेन चान्तप्रान्ताहाराभ्युपगमोऽभिहितोभवति, एवंचतपः 'से' तस्य भिक्षोरभिसमन्वागतंभवतीत्यादि गतार्थं यावत् 'सम्मत्तमेव समभिजाणिय'त्ति॥ तस्य चान्तप्रान्ताशितयाऽपचितमांसशोणितस्य जरदस्थिसन्ततेः क्रियाऽवसीदत्कायचेष्टस्य शरीरपरित्यागबुद्धिः स्यादित्याह-

मू. (२३४) जस्त णं भिक्खुस्त एवं भवइ-से गिलामि चत खलु अहं इमंमि समए इमं सरीरंग अनुपुच्वेण परिवहित्तए, से अणुपुच्वेणं आहारं संवट्टिजा, अनुपुच्वेणं आहारं संवट्टिता कसाए पयणुए किद्या समाहियद्ये फलगायवट्टी उट्टाय भिक्खू अभिनिवुडच्चे।

ष्ट्र. 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे यस्थैकत्वभावनाभावितस्य भिक्षोराहारोपकरणलाघवं गतस्य 'एव'मिति वक्ष्यमाणोऽभिप्रायो भवति, 'से' इति तच्छव्दार्थे तच्छव्दोऽपि वाक्योपन्यासार्थे, 'चः' शव्दसमुद्यये 'खलुः' अवधारणे, अहंचास्मिन् 'समये' अवसरे संयमावसरे ग्लायामि ग्लानिमेव गतो रूक्षाहारतया तत्समुत्थेन वा रोगेण पीडितोऽतो न शक्नोमि रूक्षतपोभिरभिनिष्टप्तं शरीरकमानुपूर्व्या-यथेष्टकालावश्यकक्रियारूपया परिवोढुं-नालमहं क्रियासु व्यापारयितुम्, अस्मिन्नवसरे इदं प्रतिक्षणं शीर्यमाणत्वाच्छरीरकमिति मत्वा स भिक्षुरानुपूर्व्याचतुर्यषष्ठा-चाम्लादिकया आहारं 'संवर्त्तयेत्' संक्षिपेत्नपुन्द्र्दिशसंवत्सरसंलेखनाऽऽनुपूर्वीह गृह्यते, ग्लानस्य तावन्मात्रकालस्थितेरभावाद्, अतस्तत्कालयोग्ययाऽऽनुपूर्व्या द्रव्यसंलेखनार्थमा- हारं निरुच्यादिति।

द्रव्यसंलेखनया संलिख्य च यदपरं कुर्यात्तदाह-षष्ठाष्टमदशमद्वादशादिकयाऽऽ-नुपूर्व्याऽऽहारं संवर्त्त्य कषायान् प्रतनून् कृत्वा सर्वकालं हि कषायतानवं विधेयं विशेषतत्तु संलेखनावसरे इत्यतस्तान् प्रतनून् कृत्वा सम्यगाहिता-व्यवस्थापिता अर्चा-शरीरं येन स समाहितार्च्चः, नियमितकायव्यापार इत्यर्थः, यदिवा अर्चालेश्या सम्यगाहिता-जनिता लेश्या येन स समाहितार्च्चः, अतिविशुद्धाध्यवसाय इत्यर्थः, यदिवाऽर्चा-क्रोधाद्यध्यवसायात्मिका ज्वाला समाहिता-उपशमिताऽर्ध्धा येन स तथा, 'फलं' कर्म्पक्षयरूपं तदेव फलकं तेनापदि-संसारभ्रमणरूपायामर्थः-प्रयोजनं फलकापदर्थः स विद्यते यस्यासौ फलकापदर्थी, यदिवा फलकवद्वास्यादिभिरुभयतो बाह्यतोऽभ्यन्तरतश्चावकृष्टः फलकावकृष्टइ त्येवं विगृह्यार्षत्वात् 'फलगावयद्वी' इत्युक्तं, यदिवा तक्ष्यमाणोऽपि दुर्वचनवास्यादिभिः कषायामावतया फलकवदवतिष्ठते तच्छीलश्चेति फलकावस्थायी, वासीचन्दनकल्प इत्यर्थः, स एवम्पूतः प्रतिदिनं साकारभक्तप्रत्याख्यायी बलवति रोगावेग उत्याय-अभ्युद्यतमरणोद्यमं विधायाभिनिर्वृत्तार्चः-शरीरसन्तापरहितो धृतिसंहननाद्युपेतो महापुरुषाचीर्णमार्गानुविधायीङ्गितमरणं कुर्यात् ॥ कथं कुर्यादित्याह-

मू. (२३५) अनुपविसित्ता गामं वा नगरं वा खेडं वा कब्बडं वा मडंबं वा पट्टणं वा दोणमुहं वा आगारं वा आसमं वा सन्निवेसं वा नेगमं वा रायहाणिं वाला तणाइं जाइज्ञा तणाइं जाइत्ता से तमायाए एगंतमवक्कमिज्ञा, एगंतमवक्कमित्ता अप्पंडे अप्पपाणे अप्पत्नीए अप्पहरिए अप्पोसेअप्पोदए अप्पुत्तिगपणगगमट्टियमक्कडासंताणए पडिलेहिय २ पमज्रिय २ तणाइं संथरिज्ञा,

तणाइं संथरित्ता इत्थवि समए इत्तरियं कुञ्जा, तं सद्यं सद्यवाई ओए तित्रे छित्रकहंकहे आईयडे अणाईए चिद्याण भेउरं कायं संविहूय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे असिंस विस्संभणयाए भेरवमणुचित्रे तत्थावि तस्स कालपरियाए जाव अणुगामियं – तिबेमि ।

ष्ट्र. ग्रसति बुद्धयादीन् गुणानिति गम्यो वाऽष्टादशानां कराणामिति ग्रामः, सर्वत्र वाशब्दः पक्षात्तरदर्शनार्थः, नात्र करो विद्यत इति नकरं, पांशुप्राकारबद्धं खेटं, क्षुल्लकप्राकारवेष्टितं कर्बटं, अर्छतृतीयगव्यूतान्तर्ग्रामरहितं मडम्बं, पत्तनं तु द्विधा-जलपत्तनं स्थलपत्तनं च, जलपत्तनं यथा काननद्वीपः, स्थलपत्तनं यथा मथुरा, 'प्रोणमुखं' जलस्थलनिर्गमप्रवेशं यथा भरुकच्छं तामलिप्ती बा, 'आकरो' हिरण्याकरादिः, 'आश्रमः' तापसावसयोपलक्षित आश्रयः, 'सत्निवेशः' यात्रा-समागतजनावासो जनसमागतो वा 'नैगमः' प्रभूततरवणिग्वर्गावासः 'राजधानी' राजाधिष्ठानं राज्ञः पीठिकास्थानमित्यर्थः, एतेष्वेतानि वा प्रविश्य तृणानि संस्तारकाय प्रासुकानि दर्भवीरणादिकानि कृवचिद्ग्रामादौ तृणस्थामिनमशुषिराणि तृणानि याचित्ता स तान्यादायैकान्ते-गिरिगुहादावपक्रामेद-गच्छेदेकान्तं-रहोऽपक्रम्य च प्रासुकं महास्थण्डिलं प्रत्युपेक्षते, किम्भूतं तद्दर्शयति-अल्पान्यण्डानि कीटिकादीनां यत्र तदल्पाण्डं तस्मिन्, अल्पशब्दोऽन्नामावे वर्त्तते, अण्डकरहित इत्यर्थः, तथाऽल्पाः प्राणिनो-द्वीन्द्रियादयो यस्मिन् तत्तथा, तथा अल्पानि बीजानि नीवारश्यामाकादीनां यत्र तत्तथा, तथा अल्पानि हरितानि-दूर्खाप्रवालादीनि यत्र तत्तथा, तथाऽल्पावश्ययाये-अयस्तनोपरितनावश्यायविप्रुड्वर्जिते, तथाऽल्पोदके-मौमान्तरिक्षोदकरहिते, तथोत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकामर्क्षटसन्तानरहिते, तत्रोत्तिङ्गः-पिपीलिकासन्तानकः पनको-भूम्यादावुञ्चिविशेषः उदकमृत्तिका-अचिराष्क्रायार्ड्रीकृता मृत्तिका मर्कटसन्तानको-लूतातन्तुजालं, तदेवम्पूते महास्यण्डिले तृणानि संस्तरेत्, किं कृत्वा ? -

तत् स्यण्डिलं चक्षुषा प्रत्युपेक्ष्य २, वीप्सया भृशभावमाह, एवं रजोहरणादिना प्रमृज्य २, अत्रापि वीप्सया भृशार्थता सूचिता, संस्तीर्यच तृणान्युच्चारप्रस्रवणभूमिं चप्रत्युपेक्ष्य पूर्वाभिमुख-संस्तारकगतः करतलललाटस्पर्शिधृतरजोहरणः कृतसिद्धनमस्कारः आवर्त्तितपञ्चनम-स्कारोऽत्रापि समये अपिशब्दादन्यत्र वा समये 'इत्वर'मिति पादपोपगमनापेक्षया नियतदेश-प्रचाराभ्युपगमादिङ्गित्तमरणमुच्यते, न तु पुनरित्वरं साकारं प्रत्याख्यानं, साकारप्रत्याख्यान-स्यान्यस्मिन्नपि काले जिनकल्पिकादेरसम्पवात्, किं पुनर्यावत्कथिकमवत्त-प्रत्याख्यानावसर इति, इत्वरं हि रोगातुरः श्रावको विधत्ते, तद्यया-यद्यहमरमाद्रोगात् पञ्चटषैर- होभिर्मुक्तः स्यां ततो मोक्ष्ये, नान्ययेत्यादि, तदेवमित्वरम्-इङ्गित्तमरणं घृतिसंहननादिबलोपेतः स्वकृतत्वग्वर्त्तनादिक्रियो यावज्रीवं चतुर्विधाहारनियमं कुर्यादिति, उक्तं च--

 II 9 II
 ''पच्चक्खइ आहारं चउव्विहं नियमओ गुरुसमीवे I इंगियदेसंमि तहा चिट्ठंपि हु नियमओ कुणइ

 II २ II
 उव्वत्तइ परिअत्तइ काइगमाईऽवि अप्पणा कुणइ I सव्वमिह अप्पणमिअ ण अन्नजोगेण घितिबलिओ ''

तचेङ्गित्तमरणं किम्भूतं किम्भूतश्च प्रतिपद्यत इत्याह-'तद्' इङ्गित्तमरणं सद्भ्यो हितं सत्यं, - सुगतिगमनाविसंवादनात्सर्वज्ञोपदेशाद्ध सत्यं-तथ्यं, तथा स्वतोऽपि सत्यं वदितुं शीलमस्येति सत्यवादी, यावज्ञीवं यथोक्तानुष्ठानद्यथाऽऽरोपितप्रतिज्ञाभारनिर्वहणादित्पर्थः, तथा 'ओजः' रागद्वेषरहितः, तथा 'तीर्णः' संसारसागरं, माविनि मूतवदुपचारात्तीर्णवत्तीर्ण इत्पर्थः, तथा 'छिन्न' अपनीता 'कथं' कथमपि या 'कथा' रागकथादिका विकयारूपा येन स छिन्नकथंकयः, यदिवा कथमहमिङ्गित्तमरणप्रतिज्ञां निर्वहिष्ये इत्येवंरूपा या कथा सा छिन्ना येन स छिन्नकथंकथः, दुष्करानुष्ठानविधायी हि कथंकथी भवति, सतु पुनर्महापुरुषतया न ब्याकुत्ततामियादिति,

तथा आ-समन्तादतीव इताज्ञातापरिच्छिन्ना जीवादयोऽर्थाचेन सोऽयमातीतार्थः आदत्तार्थं वा, यदिवाऽतीताः-सामस्त्येनातिक्रान्ताः अर्थाः-प्रयोजनानि यस्य स तथा, उपरतव्यापार इत्यर्थः, तथा आ-समन्तादतीव इतो-गतोऽनाद्यनन्ते संसारे आतीतः न आतीतः अनातीतः, अनादत्तो वा संसारो येन स तथा, संसारार्णवपारगामीत्यर्थः स एवम्भूत इक्वित्तमरणं प्रतिपद्यते, विधिना 'त्यक्त्वा' प्रोज्झय स्वयमेव मिद्यते इति मिदुरं-प्रतिक्षणविशरारुं

'कायं' कर्म्मवशाद्गृहीतमौदारिकं शरीरंत्यकत्वा, तथा 'संविधूय' परीषझेपसर्गान्प्रमथ्य "विरूपरूपान्' नानाप्रकारान् सोढा 'अस्मिन्' सर्वज्ञप्रणीत आगमे 'विम्मणतया' विश्वासार्स्परे तदुक्तार्थाविसंवादाध्यवसायेन भैरवं-भयानकमनुष्ठानं क्लीबैर्दुरघ्यवसमिक्नित्तमरणाख्यमनु-चीर्णवानअनुष्ठितवानिति, तच्च तेन यद्यपि रोगातुरतया व्यधायि तथापि तत्कालप-र्यायागततुल्यफलमिति दर्शयितुमाह-'तत्रापि' रोगपीडाऽऽहितेक्नित्तमरणाम्युपगमेऽपि, नक्वेत्तं कालपर्यायेणेत्यपिशब्दार्थः, 'तस्य' कालज्ञस्य भिक्षोरसावेव कालपर्यायः, कर्म्मक्षयस्योभयञ्ञ समानत्यादिति, आहच-'सेवि तत्य वियंतिकारए' इत्यादि पूर्ववद्गतार्थम्, इतिब्रवीभिशब्दावपि क्षुण्णार्थावित् ।

> अध्ययनं-८ उद्देशक:- ६ समाप्तः --: अध्ययनं-८ उद्देशक:- ७ :--

वृ. उक्तंः षष्ठोद्देशकः, साम्प्रतं सप्तमव्याख्या प्रतन्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः, इहानन्तरोद्देशके एकत्वभावनाभावितस्य धृतिसंहननाद्युपेतस्येङ्गितरमणमभिहितम्, इह तु सैवैकत्वभावनाप्रतिमाभिर्निष्पाद्यत इतिकृत्वाऽतस्ताः प्रतिपाद्यन्ते, तथा विशिष्टतरसंहननोपेतश्च पादपोपगमनमपि विदध्यादित्येतच्चेत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्—

मू. (२३६) जे भिक्खू अचेले परिवुसिए तस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-चाएमि अहं तणफासं अहियासित्तए सीयफासं अहियासित्तए तेउफासं अहियासित्तए दंसमसगफासं अहियासित्तएएगयरे अन्नतरे विरूवरूवे फासे अहियासित्तए, हिरिपडिच्छायणं चऽहं नो संचाएमि अहिआसित्तए, एवं से कप्पेइ कडिबंघणं धारित्तए।

चृ. यो भिक्षुः प्रतिमाप्रतिपन्नोऽभिग्रहविश्वेषादचेलो-ग्वासाः 'पर्युषितः' संयमेव्यवस्थितो 'णम्' इति वाक्यालङ्काहारे 'तस्य' 'भिक्षोः 'एव' मिति वक्ष्यमाणोऽभिप्रायो भवति, तद्यथा-शक्नोम्यहं तृणस्पर्शमपि सोद्धं धृतिसंहननाद्युपेतस्य वैराग्यभावनाभावितान्तः करणस्यागमेन प्रत्यक्षीकृतनारकतिर्यग्वेदनाऽनुभवस्य न मे तृणस्पर्शो महति फलविशेषेऽभ्युद्यतस्य किञ्चित् प्रतिमासते, तथा शीतोष्णदंशमशकस्पर्शमधिसोद्धमिति, तथा एकतरान् अन्यतरांश्चानु-धूलप्रत्यनीकान् विरूपत्स्वान् 'स्पर्शान्' दुःखविशेषानध्यासयितुं-सोद्धमिति,

किं लहं ही--लजा तया गुह्यप्रदेशस्य प्रच्छादनं हीप्रच्छादनं, तच्चाहं त्यक्तुं न शक्नोमि, एतच्च प्रकृतिलज्ञालुकतया साधनविकृतरूपतया वा स्यात्, एवमेभिः कारणेः 'स' तस्य 'कल्पते' युज्यते 'कटिबन्धनं' चोलपट्टकं कर्त्तु, स च विस्तरेण चतुरङ्गुलाधिको हस्तो दैर्ध्येण कटिप्रमाण इति गणनाप्रमाणेनैकः, पुनरेतानि कारणानि न स्युः ततोऽचेल एव पराक्रमेत, अचेलतया शीतादिस्पर्शं सम्यगधिसहेतेति ॥ एतस्रतिपादयितुमाह-

मू. (२३७) अदुवा तत्थ परक्वमंतं भुजो अचेलं तणफासा फुसन्ति सीयफासा फुसन्ति तेउफासा फुसन्ति दंसमसगफासा फुसन्ति एगयरे अन्नयरे विरूवरूवे फासे अहियासेइ, अचेले लाघवियं आगममाणे जाव समभिजाणिया।

ष्ट्र. स एवं कारणसद्मावे सति वस्त्रंबिभृयादयवा नैवासौजिहेति, ततोऽचेल एव पराक्रमेत, तं च तत्र संयमेऽचेलं पराक्रममाणं भूयः-पुनस्तृणस्पर्शाः स्पृशन्ति-उपतापयन्ति, तथा शीतोष्णदंशमशकस्पर्शाः स्पृशन्तीति, तथैकतरानन्यतरांश्च विरूपरूवान् स्पर्शान्त्रीणीधिसहते असावचेलोऽचेललाघवमागयमयन्नित्यादि गतार्थं यावत् 'सम्पत्तमेव सममिजाणिय'त्ति ॥ किं च-प्रतिमाप्रतिपन्न एव विशिष्टममिग्रहं गृह्णीयात्, तद्यथा-अहमन्येषां प्रतिमाप्रतिपन्नानामेव किञ्चिद्दा स्यामि, तेम्यो वा ग्रहीष्यामीत्येवमाकारं चतुर्भीङ्गिकयाऽमिग्रहविशेषमाह-

मू. (२३८) जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-अहं च खलु अत्रेसिं भिक्खूणं असणं वा ४

आहट्ट दलइस्सामि आहडं च साइज़िस्सामि १ जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा ४ आहट्ट दलइस्सामि आहडं च नो साइस्सामि २ जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-अहं च खलु असणं वा ४ आहट्ट नो दलइस्सामि आहडं च साइज़िस्सामि ३ जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-आहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं असणं वा ४ आहट्ट नो दलइस्सामि आहडं च नो साइज़िस्सामि ४,

अहं च खलु तेण अहाइरित्तेण अहैसणिज्ञेण अहापरिग्गहिएणं असणेण वा ४ अभिकङ्क साहम्मियस्स कुज़ा वेयावडियं करणाए, अहं वावितेण अहाइरित्तेण अहेसणिज्ञेण अहापरिग्गहिएणं असणेण वा पाणेण वा ४ अभिकङ्क साहम्मिएहिं कीरमाणं वेयावडियं साइज़िस्सामि लाघवियं आगममाणे जाव सम्मत्तमेव समभिजाणिया।

वृ. एतच्च पूर्वं व्याख्यातमेव, केवलमिह संस्कृतेनोच्यते-यस्य भिक्षोरेवं भवति-वक्ष्यमाणम्, तद्यथा-अहं च खल्वन्येभ्योभिक्षुभ्योऽशनादिकमाहृत्य दास्यम्यपराहृतं च स्वादयिष्यामीत्येको भङ्गकः १, तथा यस्य भिक्षोरेवं भवति, तद्यथा-अहं च खल्वन्येभ्योऽशनादिकमाहृत्य दास्याम्यपराहृतं च नोस्वादयिष्यामीति द्वितीयः २ यस्य भिक्षोरेवं भवति, तद्यथाअहं च खल्वन्येभ्योऽशनादिकमाहृत्य नो दास्याम्यपराहृतं च स्वादयिष्यामीति तृतीयः ३ तथा यस्य भिक्षोरेवं भवति, तद्यथा-अहं च खल्वन्येभ्यो भिक्षुभ्योऽशनादिकमाहृत्य नो दास्याम्यपराहृतं च नो स्वादयिष्यामीति चतुर्थः ४। इत्येवं चतुर्णामभिग्रहाणामन्यतरमभिग्रहं गृह्णीयात्,

अथवा एतेषामेवाद्यानां त्रयाणां भङ्गानामेकपदेनैव कश्चिदभिग्रहं गृह्वी यादिति दर्शयितुमाह-यस्य भिक्षोरेवंभूतो ऽभिग्रहविशेषो भवति, तद्यथा-अहं च खलु तेन यथा ऽतिरिक्तेन-आत्मपरिमोगाधिकेन यथैषणीयेन यत्तेषां प्रतिमाप्रतिपञ्चानामेषणीयमुक्तम्, तद्यथा-पञ्चसु प्राभृतिकासु अग्रहः द्वयोरभिग्रहः तथा यथापरिगृहीतेनात्पार्थं स्वीकृतेनाशनादिना निर्जरामभिकाङ्कय साधर्म्भिकस्य वैयावृत्यं कुर्याद्, यद्यपि ते प्रतिमाप्रतिपन्नत्त्वादेकत्र न मुअते तथा येकभिग्रहा-पादितानुष्ठानत्वात्साम्भोगिका भण्यन्ते, अतस्तस्य समनोज्ञस्य करणायउपकरणार्थं वैयावृत्यं कुर्यामित्येवंभूतमभिग्रहं कश्चिद्गृह्वति ।

तथाऽपरं दर्शयितुमाह-वाशब्दः पूर्वस्मात्पक्षान्तरमाहअपिशब्दः पुनःशब्दार्थे, अहं वा पुनस्तेन यथातिरिक्तेन यथैषणीयेन यथापरिगृहीतेनाशनेन ४ निर्जरामभिकाङ्खयसाधर्म्मिकैः क्रियमाणं वैयावृत्त्यं स्यादयिष्यामि-अभिलषिष्यामि, यो वाऽन्यः साधर्म्मिकोऽन्यस्य करोतितं चानुमो दयिष्यामि-यथा सुष्ठु भवता कृतमेवंभूतया वाचा, तथा कायेन च प्रसन्नद्दष्टिमुखेन तथा मनसा चेति, किमित्येवं करोति ? -लाघविकमित्यादि, गतार्थं ॥ तदेवमन्यतराभिग्रहवान् क्षिश्चरचेलः सचेलोवा शरीरपीडायां सत्यामसत्यां वाआयुःशेषतामवगम्योद्यतमरणंविदध्यादितिदर्शयितुमाह-

मू. (२३९) जस्स णंभिक्खुस्स एवं भवइ-से गिलामि खलु अहं इमम्मि समए इमं सरीरगं अनुपुव्वेणं परिवहित्तए, से अनुपुव्वेणं आहारं संवद्विज्ञा २ कसाए पयणुए किद्या समाहियद्वे फलगावयडी उहाय भिक्खू अभिनिव्वुडद्ये अनुपविसित्ता गामं वा नगरं वा जाव रायहाणि वा तणाइं जाइज्जा जाव सन्थरिज्ञा, इत्यवि समए कायं च जोगं च ईरियं च पच्चक्खाइआ, तं सचं सचावाई ओए तिन्ने छिन्नकहंकहे आइयडे अणाईए चिच्चाणं भेउरं कायं संविहुणिय विरूवरूवे परीसहोवसग्गे अस्ति विस्संभणाए भेरवमणुचिन्ने तत्थवि तस्स कालपरियाए, सेवि तत्थ विअन्तिकारए, इच्चेयं विमोहाययणं हियं सुहं खमं निस्सेसं आणुगामिय – त्तिबेमि ।

**द्रृ.** णमिति वाक्यालङ्कारे, यस्य भिक्षोरेवंभूतो-वक्ष्यमाणोऽभिप्रायो भवति, तद्यथा-ग्लायामि खल्वहमित्यादि यावत्तृ णानि संस्तरेत्, संस्तीर्य च तृणानि यदपरं कुर्यात्तदाह-अत्रापि समये-अवसरे न केवलमन्यत्रननुज्ञाप्य संस्तारकमारुह्यसिद्धसमक्षं स्वत एव पश्चमहाव्रतारोपणं करोति, ततश्चतुर्विधमप्याहारं प्रत्याचष्टे, ततः पादपोपगमनाय कायं च-शरीरं प्रत्याचक्षीत, तद्योगं च -आकुञ्चनप्रसारणोन्मेनिषमेषादिकम्, तथेरणमीर्यातां च सूक्ष्मां कायवाग्गतां मनोगतां वाऽप्रशस्तां प्रत्याचक्षीत, तच्च सत्यं सत्यवादीत्यद्यनन्तरोद्देशकवन्नेयम् । इतिब्रवीमिशब्दावपि क्षुण्णार्थावित् अध्ययनं-८, उद्देशकः- ७ समाप्तः

## -: अध्ययनं-८, उद्देशकः- ८ :-

चृ. उक्तः सप्तमोद्देशकः, साम्प्रतमष्टम आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशकेषु रोगादिसम्भवे कालपर्यायागतं परिझेङ्गितमरणपादपोपगमनविधानमुक्तम्, इह तु तदेवानुपूर्वीविहारिणांकालपर्यायागतमुच्यते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रमुच्यते-

मू. (२४०) अनुपुच्वेण विमोहाइं, जाइं धीरा समासञ्ज । वसुमन्तो मइमन्तो, सच्चं नद्या अनेलिसं ।।

वृ. आनुपूर्वी-क्रमः,तद्यथा-प्रव्रज्याशिक्षासूत्रार्थग्रहणपरिनिष्ठितस्यैकाकि-विहारित्वमित्यादि, यदिवा आनुपूर्वी-संलेखनाक्रमश्चत्वारि विकृष्टानीत्यादि तया आनुपर्व्या यान्यभिहितानि, कानि पुनस्तानि ?- 'विमोहानि' विगतो मोहो येषु येषां वा येभ्यो वा तानि तथा-भक्तपरिज्ञेङ्गितमरण-पादपोपगमनानियान्येवंभूतानि यथाक्रममायातानि धीराः-अक्षोभ्याः समासाद्य-प्राप्य वसु-द्रव्यं संयमस्तद्वन्तो वसुमन्तः, तथा मननं मतिः- हेयोपादेयहानोपादा-नाध्यवसायस्तद्वन्तो मतिमन्तः, तथा 'सर्वं' कृत्यमकृत्यं च ज्ञात्वा यद्यस्य वा भक्तपरिज्ञानादिकं मरणविधानमुचितं धृतिसंहन- नाद्यपेक्षयाऽनन्यस ध्शम्-अद्वितीयम्, सर्वं ज्ञात्वा समाधिमनुपालयेदिति

मू. (२४९) दुविहंपि विइत्ता णं, बुद्धा धम्मस्स पारगा । अनुपुव्वीइ सङ्घाए, आरम्भाओ तिउर्ह्झ ।।

ष्ट्र. किं च-द्वे विधे प्रकारावस्येति द्विविधं तपो बाह्यमभ्यन्तरं च, तद्विदित्वा-आसेव्य यदिवा मोक्षाधिकारे विमोक्तव्यं द्विविधं, तदपि बाह्यं शरीरोपकरणादि आन्तरं रागादि, तध्धेयतया विदित्वा त्यक्त्वेत्यर्थः, हेयपरित्यागफलत्वात् ज्ञानस्य, 'ण'मिति वाक्यालङ्कारे, के विदित्वा ?-'बुद्धा' अवगततत्त्वा धर्म्मस्य-श्रुतचारित्राख्यस्य पारगाः-सम्यग्वेत्तारः, ते बुद्धा धर्म्मस्वरूपवेदिनः 'आनुपूर्व्या' प्रव्रज्यादिक्र मेण संयममनुपाल्य मम जीवतः कश्चिद्गुणो नास्तीत्यतः शरीरमोक्षावसरः प्राप्तः तथा कस्मै मरणायालमहमित्येवं 'संख्याय' ज्ञात्वा, आरम्भणमारम्भः-

शरीरधारणायान्नपानाद्यन्वेषणात्मकस्तस्मात् त्रुट्यति-अपगच्छतीत्यर्थः, सुब्व्यत्ययेन पञ्चम्यर्थे

चतुर्थी, पाठान्तरं वा 'कम्मुणाओ तिअट्टई' कर्माष्टभेदं तस्मात् ञुटयिष्यतीति ञुट्यति 'वर्त्तमानसामीप्ये वर्त्तमानवद्वे'त्यनेन भविष्यत्कालस्य वर्त्तमानता ।

मू. (२४२) कसाए पयणू किद्या, अप्पाहारे तितिक्खए। अह भिक्खू गिलाइज्जा, आहारस्सेव अन्तियं

ष्ट्र. स चाभ्युद्यतमरणायं संलेखनां कुर्वन् प्रधानभूतां भावसंलेखनां कुर्यादित्येतद्दर्शयितुमाह-कषः-संसारस्तस्यायाः कषायाः- क्रोधादयश्चत्वारस्तान् प्रतनून् कृत्वा ततो यत्निञ्चनाश्रनीयात्, तदपि न प्रकाममिति दर्शयति-'अल्पाहारः' स्तोकाशी षष्ठाष्टमादि संलेखनाक्रमायातं तपः कुर्व्वन् यत्रापि पारयेत्तत्राप्यल्पमित्यर्थः, अल्पाहारतया च क्रोधोद्मवः स्यादतस्तदुपशमो विधेय इति दर्शयति-तितिक्षते-असर्धशजनादपि दुर्भाषितादिक्षमते, रोगातङ्कवा सम्यक् सहत इति, तथा च संलेखनां कुर्व्वत्राहारस्याल्पतया 'अथे'त्यानन्तर्ये 'भिक्षुः' मुमुक्षुः 'ग्लायेत्' आहारेण विना ग्लानतां व्रजेत्, क्षणे मूर्च्छात्राहारस्यवान्तिकं-पर्यवसानं व्रजेदिति, चत्वारि विकृष्टानीत्यादि संलेखनाक्रनं विहायाशनं विदध्यादित्यर्थः, यदिवा ग्लानतामुपगतः सन्नाहारस्यान्तिकं-समीपं न व्रजेत्, तथाहि आहारयामि तावत्कतिचिद्दिनानि पुनः संलेखनाशेष विधास्येऽहमित्येवं नाहारान्तिक-मियादिति

मू. (२४३) जीवियं नाभिकंखिज्ञा, मरणं नोवि पत्यए । दुहओऽवि न सज़िज्ञा, जीविए मरणे तहा ।।

ष्ट्र. किं च-तत्र संलेखनायां व्यवस्थितः सर्वदा वा साधुर्जीवितं-प्राणधारणलक्षणं नाभिकाडेक्षत्, नापिक्षुद्वेदनापरीषहमनधिसहमानो मरणं प्रार्थयेद् 'उभयतोऽपि' जीविते मरणे वा न सङ्ग विदध्यात् जीविते मरणे तथा ।। किं भूतस्तर्हि स्यादित्याह–

मू. (२४४) मज्झत्थो निजरापेही, समाहिमनुपालए। अन्तो बहिं विऊस्सिज्ञ, अज्झत्थं सुद्धमेसए।।

ष्ट्र. रागद्वेषयोर्मध्ये तिष्ठतीति मध्यस्थः, यदिवा जीवितमरणयोर्निराकाङ्कृतया मध्यस्थो निर्जरामपेक्षितुं शीलमस्येति निर्जरापेक्षी, स एवंभूतः समाधिं-मरणसमाधिमनुपालयेत्-जीवितमरणाशंसारहितः कालपर्यायेण यन्मरणमापद्यते तत् समाधिस्थोऽनुपालयेदिति भावः । अन्तः कषायान् बहिरपि शरीरोपकरणादिकं व्युत्सृज्यात्मन्यध्यध्यात्मम्-अन्तःकरणं तच्छुद्धं सकलद्वन्द्वोपरमाद्विोतसिकारहितमन्वेषयेत्-प्रार्थयेदिति

मू. (२४५) जं किंचुवक्कमं जाणे, आऊखेमस्समप्पणो । तस्सेव अन्तरद्धाए, खिप्पं सिक्खिन्न पण्डिए ।।

ष्ट्र. किंच-उपक्रमणमुपक्रमः-उपायस्तं यं कञ्चन जानीत, कस्योपक्रमः ?— 'आयुःक्षेमस्य' आयुषः क्षेमं—सम्यक्पालनं तस्य, कस्य सम्बन्धि तदायुः ? —आत्मनः, एतदुक्तं भवति—आत्मायुषो यं क्षेमप्रतिपालनोपायं जानीतं तं क्षिप्रमेव शिक्षेत्-व्यापारयेत् पण्डितो-बुद्धिमान् —

'तस्यैव' संलेखनाकालस्य 'अन्तरद्वाए'त्ति अन्तरकालेऽर्द्धसंलिखित एव देहे देही यदि कश्चित् वातादिक्षोभात् आतङ्क आशुजीवितापहारी स्यात् ततः समाधिमरणमभिकाङ्चन् तदुपशमोपायमेषणीयविधिनाऽभ्यङ्गादिकं विदध्यात्, पुनरपि संलिखेत्, यदिवाऽऽत्मनः आयुःक्षेमस्य-जीवितस्य यत्किमप्युपक्र मणम्-आयुःपुद्गलानां संवर्त्तनं समुपस्थितं तज्जानीत, ततस्तस्यैव संलेखनाकालस्य मध्येऽव्याकुलितमतिः क्षिप्रमेव भक्तपरिज्ञानादिकं शिक्षेत-आसेवेत पण्डितो-बुद्धिमानिति ।

#### मू. (२४६) गामे वा अदुवा रण्णे, धंडिलं पडिलेहिया । अप्पापाणं तु विन्नाय, तणाइं संघरे मुणि ।।

ष्ट्र. संलेखनाशुद्धकायश्च मरणकालं समुपस्थितं ज्ञात्वा किं कुर्यादित्याह-ग्रामः- प्रतीतो, ग्रामशब्देन चात्र प्रतिश्रय उपलक्षितः, प्रतिश्रय एव स्थण्डिलं-संस्तारकभुवं प्रत्युपेक्ष्य, तथा अरण्ये वेत्यनेन चोपाश्रयाद्बहरित्येतदुपलक्षितम्, उद्याने गिरिगुहायामरण्ये वा स्थण्डिलं प्रत्युपेक्ष्य विज्ञाय चाल्पप्राणं-प्राणिरहितम्, ग्रामादियाचितानि प्रासुकानि दर्भादिमयानि तृणानि संस्तरेत् 'मुनिः' यथोचितकालस्य वेत्तेति ।

### मू. (२४७) अनाहारो तुयहिज्ञा, पुडो तत्यऽहियासए । नाइवेलं उवचरे, माणुस्सेहिं विपुडवं ।।

वृ. संस्तीर्य च तृणानि यत्कुर्यात्तदाह-न विद्यते आहारोऽस्येत्यनाहारः तत्र यथाशक्ति यथासमाधानं च त्रिविधं चतुर्विधं वाऽऽहारं प्रत्याख्यायारोपितपञ्चमहाव्रतः क्षान्तः-क्षामितसमस्तप्राणिगणः समसुखदुःखः आवर्जितपुण्यप्राग्मारतया मरणादबिभ्यत् संस्तारके त्वग्वर्त्तनं कुर्यात्, तत्र च स्पृष्टः परीषहोपसर्गे स्त्यक्तदेहता सम्यक्तानघ्यासयेद्-अधिसहेत, तत्र मानुष्यैरनुकूलप्रतिकूलैः परीषहोपसर्गैः स्पृष्टो-च्याप्तो नातिवेलमुपचरेत्-न मर्यादीस्रङ्घनं कुर्यात्, पुत्रकलत्रादिसम्बन्धान्नार्तध्यानवशगो भूयात्, प्रतिकूलैर्वा परीषहोपसर्गैर्न क्रोधनिन्धः स्यादिति एतदेव दर्शयितुमाह-

संसष्पगा य जे पाणा, जे य उड्ढमहाचरा । भुञ्जन्ति मंससोणियं, न छणे न पमञ्जए ।।

वृ. संसर्पन्तीति संसर्पकाः-पिपीलिकाकोष्ट्रादयो ये प्राणाः-प्राणिनो ये चोध्ध्र्वचरा-गृघ्रादयो ये चाधश्वराः बिलवासित्वात्सर्प्पादयस्त एवंभूता नानाप्रकाराः 'भुञ्जन्ते' अभ्यवहरन्ति मांसं सिंहव्याघ्रादयः तथा शोणितं मशकादयः, तांश्च प्राणिन आहारार्थिनः समागतानवन्तिसुकुमार-वद्धस्तादिभिर्भ्न क्षणुयात्-न हन्यात् न च भक्ष्यमाणं शरीरावयवं रजोहरणादिना प्रमार्जयेदिति

# मू. (२४९) पाणा देहं विहिंसन्ति, ठाणाओ न विउब्ममे । आसवेहिं विवित्तहिं, तिप्पमाणोऽहियासए ।।

ष्ट्र. किं च-प्राणाः-प्राणिनो देहं मम (वि)हिंसन्ति, न तु पुनर्ज्ञानदर्शनचारित्राणीत्य-तस्त्यक्तदेहाशिनस्तानन्तरायभयान्ननिर्धयेत्, तस्माच्चस्थानान्नप्युद्ममेत्-नान्यत्रयायात्, किंभूतः सन् ?- आश्ववैः-प्राणातिपातादिभिर्विषयकषायादिभिर्वा 'विविक्तैः' पृथग्भूतैरविद्यमानैः शुभाध्यवसायी तैर्भक्ष्यमाणोऽप्यमृतादिना तृप्यमाण इव सम्यक्तत्कृतां वेदनां तैस्तप्यमानो वाऽध्यासयेद्-अधिसहेत ।

मू. (२५०)

मृ. (२४८)

गंथेहिं विवित्तेहिं, आउकालस्स पारए । पग्गहियतरगं चेयं, दवियस्स वियाणओ ।।

वृ. किं च-ग्रन्थैः सबाह्याभ्यन्तरैः शरीररागादिभिः 'विविक्तैः' त्यक्तैः सद्मिर्प्रन्थैर्वा-

आचाराङ्ग सूत्रम् १/-/८/८/२५०

अङ्गानङ्गप्रविष्टैरात्मनं भावयन् धर्म्मशुक्लध्यानान्यतरोपेतः 'आयुःकालस्य' मृत्युकालस्य 'पारगः' पारगामी स्यात्-यावदन्त्या उच्छ्वासनिश्वासास्तावत्तद्विदध्याद्, एतन्मरणविधानकारी सिद्धिं त्रिविष्टपं वा प्राप्नुयादिति गतं भक्तपरिज्ञामरणं ।

साम्प्रतमिङ्गितमरणं श्लोकार्द्धविनोच्यते तद्यथा-'प्रगृहीततरकं चेदं' प्रकर्षेण गृहीततरं प्रगृहीततरं तदेव प्रगृहीततरकम्, 'इद'मिति वक्ष्यमाणमिङ्गितमरणम्, एतद्धि भक्तप्रत्याख्या-नात्सकाशान्नियमेन चतुर्विधाहारप्रत्याख्यानादिङ्गितप्रदेशसंस्तारकमात्रविहाराभ्युपगमाञ्च विशिष्ट तरघृतिसंहननाद्युपेतेन प्रकर्षेण गृह्यत इति, कस्पैतद्मवति ?-द्रव्यं-संयमः स विद्यते यस्यासौ द्रविकस्तस्य 'विजानतो' गीतार्थस्य जघन्यतोऽपि नवपूर्वविशारदस्य भवति, नान्यस्पेति, अत्रापिङ्गितमरणे यत्संलेखनातुणसंस्तारा दिकमिहितं तत्सर्वं वाच्यम् ।

मू. (२५९) अर्य से अवरे धम्मे, नायपुत्तेण साहिए। आयवज्रं पडीयारं, विजहिज्ञा तिहा तिहा ॥

ष्ट्र. अयमपरो विधिरित्याह-'अयं स' इति सोऽयम् 'अपरः' अन्यो मक्तप्रत्याख्यानाद्मिन् इङ्गितमरणस्य 'धर्म्भोविशेषो 'ज्ञातपुत्रेण' वीरवर्ध्धमानस्वामिना सुश्ठ्वाहितः-उपलब्धः स्वाहितः, अस्य चानन्तरं वक्ष्यमाणत्वाखत्यक्षासन्नवाचिनेदमाऽभिधानं, अत्रापौं ङ्गितमरणे प्रव्रज्यादिको विधिः संलेखना च पूर्ववद्रष्टव्या, तथोपकरणादिकं हित्वा स्यण्डिलं प्रत्युपेक्ष्यालोचितप्रतिक्रान्तः पश्चमहाव्रतारूढश्चतुर्विधमाहारं प्रत्याख्याय संस्तारके तिष्ठति, ।

अयमन्न विशेषः-आत्मवर्जं प्रतिचारम्-अङ्गव्यापारं विशेषेण जह्यात्-त्यजेत् 'त्रिविध-त्रिविधेने'ति मनोवाक्वायैः कृतकारितानुमतिभिः स्वव्यापारव्यतिरेकेण परित्यजेत्, स्वयमेव चोद्धर्त्तनपरिवर्त्तनं कायिकायोगादिक विधत्ते सर्वथा प्राणिसंरक्षणं पौनःपुन्येन विधेयमिति दर्शयितुमाह-

मू. (२५२)

## हरिएसु न निवज्रिज्ञा, थण्डिलं मुणिया सए। बिओसिज्ञ अनाहारो, पुट्टो तत्थऽहियासए।।

**द्यू.** हरितानि-दूर्वाङ्कुरादीनि तेषुन शयीत स्थण्डिलं मत्वा शयीत तथा सबाह्याभ्यन्तरमुपधिं व्युत्सृज्य-त्यकत्वाऽनाहारः सन् स्पृष्टः परीषहोपसर्गैः 'तत्र' तस्मिन् संस्तारके व्यवस्थितः सन् सर्वमध्यासयेद्-अधिसहेत ॥

मू. (२५३) इन्दिएहिं गिलायन्तो, समियं आहरे मुणी । तहावि से अगरिहे, अचले जे समाहिए ।।

ष्ट्र. किंच - स ह्वनाहारतया मुनिर्ग्लायमान इन्द्रियैः शमिनो भावः शमिता-समता तां साम्यं वा आत्मन्याहारयेद्-व्यवस्थापयेत् नार्त्तध्यानोपगतो भूयादिति, यथासमाधानमास्ते, तद्यथा-सङ्कोचनिर्विण्णो हस्तादिकं प्रसारयेत् तेनापि निर्विण्ण उपविशेत् यथेङ्गितदेशे सञ्चरेद्वा, तथाप्यसौ स्वकृतचेष्टत्वादगहर्य एव, किंभूत इति दर्शयति–

अचलो यः समाहितः, यद्यप्यसाविङ्गितप्रदेशे स्वतः शरीरमात्रेण चलति तथाप्यभ्युध-तमरणान्न चलतीत्यचलः सम्यगाहितं-व्यवस्थापितं धर्म्मध्याने शुक्लध्याने वा मनो येन स समाहितः, भावाचलितश्चेङ्गितप्रदेशे चङ्क्रमणादिकमपि कुर्यादिति ।

## मू. (२५४) अभिक्रमे पडिक्रमे, संकुचए पसारए। कायसाहारणडाए, इत्थं वावि अचेयणे

वृ. एतद्दर्शयितुमाह-प्रज्ञापकापेक्षयाऽभिमुखंक्रमणभिक्रमणं, संस्तारकाद्गमनमित्यर्थः, तथा प्रतीपं-पश्चादभिमुखं क्रमणं प्रतिक्रमणमागमनमित्यर्थः, नियतदेशे गमनागमने कुर्यादितियावत्, तथा निष्पन्नो निष्ण्णो वा यथासमाधानं भुजादिकं सङ्कोचयेत्रसारयेदा, किमर्थमेतदिति चेद्दर्शयति–

कायस्य-शरीरस्य प्रकृतिपेलवस्य साधारणार्थं, कायसाधारणाद्य तत्पीडाकृतायुष्कोप-क्रमपरिहारेण स्वायुःस्थितिक्षयान्मरणं यथा स्यात्, न पुनस्तेषां महासत्त्वतया शरीरपी-डोत्थापितचित्तस्यान्यथामाबः स्यादिति भावः, ननु च निरुद्धसमस्तकायचेष्टस्य शुष्ककाष्ठ-वदचेतनतया पतितस्य प्रचुरतपुण्यप्राग्भारोऽभिहित इति, नायं नियमः, संविशुद्धाध्यवसायतया ययाशक्त्यारोपितभारनिर्वाहिणः तत्तुल्य एव कर्म्पक्षयः अत्राप्यसौ वाशब्दात्तत्र पादपोपग-मनेऽचेतनवत्सक्रियोऽपि निष्क्रिय एव, यदिवा 'अत्रापि' इङ्गितमरणेऽचेतनवच्छुष्ककाष्ठ-वत्सर्वक्रियारहितो यथा पादपोपगमने तथा सति सामर्थ्ये तिष्ठेद् ।

मू. (२५५) परिक्वमे परिकिलन्ते, अदुवा चिट्ठे अहायए । ठाणे ण परिकिलन्ते, निसीइज्ञा य अंतसो

वृ. एतत्सामर्थ्यावेभा चैतत्कुर्यादित्याह-यदि निषण्णस्यानिषण्णस्य वा गात्रभङ्गः स्यात्, ततः परिक्रामेत्-चङ्क्रम्याद् यथानियमिते देशेऽकुटिलया गत्या गतागतानि कुर्यात्, तेनापि श्रान्तः सन् अथवोपविष्टस्तिष्ठेत, 'यथायतो' यथाप्रणिहितगात्र इति, यदा पुनः स्थानेनापि परिक्लममियात् तद्यथा-निषण्णो वा पर्यद्वेण वा अर्द्धपर्यद्वेण वोत्कुटुकासनो वा परिताम्यति तदा निषण्णः स्यात्, तत्राप्युत्तानको वा पार्श्वशायी वा दण्डायतो वा त्रगण्डशायी वा यथा समाधानमवतिष्ठेत्॥किंच–

#### मू. (२५६) आसीणेऽनेलिसं मरणं, इन्दियाणि समीरए । कोलावासं समासञ्ज, वितहं पाउरे सए ।।

ष्ट्र. 'आसीनः' आश्रितः किं तत् ? –मरणम्, किंभूतम् ? – 'अनीध्शम्' अनन्यसर्ध्श-मितरजनदुरध्यवसेयम्, तथाभूतश्च किं कुर्यादिति दर्शयति-इन्द्रियाणीष्टानिष्टस्वविषयेभ्यः सकाशाद्रागद्वेषाकरणतया सम्यगीरयेत्-प्रेरयेदिति, कोलाधुणकीटकास्तेषामावासः कोला-वासस्तमन्तर्धुणक्षतमुद्देहिकानिचितं वा 'समासाद्य'लब्ध्वा तस्माद्यद्वितथम्–आगन्तुकतदुत्थ-जन्तुरहितमवष्टम्भनाय प्रादुरेषयेत्-प्ररकटं प्रत्युपेक्षणयोग्यमशुषिरमन्वेषयेत् ।

मू. (२५७) जओ वेज्रं समुप्पञ्जे, न तत्य अवलम्बए । तउ उक्कसे अप्पाणं, फासे तत्यऽहियासए ।।

वृ. इङ्गितमरणे चोदनामभिधाय यत्रिवेध्यं तद्दर्शयितुमाह-'यतो' यस्मादनुष्ठाना-दवष्टम्भनादेर्वज्रवद्वज्रं-गुरुत्वात्कर्म्म अवद्यं वा-पापं वा तत्समुत्पद्येत प्रादुष्प्र्यात्, न तत्र धुणक्षतकाष्ठादाववलम्बेत-नावष्टम्भनादिकांक्रियांकुर्यात्, तथा 'ततः' तस्मादुत्क्षेपणापक्षेपणादेः काययोगादुष्प्रणिहितवाग्योगादार्त्तध्यानादिमनोयोगाद्यावद्यसमुत्पत्तिहेतोरात्मनमुत्कर्षेद्- उकामयेत्, पापोपादानादासानं निवर्त्तयेदितियावत्, तत्रच धृतिसंहननाद्युपेतोऽप्रतिकर्म्पशरीरः प्रवर्धमानशुभाध्यवसायकण्डकोऽपूर्वापूर्वपरिणामारोही सर्वज्ञप्रणीतागमानुसारेण पदार्थ-स्वरूपनिरूपणाहितमतिः अन्यदिदं शरीरं त्याज्यमित्येवंकृताध्यवसायः सर्वान् स्पर्शान् दुःखविशेषाननुकूलप्रतिकूलोपसर्गपरीषहापादितान् तथा वातपित्तश्लेष्मद्वन्द्वेतरप्रोद्भूतान् कर्माक्षयायोद्यतो मयैवैतदवद्यं कृतं सोढव्यं चेत्येतदध्यवसायी अध्यासयेद्-अधिसहेत,

यतो यन्पया त्यक्तं शरीरमेतदेवोपद्रवन्ति न पुनर्जिधृक्षितं धर्म्पाचरणमित्याकलय्य सर्वपीडासहिष्णुर्भवेदिति—

### मू. (२५८) अयं चाययतरे सिया, जो एवमनुपालए । सव्वगायनिरोहेऽवि, ठाणाता नवि उब्भमे ।।

ष्ट्र.गत इङ्गितमरणाधिकारः, साम्प्रतं पादपोपगमनमाश्रित्याह-अनन्तरमभिधास्य-मानत्वाघोऽयं प्रत्यक्षो मरणविधिः, स चाऽऽयततरो, न केवलं भक्तपरिज्ञाया इङ्गितमरण-विधिरायततरः, अयं च तस्मादायततर इति चशब्दार्थः, आयततर इत्याङ्भिविधौ सामस्त्येन यत आयतः, अयमनयोरतिशयेनायत आयततरः, यदिवाऽयमनयोरतिशयेनात्तो-गृहीत आत्ततरः, यत्लेनाध्यवसित इत्यर्थः, तदेवमयं पादपोपगमनमरणविधिरात्ततरो-दृढतरः स्याद्मवेत्

अत्रापि यदिङ्गितमरणे प्रव्रज्यासंलेखनादिकमुक्तं तत्सर्वं द्रष्टव्यमिति, यद्यसावायततरः ततः किमिति दर्शयति-यो भिक्षुः 'एवम्' उक्तविधिनैव पादपोपगमनविधिमनुपालयेत् 'सर्वगात्र-निरोधेऽपि' उत्तप्यमानकायोऽपि मूर्च्छन्नपि मरणसमुद्घातगतो वा भक्ष्यमाणमांसशोणितोऽपि क्रोष्टुगृद्धपिपीलिकादिभिर्महासत्त्वतयाऽऽशंसितमहाफलविशेषः संस्तस्मात्स्थानात्-प्रदेशात् द्रव्यतो भावतोऽपि शुभाध्यवसायस्थानान्न व्युद्ममेत्-न स्यानान्तरं यायात् ।

मू. (२५९) अयं से उत्तमे धर्म्मे, पुव्वडाणस्स पग्गहे । अचिरं पडिलेहित्ता, विहरे चिड्ठ माहणे ।।

ष्ट्र. किंच-'अय' मित्यन्तःकरणमनिष्पन्नत्वाग्रत्यक्षः 'उत्तमः' प्रधानो मरणविधिः सर्वोत्तर-त्वाद्धर्म्मो-विशेषः पादपोपगमनरूपो मरणविशेष इति, उत्तमत्वे कारणं दर्शयति-'पूर्वस्थानस्य प्रग्रह' इति पञ्चम्यर्थे षष्ठी पूर्वस्थानाद्मक्तपरिज्ञेङ्गित्तमरणरूपाद्यकर्षेण ग्रहोऽत्र पादपोपगमने, प्रगृहीततरमेतदित्पर्थः, तथाहि-अत्र यदिङ्गित्तमरणानुमतं कायपरिस्पन्दनं तदपि निषेध्यते अच्छिन्नमूलपादपवन्निश्चेष्टो निष्क्रियो दह्यामानश्छिद्यमानो वा विषमपतितो वा तथैवास्ते न तस्मात्स्थानाच्चलति, चिलातपुत्रवत्, ।—

एतदेव दर्शयति-अचिरं स्थानं, तच्च स्थण्डिलं तत्पूर्वविधिना प्रत्युपेक्ष्य तस्मिन् प्रत्युपेक्षिते स्यण्डिले विहरेदिति, अत्र पादपोपगमनाधिकाराद्विहरणं तद्विधिपालनमुक्तं, तच्च स्यानात्स्या-नान्तरसंक्र मणम्, एतदेव च दर्शयति-तिष्ठेत् सर्वगात्रनिरोधेऽपि, स्थानान्तरासङ्क्रमणं कुर्यादित्यर्थः, कोऽसौ ? - 'माहणे'त्ति साधुः, सहिनिषण्णो निषण्ण ऊर्ध्वस्थितो वा निष्प्रतिकर्मा यद्यथानि-क्षिप्तमङ्गमचेतन इव न चालयेदितियावत् एतदेव प्रकारान्तरेण दर्शयितुमाह– मू. (२६०) अचित्तं तु समासज्ज, ठावए तत्य अप्पगं।

अचित्तं तु समासज, ठावए तत्य अप्पगं । वोसिरे सव्वसो कायं, न मे देहे परीसहा ।। **मृ.** न विद्यते चित्तमस्मिन्नित्यचित्तम्-अचेतनं जीवरहिमित्यर्थः, तच्च स्थण्डिलं फलकादि वा 'समासाद्य' लब्ब्वा फलकेऽपि समर्थः कश्चित्काष्ठेवाऽवष्टम्य तत्रात्मानं स्थापयेत्, व्यवस्थाप्य च त्यक्तचतुर्विधाहारो मेरुरिव निष्प्रकम्पः कृतालोचनादिपरिकर्म्पा गुरुभिरनुज्ञातो व्युत्सृजेत्, 'सर्वशः' सर्वात्मना 'कायं'देहं, व्युत्सृष्टदेहस्य च यदि केचन परीषहोपसर्गाः स्युस्ततो भावयेत्-

'न मे देहे परीषहाः' मत्सम्बन्धी देह एव न मवति, परित्यक्तत्वात्, तदमावे कुतः परीषहाः ?, यदिवा न मम देहे परीषहाः, सम्यक्करणेन सहमानस्य तत्कृतपीडयोद्वेगामावात्, अतः परीषहान्कर्म्मश्चजयसहायानितिकृत्वाऽपरीषहानेव मन्यते ।

## मू. (२६९) जावज्ञीवं परीसहा, उवसग्गा य संखाय । संबुडे देहमेयाए, इय पन्नेऽहियासए ।।

**वृ**. ते पुनः कियन्तं कालं सोढव्या इत्याशङ्काव्युदासार्थमाह-'यावजीवं' यावस्राणधारणं तावत्परीषहा उपसर्गाश्च सोढव्या इत्येतत् 'सङ्ख्याय' ज्ञात्वा तानध्यासयेदिति, यदि वा न मे यावज्जीवं परीषहोपसर्गाइत्येतत्सङ्ख्याय-ज्ञात्वाऽधिसहेत्, यदिवा यावज्जीवमिति-यावदेव जीवितं तावत्परीषहोपसर्गजनिता पीडेति, तत्पुनः कतिपयनिमेषाऽवस्थायि एतदवस्यस्य ममात्यन्त-मल्पमेवेत्यत एतत्सङ्ख्याय--ज्ञात्वा संवृतो यथानिक्षिप्तत्यक्तगात्रो 'देहमेदाय' श्वरीरत्यागायोत्यित इतिकृत्वा 'प्राज्ञः' उचितविधानवेदी, यद्यत्कायपीडाकार्युपतिष्ठते तत्तत्सम्यगधिसहेत ।

मू. (२६२) भेउरेसु न रज़िज़ा, कामेसु बहुतरेसुवि । इच्छा लोमं न सेविज़ा, धुववत्रं सपेहिया ।।

**वृ.** एवंभूतं च साधुमुपलभ्य कश्चिद्राजादिभौंगैरुपनिमन्त्रयेत्, तस्रतिविधानार्थमाह-भेदनशीला भिदुराः- शब्दादयः कामगुणास्तेषु प्रभूततरेष्वपि 'न रज्येत्' न रागं रायात्, पाठान्तरं वा 'कामेसु बहुलेसुवि' इच्छामदनरूपेषु कामेषु बहुलेषु-अनल्पेष्वपीत्यर्थः, यद्यपि राजा राज्यकन्यादानादिनोपप्रलोभयेत् तथापि तत्र न गार्थ्यमियात्, तथा इच्छारूपो लोम इच्छालोभः-चक्र वर्तीन्द्रत्वाद्यमिलाषादिको निदानविश्लेषस्तमसौ निर्जरापेक्षी न सेवेत, सुरर्द्धिदर्शनमोहितो बह्यदत्तवन्निदानं न कुर्यादित्यर्थः,

तया चागमः-'इहलोगासंसप्पओगे १ परलोगासंसप्पओगे २ जीवियासंसप्पयोगे ३ मरणासंसप्पयोगे ४ काममोगासंसप्पयोगे ५ इत्यादि, 'वर्णः' संयमो मोक्षो वास च सूक्ष्मो दुर्ज्ञेयत्वात्, पाठान्तरं वा-'धुववन्नमि'त्यादि, ध्रुवः-अव्यभिचारी स चासौ वर्णश्च ध्रुववर्णस्तं संप्रेक्ष्य ध्रुवां वा शाश्वती यशःकीर्तिं पर्यालोच्य कामेच्छालोभविक्षेपं कुर्यादिति।

मू. (२६३) सासएहिं निमन्तिज्ञा, दिव्व मायं न सद्दहे । तं पडिबुज्झ माहणे, सव्वं नूमं विहूणिया ।।

ष्ट्र. किं च-शाश्वता-यावञ्जीवमपरिक्षयात्यतिदिनदानादाऽर्थास्तैस्तयाभूतैर्विभवैः कश्चिन्मन्त्रयेत् तत्यतिबुध्यस्व यथा शरीरार्थं धनं मृग्यते तदेव शरीरमशाश्वतमिति, तथा दिव्यां मायां न श्रद्दधीत, तद्यया-

यदिकश्चिदेवोमीमांसयाप्रत्यनीकतयावाभक्त्यावाऽन्यथावाकौतुकादिनानानर्खिदानतो निमन्त्रयेत्, तां च तत्कृतां मायां न श्रद्दधीत, तथा बुध्यस्व यथा देवमायैषा, अन्यथा कुतोऽयमाकस्मिकः पुरुषो दुर्लभमेतद्रव्यं प्रभूततरमेवंभूते क्षेत्रे काले भावे च दद्यात् ?, एवं द्रव्यादिनिरूपणया देवमायां बुध्यस्व इति, तथा देवाङ्गना वा यदि दिव्यं रूपं विधाय प्रार्थयेत् तामपि बुध्यस्वेति, 'माहणे'ति साधुः 'सर्वम्' अशेषं 'नूमं'ति कर्म्प मायां वा तत्तां वा 'विधूय' अपनीय देवादिमायां बुध्यस्वेति क्रिया ॥किं च–

## मू. (२६४) सव्वहेहिं अमुच्छिए, आउकालस्स पारए। तितिक्खं परमं नद्या, विमोहन्नयरं हियं त्तिबेमि।।

ष्ट्र. सर्वे च तेऽर्थाश्च सर्वार्थाः-पञ्चप्रकाराः कामगुणास्तत्सम्पादका वा द्रव्यनिचयास्तैस्तेषु वा अमूच्छितः-अनध्युपपन्नः आयुःकालस्य यावन्मात्रं कालमायुः संतिष्ठते असौ आयुः कालस्तस्य पारम्-आयुष्कपुद्गलानां क्षयो भरणं तद्गच्छतीति पारगः, यथोक्तविधिना पादपोपगमन-व्यवस्थितः प्रवर्द्धमानशुभाध्यवसायः स्वायुःकालान्तगः स्यादिति । तदेवं पादपोपगमनविधिं परिसमापय्योपसंहारद्वारेण त्रयाणामपि मरणानां कालक्षेत्रपुरुषावस्याश्रयणात्तुल्यकक्षतां पश्चार्द्धेन दर्शयति -तितिक्षा-परीषहोपसर्गापादितदुःखविशेषसहनं ।

तत्रयाणामपि परमं-प्रधानमस्तीति 'ज्ञात्वा' अवधार्य 'विमोहान्यतरंहित'मिति विगतो मोहो येषु तानि विमोहानि-भक्तपरिज्ञेङ्गितमरणपादपोपगमनानि तेषामन्यतरत्काल-क्षेत्रादिकमाश्चित्य तुल्यफलत्वाद्धितं अभिप्रेतार्थसाधनादतो ययाशक्ति त्रयाणामन्यतर-तुल्यबलत्वाद्ययावसरंविधेयं, इतिअधिकारपरिसमाप्तौ ब्रवीमीतिपूर्ववत्, नयविचारादिकमनुगतं वक्ष्यमाणं च द्रष्टव्यमि

अध्ययनं - ८ उद्देशकः- ८ समाप्तः

अध्ययनं-८ समासम् मुनि दीपरलसागरेण संशोधिता - सम्पादिता शीलाङ्गचार्येण चिरचिता प्रथम श्रुतस्कन्धस्य अष्टमअघ्ययनटीका परिसमासा.

(अध्ययनं-९ - उपधान श्रुतम् )

ष्ट्र. उक्तमध्ययनमष्टमं, साम्प्रतं नवममारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः- इहानन्तराध्य-यनेष्वष्टसु योऽर्थोऽभिहितः स तीर्थकृता वीरवर्द्धमानस्वामिना स्वत एवाचीर्णइत्येतन्नवमेऽध्ययने प्रतिपाद्यते, अनन्तराध्ययनसम्बन्धस्वयम्-इहाभ्युद्यतमरणंत्रिप्रकारमभिहितं, तत्रान्यतरस्मिन्नपि व्यवस्थितोऽष्टाध्ययनार्थविधायिनमतिघोरपरीषहोपसर्गसहिष्णुमाविष्कृत--सन्मार्गावतारं तथा पातितघातिचतुष्टयाविर्भूतान्तातिशयाप्रमेयमहाविषयस्वपरावभासककेवलज्ञानं भगवन्तं श्रीवर्द्धमानस्वामिनं समवसरणस्थं सत्त्वहिताय धम्पदिशनां कुर्वाणं ध्यायेदित्येतप्रतिपादनार्थमिद-मध्ययनमुच्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमेऽर्थाधिकारो द्वेधा-अध्ययनार्थाधिकार उद्देशार्थाधिकारश्च, तत्राध्ययनार्थाधिकारो लेशतोऽभिहितस्तमेव निर्युक्तिकारः स्पष्टतरं बिभणिषुराह–

नि. [२७६] जो जंइया तित्थयरो सो तइया अप्पणो य तित्यम्मि। वण्णेइ तवीकम्मं ओहाणपुर्याम अज्झयणे।। ष्ट्र. यो यदा तीर्थकृदुत्पद्यते स तदाऽऽत्मीये तीर्थे आचारार्थप्रणयनावसानाध्ययने स्वतपःकर्म्म व्यावर्णयतीत्ययं सर्वतीर्थकृतां कल्पः, इह पुनरुपधानश्रुताख्यं चरममध्ययनमभूत् अत उपधानश्रुतमित्युक्तमिति ॥ किमेकाकारं केवलज्ञानचत्सर्वतीर्थकृतां तपः कर्म्मोतान्यथेत्यारेका-व्युदासार्थमाह-

नि. [२७७] सव्वेसिं तवोकम्मं निरुवसग्गं तु वण्णिय जिणाणं । नवरं तु वद्धमाणस्स सोवसग्गं मुणेयव्वं ॥

- नि. [२७८] तित्ययरो चउँनाणी सुरमहिओ सिज्झियव्वय धुवम्मि। अणिगूहियबलविरिओ तवोविहाणंमि उज्जमइ।।
- नि. [२७९] किं पुण अवसेसेहिं दुक्खक्खयकारणा सुविहिएहिं। होइ न उज़मियव्वं सपच्चवायंमि माणुरसे ? ॥

षृ.गाधात्रयमप्युत्तानार्थम्।।अध्ययनाथधिकारं प्रतिपाद्योद्देशार्थाधिकारं प्रतिपादयन्नाह-

नि. [२८०]चरिया १सिञ्जा य २ परीसहा य ३ आयंकिया(ए)चिगिच्छा ४ य ।

तवचरणेणऽहिगारो चउसुद्देसेसु नायव्वो ॥

**ष्ट्र.** चरणं चर्यत इति वा चर्या-श्रीवीरवर्द्धमानस्वामिनो विहारः, अयं प्रथमोद्देश-केऽर्थाधिकारः 9, द्वितीयोद्देशके त्ययमर्थाधिकारः, तद्यथा-शय्या-वसतिः सा च याधग्मगवत आसीत् ताधग्वश्यते २, तृतीये त्वयमर्थाधिकारः-मार्गाच्यवननिर्जरार्थं परिषोढव्याः परीषहाः, उपलक्षणार्थत्वा-दुपसर्गाश्चानुकूलप्रतिकूला वर्द्धमानस्वामिनो येऽभूवन्तेऽत्र प्रतिपाद्यन्ते ३, चतुर्थे त्वयमर्थाधिकारः, तद्यथा- 'आतद्भिते' क्षुत्पीडायामातङ्गोत्पत्तौ विशिष्टाभिग्रहावाप्ताहारेण चिकित्सेदिति ४, तपश्चरणाधिकारस्तु चतुष्वप्युद्देशकेष्वनुयायीति गाथार्थः ॥ निक्षेपस्त्रिधा-ओधनिष्पन्नो नामनिष्पन्नः सूत्रालापकनिष्पन्नश्च, तत्रौधनिष्पन्ने निक्षेपेऽध्ययनं, नामनिष्पन्ने तूपधानश्रुतमिति द्विपदं नाम, तत्रोपधानस्य श्रुतस्य च यथाक्रमं निक्षेपः कर्तव्य इति न्यायादुपधाननिक्षेपचिकीर्षयाऽऽह--

नि. [२८१] नामंठवणुवहाणं दव्वे भावे य होइ नायव्वं । एमेव य सुत्तरसवि निक्खेवो चउव्विहो होइ ॥

ष्ट्र. नामोपधानं स्यापनोपधानं द्रव्योपधानं भावोपधानं च, श्रुतस्याप्येवमेव चतुर्द्धानिक्षेपः, तत्र द्रव्यश्रुतमनुपयुक्तस्ययत् श्रुतं द्रव्यार्थं वा यत् श्रुतं कुप्रावचनिकश्रुतानि चेति द्रव्यश्रुतम्, भावश्रुतं त्वङ्गानङ्गप्रविष्टश्रुतविषयोपयोगः ॥ तत्र सुगमनामस्थापनाव्युदासेनद्रव्याद्युपधान-प्रतिपादनायाह—

नि. [२८२] दव्वुवहाणं सयणे भावुवहाणं तवो चरित्तस्स । तम्हा उ नाणदंसणतवचरणेहिं इहाहिगयं ॥

ष्ट्र.उप-सामीप्येन धीयते-व्यवस्थाप्यत इत्युपधानं द्रव्यभूतमुपधानं द्रव्योपधानं, तत्पुनः शय्यादौ सुखशयनार्थं शिरोऽवष्टम्भनवस्तु, 'भावोपधान'मिति भावस्योपधानं भावोपधानं, तत्पुनर्ज्ञानदर्शनचारित्राणितपोवा सबाह्याभ्यन्तरं, तेन हि चारित्रपरिणतभावस्योपष्टम्पनं क्रियते, यत एवं तस्मात् ज्ञानदर्शनतपश्चरणैरिहाधिकृतमिति गायार्थः ।।किं पुनः कारणं चारित्रोपष्टम्भकतया तपो भावोपधानमुच्यते इत्याह-

नि. [२८३] जह खलु मइलं वत्यं सुज्झइ उदगाइएहिं दव्वेहिं । एवं भावुवहाणेण सुज्झए कम्ममडविहं ॥

ष्ट्र, 'यथे'त्युदाहरणोपन्यासार्थेः यथैतत्तर्थाऽन्यदपि द्रष्टव्यमित्यर्थः, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे, यथा मलिनं वस्त्रमुदकादिभिर्द्रव्यैः शुद्धिमपयाति एवं जीवस्यापि भावोपधानभूतेन सबाह्याभ्यन्तरेण तपसा अष्टप्रकारं कर्म्म शुद्धिमुपयातीति ।। अस्य च कर्म्मक्षयहेतोस्तपस उपधानश्रुतत्वेनात्रोपात्तस्य 'तत्त्वभेदपर्यायैर्थ्याख्ये'तिकृत्वा पर्यायदर्शनायाह-यदिवा तपोऽनुष्ठानेनापादिता अवधूननादयः कर्म्मापगमविशेषाः सम्भवन्तीत्यतस्तान् दर्शयितुमाह–

नि. [२८४] ओधूणण धुणण नासण विणासणं झवण खवण सोहिकरं। छेयण भेयण फेडण डहणं धुवणंच कम्माणं ॥

वृ. तत्रावधूननम्-अपूर्वकरणेन कर्म्मग्रन्थेर्भेदापादानं, तच्च तपोऽन्यतरभेदसामर्थ्याद्भ-वतीत्येषा क्रिया शेषेष्वप्येकादश सु पदेष्वायोज्या, तथा 'धूननं' भिन्नग्रन्थेरनिवर्त्तिकरणेन सम्यकत्वावस्थानं, तथा 'नाशनं' कर्म्मप्रकृतेः स्तिबुकसङक्रमेण प्रकृत्यन्तरगमनं, तथा 'नाशनं' शैलेश्यवस्थायां सामस्त्येन कर्म्माभावापादनं, तथा ध्यापनम्-उपशमश्रेण्यां कर्म्मानुदयलक्षणं विध्यापनं, तथा 'क्षपणम्' अप्रत्याख्यानादिप्रक्रमेण क्षपकश्रेण्यां मोहाद्यमावापादनं, तथा 'शुद्धिकर' मित्यन्तानुबन्धिक्षयप्रक्रमेण क्षायिकसम्यकत्वापादानं,

तथा 'छेदनम्' उत्तरोत्तरशुभाध्यवसायारोहणात्स्थितिहा जननं, तथा 'भेदनं' बादरसम्परायावस्थायां सञ्जवलनलोभस्य खण्डशो विधानं, तथा 'फेडण'न्ति अपनयनं चतुःस्थानिकादीनामशुभप्रकृतीनां रसतस्त्र्यादिस्थानापादनं, तथा 'दहनं' केवलिसमुद्धातध्या-नाग्निना वेदनीयस्य भस्मसात्करणं, शेषस्य च दग्धरञ्जुतुल्यत्वापादनं, तथा 'धावनं' शुभाध्यवसायान्मिथ्यात्वपुद्गलानां सम्यकत्वभावसंजननमिति, एताश्च कर्म्मणोऽवस्थाः प्रायश उपशमश्रेणिक्षपकश्रेणिकेवलिसमुद्धातशैलेश्यवस्थाप्रकटनेन प्रभूता आविर्माविता भवन्तीत्यतस्तयकटनाय प्रक्रम्यते,

तत्रोपशमश्रेण्यामादावेवानन्तानुबन्धिनामुपशमनातावत्कथ्यते, इहासंयतसम्यग्ध्धिदेश-विरतप्रमत्ताप्रमत्तानामन्यतरोऽन्यतरयोगे वर्त्तमान आरम्भको भवति, तत्रापि दर्शनसप्तक-मेकेनोपशमयति, तद्यथा-अनन्तार्नुब्धिनश्चतुरः, उपरितनलेश्यात्रिके च विशुद्धे साकारोप-योग्यन्तःकोटीकोटीस्थितिसत्कर्म्सा परिवर्त्तमानाः शुभप्रकृतीरेव बध्नन् प्रतिसमय-मशुभप्रकृतीनामनुभागमनन्तगुणहान्या हासयन् शुभानां चानन्तगुणवृद्धयाऽनुभागंव्यवस्थापयन् पत्योपमासङ्घयेयभागहीनमुत्तरोत्तरंस्थितिबन्धंकुर्वन् करणकालादपि पूर्वमन्तर्मुहूर्त्त विशुघ्यमानः करणत्रयं विधत्ते, तच्च प्रत्येकमान्तर्मीहूर्त्तिकं, तद्यथा–

यथाप्रवृत्तकरणमपूर्वकरणमनिवृत्तिकरणंचेति, चतुर्थ्युपशान्ताद्धा, तत्र यथाप्रवृत्तकरणे प्रतिसमयमनन्तगुणवृद्धया विशुद्धिमनुमवति, न तत्र स्थितिघातरसघातगुणश्रेणीगुण-सङ्क्रमाणामन्यतमोऽपिविद्यते, तथा द्वितीयमपूर्वकरणं, किमुक्तं भवति? -अपूर्वामपूर्वांक्रियां गच्छतीत्यपूर्वकरणं, तत्र च प्रथमसमय एव स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसङ्क्रमा अन्यश्च स्थितिबन्ध इत्येते पश्चाप्यधिकारा यौगपद्येन पूर्वम् प्रवृत्ताः प्रवर्त्तन्त इत्यपूर्वकरणं, तथाऽनिवृत्तिकरणमित्यन्योऽन्यं नातिवर्त्तन्ते परिणामा अस्मिन्नित्यनिवृत्तिकरणं, एतदुक्तं भवति-

प्रथमसमयप्रतिपन्नानां तत्करणमसुमतां सर्वेषां तुल्यः परिणामः, एवं द्वितीयादिष्वण्यायोज्यं, अत्रापि पूर्वोक्ता एव स्थितिघातादयः पञ्चाप्यधिकारा युगपद्यवर्त्तन्त इति, तत एभिस्त्रिभिरपि करणैर्यथोक्तक्रमेणानन्तानुबन्धिनः कषायानुपशमयति, उपशमनं नाम यथा धूलिरुदकेन सिक्ता द्रुघणादिभिर्हता न वाय्वादिभिः प्रसर्प्पाादिविकारभाग्भवति, एवं कर्म्मधूल्यपि विशुद्धयुद-कार्द्रीकृता अनिवृत्तिकरणक्रियाहता सत्युदयोदीरणसङ्क्रमनिधत्तनिकाचनाकरणानामयोग्या भवति, तत्रापि प्रथमसमयोपशान्तं कर्म्मदलिकं स्तोकं द्वितियादिषु समयेष्वसङ्घयेयगुण-वृद्धयोपशम्यमान- मन्तर्मुहूर्त्तेन सर्वमप्युपशान्तं भवति, एवमेकीयमतेनानन्तानुबन्धि-नामुपशमोऽभिहितः, अन्ये त्वन्तानुबन्धिनां विसंयोजनामेवाभिदधति, तद्यथा--

क्षायोपशमिकसम्यग्दृष्टयश्चर्तुर्गतिका अप्यनन्तानुबन्धिनां विसंयोजकाः, तत्र नारका देवा अविरतसम्यग्दृष्टयस्तिर्यञ्चोऽविरतदेशविरता मनुष्या अविरतदेशविरतप्रमत्ताप्रमत्ताः, एते सर्वेऽपि ययासम्भवं विशोधिविवेकेन परिणता अनन्तानुबन्धिविसंयोजनार्थं प्रागुक्तं करणत्रयकुर्वन्ति, तत्राप्यनन्तानुबन्धिनां स्थितिमपवर्त्तयत्रपवर्तयन् यावत्पल्योपमासङ्कयेयभागमात्रा तावद्विधत्ते, तत्राप्यनन्तानुबन्धिनां स्थितिमपवर्त्तयत्रपवर्तयन् यावत्पल्योपमासङ्कयेयभागमात्रा तावद्विधत्ते, तत्राप्यनन्तानुबन्धिनां स्थितिमपवर्त्तयत्रपवर्तयन् यावत्पल्योपमासङ्कयेयभागमात्रा तावद्विधत्ते, तमपि पल्योपमासङ्क्रयेयभागं बध्यमानासु मोहप्रकृतिषु प्रतिसमयं सङ्घामयति, तत्रापि प्रथमसमये स्तोकं द्वितीयादिष्वसङ्क्रयेयगुणं एवं यावद्यरमसमये सर्वसङ्क्रामेणावलिकागतं मुक्त्वा सर्वं सङ्कामयति, आवलिकागतमपि स्तिबुकसङ्क्रमेण वेद्यमानास्वपरप्रकृतिषु सङ्क्रामयति, एवमनन्तानुबन्धिनो विसंयोजिता भवन्ति ।

इदानींदर्शनत्रिकोपशमनाभण्यतेन्तत्र मिथ्यात्वस्योपशमको मिथ्याधीष्टर्वेदकसम्यग्धीष्टर्व सम्यकत्वसम्यग्मिथ्यात्वयोस्तु वेदक एवोपशमकः, तत्र मिथ्यात्वस्योपशमं कुर्वंस्तस्यान्तरं कृत्वा प्रथमास्थितिं विपाकेनानुभूयोपशान्तमिथ्यात्वः सन्नुपशमसम्यग्दृष्टिर्भवतीति । साम्प्रतं वेदकसम्यग्धीरुपशमयत्यनेन विधिना, तत्र यथाप्रवृत्तादीनि प्राग्वत्रीणि करणानि कृत्वाऽन्तरकरणं कुर्वन् वेदकसम्यकत्वस्य प्रथमस्थितिमान्तर्मोहूर्त्तिकीं करोति, इतरां त्वावलिकामात्रां, ततः किश्चिन्न्यूनमुहूर्त्तमात्रां स्थितिं खण्डयित्वा बध्यामानानां प्रकृतीनां स्थितिबन्धमात्रेण कालेन तत्कर्मदलिकं सम्यकत्वप्रथमस्थितौ प्रक्षिपन्नेत्येवमनया प्रक्रियया सम्यकत्वबन्धामावादन्तरं क्रियमाणं कृतं भवति, मिथ्यात्वसम्यग्निथ्यात्वप्रथमस्थितिदलिकमावलिकामात्रां सीणायां सम्यकत्वप्रथमस्थितौ स्तिबुकसङ्क्रमेण सङ्क्रमयति, तस्यामपि सम्यकत्वप्रथमस्थितौ क्षीणायां सत्त्यामुपशान्तदर्शनत्रिको भवतीति ।

तदजनन्तरं चारित्रमोहनीयमुपशमयन् पूर्ववत् करणत्रयं करोति, नवरं यथाप्रवृत्त-करणमप्रमत्तगुणस्थान एव भवति, द्वितीयं त्वपूर्वकरणमष्टममेव गुणस्थानकं, तस्य च प्रथमसमय एव स्थितिघातरसघातगुणश्रेणिगुणसङ्क्रमापूर्वस्थितिबन्धा यौगपद्येन पश्चाप्यधिकाराः प्रवर्त्तने, तत्रापूर्वकरणसङ्खयेयभागे गते निद्राप्रचलयोर्बन्धव्यवच्छेदो भवति, ततोऽपि बहुषु जिक्त स्थितिकण्डकसहेषु गतेषु सत्सु परभविकनाम्नां चरमसमये त्रिंशतो नाम प्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदं विद्यते, ताश्चेमाः-देवगतिस्तदानुपूर्वी पश्चेन्द्रियजातिर्वैक्रि याहारकशरीरतदङ्गोपाङ्गानि तैजर्सकार्मणशरीरे चतुरस्नसंस्थानं वर्णगन्धरसस्पर्शागुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वासप्रशस्तविहायो-गतित्रसबाद रपर्यायप्तकप्रत्येकस्थिरमशुभसुभगसुस्वरादेयनिर्म्माणतीर्थकरनामान चेति,

ततोऽपूर्वकरणचरमसमये हास्यरतिभयजुगुप्सानां बन्धव्यवच्छेदः, हास्यादिषट्कस्य तूदयव्यवच्छेदश्च, सर्वकर्म्मणामप्रशस्तोपशमनानिधत्तनिकाचनाकरणानि च व्यवच्छिदने, तदेवमसंयतसम्यग्ध्ष्टयादिष्व्वपूर्वकरणान्तेषु सप्त कर्म्माण्युपशान्तानि लभ्यन्ते, तत ऊध्यमनिवृत्तिकरणं, स च नवमो गुणः, तत्र व्यवस्थित एकविंशतीनां मोहप्रकृतीनामन्तरं कृत्वा नपुंसकवदमुपशमयति, तदनन्तरं स्त्रीवेदं, ततो हास्यादिषट्कं, पुनः पुंवेदस्य बन्धोदयव्यवच्छेदः, तत ऊर्ध्वं समयोनावलिकाद्वयेन पुंवेदोपशमः, ततः क्रोधद्वयस्य पुनः सञ्जवलनक्रोधस्यैवं मानत्रिकस्य मायात्रिकस्य च ततः सञ्जवलनलोमं सूक्ष्मखण्डानि विधत्ते, तत्करणकालचरमसमये लो मद्वयमुपशमयति, एवं चानिवृत्तिकरणान्ते सप्तविंशतिरुपशान्ता भवति, ततः सूक्ष्मखण्डान्यनुभवन् सूक्ष्मसम्परायो भवति,

तदन्ते ज्ञानान्तरायदशकदर्शनावरणचतुष्कयशःकीर्त्युच्चैर्गोत्राणां बन्धव्यवच्छेदः, तदेवमष्टाविंशतिमोहप्रकृत्युपशमे सत्युपशान्तवीतरागो भवति, स च जघन्यत एकं समयमुत्कृष्टतोऽन्तर्मुहूर्तंत, तट्यतिपातश्च भवक्षयेणाद्धाक्षयेण वा स्यात्, स च यथाऽऽरूढो बन्धादिव्यच्छेदं च यथा कृतवांस्तथैव प्रतिपतन्विधत्ते, कश्चिच्च मिथ्यात्वमपि गच्छेदिति, यत्तु भवक्षयेण प्रतिपतति तस्य प्रथमसमय एव सर्वकरणानि प्रवर्त्तन्ते, एकभव एव कश्चिद् वारद्वयमुपशमं विदध्यादिति।

साम्प्रतं क्षपकश्रेणिर्व्यावर्ण्यते-अस्याश्च मनुष्य एवाष्टवर्षोपरि वर्त्तमान आरम्भको भवति, सच प्रथममेव करणत्रयपूर्वकमनन्तानुबन्धिनो विसंयोजयति, ततः करणत्रयपूर्वकमेव मिथ्यात्वं तच्छेषं च सम्यग्मिथ्यात्वे प्रक्षिपन् क्षपयति, एवं सम्यग्मिथ्यात्वं, नवरं तच्छेषं सम्यकत्वे प्रक्षिपति, एवं सम्यकत्वमपि, तच्च रमसमये च वेदकसम्यग्ध्धिर्भवति, तत ऊर्ध्वं क्षायिकसम्यग्ध्धिरीते, एताश्च सप्तापि कर्म्पप्रकृतीरसंयतसम्पग्ध्ब्य्याद्यप्रमत्तान्ताः क्षपयन्ति, बद्धायुष्कश्चात्रैवावतिष्ठते, श्रेणिकवद्, अपरस्तुकषायाष्टकंक्षपयितुं करणत्रयपूर्वकमारभते, तत्र यथाप्रवृत्तकरणमप्रमत्तस्येव, अपूर्वकरणे तु स्थितिघातादिकं प्राग्वत्रिप्रद्विकस्य देवगत्यादीनां च त्रिंशतां हास्यादिचतुष्कस्य (च) यधाक्रमं वन्धव्यवच्छेद उपशमश्रेणिक्रमेण वक्तव्यः, अनिवृत्तिकरणे तु स्त्यानर्द्वित्रिकस्य नरकतिर्यग्गतितदानुपूर्व्येकेन्द्रियादिजातिचतुष्टयातपोद्योतस्थावरसूक्ष्मसाधारणानांषोडशप्रकृतीनां क्षयः, ततः कषायाष्टकस्यापि,

अन्येषां तु मतं-पूर्वं कषायाष्टकं क्षप्यते, पश्चात् षोडशेति, ततो नपुंसकवेदं, तदनन्तरं हास्यादिषट्कं, पुनः पुंवेदं, ततः क्रमेण क्रोधादीन् सञ्जवलनान् क्षपयति, लोमं च खण्डशः कृत्वा क्षपयति, तत्र बादरखण्डानि क्षपयन्ननिवृत्तिबादरः सूक्ष्मानि तु सूक्ष्मसम्पराय इति, तदन्ते च ज्ञानावरणीयादीनां षोडशप्रकृतीनां बन्धव्यवच्छेदं विधत्ते, ततः क्षीणमोहोऽन्तर्मुहूर्त्त स्थित्वा तदन्ते द्विचरमसमये निद्राद्वयं क्षपयति, अन्तसमये च ज्ञानान्तरायदशकदर्शनावरणचतुष्कं च क्षपयित्वा निरावरणज्ञानदर्शनसमन्वितः केवली भवति,

स च सातावेदनीयमेवैळं बध्नाति यावत्सयोग इति, स चान्तर्मुहूर्त्त देशोनां पूर्वकोटिं वा यावद्भवति, ततोऽसावन्तर्मुहूर्त्तावशेषमायुर्ज्ञात्वा वेदनीयं च प्रभूततरमतस्तयोः स्थितिसाम्या-पादनार्थं समुद्धातमेतेन क्रमेण करोति, तद्यथा-औदारिककाययोगी आलोकान्तादूर्ध्वाधः-शरीरपरिणाहप्रमाणं प्रथमसमये दण्डं करोति, पुनर्द्वितीयसमये तिरश्चीनमालोकान्तात्काय-प्रमाणमेवौदारिककार्म्मणशरीरयोगी कपाटवत्कपाटं विधत्ते, तृतीयसमये त्वपर्रदिक्तिरश्चीनमेव कार्म्मणशरीरयोगी मन्यानवन्मन्थां करोति, अनुश्रेणिगमनाद्य लोकस्य प्रायशे बहु पूरितं भवति, ततश्चतुर्थसमये कार्मणकाययोगेनैव मन्धानन्तरालव्यापनात्सह निष्कुटैर्लोकः पूरितो भवति, पुनरनेनैव क्रमेण पश्चानुपूर्व्या समुद्धातावस्यां चतुभिरिव समयैरुपसंहरंस्तद्यापारवांस्तत्तद्योगो भवति, केवलं षष्ठसमये मन्यानभपसंहरत्नौदारिकमिश्चयोगी स्यादिति,

तदेवं केवली समुद्धातं संहृत्य प्रत्यप्य च फलकादिकं ततो योगनिरोधं विधत्ते, तद्यथा-पूर्वं मनोयोगं बादरंनिरुणद्धि, पुनर्वाग्योगं काययोगं च बादरमेवेति, पुनरनेनैव क्रमेण सूक्ष्ममनोयोगं निरुणद्धि, ततः सूक्ष्मवाग्योगं निरुणद्धि, ततः सूक्ष्मकाययोगं निरुन्धन् सूक्ष्मक्रियमप्रतिपाति तृतीयं शुक्लध्यानमेदमारोहति, तन्निरोधे च व्युपरतक्रियमनिवर्त्ति चतुर्थं शुक्लध्यानमारोहति, तदारूढश्चायोगिकेवलिभावमुपगतः सन्नन्तर्मुहूर्त्त यावत्कालमजधन्योत्कृष्टमास्ते, तत्र चासौ येषां कर्म्मणामुदयो नास्ति तानि स्थितिक्षयेण क्षपयन् वेद्यमानासु चापराप्रकृतिषु सङ्क्रामयन् क्षपयंश्च तावद्गतो यावद्रिचरमसमयं,

तत्र च दिचरमसमयेदेवगतिसहगताः कर्म्प्रकृतीः क्षपयति, ताश्चेमाः-देवगतिस्तदानुपूर्वी यैक्रियाहारकशरीरतदङ्गोपाङ्गचतुष्टयमेतद्बन्धनसङ्घाताविति च, तथातत्रैवापरा इमाः क्षपयति, तद्यथा-औदारिकतैजसकार्मणानि शरीराणि एतद्बन्धनानि त्रीणि सङ्घातांश्च षट् संस्थानानि षट् संहननानि औदारिकशरीराङ्गोपाङ्गवर्णगन्धरसस्पर्शा मनुष्यानुपूर्व्यागुरुलघूपघातपराघातोच्छ्वा-सप्रशत्ताप्रशत्तविहायोगतयस्तथा ऽपर्याप्तकप्रत्येकस्थिरास्थिराशुभाशुभसुभगदुर्भगसुस्वरदुःस्वरा-नादेयायशःकीत्तिनिर्म्पाणानि तथा नीचैर्गोत्रन्यतरद्वेदनीयमिति, चरमसमये तु मनुष्यगति-पश्चेन्द्रियजातित्रसवादरपर्याप्तकसुमगादेययशः कीर्त्तिार्थकरत्वान्यतरद्वेदनीयायुष्को-द्वैर्गोत्राण्येता द्वादशतीर्थकृत्त् केषांचिन्मतेनानुपूर्वीसहितास्त्रयोदश अतीर्थकृच्च द्वदशैकादश वा क्षपयति, अशेषकर्म्पक्षयसमनन्तरमेव चास्पर्शवद्गत्या ऐकान्तिकात्यन्तिकानाबाधलक्षणं सुखमनुभवन् सिद्धाद्धयाख्यं लोकाग्रमुपैतीत्ययं गाथातात्पर्यार्थः ॥

साम्प्रतमुपसंहरंस्तीर्थक- रासेवनतः प्रपोचनतां दर्शयितुमाह-

नि. [२८४] एवं तु समणुचिन्नं वीरवरेणं महानुभावेणं। जं अणुचरित्तु धीरा सिवमचलं जन्ति निव्वाणं।।

मृ.'एवम्' उक्तविधिना भावोपधानं-ज्ञानादि तपो बा वीरवर्द्धमानस्यामिना स्वतोऽनुष्ठितमतोऽन्येनापि मुमुक्षुणैतदनुष्ठेयभिति गाथार्थः ॥ समाप्ता ब्रह्मचर्याध्ययननिर्युक्तिः साम्प्रतं सूत्रानुगमे सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्- -: अध्ययनं-९ - उद्देशक:-९ :-अहासुयं वइस्सामि जहा से समणे भगवं उडाए ।

मू. (२६५)

।हालुय वइस्साम जहां स समण भगव उड्डाए । संखाए तंसि हेमंते अहुणो पव्वइए रीइत्या ।।

**द्य**. आर्यसुधर्म्मस्वामी जम्बूस्वामिने पृच्छते कथयति, यथाश्रुतं यथासूत्रं वा वदिष्यामि, तद्यथा-स श्रमणो भगवान् वीरवर्द्धमानस्वाग्युत्थाय-उद्यतविहारं प्रतिपद्य सर्वालङ्कारं परित्यज्य पञ्चमुष्टिकं लोचं विधायैकेन देवदूष्येजेन्द्रक्षिप्तेन युक्तः कृतसामायिकप्रतिज्ञ आविर्भूतमनः-पर्यायज्ञानोऽष्टप्रकारकर्म्मक्षयार्थं तीर्यप्रवर्त्तनार्थं चोत्थाय 'संख्याय' ज्ञात्वा तस्मिन् हेमन्ते मार्गशीर्षदशम्यां प्राचीनगामिन्यां छायायां प्रव्रज्याग्रहणसमनन्तरमेव 'रीयते स्म' विजहार, तथा च किल कुण्डग्रामान्मुहूर्त्तशेषे दिवसेकर्मारग्राममाप, तत्रच भगवानित आरभ्य नानाविधाभिग्रहोपेतो घोरान् परीषहोपसर्गानधिसहमानो महासत्त्वतयाम्लेच्छानप्युपशमंनयन् द्वादश वर्षाणि साधिकानि छद्मस्यो मौनव्रती तपश्चचार, अन्न च सामायिकारोपणसमनन्तरमेव सुरपतिना भगवदुपरि देवदूष्यं चिक्षिपे, तत् भगवताऽपि निःसङ्गाभिप्रायेणैव धर्मोपकरणमृते न धर्म्मोऽनुष्ठातुं मुमुश्चुभिरपरैः शक्यत इति कारणापेक्षया मध्यस्थवृत्तिना तथैवावधारितं, न पुनस्तस्य तदुपभोगेच्छाऽस्तीति ॥

मू. (२६६) नो चेविमेण वत्थेण पिहिस्सामि तंसि हेमंते । से पारए आवकहाए, एयं ख़ु अनुघम्मियं तस्स ।।

द्रू. एतद्दर्शयितुमाह-न चैवाहमनेन वस्त्रेणेन्द्रप्रक्षितेनात्मानं पिधास्यामि-स्थगयिष्यामि तस्मिन् हेमन्ते तद्वा वस्त्रं त्वक्त्राणीकरिष्यामि, लज्जाप्रच्छादनं वा विधास्यामि, किंभूतोऽसाविति दर्शयति-'स' भगवान् प्रतिज्ञायाः परीषहाणां संसारस्य वा पारं गच्छतीति पारगः, कियन्तं कालमिति दर्शयति-यावत्कयं यावज्जीवमित्यर्थः, किमर्यं पुनरसौ बिभर्त्तीति चेद्दर्शयति-खुरवधारणे स च भिन्नक्रमः, एतद्वावज्ञाधारणं तस्य भगवत्तोऽनु-पश्चाद्धार्म्पिकमनुधार्मिकमेवेति, अपरैरपि तीर्थकृदि्मः समाचीर्णमित्यर्थः, तथा चागमः--

''से बेमि जे य अईया जे य पडुप्पन्ना जे य आगमेस्सा अरहंता भगवन्तो जे य पव्वयन्ति जे अ पव्वइस्सन्ति सव्वे ते सोवही धम्मो देसिअव्वोत्तिकट्ट तित्यधम्मयाए एसाऽणुधम्मिगति एगं देवदूसमायाए पव्वइंसु वा पव्वयंति वा पव्व इस्सन्ति व''त्ति, अपि च-

'गरीयस्त्वात्सचेलस्य, धर्म्मस्यान्यैस्तयागतैः ।

शिष्यस्य प्रत्ययाच्चैव, वस्त्रं दघ्ने न लज्जया ॥''

मू. (२६७) चत्तारि साहिए मासे बहवे पाणजाइया आगम्म । अभिरुज्झ कायं विहरिंसु, आरुसिया णं तत्य हिसिंसु ।।

ष्ट्र. इत्यादि ।। तथा भगवतः प्रव्रजतों ये दिव्याः सुगन्धिपटवासा आसंस्तद्गन्धाकृष्टाश्च भ्रमरादयः समागत्य शरीरमुपतापयन्तीति, एतद्दर्शयितुमाह-चतुरः समधिकान् मासान् बहवः प्राणिजातयो-भ्रमरादिकाः समागत्य आरुह्य च 'कायं शरीरं' 'विजहुः' काये प्रविचारं चक्रुःः, तया मांसशोणितार्थितयाऽऽरुह्य 'तत्र' काये 'ण'मिति वाक्यालङ्कारे, 'हिंसिंसु' इतश्चेतश्च विलुप्पनि स्मेत्यर्थः ।।

**मू**. (२**६८)** संवच्छरं साहियं मासं जं न रिक्वासि वत्यगं भगवं । अचेलए तओ चेइ तं वोसिज वत्यमनगारे ।। **वृ.** कियन्मात्रं कालं तद्देवदूष्यं भगवति स्थितमित्येतद्दर्शयितुमाह-तदिन्द्रोपाहितं वस्त्रं संवत्सरमेकं साधिकं मासं 'जं न रिक्वासि'ति यन्न त्यक्तवान् भगवान् तत्स्थितकल्प इतिकृत्वा, तत ऊघ्वं तद्वस्त्रपरित्यागी, व्युत्सृज्य च तदनगारो भगवानचेलोऽभूदिति, तच्च सुवर्णवालुका-नदीपूराहतकण्टकावलग्नं धिग्जातिना गृहीतमिति ।। किं च-

### मू. (२६९) अदु पोरिसिं तिरियं भित्तिं चक्खुमासज्ञ अन्तसो झायइ। अह चक्खुमीया संहिया ते हन्ता हन्ता बहवे कंदिसुं।।

**वृ.** 'अय' आनन्तर्ये पुरुषप्रमाणा पौरुषी-आत्मप्रमाणा वीथी तां गच्छन् ध्यायतीर्यासमितो गच्छति, तदेव चात्र ध्यानं यदीर्यासमितस्य गमनमिति मावः, किंभूतां तां ?-तिर्यग्मित्ति-शकटोर्द्धिवदादौ सङ्कटामग्रतो विस्तीर्णामित्यर्थः, कयं ध्यायति ?, - 'चक्षुरासाद्य' चक्षुर्दत्त्वाऽन्तः-मध्ये दत्तावधानो भूत्वेति, तं च तथा रीयमाणं धष्ट्रवाकदाचिदव्यक्तवयसः कुमारादय उपसर्गयेयुरिति दर्शयति- 'अथ' आनन्तर्ये चक्षुः शब्दोऽत्र दर्शनपर्यायो, दर्शनादेव भीता दर्शनभीताः संहिता-मिलितास्ते बहवो डिम्मादयः पांसुमुष्टयादिभिर्हत्वा हत्वा चक्रन्दुः, अपरांश्च चुक्रुशुः-पश्यत यूयं नग्नो मुण्डितः, तथा कोऽयं कुतोऽयं किमीयो वा अयमित्येवं हलबोलं चक्रुरिति।

मू. (२७०) सयणेहिं वितिमिस्सेहिं इत्थिओ तत्य से परिन्नाय। सागारियं न सेवेइ य, से सयं पवेसिया झाइ।।

**वृ.** किंच-शय्यत एष्विति शयनानि-वसतयस्तेषु कुतश्चिन्निमित्ताद्व्यतिमिश्रेषु गृहस्यतीर्थिकैः, तत्र व्यवस्थितः सन् यदि स्त्रीभिः प्रार्थ्यते ततस्ताः शुभमार्गार्गला इति ज्ञात्वा इपरिज्ञया प्रत्याख्यानपरिज्ञया परिहरन् सागारिकं-मैथुनं न सेवेत, शून्येषु च भावमैथुनं न सेवेत, इ.येवं स भगवान् स्वयम्-आत्मना वैराग्यमार्गमात्यमानं प्रवेश्य धर्म्मध्यानं शुक्लघ्यानं वा ध्यायति

## मू. (२७१) जे के इमे अगारत्या मीसीभावं पहाय से झाई। पुडो नाभिभासिंसु गच्छइ नाइवत्तइ अंजू

वृ. तथा—ये केचन इमेऽगारं-गृहं तत्र तिष्ठन्तीति अगारस्थाः-गृहस्थास्तैर्मिश्री-भावमुपगतोऽपि द्रव्यतो मावतश्च तंमिश्रीभावं प्रहाय---त्यक्त्वा स भगवान् धर्मध्यानं ध्यायति, तथा कुतश्चित्रिमित्ताद्गृहस्थैः पृष्टोऽपृष्टो वा न वक्ति, स्वकार्याय गच्छत्येव, न तैरुक्तो मोक्षपथमतिवर्त्तते ध्यानं वा, 'अंजु'त्ति ऋजुः ऋजोः संयमस्यानुष्ठानात्, नागार्जुनीयास्तु पठन्ति-'पुडो व सो अपुडो व नो अणुत्राइ पावगं भगवं' कण्ठयम्

# मू. (२७२) नो सुकरमेयमेगेसिं नाभिभासे य अभिवायमाणे । हयपुव्वे तत्य दण्डेहिं लूसियपुव्वे अप्पपुण्णेहिं ।।

वृ. किं च-नैतद्वक्ष्यमाणमुक्तं वा एकेषाम्-अन्येषां सुकरमेव, नान्यैः '' प्राकृतपुरुषैः कर्तुमलं, किं तत्तेन कृतमिति दर्शयति-अभिवादयतो नाभिभाषते, नाप्यनभिवादयद्म्धः कुप्यति, नापि प्रतिकूलोपसगैरन्ययाभावं यातीति दर्शयति - दण्डैर्हतपूर्वः 'तत्र' अनार्यदेशादौ पर्यटन् तथा 'लूषितप्रूवो' हिंसितपूर्वः केशलुञ्चनादिभिरपुण्यैः-अनार्यैः पापाचारैरिति ॥ किं च-

मू. (२७३) फरुसाइं दुत्तितिक्खाइ अइअच्च मुणी परक्कममाणे । आघायनदृगीयाइं दण्डजुद्धाइं मुडिजुद्धाइं ।। ष्ट्र. 'परुषाणि' कर्कशानि वाग्दुष्टानि तानि चापरैर्दुःखेन तितिक्ष्यन्त इति दुस्तितिक्षाणि

तान्यतिगत्य-अविगणय्य 'मुनिः' मगवान् विदितजगत्त्वभावः पराक्रममाणः सम्यक्तितिक्षते, तथा आख्यातानि च तानि नृत्यगीतानि च आख्यातनृत्यगीतानि तानि उद्दिश्य न कौतुकं विदधाति, नापि दण्डयुद्धमुष्टियुद्धान्याकर्ण्य विस्मयोत्फुल्ललोचन उद्धूषितरोमकूपो भवति, ।

मू. (२७४) गढिए मिहुकहासु समयंमि नायसुए विसोगे अदक्खु।

एयाइं से । उरालाइं गच्छइ नायपुत्ते असरणयाए ।।

**q**. तथा 'ग्रथितः' अवबद्धो 'मिथः' अन्योऽन्यं 'कथासु' स्वैरकथासु समये वा कश्चिदवबद्धस्तं स्त्रीढयं वा परस्य कथायां गृद्धमपेक्ष्य तस्मिन्नवसरे 'ज्ञातपुत्रो' भगवान् विशोको विगतहर्षश्च तान्मियःकथाऽवबद्धान् मध्यस्थोऽद्राक्षीत्, एतान्यन्यानि चानुकूलप्रतिकूलानि परीषहोपसर्गरूपाण्युरालानि दुष्प्रधृष्याणि दुःखान्यस्परन् 'गच्छति' संयमानुष्ठाने पराक्रमते, ज्ञाताः-क्षत्रियास्तेषां पुत्रः-अपत्यं ज्ञातपुत्रः-वीरवर्द्धमानस्वामी स भगवात्रैतद्दुःखस्परणाय गच्छति-पराक्रमत इति सम्बन्धः, यदिवा शरणं गृहं नात्र शरणमस्तीत्यशरणंः-संयमस्तस्मै अशरणाय पराक्रमत इति तथाहि-किमत्र चित्रं यद्भगवानपरिमितबलपराक्रमः प्रतिज्ञामन्तरमारूढः पराक्रमते इति , तथाहि-किमत्र चित्रं यद्भगवानपरिमितबलपराक्रमः प्रतिज्ञामन्तरमारूढः पराक्रमते इति , तथाहि-किमत्र चित्रं यद्भगवानपरिमितबलपराक्रमः प्रतिज्ञामन्तरमारूढः पराक्रमते इति ?, स भगवानप्रव्रजितोऽपिप्रासुकाहारानुवत्यासीत्, श्रूयते च किल पञ्चात्वमुपगते मातापितरि समाप्तप्रतिज्ञोऽभूत्, ततः प्रविव्रजिषुः ज्ञातिभिरभिहितो, यथा-मय्वस्मिन्नवसरे प्रव्रजति सति बहवो नष्टचित्ता विगतासवश्च स्युरित्यवधार्य तानुवाच–कियन्तं कालं पुनरत्र मया स्थातव्य-मिति ?, ते ऊचुः--संवत्सरढयेनास्माकं शोकापगमो भावीति, भट्टारकोऽप्योमित्सुवाच, किं त्वाहारादिकं मया स्वेच्छया कार्यं, नेच्छाविघाताय भवद्भिरुरुपस्थातव्यां, तैरपि यथाकर्याञ्चिदयं! तिष्ठत्यितिमत्वा तैः सर्वेस्तथैव प्रतिपेदे ॥

## मू. (२७५) अवि साहिए दुवे वासे सीओदं अभुद्या निक्खन्ते । एगत्तगए पिहियद्ये से अहिन्नायदंसणे सन्ते ।।

ष्ट्र. ततो भगवांस्तद्वचनमनुचर्त्त्यात्मीयं च निष्क्रमणावसरमवगम्य संसारासारतां विज्ञाय तीर्थप्रवर्त्तनायोद्यत इति दर्शयितुमाह-अपि साधिके द्वे वर्षे शीतोदकममुक्खा-अनभ्यवहत्यापीत्वेत्यर्थः, अपरा अपि पादधावनादिकाः क्रियाः प्रासुकेनैव प्रकृत्य ततो निष्क्रान्तो, यथा च प्राणातिपातं परिहतवान् एवं शेषव्रतान्यपि पालितवानिति, तथा 'एकत्व'मिति तत एकत्वभावनाभावितान्तःकरणः पिहिता-स्थगिताऽर्च्चा-क्रोधज्वाला येन स तथा, यदिवा पिहितार्ज्ञो-गुप्ततनुः स भगवान् छद्मस्थकालेऽभिज्ञातदर्शनः-सम्यकत्वभावनया भाषितः शान्तः इन्द्रियनो-इन्द्रियैः ॥ स एवंभूतो भगवान् गृहवासेऽपिसावद्यारम्पत्यागी, किंपुनः प्रव्रज्यायामितिदर्शयितुमाह-

|                      | ~ ~ ~                               |                             |              |
|----------------------|-------------------------------------|-----------------------------|--------------|
| मू. (२७६)            | ç)                                  |                             |              |
|                      | पणगाइं बीयहरियाइं तसकायं च          | र सव्वसो नद्या ।।           |              |
| मू. (२७७)            | एयाइं सन्ति पडिलेहे, चित्तमन्त      | इ से अभिन्नाय ।             |              |
|                      | परिवज्जिय विहरित्या इय संखा         | ए से महावीरे ।।             |              |
| <b>वृ.</b> श्लोकद्वय | त्याप्यसमर्थः-एतानि पृष्व्यादीनि चि | त्तमन्त्यभिज्ञाय तदारम्पं प | रिवर्जविहरति |

स्म, क्रियाकारकसम्बन्धः, तत्र पृथिवी सूक्ष्मबादरभेदेन द्विधा, सूक्ष्मा सर्वगा, बादराऽपि श्रुक्ष्णकठिनभेदेन द्विधैव, तत्र श्रुक्ष्णा शुक्लादिपञ्चवर्णा, कठिना तु पृथ्वीशर्करावालुकादि षट्रिंग्नशद्भेदा शस्त्रपरिज्ञानुसारेण द्रष्टव्या, अप्कायोऽपि सूक्ष्मबादरभेदाद्विधा, तत्र सूक्ष्मः पूर्ववतद्बदरस्तु शुद्धोदकादिभेदेन पञ्चधा, तेजःकायोऽपि पूर्ववत् नवरं बादरोऽङ्गारादि पञ्चधा, वायुरपि तथैव, नवरं बादर उत्कलिकादिभेदेन पञ्चधा, वनस्पतिरपि सूक्ष्मबादरभेदोन द्विधा, तत्र सूक्ष्मः सर्वयो बादरोऽप्यग्रमूलस्कन्धपर्वबीजसम्पूर्छनभेदात्सामान्यतः षोढा, पुनर्द्विधा-प्रत्येकः साधारणश्च, तत्र प्रत्येको वृक्षगुच्छादिभेदाद्वादशधा, साधारणस्त्वनेकविधइति, स एवं भेदभिन्नोऽपि वनस्पतिः सूक्ष्मस्य सर्वगतत्वादतीन्द्रियत्वाद्य तद्वयुदासेन बादरो भेदत्वेन संगृहीतः, तद्यथा-पनकग्रहणेन बीजाङ्कुरभावरहितस्य पनकादेरुल्यादिविशेषापन्नस्य ग्रहणं, बीजग्रहणेन त्वग्रबीजादेरुपादानं, हरितशब्देन शेषस्येत्येतानि पृथिव्यादीनि भूतानि 'सन्ति' विद्यन्त इत्येवं प्रत्युपेक्ष्य तथा 'चित्तवन्ति' सचेतनान्यभिधाय-ज्ञात्वा 'इति' एतत्सङ्ख्याय-अवगम्य् भगवानमहावीरस्तदारम्भं परिवर्ज्य विद्वतवानिति ॥

मू. (२७८) अदु थावरा य तसत्ताए, तसा य थावरत्ताए।

अदुवा संव्वजोणिया सत्ता कम्पुणा कष्पिया पुढो बाला ।।

**वृ. पृ**थिवीकायादीनां जन्तूनां त्रसस्थावरत्वेन भेदमुपदेश्य साम्प्रतमेषां परस्परतोऽ-नुगमनमप्यस्तीत्येतद्दर्शयितुमाह-'अथ' आनन्तर्ये 'स्थावराः' पृथिव्यसेजोवा- युवनस्पतयः ते 'त्रसतया' द्वीन्द्रियादितया 'विपरिणमन्ते' कर्म्मवशाद् गच्छन्ति, चशब्द उत्तरापेक्षया समुच्चयार्थः, तथा 'त्रसजीवाश्च' कृम्यादयः 'स्थावरतया' पृथिव्यादित्वेन कर्म्मनिघ्नाः समुत्पद्यन्ते, तथा चान्यत्राप्युक्तम्–

''अयण्णं भन्ते ! जीवे पुढविक्राइयत्ताए जाव तसकाइयत्ताए उववण्णपुव्वे ?, हन्ता गोअमा ! असइं अदुवाऽनंतखुत्तो जाव उववण्णपुव्वे'ति, अथवा सर्वा योनयः-उत्पत्तिस्थानानि येषां सत्त्वानां ते सर्वयोनिकाः सत्त्वाः सर्वगतिभाजः, ते च 'बाला'रागद्वेषाकलिताः स्वकृतेन कर्मणा पृथक्तया सर्वयोनिभाक्त्वेन च 'कल्पिताः' व्यवस्थिता इति, तथा चोक्तम्--

11 9 11 ''नत्थि किर सो पएसो लोए वालग्गकोडिमित्तोऽवि । जम्मणमरणाबाहा अनेगसो जत्थ नवि पत्ता ''

II २ II (अपि च) – "रङ्गभूमिर्न सा काचिच्छुद्धा जगति विद्यते । विचित्रैः कर्म्मनेपथ्यैर्यत्र सत्त्वैर्न नाटितम् " (इत्यादि)

मू. (२७९) भगवं च एवमन्नेसिं सोवहिए हु लुप्पई बाले। कम्मं च सव्वसो नद्या तं पडियाइक्खे पावगं भगवं।।

षृ. किं च-भगवांश्च-असौ वीरवर्द्धमानस्वाम्येवममन्यत-ज्ञातवान् सह उपधिना वर्त्तत इति सोपधिकः-द्रयभावोपधियुक्तः, हुरवधारणे, लुप्यत एव-कर्म्मणा क्लेशमनभवत्येव 'अज्ञो' बाल इति, यदिवा हुर्हेतौ यस्मात्सोपधिकः कम्पर्ण लुप्यते बालस्तस्मात्कर्म्म च सर्वशो ज्ञात्वा तत्कर्म्म प्रत्याख्यातवांस्तदुपादानं च पापकमनुष्ठानं भगवान् वर्द्धमानस्वामीति ।। पू. (२८०) दुविहं समिद्य मेहावी किरियमक्खायऽणेलिसं नाणी । आयाण सोयमइवाय सोयं जोगं च सव्वसो नद्या ।। **ष्ट्र.** किं च-द्वे विधे-प्रकारावस्येति द्विविधं, किं तत् ? - कर्म्म, तच्चेर्याप्रत्ययं साम्परायिकं च, तद्विविधमपि 'समेत्य' ज्ञात्वा 'मेधावी' सर्वभावज्ञः, 'क्रियां' संयमानुष्ठानरूपां कर्म्मोच्छेत्री-मनीर्धशीम् – अनन्यसर्धशीमाख्यातवान्, किंभूतो ? – ज्ञानी, केवलज्ञानवानित्यर्थः, किं चापरमाख्यातवानितिदर्शयति-आदीयते कर्म्मानेनेति आदानं-दुष्प्रणिहितमिन्द्रियमादानं च तत् स्रोतश्चादानतस्तत् ज्ञात्वा तथाऽतिपातोतश्च उपलक्षणार्थत्वादस्य मृषावादादिकमपि ज्ञात्वा तथा 'योगं च' मनोवाक्कायलक्षणं दुष्प्रणिहितं 'सर्वशः' सर्वैः प्रकारैः कर्म्मबन्धायेति ज्ञात्वा क्रियां संयमलक्षणामाख्यातवानिति सम्बन्धः ॥ किं च–

# मू. (२८९) अइवत्तियं अनाउट्टिं सयमन्नेसिं अकरणयाए । जस्सित्थिओ परिन्नाया सव्वकम्पावहा उ से अदक्खु ।।

**वृ.** आकुट्टिः—हिंसा नाकुट्टिरनाकुट्टिरहिंसेत्यर्थः, किंभूताम् ? —अतिक्रान्ता पातका-दतिपातिका-निर्दोषा तामाश्रित्य, स्वतोऽन्येषां चाकरणतया-अव्यापारतया प्रवृत्त इति, तथा यस्य स्त्रियः स्वरूपतस्तद्विपाकतश्च परिज्ञाता भवन्ति, सर्वं कर्म्मावहन्तीति सर्वकर्म्मावहाः-सर्वपापोपादानभूताः स एवाद्राक्षीत्-स एव यथावस्थितं संसारस्वभावं ज्ञातवानिति, एतदुक्तं भवति-स्त्रीस्वभावपरिज्ञानेन तत्परिहारेण च स भगवान् परमार्थदर्श्यभूदिति ।।

मू. (२८२) अहाकडं न से सेवे सव्वसो कम्पुणा य अदक्खू । जं किंचि पावगं भगवं तं अकुव्वं वियडंभुं झित्था ।।

ष्ट्र, मूलगुणानाख्यायोत्तरगुण प्रचिकटयिषुराह—'यथा' येन प्रकारेण पृष्ट्वा वाऽपृट्वा वाकृतं यथाकृतम्-आधाकम्मीदि नासौ सेवते, किमिति ? -यतः 'सर्वशः' सर्वैः प्रकारैस्तदासेवनेन कर्म्मणाऽष्टप्रकारेण बन्धमद्राक्षीत्-६ष्ट्वान्, अन्यदप्येवंजातीयकं न सेवत इति दर्शयति-यत्किश्चित्पापकं-पापोपादानकारणं तद्मगवानकुर्वन् 'विकटं' प्रासुकमभुङ्कत-उपभुक्तवान्।

मू. (२८३) नो सेवइ य परवत्थं परपाएवी से न मुझित्था । परिवज्रियाण उमाणं गच्छइ संखडिं असरणयाए ।।

**ष्ट्र.** किंच-नो सेवते च-नोपभुङ्कते च परवस्त्रं-प्रधानं वस्त्रं परस्य वा वस्त्रं परवस्त्रं नासेवते, तथा परपात्रेऽप्यसौन भुङ्कते, तथा परिवज्यार्पमानम्-अवगणय्य गच्छति असावाहाराय सङ्घण्डयन्ते प्राणिनो।ऽस्यामिति सङ्घण्डिस्तामाहारपाकस्थानभूतामशरणाय शरणमनालम्बमानोऽदीनमनस्कः कल्प इतिकृत्वा परीषहविजयार्थं गच्छतीति

मू. (२८४) मायन्ने असनपानस्स नाणुगिद्धे रसेसु अपडिन्ने । अच्छिपि नो पमज्जिज्ञा नोवि य कंडूयए मुनी गायं

**ष्ट्र.** किंच-आहारस्य मात्रां जानातीति मात्राज्ञः, कस्य ?-अश्यत इत्यशनं-शाल्योदनादि पीयत इति पानं-द्राक्षापानकादिः तस्य च, तथा नानुगृद्धो 'रसेषु' विकृतिषु, भगवतो हि गृहस्यमावेऽपि रसेषु गृद्धिरनासीत्, किं पुनः प्रव्नजितस्येति ?, तथा रसेष्वेव ग्रहणं प्रत्यप्रतिज्ञो, यथा-मयाऽद्य सिंहकेसरा मोदका एव प्राह्या इत्येवंरूपप्रतिज्ञारहितोऽन्यत्र तु कुल्माषादी सप्रतिज्ञ एव, तथाऽक्ष्यपि रजःकणुकाद्यपनयनाय नो प्रमार्जयेज्ञापि च गात्रं मुनिरसौ कण्डूयते-काष्ठादिना गात्रस्य कण्डूव्यपनोदं न विधत्त इति ।। किं च-- 

 मू. (२८५)
 अप्यं तिरियं पेहाए अप्पि पिइओ पेहाए ।

 अप्यं बुइएऽपडिमाणी पंयपेहि चरे जयमाणे ॥

 मृ. अल्पशब्दोऽभावे वर्त्तते, अल्पं तिर्यक्-तिरश्चीनं गच्छन् प्रेक्षते, तथाऽल्पं पृष्ठतः

 स्थित्वोत्येक्षते, तथा मार्गादि केनचित्पृष्टः सन्नप्रतिभाषी सन्नल्पं न्नूते, मौनेन गच्छत्येव केवलमिति

 दर्शयति-पथिप्रेक्षी 'चरेद्' गच्छेद्यतमानः-प्राणिविषये यत्नवानिति ।

 मू. (२८६)
 सिसिरंसि अद्धपडिवन्ने तं वोसिज्ञं वत्थमनगारे ।

 प्रसारितु बाहुं परक्कमे नो अवलम्बियाण कंधमि ॥

 किंच-अध्वप्रतिपन्ने शिशिरे सति तद्देवदूष्यं वस्त्रं व्युत्सृञ्यानगारो मगवान् प्रसार्य बाहू

 पराक्रमते, न तु पुनः शीतार्दितः सन् सङ्कोचयति, नापि स्कन्धेऽवलम्ब्य तिष्ठती ति ।

 मू. (२८७)
 एस विही अणुक्कन्तो माहणेण मईमया ।

 बहुसो अपडिन्नेण भगवया एवं रियंति ॥- तिबेमि

बुरा अगल्प न नवना एक रिवास गिलावना **वृ.** साम्प्रतमुपसजिहीर्षुराह-एष चर्याविधिरनन्तरोक्तोऽनुक्रान्तः-अनुचीर्णः 'माहणेण'त्ति श्रीवर्द्धमानस्वामिना 'मतिमता' विदितवेद्येन 'बहुशः' अनेकप्रकारमप्रतिज्ञेन-अनिदानेन 'भगवता' एश्वर्यादिगुणोपेतेन, 'एवम्' अनेन पथा भगवदनुचीर्णेनान्ये मुमुक्षवोऽशेषकर्म्मक्षयाय साधवो 'रीयन्ते' गच्छन्तीति । इतिरधिकारपरिसमाप्ती, ब्रवीमीति पूर्ववद् ।

अध्ययनं-९ उद्देशकः १ समाप्तः

-: अध्ययनं: ९ - उद्देशक: २ :-

**ष्ट्र.** उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीय आरम्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके भगवतश्चर्याऽभिहिता, तत्र चावश्यं कयाचिच्छय्यया-वसत्या भाव्यम-तस्तअतिपादनायायमुद्देशकः प्रक्रम्यते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादि सूत्रम्--

मू. (२८८) चरियासणाई सिजाओ एगइआओ जाओ बुइआओ। आइक्ख ताई सयणासणाई जाई सेवित्था से महावीरे

ष्ट्र. चर्यायामवश्यंभावितया यानि शय्यासनान्याभिहितानि सामर्थ्यायातानि तानि शयनासनानि-शय्याफलकादीन्याचक्ष्व सुधर्म्यस्वामी जम्बूनाम्नाऽभिहितो यानि सेवितवान् महावीरो-वर्द्धमनस्वामीति, अयं च श्लोकश्चिरन्तरनटीकाकारेण न व्याख्यतः, तत्र किं सुगमत्वादुताभावात्, सूत्रपुस्तकेषु तु दृश्यते, तदभिप्रायं च वयं न विद्म इति ॥

मू. (२८९) आवेसणसभापवासु पणियसालासु एगया वासौ । अदुवा पलियठाणेसु पलालपुञ्जेसु एगया वासो ।।

**दृ.** प्रश्नप्रतिवचनमाह-भगवतो ह्याहाराभिग्रहवत् प्रतिमाव्यतिरेकेण प्रायशो न शय्याऽभिग्रह आसीत्, नवरं यत्रैव चरमपौरुषी भवति तत्रैवानुज्ञाप्य स्थितवान्, तद्दर्शयति-आ-समन्ताद्विशन्ति यत्र तदावेशनं-शून्यगृहं सभा नाम ग्रामनगरादीनां तद्वासिलोकास्या-यिकार्थमागन्तुकशयनार्थं च कुड्याद्याकृतिः क्रियते, 'प्रपा' उदकदानस्थानम् आवेशनं च सभा च प्रपा च आवेशनसमाप्रपास्तासु, तथा 'पण्यशालासु' आपणेषु 'एकदा' कदाचिद्वासो भगवतोऽथवा 'पलिय'न्ति कर्म्म तस्य स्थानं कर्म्मस्थानं-अयस्कारवर्द्धकिकुड्यादिकं, तथा पलालपुञ्जेषु मञ्जोपरि व्यवस्थितेष्वधो, न पुनस्तेष्वेव, झुषिरत्वादिति ।। मू. (२९०) आगन्तारे आरा मागारे तह य नगरे व एगया वासो। सुसाणे सुन्नगारे वा रुक्खमूले व एगया वासो।

**मृ.** किं च-प्रसङ्गायाता आआगत्य वा यत्र तिष्ठन्ति तदागन्तारं तत्पुनर्ग्रामान्नगराद्वा बहिः स्थानं तत्र, तथा अरामेऽगारं-गृहमारामागारं तत्र वा तथा नगरे वा एकदा वासः, तथा श्मशाने शून्यागारे वा, आवेशनशून्यागारयोर्भेदः सकुड्यकृतो, वृक्षमूले वा एकदा वास इति ।।

मू. (२९९) एएहिं मुणी सयणेहिं समणे आसि पतेरसवासे । राइं दिवंपि जयमाणे अपमत्ते समाहिए झाइ ।।

**वृ.** किं च - 'एतेषु' पूर्वोक्तेषु 'शयनेषु' वसतिषु स 'मुनिः' जगत्रयवेत्ता ऋतुबद्धेषु वर्षासु वा 'श्रमणः' तपरयुद्युक्तः समना वाऽऽसीत् निश्चलमना इत्यर्थः, कियन्तं कालं यावदिति दर्शयति - 'पतेलसवासे'त्ति प्रकर्षेण त्रयोदशं वर्षं यावत्समस्तां रात्रिं दिनमपि यतमानः संयमानुष्ठान उद्युक्तवान् तथाऽप्रमत्तो-निद्रादिप्रमादरहितः 'समाहितमनाः' विस्नोतसिकारहितो धर्म्मध्यान शुक्लध्यानं वा ध्यायतीति ॥ किं च –

मू. (२९२) निद्दंपि नो पगामाए, सेवइ भगवं उड्डाए। जग्गावइ य अप्पाणं इसिं साई य अपडिन्ने।।

ष्ट्र. निद्रामप्यसावरपरप्रमादरहितो न प्रकामतः सेवते, तथा च किल भगवतो द्वादशसु संवत्सरेषु मध्येऽस्थिकग्रामे व्यन्तरोपसर्गान्ते कायोत्सर्गव्यवस्थितस्यैवान्तर्मुहूर्त्त यावत्त्वप्न-दर्शनाध्यासिनः सकृञ्चिद्राप्रमाद आसीत्, ततोऽपि चोत्यायात्मानं 'जागरयति' कुशलानुष्ठाने प्रवर्त्तयति, यत्रापीषच्छय्याऽऽसीत् तत्राप्यप्रतिज्ञः-प्रतिज्ञारहितो, न तत्रापि स्वापाभ्युपगमपूर्वकं शयति इत्यर्थः ।

मू. (२९३) संबुज्झमाणे पुनरवि आसिंसु भगवं उहाए । निक्खम्म एगया राओ बहि चंकमिया मुहत्तागं ।।

ष्ट्र. किं च-स मुनिर्निद्राप्रमादाद् व्युत्थितचित्तः 'संबुध्यमानः' संसारपातायायं प्रमाद इत्येवमवगच्छन् पुनरप्रमत्तो भगवान् संयमोत्यानेनोत्थाय यदि तत्रान्तर्व्यवस्थितस्य कुतश्चित्रिद्राप्रमादः स्यात् ततस्तस्मात्रिष्कम्यैकदा शीतकालरात्रादौ बहिश्चङ्कम्य मुहूर्त्तमात्रं निद्राप्रमादापनयनार्थं ध्याने स्थितवानिति ।

मू. (२९४) सयणेहिं तत्युवसग्गा भीमा आसी अनेगख्वा। संसप्पगा य जे पाणा अदुवा जे पक्खिणो उवचरन्ति।।

ष्ट्र. किं च-शय्यते-स्थीयते उत्कुटुकां सनादिभिर्येष्विति शयनानि-आश्रयस्थानानि तेषु तैर्वा तस्य भगवत उपसर्गा 'भीमा' भयानका आसन् अनेकरूपाश्च शीतोष्णादिरूप-तयाऽनुकूलप्रतिकूलरूपतया वा, तथा संसर्पन्तीति संसर्पकाः-शून्यगृहादावह्तिकुलादयो ये प्राणिनः 'उपचरन्ति'उप-सामीप्येन मांसादिकमश्नन्ति अथवा श्मशानादौ पक्षिणो गृध्रादय उपचरन्तीति वर्त्तते ।

# मू. (२९५) अदु कुचरा उवचरन्ति गामरक्खा य सत्तिहत्था य । अदु गामिया उवसग्गा इत्थी एगइया पुरिसा य ।।

**ष्ट्र.** किं च - 'अथ' अनन्तरं कुत्सितं चरन्तीति कुचराः-चौरपारदारिकादयस्ते च क्वचिच्छून्यगृहादौ 'उपचरन्ति' उपसर्गयन्ति, तथा ग्रामरक्षादयश्च त्रिकचत्वरादिव्यवस्थितं शक्तिकुन्तादिहस्ता उपचरन्तीति, अथ 'ग्रामिका' ग्रामघर्म्माश्रिता उपसर्गा एकाकिनः स्युः, तथाहि-काचित्स्त्री रूपदर्शनाध्युपपन्ना उपसर्गयेत्, पुरुषो वेति । किं च--

मू. (२९६) इहलोइयाइं परलोइयाईं भीमाइं अनेगरूवाइं । अवि सुब्भि दुब्भिगन्धाइं सद्दाइं अनेगरूवाइं ।।

ष्ट्र, इहलोके भवा ऐहलैकिकाः-मनुष्यकृताः केते ?- 'स्पर्शाः' दुःखविशेषा दिव्यास्तैरश्चाश्च पारलौकिकास्तानुपसर्गापादितान् दुःखविशेषानघ्यासयति-अधिसहते, यदिवा इहैव जन्मनि ये दुःखयन्ति दण्डप्रहारादयः प्रतिकूलोपसर्गास्त ऐहलौकिकाः, तद्विपर्यस्तास्तु पारलौकिकाः, 'भीमा' भयानका 'अनेकरूपाः' नानाप्रकाराः, तानेव दर्शयति-अपि सुरभिगन्धाः-स्रक्त्वन्दनादयो दुर्गन्धाः-कुथितकडेवरादयः, तथा शब्दाश्चानेकरूपा वीणावेणुमृदङ्गादिजनिताः,

मू. (२९७) अहियासए सया समिए फासाई विरूवरूवाई । अरई रई अभिभूय रीयइ माहणे अबहुवाई ।।

ष्ट्र. तथाक्रमेलकरसिताद्युत्थापितांस्तांश्चाविकृतमना 'अध्यासयति' अधिसहते, 'सदा' सर्वकालं सम्यगितः समितः-पञ्चभिः समितिभिर्युक्तः, तथा स्पर्शान् - दुःखविशेषानरतिं संयमे रतिं चोपभोगाभिष्वङ्गेऽभिभूयतिरस्कृत्य 'रीयते' संयमानुष्ठाने व्रजति, 'माहणे'त्ति पूर्ववद् 'अबहुवादी' अबहुभाषी, एकढिव्याकरणं कचित्रिमित्ते कृतवानिति भावः ।

मू. (२९८) स जणेहिं तत्य पुच्छिसु एगचरावि एगया राओ । अञ्वाहिए कसाइत्या पेहमाणे समाहिं अपडिन्ने ।

वृ. 'स' भगवानर्द्धत्रयोदश पक्षाधिकाः समा एकाकी विचरन् तत्र शून्यगृहादौ व्यवस्थितः सन् 'जनैः' लोकैः पृष्टः, तद्यया-को भवान् ? किमत्र स्थितः ? कुतस्त्यो वेत्येवं पृष्टोऽपि तूष्णींभावमभजत्, तथोपपत्याद्या अप्येकचरा-एकाकिन एकदा-कदाचिद्रात्रावह्ति वा पप्रच्छुः, अव्याहृते च भगवता कषायिताः ततो ज्ञानावृतद्यथ्यो दण्डमुष्टयादिताडनतोऽनार्यत्वमाचरन्ति, भगवांस्तुतत् समाधिं प्रेक्षमाणोधर्म्भध्यानोपगतचित्तः सन् सम्यक्तितिक्षते, किंभूतः ? - 'अप्रतिज्ञो' नास्य वैरनिर्यातनप्रतिज्ञा विद्यत इत्यप्रतिज्ञः ।

मू. (२९९) अयमंतरंसि को इत्य ? अहमंसित्ति भिक्खु आहट्ट । अयमुत्तमे से धम्मे तुसिणीए कसाइए झाइ ।

ष्ट्र. कथं ते पप्रच्छुरितिदर्शयितुमाह-अयमन्तः-मध्ये कोऽत्र व्यवस्थितः ?, एवं सङ्केतागता दुश्चारिणः पृच्छन्ति कर्म्मकरादयो वा, तत्र नित्यवासिनो दुष्प्रणिहितमानसाः पृच्छन्ति, तत्र चैवं पृच्छतामेषां भगवांस्तूष्णीभावमेव भजते, क्वचिद्वहुतरदोषापनयनाय जल्पत्यपि, कथमिति दर्शयति-अहं भिक्षुरस्मीति, एवमुक्ते यदितेऽवधारयन्ति ततस्तिष्ठत्येव, अथाभिप्रेतार्थव्याघातात् कषायिता मोहान्धाः साम्प्रतेक्षितयैवं ब्रूयः, यथा-तूर्णमस्मात्स्थानान्निर्गच्छ, ततो भगवानचियत्तावग्रह इतिकृत्वा निर्गच्छत्येव, यदिवा न निर्गच्छत्येव भगवान् किंतु सोऽयमुत्तमः प्रधानो धर्म्म आचार इतिकृत्वा स कषायितेऽपि तस्मिन् गृहस्थे तूष्णीभावव्यवस्थितो यद्भविष्यत्तया ध्यायत्येव –न ध्यानास्रच्ययते ॥ किं च --

## जंसिष्पेगे पवेयन्ति सिसिरे मारुए पवायन्ते । तंसिष्पेगे अनगारा हिमवाए निवायमेसन्ति ।।

ष्ट्र. यस्मिन् शिशिरादावप्येकेत्वक्त्राणामावतया 'प्रवेपन्ते' दन्तवीणादिसमन्विताः कम्पन्ते, यदिवा 'प्रवेदन्यन्ति' शीतजनितं दुःखरपर्शमनुभवन्ति, आर्त्तध्यानवशगा भवन्तीत्पर्यः, तस्मिश्च शिशिरे हिमकणिनि मारुते च प्रवाति सत्येके न सर्वे 'अनगाराः' तीर्थिकप्रव्रजिता हिमवाते सति शीतपीडितास्तदपनोदाय पावकं प्रज्वालयन्ति-अङ्गारशकटिकामन्वेषयन्ति, प्रावारादिकं याचन्ते, यदिवाऽनगारा इति-पार्श्वनाथतीर्थप्रव्रजिता गच्छवासिन एव शीतर्ग्रदिता निवातमेषन्ति-धङ्घशालादिकावस्तीर्वातायनादिरहिताः प्रार्थयन्ति ।

#### मू. (३०९) संघाडीओ प्रवेसिस्सामो एहा य समादहमाणा। पिहिया व सक्खामो अइदुक्खे हिमगसंफ्रासा।।

**वृ.** किंच-इह सङ्घाटीशब्देन शीतापनोदक्षमं कल्पद्ययंत्रयं वा गृहाते, ताः सङ्घाटीः शीतार्दिता वयं प्रवेक्ष्यामः, एवं शीतार्दिता अनगारा अपि विदधति, तीर्थिकप्रव्रजितास्त्वेधाः-समिधः काष्ठानीतियावद् एताश्च समादहन्तः शीतस्पर्शं सोढुं शक्ष्यामः, तथा संघाटचा वा पिहिताः-स्थगिताः कम्बलाद्यावृताशरीरा इति, किमर्थमेतत्कुर्वन्तीति दर्शयति-यतोऽतिदुःखमेतद्-अतिदुःसहमेतघदुत हिमसंस्पर्शाः-शीतस्पर्श्वदना दुःखेन सह्यन्त इतियावत ।

मू. (३०२) तंसि भगवं अपडिन्ने अहे विगडे अहीयासए । दविए निक्खम्म एगया राओ ठाइए भगवं समियाए ।।

ष्ट्र. तदेवमेवंभूते शिशिरे यथोक्तानुष्ठाननवत्सुं च स्वयूथ्येतरेष्वनगारेषु यद्भगवान् व्यघात्तद्दर्शयितुमाह – 'तस्मिन्' एवंभूते शिशिरे हिमवाते शीतस्पर्शे च सर्वंकषे 'भगवान्' ऐश्वर्यादिगुणोपेतस्तं शीतस्पर्शमध्यासयति-अधिसहते, किंभूतोऽसौ ? – 'अप्रतिज्ञो' न विद्यते निवातसतिप्रार्थनादिकाप्रतिज्ञायस्य सतया, काध्यासयति ? – 'अघोविकटे' अधः-कुड्यादिरहिते छन्नेऽप्युपरि तदभावेऽपि चेति, पुनरपि विशिनष्टि-रागद्वेषविरहाव्यभूतः कर्म्मग्रन्थिद्रावणाद्वा द्रवः-संयमः सविद्यतेयस्मासौद्रविकः, सच तथाऽध्यासयन् यद्यत्यन्तं शीतेन बाध्यते ततस्तस्मात् छन्नाष्किम्म्य बहिरेकदा-रात्रौ मुहूर्त्तमात्रं स्थित्वा पुनः प्रविश्य स भगवान् शमितया सम्यग्वा समतया वा व्यवस्थितः सन् तं शीतस्पर्शं रासभष्टान्तेन सोदुं शक्नोति-अधिसहत इति

मू. (३०३) एस विही अनुक्वंतो माहणेण मईमया । बहुसो अपडिन्नेण भगवया एवं रीयन्ति ।। –त्तिबेमि ।

यृ. एतदेवोद्देशकार्यमुपसंजिहीर्षुराह-एस विही इत्याद्यनन्तरोद्देशकवन्नेयमिति । इतिब्रवीमीतिशब्दी पूर्ववद् ।

अध्ययनं-९ उद्देशकः-२ समाप्तः

### -: अध्ययनं-९ - उद्देशकः ३ :-

ष्ट्र. उक्तो द्वितीयोद्देशकः, साम्प्रतं तृतीय आरम्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके भगवतः शय्याः प्रतिपादिताः, तासु च व्यवस्थितेन ये यथोपसर्गाः परीषहाश्च सोढास्तव्यतिपादनार्थमिदमुपक्रम्यत इत्येन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम् –

मृ. (३००)

## मू. (३०४) तणफासे सीयफासे य तेउफासे य दंसमसगे य । अहियासए सया समिए फासाइं विरूवरूवाइं ।।

**वृ.** तृणानां-कुशादीनां स्पर्शास्तृणस्पर्शाः तथा शीतस्पर्शाः तथा तेजःस्पर्शा-उष्णस्पर्शाश्चातापनादिकाले आसन् यदिवा गच्छतः किल भगवतस्तेजःकाय एवासीत्, तथ दंशमशकादयश्च, एतान् तृणस्पर्शादीन् 'विरूपरूपान्' नानाभूतान् भगवानघ्यासयति, सम्यगितः-सम्यग्भावं गतः समितिभिः समितो वेति ।

#### मू. (३०५) अह दुद्यरलाढमचारी वज्रभूमिं च सुब्मभूमिं च । पंतं सिज्ञं सेविंसु आसणगाणि चेव पंताणि ।।

ष्ट्र. किंच—'अथ' आनन्तर्येदुःखेन चयतिऽस्मिन्निति दुश्चरः स चासौ लाढश्च-जनपदविशेषो दुश्चरलाढस्तं चीर्णवान्-विह्तवान्, स च द्विरूपो-वज्रभूमिः शुम्रभूमिश्च, तं द्विरूपमपि विह्तवान्, तत्र च प्रान्तां 'शय्यां' वसतिं शून्यगृहादिकामनेकोपद्रवोपद्रुता सेवितवान्, तथा प्रान्तानि चासनानि-पांशूत्करशर्करालोष्टाद्युपचितानि च काष्ठानि च दुर्घटितान्यासेवितवानिति ।

#### मू. (३०६) लाढेहिं तस्सुवसग्गा बहुवे जाणवया लूसिंसु। अह लूहदेसिए भत्ते कुक्कुरा तत्य हिंसिंसु निवइंसु॥

**द्**र, किं च-लाढा नाम जनपदविशेषास्तेषु च दिरूपेष्वपि लाढेषु 'तस्य' मगवतो बहव उपसर्गाः प्रायशः प्रतिकूला आक्रोशश्वभक्षणाय आसन्, तानेव दर्शयति-जनपदे मवा जानपदा-अनार्याऽऽचारिणो लोकाः ते भगवन्तं लूषितवन्तो-दन्तभक्षणोल्मुकदण्डप्रहारादिभिर्जिहिंसुः, अथशब्दोऽपिशब्दार्थे, स चैवं द्रष्टव्यः, मक्तमपितत्र 'रूक्षदेश्यं' रूक्षकल्पमन्तप्रान्तमितियावत्, ते चानार्यतया प्रकृतिक्रोधनाः कर्पासाद्यमावत्वाद्य तृणप्रावरणाः सन्तो भगवति विरूपमाचरन्ति, तथा तत्र 'कुर्कुराः' श्वानस्ते च जिहिंसुः, उपरि च निपेतुरिति ।

## मू. (३०७) अप्पे जणे निवारेइ लूसणए सुणए दसमाणे । छुच्छुकारिंति आहंसि समणं कुक्कुरा दसंतुत्ति ।।

ष्ट्र. किंच-'अल्पः' स्तोकः स जनो यदि परं सहाणामेको यदिवा नास्त्येवासाविति यस्तान् शुनो लूषकान् दशतो 'निवारयति' निषेधयति, अपि तु दण्डप्रहारादिभिर्भगवन्तं हत्वा तस्रेरणाय सीत्कुर्वन्ति, कथं नामैनं श्रमणं कुर्कुराः श्वानो दशन्तु-भक्षयन्तु ?, तत्र चैवंविधे जनपदे भगवान् षण्मासावधिकालं स्थितवानिति ॥ किंच –

# मू. (३०८) एलिक्खए जणा भुज्जो बहवे वज्रभूमि फरुसासी । लडिं गहाय नालियं समणा तत्थ य विहर्रिसु ।।

**दृ.** 'इध्क्षः' पूर्वोक्तस्वभावो यत्र जनस्तं तयाभूतं जनपदं भगवान् 'भूयः' पौन-पुन्येन विह्रतवान्, तस्यां च वज्रभूमौ बहवो जनाः परुषाशिनो-रूक्षाशिनो रूक्षाशितया च प्रकृतिक्रोधनास्ततो यतिरूपमुलपलभ्य कदर्थयन्ति, ततस्तत्रान्ये श्रमणाः शाक्यादयो यष्टिं-देहप्रमाणां चतुरहुलाधिकप्रमाणां वा नालिकां गृहीत्वा श्वादिनिषेधनाय विजहुरिति । 'मू. (३०९) एवंपि तत्य विहरन्ता पुट्टपुव्वा अहेसि सुणिएहिं । संलुञ्चमाणा सुणएहिं दुच्चराणि तत्य लाढेहिं । ष्ट्र. किं च-एवमपि यष्ट्यादिकया साम्प्रया श्रमणा विहरन्तः 'स्पृष्टपूर्वा' आरब्धपूर्वाः श्वभिरासन्, तथा 'संलुच्यमाना' इतश्चेतश्च मक्ष्यमाणाः श्वभिरासन्, दुर्निवारत्वात्तेषां, 'तत्र' तेषु लाढेष्वार्यलोकानां दुःखेन चर्यन्त इति दुश्चराणि-ग्रामादीनीति ।

मू. (३१०) निहाय दण्डं पाणेहिं तं कार्य वोसञ्जमणगारे । अह गामकण्टए भगवन्ते अहिआसए अभिसमिद्या ।।

ष्ट्र. तदेवंभूतेष्वपि लाढेषु कथं भगवान् विहृतवानिति दर्शयितुमाह-प्राणिषु यो दण्डनाद्दण्डो-मनोवाक्कायादिकस्तं मगवान् 'निधाय' त्यक्त्वा, तथा तच्छरीरमप्यगारो व्युत्सृज्याथ 'ग्रामकण्टकान्' नीचवनरूक्षालापानपि भगवांस्तांस्तान् सम्यक्करणतयानिर्जरामभिसमेत्य-ज्ञात्वाऽध्यासयति-अधिकसहते ।

# मू. (३९९) नागो संगामसीसे वा पारए तत्य से महावीरे । एवंपि तत्य लाढेहिं अलद्धपुव्वोवि एगया गामो ।।

वृ. कथमधिसहत इति दृष्टान्तद्वारेण दर्शयितुमाह – 'नागो'हस्ती यथाऽसौ संग्राममूर्द्धनि परानीकं जित्वा तत्पारगो भवति, एवं भगवानपि महावीरस्तत्र लाढेषु परीषहानीकं विजित्य पारगोऽभूत्, किं च–'तत्र' लाढेषु विरलत्वाद्राग्माणां क्**वचिदेकदा वासायालव्यपूर्वी ग्रामोऽ**पि भगवता ।। किं च –

मू. (३१२) उवसंकमन्तमपडिन्नं गामंतियम्मि अप्पत्तं । पडिनिक्खमित्तु लूसिंसु एयाओ परं पलेहित्ति ।।

**मृ.** 'उपसङ्क्रमन्तं' भिक्षायै वासाय वा गच्छन्तं, किंभूतम् ? – 'अप्रतिज्ञं' नियत-निवासादिप्रतिज्ञारहितं ग्रामान्तिकं प्राप्तमप्राप्तमपि तस्माद्ग्रामाव्यतिनिर्गत्य ते जना भगवन्तमलूषिषुः, एतच्चोचुः-इतोऽपि स्थानात्परं दूरतरं स्थानं 'पर्येहि' गच्छेति ।

मू. (३९३) हयपुब्वो तत्य दण्डेण अदुवा मुहिणा अदु कुन्तफलेण । अदु लेलुणा कवालेण हन्ता हन्ता बहवे कन्दिसु ।।

ष्ट्र. किंच-तत्रग्रामादेर्बीहेर्व्यवस्थितः पूर्वं हतो हतपूर्वः, केन? – 'दण्डेनाथवामुष्टिनाऽथवा कुत्तादिफलेनाथवा लेष्टुना कपालेन-घटखर्परादिना हत्वा हत्वा बहवोऽनार्याश्चक्रन्दुः-पश्यत यूयं किंमूतोऽयमित्येवं कलकलं चक्रुः ।

मू. (३९४) मंसाणि छिंत्रपुव्वाणि उर्डभिया एगया कायं । परीसहाइं लुंचिंसु अदुवा पंसुणा उवकरिंसु ।।

ष्ट्र. किं च - मांसानि च तत्र मगवतच्छित्रपूर्वीणि एकदा कायमवष्टभ्य-आक्रम्य तथा नानाप्रकाराः प्रतिकूलपरीषहाश्च भगवन्तमलुञ्चिषुः, अथवा पांसुनाऽवकीर्णवन्त इति ।

मू. (३९५) उच्चालइय निहणिंसु अदुवा आसणाउ खलइंसु । वोसडकायपणयाऽऽसी दुक्खसहे भगवं अपडिन्ने ।।

ष्ट्र. किं च - भगवन्तमूर्ध्वमुस्सिप्य भूमौ 'निहतवन्तः' क्षिप्तवन्तः, अयवा 'आसनात्' गोदोहिकोत्कुटुकासनवीरासनादिकात् 'स्खलितवन्तो' निपातितवन्तः, भगवांस्तुपुनर्व्युत्सृष्टकायः परीषहसहनं प्रति प्रणत आसीत्, परीषहोपसर्गकृतं दुःखं सहत इति दुःखसहोभगवान्, नास्य ल्टुःखचिकित्साप्रतिज्ञा विद्यत इत्यप्रतिज्ञः ।। कथं दुःखसहो भगवानित्येतद्द ष्टन्तद्वारेण दर्शयितुमाह

#### मू. (३१६) सूरो सङ्गामसीसे वा संबुडे तत्थ से महावीरे । पडिसेवमाणे फरुसाइं अचले भगवं रीयित्था ।

वृ. यथा हि संग्रामशिरसि 'शूरः' अक्षोभ्यः परैः कुन्तादिभिर्भिद्यमानोऽपि वर्म्मणा संवृताङ्गो न भङ्गमुपयातीति, एवं स भगवान्महावीरः 'तत्र' लाढादिजनपदे परीषहानीकतुद्यमानोऽपि प्रतिसेवमानश्च 'परुषान्' दुःखविशेषान् मेरुरिवाचलो-निष्प्रकम्पो धृत्या संवृताङ्गो मगवान् 'रीयते स्म' ज्ञानदर्शनचारित्रात्मके मोक्षाध्वनि पराक्रमते स्मेति ।

मू. (३९७) एस विही अणुक्वन्तो० जाव कासवेण महेसिणा ।। तिबेमि ।

वृ. उद्देशकार्थमुपसंजिहीर्षुराह-'एस विही' त्यादि पूर्ववद्।

अध्ययनं-९-उद्देशकः-३ - समाप्तः

-: अध्ययन-९ उद्देशकः-४ :-

**वृ.** उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतंचतुर्थ आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके भगवतः परीषहोपसर्गादिसहनं प्रतिपादितं, तदिहापि रोगातङ्कपीडाचिकित्साव्युदासेन सम्यगधिसहते ततुद्पत्तौ च नितरां तपश्चरणायोद्यच्छतीत्येतव्यतिपाद्यते, तदनेन सम्बन्धेनाया-तस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम् –

## मू. (३१८) ओमोयरियं चाएइ अपुडेऽवि भगवं रोगेहिं। पुडे वा अपुडे वा नो से साइज़ई तेइच्छं।

वृ. अपि शीतोष्णदंशमशकाक्रोशताडाद्याः शक्याः परीषहाः सोढुं न पुनरवमोदरतां, भगवांस्तु पुना रोगैरस्पृष्टोऽपि वातादिक्षोभाभावेऽप्यवमौदर्यं न्यूनोदरतां शक्नोति कर्तुं, लोको हि रोगैरभिद्रुतः संस्तदुपशमनायावमोदरतां विधत्ते मगवांस्तुतदभावेऽपि विधत्त इत्यपिशब्दार्थः, अथवाऽस्पृष्टोऽपि कासश्वासादिभिर्द्रव्यरोगैः अपिशब्दात्स्पृष्टोऽप्यसद्वेदनीयादिभिर्मावरो-गैर्न्यूनोदरतां करोति, ।

अथ किं द्रव्यरोगातङ्का भगवतो न प्रादुष्ष्यन्ति येन भावरोगैः स्पृष्ट इत्युक्तं ? , तदुच्यते, भगवतो हि न प्राकृतस्येव देहजाः कासश्वासादयो भवन्ति, आगन्तुकास्तु शस्त्रप्रहारजा भवेयुः, इत्येतदेव दर्शयति-स च भगवान् स्पृष्टो वा श्वभक्षणादिभिरस्पृष्टो वा कासश्वासादिभिर्नासौ चिकित्सामभिलक्षति, न द्रव्यौषधाद्युपयोगतः पीडोपशमं प्रार्थयतीति ।

## मू. (३९९) संसोहणं च वमणं च गायव्मंगणं च सिणाणं च । संबाहणं च न से कप्पे दन्तपक्खालणं च परिन्नाए ।

**वृ.** एतदेव दर्शयितुमाह-गात्रस्य सम्यक् शोधनं संशोधनं-विरेचनं निःसोत्रादिभिः तथा वमनं मदनफळलदिभिः, चशब्द उत्तरपदसमुच्चयार्थो, गात्राभ्यङ्गनं च सहस्रपाकतैलादिभिः स्नानं चोद्वर्त्तनादिभिः संबाधनं च हस्तपादादिभिस्तस्य-भगवतो न कल्पते, तथा सर्वमेव शरीरमशुच्यात्मकमित्येवं 'परिज्ञाय' ज्ञात्वा दन्तकाष्ठादिभिर्दन्तप्रक्षालनं च न कल्पत इति ।

मू. (३२०) विरए गामधम्मेहिं रीयइ माहणे अबहुवाई। सिसिरांमि एगया भगवं छायाए झाइ आसीय। ष्ट्र किंच - 'विरतो' निवृत्तः केभ्यो ?- 'ग्रामधर्मेभ्यो' यथास्वमिन्द्रियाणां शब्दादिभ्यो विषयेभ्यो 'रीयते' संयमानुष्ठाने पराक्रमते, 'माहणे'त्ति, किंभूतो भगवान् ? असावबहुवादी, सकृद्व्याकरणभावाद्वहुशब्दोपादानम्, अन्यथा हि अवादीत्येव ब्रूयात्, तथैकदा शिशिरसमये स भगवांच्छायायां धर्म्मशुक्लध्यानध्याय्यासीच्चेति।

# मू. (३२१) आयावइ य गिम्हाणं अच्छइ उक्कुडुए अभित्तावे । अदु जाव इत्य लूहेणं ओयणमंधुकुम्पासेणं ।

**वृ.** किं च - सुब्ब्यत्ययेन सप्तम्यर्थे षष्टी, ग्रीष्मेष्वातापयति, कथमिति दर्शयति-तिष्ठत्युत्कुटुकासनोऽभितापं-तापाभिमुखमिति, 'अथ' आनन्तर्ये धर्म्माधारं देहं यापयति स्म रूक्षेण-स्लेहरहितेन केन ?-- 'ओदनमन्थुकुल्माषेण' ओदनं च-कोद्रदवीदनादि मन्थु च – बदरचूर्णादिकं कुल्माषाश्च-माषविशेषा एवोत्तरापथे धान्यविशेषभूताः पर्युषितमाषा वा सिद्धमाषा वा ओदनमन्थुकुल्माषमिति समाहारद्वन्द्वः तेनात्मानं यापयतीति सम्बन्ध इति । एतदेव कालावधिविशेषणतो दर्शयितुमाह--

## मू. (३२२) एयाणि तित्रि पडिसेवे अद्धु मासे अ जावयं भगवं । अपि इत्य एगया भगवं अद्धमासं अदुवा मासंपि ॥

**ष्ट्र.** 'एतानि' ओदनादीन्यनन्तरोक्तानि प्रतिसेवते, तानि च समाहारद्वन्द्वेन तिरोहितावयवसमुदायप्रधानेन निर्देशात्कस्यचिन्मन्दबुद्धेः स्यादारेका यथा-त्रीण्यपि समुदितानि प्रतिसेवत इति, अतस्तर्द्वयुदासाय त्रीणीत्यनया सङ्घयया निर्देश इति, त्रीणि समस्तानि व्यस्तानि वा यथालामं प्रतिसेवत इति, कियन्तं कालमिति दर्शयति-अष्टौ मासान् ऋतबद्धसंज्ञकानात्मानं अयापयद्-वर्त्तितवान् मगवानिति, तथा पानमप्यर्द्धमासमथवा मासं मगवान् पीतवान् ।

#### मू. (३२३) अवि साहिए दुवे मासे छप्पि मासे अदुवा विहरित्या । राओवराय अपडित्रे अन्नगिलायमेगया भुञ्जे ।।

**ष्ट्र.** अपि च मासद्वयमपि साधिकम् अथवा षडपि मासान् साधिकान् भगवान्पान-कमपीत्वाऽपि 'रात्रोपरात्र' मित्यहर्निशं विहृतवान्, किंभूतः ? – 'अप्रतिज्ञः' पानाभ्युपगमरहित इत्यर्थः, तथा 'अत्रगिलाय'न्ति पर्युषितं तदेकदा भुक्तवानिति ।

मू. (३२४) छड्डेण एगया भुझे अदुवा अड्डमेण दसमेणं । दुवालसमेण एगया भुझे पेहमाणे समाहिं अपडिन्ने ।।

ष्ट्र. किंच-षष्टेनैकदा भुङ्को, षष्ठं हिं नामैकस्मिन्नहन्येकमक्तं विधाय पुनर्दिनद्वयभुक्ता चतुर्येऽह्नयेकमक्तमेव विधत्ते, ततश्चाद्यन्तयोरेकमक्तदिनयोर्भक्तद्वयं मध्यदिवसयोश्च मक्तचतुष्टयमित्येवं षण्णां मक्तानां परित्यागात्षष्ठं भवति, एवं दिनादिवृद्धयाऽष्टमाद्यायोज्यमिति, अथाष्टमेन दशमेनाथवा द्वादशमेनैकदा कदाचिद्भुक्तवान्, 'समाधिं' शरीरसमाधानं 'प्रेक्षमाणः' पर्यालोचयन् न पुनर्मगवतः कथंचिद्दीर्मनस्यं समुत्पद्यते, तथाऽप्रतिज्ञः-अनिदान इति ।

मू. (३२५) नद्या णं से महावीरे नोऽविय पावगं सयमकासी । अन्नेहिं वा न कारित्या कीरंतंपि नाणुजाणित्या ।।

**वृ.** किंच-ज्ञात्वा हेयोपादेयं स महावीर: कम्प्रिरणसहिष्णुनीपि च पापकं कर्म्म स्वयमकार्षीत् न चाप्यन्थैरचीकरत् न च क्रियमाणमपरैरनुज्ञातवानिति ।। किं च –

### मू. (३२६) गामं पविसे नगरं वा घासमेसे कडं परहाए । सुविसुद्धमेसियाभगवं आयतजोगयाए सेवित्या ।।

**वृ.** ग्रामं नगरं वा प्रविश्य भगवान् ग्रासमन्वेषयते, परार्थाय कृ.तमित्युद्गमदोषरहितं, तथा सुविशुद्धमुत्पादनादोषरहितं, तथैषणादोषपरिहारेणैषित्सा--अन्वेष्य भगवानायतः--संयतो योगो-मनोवाक्कायलक्षणः आयतश्चासौ योगश्चायतयोगोज्ञानचतुष्टयेन सम्यग्योगप्रणिधान-मायतयोगस्य भाव आयतयोगता तया सम्यगाहारं शुद्धं प्रासेषणादोषपरिहारेण सेवितवानिति।

मू. (३२७) अडु वायसा दिगिंछत्ता जे अन्ने रसेसिणो सत्ता । धासेसणाए चिड्डन्ति सययं निवइए व पेहाए ।।

9. किंच-अर्थभिक्षांपर्यटतोभगवतः पथि वायसाः-काका 'दिगिछ'त्ति बुभुक्षा तयाऽ ऽत्ती बुभुक्षात्ता ये चान्ये रसैषिणः-पानार्थिनः कपोतपारापतादयः सत्त्वाः तथा ग्रासस्यैषणार्थम्-अन्येषणार्थं च ये तिष्ठन्ति तान् सततम्-अनवरतं निपतितान् भूमी 'प्रेक्ष्य' धष्ट्वा तेषां वृत्तिव्यवच्छेदं वर्जयन्मन्दमाहारार्थी पराक्रमते ।

## मू. (३२८) अदुवा माहणं च समेँ वा गामपिण्डोलगं च अतिहिं वा। सोवागमूसियारिं वा कुकुरं वावि विडियं पुरओ।।

**वृ.** किं च-अथ ब्राह्मणं लामार्थमुपस्थितं धष्ट्वा तथा श्रमणं शाक्याजीवकप-रिव्राट्तापसनिर्ग्रन्थानामन्यतमं 'ग्रामपिण्डोलक' इतिभिक्षयोदरमरणार्थं ग्राममाश्रिस्तुन्दपरिमृजो द्रमक इति, तथाऽतिथिं वा-आगन्तुकम् तथा श्वपाकं-चाण्डालं मार्जारीं वा कुकुरं वापि-श्वानं विविधं स्थितं 'पुरतः' अग्रतः

मू. (३२९) वित्तिच्छेयं वजन्तो तेसिमप्पत्तियं परिहरन्तो ।

मन्दं परक्कमे भगवं अहिंसमाणो घासमेसित्था ।।

**ष्ट्र.** समुपलभ्य तेषां वृत्तिच्छेदं वर्जयन् मनसो दुष्प्रणिधानं च वर्जयन् मन्दं-मनाकं तेषां त्रासमकुर्वन् भगवान् पराक्रमते, तथा परांश्च कुन्थुकादीन् जन्तून् अहिंसन् ग्रासमन्वेषितवा-निति || किं च –

मू. (३३०) अवि सूइयं वा सुक्र.ं वा सीयं पिंडं पुराणकुम्मासं । अदु बुक्र सं पुलागं वा लद्धे पिंडे अलद्धे दविए ।।

**वृ.** 'सूइयं'ति दध्यादिना भक्तमार्द्रीकृतमपि तथाभूतं शुष्कं वा-बल्लचनकादि शीतपिण्डं वा-पर्युषितभक्तम् तथा 'पुराणकुल्माषं वा' बहुदिवससिद्धस्थितकुल्माषं, 'बुक्क सं'ति चिरन्तनधान्यौदनं, यदिवा पुरातनसक्तुपिण्डं, यदिवा बहुदिवससम्भृतगोरसं गोधमण्डकं चेति, तथा 'पुलाकं' यवनिषअपावादि, तदेवम्भूतं पिण्डमबाप्य रागद्वेषविरहाद् द्रविको भगवान् तथाऽन्यस्मिन्नपि पिण्डे लब्धेऽलब्धे वा द्रविक एव भगवानिति, तथाहि-लब्धे पर्याप्ते शोभने वा नोत्कर्षं याति, नाप्यलब्धेऽपर्याप्तेऽशोभने वाऽऽत्मानमाहारदातारं वा जुगुप्सते ।

मू. (३३१) अवि आइ से महात्पे महावीरे आसणत्पे अकुक्रूर झाणं। उद्वं अहे तिरियं च पेहमाणे समाहिमपडित्रे।।

्षृ. किं च – तसिंगस्तथाभूत आहारे लब्ध उपभुक्तेऽलब्धे चापि ध्यायति स महावीरो,

दुष्प्रणिधानादिना नापध्यानं विधत्ते, किमवस्थो ध्यायतीति दर्शयति - आसनस्थः-उत्कुटुक-गोदोहिकावीरासनाद्यवस्थोऽकौत्कुुद्यः सन्-मुखविकारदिरहितो ध्यानं-धर्म्मशुक्लयोरन्यतर-दारोहति, किं पुनस्तन्न ध्येयं ध्यायतीति दर्शयितुमाह-ऊध्धूर्वमधस्तिर्यग्लोकस्य ये जीवपर-माण्वादिका भावा व्यवस्थितास्तन् द्रव्यपर्यायनित्यानित्यादिरूपतया ध्यायति, तथा समाधिम्-अन्तःकरणशुद्धिं घ प्रेक्षमाणोऽप्रतिज्ञो ध्यायतीति ।

### मू. (३३२) अकसाई विगयगेही य सदस्तवेसु अमुच्छइए झाई। छउमत्योऽवि परक्कममाणो न पमायं सइंपि कुव्वित्था।।

**वृ.** किं च--न कषाय्यकषायी तदुदयापादितभ्रकुट्यादिकार्यामावात्, तथा विगता गृद्धिः-गार्थ्य यस्यासौ विगतगृद्धिः, तथा.शब्दरूपादिष्विन्द्रियार्थेष्वमूच्छितो ध्यायति, मनोऽनुकूलेषु न रागमुपयाति नापीतरेषु द्वेषवशयोऽभूदिति, तथा छद्यनि-ज्ञानदर्शनावरणीयमोहनीयान्तराणात्मके तिष्ठतीति छद्रास्य इत्येवंभूतोऽपि विविधम्--अनेकप्रकारं सदनुष्ठाने पराक्र ममाणो न प्रमादं-कषायादिकं सकृदपि कृतवानिति ।

मू. (३३३) सियमेव अभिसमागम्म आयतजोगमायसोहीए । अभिनिव्युडे अमाइल्ले आवकहं भगवं समियासी ।।

**ष्ट्र.** किं च — स्वयमेव-आत्मना तत्त्वमभिसमागम्य विदितसंसारस्वभावः स्यंयबुद्धः संस्तीर्थप्रवर्त्तनायोधतवान्, तथा चोक्तम् --

॥१॥ "आदित्यादिर्विबुधविसरः सारमस्यां त्रिलोक्या-

मास्कन्दन्तं पदमनुपमं यच्छिवं त्वामुवाच ।

तीर्थं नाथो लघुभवभयच्छेदि तूर्णं विधत्स्वेत्येत-

द्वाक्यं त्वदधिगतये नो किमु स्यान्नियोगः ? ॥

इत्यादि, कथं तीर्थप्रवर्त्तनायोद्यत इति दर्शयति - 'आत्मशुद्धया' आत्मकर्म्मक्षयोपश-मोपशमक्षयलक्षणवाऽऽयतयोगं-सुप्रणिहितं मनोवाकायात्मकं विधाय विषयकषायाद्युपश-मादिभिर्निवृत्तः-शीतीभूतः, तथा अमायावी-मायारहित उपलक्षणार्थत्वादस्याक्रोधावपि द्रष्टव्यं, 'यावत्कथ'मिति यावज्जीवं मगवान् पञ्चभिः समितिभिः समितः तथा तिसृभिर्गुप्तिभिर्गुप्तश्चासीदिति

मू. (३३४) एस विही अणु० जाव कासवेण महेसिणा ।। तिबेमि ।।

ष्ट्र. श्रुतस्कन्धाध्ययनोद्देशकार्थमुपसंजिहीर्षुराह-एषः-अनन्तरोक्तः शस्त्रपरिज्ञादेरारभ्य योऽभिहितः सोऽनुक्रान्तः--अनुष्ठित आसेवनापरिज्ञया सेवितः, केन ? -श्री वर्द्धमानस्वामिना 'मतिमता' ज्ञानचतुष्टयान्वितेन बहुशः-अनेकशोऽप्रतिज्ञेन-अनिदानेन भगवता-ऐश्वर्यादि-गुणोपेतेन, अतोऽपरोऽपि मुमुक्षुनेनैव भगवदाचीर्णेन मोक्षप्रगुणेन पथाऽऽत्महितमाचरन् रीयते-पराक्रमते, इतिरधिकारपरिसमाप्ती, ब्रवीमीति सुधर्मस्वामी जम्बूस्वामिने कथयति-सोऽहं ब्रवीमि येन मया भगवद्वदनारविन्दादर्थजातं निर्यातमवधारितमिति ॥

अध्ययनं-९ उद्देशकः-४ समाप्त :

उक्तोऽनुगमः सूतरालापकनिष्मन्ननिक्षेपश्च ससूत्रस्पर्शनिर्युक्तिकः, साम्प्रतं नयाः, ते च नैगमसङ्गग्रहव्यवहारऋजुसूत्रशब्दसमभिरूढैवंभूतभेदभिन्नाः सामान्यतः सप्त, ते चान्यत्र सम्मत्यादी लक्षणतो विधानतश्च न्यक्षेणाभिहिता इति । अध्ययनं-९ समाप्तम्

इह पुनस्त एव ज्ञानक्रियानयान्तर्भावद्वारेण समासतः प्रोच्यन्ते, अधिकृताचाराङ्गस्य ज्ञानक्रियात्मकतयोभयरूपत्वात् ज्ञानक्रियाधीनत्वान्मोक्षस्य तदर्थं च शास्त्रप्रवृत्तेरिति भावः, अत्रच परस्परतः सव्यपेक्षावेव ज्ञानक्रियानयौविवक्षितकार्यसिद्धयेऽलं नान्योऽन्यनिरपेक्षावित्ये-तस्रपश्चयते, तत्र ज्ञाननयाभिप्रायोऽयम्-यथा ज्ञानमेव प्रधानं न क्रियेति, समस्तहेयोपादेयहानो-पादानप्रवृत्तेर्ज्ञानाधीनत्वात्, तथा हि-सुनिश्चितात् सम्यग्ज्ञानास्रवृत्तोऽर्थक्रियार्थी न विसंवाद्यते, तथा चोक्तम् ---

llell

''विज्ञसिः फलदा पुंसां, न क्रिया फलदा मता।

मिथ्याज्ञानात् प्रवृत्तस्य, फलासंवाददर्शनाद् ॥"

इत्यादि, संविन्निष्ठत्वाद्य विषयव्यवस्थितीनां तत्पूर्वकसकलदुःखप्रहीणत्वाद्या-न्यय्यतिरेकदर्शनाद्य ज्ञानस्य प्राधान्यं, तथाहि – ज्ञानाभावेऽनर्थपरिहाराय प्रवर्त्तमानोऽपि तत्करोति येन नितरां पतङ्गवदनर्थेन संयुज्यते, ज्ञानसद्भावे च समस्तानप्यर्थानर्थसंशयांश्च यथाशक्तिः परिहरति, तथा चागमः – 'पढमं नाणं तओ' इत्यादि, एवं तावरक्षायोपशमिकं ज्ञानमाश्चित्योक्तं, क्षायिकमप्याश्चित्त्य तदेव प्रधानं, यस्माद्भगवतः प्रणतसुरासुरमुकुट-कोटिवेदिकाङ्कितचरणयुगलपीठस्य भवाम्भोधितटस्थस्य प्रतिपन्नदीक्षस्य त्रिलोकबन्धोस्त-पश्चरणवतोऽपि न तावदपवर्गप्राप्तिः सञ्जायते यावञ्जीवाजीवाद्यखिलव स्तुपरिच्छेदरूपं यनघातिकर्म्संहतिक्षयात्केवलज्ञानंनोत्पन्नमित्यतोज्ञानमेवप्रधानमैहिकामुष्मिकफलप्राप्तिकारणं, युक्तियुक्तत्वादिति।

अधुना क्रियानयाभिप्रायोऽभिधीयते, तद्यथा-क्रियैव प्रधानमैहिकामुष्भिकफल-प्राप्तिकारणं, युक्तियुक्तत्वात्, यस्माद्दर्शितेऽपि ज्ञानेनार्थक्रियासमर्थेऽर्थे प्रमाता प्रेक्षापूर्वकारी यदि हानोपादानरूपां प्रवृत्तिक्रियां न कुर्यात् ततो ज्ञानं विफलतामियात्, तदर्थत्वात्तस्येति, यस्य हि यदर्थं प्रवृत्तिस्तत्तस्य प्रधानमित्तरद्प्रधानमिति न्यायात्, संविदात विषयव्यवस्थानस्याप्य-र्थक्रियार्थं त्वाक्रियायाः प्राधान्यम्, अन्वयव्यतिरेकावपि क्रियायां समुपलभ्येते, यत्तः-सम्यक् विकित्साविधिज्ञोऽपि यथार्थौषधावाप्तावपि उपयोगक्रियारहितो नोल्लाघतामेति, तथा चोक्तम्

II9 II "शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् । संचित्त्य तामौषधमातुरं हि, किं ज्ञानमात्रेण करोत्यरोगम् ? ।।"

II911 (तथा) ''क्रियेव फलदा पुसां, न ज्ञानं फलदं मतम्। यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत् !!''

इत्यादि, तक्रियायुक्तस्तु यथाऽभिलषितार्थभाग्भवत्यपि, कुतं इति चेत् न हि ६९८नुपपन्नं नाम, न च सकललोकप्रत्यक्षसिद्धेऽर्थेऽन्यत्यमाणान्तरं मृग्यत इति, तथाऽऽमुष्भिकफल-प्राप्त्यर्थिनाऽपि तपश्चरणादिका क्रियैव कर्तव्या, मौनीन्द्रं प्रवचनमप्येवमेव व्यवस्थितं, यत उक्तं ॥९॥ चेइयकुलगणसङ्घे आयरियाणं च पवयण सुए य। सव्वेसुऽवि तेण कयं तवसञ्जममुज्जमन्तेणं॥' इतश्चैतदेवमङ्गीकर्तव्यं, यतस्तीर्थकृदादिभिः क्रियारहितं ज्ञानमप्यफलमुक्तं, उक्तं च-॥१॥ 'सुबहुं पि सुअमधीतं किं काहि चरणविप्पहूण(मुक्र)स्त ?। अंधस्स जह पलित्ता दीवसतसहस्सकोडीवि॥'

दृशिक्रियापूर्वकक्रियाविकलत्वात्तस्येति भावः, न केवलं क्षायोपशमिकाज्ज्ञानाक्रिया प्रधाना, क्षायिकादपि, यतः सत्यपि जीवाजीवाद्यखिलवस्तुपरिच्छेदके ज्ञाने समुल्लसिते न व्युपर-तक्रियानिवर्त्तिध्यानक्रियामन्तरेण भवधारणीयकर्म्भोच्छेदः, तदच्छेदाच्च न भोक्षावाप्तिरित्यतो न ज्ञानं प्रधानं, चरणक्रियायं पुनरैहिकामुभ्भिकफलावाप्तिरित्यतः सैव प्रधानभावमनुभवतीति, तदेवं ज्ञानमृते सम्यक्रियाया अभावः, तदभावाश्च तदर्थप्रवृत्तस्य ज्ञानस्य वैफल्यम् ।

एवमादीनां युक्तीनामुभयत्राप्युपलब्धेव्यार्कुलितमतिः शिष्य पृच्छति-किमिदानीं तत्त्व-मस्तु ?, आचार्य आह-नन्वभिहितमेव विस्मरणशीलो देवानांप्रियो यथा ज्ञानक्रियानयौ परस-रसव्यपेक्षौ सकलकर्म्मकन्दोच्छेदात्मकस्य मोक्षस्य कारणभूताबिति, प्रदीप्तसमस्तनगरा-न्तर्वर्त्तिपरस्परोपकार्यो पकारकभावावाप्तानाबाधस्थानो पङ्वन्धाविवेति, तथा चोक्तम् --''संजोयसिद्धीएँ फलं वदन्ती' त्यादि, स्वतन्त्रप्रवृत्तौ तु न विवक्षितकार्यं साधयत इत्येतच्च प्रसिद्ध-मेव, यथा 'हयं नाण'मित्यादि, आगमेऽपि सर्वनयोपसंहारद्वारेणायमेवार्थोऽभिहितो, यथा -॥ भाषा 'सव्वेसिंपि नयाणं बहुविहवत्तवयं निसामेत्ता।

तं सव्वणयविसुद्धं जं चरणगुणडिओ साहू ॥ त्ति',

तदेतदाचाराङ्गं ज्ञानक्रियात्मकं अधिगतसम्यक्पथानां कुश्रुतसरित्कषायझषकुलाकुलं प्रियविप्रयोगाप्रियसंग्रयोगाद्यनेकव्यसनोपनिपातमहावर्त्त मिथ्यात्वपवनेरणोपस्थापितभय-शोकहास्यत्यरत्यादितरङ्गं विश्वसावेलाचितंव्याधिशतनक्रचक्रालयं महागम्भीररं भयजननं पश्यतां जासोत्पादकं महासंसारार्णवं साधूनामुत्तितीर्षतां तदुत्ततरणसमर्थमव्याहतं यानपात्रमिति, अतो मुमुक्षुणाऽऽत्यन्तिकैकान्तिकानाबाधं शाश्वतमनन्तमजरममरमक्षयमव्याहतं यानपात्रमिति, अतो सुमुक्षुणाऽऽत्यन्तिकैकान्तिकानाबाधं शाश्वतमनन्तमजरममरमक्षयमव्याहतं यानपात्रमिति, अतो सम्यग्दर्शनज्ञानव्रतचरणक्रियाकलापोपेतेन परमार्थपरमकार्यमनुत्तमं मोक्षस्थानं लिप्सुना समालम्बनीयमिति तदात्मकस्य ब्रह्मचर्याख्यश्रुतस्कन्धस्य निर्वृतिकुलीनश्रीशीलाचार्येण तत्त्वादित्यापरनाम्ना वाहरिसाधसहायेन कता टीका प्रगिममामेति ॥

| <b>CANA</b> AN    | भरतात्मा भारतायुत्तरुविभ कृता दोका भारतमातात ।।           |
|-------------------|---|
| 11911             | द्वासप्तत्यकेषु हि शतेषु सप्तसु गतेषु गुप्तानाम् ।        |
|                   | संवत्सरेषु मासि च माद्रपदे शुक्लपञ्चम्याम्                |
| ારતા              | शीलाचार्येण कृता गम्पूतायां स्थितेन टीकैषां।              |
|                   | सम्यगुपयुज्य शोध्यं मात्सर्यविनाकृतैरार्येः               |
| llall             | कुत्वेः ऽचारस्य मया टीकां गत्किमपि संचितं पुण्यम् ।       |
|                   | े किन्तुयाजगदिदं निर्वृतिमतुलां सदाचारम्                  |
| 11×11             | वर्णः एदमेथ वाक्यं पद्यादि च यन्मया परित्यक्तम् ।         |
|                   | तच्छोधनीयमत्र च व्यामोहः कस्य नो भवति ?                   |
|                   | प्रथम श्रुतत्त्वन्धः समाप्तः                              |
|                   | मुनिदीपरलसागरेण संशोधिता -सम्पादिता शीलाज्ञाचार्य विरचिता |
|                   | नवमअध्ययनटीका एवं प्रथम श्रुतस्कन्धस्य टीका परिसमाप्ता ॥  |
| - dura - Alin a d | Laternational Ear Drivets & Development Like Only         |

# ₽ श्रुतस्कन्धः -२ ₽

नि. [२८५] जयत्यनादिपर्यन्तमनेकगुणरत्नमृत् । न्यत्कृताशेषतीर्थेशं तीर्थं तीर्थाधिपैर्नुतम् ॥ नि. [२८६] नमः श्रीवर्द्धमानाय, सदाचारविधायिने । प्रणताशेषगीर्वाणचूडारत्नार्चितांहरे ॥

नि. [२८७]आचारमेरोर्गदितस्य लेशतः, प्रवच्मि तच्छेषिकचूलिकागतम् । आरिप्सितेऽर्थे गुणवान् कृती सदा, जायेत, निशेषमशेषितक्रियः !।

वृ. उक्तो नवब्रह्मचर्याध्ययनात्मक आचारश्रुतस्कन्धः, साम्प्रतं द्वितीयोऽग्रश्रुतस्कन्धः समारभ्यते, अस्य चायमसिसम्बन्ध- उक्तं प्रागाचारपरिमाणं प्रतिपादयता, तद्यथा ।

॥ १॥ ''नवबंभचेरमइओ अडारसपयसहस्सिओ वेओ। हवइ ये सपंचचूलो बहुबहुअयरो पयग्गेणं ''

तत्राद्ये शुरकन्धे नवब्रह्मचर्याध्ययनानि प्रतिपादितानि, तेष च न समस्तोऽपि विवक्षितोऽ-र्थोऽभिहितः अभिहितोऽपि सङ्खेपतोऽतोऽनमिहितार्थामिघानाय सङ्खेपोक्तस्य च प्रपञ्चाय तदग्रमूताश्चतस्वशूडा उक्तानुक्तार्थसङ्ग्राहिकाः प्रतिपाद्यन्ते, तदात्मकश्च द्वितीयोऽग्रश्रुतस्कन्धः इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य व्याख्या प्रतन्यते, तत्र नामस्थापने अनाधत्य द्रव्याग्रनिक्षेपार्थ निर्युक्तिकृदाह—

नि. [२८८] दव्वोगाहण आएस काल कमगणणसंचए भावे। अग्गं मावे उ पहाणबहुय उचगारओ तिविहं।।

**वृ.** तत्र द्रव्याग्रं दिधा–आगमतो नोआगमत इत्यादि भणित्वा व्यतिरिक्तंत्रिधा-सचिताचि-त्तमिश्रद्रव्यस्य वृक्षकुन्तादेर्यदग्रमिति, अवगाहनाग्रं यद्यस्य द्रव्यस्याधस्तादवगाढं तदवगाहनाग्रं, तद्यथा-मनुष्यक्षेत्रे मन्दरवर्जानां पर्वतानामुच्छ्रचतुर्भागो भूमाववगाढ इति मन्दराणां तु योजन-सहमिति, आदेशाग्रम् आदिश्यत इत्यादेशः-व्यापारनियोजना, अग्रशब्दोऽन्न परिमाणवाची, ततश्च यत्र परिममतानामादेशो दीयते तदादेशाग्रं, तद्यथा-त्रिभि पुरुषैः कर्म रयति तान् वा भोजयतीति, कालाग्रम्–अधिकमासकः, यदिवाऽग्रशब्दः परिमाणवाचकस्तत्रातीत– कालोऽ-नादिरनागतोऽनन्तः सर्वाद्धा वा, क्रमाग्रंतुक्रमेण–परिपाट्याऽग्रंक्रमाग्रं, एतद्द्रव्यादि चतुर्विधं, तत्र द्रव्याग्रमेकाणुकाद् द्वयणुंक द्वयणुकाद् त्रयणुकमित्येवमादि ।

क्षेत्राग्रम्-एकप्रदेशावगाढाद् द्विप्रदेशावगाढं, द्विप्रदेशावगाढात्रिप्रदेशावगाढमित्यादि। कालाग्रमेकसमयस्थितिकाद् द्विसमयस्थितिकं द्विसमयस्थितिकात्रिसमयस्थित्कमित्यादि, भावाग्रमेकगुणकृष्णाद्दिगुणकृष्णं द्विगुणकृष्णात्रिगुणकृष्णमित्यादि, गणनाग्रंतु सङ्ख्याधर्मस्या-नात्स्यानं, दशगुणमित्यर्थ, तद्यया–एको दश शतं सहस्रमित्यादि, सञ्चयाग्रं तु सञ्चतस्य द्रव्यस्य यदुपरि तत्सञ्चयाग्रं, यथा ताम्रोपस्करस्य सञ्चितस्योपरि शङ्घः । मावाग्रं तु त्रविधं-प्रधानाग्रं १ प्रभूताग्रम् २ उपकाराग्रं ३ च, तत्र प्रधानाग्रं सचितादि त्रिधा, सचित्तमपि द्विपदादिभेदात्रिधैव, तत्र द्विपदेषु तीर्यकरश्चतुप्पदेषु सिंहः अपदेषु कल्पवृक्ष, अचित्तं वैडूर्यादि मिश्रं तीर्यकर एवालङकृत इति, प्रभूताग्रं त्वापेक्षिकं, तद्यथा।

II 9 II ''जीवा पोग्गल समया दव्व पएसा य पञ्जवा चेव । थोवाऽनंतानंता विसेसमहिया दुवे नंता ''

अत्रचयथोत्तरमग्रं, पर्यायाग्रंतु सर्वाग्रमिति, उपकाराग्रंतुयत्पूर्वोक्तस्यविस्तरतोऽनुक्तस्य च प्रतिपादनादुपकारे वर्त्तते तद् यथा दशवैकालिकस्य चूडे, अयमेव वा श्रुतस्कन्ध आचारस्येत्यातोऽत्रोपकाराग्रेणाधिकार इति । आह च निर्युक्तिकारः--

नि. [२८९] उवयारेण उ पगयं आयारस्सेव उवरिमाइं तु। रुक्खस्स य पव्वयस्स य जह अग्गाइं तहेयाइं।।

ष्ट्र. उपकाराग्रेणात्र प्रकृतम-अधिकारः, यस्मादेतान्याचारस्यैवोपरि वर्त्तन्ते, तदुक्तविशेष-वादितया तत्संबद्धानि, यथा वृक्षपर्वतादेरग्राणीति । शेषाणि त्वग्राणि शिष्यमतिव्युत्पत्यर्थमस्य चोपकाराग्रस्य सुखप्रतिपत्त्यर्थमिति, तदुक्तम् ।।

II १ II ''उञ्चारि अस्स सरिसं जं केणइ तं परुवए विहिणा । जेणऽहिगारो तंमि उ परुविए होइ सुहगेज्झं ''

तत्रेदमिदानी वाच्यं-केनैतानि निर्यूढानि ? किमर्थ ? कुतो पेति ?, अत आह-

नि. [२९०] थेरेहिऽणुग्गहडा सीसहिअं होउ पागडत्यं च । आयाराओ अत्थो आयारंगेसु पविभत्तो ।।

ष्ट्र. 'स्थविरैः' श्रुतवृद्धैश्चतुर्दशपूर्वविद्भिर्निर्यूढानीति, किमर्थं ? शिष्यहितं भवत्विति-कृत्वाऽनुग्रहार्थ, तथाऽप्रकटोऽर्थ प्रकटो यथा स्यादित्येवमर्थं च, कुतो निर्यूढानि ?, आचारा-त्सकाशात्मस्तोऽप्पर्थ आचाराग्रेषु विस्तरेण प्रविमक्त इति ॥

साम्प्रतं यद्यस्मान्निर्यूढं तद्विभागेनाचष्ट इति-

- नि. [२९१] विइअस्स य पंचमए अड्ठमगस्स बिइयंमि उद्देसे । भणिओ पिंडो सिजा वत्यं पाउग्गहो चेव ।।
- नि. [२९२] पंचभगस्स चउत्ये इरिया वण्णिज्ञई समासेणं । छट्ठरस य पंचमए मासजायं वियाणाहि ।
- **नि. [२९३]** सत्तिक गाणि सत्तवि निञ्चूढाइं महापरित्राओ ।
  - सत्यपरित्रा भावण निञ्जूढा उ धुय विभुत्ती ॥
- नि. [२९४] आयारपकप्पो पुण पश्चक्खाणस्स तइयवत्यूओ । आयारनामधिज्ञा वीसइमा पाहुडच्छेया ।।

ष्ट्र. ब्रह्मचर्याध्ययनानां द्वितीयमध्ययनं लोकविजयाख्यं, तत्रपश्चमोद्देशक इदं सूत्रम्-''सव्वामगंधं परिन्नाय निरामगंधो परिव्वए'' तत्रामग्रहणेन हननाद्यास्तिः कोट्यो गृहीता गन्धोपादानदपरास्तिः, एताः षडप्यविशोधिकोट्यो गृहीताः, ताश्चेमाः-स्वतो हन्ति धातयति धनन्तमन्यमनुजानीते, तथा पचति पाचयति पचन्त (मन्य) मनुजानीत इति, तथा तत्रैव सूत्रम्-

''अदिस्समाणो कयविक्र एहिं''ति, अनेनापि तिम्रो-विशोधिकोट्यो गृहीताः, ताश्चेमाः-क्रीणाति क्रापयति क्रीणन्तमन्यमनुजानीते, तथाऽष्टमस्य-विमोहाध्ययनस्य द्वितीयोद्देशक इदं सूत्रम्-"भिक्खू परक्षमेञा चिट्ठेञ वा निसीएज वा तुयट्रिज वा सुसाणंसि वे"त्यादि यावद् "बहिया विहरिज्ञा तं भिक्खु गाहावती उवसंकमित्तु वएज्जा अहमाउसंतो समणा !तुब्मुहाए असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पाणाईं भूयाई जीवाई सत्ताईं समारब्म समुद्दिस्स कीयं पामिश्च'' मित्यादि, एतानि सर्वाण्यपि सूत्राण्याश्रित्यैकादश पिण्डैषणा निर्युढाः ।

तथा तस्मिन्नेव द्वितीयाध्ययने पञ्चमोद्देशके सूत्रम्- ''से वत्थं पडिग्गहं कंबलं पायपुंछणं उग्गहं च कडासण'' मिति, तत्र वस्त्रंकम्बलंपादपुञ्छनं-ग्रहणाद् वस्त्रेषणा निर्यूढा, पतद्ग्रहपदात् पात्रैषणा निर्यूढा, अवग्रह इत्येतस्मादवग्रहप्रितमा निर्यूढा, कटासनमित्येतस्मच्छय्येति, तथा पञ्चमाध्ययनावन्त्याख्यस्य चतुर्थोद्देशके सूत्रम्-''गामाणुगामं दूइञ्जमाणस्स दुञ्जयंदुप्परिक्वंतं'' इत्यादिनेर्या सङ्क्षेपेण व्यावर्णितेत्यत एव ईर्याध्ययनं निर्यूढम्, तथा षष्ठाध्ययनस्य धूताख्यस्य पञ्चमोद्देशके सूत्रम्–''आइक्खइ विहयइ किट्टइ धम्मकामी'' त्येतस्माद्भाषाजाताध्य-यनमकृष्टमित्येवं विजानीयास्त्वमिति । तथा महापरिज्ञाध्ययने सप्तोदेशकास्तेभ्यः प्रत्येकं सप्तापि सप्तैकका निर्यूढाः,

तथा शस्त्रपरिज्ञाध्ययनाद्भावना निर्यूढा, तथा धूताध्ययनस्य द्वितीयचतुर्यदिशकाभ्यां विमुक्त्यध्ययनं निर्यूढमिति, तथा 'आचारप्रकल्पः'निशीथः, स च प्रत्याख्यानपूर्वेस्य यत्त तीयं वस्तु तस्यापि यदाचाराख्यं विंशतितमं प्राभृतं ततो निर्यूढ इति । ब्रह्मचर्याध्ययनेभ्य आचाराग्राणि निर्यूढान्यतो निर्यूहनाधिकारादेव तान्यपि शस्त्रपरिज्ञाध्ययनान्निर्यूढानीति दर्शयति-

अव्वोगडो उ भणिओ सत्यपरिन्नाय दंडनिक्खेवो । नि. [२९५] सो पुण विभञ्जमाणो तहा तहा होइ नायव्वो ।।

षट्. 'अव्याकृतः' अव्यक्तोऽपरिस्फुट इतियावत् 'भणितः' प्रतिपादितः, कोडसौ ?-'दण्डनिक्षेपः' दण्डः-प्राणिपीडालक्षणस्तस्य निक्षेपः-परित्यागः संयम इत्यर्थ, सच शस्त्रपरिज्ञाया-मव्यक्तोऽभिहितो यतस्तेन पुनः विभज्यमानः अष्टस्वप्यध्ययनेष्वसावेव तथा तथा-अनेकप्रकारो ज्ञातव्यो भवतीति । कथं पुनरयं संयमः सङ्क्षेपाभिहितो विस्तार्यते य इत्याह –

नि. [२९६] एगविहो पुण सो संजमुत्ति अज्झत्यबाहिरो यदुहा। मणवयणकाय तिविहो चउव्विहो चाउजामोउ पंच य महव्वयाईं तु पंचहा राइभोअणे छट्ठा ।

### नि. [२९७]

सीलंगसहस्साणि च आयारस्सप्पवीभागा

अविरतिनिवृत्तिलक्षण एकविधः संयमः, स एवाध्यात्मिकबाह्यभेदाद् द्विधा भवति, पुनर्मनोवाक्काययोगभेदात्त्रिविधः, स ए चतुर्यामभेदाश्चतुर्धा, पुनः पञ्चमहाव्रतभेदात्पञ्चधा, रात्री- भोजन- विरतिपरिग्रहाञ्च षोढा, इत्यादिकया प्रक्रियया भिद्यमानो यावदष्टादशशीला-इसहस्रपरिमाणो भवतीति ।। किं पुनरसै संयमस्तत्र तत्र प्रवचने पञ्चमहाव्रतरूपतया मिद्यते य इत्याह--

नि. [२९८] आइक्खिउं विभइउं विम्नाउं चेव सुहतरं होइ। एएण कारणेणं महव्वया पंच पन्नत्ता ॥

**वृ.** संयमः पञ्चमहाव्रतरूपतया व्यवस्थापितः सन्नाख्यातुं विभक्तुं विज्ञातुं च सुखेनैव भवतीत्यतः कारणात्पञ्चमहाव्रतानि प्रज्ञाप्यन्ते।।एतानि च पञ्च महाव्रतानि अस्खलितानि फलवन्ति भवन्त्यतो रक्षायन्तो विधेयस्तदर्थमाह--

नि. [२९९] तेसिं च रक्खणड्डा य भावणा पंच पंच इक्रिक्ने। ता सत्यपरिन्नाए एसो अब्भितरो होइ ॥

'तेषां च' महाव्रतानामेकैकस्य तद्वृत्तिकल्पाः पश्च भावना भवन्ति, ताश्च द्वितीयाग्रश्चतस्कन्धे प्रतिपाद्यन्तेऽतोऽयं शस्त्रपरिज्ञाध्ययनाभ्यन्तरो भवतीति।साम्प्रतं चूडानां यथाखं परिमाणमाह-

# चूडा-१)

नि. [३००] जावोग्गहपडिमाओ पढमा सत्तिकगा विइअचूला। भावण विमुत्ति आयारपक्षण्या तिन्नि इअ पंच

वृ. पिण्डैषणाध्ययनादारभ्यावग्रहप्रतिमाध्ययनं यावदेतानि सप्ताध्ययनानि प्रथमा चूडा, सप्तसप्तैकका द्वितीया, भावना तृतीया, विमुक्तिश्चतुर्धी, आचारप्रकल्पो निशीथः, साच पश्चमी चूडेति।तत्र चूडाया निक्षेपो नामादि, षडिधः, नाम स्थापने क्षुण्णे, द्रव्यचूडा व्यतिरिक्ता सचित्ता कुर्कुटस्य अचित्ता मुकुटस्य चूडामणि मिश्रा मयूरस्य, क्षेत्रचूडा लोकनिष्कुटरूपा, कालचूडाऽ-धिकमासकस्वभावा, भावचूडा लियमेव, क्षायोपशमिकभाववर्त्तितलात् ।

-: चूडा - १ अध्ययनं-१ :-

इयं च सप्ताध्ययनात्मिका, तत्रांचमध्ययनं पिण्डैषणा, तस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, यावन्नामनिष्मन्ने निक्षेपे पिण्डैषणाऽध्ययनं, तस्य निक्षेपद्वारेण सर्वा पिण्डनिर्युक्तिरत्र भणनीयेति

--: चूडा - १ अध्ययनं -१ उद्देशकः १ :-

साम्प्रतं स्त्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं स्त्रमुआरणीयं, तश्चेदम्-

मू. (३३५) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडयायपडियाए अणुपविठ्ठे समाणे से जं पुण जाणिज्ञा-असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा पाणेहिं वा पणगेहिं वा बीएहिं वा हरिएहिं वा संसत्तं उम्पिस्सं सीओदएण वा ओसित्तं रयसा वा परिघासियं वा तहप्पगारं असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं अनेसणि जंति मन्नमाणे लाभेऽवि संते नो पडिग्गाहिज्ञा।

से य आहञ्च पडिग्गहे सिया से तं आयाय एगंतमवक्कमिज्ञा, एगंतमवक्कमित्ता अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अप्पंडे अप्पपाणे अप्पबीए अप्पहरिए अप्पोसे अप्पुदए अप्पुत्तिंगपण- गदगमट्टियमकडासंताणए विगिंचिय २ उम्मीसं विसोहिय २ तओ संजयामेव भुंजिज्ज वा पीइज्ज वा, जं च नो संचाइज्रा भुत्तए वा पायए वा से तमायाय एगंतमक्कमिज्जा, अहे झामधंडिलंसि वा अट्टिरासिंसि वा किट्टरासिंसि वा तुसरासिंसि वा गोमयरासिंसि वा अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिलंसि पडिलेहिय पडिलेहिय पमजिय पमजिय तओ संजयामेव परिट्ठविज्ञा **वृ.** 'से' इति मागधदेशीवचनतः प्रथमान्तो निर्देशे वर्त्तते, यः कश्चिद्भिक्षणशीलो भावभिक्षुर्मूलोत्तरगुणघारी विविधाभिग्रहरतः 'भिक्षुणी वा' साध्वी, स मावभिक्षुर्वेदनादिभिः कारणैराहारग्रहणं करोति, तानि चामूनि –

II 9 11 ''वेअण वेआवश्चे इरियट्ठाए य संजमइए । तह पाणवत्तियाए छट्ठं पुण धम्मचिंताए ''

इत्यादि, अमीषां मध्येऽन्यतमेनापि कारणेनाहारार्थी सन् गृहपति- गृहस्यस्तस्य कुलं-गृहं तदनुप्रविष्टः, किमर्थं ? - 'पिंडवायपडियाए' ति पिण्डपातो-भिक्षालाभस्तत्प्रद्धाया-अहमत्र भिक्षां लप्स्य इति, संप्रविष्टः सन् यतुनरशनादि जानीयात्, कथमिति दर्शयति-'प्राणिभि' रसजादिभि 'पनकैः' उल्लीजीवैः संसक्तं 'वीजैः' गोधूमादिभि 'हरितैः' दूर्वाऽङकुरादिभि 'उन्मिश्रं' शबलीभूतं, तथा शीतोदकेन वा 'अवसिक्तम्' आद्रीकृतं 'रजसा वा' सचित्तेन 'परिधासियं' ति परिगुण्डितं, कियद्वा वक्ष्यति ? 'तयाप्रकारम्' एवंजातीयमशुद्धमशनादि चतुर्विधमप्याहारं 'परहस्ते' दातृहस्ते परपात्रे वा स्थितम् 'अप्रासुकं' सचित्तम् 'अनेषणीयम्' आधाकर्मादिदोषदुष्टम् 'इति' एवं मन्यमानः 'स' भावभिक्षु सत्यपि लाभे न प्रतिगृह्लीयादित्युत्सर्गतः,

अपनादतस्तु द्रव्यादि ज्ञात्वा प्रतिगृह्णीयादपि, तत्र द्रव्यं दुर्लभद्रव्यं क्षेत्रं साधारण द्रव्य-लागरहितं सरजस्कादिभावितं वा कालो दुर्भिक्षादि भावो ग्लानतादि, इत्यादिभि कारणैरु-पस्थितैरल्पबहुत्वं पर्यालोच्य गीतार्थो गृह्णीयादिति । अथ कथञ्चिदनाभोगा त्संसक्तमागा-मिसत्त्वोन्मिश्चं वा गृहीतं तत्र विधिमाह 'से आहञ्चे' त्यादि स च भावभिक्षु 'आहन्धे'ति सहसा संसक्तादिकमाहारजातं कदाचिदनाभोगाठ्यतिगृह्णीयात्, स चानाभोगो दातृप्रतिगृहीतृपद-द्वयाद्यतुर्धा योजनीय इति, 'तम्' एवंमूतमशुद्धमाहारमादायैकान्तम् 'अपक्रामेत्' गच्छेत्, तं 'अपक्रम्य, गत्वेति ।

यत्र सागारिकाणामनालोकमसम्पातं च भवति तदेकान्तमनेकधेति दर्शयति अथारामे वा अथोपाश्रये वा अधशब्दोऽनापातविशिष्टप्रदेशोपसङ्ग्रहार्य, वाशब्दो विकल्पार्थ शून्य-गृहाद्युपसङग्रहार्थो वा, तद्विशिनष्टि-'अल्पाण्डे' अल्पशब्दोडमाववचनः, अपगताण्ड इत्यर्थ, एवमल्पबीजेऽल्पहरिते 'अल्पावश्याये' अवश्याय उदकसूक्ष्मतुषारः, अल्पोदके, तथा 'अल्पो तिङ्गपनकदगमृत्तिकाम-र्कटसन्तानके' तत्रोत्तिङ्गस्तृणाग्रउदकबिन्दुः, मुझीतेत्युत्तरक्रियया सम्बन्ध पनकः-उल्लीविशेषः, उदकप्रधाना मृत्तिका उदकमृत्तिकेति, मर्कटः-सूक्ष्मजीवविशेषस्तेषां सन्तानः, यदिवा मर्कटकसन्तानः-कोलियकः, तदेवमण्डादिदोषरहिते आरामादिके स्थण्डिले गत्वा प्राग्गृहीताहारस्य यत्तांसक्त्ततद् 'विविच्य विविच्य' त्यक्त्वा त्यक्त्वा, क्रियाऽभ्यावृत्त्याऽशुद्धस्य परित्यागनिशेष-तामाह, 'उन्मिश्रं वा' आगामुकसत्त्वसंवलितं सक्तुकादिततः प्राणिनः 'विशोध्य विशोध्य' अपनीयापनीय 'ततः' तदन्तरं शेषं शुद्धं परिज्ञाय सम्यग्यत एव भुञ्जीत पिबेद्वा रागद्वेषविप्रमुक्तः सत्रिति, उक्तञ्च –

| แรแ     | ''बायालीसेसणसंकडंमि गहणंमि जीव ! ण हु छलिओ । |
|---------|--|
|         | इर्णिह जह न छलिज्रसि मुंजंतो रागदोसेहिं      |
| 11 R 11 | रागेण सइंगालं दोसेण संघूमगं वियाणाहि ।       |
|         | रागद्दोसविमुब भुंजेज्ञा निजरापेही ''         |

यञ्चाहारादिकं पातुं मोक्तुं वा न शक्नुयायाचुर्यादशुद्ध पृथक्करणासम्भवाद्वा स भिक्षु 'तद्' आहारजातमादायैकान्तमपक्रामेत, अपक्रम्य च तदाहारजातं 'परिष्ठापयेत् 'त्यजेदिति सम्बन्धः, यत्र च परिष्ठापयेत्तद्दर्शयति-'अथ' आनन्तर्यार्ये वाशब्द उत्तरापेक्षया विकल्पार्थः 'झामे' ति दग्धं तस्मिन् वा स्यण्डिलेऽस्थिराशौ वा किट्टो-लोहादिमलस्तद्राशौ वा तुषराशौ वा गोमयराशौ वा, कियद्वा वक्ष्यते इत्युपसंहरति-अन्यतरराशौ वा 'तयाप्रकारे' पूर्वसध्शे प्रासुके स्यण्डिले गत्वा तत् प्रत्युपेक्ष्य प्रत्युपेक्ष्य अक्ष्णा प्रमृज्य २ रजोहरणादिना, अत्रापि दिर्वचनमादर-ख्यापनार्थमिति, प्रत्युपेक्ष्य प्रत्युपेक्ष्य अक्ष्णा प्रमृज्य २ रजोहरणादिना, अत्रापि दिर्वचनमादर-ख्यापनार्थमिति, प्रत्युपेक्षप्रमार्जनपद्याभ्यां सप्त मङ्गका भवन्ति, तद्यथा।अप्रत्युपेक्षितमप्रमार्जितम् १, अप्रत्युपेक्षितं प्रमार्जितं २, प्रत्युपेक्षितमप्रमार्जितं ३, तत्राप्यपर्युपेक्ष्य प्रमृजन् स्थानात्स्थान-सङक्र मणेन त्रसान् विराधयति, प्रत्युपेक्ष्याप्रप्रमृजन्नागन्तुकपृथ्वीकायादीन् विराधयतीति, चतुर्थमङ्गके तु चत्वारोऽमी, तद्यथा-दुष्प्रत्युपेक्षितं दुष्प्रमार्जितं ४, दुष्प्रत्युपेक्षितं सुप्रमार्जितं ५, सुप्रत्युपेक्षितं दुष्प्रमार्जित ६, सुप्रत्युपेक्षतं सुप्रमार्जितमिति७, स्थापना। तत्रैवंभूते सप्तभमङ्गायाते स्थण्डिले 'संयत एव' सम्यगुपयुक्त एव शुद्धाशुद्धपुञ्जमागपरिकल्पनया 'परिष्ठापयेत्' ॥

साम्प्रतमीषधि- विषयं विधिमाह--

"मू. (३३६)" से भिक्खू वा भिक्खूणी चा गाहावइ जाव पविष्ठे समाणे से जाओ पुण ओसहीओ जाणिज्ञा-कसिणाओ सासि**वाण**ा अविदलकडाओ आतेरिच्छच्छिन्नाओ अवुच्छिन्नाओ तरुणियं वा छिवार्डि अणभिक्कंतभञ्जियं पेहाए अफासुयं अणेसणिञ्जंति मन्नमाणे लाभे संते नो पडिग्गाहिज्ञा।। से भिक्खू वा० जाव पविष्ठे समाणे से जाओ पुण ओसहीओ जाणिज्ञा-अकसिणाओ असासियाओ विदलकडाओ तिरिच्छच्छिन्नाओ वुच्छिन्नाओ तरुणियं वा छिवार्डि अभिक्कंतं मञ्जियं पेहाए फासुयं एसणिज्ञंति मन्नमाणे लाभे संते पडिग्गाहिज्ञा।।

ष्ट्र. स भावभिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्याः पुनः ''औषधीः'' शालिबीजादिकाः एवंभूता जानीयात्, तद्यया-'कसिणाओ'ति 'कृत्स्नाः' सम्पूर्णा अनुपहताः, अत्र च द्रव्यभावाभ्यां चतुर्भङ्गिका, तत्र द्रव्यकृत्स्ना अशस्त्रोपहताः, भावकृत्स्नाः सचित्ताः, तत्र कृत्स्ना इत्यनेन चतुर्भङ्गकेष्वाद्यं भङ्गत्रयमुपात्तं, 'सासियाओ' ति, जीवस्य स्वाम्-आत्मीयामुत्पत्तिं प्रत्याश्रयो यासु ताः स्वाश्रयाः, अविनध्योनय इत्यर्थ, आगमे च कासाश्चिदौषधीनामविनष्टो योनिकालः पठ्यते, तदुक्तम्-''एतेसिणं भंते ! सीलाणं केवइअंकालं जोणी संचिद्वइ?'' इत्याद्यालापकाः

'अविदलकडाओ'ति न द्विदलकृताः अद्विदलकृताः, अनूर्ध्वपाटिता इत्यर्थः 'अतिरिच्छ-च्छिन्नाओ'ति तिरश्चीनं छिन्नाः- कन्दलीकृतास्तस्रतिषेधादतिरश्चीनच्छिन्नाः, एताश्च द्रव्यतः कृत्स्ना भावतो भाज्याः, 'अव्वोच्छिन्नाओ' ति व्यवच्छिन्ना-जीवरहिता न व्यवच्छिन्नाः अव्यवच्छिन्नाः, भावतः कृत्स्ना इत्यर्थ, तथा 'तरुणियं वा छिवाडिं'ति, 'तरुणीम्' अपरिपक्वां 'छिवाडि' न्ति मुद्गादेः फलिं, तामेव विशिनष्टि-'अनभिक्वंतभज्जिय' न्ति, नाभिक्रान्ता जीविताद् अनभिक्रान्ता, सचेतनेत्यर्थ, 'अभज्जियं' अभग्नाम्-अमर्दितामविराधितामित्यर्थ, इति 'प्रेक्ष्य' धष्ट्वा तदेवंभूत-माहारजातमप्रासुकमनेषणीयं वा मन्यमानो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात ।

साम्प्रतमेतदेव सूत्रं विपर्ययेणाह—स एव भावभिक्षुर्याः पुनरौषधीरेवं जानीयात्, तद्यथा-'अकृत्स्नाः' असम्पूर्णा द्रव्यतो भावतश्च पूर्ववद्यर्चः 'अस्वाश्रयाः' विनष्टयोनयः, 'द्विदलकृताः' उर्ध्वपाटिताः 'तिरश्चीनच्छिन्नाः' कन्दलीकृताः तथा तरुणिकां वा फलीं जीवितादपक्रान्तां भग्नां चेति, तदेवंभूतमाहारजातं प्रासुकमेषणीयं च मन्यमानो लाभे सति कारणे गृह्लीयादिति । ग्राह्याग्राह्याधिकार एवाहार विशेषमधिकृत्याह-

मू. (३३७) से भिक्खू वा० जाव समाणे से जं पुण जाणिज्ञा-पिहुयं बहुरयं वा भुंजियं वा मंयुं वा चाउलं वा चाउलपलंबं वा सइं संभज्जियं सफासुयं जाव नो पडिगाहिज्ञा ।। से भिक्खू वा० जाव समाणे से जं पुण जाणिज्ञा-पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा असइं भज्जियं दुक्खुत्तो वा तिक्खुत्तो वा भज्जियं फासुयं एसणिज्ञं जाव पडिगाहिज्जा ।।

ष्ट्र. स भावभिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् इत्यादि पूर्ववद्यावत् 'पिहुयं व'त्ति पृथुकं जातावेकवचनं नवस्य शालिव्रीह्यादेरग्ना ये लाजाः क्रियन्ते त इति, बहु रजः— तुषादिकं यसिंगस्तद्बहुरजः, 'भुज़िय'न्ति अग्न्यर्द्धपक्वंगोधूमादेः शीर्षकमन्यद्वा तिलगोधूमादि, तथा गोधूमादेः 'मन्धुं' चूर्णं तथा 'चाउलाः' तन्दुलाः शालिव्रीह्यादेः त एव चूर्णीकृतास्तत्कणिका वा चाउलपलंबंति, तदेवंभूतं पृथुकाद्याहारजातं।

सकृद्एकवारं 'संभज़ियं' तिआमर्दितं किञ्चिदग्निना किञ्चिदपरशस्त्रेणाप्रासुकमनेषणीयं मन्यमानो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात् । एतद्विपरीतं ग्राह्यमित्याह-पूर्ववत्, नवरं यदसकृद्-अनेकशोऽग्यादिना पक्वमामर्दितं वा दुष्पक्वादिदोषरहितं प्रासुकं मन्यमानो लाभे सति गृहणीयादिति।।साम्प्रतं गृहपतिकुलप्रवेशविधिमाह-

मू. (३३८) से भिक्खू वा भिक्खूणी वा गाहावइकुलं जाव पविसिउकामे नो अन्नउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ वा अप्परिहारिएणं सद्धिं गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसिज वा निक्खमिज वा ।। से भिक्खू वा० बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमि वा निक्खममाणे वा पविसमाणे वा नो अन्नउत्थिएण वा गारत्थिएण वा परिहारिओ वा अपरिहारिएण सद्धिं बहिया वियारभूमिं वा विहारभूमिं वा निक्खमिज वा पविसिज वा ।। से भिक्खू वा गामाणुगामं दूइज़माणे नो अन्नउत्थिएण वा जाव गामाणुगामं दूइजिजा ।।

**दृ**. स भिक्षुर्यावद्गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकाम एभिर्वक्ष्यमाणैः सार्ख्र न प्रविशेत् प्राक् प्रविष्टो वा न निष्क्रामेदिति सम्बन्धः । यैः सह न प्रवेष्टव्यंतान् स्वनामग्राहमाह-तन्नान्यतीर्थिकाः-सरजस्का-दयः 'गृहस्याः' पिण्डोपजीविनो धिग्जातिप्रभृतयः, तैः सह प्रविशताममी दोषाः, तद्यया-ते पृष्ठतो वा गच्छेयुरग्रतो वा, तन्नाग्रतो गच्छन्तो यदि साध्वनुवृत्त्या गच्छेयुस्ततस्तऌत ईर्याप्रत्ययः कर्मबन्धः प्रवचनलाघवं च, तेषां वा स्वजात्याद्युत्कर्ष इति, अथ पृष्ठतस्ततस्तऌत्त ईर्याप्रत्ययः कर्मबन्धः प्रवचनलाघवं च, तेषां वा स्वजात्याद्युत्कर्ष इति, अथ पृष्ठतस्ततस्तऌर्द्धेषो दातुर्वाऽ-भद्रकस्य, लाभं च दाता संविभज्य दद्यात्तेनावमौदर्यादौ दुर्भिक्षादौ प्राणवृत्तिर्न स्यादित्येवमादयो दोषाः, तथा परिहरणं-परिहारस्तेन चरति पारिहारिकः-पिण्डदोषपरिहरणादुद्युक्तविहारी साधुरित्यर्थ स एवंगुणकलितं साधुः 'अपरिहारिकेण' पार्श्वस्थावसन्नकुशीलसंसक्तयथाच्छन्दरूपेण नप्रविशेत्, तेन सह प्रविष्ठा नामनेषणीय मिक्षाग्रहणाग्रहण कृता दोषाः, तथहि– अनेषणीयग्रहणे

तत्प्रवृत्तिरनुज्ञाता भवति, अग्रहणे तैः सहा सङ्खडादयो दोषाः, तत एतान् दोषान् ज्ञात्वा साधुर्गृहपतिकुलंपिण्डपा-तप्रतिज्ञया तैः सह न प्रविशेत्रापि निष्कामेदिति॥ तैः सह प्रसङ्गतोडन्य त्रापि गमन प्रतिषेमाह– स भिक्नुर्बहि 'विचारभूमिं' सज्ज्ञाञाव्युत्सर्गभूमिं तथा 'विहारभूमि' स्वाघ्यायभूमिं तैरन्यतीर्थिकदिभिः सह दोषसम्भवान्न प्रविशेदिति सम्बन्धः, तथाहि-विचारभूमौ प्रासुकोदक-स्वच्छास्वच्छबह्बल्पनिर्लेपनकृतोपधातसद्भावाद, विहारभूमौ वा सिद्धान्तालापकविकत्यन-मयात्सेहाद्यसहिष्णुकलहसम्भवाञ्च साधुरतां तैः सह न प्रविशेन्नापि ततो निष्कामेदिति । तथा-स भिक्षुर्ग्रामाद्ग्रामो ग्रामान्तरमुपलक्षणार्थत्वान्नगरादिकमपि 'दूइज्जमाणो' ति गच्छन्नेभिरन्यती-र्थिकादिभि सह दोषसम्भवान्न गच्छेत्, तथाहि-कायिक्यादिनिरोधे सत्यात्मविराधना, व्युत्सर्गे च प्रासुकाप्रासुकग्रहणादावुपधातसंयमविराधने भवतः, एवं मोजनेऽपि दोषसम्भवो मावनीयः सेहादिविप्रतारणादिदोषश्चेति । साम्प्रतं तद्दानप्रतिषेधार्थमाह–

मू. (३३९) से मिक्खू वा मिक्खूणी वा जाव पविष्ठे समाणे नो अन्नउत्वियस्स वा गारत्थियस्स वा परिहारिओ वा अपरिहारियस्स असणं वा पाणं वा खाइमं वा साइमं वा दिज्जा वा अनुपड्जा वा ।।

ष्ट्र स भिक्षुर्यावद्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सञ्चपलक्षणत्वादुपाश्रयस्थो वा तेभ्योडन्य-तीर्थिकादिभ्यो दोषसन्भवादशनादिकं ४ न दद्यात् स्वतो न प्यनुप्रदापयेदपरेण गृहस्थादिनेति, तथाहि-तेभ्यो दीयमानं ध्ष्ट्वाा लोकोऽभिमन्यते-एते ह्येवंशिधानामपि दक्षिणार्हा, अपि च-तदुपष्टम्भादसंयमप्रवर्त्तनादयो दोषो जायन्त इति।

पिण्डाधिकार एवानेषणीयविशेषप्रतिषेधमधिकृत्याह-

मू. (३४०) से भिक्खू वा० जाव समाणे असणं वा ४ असिंपडियाए एगं साहम्भियं समुद्दिस्त पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं समारब्म समुद्दिस्स कीयं पाभिन्नं अच्छिजं अणिसहं अभिहडं आहट्ट वेएइ, तं तहप्पगारं असणं वा ४ पुरिसंतरकडं वा अपुरिसंतरकडं वा बहिया नीहडं वा अनीहडं वा अत्तद्वियं वा अणत्तद्वियं वा परिभुत्तं वा अपरिभुत्तं वा आसेवियं वा अणासेवियं वा अफासुयं जाव नो पडिग्गाहिज्जा, एवं बहवे साहम्भिया एगं साहम्भिणिं बहवे साहम्भिणीओ समुद्दिस्स चत्तारि आलावगा भाणियव्वा ॥

चृ. स-भिक्षुर्यावद्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्नेवंभूतमाहारजातं नो प्रतिगृहीयादिति सम्बन्धः, 'अस्संपडियाए'ति, न विद्यते स्वं-द्रव्यमस्य सोऽयमस्वो-निर्ग्रन्थ इत्यर्थ, तस्रतिज्ञया कश्चिद्गृहस्यः प्रकृतिभद्रक एकं 'साधर्मिकं' साधुं 'समुद्दिश्य' अस्वोऽयमित्यभिसन्धाय 'प्राणिनो भूतान जीवाः सत्त्वाश्च' एतेषां किञ्चिद्भेदाद्भेदः, तान् समारभ्येत्यनेन मध्यग्रहणात्संरम्भसभारम्भा गृहीताः, एतेषां च स्वरूपमिदम् ।

II 9 II ''संकप्पो संरंभो परियावकरो भवे समारंभो । आरंभो उद्दवओ सुद्धनाणं तु सव्वेसिं ''

इत्येवं समारम्मादि 'समुद्दिश्य' अधिकृत्याधाकर्म कुर्यादिति, अनेन सर्वाऽवि-शुद्धिकोटिर्गृहीता, तथा 'क्रीतं' मूल्यगृहीतं 'पामिञ्च' उच्छिन्नकम् 'आच्छेद्यं' परस्माद्द्अ-लादाच्छित्रम् 'अणिसिट्टं'ति 'अनिसृष्टं' तत्स्वामिनाडजनुत्सङ्कलितं चोल्लकादि 'अभ्याहतं' गृहस्थेनानीतं, तदेवंभूतं क्रीताद्याहृत्य 'चेएड्'ति ददाति, अनेनापि समस्ता विशुद्धिकोटिर्गृहीता, 'तद्' आहारजातं चतुर्विधमपि 'तथाप्रकारम्' आधाकर्मादिदोषदुष्टं यो ददाति तस्मासुरुषादपरः पुरुषान्तरं तत्कृतं वा अपुरुषान्तरकृतं <mark>वा ।</mark>

तथा तेनैव दात्रा कृतं, तथा गृहान्निर्गतमनिर्गतं वा, तथा तेनैव दात्रा स्वीकृतमस्वीकृतं वा, तथा तेनैव दात्रा तस्माद्वहुपरिभूक्तमपरिभूक्तं वा, तथा स्तोकमास्वादितमनास्वादितं वा, तदेवमप्रासुकमनेषणीयं च मन्यमानो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति । एतञ्च प्रथमचरम-तीर्थकृतोरकल्पनीयं, मध्यमतीर्थकराणांचान्यस्य कृतमन्यस्य कल्पत इति एवं बहून् साधर्मिकान समुद्दिश्य प्राग्वञ्चर्च । तथा साध्वीसूत्रमप्येकत्वबहुत्वाभ्यां योजनीयमिति ॥

पुनरपि प्रकारान्तरेणाविशुद्धिकोटिमधिकृत्याह-

मू. (३४९) से भिक्खू वा॰ जाव समाणे से जं पुण जाणिज़ा असणं वा ४ बहवे समणा माहणा अतिहि किवणवणीमए पगणिय २ समुद्दिस्स पाणाइं वा ४ समारब्भ जाव नो पडिग्गाहिज़ा

**वृ.** स भावभिक्षुर्यावर्गृहपतिकुलं प्रविष्टस्तद्यसुनरेवंभूतमशनादि जानीयात्, तद्यथा-बहून् श्रमणानुद्दिश्य, ते च पञ्चविधाः-निर्ग्रन्थशाक्**यतापसगैरिकाजीविका इति, ब्राह्मणान्** भोजनकालोपस्थाप्यपूर्वो वाडतिथिस्तानिति कृपणा दरिद्रास्तान् वणीमका-बन्दिप्रायास्तानपि श्रमणादीन् बहून् 'उद्दिश्य'

प्रगणय्यं प्रगणय्योद्दिशति, तद्यया-द्वित्राः श्रमणाः पञ्चषाः ब्राह्मणा इत्यादिना प्रकारेण श्रमणादीन् परिसङख्यातानुद्दिश्य, तथा प्राण्यादीन् समारभ्य यदशनादि संस्कृतं तदा-सेवितमनासेवितं वाऽप्रासुकमनेषणीयमाधाकर्म, एवं मन्यमानो लाभे सति न प्रतिगत्लीयादिति विशोधिकोटिमधिकृत्याह-

मू. (३४२) से भिक्खू वा० भिक्खूणी वा जाव पविट्ठे समाणे से जं पुण जाणिज्ञा-असणं वा ४ बहवे समणा माहणा अतिहिं किवणवणीमए समुद्दिस जाव चेएइ तं तहप्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतरकडं वा अबहियानीहडं अणत्तद्वियं अपरिभुत्तं अणासेवियं अफासुयं अणेसणिज्ञं जाव नो पडिग्गाहिज्ञा । अह पुण एवं जाणिज्ञा पुरिसंतरकडं बहिया नीहडं अत्तद्वियं परिभुत्तं आसेवियं फासुयं एसणिज्ञं जाव पडिग्गाहिज्ञा ।।

**मृ.** स<sup>ं</sup> भिक्षुर्यत्पुनरशनादि जानीयात्, किंभूतमिति दर्शयति-बहून् श्रमणब्राह्मणा-तिथिकृपणवणीमकान् समुद्दिश्यश्रमणाद्यर्थमिति यावत्, प्राणादींश्च समारभ्य यावदाहत्य कश्चिद् गृहस्थो ददाति, तत्तव्याप्रकारमशनाद्यपुरुषान्तरकृतमबहिर्निर्गतमनात्मीकृतमपरिमुक्तमना-सेवितमप्रासुकमनेष्रणीयं मन्यमानो लाभे सति न प्रति गृह्लीयात् । इयं च ''जावंतिया भिक्ख'' ति, एतद्रत्ययेन ग्राह्ममाह-अथशब्दः पूर्वापेक्षीपुनःशब्दोविशेषणार्थअथ स भिक्षु पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा- 'पुरुषान्तरकृतम्' अन्यार्थ कृतं बहिर्निर्गतमात्मीकृतं परिमुक्तमासेवितं प्रासुकमेषणीयं च ज्ञात्वा लाभे सति प्रतिगृह्लीयात्, इदमुक्तं भवति-अविशोधिकोटिर्यथा तथा न कल्पते, विशोधिकोटिस्तु पुरुषान्तरकृतात्मीयकृतादिविशिष्टा कल्पत इति ॥

विशुद्धि-कोटिमधिकृत्याह-

मू. (३४३) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसिउकामे से जाइं पुण कुलाइं जाणिजा-इमेसु खलु कुलेसु निइए पिंडे दिज्रइ अग्गपिंडे दिज्ञइ नियए माए दिज्ञइ नियए अवड्ढमाए दिज्ञइ, तहण्पगाराइं कुलाइं निइयाइं निइउमाणाइं नो भत्ताए वा पाणाए वा पविसिज वा निक्खमिज वा । एयं खलु तस्त भिक्खुस्त भिक्खुणीए वा सामग्गियंजं सब्बडेहिं समिए सया जए ।। — त्तिबेमि ।।

ष्ट्र. स भिक्षुर्यावद्गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः से—तच्छब्दार्थे स च वाक्योपन्यासार्थ, यानि पुनरेवंभूतानि कुलानि जानीयात्, तद्यया—इमेषु कुलेषु 'खलु' वाक्यालङ्कारे 'नित्यं' प्रतिदिनं 'पिण्डः' दोषो दीयते, तथा अग्रपिण्डः—शाल्योदनादेः प्रथममुध्धृत्यभिक्षार्थंव्यवस्थाप्ये सोऽग्रपिण्डो नित्यं मागः-अर्थपोषो दीयते, तथा नित्यमुपार्द्धमागः-पोषचतुर्थमागः, तथाप्रकाराणि कुलानि 'नित्यानि' नित्यदानयुक्तानि नित्यदानादेव ।

'निइउमाणाइ'न्ति नित्यम् 'उमाणं'ति प्रवेशः स्वपक्षपरपक्षयोर्येषु तानि तथा, इदमुक्तं भवति-नित्यलामात्तेषु स्वपक्ष-संयतवर्ग परपक्षः--अपरभिक्षाचरवर्ग सर्वो भिक्षार्थं प्रविशेत्, तानि च बहुभ्यो दातव्यमिति तथाभूतमेव पाकं कुर्यु, तन्न च षटायवधः, अल्पे च पाके तदन्तरायः कृतः स्यादित्यतस्यानि नो भक्तार्थं पानार्थं वा प्रविशेन्निष्क्रामेद्वेति ॥ सर्वोपसंहारार्थमाह-

'एतदि'ति यदादेरारभ्योक्तं खलुशब्दो वाक्यालङ्कारार्थ, एतत्तस्य भिक्षोः 'साम्प्रयं' समग्रता यदुद्गमोत्पादनग्रहणैषणासंयोजनाप्रमाणेङगालधूमकारणैः सुपरिशुद्धस्य पिण्डस्योपादानं क्रियते तज्ज्ञानाचारसाम्प्रयं दर्शनचारित्रतपोवीर्याचारसंपन्नता चेति, अथवैतत्साम्प्रयं सूत्रेणैव दर्शयति-यत् 'सर्वार्थैः' सरसविरसादिभिराहारगतैः यदिवा रूपरसगन्धस्पर्शगतैः सभ्यगितः समितः, संयत इत्यर्थ, पश्चभिर्वा समितिभिः समितः शुभेतरेषु रागद्वेषविरहित इतियावत्, एवंभूतश्च सह हितेन वर्त्तत इति सहितः, सहितो वा ज्ञानदर्शनचारित्रैः, एवंभूतश्च सदा 'यतेत' संयमयुक्तो भवेदित्युपदेशः, ब्रवीमीति जम्बूनामानं सुधर्मस्वामीदमाह-भगवतः सकाशाच्छुत्वाऽहं ब्रवीमि, न तु स्वेच्छयेति । शेषं पूर्यवदिति ।

चूडा-१ अध्ययनः १ उद्देशकः -१ समाप्तः

-: चूडा-१ अध्ययन : १ उद्देशक-२ :--

**वृ.** उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीय आरम्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके पिण्डः प्रतिपादितस्तदिहापि तद्गतामेव विशुद्धकोटिमधिकृत्याह–

मू. (३४४) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा गाहावइकुलं पिंडवायपडियाएँ अनुपविट्ठे समाणे से जंपुण जाणिञ्जा-असणं वा ४ अहमि-पोसहिएसु वा अन्द्रमासिएसु वा मासिएसु वा दोमासिएसु वा तेमासिएसु वा चाउम्मासिएसु वा पंचमासिएसु वा छम्मासिएसु वा उऊसु वा उउसंधीसु वा उउपरियट्टेसु वा बहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणीमने।--

एगाओ उक्खाओ परिएसिजमाणे पेहाए दोहिं उक्खाहिं परिएसिजमाणे पेहाए तिहिं उक्खाहिं परिएसिजमाणे पेहाए कुंभीमुहाओ वा कलोवाइओ वा संनिहिसंनिचयाओ वा परिएसिजमाणे पेहाए तहष्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतरकडं जाव अणासेवियं अफासुयं जाव नो पडिग्गाहिजा। अह पुण एवं जाणिजा पुरिसंतरकडं जाव आसेवियं फासुयं पडिग्गाहिजा।

ष्ट्र. स भावभिश्चर्यत्पुनरशनादिकमाहारभेवंभूतं जानीयात्, तद्यया-अष्टम्यां पौषधः-उपवासादिकोऽष्टमीपौषधः स विद्यते येषा तेऽष्टमीपौषधिका-उत्सवाः तयाऽर्द्धमासिकादयश्च ऋतुसन्धि-ऋप्तोः पर्यवसानम् ऋतुपरिवर्त्तः-ऋत्वन्तरम्, इत्यादिषु प्रकरणेषु बहून् श्रमणब्राह्य- णातिथिकृपणवणीमगानेकस्पात्पिठरकाद् गृहीत्वा कूरादिकं 'परिएसिञ्जमाणे'त्ति तद्दीयमानाहारेण भोज्यमानान् 'प्रेक्ष्य' धब्ट्वा, एवं द्विकादिकादपि पिठरकाद् गृहीत्वेत्यायोजनीयमिति, पिठरक एव सङ्कटमुखः ।--

कुम्भी, 'कलोवाइओ व'ति पिच्छी पिटकं वा तस्माद्वैकस्मादिति, सन्निधैः-गोरसादेः संनिचयस्तस्माद्वेति, 'तओ एवंविहं जावंतियं पिंडं समणादीणं परिएसिज़माणं पेहाए' ति, एवंभूतं पिण्डं दीयमानं धष्ट्वा अपुरुषान्तरकृतादिविशेषणमप्रासुकमनेषणीयमिति मन्यमानो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति। एतदेव सविशेषणं ग्राह्यमाह अय पुनः स भिक्षुरेवंभूतं जानीयात्तत्तो गृह्णीयादिति सम्बन्धः, तद्यथा-पुरुषान्तरकृतमित्यादि।।

साम्प्रतं येषु कुलेषु भिक्षार्थं प्रवेष्टव्यं तान्यधिकृत्याह--

मू. (३४५) से भिक्खू वा २ जाव समाणे से जाइं पुण कुलाइं जाणिज़ा, तंजहा-उग्गकुलाणि वा भोगकुलाणि वा राइत्रकुलाणि वा खत्तियकुलाणि वा इक्खागकुलाणि वा हरिवंसकुलाणि वा एसियकुलाणि वा वेसियकुलाणि वा गंडागकुलाणि वा कोट्टा गकुलाणि वा गामरक्खकुलाणि वा बुक्कासकुलाणि वा अन्नयरेसु वा तहप्पगारेसु कुलेसु अदुगुंछिएसु अगरहिएसु असणं वा ४ फासुयं जाव पडिग्गाहिजा।।

ू स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रवेष्टुकामो यानि पुनरेवंभूतानि कुलानि जानीयात्तेषु प्रविशेदिति सम्बन्धः, तद्यथा-उग्रा-आक्षिकाः, भोगा--राज्ञ पूज्यस्थानीयाः, राजन्याः--सखिस्थानीयाः, क्षत्रियाः राष्ट्रकूटादयः, इक्ष्वाकवः-ऋषभस्वामिवंशिकाः, हरिवंशाः- हरिवंशजाः अरिष्ठनेमिवंशस्थानीयाः, 'एसिअ'ति गोष्ठाः, वैश्या-वणिजः, गण्डको-नापितः, यो हि ग्राम उदघोषयति ।

कोट्टागाः-काष्ठतक्षका वर्द्धकिन इत्यर्थ, बोक्कशांलियाः-तन्तुवायाः, कियन्तो वा वक्ष्यन्ते इत्युपसंहरति-अन्यतरेषु वा तथा प्रकारेष्वजुगुप्तितेषु कुलेषु, मानादेशविनेयसुखप्रतिपत्त्यर्थं पर्यायान्तरेण दर्शयति-अगर्श्वेषु, यदिवा जुगुप्तितानि चर्मकारकुलादीनि मर्ह्याणि-दास्यादिकुलानि तद्विपर्यभूतेषु कुलेषु लभ्यमानमाहारादिकं प्रासुकमेषणीयमिति मन्यमानो गृह्णीयादिति ॥ तथा-

मू. (३४६) से भिक्खू वा २ जाव समाणे से जं पुण जाणिज्ञा-असणं वा ४ समवाएसु वा पिंडनिरेसु वा इंदमहेसु वा खंदमहेसु वा एवं रुद्दमहेसु वा मुगुंदमहेसु वा भूयमहेसु वा जक्खमहेसु वा नागमहेसु वा थूभमहेसु वा चेइयमहेसु वा रुक्खमहेसु वा गिरिमहेसु वा दरिमहेसु वा अगडमहेसु वा तलागमहेसु वा थूभमहेसु वा चेइयमहेसु वा रुक्खमहेसु वा गिरिमहेसु वा आगरमहेसु वा अगडमहेसु वा तलागमहेसु वा दहमहेसु वा नइमहेसु सरमहेसु वा सागरमहेसु वा आगरमहेसु वा अन्नयरेसु वा तलागमहेसु वा दहमहेसु वा नइमहेसु सरमहेसु वा सागरमहेसु वा आगरमहेसु वा अन्नयरेसु वा तलागमहेसु वा दहमहेसु वा नइमहोसु क्रिमागेसु बहवे समणमाहणअतिहि-किणवणीमगे एगाओ उक्खाओ परिएसिजमाणे पेहाए दोहिं जाव संनिहिसंनिचयाओ वा परिएसिजमाणे पेहाए तहप्पगारं असणं वा ४ अपुरिसंतरकडं जाव नो पडिग्गाहिजा।

अह पुण एवं जाणिज़ा दिन्नं जं तेसिं दायव्वं, अह तत्य भुंजमाणे पेहाए गाहावइभारियं वा गाहावइभगिणिं वा गाहावइपुत्तं वा धूयं वा सुण्हं वा धाइं वा दासं वा दासिं वा कम्पकरं वा कम्पकरिं वा से पुव्वामेव आलोइज़ा-आउसित्ति वा भगिणित्ति वा दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं भोयणजायं, से सेवं वयंतस्स परो असणं वा ४ आहट्ट दलइज्ञा तहप्पगारं असणं वा ४ सयं वा पुण जाइज्ञा परो वा से दिज्ञा फासुयं जाव पडिग्गाहिजा।। ष्ट्र. स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतमाहारादिकं जानीयात्तदपुरुषान्तरकृतादिविशेषणमप्रासुकम-नेषणीयमिति मन्यमानो नो गृह्णीयादिति सम्बन्धः, तत्र समवायो-मेलकः शङ्खच्छेदश्रेण्यादेः पिण्डनिकरः-पितृपिण्डो मृतकभक्तमित्यर्थ, इन्द्रोत्सवः-प्रतीतः स्कन्दः-स्वामिकार्तिकेयस्तत्य महिमा-पूजाविशिष्टेकालेक्रियते, रुद्रादयः-प्रतीताः नवरं मुकुन्दो-बलदेवः, तदेवंभूतेषुनानाप्रकारेषु प्रकरणेषु सत्सु तेषु च यदि यः कश्चिच्छ्रमणब्राह्मणातिथिकृपणवणीमगादिरापतति तस्मै स र्वसौ दीयत इति मन्यमानोऽपुरुषान्तरकृतादिविशेषणविशिष्टमाहारादिकं न गृह्णीयात्, अथापि सर्वसौ न दीयते तथाऽपि जनाकीर्णमिति मन्यमान एवंभूते सङ्घडिविशेषे न प्रविशेदिति ॥

एतदेव सविशेषणं ग्राह्ममाह-

अय पुनरेवंभूतमाहारादिकं जानीयात्, तद्यथा-दत्तं यत्तेभ्यः श्रमणादिभ्यो दातव्यम्, 'अय' अनन्तरं तत्र स्वत एव तान् गृहस्थान भुआनान 'प्रेक्ष्य' ६ष्ट्वाऽऽहारार्थी तत्र यायात्, तान् गृहस्थान् स्वनामग्राहमाह, तद्यथा-गृहपतिभार्यादिकं भुआनं पूर्वमेव 'आलोकयेत्' पश्येत् प्रमुं प्रभुसंदिष्टं वा ब्रूयात्, तद्यथा-आयुष्मति ! मगिनि ! इत्यादि, दास्यसि मह्यमन्यतरद्भोजन-जातमिति, एवं वदते साधवे परो-गृहस्थ आह्तत्याशनादिकं दद्यात्, तत्र च जनसङ्कुलत्वात्सति वाऽन्यस्मिन् कारणे स्वत एव साधुर्याचेत्, अयाचितो वा गृहस्थो दद्यात्, तद्रासुकमेषणीयमिति मन्यमानो गृह्लीयादिति ॥ अन्यग्रामचिन्तामधिकृत्याह-

मू. (३४७) से भिक्खू वा २ परं अद्धजोयणमेराए संखडिं नश्चा संखडिपडियाए ने अभिसंधारिज़ा गमणाए ।। से भिक्खू वा २ पाईणं संखडिं नश्चा पडीणं गच्छे अणाढायमाणे, पडीणं संखडिं नश्चा पाईणं गच्छे अणाढायमाणे, दाहिणं संखडिं नश्चा उदीणं गच्छे अणाढायमाणे, उईणं संखडिं नश्चा दाहिणं गच्छे अणाढायमाणे, जत्थेव सा संखडि सिया, तंजहा ।–

–गामंसि वा नगरंसि वा खेडंसि वा कव्वडंसि वा मडंबंसि वा पट्टणंसि वा आगरंसि वा दोणमुहंसि वा नेगमंसि वा आसमंसि वा संनिवेसंसि वा जाव रायहाणिंसि वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज़ा गमणाए केवली बूया-आयाणमेयं संखडिं संखडिपडियाए अभिधारेमाणे आहाकम्पियं वा उद्देसियं वा मीसजायं वा कीयगडं वा पामिश्चं वा अच्छिज्ञं वा अनिसिट्ठं वा अभिहडं वा आहट्ट दिज्रमाणं भुंजिज्ञा ।।

अस्संजए भिक्खुपडियाए खुड्डियदुवारियाओ महल्लियदुवारियाओ कुज़ा, महल्लियदुवारियाओ खुड्डियदुवारियाओ कुज़ा, समाओ सिजाओ विसमाओ कुज़ा, विसमाओ सिजाओ समाओ कुज़ा, पवायाओ सिजाओ निवायाओ कुज़ा, निवायाओ सिजाओ पवायाओ कुज़ा, अंतो वा बहिं वा उवस्सयस्स हरियाणि छिंदिय छिंदिय दालिय दालिय संथारगं संथारिज़ा, एस विलुंगयामो सिज़ाए, तम्हा से संजए नियंठे तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज़ा गमणाए, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स जाव सया जए।

वृ. स भिक्षु 'परं' प्रकर्षेणार्खयोजनमात्रे क्षेत्रे संखण्डयन्ते-विराध्यन्ते प्राणिनो यत्र सा सङ्खडिस्तां झात्वा तत्प्रतिज्ञया 'नाभिसंधारयेत्' न पर्यालोचयेत्तत्र गमनमिति, न तत्र गच्छेदितियावत् ।। यदि पुनग्रमिषु परिपाट्या पूर्वप्रवृत्तं गमनें तत्रच सङ्घडिं परिज्ञाय यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह— स भिक्षुर्यदि 'प्राचीनां' पूर्वस्यां दिशि संखडिं जानीयात्ततः 'प्रतीचीनम्' अपरदिग्भागं गच्छेत्, अध प्रतीचीनां जानीयात्ततः प्राचीनं गच्छेत्, एवमुत्तरत्रापि व्यत्ययो योजनीयः, कधं गच्छेत् ? - 'अनाद्रियमाणः' सङ्कडिमनादरयन्नित्यर्थ, एतदुक्तं भवति-यत्रैवासौ सङ्कडि स्यात्तत्रर न गन्तव्यमिति, क व चासौ स्यादिति दर्शयति, तद्यथा-ग्रामे वा प्राचुर्येण ग्रामधर्मोपेतत्वात्, करादिगम्यो वा ग्रामः, नास्मिन् करोऽस्तीति नकरं, धूलिप्राकारोपेतं खेटं, कर्बटं-कुनगरं, सर्वतोऽर्द्धयोजन-त्यरेण स्थितग्रामं मडम्बं पत्तनं-यस्य जलस्थलपथयोरन्यतरेण पर्याहारप्रवेशः, आकरः-ताम्रा-देरुत्पत्तिस्थानं, द्रोणमुखं-यस्य जलस्थलपथायुभावपि, निगमा-वणिजस्तेषां स्थानं नैगमम्, आश्रमं-यत्तीर्थस्थानं, राजधानी-यन्न राजा स्वयंतिष्ठति, सन्निवेशो यन्न प्रभूतानां भाण्डानां प्रवेश इति ।

तत्रैतेषु स्थानेषु सङ्घडिं ज्ञात्वा सङ्घडिप्रतिज्ञया न गमनम् 'अभिसंधारयेत्' न पर्यालोचयेत्, किमिति ?, यतः केवली ब्रूयात् 'आदानमेतत्' कर्मोपादानमेतदिति, पाठान्तरं वा 'आययणमेयं'ति आयतनं-स्थानमेतद्दोषाणां यत्सङ्घडीगमनमिति, कथं दोषाणामायतनमिति दर्शयति-'संखडिं संखडिपडियाए'त्ति, या या सङ्घिडस्तां ताम् 'अभिसन्धारयतः' तस्रतिज्ञया गच्छतः साधोरवश्यमे तेषां मध्येऽन्यतमो दोषः स्यात्, तद्यथा-आधाकर्म वा औद्देशिकं वा मिश्रजातं वा क्रीतकृतं वा उद्यतकं वा आच्छेद्यं वा अनिसृष्टमभ्याहृतमि एतेषां दोषाणामन्यतमदोषदुष्टं भुञ्जीत, स हि प्रकरणकत्तैवमभिसंधारयेत्-यथाऽयं यतिर्मत्प्रकरणमुद्दिश्येहायातः, तदस्य मया येन केनचित्प्रकारेण देयमित्यभिसन्धायाधाकर्मादि विदध्यादिति, यदिवा यो हि लोलुपतया सङ्घडिप्रतिज्ञवा गच्छेत् स तत एवाधाकर्माधिणे भुञ्जीतेति ।। किञ्च-सङ्घडिनिमित्तमागच्छतः साधूनुद्दिश्य गृहस्थ एवंभूता वसतीः कुर्यादित्याह–

'असंयतः' गृहस्थः सच श्रावकः प्रकृतिभद्रको वा स्यात्, तत्रासौ साधुप्रतिज्ञया क्षुद्रद्वाराः-सङ्कटद्वाराः सत्यस्ता महाद्वाराः कुर्यात्, व्यत्ययं वा कार्यापेक्षया कुर्यात्, तथा सभाः शय्या-वसतयो विषमाः सागारिकापातभयात् कुर्यात्, साधुसमाधानार्थं वा व्यत्ययं कुर्यात्, तथा प्रवाताः शय्याः शीतथभयात्रिवाताः कुर्यात्, ग्रीष्मकालापेक्षया वा व्यत्ययं विदघ्यादिति, तथाऽन्तः-मध्ये उपाश्रयस्य बहिर्वा हरितानि छित्त्वा छित्त्वा विदार्य विदार्य उपाश्रयं संस्कर्यात्, संस्तारकं वा संस्तारयेत्, गृहस्थश्चानेनाभिसन्धानेन संस्कर्याद् ।

यथैषः- साधुः शय्यायाः संस्कारे विधातव्ये 'विलुंगयामो' ति निर्ग्रन्थः अकिश्चन इत्यतः सगृहस्थः कारणे संयतो वा खयमेव संस्कारयेदित्युपसंहरति-तस्पात् 'तथाप्रकाराम्' अनेकदोषदुष्टां सङ्घडिं विज्ञाय सा पुरःसङ्घडि पश्चात्सङ्घडिर्वा भवेत्, जातनामकरणविवाहादिका पुरःसङ्घडि तथा मृतकसङ्घडि पश्चात्सङ्घडिरिति, यदिवा पुरः अग्रतः सङ्घडिर्भविष्यति अतोऽनागतमेव यायात्, वसतिं वा गृहस्थः संस्कुर्यात्, वृत्ता वा सङ्घडिरतोऽत्र तच्छेषोपभोगाय साधवः समागच्छेयुरिति, सर्वथा सर्वां सङ्घडिं सङ्घडिप्रतिज्ञयाः 'नोऽमिसंधारयेत् न पर्यालोचयेद्गमनक्रियामिति, एवं तस्यभिक्षोः सामग्यं -- सम्पूर्णतया भिक्षुभावस्य यत्सर्वधा सङ्खडि वर्जनमिति ॥

चूडा-१, अध्ययनं-१, उद्देशक :२ समाप्त :

#### -: चूडा-१, अध्ययन-१, उद्देशक-३:-

**वृ.** उक्तो द्वितीयः, साम्प्रतं तृतीय आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्ध-इहानन्तरोद्देशके दोषसंभवात्सङ्कडिगमनं निषिद्धं, प्रकारान्तरेणापि तद्गतानेव दोषानाह—

मू. (३४८) से एगइओ अन्नयरं संखडिं आसित्ता पिबित्ता छड्डिज वा वमिज्ञ वा भुत्ते वा से नो सम्पं परिणमिज्ञा अन्नयरे वा से दुक्खे रोगायंके समुप्पज्ञिज्ञा केवली बूया आयाणमेयं॥

ष्ट्र. स भिक्षु 'एकदा' कदाचिद् एकचरो वा 'अन्यतरां' काश्चित्पुरः सङ्घडिं पश्चात्सङ्घडिं वः 'सङ्घडि'मिति सङ्घडिमत्कम् 'आस्वाद्य' भुक्त्वा तथा पीत्वा शिखरिणीदुग्धादि, तश्चातिलोलुपतया रसगुद्धयाऽ ऽहारितं सत् 'छड्डेञ वा' छर्दि विदध्यात्, कदाचिश्चापरिणतं सढिशूचिकां कुर्यात्, अन्यतरो वा रोगः-कुष्ठादिकः आतङ्कस्त्वाशुजीवितापहारी शूलादिकः समुत्यद्येत, केवली-सर्वज्ञो बूयात्, यथा 'एतत्' सङ्घडीभक्तम् 'आदानं' कर्मोपादानं वर्त्तत इति । यथैतदादानं भवति तथा दर्शयति ।

मू. (३४९) इह खलु भिक्खू गाहावईहि वा गाहावईणीहिं वा परिवायएहिं वा परिवाईयाहिं वा एगजं सद्धि सुंडं पाउं जो वइमिस्सं हुरत्था वा उवस्सयं पडिलेहेमाणो नो लभिज्ञा तमेव उवस्सयं संमिस्सीभावभावज्ञिज्ञा, अन्नमणे वा से मत्ते विष्परियासियभूए इत्थिविग्गहे वा क्लिबे वा तं भिक्खु उवसंकमित्तु बूया।

आउसंतो समणा ! अहे आरामंसि वा अहे उवस्सपंसि वा राओ वा वियाले वा गामधम्मनियंतियं कट्टु रहस्सियं मेहुणधम्मपरियारणाए आउद्दामो, तं चेवेगईओ सातिज्ञिज्ञा-अकरणिज्ञं चेयं संखाए एए आयाणा (आयतणाणि) संति संविज्ञमाणा पश्चवाया भवंति, तम्हा से संजए नियंठेतहप्पगारं पुरेसंखडिं वा पच्छासंखडिं वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्ञा गमणाए ।।

ष्टु, 'इहे' ति सङ्घडिस्थानऽस्मिन् वा भवेऽमी अपायाः आमुष्मिकास्तु दुर्गतिगमनादयः, खलुशब्दोवाक्यालङ्कारे, भिक्षणशीलोभिक्षु गृहपतिमिस्तद्भार्याभिर्वापरिव्राजकैः परिव्राजिकाभिर्वा सार्द्धमेकद्यम-एक-वाक्यतया संप्रधार्य 'सोंडं' ति सीधुमन्यद्वा प्रसन्नादिकं 'पातुं' पीत्वा ततः 'हुरवत्था वा' बहिर्वा निर्गत्योपाश्रयं याचेत, यदा च प्रत्युपेक्षमाणो विवक्षितमुपाश्रयं न लभेत ततस्तमेवोपाश्रयं यत्रासौ सङ्घडिस्तत्रान्यत्र वा गृहस्थपरिव्राजिकादिभिर्मिश्रीभावमापद्येत, तत्र धासावन्यमना मत्तो गृहस्थादिको विपर्यासीभूत आत्मानं न स्मरति, स वा भिक्षुरात्मानं न स्मरेत्, अस्मरणाञ्चैवं चिन्तयेद्-यथाऽहं गृहस्थ एव, यदिवा-स्त्रीविग्रहे शरीरे 'विपर्यासीभूतः'

जरतरणा चपायपायपुर्विया ३३ गृहत्य एप, पायपान्त्रापप्रह गरार विपयातानूतः अध्युपपन्नः 'क्लीबे वा' नपुंसके वा, सा च स्त्री नपुंसको वा, तं भिक्षुम् 'उपसङक्रम्य' आसन्नीभूय ब्रूयात्, तद्यथा-आयुष्मन् ! श्रमण ! त्वया सहैकान्तमहं प्रार्थयामि, तद्यथा-आरामे वोपाश्रये वा कालतश्च रात्रौ वा विकाले वा, तं भिक्षुं ग्रामधर्मै-विषयोपभोगगतैव्यापरिर्नियन्त्रितं कृत्वा, तद्यधा-मम त्वया विग्रियं न विधेयं, प्रत्यहमहमनुसर्पणीयेति, एवमादिभिर्नियन्य ग्रामासन्ने वा कुत्रचिद्रहसि मिथुनं-दाम्पत्यं तत्र भवं मैथुनम्-अब्रह्मेति तस्य धर्मा-तद्गता व्यापारास्तेषा परियारणा-आसेवना तया 'आउट्टामो'त्ति प्रवर्त्तामहे, इदमुक्तं भवति ।

साधुमुद्दिश्य रहसि मैथुनप्रार्थनां काचित्कुर्यात्, तां चैकः कश्चिदेकाकी वा 'आयतनानि' कर्म्पपादानकारणानि 'सन्ति' भवन्ति 'संचीयमानानि' प्रतिक्षणमुपचीयमानानि, इदमुक्तं भवति- अन्यान्यपि कर्मोपादानकारणानि भवेयुः, यत एवमादिकाः प्रत्यपाया भवन्ति तस्मादसौ संयतो निर्ग्रन्यस्तयाप्रकारां सङ्घर्डिपुरःसङ्घर्डिपश्चात्सङ्घर्डिवा सङ्घर्डि ज्ञात्वा सङ्घडिप्रतिज्ञया 'नामिसंघारयेद् गमनाय' गन्तुं न पर्यालोचयेदित्यर्थ ॥ तथा–

मू. (३५०) से भिक्खू वा २ अन्नयरिं संखडिं सुच्चा निसम्प संपहावइ उस्सुयमूएण अप्पाणेणं, धुवा संखडी, नो संचाएइ तत्य इयरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं चेसियं पिंडवायं पडिग्गाहित्ता आहारं आहारित्तए, माइडाणं संफासे, नो एवं करिज्ञा। से तत्य कालेण अनुपविसित्ता तत्यियरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं चेसियं पिंडवायं पडिगाहित्ता आहारं आहारिज्ञा।।

द्र. स भिक्षुरन्यतरा पुरःसङ्घर्डि पश्चात्सङ्घर्डि वा श्रुत्वाऽन्यतः स्वतो वा 'निशम्य' निश्चित्य कुतशिखेतोस्ततस्तदभिमुखं संप्रधावत्युत्सुकभूतेनात्मना-यथा ममात्र भविष्यत्यद्भुतभूतं मोज्यं, यतस्तत्र 'ध्रुवा' निश्चिता सङ्घर्डिरस्ति, 'नो संचाएइ'ति न शक्नोति 'तत्र' सङ्घर्डिग्रामे इतरेतरेभ्यः कुलेभ्यः सङ्घर्डिरहितेभ्यः 'सामुयाणियं'ति भैक्षं, किम्मूतम् य- 'एषणीयम्' आधाक-र्मादिदोषरहितं 'वेसियं'ति केवलकरजोहरणादिवेषाछब्धमुत्पादनादिदोषरहितम्, एवंभूतं पिण्डपातम्-आहारं परिगृह्याभ्यवहर्त्तुन शक्नोतीतिसम्बन्धः, तत्र चासौ मातृस्थानं संस्पृश्नेत्, तस्य मातृस्थानं संभाव्येत, कथं ?

यद्यपी तरकुलाहारप्रतिज्ञया गतो, न चासौ तमभ्यवहर्तुमलं पूर्वोक्तया नीत्या, ततोऽसौ सङ्खिडिमेव गच्छेत्, एवंच मातृस्यानं तस्य संभाव्येत, तस्मान्नैवं कुर्याद्-ऐहिकामुष्पिकापायभयात् सङ्घडिग्रामगमनं न विदध्यादिति ।। यथा च कुर्यात्तथाऽऽह 'सः' भिक्षु 'तत्र' सङ्घडिनिवेशे कालेनानुप्रविश्य तत्रेतरेतरेभ्यो गृहेभ्यः उग्रकुलादिभ्यः 'सामुदानिकं' समुदानं-भिक्षा तत्र भवं सामुदानिकम् 'एषणीयं' प्रासुकं 'वैषिकं' केवलवेषावाप्तं धात्रीपिण्डादिरहितं पिण्डपातं प्रतिगृह्याहारामाहारयेदिति । पुनरपि सङ्घडिविशेषमधिकृत्याह–

मू. (३५९) से मिक्खू वा २ स जं पुण जाणिज्ञा गामं वा जाव रायहाणिं वा इमंसि खलु गामंसि वा जाव रायहाणिंसिं वा संखडी सिया तंपि य गामं या जाव रायहाणिं वा संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंधारिज्ञा गमणाए । केवली बूया आयाणमेयं आइन्नाऽवमा णं संखडिं अनुपविस्समाणस्स-पाएण वा पाए अक्वंतपुच्वे मवइ, हत्येण वा हत्ये संचालियपुच्वे मवेइ, पाएण वा पाए आवडियपुच्वे मवइ, सीसेण वा सीसे संघडियपुच्वे मवइ, काएण वा काए संखोभियपुच्वे मवइ ।

दंडेण वा अहीण वा मुट्ठीण वा लेलुणा वा कवालेण वा अभिहयपुव्वेण वा भवइ, सीओदएण वा उस्सित्तपुव्वे भवइ, रयसा वा परिघासियपुव्वे भवइ, अणेसणिज्ञे वा परिभुत्तपुव्वे भवइ, अन्नेसिं वा दिज्रमाणे पडिग्गाहियपुव्वे भवइ तम्हा से संजए नियंठे तहप्पगारं आइन्नावमा णं संखडिं संखडिपडियाए नो अभिसंघारिजा गमणाए।।

ष्ट्र. स भिक्षुर्यदि पुनरेवंमूतं ग्रामादिकं जानीयात्, तद्यथा-ग्रामे वा नगरे वा यावद्राजधान्यां वा सङ्घडिर्भविष्यति, तत्र च चरकादयोऽपरे चा भिक्षाचराः स्युरतस्तदपि ग्रामादिकं सङ्घडिप्रतिज्ञया 'नाभिसन्धरयेद्भम्मनाय' न तत्र गमनं कुयदित्यर्थ ।। तद्गताश्च दोषान् सूत्रेणैवाह-केवली ब्रूयाद् यथैतदादानं-कर्मोपादानं वर्त्तत इति दर्शयति-साच सङ्घडि आकीर्णा वा भवेत्-चरकादिमि सङ्कुला 'अवमा' हीना शतस्योपस्कृतेपश्चश्वतोपस्यानादिति, तां चाकीर्णामवमांचानुप्रविश्वतोऽमी दोषाः, तद्यया-पादेनापरस्य पाद आक्रान्तो भवेत्, हस्तेन वा हस्तः संचालितो भवेत्, 'पात्रेण वा' भाजनेन वा 'पात्रं' भाजनमापतितपूर्वं भवेत्, शिरसा वा शिरः सङ्घट्टितं भवेत् कायेनापरस्य-चरकादेः कायः सङ्क्षोभितपूर्वो भवेदिति, स च चरकादिरारुषितः कलहं कुर्यात्, कुपितेन च तेन दण्डेनास्या वा मुष्टिना वा लोछेन वा कपालेन वा साधुरभिहतपूर्वो भवेत्, तथा शीतोदकेन वा कश्चित्सिश्चेत्, रजसा वा परिघर्षितो भवेत् । एते तावत्सङ्कीर्णदोषाः, अवमदोषाश्चामी-अनेषणीयपरिभोगो भवेत्, स्तोकस्य संस्कृतत्वाद्यभूतत्वाश्चार्थिनां, प्रकरणकारस्यायमाशयः स्याद् ।

यथा मत्यकरणमुद्दिश्यैते समायातास्तत एतेभ्यो मया यथाकथश्चिद्देयमित्यभि-सन्धिनाऽऽधाकर्माद्यपि कुर्याद्, अतोऽनेषणीयपरिमोगः स्यादिति, कदाचिद्वा दात्राऽन्यसै दातुमभिवाञ्छितं, तच्चान्यस्मै दीयमानमन्तराले साधुर्गृह्लीयात, तस्मादेतान् दोषानभिसंप्रधार्य संयतो निर्ग्रन्थस्तथाप्रकारामाकीर्णाभवमा वा सङ्घडिं विज्ञाय सङ्घडिप्रतिज्ञया नाभिसंधारयेद् गमनायेति ॥ साम्प्रतं सामान्येन पिण्डशङ्कामधिकृत्याह--

मू. (३५२) से भिक्खू वा २ जाव समाणे से जं पुण जाणिज्झा असणं वा ४ एसणिक्ने सिया अनेसणिज्ञे सिया वितिगिंछसमावत्रेण अप्पाणेण असमाहडाए लेसाए तहप्पगारं असणं वा ४ लाभे संते नो पडिगाहिज्ञा।।

चृ. स भिक्षुर्गृहंपतिकुलं प्रविष्टः सन् यत्पुनराहारजातमेषणीयमथेवं शङ्केत, तद्यया-विचिकित्सा-जुगुप्सा वाऽनेषणीयाशङ्का तया समापन्नः-शङ्कागृहीत आत्मा यस्य स तया तेन शङ्कासमापन्नेनात्मना 'असमाहडाए' अशुद्धया लेश्यया-उद्गमादिदोषदुष्टमिदमित्येवंचित्तविष्तुत्या-ऽशुद्धा लेश्या-अन्तःकरणरूपोपजायते तया सत्या 'तथाप्रकारम्' अनेषणीयं शङ्कादोष-दुष्टमाहारादिकं सति लाभे ''जं संके तं समावज्जे'' इति वचनान्न प्रतिगृह्षीयादिति ॥

साम्प्रतं गच्छनिर्गतानधिकृत्य सूत्रमाह—

मू. (३५३) से भिक्खू गाहावइँकुलं पविसिउकामे सव्वं भंडगमायाए गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसिज वा निक्खमिज वा ।। से भिक्खू वा २ बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा निक्खममाणे वा पविसमाणे वा सव्वं भंडगमायाए बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा निक्खमिज्ञ वा पविसिज वा ।। से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्रमाणे सव्वं भंडगमायाए गामाणुगामं दूइज्जिजा ।।

**वृ.** स भिक्षुर्गच्छनिर्गतो जिनकल्पिकादिर्गुहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः 'सवै' निरवशेषं 'भण्डकं' धर्मोपकरणम् 'आदाय' गृहीत्वा गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिझया प्रविशेद्वा ततो निष्कामेद्वा। तस्य चोपकरणमनेकधेति, तद्यथा- ''दुग तिग चउक्का । पंचग नव दस एक्कारसेव बारसहे" त्यादि । तत्र जिनकल्पिको द्विविधः —छिद्रपाणिरच्छिद्रपाणिश्च, तत्राच्छिपाणेः शक्त्यनुरुषा-भिग्रहविशेषाद् द्विविधमुपकरणं, तद्यथा-रजोहरणं मुखवस्त्रिका च, कस्यचित्त्वकूत्राणार्थ क्षौमपटपरिग्रहात्रिविधम्, अपरस्योदकबिन्दुपरितापादिरक्षणार्थमौणिकपटपरिग्रहाच्चतुर्या, तथाऽ सहिष्णुतरस्य द्वितीय- क्षौमपटपरिग्रहात्म्ञधेति । छिद्रपाणेस्तु जिनकल्पिकस्य सप्तविधपात्रिनिर्योगसमन्वितस्य रजोहरणमुखवस्त्रिकादिग्रहणक्रमेणे यथायोगं नवविधोदशविध एकादशविधो द्वादशविधश्चोपधिर्भवति, पात्रिनर्योगश्च ।

II "पत्तं 9 पत्ताबंधो २ पायद्ववर्ण ३ च पायकेसरिया ४ । पडलाइ ५ रयत्ताणं ६ च गोच्छओ ७ पायनिञ्जोगो "

अन्यत्रापि गच्छता सर्वमुपकरणं गृहीत्वा गन्तव्यमित्याह-स भिक्षुर्ग्रामादेर्बहिर्विहारभूमिं खाध्यायभूमिं वा तथा 'विचारभूमिं' विष्ठोत्सर्गभूमिं सर्वमुपकरणमादायप्रविशेत्रिष्क्रामेद्वा, एतद्दिवतीयं, एवं ग्रामान्तरेऽपी तृतीयं सूत्रम् ।। साम्प्रतं गमनाभावे निमित्तमाह-

मू. (३५४) से भिक्खू अह पुण एवं जाणिज्ञा-तिव्वदेसियं वासं वासेमाणं पेहाए तिव्वदेसियं महियं संनिचयमाणं पेहाए महवाएण वा रयं समुद्धुयं पेहाए तिरिच्छसंपाइमा वा तसा पाणा संयडा संनिचयमाणा पेहाए से एवं नञ्चा नो सव्वं भंडग मायाए गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए पविसिज्ज वा निक्खमिज्जा वा बहिया विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा निक्खमिज्ज वा पविसिज्ज वा गामाणुगामं दूइज्जिज्ञा ।।

**वृ.** स भिक्षुरय पुनरेवुं विजानीयात्, तद्यथा-तीव्रं-वृहद्वारोपेतं देशिकं-वृहत्क्षेत्रव्यापि तीव्रं च तद्देशिकं चेति समासः, बृहद्वारं महति क्षेत्रे वर्षन्तं प्रेक्ष्य, तथा तीव्रदेशिकां-महति देशेऽन्धकारोपेतां 'महिकांवा' धूमिकां संनिपतन्तीं 'प्रेक्ष्य' उपलम्य, तथा महावातेना वा समृध्धूतं रजः प्रेक्ष्य तिरश्चीनं वा संनिपततो-गच्छतः 'प्राणिनः' पतङ्गादीन् 'संस्कृतान्' धनान् प्रेक्ष्य स भिक्षुरेवं ज्ञात्वा गृहपतिकुलादौ सूत्रत्रयोद्दिष्टं सर्वमादाय न गच्छेन्नापि निष्कामेद्वेति इदमुक्तं भवति –

सामाचार्येवैषा यथा गच्छता साधुना गच्छनिर्गतेन तदन्तर्गतेने वा उपयोगो दातव्यः, तत्र यदि वर्षमहिकादिकं जानीयात्ततो जिनकल्पिको न गच्छत्येव, यतस्तस्य शक्तिरेषा यया षण्मासं यावत्पुरीषोत्सर्गनिषे घं विदध्यात्, इतरस्तु सति कारणे यदि गच्छेत् न सर्वमुपकरणं गृहीत्वा गच्छेदिति तात्पर्यार्थ ।। अघस्ताज्जुगुप्तितेषु दोषदर्शनास्रवेशप्रतिषेध उक्तः, साम्प्रतम-जुगुप्तितेष्वपि केषुचिद्दोषदर्शनास्रवेशप्रतिषेधं दर्शयितुमाह–

मू. (३५५) से भिक्खू वा २ से जाइं पुण कुलाइं जाणिज्ञा तंजहा-खत्तियाण वा राईण वा कुराईण वा रायपेसियाण वा रायवंसद्वियाण वा अंतो वा बाहिं वा गच्छंताण वा संनिविद्वाण वा निमंतेमाणाण वा अनिमंतेमाणाण वा असणं वा ४ लाभे संते नो पडिगाहिज्ञा।।

**ष्टृ.** स भिक्षुर्यानि पुनरेवंभूतानि कुलानि जानीयात्, तद्यथा-क्षत्रियाः-चक्रवर्तिवासुदेवब-लदेवप्रभृतयस्तेषां कुलानि, राजानः-क्षत्रियेभ्योऽन्यॆ, कुराजानः-प्रत्यन्तराजानः, राजप्रेष्याः-दण्डपाशिकप्रमृतयः, राजवंशे स्थिता-राज्ञो मातुलमागिनेयादयः, एतेषां कुलेषु संपातभयाञ्ञ प्रवेष्टव्यं, तेषा च गृहान्तर्बहिर्वा स्थितानां 'गच्छतां' पथि वह्रतां 'संनिविष्टानाम्' आवासितानां निमन्त्रयतामनिमन्त्रयतां वाऽशनादि सति लाभे न गृह्षीयादिति ।

चूडा-१, अध्ययनं-१ उद्देशक-३ : समाप्त :

-: चूडा-१, अध्ययन-१ उद्देशक-४ : --

वृ. उक्तस्तृतीयोद्देशकः, साम्प्रतं चतुर्थआरम्यते, अस्य चायमभिसम्बन्ध-इहानन्तरोद्देशके सङ्ग्रडिगतो विधिरभिहितस्तदिहापि तच्छेषविधेः प्रतिपादनार्थमाह– मू. (३५६) से भिक्खू वा (२) जाव समाणे से जं पुण जाणेज्रा मंसाइयं वा मच्छाइयं वा मंसखलं वा मच्छखलं वा आहेणं वा पहेणं वा हिंगोलं वा संमेलं वा हीरमाणं पेहाए अंतरा से मग्गा बहुपाणा बहुवीया बहुहरिया बहुओसा बहुउदया बहुउत्तिंगपणगदगमट्टीयमकडासंताणया बहवे तत्थ समणमाहणअतिहिकिवणवणीमगा उवागया उवागमिस्संति तत्थाइन्ना वित्ती नो पत्रस्स निक्खमणपवेसाए नो पत्रस्स वायणपुच्छणपरियट्टणाणुप्रेहघम्पाणुओगचिंताए, से एवं नश्चा तहप्पगारं पुरेसंखर्डि वा पच्छसंखर्डि वा संखर्डि संखडिपडिआए नो अभिसंधारिज्ञा गमणाए ॥

से भिक्खू वा (२) से जं पुण जाणिज्ञा मंसाइयं वा भच्छाइयं वा जाव हीरमाणं वा पेहाए अंतरा से मग्गा अप्पा पाणा जाव संताणगा नो जत्य बहवे समण जाव उवागमिस्संति अप्पाइत्रा वित्ती पत्रस्स निक्खमणपसेवाए पत्रस्स वायणपुच्छणपरियद्वणुप्पेहधम्मानुओगचिंताए, सेवं नञ्चा तहप्पगारं पुरेसंखडिं वा अमिसंघारिज्र गमणाए ॥

ष्ट्र. स भिक्षुक्वचिद्ग्रामादौ भिक्षार्थंप्रविष्टः सन् यद्येवंभूता सङ्घडिं जानीयात् तत्प्रतिज्ञया नाभिसंधारयेद् दमनायेत्यन्ते क्रिया, याद्दग्भूतां च सङ्घडिं न गन्तव्यं तां दर्शयति-मांसमादौ प्रधानं यस्यां सा मांसादिका तामिति, इदमुक्तं भवति-मांसनिवृत्तिं कर्तुकामाः पूर्णायां वा निवृत्तौ मांसप्रचुरां सङ्घडिं कुर्युः तत्र कश्चित्व्वजनादिस्तदनुरूपमेव किञ्चित्रयेत्, तञ्च नीयमानं धष्ट्वान तत्रगन्तव्यं, तत्र दोषान् वक्ष्यतीति, तथा मत्स्या आदौ प्रधानं यस्यां सा तथाय एवं मांसखलमिति, यत्र सङ्घडिनिमित्तं मांसं छित्त्वा छित्त्वा शोष्यते शुष्कं वा पुञ्जीकृतमास्ते तत्तथा, क्रिया पूर्ववत्, एवं मत्स्यखलमपीति, तथा 'आहेण' ति यदिवारोत्तरकालं वधूप्रवेशे वरगृहे मोजनंक्रिते, 'पहेणंति वध्वा नीयमानाया यत्पितृगृहमोजन समिति,

'हिंगोलं'तिमृतकभक्तं यक्षादियात्राभोजनं वा, 'संमेलं'ति परिजनसम्मानभक्तं गोष्ठीभक्तं या, तदेवंभूतां सङ्घडिं ज्ञात्वा तत्रच केनचित्त्वजनादिना तन्निमित्तमेव किश्चिद् 'हियमाणं' नीयमानं प्रेक्ष्य तत्र भिक्षार्थं न गच्छेद्, यतस्तत्र गच्छतो गतस्य च दोषाः संभवन्ति, तांश्च दर्शयति-गच्छतस्तावदन्तरा-अन्तराले 'तस्य' भिक्षोः 'मार्गा' पन्थानो बहवः प्राणाः- प्राणिनः- पतङ्गादयो येषु ते तथा, तथा बहुबीजा बहुहरिता बह्भवश्याय बहूदका बहूत्तिङ्गपनकोदकमृत्तिकाम-र्कटसन्तानकाः, प्राप्तस्य च तत्र सङ्खरिस्थाने बहवः श्रमणब्राह्मणतिथिकृपणवणीमगा उपागता उपागमिमष्यन्त तयोपागच्छन्ति च, तत्राकीर्णा चरकादिभिः ।

'वृत्ति' वर्त्तनम् अतो न तत्र प्राज्ञस्य निष्क्रमण प्रवेशाय वृत्ति कल्पते, नापि प्राज्ञस्य वाचनाप्रच्छनापरिवर्त्तनाऽनुप्रेक्षाधर्मानुयोगचिन्तायै वृत्ति कल्पते, न तत्र जनाकीर्णे गीतवादित्र-सम्भवात स्वाध्यायादिक्रियाः प्रवर्तन्त इति भावः, भिक्षुरेवं गच्छगतापेक्षया बहुदोषा तथा प्रकारां मांसप्रधानादिकां पुरःसङ्खडिं पश्चात्सङ्खडिं वा ज्ञात्वा तस्रतिज्ञया नामिसन्धारयेद्गमनयेति ॥

साम्प्रतमपवादमाह स भिक्षुरध्वानक्षीणो ग्लानोत्थितस्तपश्चरणकर्षितो वाऽवमौदर्यं वा प्रेक्ष्य दुर्लभद्रव्यार्थी वा स यदि युनरेवं जानीयात्-मांसादिकमित्यादि पूर्ववदालापका यावदन्तरा-अन्तराले 'से' तस्य भिक्षोर्गच्छतो मार्गा अल्पप्राणा अल्पबीजा अल्पहरिता इत्यादि व्यत्ययेन पूर्ववदालापकः, तदेवमल्पदोषां सङ्घडिं ज्ञात्वा मांसादिदोषपरिहरण समर्थ सति कारणे तस्रतिज्ञयाऽभिसंघारयेद्गमनायेति॥पिण्डाधिकारेऽनुवर्त्तमाने भिक्षागोचरविशेषमधिकृत्याह- मू. (३५७) से भिक्खू वा २ जाव पविसिउकामे से जं पुण जाणिज्ञा खीरिणियाओ गावीओ खीरिज्रमाणीओ पेहाए असणं वा ४ उवसंखडिज्रमाणं पेहाए पुरा अप्पजूहिए सेवं नश्चा नो गाहावइकुलं पिंडवायपडियाए निक्खमिज्ञ वा पविसिज्ज वा ।।

से तमादाय एगंतमवक्वमिञ्जा अणावायमसंलोए चिडिज्ञा, अह पुण एवं जाणिज्ञा-खीरिणियाओ गावीओ खीरियाओ पेहाए असणं वा ४ उवक्खडियं पेहाए पुराए जूहिए सेवं नश्चा तअ संजयामेव गाहा निक्खमिञ्ज वा।।

**वृ.** स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रवेष्टुकामः सन्नथ पुनरेवं विजानीयाद्, यथा क्षीरिण्यो गावोऽत्र दुह्यन्ते, ताश्च दुह्यमानाः प्रेक्ष्य तथाऽशनादिकं चतुर्विधमप्याहारमुपसंस्क्रियमाणं प्रेक्ष्य तथा 'अप्पजूहिए'ति सिद्धेऽप्योदनादिके 'पुरा' पूर्वमन्येषामदत्ते सति प्रवर्त्तमानाधिकरणापेक्षीपूर्वत्र च प्रकृतिभद्रकादि कश्चिद्यति रृट्वा श्रद्धावान् बहुतरं दुग्धं ददामीति वत्सकपीडां कुर्यात् त्रसेयुर्वा दुह्यमाना गावस्तत्र संयमात्मविराधना, अर्द्धपक्**वोदने च पाकार्थं त्वरयाऽधिकं यलं कुर्यात्** ततः संयमविराधनेति, तदेवं ज्ञात्वा स भिक्षुर्गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया न प्रविशेन्नापि निष्कामेदिति । यञ्च कुर्यातद्दर्शयितुमाह-

'सः' भिक्षु 'तम्' अर्थं गोदोहनादिकम् 'आदाय' गृहीत्वाऽवगम्येत्यर्थ, तत एकान्तमप-क्रामेद्, अपक्रम्य च गृहस्थानामनापातेऽसंलोके च तिष्ठेत्, तत्र तिष्ठन्नथ पुनरेवं जानीयाद् यथा क्षीरिण्यो गावो दुग्धा इत्यादि पूर्वव्यत्ययेनालापका नेया यावन्निष्क्रामेळिविशेढेति ॥

पिण्डाधिकार एवेदमाह-

मू. (३५८) भिक्खागा नामेगे एवमाहंसु-समाणा वा वसमाणा वा गामाणुगामं दूइञ्जमाणे खुड्डाए खलु अयं गामे संनिरुद्धाए नो महालए से हंता भयंतारो बाहिरगाणि गामा भिक्खायरियाए वयह, संति तत्थेगइयस्स भिक्खुस्स पुरेसंथुया वा पच्छासंथुवा वा परिवसंति, तंजहा-गाहावई वा गाहावइणीओ वा गाहावइपुत्ता वा गाहावइधूयाओ वा गाहावईसुण्हाओ वा धाइओ वा दासा वा दासीओ वा कम्मकरा वा कम्मकरीओ वा, तहप्पगाराइं कुलाइं पुरेसंथुयाणि वा पच्छासंथुयाणि वा पुच्चामेव भिक्खायरियाए अनुपविसिस्सामि ।

अविय इत्य लभिस्सामि पिंडं वा लोयं वा खीरं वा दहिं वा नवनीयं वा घयं वा गुल्लं वा तिल्लं वा महुं वा मञ्जं वा सक्कुलिं वा फाणियं वा पूर्यं वा सहिरिणं वा, तं पुव्वामेव भुश्चा पिद्या पडिग्गहं च संलिहिय संमजिय तओ पच्छा भिक्खूहिं सद्धिं गाहा पविसिस्सामिम वा निक्खमिस्सामि वा, माइहाणं संफासे, तं नो एवं करिजा।। से तत्थ भिक्खूहिं सद्धिं कालेन अनुपविसित्ता तत्थियरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं पडिगाहित्ता आहारं आहारिजा, एयं खलु तस्स भिक्खुस्स या भिक्खुणीए वा सामग्गियं ०।।

षु.भिक्षणशौलाभिक्षुकानामैकेसाधवः केचनैवमुक्तवन्तः, किम्भूतास्तेइत्याह-'समानाः' इति जङ्घाबलपरिक्षीणतयैकस्पिन्नैव क्षेत्रे तिष्ठन्तः, तथा 'वसमानाः' मासकल्पविहारिणः, त एवंभूताः प्राधूर्णकान् समायातान् ग्रामानुग्रामं दूयमानान्-गच्छत एवमूचुः-यथा क्षुल्लकोऽयं ग्रामोऽल्पगृहभिक्षादोवा, तथा संनिरूद्धः-सूतकादिना, नोमहानिति पुनर्वचनमादरख्यापनार्थम्, अतिशयेन क्षुल्लक इत्यर्थ, ततो हत्त ! इत्यामन्त्रणं यू्यं भवन्तः-पूज्या बहिर्ग्रामेषु भिक्षाचर्यार्थं न्नजतेत्येवं कुर्यात्, यदिवा तत्रैकस्य वास्तव्यस्य भिक्षोः 'पुरःसंस्तुताः' भ्रातृव्यादयः 'पश्चात्संस्तुताः' श्वशुरकुलसंबद्धाः परिवसन्ति, तान् स्वनामग्राहमाह ।

तद्यधा-गृहपतिर्वेत्यादि सुगमं यावत्तयाप्रकाराणा कुलानि पुरः पश्चात्संस्तुतानि पूर्वमेव भिक्षाकालादहमेतेषु भिक्षार्थं प्रवेक्ष्यामि, अपि चैतेषु स्वजनादिकुलेष्वभ्रिप्रेतं लाभं लप्स्ये, तदेव दर्शयति-'पिण्डं' शाल्योदनादिकं 'लोयम्' इतीन्द्रियानुकूलं रसाद्युपेतमुच्यते, तथा क्षीरं वेत्यादि सुगमं यावत्सिहरिणीं वेति, नवरं मद्यमांसे छेदसूत्राभिप्रायेण व्याख्येये, अथवा कश्चिदतिप्रमादा-वष्टब्धोऽत्यन्तगृष्नुतया मधुमद्यमांसान्यप्याश्रयेद तस्तदुपादानं, 'फाणियं'ति उदकेन द्रवीकृतो गुडः क्वथितोऽक्वथितो वा शिखरिणी मार्जिता, तल्लब्धं पूर्वमेव भुक्त्वा पेयं च पीत्वा पतद्ग्रहं संलिह्य निरवयवं कुत्वा संमृज्य च वस्त्रादिनाऽऽर्द्रतामपनीय ततः पश्चादुपागते भिक्षाकालेऽविकृतवदनः प्राधूर्णकभिक्षुमि सार्द्धं गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रवेक्ष्यामि निष्क्रमिष्यामि चेत्यभिसन्धिना मातृस्थानं संस्पृशेदसावित्यतः प्रतिषिध्यते-नैवं कुर्यांदिति ॥ कथं च कुर्यादित्याह-

'सः' भिक्षु 'तत्र' ग्रामादौ प्राधूर्णकभिक्षुमि सार्खं 'कालेन' भिक्षावसरेण प्राप्तेन गृहपतिकुल-मनुप्रविश्य तन्न 'इतरेतरेभ्यः' उञ्चावचेभ्यः कुलेभ्यः 'सामुदानिकं' भिक्षापिण्डम् 'एषणीयम्' उद्गमादिदोषरहितं 'वैषिकं' केवलवेषावासंधात्रीदूतनिमित्तादिपिण्डदोषरहितं 'पिण्डपातं' भैक्षं प्रतिगृह्य प्राघूर्णकादिभिः सह ग्रासैषणादिदोषरहितमाहारमाहारयेद्, एतत्तस्य भिक्षोः 'साम्प्र्यं' संपूर्णो भिक्षुभाव इति ॥

चूडा-१, अध्ययन नं-१, उद्देशक-४ समाप्त :

#### चूडा-१, अध्ययन नं-१, उद्देशक-५

ष्ट्र. उक्तश्चतुर्थोदेशकः, अधुना पश्चमः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोदेशके पिण्डग्रहणविधिरभिहितः, अत्रापि स एवाभिधीयत इत्याह-

मू. (३५९) से भिक्खूवा २ जाव पविडे समाणे से जं पुण जाणिज्ञा-अग्गपिंडं उक्खिप्पमाणं पेहाए अग्गपिंडं निक्खिप्पमाणं पेहाए अग्गपिंडं हीरमाणं पेहाए अग्गपिंडं परिभाइज्रमाणं पेहाए अग्गपिंडं परिभुंजमाणं पेहाए अग्गपिंडं परिइविज्रमाणं पेहाए पुरा असिणाइ वा अवहाराइ वा पुरा जत्थऽण्णे समण वणीमगा खद्धं २ उवसंकमंति से हंता अहमवि खद्धं २ उवसंकमामि, माइडाणं संफासे, नो एवं करेजा।।

ष्ट्र. स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यत्पुनरेवं जानीयात्तद्यथा-अग्रपिण्डो-निष्पन्नस्य शाल्योदनादेराहारस्य देवताद्यर्थं स्तोकस्तोकोद्धारस्तमुल्लिप्यमाणं ध्ष्ट्वा, तथाऽन्यन्न निक्षिप्यमाणं, तथा 'हियमाणं' नीयमानं देवतायतनादौ, तथा 'परिभज्यमानं' विभज्यमानं स्तोकं स्तोकमन्येभ्यो दीयमानं, तथा परिभुज्यमानं, तथा परित्यज्यमानं-देवायतनाच्चतुर्दिक्षुक्षिप्यमाणं, तथा 'पुरा असिणाइ व' ति-'पुरा'पूर्वमन्ये श्रमणादयो येऽमुमग्रपिण्डमंशितवन्तः ।

तृया पूर्वमप्हतवन्तो-व्यवस्थायऽव्यवस्थया चा गृहीतवन्तः, तदभिप्रायेण पुनरांपे पूर्वमिव वयमत्र लप्स्यामह इति यत्राग्रपिण्डादौ श्रमणादयः 'खद्धं खद्धं' ति त्वरितं त्वरितमुप- संक्रामन्ति, स भिक्षुरेतदपेक्ष्य कश्चिदेवं 'कुर्याद्' आलोचयेद्, यथा 'हन्त' इति वाक्योपन्या- सार्थं अहमपि त्वरितमुपसंक्रमामि, एवं च कुर्वन् भिक्षुर्मातृस्थानं संस्पृशेदित्यतो नैवं कुर्यादिति ॥ साम्प्रतं भिक्षाटनविधिप्रदर्शनार्थमाह--

मू. (३६०) से भिक्खू वा (२) जाव समाणे अंतरा से वप्पाणि वा फलिहाणि वा पागाराणि वा तोरणाणि वा अग्गलाणि अग्गलपासगाणि वा सति परक्कमे संजयामेव परिक्कमिज्रा, नो उज्जुयं गच्छिज्ञा, केवली बूया आयाणमेयं, से तत्थ परक्कममाणे पयलिज्ञ वा पक्खलेज्ञ वा पवडिज्ञ वा, से तत्थ पयलमाणे वा पक्खलेज्ञमाणे वा पवडमाणे वा, तत्थ से काए उद्यारेण वा पासवणेण वा खेलेण वा सिंघाणेण वा बंतेण वा पित्तेण वा पूएण वा सुक्केण वा सोणिएए वा उवलित्ते सिया,

तहप्पगारं कायं नो अनंतरहियाए पुढवीए नो ससिणिद्धाए पुढवीए तो ससरक्खाए पुढवीए नो यित्तमंताए सिलाए नो चित्तमंताए लेलूए कोलावासंसि वा दारुए जीवपइडिए सअंडे सपाणे जाव ससंताणए नो आमज्जिज्ज वा पमज्जिज्ज वा संलिहिज वा निलिहिज वा उव्वलेज वा उव्वट्टिज वा आयाविज वा पयाविज वा, से पुव्वामेव अप्पससरक्खं तणं वा पत्तं वा कट्ठं वा सक्करं वा जाइजा, जाइत्ता से तमायाय एगंतमवक्कमिजा २ अहेझामयंडिलंसि वा जाव अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि पडिलेहिय पडिलेहिय पमजिय तओ संजयामेव आमजिज वा जाव पयाविज वा ॥

**वृ.** स भिक्षुर्भिक्षार्थ गृहपतिकुलं-पाटकं रथ्यां ग्रामादिकं वा प्रविष्टः सन् मार्गं प्रत्युपेक्षेत, तत्र यदि 'अन्तरा' अन्तराले 'से तस्य भिक्षोर्गच्छत एतानि स्यु, तद्यथा- 'वप्राः' समुन्नता वाऽर्गलपाशका वा-यत्रार्गलाऽग्राणिनिक्षिपन्ते, एतानि चान्तराले ज्ञात्याप्रक्रम्यतेऽनेनेति प्रक्रमो-मार्गस्तस्मिन्नयस्मिन् सति संयत एव तेने 'पराक्रमेत' गच्छेत्, नैवर्जुना गच्छेत्, किमिति ?, यतः 'केवली' सर्वज्ञो ब्रूयाद् 'आदानं' कर्मादानमेतत्, संयमात्मविराधनातः, तामेव दर्शयति ।

'स' भिक्षु 'तत्र' तस्मिन् वप्रादियुक्ते मार्गे 'पराक्रममाणः' गच्छन् विषमत्वान्मार्गस्य कदाचित् 'प्रचलेत्' कम्पेत् प्रस्खलेढा तथा प्रपतेढा, स तत्र प्रस्खलन् प्रपतन् वाषण्णां कायानामन्यत-मं विराधयेत्, तथा तत्र 'से' तस्य काय उच्चारेण वा प्रवणेन वा श्लेष्मणा वा सिङ्घानकेन वा वान्तेन वा पित्तेन वा पूतेन वा शुक्रेण वा शोणितेन वा उपलिप्तः स्यादित्यत एवंभूतेन पया न गन्तव्यम्, अध मार्गान्तराभावात्तेनैव गतः प्रस्खलितः सन् कर्दमाद्युपलिप्तकायो नैवं कुर्यादिति दर्शयति- स यतिस्तथाप्रकारम्- अशुचिकर्दमाद्युपलिप्तं कायमनन्तर्हितया-अव्यवहितया पृथिव्या तथा 'सस्निग्धया' आर्द्रया एवं सरजस्कया वा, तथा 'चित्तवत्या' सचित्तया शिलया, चित्तवत्ता 'लेलुना' पृथिवीशकलेन वा, एवं कोलाधुणास्तदावासभूते दारुणि जीवप्रतिष्ठिते साण्डे सप्राणिनि यावत्ससन्तानके

'नो' नैव सकृदामृज्यात्रापि पुनः पुनः प्रमृज्यात्, करदमादि शोधयेदित्यर्थ, तथा तत्रस्थ एव 'न संलिहेञ्जा न संलिखेत, नोद्वर्त्तनादिनोद्वलेत्, नापि तदेवेषच्छुष्कमुद्वर्त्तयेत्, नापि तत्रस्थ एव सकृदातापयेत्, पुनः पुनर्वा प्रतापयेत्, यत्कुर्यात्तदाह-स भिक्षु 'पूर्वमेव' तदनन्तरमेवाल्परजस्कं तृणादि याचेत, तेन चैकान्तस्थण्डिले स्थितः सन् गात्रं 'प्रमृज्यात्' शोधयेत्, शेषं सुगममिति ॥ किञ्च–

384

मू. (३६९) से भिक्खू वा से जं पुण जाणिजा गोणं वियालं पडिपहे पेहाए महिसं वियालं पडिपहे पेहाए, एवं मणुस्सं आसं हत्थि सीहं वर्ग्धं विगं दीवियं अच्छं तरच्छं परिसरं सियालं बिरालं सुणयं कोलसुणयं कोकंतियं चित्ताचिल्लडयं वियालं पडिपहे पेहाए स परक्कमे संजयामेव परक्कमेजा, नो उज्जुयं गच्छिज्ञा। से भिक्खू वा समाणे अंतरा से उवाओ वा खाणुए वा कंटए वा घसी वा भिलगा वा विसमे वा विज्ञले वा परियावज्जिज्ञा, सइ परक्कमे संजयामेव, नो उज्जुयं गच्छिज्ञा।।

**मृ.** स भिक्षुर्भिक्षार्थ प्रविष्टः सन् पथ्युपयोगं कुर्यात्, तत्र च यदि पुनरेवं जानीयाद् यथाऽत्र किश्चिद्गवादिकमास्त इति स तन्मार्ग रून्धानं 'गां' बलीवर्दं 'व्यालं' ध्व्तं दुष्टमित्यर्थ, पन्थानं प्रति प्रतिपथस्तस्मिन् स्थितं प्रत्युपेक्ष्य, शेषं सुगमं, यावत्सति पराक्र मे-मार्गान्तरे ऋजुना पथाऽऽत्मवि- राधनासम्भवान्न गच्छेत्, नवरं 'विगं'ति वृकं 'द्वीपिनं' चित्रकम् 'अच्छं'ति ऋक्षं 'परिसर'न्ति सरमं 'कोलसुणयं' महासूकरं 'कोकंतिय'न्ति श्रृ गालाकृतिर्लोमटको रात्रो को को इत्येवं रारटीति, 'चित्ताचिल्लडयं'ति आरण्यो जीवविशेषस्तमिति !! तथा–

सभिक्षुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन्मार्गोपयोगं दद्यात्, तत्रान्तराले यद्येतत्पर्यापद्येत-स्यात्, तद्यथा-'अवपातः' गत्तः स्थाणुर्वा कण्टको वा घसी नाम-स्थल'दधस्तादवतरणं 'मिलुग'त्ति स्फुटितकृष्णभूराजि विषमं-निम्नोन्नतं विज्ञलं-कर्दमः तन्त्रात्मसंयमविराघनासम्भवात् 'पराक्रमे' मार्गान्तरे सति ऋजुना पथा न गच्छेदिति ॥ तथा-

मू. (३६२) से भिक्खू वा (२) गाहावइकुलस्स दुवारबाहं कंटगबुंदियाए परिपिहियं पेहाए तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणणुत्रविय अपडिलेहिय अप्पमज़िय नो अवंगुणिजजज वा पविसिज्ञ वा निक्खमिज्ञ वा, तेसिं पुव्वामेव उग्गहं अणुन्नविय पडिलेहिय पडिलेहिय पमज़िय पमज़िय तओ संजयामेव अवंगुणिज्ञ वा पविसेज्ञ वा निक्खमेज्ञ वा ।।

ष्ट्र सभिक्षुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् गृहपतिकुलस्य 'दुवारबाहं'ति द्वारभागस्तं कण्डकशाखया 'पिहितं' स्थगितं प्रेक्ष्य येषां तद्गृहं तेषामवग्रहं पूर्वमेव 'अननुज्ञाप्य' अयाचित्वा, तथा अप्रत्युपेक्ष्य चक्षुषाऽप्रमृज्य च रजोहरणादिना 'नोऽवंगुणेज्ञ'त्ति नैवोदधाटयेद्, उद्घाट्य च न प्रविशेन्नापि निष्कामेत्, दोषदर्शनात्, तथाहि-गृहपति प्रद्वेषं गच्छेत्, नष्टे च वस्तुनि साधुविषया शङ्कोत्पद्येत, उद्घाटद्वारे चान्यत् पश्वादि प्रविशेदित्येवं च संयमात्मविराधनेति । सति कारणेऽपवादमाह

स भिक्षुर्येषां तद्गृहं तेषां सम्बन्धिनमवग्रहम् 'अनुज्ञाप्य' याचित्वा प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य च गृहोद्घाटनादि कुर्यादिति, एतदुक्तं भवति-स्वतो द्वारमुद्घाट्य न प्रवेष्टव्यमेव, यदि पुनर्ग्लाना-चार्यादिप्रायोग्यं तत्र लभ्ये वैद्यो वा तत्रास्ते दुर्लमं वा द्रव्यं तत्र भविष्यति अवमौदर्ये वा सत्येभि कारणैरूपस्थितैः स्यगितद्वारिव्यवस्थितः सनशब्दं कुर्यात्, स्वयं वा यथाविध्युदघाट्य प्रवेष्टव्यमिति-॥ तत्र प्रविष्टस्य विधिं दर्शयितुमाह--

मू. (३६३) से भिक्खू वा २ से जं पुण जाणिआ समणं वा माहणं वा गामपिंडोलगं वा अतिहिं वा पुव्वपविट्ठं पेहाए नो तेसिं सं लोए सपडिदुवारे चिट्ठिआ, से तमायाय एगंतमवक्कमिआ २ अणावायमसंलोए चिट्ठिआ, से से परो अणावायमसंलोए चिट्ठमाणस्स असणं वा ४ आहट्ठ दलइआ, सेय एवं वइआ-आउसंतो समणा! इमे मे असणे वा ४ सव्वजणाए निसट्टे तं भुंजह वा णं परिमाएह वा णं, तं चेगइओ पडिगाहित्ता तुसिणीओ उवेहिज्ञा, अवियाइं एयं मममेव सिया, माइडाणं संफासे, नो एवं करिज्ञा, से तमायाए तत्थ गच्छिज्ञा २ से पुव्वामेव आलोइज्ञा–

आउसंतो समणा ! इमे मे असणे वा ४ सव्वजणाए निसिद्धे तॅ मुंजह वा णं जाव परिमाएह वा णं, सेणमेवं परो वइज्रा-आउसंतों समणा ! तुमं चेव णं परिभाएहि, से तत्य परिभाएमाणे नो अप्पणो खद्धं २ डायं २ ऊसढं २ रसियं २ मणुन्नं २ निद्धं २ लुक्खं २, से तत्य अमुच्छए अगिद्धे अगढिए अणज्झोववन्ने बहुसममेव परिभाइज्ञा, से णं परिभाएमाणं परो वइज्रा-आउसंतो समणा ! मा णं तुमं परिमाएहि सब्वे वेगइआ ठिया उ मुक्खामो वा पाहामो वा, से तत्य भुंजमाणे नो अप्पणा खद्धं खद्धं जाव लुक्खं, से तत्य अमुच्छि ए४ बहुसममेव भुंजिज्ञा वा पाइजा वा ।।

**दू**. स भिक्षुर्ग्रामादौ भिक्षार्थं प्रविष्टों यदि पुनरेवं विजानीयाद् यथाऽत्र गृहे अमणादि कश्चित्रविष्टः, तं च पूर्वप्रविष्टं प्रेक्ष्य दातृप्रतिग्राहकासमाधान्तरायभयान्न तदालोके तिष्ठेत्, नापि तत्निर्गमद्वारं प्रति दातृप्रतिग्राहकासमाधानान्तरायभयात्, किन्तु स भिक्षुरतं अमणादिकं भिक्षार्थमुपस्थितम् 'आदाय' अवगम्धैकान्तमपक्रामेत्, अपक्रम्य चान्धेषां चानापाते-विजनेऽसंलोके च संतिष्ठेत्, तत्र च तिष्ठतः स गृहस्थः 'से' तस्य भिक्षोश्चतुर्विधमप्याहारमाहत्य दद्यात्, प्रयच्छंश्चैतद्बू- याद्-यथा यूयं बहवो भिक्षार्थमुपस्थिता अहं च व्याकुलत्वान्नाहारं विमाजयितुमलमतो हे आयुष्मन्तः ! श्रमणाः ! अयमाहारश्चतुर्विधोऽपि 'मे' युष्मभ्यं सर्वजनार्थ मया निसृष्टो-दत्तस्तत्साम्प्रतं स्वरुच्या तमाहारमेकन्न वा भुङगध्वं परिभजध्वं वा-विभज्य वा गृह्णीतेयर्थ, तदेवंविध आहार उत्सर्गतो न ग्राह्यः, दुर्भिक्षे चाऽध्वाननिर्गतादौ वा द्वितीयपदे कारणे सति गृह्णीयाद् गृहीत्वा च नैवं कुर्याद् यथा तमाहारं गृहीत्वा तूष्णीको गच्छन्नैवमुरोक्षेत-यथा भमैवायमेकस्य दत्तोऽपि चायमल्पत्वान्म- मैवैकस्य स्याद्, एवं च मातृस्थानं संस्पृशेद, अतो नैवं कुर्यादिति, यथा च कुर्यात्तथा घ दर्श्यति-स भिक्षुस्तमाहारं गृहीत्वा त्त्र श्रमणाद्यत्ति के गच्छेद्, गत्वा च सः 'पूर्वमेव' आदावेव तेषामाहारम् 'आलोकयेत्' दर्शयेत्, इदं च ब्रूयाद—

यथा मो आयुष्मन्तः ! श्रमणादयः ! अयमशनादिक आहारो युष्माकं सर्वजनार्थमविभक्त एव गृहस्थेन निसृष्टो-दत्तस्तद्यूयमेकत्र भूङध्वं विभजध्वं वा, 'से' अथैनं साधुमेवं ब्रुवाणं कश्चिच्छ्रमणादिरेवंब्रूयाद्-यथा भो आयुष्मनम् ! श्रमण ! त्वमेवास्माकं परिभाजय, नैवं तावत्कुर्यात् अथ सति कारणे कुर्यात् तदाऽनेन विधिनेति दर्शयति-स भिक्षुर्विभाजयन्नात्मनः 'खद्धं ?' प्रचुरं २ 'डागं'ति शाकम् 'ऊसढं'ति उच्छितं वर्णादिगुणोपेतं, शेषं सुगमं यावद्रूक्षमिति न गृह्णीयादिति अपि च- 'सः' भिक्षु 'तत्र' आहारेऽमूर्छितोऽगृध्धेऽनाध्तोऽनध्युपपन्न इति, एतान्यादरख्यापना-र्थमेकार्थिकान्युपातानि कथश्चिद्मेदाद्वा व्याख्यातव्या नीति, 'बहुसम' मिति सर्वमत्र समं किश्चित्सिक्थादिना यद्यधिकं भवेदिति, तदेवं प्रभूतसमं परिभाजयेत्, तं च साधुं परिभाजयन्तं कश्चिदेवं ब्रूयाद,

यथा-आयुष्मन् ! श्रमण ! मा त्वं परिमाजय, किन्तु सर्व एव चैकत्र व्यवस्थिता वयं भोक्ष्यामहे पास्यामो वा, तञा परतीर्थिकैः सार्द्धं न भोक्तव्यं, स्वयूथ्यैश्च पार्श्वक्ष्यादिभि सह सम्भोगिकैः सहौधा लोचनां दत्वा मुआनानामयं विधि, तद्यथा-नो आत्मन इत्यादि, सुगममिति ॥ इहानन्तरसूत्रे बहिरालोकस्थानं निषिद्धं, साम्प्रतं तस्रवेशप्रतिषेधार्थमाह-- मू. (३६४) से भिक्खू वा से जं पुण जाणिज्जा समणं वा माहणं वा गामपिंडोलगं वा अतिहिं वा पुव्वपविट्ठं पेहाए नो ते उवाइक्कम्म पविसिज्ज वा ओभासिज्ज वा, से तमायाय एगंतमवक्कमिज्ञा २ अणावायमसंलोए चिट्ठिज्ञा, अह पुणेवं जाणिज्ञा-पडिसेहिए वा दित्रे वा, तओ तंमि नियत्तिए संजयामेव पविसिज्ज वा ओभासिज्ज वा एयं सामग्गियं –

वृ. स भिक्षुर्भिक्षार्थं ग्रामादी प्रविष्टः सन् यदा पुनरेवं विजानीयात्, तद्यया-अत्र गृहपतिकुुले श्रमणादिकः प्रविष्टः तं च पूर्वप्रविष्टं श्रमणादिकं प्रेक्ष्य ततो न तान् श्रमणादीन् पूर्वप्रविष्टानतिक्रम्य प्रविशेत्, नापि तत्स्य एव 'अवभाषेत'दातारं याचेत्, अपि च--

स तम् 'आदाय' अवगम्यैकान्तमपक्रामेद् अनापातासंलोके च तिष्ठेत् तावद्यावच्छ्रमणा-दिके प्रतिषिद्धे पिण्डे वा तस्मै दत्ते, ततस्तस्मिन् 'निवृत्ते' गृहात्रिर्गते सति ततः संयत एव प्रविशेदवभाषेत वेति, एवं च तस्य भिक्षोः 'सामग्र्य' सम्पूर्णो भिक्षुमाव इति ॥

चूडा-१ अध्ययन नं.-१, उद्देशक : ५ समाप्त :

### -: धूडा-१ अध्ययनं-१, उद्देशक : ६ :--

**वृ.** पश्चमोद्देशकानन्तरं षष्ठः समारम्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके श्रमणाद्यन्तरायभयाद्गृहप्रवेशो निषिद्धः, तदिहाप्यपरप्राण्यन्तरायप्रतिषेधार्थमाह-

मू. (३६५) से भिक्खू वा(२) से जं पुण जाणिज्ञा-रसेसिणो वहवे पाणा धासेसणाए संथडे संनिवइए पेहाए, तंजहा-कुक्कुडजाइयं वा सूयरजाइयं वा अग्गपिंडंसि वा वायसा संथडा संनिवइया पेहाए सइ परक्कमे संजया नो उज्जुयं गच्छिज्ञा।।

वृ. सभिक्षुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् यदि पुनरेवं विजानीयात्, तद्यया-बहवः 'प्राणाः' प्राणिनः रस्यते-आस्वाद्यत इतित रसस्तमेष्टुं शीलमेषां ते रसैषिणः, रसान्वेषिण इत्यर्थः ते तदर्थिनः सन्तः पश्चाद् ग्रासार्थं क्वचिद्रध्यादौ संनिपतितास्तांश्चाहारार्थं संस्कृतान्-चनान् संनिपतितान् प्रेक्ष्य ततस्तदभिमुखं न गच्छेदिति सन्बन्धः तांश्च प्राणिनः स्वनामग्राह माह-कुक्कुटजातिकं वेत्यनेन च पक्षिजातिरुद्दिधा, सूकरजातिकमित्यनेन च चतुष्पदजातिरिति,

'अग्रपिण्डे वा' काकपिण्ड्यां वा बहिः क्षिप्तायां वायसाः संनिपतिता भवेयुः, तांश्च धष्ट्वाऽग्रतः, ततः सति पराक्रमे-अन्यस्मिन् मार्गान्तरे 'संयतः' सम्यगुपयुक्तः संयतामन्त्रणं वा ऋजुस्तदभिमुखं न गच्छेद्, यतस्तन्न गच्छतोऽन्तरायं भवति, तेषां चान्यत्र संनिपतितानां वधोऽपि स्यादिति । साम्प्रतं गृहपतिकुलं प्रविष्टस्य साधोर्विधिमाह-

मू. (३६६) से मिक्खू वा २ जाव नो गाहावइकुलस्स वा दुवारसाहं अवलंबिय २ चिड्रिज़ा, नो गा० दगच्छड्डणमत्तए चिडिज़ा, नो गा० चंदणिउपए चिडिज़ा, नो गा० सिणाणस्स वा वश्चस्स वा संलोए सपडिदुवारे चिडिज़ा, नो आलोयं वा थिग्गलं वा संधि वा दगभवणं वा बाहाओ पगिन्झिय २ अंगुलियाए वा उद्दिसिय २ उण्णमिय २ अवनमिय २ निज्झाइज़ा, नो गाहावइअंगुलियाए उद्दिसिय २ जाइज़ा, नो गा० अंगुलिए चालिय २ जाइज़ा, नो गा० अं तज़िय २ जाइज़ा, नो गा० अं० उक्खुलंपिय २ जाइज़ा, नो गाहावई वंदिय २ जाइजा नो वयणं फरुसं वइज़ा ॥

ष्ट्र सभिक्षुर्भिक्षार्थ गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन्नैतल्कुर्यात्, तद्यथा-नो गृहपतिकुलस्य द्वारशाखाम्

'अवलम्ब्यावलम्ब्य' पौनः पुन्येन भृशं वाऽवलम्ब्य तिष्ठेद्, यतः साजीर्णत्वात्पतेद् दुष्प्रतिष्ठितत्वाद्वा चलेत् ततश्च संयमात्मविराधनेति, तथा 'उदकप्रतिष्ठापनमात्रके' उपकरणधावनोदकप्रक्षेपस्थाने प्रवचनजुगुप्साभयान्न तिष्ठेत्, तथा 'चंदणिउदय'त्ति आचमनोदकप्रवाहभूमी न तिष्ठेद्, दोषः पूर्वोक्त एव, तथा स्नानवर्चसंलोके तत्प्रतिद्वारं वा न तिष्ठेत्, एतदुक्तं भवति ।

यत्र स्थितैः स्नानवद्यःक्रिये कुर्वन गृहस्थः समवलोक्यते तत्र न तिष्ठेदिति, दोषश्चात्र दर्शनाशङ्कया निशङ्कतक्रियाया अमावेन निरोधप्रद्वेषसम्भव इति, तथा नैव गृहपतिकुल्य 'आलोकम्' आलोकस्थानं-गवाक्षादिकं, 'थिग्गलं'तिप्रदेशपतितसंस्कृतं, तथा 'संधि'त्ति चौरखातं भित्तिसन्धि वा, तथा 'उदकभवनम्' उदकगृहं, सर्वाण्यप्येतानि भुजां 'प्रगृह्य प्रगह्य' पौनःपुन्येन प्रसार्य तथाऽङ्गुल्योद्दिश्य तथा कायभवनम्योत्रम्य चन निध्यापयेत्-न प्रलोकयेवाप्यन्यस्मैप्रदर्शयेत्, सर्वत्र द्विर्वचनमादरख्यापनार्थं, तत्र हि हतनष्टादौ शङ्कोत्पद्यत् इति ॥ अपि च–

स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सत्रैव गृहपतिमङ्गल्याऽत्यर्थमुद्दिश्य तथा चालयित्वा तथा 'तर्जयित्वा' भयमुपदर्श्य तथा कण्डूयनं कृत्वा तथा गृहपतिं 'वन्दित्वा' वाग्मि स्तुत्वा प्रशस्य नो याचेत, अदत्ते न नैव तद्गृहपतिं परुषे वदेत्, तद्यथा-यक्षस्त्वं परगृहं रक्षसि, कुतस्ते दानं य, वात्तैव भद्रिका भवतो न पुनरनुष्ठानम् अपि च--''अक्षरद्वयमेतद्धि, 'नास्ति नास्ति यदुच्यते । तदिद देहि देहीति, विपरीतं भविष्यति । अन्यञ्च–

मू. (३६७) अह तत्य कंचि भुंजमाणं पेहाए गाहावइं वा जाव कम्मकरिं वा से पुव्वामेव आलोइज्रा-आउसोत्ति वा भइणित्ति वा दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं मोयणजायं ?, से सेवं वयंतस्स परो हत्यं वा मत्तं वा दव्विं वा भायणं वा सीओदगवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलिज्ञ वा पहोइज्ञ वा, से पुव्वा मेव आलोइज्रा-आउसोत्ति वा भइणित्ति वा ! मा एयं तुमं हत्यं वा ४ सीओदगवियडेण वा २ उच्छोलेहि वा २, अभिकंखसि मे दाउं एवमेव दलयाहि, से सेवं वयंतस्स परो हत्यं वा ४ सीओ० उसि० उच्छोलित्ता पहोइत्ता आहट्ट दलइज्रा, तहप्पगारेणं पुरेकम्मकएणं हत्येण वा ४ असणं वा ४ अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्ञा।

अह पुण एवं जाणिज़ा नो पुरेकम्मकएणं उदउल्लेणं तहप्पगारेणं वा उदउल्लेण वा हत्थेण वा ४ असणं वा ४ अफासुयं जाव नो पडिगाहिज़ा। अह पुणेवं जाणिज़ा-नो उदउल्लेण ससिणिखेण सेसं तं चेव एवं-ससरक्खे उदउल्ले, ससिणिखे मडिया ऊसे । हरियाले हिंगुलुए, मणोसिला अंजणे लोणे। गेरुय वन्निय सेडिय सोरडिये कुकुस उक्कुड्ठसंसडेण अह पुणेवं जाणिज़ा नो असंसडे संसड्ठे तहप्पगारेण संसडेण हत्थेण वा ४ असणं वा ४ फासुयं जाव पडिगाहिजा।।

**q**.अथ भिक्षुस्तत्र गृहपतिकुले प्रविष्टः सन् कञ्चन गृहपत्यादिकं भुआनं प्रेक्ष्य स भिक्षु पूर्वमेवालोचयेद्-यथाऽयं गृहपतिस्तद्भार्या वा यावत्कर्मकरी वा भुङ्क्ते पर्यालोच्य च सनामग्राहं याचेत, तद्यथा- 'आउसेत्ति वे'त्ति, अमुति इति गृहपते ! भगिनि ! इति वा इत्याद्यामन्त्र्य दास्यसि मेऽस्मादाहारजातादन्यतरद्भोजनजातमित्येवं, तद्य न वर्तते कर्त्तु, कारणे वा सत्येवं वदेत्-अथ 'से' तस्य भिक्षोरेवं वदतो याचमानस्य परो गृहस्थः कदाचिद्धस्तं मात्रं दर्वी माजनं वा 'शीतोदकविकटेन' अफायेन 'उष्णोदकविकटेन' उष्णोदकेनाप्रासुकेनात्रिदण्डोद्वृत्तेन पश्चाद्वा सचित्तीभूतेन 'उच्छोलेज्र'त्ति सकृदुदकेन प्रक्षालनं कुर्यात्, 'पहोएज्र'त्ति प्रकर्षेण वा हस्तादेर्द्धावनं कुर्यात्, स भिक्षुईस्तादिकं पूर्वमेव प्रक्षाल्यमानमालोचयेद्, दत्तावधानो भवेदित्यर्य, तच्च प्रक्षाल्यमानमालोच्यामुक इत्येवं स्वनामग्राहं निवारयेद्, यथा-मैवं कृतास्त्वमिति, यदि पुनरसौ गृहस्यो हस्तादिकं सचित्तोदकेन प्रक्षाल्य दद्योत्तदप्रासुकमिति ज्ञात्वा न प्रतिगृह्णीयादिति ।

किश्च-अयासौ भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यदि पुनरेवं विजानीयात्, तद्यथा-'नो' नैव साधुभिक्षादानार्थ पुरः-अग्रतः कृतं प्रक्षालनादिकं प्रक्षालितं किन्तु तथाप्रकार एव स्वतः कुतोऽप्यनुष्ठानादुदकाद्रोहस्तस्तेन, एवं मात्रादिना ऽपि गलदिन्दुना दीयमानं चतुर्विधमप्याहार-मप्रासुकमनेषणीयमिति मत्वा नो गृह्णीयादिति ॥ अथ पुनरेवं विजानीयात्, तद्यथा-नैव 'उदकार्द्रण' गलदि्बन्दुना हस्तादिना दद्यात्, किन्तु 'सस्निग्धेन' शीतोदकस्तिमितेनापि हस्तादिना दीयमानं न प्रतिगृह्णीयात, 'एव' मिति प्राक्तनं न्यायमतिदिशति, यथोदकस्निग्धेन इस्तोन न ग्राह्यं तथाऽन्येन रजसाऽपि, एवं मृत्तिकाद्यप्यायोज्यमिति ।

तत्रोषः-क्षारमृत्तिका हरितालहिङ्गुलकमनःशिलाऽअनलवणगेरुकाः प्रतीताः, सचित्ताश्च खनिविशेषोरत्तेः वर्णिका-पीतमृत्तिका, सेटिका-खटिका, सौराष्ट्रिका-तुबरिका, पिष्टम्-अच्छटिततन्दुलचूर्णः, कुक्कुसाः-प्रतीताः, 'उक्कुट्ठं'ति पीलुपर्णिकादेरुदूखलचूर्णितमार्द्रपर्ण-चूर्णिमित्येवमादिना सस्निग्धेन हस्तादिना दीयमानं न गृह्लीयात्, इत्येवमादिना तु असंसृष्टेन तु गृह्लीयादिति । अथ पुनरेवं जानीयान्नोऽसंसृष्टः किं तर्हि ?-संस्प्रस्तज्ञातीयेनाहारादिना तेन संसृष्टेन हस्तादिना प्रासुकमेषणीयमिति गृह्लीयात्, अत्र चाष्टी भङ्गाः, तद्यथा- ''असंसट्ठे हत्ये असंसट्ठे मत्तेनिरवसेसेदव्वे'' इत्येकैकपदव्यभिचारान्नैयाः, स्थापनाचेयम्-अथ पुनरसौ भिक्षुरेवं जानीयात्, तद्यथा-उदकादिनाऽसंसृष्टो हस्तादिस्ततो गृह्लीयात्, यदिवा तथाप्रकारेण दातव्यद्रव्यजातीयेन संसृष्टो हस्तादिस्तेन तथा प्रकारेण हस्तादिना दीयमानमाहारदिकं प्रासुकमेषणीयमितिकृत्वा प्रतिगृह्लीयादिति ॥ किञ्च-

मू. (३६८) से भिक्खू वा २ से जं पुण जाणिज़ा पिहुयं वा बहुरयं वा जाव चाउलपलंबं वा असंजए भिक्खु पडियाए चित्तमंताए सिलाए जाव संताणाए कुट्टिसुं वा कुट्टिति वा कुट्टिस्संति वा उप्फणिसु वा ३ तहप्पगारं पिहुयं वा अष्फासुयं नो पडिगाहिज्ञा।।

ष्ट्र. स भिक्षुभिक्षार्थं गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यदि पुनरेवं विजानीयात, तद्यथा-'पृथुकं' शाल्यादिलाजान् 'बहुरयं'ति पहुकं 'चाउलपलंबं'ति अद्धंपक्वाल्यादिकणादिकमित्येवमादिकम् 'असंयतः' गृहस्यः 'भिक्षुप्रतिज्ञया' भिक्षुमुद्दिश्य चित्तमत्यां शिल्यां तथा सबीजायां सहरितायां साण्डायां यावन्मर्कटसन्तानोपेतायाम् 'अकुट्टिषुः' कुट्टितवन्तः तथा कुट्टन्ति कुटिष्यन्ति वा।

एकवचनाधिकारेऽपि छान्दसत्वात्तिङव्यत्ययेन बहुवचनं द्रष्टव्यं, पूर्वत्र वा जातावेकवचनं,तच्च पृथुकादिकं सचित्तमचित्तं वा चित्तमत्यां शिलायां कुट्टयित्वा 'उप्फणिंसु'ति साध्वर्यं वाताय दत्तवन्तो ददति दास्यन्ति वा, तदेवं तथा प्रकारं पृथुकादि ज्ञात्वा लामे संति नो प्रतिगृह्णीयादिति ।। किञ्च–

मू. (३६९) से भिक्खू वा २ जाव समाणे से जं० बिलं वा लोणं उष्पियं वा लोणं अस्संजए जाव संताणाए भिंदिसु ३ रुचिंसु वा ३ बिलं वा लोणं उष्पियं वा लोणं अफासुयं नो पडिगाहिज्ञा मृ. स भिक्षुर्यदि पुनरेवं विजानीयात्, तद्यथा-बिलमिति खनिविशेषोत्पन्नं लवणम्, अस्य चोपलक्षणार्थत्वात्सैन्धवसीवर्चलादिकमपि द्रष्टव्यं, तथोद्भिञ्जमिति समुद्रोपकण्ठे क्षारोदकसम्पर्काद् यदुद्भिद्यते लवणम्, अस्याण्युपलक्षणार्थत्वात्सारोदकसेकाद्यद्भवति रूमकादिकं तदपि प्राह्यं।

तदेवंभूतं लवणं पूर्वोक्तविशेषणविशिष्टायां शिलायामभैत्सुः-कणिकाकारं कुर्यु, तथा साध्वर्थमेवभिन्दन्ति मेत्स्यन्ति वा तथा श्टक्ष्णतरार्थं 'रूचिसुव'त्ति पिष्टवन्तः पिंषन्ति पेक्ष्यन्तिवा, तदपि लवणमेवंप्रकारं ज्ञात्वा नो (प्रति) गृह्णीयात् ।। अपि च–

मू. (३७०) से भिक्खू वा से जं० असणं वा ४ अगणिनिक्खित्तं तहप्पगारं असणं वा ४ अफासुयं नों०, केवली बूया आयाणमेयं, अस्तंजए भिक्खुपडियाए उस्तिंचमाणे वा निरिंसचमाणे वा आमज्जमाणे वा पमज़माणे वा ओयारेमाणे वा उव्वत्तमाणे वा अगनिजीवे हिंसिज़ा, अह भिक्खूणं पुब्वोवइड़ा एस पइन्ना एस हेऊ एस कारणे एसुवएसे जं तहप्पगारं असणं वा ४ अगणिनिक्खित्तं अफासुयं नो पडि ०एयं०ं सामग्गियं ॥

वृ. सभिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टश्चतुर्विधमप्याहारमग्नावुपरि निक्षिप्तं तथाप्रकारं ज्वालासंबद्धं लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात् । अत्रैवदोषमाह-केवली ब्रूयात् 'आदानं' कर्मादानमेतदिति, तथाहि 'असंयतः' गृहस्थोभिक्षुप्रतिज्ञया तत्राग्न्युपरिव्यवस्थितमाहारम् 'उत्सिञ्चन्' आक्षिपन् 'निसिञ्चन्' दत्तोद्वरितं प्रक्षिपन्, तथा 'आमर्जयन्' सकृद्धस्तादिना शोधयन् ।

तथा प्रकर्षेण मार्जयन्-शोधयन्, तथाऽवतारयन्, तथा 'अपवर्त्तयन्' तिरश्चीनं कुर्वत्रग्निजीवान् हिंस्यादिति । 'अथ' अनन्तरं 'भिक्षूणां' साधूनां पूर्वोपदिष्टा एषा प्रतिज्ञा एष हेतुरेत्कारणमयमुपदेशः यत्तथाप्रकारमग्निसंबद्धमशनाद्यग्निक्षिप्तमप्रासुकमनेषणीयमिति ज्ञात्वा लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात्, एतत्खलु, भिक्षोः 'सामग्र्यं' समग्रो भिक्षुभाव इति ॥

चूडा-१ अध्ययन-१ उद्देशकः६ समाप्तः

--: चूडा-१ अध्ययन नं-१ उद्देशक-७ :-

**वृ.** षष्ठोदेशकानन्तरं संसमः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः- इहानन्तरोद्देशके संयमविराधनाऽभिहिता, इहतु संयमात्मदातृविराधना तया च विराधनया प्रवचनकुत्सेत्येतदत्र प्रतिपाद्यत इति-

मू. (३७९) से भिक्खू वा २ से जं० असणं वा ४ खंधोंसि वा यंभंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा पासायंसि वा हम्मियतलंसि वा अत्रयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि उवनिक्खित्ते सिया तहप्पगारं मालोहडं असणं वा ४ अफासुयं नो, केवली बूया आयाणमेयं, अस्संजए भिक्खूपडियाए पीढं वा फलगं वा निस्सेणिं वा उदूहलं वा आहट्ट उस्सविय दुरूहिज्ञा, से तत्य दुरूहमाणे पयलिज वा पवडिज वा, से तत्य पयलमाणे वा २ हत्यं वा पायं वा बाहुं वा ऊरुं वा उदरं वा सीसं वा अन्नयरं वा कायंसि इंदियजालं लूसिज वा पाणाणि वा ४।

अभिहणिजवा वित्तासिज वा लेसिज वा संघसिज वा संघट्टिज वा परियाविज वा किलामिज वा ठाणाओ ठाणं संकामिज वा, तं तहप्पगारं मालोहडं असणं वा ४ लाभे संते नो पडिगाहिजा, से भिक्खू वा २ जाव समाणे से जं० असणं वा ४ कुट्टियाओ वा कोलेजाउ वा अस्संजए भिक्खुपडियाए उक्कुजिय अवउजिय ओहरिय आहट्ट दलइज्जा, तहप्पगारं असणं वा ४ लाभे संते नो पडिगाहिजा।। **ष्ट्र.** स भिक्षुर्भिक्षार्थं प्रविष्टः सन् यदि पुनरेवं चतुर्विधमप्याहारं जानीयात्, तद्यथा- 'स्कन्धे' अर्छप्राकारे 'स्तम्भेवा' शैलदारुमयादौ, तथा मश्चकेवा मालेवा प्रासादेवा हर्म्यतलेवा अन्यतरस्मिन् वा तथाप्रकारेऽन्तरिक्षजाते स आहारः 'उपनिक्षिप्तः' व्यवस्थापितो मवेत्, तंच तथाप्रकारमाहारं मालाहतमिति मत्वा लाभे सति न प्रतिगत्क्षीयात्, केवली ब्रूयाद्यत आदानमेतदिति, तथाहि-असंयतो मिक्षुप्रतिज्ञया साधुदानार्थं पीठकं वा फलकं वा निश्रेणिं वा उदूखलं वाऽऽहत्य-ऊर्ध्व व्यवस्थाप्यारोहेत्, सतत्रारोहन् प्रचलेद्या प्रपतेद्वा, सतत्र प्रचलन् प्रपतन् वा हस्तादिकमन्यतरद्वा काये इन्द्रियजातं 'लूसेज्र'ति विराधयेत्, तथा प्राणिनो भूतानि जीवान् सत्त्वानमिहन्याद्वित्रासयेद्वा लेषयेद्वा-संभ्रेपं वा कुर्यात् तथा संघर्ष वा कुर्यात् तथा सङ्घटं वा कुर्यात्, एतच्च कुर्वस्तान् परितापयेद्वा क्राये इन्द्रियजातं 'लूसेज्र'त्ति विराधयेत्, तथा प्राणिनो भूतानि जीवान् सत्त्वानमिहन्याद्वित्रासयेद्वा लेषयेद्वा-संभ्रेपं वा कुर्यात् तथा संघर्ष वा कुर्यात् तथा सङ्घटं वा कुर्यात्, एतच्च कुर्वस्तान् परितापयेद्वा क्राये इन्द्रियजातं तथा मुर्यात् तथा संघर्ष वा कुर्यात् तथा सङ्घटं वा कुर्यात्, एतच्च की स्तान्, परितापयेद्वा वया स्थान्यात्रा संघर्ष वा कुर्यात् नया संघर्ष वा कुर्यात् तथा सा सां क्रि क्या क्रि न व प्राता तथा प्रकारं मालाहतं तल्लाभे सति नो प्रतिगृह्वीयादिति ।।

सभिक्षुर्यदि पुनरेवंभूतमाहारं जानीयात्, तद्यथा-'कोष्ठिकातः' मृन्मयकुशूलसंस्थानायाः ता 'कोलेज्ञाओ'ति अधोवृत्तखाताकाराद् असंयतः 'भिक्षुप्रतिज्ञया' साधुमुद्दिश्य कोष्ठिकातः 'उक्कुजिय'त्तिऊध्धूर्वकायमुन्नम्यततः कुब्जीभूय, तथा कोलेजाओ 'अवउज्जिअ'त्ति अधोऽवनम्य, तथा 'ओहरिय'त्ति तिरश्चीनो भूत्वाऽऽहारमाहृत्य दद्यात्, तद्य भिक्षुस्तथाप्रकारम-धोमालाहृतमितिकृत्वा लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति ।। अधुना पृथिवीकायमधिकृत्याह-

मू. (३७२) से भिक्खू वा (२) से जॅ० असणं वा ४ मंट्रियाँउलित्तं तहप्पगारें असणं वा ४ लाभे सं०, केवली० अस्संजए भि० महिओलित्तं असणं व०ा उब्मिंदमाणं पुढविकायं समारंभिज्ञा तह तेउचाउचणस्सइतसकायं समारंभिज्ञा, पुनरवि उल्लिपंमाणे पच्छाकम्पं करिज्ञा, अह भिक्खूणं पुब्वो जं तहप्पगारं मट्टिओलित्तं असणं वा लाभे० ।

से भिक्खू० से जं० असणं वा ४ पुढविकायपइड्रियें तहप्पगारं असणं वा असासुयं से भिक्खू जं० असणं वा ४ आउकायपइड्रियें चेव, एवं अगनिकायपइड्रियें लाभे केवली, अस्संज० भि० अगणिं उस्सक्रिय निस्सक्रिय ओहरिय आहड्ड दलइज्रा अह भिक्खूणं० जाव नो पडि० ॥

**दृ**. स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यदि पुनरेवं जानीयात्, तद्यधा-पिठरकादौ मृत्तिकयाऽवलिप्तमाहारं 'तथाप्रकार'मित्यवलिप्तं केनचित्परिज्ञान पश्चात्कर्मभयाञ्चतुर्विधमप्याहारं लाभे सति न प्रतिगृह्णीयात्, किमिति ?, यतः केवली ब्रूयात्कर्मादानमेतदिति, तदेव दर्शयति-'असंयतः'गृहस्थो भिक्षुप्रतिज्ञया मृत्तिकोपलिप्तमशनादिकम्-अशनादिभाजनं तच्चोद्भिनन्दन् पृथिवीकायं समारभेत, स एव केवल्याह, तथा तेजोवायुवनस्पतित्रसकायं समारभेत, दत्ते सत्युत्तरकालं पुनरपि शेषरक्षार्थं तद्भाजनमवलिम्पन् पश्चात्कर्म कुर्यात्, अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिश एषा प्रतिज्ञा एष हेतुरेतत्कारणमयमुपदेशः यत्तथाप्रकारं मृत्तिकोपलिप्तमशनादिजातं लाभे सति नो प्रतिगृह्णीयादिति ।

सभिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यदि पुनरेवंभूतमशनादि जानीयात्, तद्यथा- 'सचित्तपृथिवी-कायप्रतिष्ठितं' पृथ्वीकायोपरिव्यवस्थितमाहारं विज्ञाय पृथिवीकायसङ्घटनादिभयाल्लाभे सत्यप्रासु-कमनेषणीयं च ज्ञात्वा न प्रतिगृह्णीयादिति ।। एवमप्कायप्रतिष्ठितमग्निकायप्रतिष्ठितं लाभे सति न प्रतिगृह्णीयाद्, यतः केवली ब्रूयादादानमेतदिति । तदेव दर्शयति-असंयतो भिक्षुप्रतिज्ञया- ऽग्निकायमुल्मुकादिना 'ओसक्किय'त्ति प्रज्वाल्य, तथा 'ओहरिय'त्ति अग्निकायोपरि व्यवस्थितं पिठरकादिकमाहारभाजनमपवृत्त्य तत आहृत्य-गृहीत्वाऽ ऽहारं दद्यात्, तत्र भिक्षूणां पूर्वोपदिध एषा प्रतिज्ञा यदेतत्तथाभूतमाहारं नो प्रतिगृह्णीयादिति ॥

मू. (३७३) से भिक्खू वा २ से जं० असणं वा ४ अञ्चुसिणं अस्संजए भि० सुप्पेण वा विहुयणेण वा तालियंटेण वा पत्तेण वा साहाए वा साहाभंगेण वा पिहुणेण वा पिहुणहत्येण वा चेलेण वा चेलकण्णेण वा हत्येण वा मुहेण वा फुमिझ वा चीइज वा, से पुव्वामेव आलोइज्ञा-आउसोत्ति वा भइणित्ति वा !

मा एतं तुमं असणं वा अनुसिणं सुप्पेण वा जाव फुमाहि वा वीयाहि वा अभिकंखसि मे दाउं, एमेव दलयाहि, से सेवं वयंतस्स परो सुप्पेण वा जाव वीइत्ता आहट्ट दलइजा तहप्पगारं असणं वा ४ अफासुयं वा नो पडि० ।।

वृ. सभिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यदिपुनरेवं जानीयाद् यथाऽत्युष्णमोदनादिकमसंयतो भिक्षुप्रतिज्ञया शीतीकरणार्थं सूर्पेण वा वीजनेन वा तालवृन्तेन वा मयूरपिच्छकृतव्यजनेनेत्सर्थ, तथा शाखया शाखामङ्गेन पल्लवेनेत्यर्थ, तथा बर्हेण वा बर्हकलापेन वा, तथा वस्त्रेण वस्त्रकर्णेन वा हस्तेन वा मुखेन वा तथाप्रकारेणान्येन वा केनचित् 'फुमेज़ा' वे'ति मुखवायुना शीतीकुर्याद् वस्त्रादिभिर्वा वीजयेत्, स भिक्षु पूर्वभेव 'आलोकयेद्' दत्तोपयोगो भवेत्, तथाकुर्वाणं च धष्ट्वैतद्वदेत्, तद्यथा-अमुक ! इति वा भगिनि ! इति वा इत्यामन्त्रय मैवं कृथा यद्यभिकाङ्कसि मे दातुं तत एवंस्थितमेव ददस्व, अथ पुनः स परो-गृहस्थः 'से' तस्य भिक्षोरेवं वदतोऽपि सूर्पेण वा यावन्मुखेन वा वीजयित्वाऽऽहह्वय तथाप्रकारमशनादिकं दद्यात्, स च साधुरनेषणीयमिति मत्वा न परिगृह्णीयादिति ।। पिण्डाधिकार एवैषणादोषमधिकृत्त्याह-

मू. (३७४) से भिक्खू वा २ से जं.०असणं वा ४ वणस्सइकायपइडियें तहप्पगारं असणं० वा ४ वण लाभे संते नो पडि० । एवं तसकाएवि ।।

**वृ.** स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यसुनरेवं जानीयाद्-वनस्पतिकायप्रतिष्ठितं, तं चतुर्विधमप्याहारं न गृह्णीयादिति ।। एवं त्रसकायसूत्रमपि नेयमिति ! अत्र च वनस्पतिकाय-प्रतिष्ठितमित्यादिना निक्षिप्ताख्य एषणादोषोऽभिहितः, एवमन्येऽप्येषणादोषा यथासम्भवं सूत्रेष्वेवायोज्याः । ते चामी–

॥ ९ ॥"संकिय ९ मक्खिय २ निक्खित्त पिहिय ४ साहरिय ५ दायगु ६ म्मीसे ७।

अपरिणय ८ लित्त ९ छड्डिय १० एसणदोसा दस हवंति ''

तत्र शङ्कितमाधाकर्मादिना १, भ्रक्षितमुदकादिना २, निक्षिप्तं पृथिवीकायादौ ३, पिहितं बीजपूरकादिना ४, 'साहरियं'ति मात्रकादेस्तुषाद्यदेयमन्यत्र सचित्तपृथिव्यादौ संहत्य तेन मात्रकादिना यद्ददाति तत्संहतमित्युच्यते ५, दायग ति दाता बालवृद्धाद्ययोग्यः ६, उन्मिश्रं-सचित्तमिश्रम् ७, अपरिणतमिति यद्देयं न सम्यगचितीभूतं दातृग्राहकयोर्वा न सम्यग्भावोपेतं ८, लिप्तंवसादिना ९, 'छड्डि्यं'तिपरिशाटव १० दित्येषणादोषाः ॥ साम्प्रतंपानकाधिकारमुद्दिश्याह-

मू. (३७५) से भिक्खू वा २ से जं पुण पाणगजायं जाणिज़ा, तंजहा-उस्सेंइमं वा १ संसेइमं वा २ चाउलोदगं वा ३ अन्नयरं वा तहप्पगारं पाणगजायं अहुणाधोयं अणंबिलं अव्युक्कंतं

अपरिणयं अविद्धत्यं अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्ञा। अह पुण एवं जाणिज्ञा चिराधोयं अंबिलं वुक्वंतं परिणयं विद्धत्थं फासुयं पडिगाहिज्ञा। से भिक्खू वा से जं पुण-पाणगजायं जाणिज्ञा, तंजहा —

तिलोदगं वा ४ तुसोदगं वा ५ जवोदगं वा ६ आयामं वा ७ सोवीरं वा ८ सुद्धवियडं वा ९ अन्नयरं वा तहप्पगारं वा पाणगजायं पुव्वामेव आलोइज्ञा-आउसोत्ति वा भइणित्ति वा ! दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं पाणगजायं ?, से सेवंवयंतस्स परो वइज्रा-आउसंतो समणा ! तुमं चेवेयं पाणगजायं पडिग्गहेण वा उस्तिंचिया णं उयत्तिया णं गिण्हाहि, तहप्पगारं पाणगजायं सयं वा गिण्हिज्ञा परो वा से दिज्ञा, फासुयं लाभे संते पडिगाहिज्ञा ।।

**वृ.** स भिक्षुर्गुहपतिकुलं पानकार्थं प्रविष्टः सन् यत्पुनरेवं जानीयात् तद्यथा-'उस्सेइमं' वे'ति पिष्टोत्स्वेदनार्थमुदकं १ 'संसेइमं वा १ भाजनलग्नबिन्दुशोषो वा २ तन्दुलपाको वा ३, आदेशसत्वयम्-उदकस्वच्छीभावः, तदेवमाद्युदकम् 'अनाम्लं' स्वस्वादादचलितम् अव्युकान्तम-परिणतमविध्वस्तमप्रासुकं यावन्न प्रतिगृह्णीयादिति ॥

एतद्विपरीतं तु ग्राह्यमित्याह-अहेत्यादि सुगमम् । पुनः पानकाधिकार एव विशेषार्थमाह-सभिक्षुर्गृहपतिकुलंग्रविष्टो यखुनः पानकजातमेवंजानीयात्, तद्यथा- 'तिलोदक' तिलैः केनचिस्रका-रेण प्रासुकीकृतमुदकम ४, एवं तुषैर्यवैर्वा ५-६, तथा 'आचाम्लम्' अवश्यानं ७, 'सौवीरम्' आरनालं ८ 'शुद्धविकटं' प्रासुकमुदकम् ९, अन्यद्वा तथाप्रकारं द्राक्षापानकादि 'पानकजातं' पानीयसामान्यं पूर्वमेव 'अवलोकयेत्' पश्येत्, तच्च ध्ष्ट्वा तं गृहस्थम् अमुक ! इति वा भगिनि ! इति वेत्यामन्त्रयैवं ब्रूयाद्-यथा दास्यसि मे किश्चित्पानकजातं ?, स परस्तं भिक्षुमेवं वदन्तमेवं ब्रूयाद्-यथा आयुष्मन् ! श्रमण ! त्यमेवेदं पानकजातं स्वकीयेन पतद्ग्रहेण टोप्परिकया कटाहकेन वोत्सिग्च्यापवृत्त्य वा पानकमाण्डकं गृहाण, स एवमभ्यनुज्ञातः स्वयं गृह्णीयात् परो वा तस्मै दद्यात्, तदेवं लाभे सति प्रतिगृह्णीयादिति ॥ किञ्च--

मू. (३७६) से भिक्खू वा० से जं पुण पाणगं जाणिज्ञा-अनंतरहियाए पुढवीए जाव संताण्एउद्धट्ट २ निक्खित्तेसिया, असंजए भिक्खुपडियाएउदउल्लेण वा ससिणिद्धेण वा सकसाएण वा मत्तेण वा सीओवगेणवा संभोइत्ता आह्हुदलइज्ञा, तहप्रगारंपाणगजायंअसासुयंएयं खलुसामग्गियं

ष्ट्र. स भिक्षुर्यदि पुनरेवं जानीयात् तत्पानकं सचित्तेष्वव्यवहितेषु पृथिवीकायादिषु तथा मर्कटकादिसन्तानके वाऽन्यतो भाजनादुद्वृ त्योद्वृत्य 'निक्षिप्तं' व्यवस्थापितं स्यात्, यदिवा स एव 'असंयतः' गृहस्थः 'भिक्षुप्रतिज्ञया' भिक्षुमुद्दिश्य 'उदकाद्रेण' गलदि्बन्दुना 'सस्निग्धेन' गलदुदकबिन्दुना 'सकषायेण' सचित्तपृथिव्याद्यवयवगुण्ठितेन 'मात्रेण' भाजनेन शीतोदकेन वा 'संभोएत्ता' मिश्रयित्वाऽऽहृत्य दद्यात्, तथाप्रकारं पानकजातमप्रासुकमनेषणीयमिति मत्वा न परिगृह्णीयात्, एतत्तस्य भिक्षोभिक्षुण्या वा 'साम्प्र्यं' समग्रो भिक्षुभाव इति ॥

चूडा-१ अध्ययनं-१ उद्देशकः ७ समाप्तः

-: चूडा-१ अध्ययनं-१ उद्देशकः-८ :-

ष्ट्र. उक्तः सप्तमोद्देशकः, साम्प्रतमष्टमः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्ध-इहानन्तरोद्देशके पानकविचारः कृतः, इहापि तद्गतमेव विशेषमधिकृत्याह--- मू. (३७७) से भिक्खू वा २ से जं पुण पाणगजायं जाणिज्ञा, तंजहा-अंबपाणगं वा १० अंबाडगपाणगं वा ११ कविइपाण० १२ माउलिंगपा० १३ मुद्दियाणा १४ दालिमपा० १५ खजूरपा० १६ नालियेरपा० १७ करीरपा० १८ कोलप०ा १९ आमलपा० २० चिंचापा० २२

अन्नयरं वा तहप्पगारं पाणगजातं सअड्डियं सकणुयं सवीयगं अस्संजए भिक्खुपडियाए छब्बेण वा दूसेण वा वालगेण वा आविलियाण परिवीलियाण परिसावियाण आहट्ट दलइज्ञा तहप्पगारं पाणगजायं अफा० लाभे संते नो पडिगाहिज्ञा ।।

**वृ.** स भिक्षुर्गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् यतुनरेवंभूतं पानकजातं जानीयात्, तद्यथा-'अंबगपाणगं वे' त्यादि सुगमं, नवरं 'मुद्दिया' द्राक्षाकोलानि-बदराणि, एतेषु च पानकेषु द्राक्षाबद-राम्बिलिकादिकतिचित्पानकानि तत्क्षणमेव संमर्धक्रियन्ते अपराणि त्वाभ्राम्बाडकादिपानकानि द्वित्रादिदिनसन्धानेन विधीयन्त इत्येवभूतं पानकजातं तथाप्रकारमन्यदपि 'सास्थिकं' सहास्थिना कुलकेन यद्वर्तते, तथा सह कणुकेन-त्वगाद्यवयवेन यद्वर्तते, तथा बीजेन सह यहर्नते, अस्थिबीजयोश्चामलकादी प्रतीतो विशेषः, तदेवंभूतं पानकजातम् ।

असंयतः' गृहस्यो भिक्षुमुद्दिश्य-साध्वर्थ द्राक्षादिकमामर्ध पुनर्वशत्वग्निष्पादितच्छब्बकेन वा, तथा दूसं-यस्त्रंतेन वा, तथा 'वालगेणं'ति गवादिवालधिवालनिष्पन्नचालनकेन सुधरिकागृहकेन वा इत्यादिनोपकरणेनास्थ्याद्यपनयनार्थं सकृदापीड्य पुनः पुनः परिपीड्य, तथा परिसाव्य, निर्गाल्याहृय च साधुसमीपं दद्यादिति, एवंप्रकारं पानकजातमुद्गमदोषदुष्टं सत्यपि लाभे न प्रतिगृह्णीयात्, ते चामी उद्गमदोषाः–

II 9 II ''आहाकम्पु 9 देसिअ २ पूतीकम्पे ३ अ मीसंजाए अ ४ I ठवणा ५ पाहुडियाए ६ पाओअर ७ कीय ८ पामिश्चे ९

II २ II परियट्टिए १० अभिहडे ११ उब्भिन्ने १२ मालोहडे १३ इअ।

अच्छेजे १४ अनिसहे १५ अज्झोअरए १६ अ सोलसमे ।

साध्वर्थं यत्सचित्तमचित्तीक्रियते अचित्तं वा यत्पच्यते तदाधाकर्म १ । तथाऽऽत्मार्थं यत्पूर्वसिद्धमेव लड्डुकचूर्णकादि साधुमुद्दिश्य पुनरपि गुडादिना संसिक्र यते तदुद्देशिकं सामान्येन, विशेषतो विशेषसूत्रादवगन्तव्य मिति २ । यदाधाकर्माद्वयवसम्भिश्चं तत्पूतीकर्म ३ । संयतासंयताद्यर्थमादरारम्याहारपरिपाको मिश्रम् ४ । सार्ध्वंथ शीरादिस्थापनं स्थापना भण्यते ५ । प्रकरणस्य साध्वर्थमुत्सर्पणमवसर्पणं वा प्राभृतिका ६ । साधूनुद्दिश्य गवाक्षादिप्रकाशकरणं बहिर्वा प्रकारो आहारस्य व्यवस्थापनं प्रादुष्करणम् ७ । द्रव्यादिविनिमयेन स्वीकृत्तं क्रीतम् ८ । साध्वर्थं यदन्यस्मादुच्छिन्नकं गृह्यते तत्पामिश्चंति ९ । यच्छाल्योदनादि कोद्रवादिना प्रातिवेशिकगृहे परिवर्त्तय ददाति तत्परिवर्त्तितम् १० । यद्गृहादेः साधुवसतिमानीय ददाति तदाहृतम् १९ । गोमयाद्युपलिप्तं भाजनमुद्भिद्य ददाति तदुद्भिन्नम् १२ । मालाद्यवस्थितं

निश्रेण्यादिनाऽवतार्य ददाति तन्मालाहृतम् १३ । भृत्यादेराच्छिद्य यद्दीयते तदाच्छेद्यम् १४ । सामान्यंश्रेणीभक्तद्येकस्य ददतोऽनिसृष्टम् १५।स्वार्थमधिश्रयणादौकृते पश्चात्तन्दुलादिप्रसृत्या-दिप्रक्षेपादध्यवपूरकः १६ । तदेवमन्यतमेनापि दोषेण दुष्टं प्रतिगृह्णीयादिति ॥ पुनरपि भक्तपानविशेषमधिकृत्याह-- मू. (३७८) से भिक्खूवा २ आगंतारेसु वा आरामागारेसु वा गाहावईगिहेसु वा परियायसहेसु वा अन्नगंधाणि वा पाणगंधाणि वा सुरभिगंधाणि वा आघाय २ से तत्थ आसायपडियाए मुच्छिए गिद्धे गढिए अज्झोववन्ने अहो गंधे २ नो गंधमाघाइज्ञा।

ष्ट्र. 'आगंतारेसु व'ति पत्तनाद्बहिर्गृहेषु, तेषु ह्यागत्यागत्य पथिकादयस्तिष्ठन्तीति, तथाऽऽरामगृहेषु वा गृहपतिगृहेषु वा 'पर्यावसधेषु' इति भिक्षुकादिठेषु वा, इत्येवमादिष्वन्नपान-गन्धान् सुरभीनाघ्रायाघ्राय स भिक्षुस्तेष्वास्वादनप्रतिज्ञया मूर्छितो गृद्धो ग्रथितोऽध्युपपन्नः सन्नहो गन्धः अहो ! गन्ध इत्येवमादरवान् न गन्धं जिध्रेदिति ॥ पुनरप्याहारमधिकृत्याह-

मू. (३७९) से भिक्खू वा २ से जं० सालुयं वा विरालियं वा सासवनालियं वा अन्नयरं वा तहष्पगारं आमगं असत्थपरिणयं अफासु ० । से भिक्ख वा० से जं पुण० पिप्पलिं वा पिप्पलचुण्णं वा मिरियं वा मिरियचुण्णं वा सिंगबेरं वा सिंगबेरचुण्णं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं वा आमगं वा असत्थ प० । से भिक्खू वा० से जं पुण पलंबजायं जाणिज्ञा, तंजहा अंबपलंबं वा अंबाडगपलंबं वा तालप० झिज्झिरिप सुरहि० सल्लरप० अन्नयरं तहप्पगारं पलंबजायं आमगं असत्थप० । से भिक्खू ५ से जं पुण पवालजायं जाणिज्ञा, तंजहा ।–

आसोइपवालं वा निग्गोहप पिलुंखुप० निपूरप० सल्लइप० अन्नयरं वा तहप्पगारं पवालजायं आमगं असत्यपरिणयं० से भि० से जं पुण० सरडुयजायं जाणिज्ञा, तंजहा-सरडुयं वा कविष्टसर दाडिमसर बिल्लस अन्नयरं वा तहप्पगारं सरडुयजायं आमं असत्य परिणयं ०। से भिक्खू व०ा से० जं पु तंजहा-उंबरमंथुं वा नग्गोहमं० पिलुंखुमं० आसोत्थमं० अन्नयरं वा तहप्पगारं वा मंयुजायं आमयं दुरुक्वं साणुबीयं अफासुयं ०।

**वृ.** सुगमं, 'सालुकम्' इति कन्दको जलजः, 'विरालिय' इति कन्द एव स्थलजः, 'सासवणालिअ'न्ति सर्षपकन्दल्य इति । किञ्च-पिष्पलीमरिचे-प्रतीते 'श्रृ ङ्गबेरम्' आर्द्रकं तथाप्रकारमामलकादि आमम्-अशस्त्रोपहतं न प्रतिगृह्णीयादिति ।।

सुगमं, नवरं पलम्बजातमिति फलसामान्यं झिज्झिरी-वल्ली पाशः सुरभि-शतग्रुरिति ॥

गतार्थं, नवरम् 'आसोहे'त्ति अश्वत्थः 'पिलुंखु'ति पिष्परी णिपूरो-नन्दीवृक्षः ।। पुनरपि फलविशेषमधिकृत्याह— सुगमं, नवरं 'सरडुअं वे'ति अबद्धास्थिफलं, तदेव विशिष्यते कपित्थादिभिरिति।।

स्पष्टं नवरं 'मंथु'न्ति चूर्णः 'दुरुक्वं'ति ईषत्पिष्टं 'साणुवीय'न्ति अविध्वस्तयोनिजमिति

मू. (३८०) से भिक्खू वा० से जं पुण० आमडागं वा पूइपिन्नागं वा महुं वा मज़ंवा सपि या खोलं वा पुराणगं वा इत्य पाणा अणुप्पसूयाइं जायाइं संवुडाइं अव्युक्कंताइं अपरिणया इत्य पाणा अविद्धत्था नो पडिगाहिजा।

ष्ट्र. सभिक्षुर्यसुनरेवंजानीयत्, तद्यथा-'आमडागंवे'ति 'आमपत्रम्' अरणिकतन्दुलीयकादि तद्यार्द्धपक् वंमपक् वंवा, 'पूतिपिन्नाग'न्ति कुतखलं मधुमधे-प्रतीते 'सर्पि' : घृतं 'खोलं' मद्याधःकर्दमः, एतानि पुराणानि न ग्राह्याणि, यत एतेषु प्राणिनोऽनुप्रसूता जाताः संवृद्धा अव्युक्तान्ता अपरिणताः-अविध्वस्ताः, नानादेशजविनेयानुग्रहार्धमेकार्थिकान्येवैतानि किश्चिद्भेदाद्वा भेदः ॥ मू. (३८९) से भिक्खू वा० से जं० उच्छुमेरगं वा अंककरेलुगं वा कसेरूगं वा सिंघाडगं वा पूइआलुगं वा अन्नयरं वा० । से भिक्खू वा० से जं० उप्पलं वा उप्पलनालं वा भिसं वा भिसमुणालं वा पुक्खलं वा पुक्खलवभंगं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं ०।

**वृ.** 'उच्छुमेरगं'ति अपनीतत्वगिक्षुगण्डिका 'अंककरेलुअं वा' इत्येवमादीन् वनस्पति-विशेषान् जलजान् अन्यद्वा तथाप्रकारमामम्-अशस्त्रोपहतं नोप्रतिगृह्णीयादिति ।। सभिक्षुर्यतुनरेवं जानीयात्, तद्यथा-'उत्पलं' नीलोत्पलादि नालं-तस्यैवाधारः, 'भिसं' पद्मकन्दमूलं 'भिसमुणालं' पद्मकन्दोपरिवर्तिनी लता 'पोक्खलं' पद्मकेसरं 'पोकखलविभंगं' पद्मकन्दः अन्यद्वा तथाप्रकारमामम्-अशस्त्रोपहतं न प्रतिगृह्णीयादिति ।।

मू. (३८२) से भिक्खू वा २ से जं पु० अग्गबीयाणि वा मूलवीयाणि वा खंधवीयाणि वा पोरवी अग्गजायाणा वा मूलजा० खंधजा० पोरजा० नन्नत्थ तक्कलिमत्थए नवा तक्कलिसीसे न वा नालियेरमत्थएण वा खज्जूरिमत्थएण वा तालम० अन्नयरं वा तह्र० । से भिक्खू वा २ से जं० उच्छुं वा काणगं वा अंगारियं वा संमिस्सं विगदूमियं वितग्गगं वा कंदलीऊसुगं अन्नयरं वा तहण्गा०

से भिक्खू वा० से जं० लसुणं वा लसुणपत्तं वा ल० नालं वा लसुणकंदं वा ल० चोयगं वा अन्नयरं वा । से भिक्खू वा से जं अच्छियं वा कुंभिपक्वं तिंदुगं वा वेलुगं वा कासवनालियं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं आमं असत्थप० । से भिक्खू वा० से जं० कणं वा कणकुंडगं वा कणपूयलियं वा चाउलं वा चाउलपिट्ठं वा तिलं वा तिलपिट्ठं वा तिलपप्पडगं वा अन्नयरं वा तहप्पगारं आमं असत्थप० लाभे संते ने प, एवं खलु तस्त भिक्खुस्त सामग्गियं ।।

**वृ.** स भिक्षुर्यत्पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा-'अग्रबीजानि' जपाकुसुमादीनि 'मूलबीजानि' जात्यादीनि 'स्कन्धबीजानि' सल्लक्यादीनि 'पर्वबीजानी' इक्ष्वादीनि, तथा अग्रजातानि मूलजातानि .स्कन्धजातानि पर्वजातानीति, 'नन्नत्थ'त्ति नान्यस्मादग्रादेरानीयान्यन्न प्ररोहितानि किन्तु तत्रैवाग्रादौ जातानि, तथा 'तक्कलिमत्यएणवा' तक्कली-कन्दली 'ण' इति वाक्यलाङ्कारे तन्मस्तकं-तन्मध्यर्व्ती गर्भः तथा 'तक्कलिमत्यएणवा' तक्कली-कन्दली 'ण' इति वाक्यलाङ्कारे तन्मस्तकं-तन्मध्यर्व्ती गर्भः तथा 'कन्दलीशीर्ष' कन्दलीस्तबकः, एवं नालिकेरादेरपि द्रष्टव्यमिति, अथवा कन्दल्यादिमस्तकेन सर्दशमन्यद्यच्छिन्नानन्तरमेव ध्वंसमुपयाति तत्तथाप्रकारमन्यदामम्-अशस्त्रपरिणतं न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ स भिक्षुर्यत्युनरेवं जानीयात्, तद्यथा० ।

इक्षुंवा 'काणगं'ति व्याधिविशेषात्सच्छिद्रं, तथा 'अंगारकितं' विवर्णीभूतं, तथा 'सम्मिश्रं' स्फुटितत्वक् 'विगदूभियं'ति वृकैः शृ गालैर्चा ईषद्भक्षितं, न ह्येतावता रन्धाद्युपद्रवेण तद्यासुकं भवतीति सूत्रोपन्यासः, तथा वेत्राग्रं 'कंदलीऊसुयं'ति कन्दलीमध्यं, तथा Sन्यदप्येवंप्रकारमामम्-अशस्त्रोपहतं न प्रतिगृह्णीयादिति।। एवं लशुनसूत्रमपि सुगमं, नवरं 'चोअगं'ति कोशिकाकारा लशुनस्य बाह्यत्वक्, सा च यावत्सार्द्रा तावत्सचित्तेति। 'अच्छियं'ति वृक्षविशेषफलं 'तेंदुयं'ति टेग्बरूयं 'वेलुयं'ति बिल्वं 'कासवनालियं'ति श्रीपर्णीफलं, कुम्भीपक्वशब्दः प्रत्येकमभिसंबध्यते, एतदुक्तं भवति०।

यदच्छिकफलादिगत्तादावप्राप्तपाककालमेव बलात्पाकमानीयते तदामम्-अपरिणतं न प्रतिगृह्लीयादिति ।। 'कणम्' इति शाल्यादेः कणिकास्तत्र कदाचिन्नाभि संभवेत् 'कणिककुण्डं' कणिकाभिर्मश्राः कुक्कुसाः 'कणपूर्यालेअं'ति कणिकाभिर्मिश्राः पूर्पालेकाः कणपूर्पालेकाः, अत्रापि मन्दपक्वादौ नाभि संभाव्यते, शेषं सुगमं यावत्तस्य भिक्षोः 'सामग्र्यं' सम्पूर्णो भिक्षुभाव इति ॥ चूडा-१, अध्ययनं-१ उद्देशकः-८ - समाप्तः

-: चूडा-१, अध्ययनं-१, उद्देशकः-९ :-

वृ. उक्तोऽष्टमोद्देशकः, साम्प्रतं नवम आरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तर-मनेषणीयपिण्डपरिहार उक्तः, इहापि प्रकारान्तरेण स एवाभिधीयते–

मू. (३८३) इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया सङ्ढा भवंति, गाहावई वा जाव कम्पकरी वा, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ-जे इमे भवंति समणा भगवंता सीलवंतो वयवंतो गुणवंतो संजया संवुडा बंभयारी उवरया मेहुणाओ धम्माओ, नो खलु एएसिं कप्पइ आहाकम्मिए असणे वा ४ भुत्तए वा पायए वा।

े से जं पुण इमं अम्हं अप्पणो अडाए निडियं तं असणं ४ सव्वमेयं समणाणं निसिरामो, अवियाइं वयं पच्छा अप्पणो अडाए असणं वा ४ चेइस्सामो, एयप्पगारं निग्घोसं सुश्चा निसम्प तहप्पगारं असणं वा ४ अफ्रासुयं० ॥

**म्ट.** 'इहे'ति वाक्योपन्यासे प्रज्ञापकक्षेत्रे वा, खलुशब्दो वाक्यालङ्कारे प्रज्ञापकाद्यपेक्षया प्राच्यादौ दिशि सन्ति-विद्यन्तेपुरुषाः तेषु च केचन श्रद्धालवो भवेयुः ते च श्रावकाः प्रकृतिभद्रका वा, ते चामी-गृहपतिर्यावक्तर्मकरी वेति, तेषां चेदमुक्तपूर्वं भवेत्-'णम्' इति वाक्यालङ्कारे, ये इमे 'श्रमणाः' साधवो भगवन्तः 'शीलवन्तः' अष्टादशशीलाङ्गसहस्र धारिणः 'व्रतवन्तः' रात्रिभोजनविरमणषष्ठपश्चमहाव्रतधारिणः 'गुणवन्तः' पिण्डविशुद्धाद्युत्तरगुणोपेताः 'संयताः' इन्द्रियनोइन्द्रियसंयमवन्तः 'संवृताः' पिहितास्रवद्वाराः 'ब्रह्मचारिणः' नवविधब्रह्मगुसिगुप्ताः 'उपरता मैथुनाद्धर्मात्' अष्टादशविकल्पब्रह्मोपेता (संयता)ः ।

एतेषा च न कल्पे आधाकर्मिकमशनादि भोक्तुं पातुं वा, अतो यदात्मार्थमस्माकं निष्ठितंसिद्धमशनादि ४ तत्सर्वमेतेभ्यः श्रमणेभ्यः 'णिसिरामो'ति प्रयच्छामः, अपि च-वयं पश्चादात्मार्थमशनाद्यन्यत् 'चेतयिष्यामः' सङ्कल्पयिष्यामो निर्वर्त्तयिष्याम इतियावत्, तदेवं साधुरेवं 'निर्घोषं' ध्वनिं स्वत एव श्रुत्वाऽन्यो वा कुतश्चित् 'निशम्य' ज्ञात्वा तथाप्रकारमशनादि पश्चात्कर्मभयादप्रासुकमित्यनेषणीयं मत्वा लाभे सति न प्रतिगृत्लीयादिति ॥ किञ्च–

मू. (३८४) से भिक्खू वा वसमाणे वा० गामाणुगामं वा दूइज़माणे से जं० गामं वा जाव रायहाणिं वा इमंसिखलुगामंसिवा रायहाणिंसिवा संतेगइयस्स भिक्खुरस पुरेसंथुया वा पच्छासंथुया वा परिवसंति, तंजहा-गाहावई वा जाव कम्म ० तहप्पगाराइं कुलाइं नो पुव्यामेव भत्ताए वा निक्खमिज़ वा पविसेज़ वा २, केवली बूया-आयाणमेयं, पुरा पेहाए तस्स परो अट्ठाए असणं वा ४ उवकरिज़ वा उवक्खडिज़ वा, अह भिक्खूणं पुच्चोवइड्डा ४ जं नो तहप्पगाराइं कुलाइं पुव्यामेव भत्ताए वा पाणाए वा पविसिज वा निक्खमिज्ज वा २, से तमायाय एगंतमवक्कमिज्जा २ अणावायमसंलोए चिड्डिजा।

से तत्य कालेणं अनुपविसिज्ञा २ तत्थियरेयरेहिं कुलेहिं सामुदाणियं एसियं वेसियं पिंडवायं एसित्ता आहारं आहारिज्ञा, सिया से परो कालेण अणुपविइस्स आहाकम्पियं असणं वा उवकरिज्ञ वा उवक्खडिज वा तं चेगइओ तुसिणीओ उवेहेजा, आहडमेव पश्चाइक्खिस्सामि, माइट्ठाणं संफासे, नो एवं करिजा, से पुव्वामेव आलोइज्ञा-आउसोत्ति वा मइणित्ति वा ! नो खलु मे कप्पइ आहाकम्पियं असणं वा ४ भुत्तए वा पायए वा, मा उवकरेहि मा उवक्खडेहि, स सेवं वयंतस्स परो आहाकम्पियं असणं वा ४ उवक्खडावित्ता आहट्ट दलइज्ञा तहप्पगारं असणं वा० अफामुयं ०

**वृ.** स भिक्षुर्यतुनरेवं जानीयात्, तद्यथा-ग्रामं वा यावद्राजधानीं वा, अस्मिश्च ग्रामादौ 'सन्ति' विद्यन्ते कस्यचिद्भिक्षोः 'पूर्वसंस्तुताः' पितृव्यादयः 'पश्चात्संस्तुता वा' श्वशुरादयः, ते च तत्र बद्धगृहाः प्रबन्धेन प्रतिवसन्ति, ते चामी-गृहपतिर्वा यावत्कर्मकरी वा, तथाप्रकाराणि च कुलानि भक्तपानाद्यर्थं न प्रविशेत् नापि निष्कामेत्, स्वमनीषिकापरिहारार्थमाह-केवली ब्रूयात्कर्मोपादानमेतत्, किमिति ?, यतः पूर्वमेवैतत् 'पर्यालोचयेत्' तथा 'एतस्य' भिक्षोः कृते 'परः' गृहस्थोऽशनाद्यर्थम् 'उपकुर्यात्' ढौकयेदुपकरणजातम्, 'उवक्खडेज्ज'त्ति तदशनादिपचेढेति, 'अथ' अनन्तरं भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टमेतस्रतिज्ञादि, यथा--

नो तथाप्रकाराणि स्वजनसम्बन्धीनि कुलानि पूर्वमेव-भिक्षाकालादारत एव भक्ताधर्थं प्रविशेद्वा निष्कामेद्वेति । यद्विधेयं तद्दर्शयति-'से तमादाये'ति 'सः' साधुः 'एतत्' स्वजनकुलम् 'आदाय' ज्ञात्वा केनचित्स्वजनेनाज्ञात एवैकान्तमपक्रामेद्, अपक्रम्य च स्वजनाद्यनापातेऽनालोके च तिष्ठेत्, स च तत्र स्वजनसम्बद्धग्रामादौ 'कालेन' भिक्षाऽवसरेणानुप्रविशेत्, अनुप्रविश्य च 'इतरेतरेभ्यः कुलेभ्यः' स्वजनरहितेभ्यः 'एसियं'ति एषणीयम्-उद्गमादिदोषरहितं 'वेसियं'ति वेषमात्रा- दवासमुत्पादनादिदोषरहितं 'पिण्डपातं' भिक्षाम् 'एषित्वा' अन्विष्य एवं भूतं ग्रासैषणा-दोषरहितमाहारमाहारयेदिति । ते चामी उत्पादनादोषाः, तद्यथा –

॥ १॥ "धाई १ दूइ २ निमित्ते ३ आजीव ४ वणीमगे ५ तिगिच्छा ६ य । कोहे ७ माणे ८ माया ९ लोभे १० य हवन्ति दस एए

॥ २ ॥ पुर्व्विपच्छासंथव १९ विञ्जा १२ मंते १३ अ चुण्ण १४ जोगे १५ य । उप्पायणाय दोसा सोलसमे मूलकम्मे य १६

तत्राशनाद्यर्थं दातुरपत्योपकारे वर्त्तत इति धात्रीपिण्डः १, तथा कार्यसङ्घटनाय दौत्यं विधत्ते इति दूतीपिण्डः २, निमित्तम-अङगुष्ठप्रश्नादि तदवाप्तो निमित्तपिण्डः ३, तथा जात्याद्याजीवनादवाप्त आजीविकापिण्डः ४, दातुर्यस्मिन् भक्तिस्तद्यशंसयाऽवाप्तोवणीमगपिण्डः ५, सूक्ष्मेतचिकित्सयावाप्तश्चिकित्सापिण्डः ६, एवं क्रोधमानमायालोभैरवाप्तः क्रोधादिपिण्डः १०, भिक्षादानासूर्वं पश्चाद्वा दातुः 'कर्णायते भवानि'त्येवं संस्तवादवाप्तः पूर्वपश्चात्संस्तवपिण्डः ९१, विद्ययाऽवाप्तो विद्यापिण्डः १२, तथैव मन्त्रजापावाप्तो मन्त्रपिण्डः १३, वशीकरणाद्यर्थं द्रव्यचूर्णादवाप्तश्रूर्णपिण्डः १४, योगाद्-अञ्जनादेरवाप्तो योगपिण्डः १५, यदनुष्ठानाद्गर्मशातना-देमूलमवाप्यते तद्विधानादवाप्तो मूलपिण्डः १६, तदेवमेते साधुसमुत्याः षोडशोत्पादनादोषाः ।

ग्रासैषणादोषाश्चामी-''संजोअणा १ पमाणे २ इंगाले ३ घूम ४ कारणे ५ चेव । '' तत्राहारलोलुपतया दधिगुडादेः संयोजनां विदघतः संयोजनादोषः १, द्वात्रिंशत्कवलप्रमाणा-तिरिक्तमा हारमाहारयतः प्रमाणदोषः २, तथाऽऽहाररागाद्गाद्धर्याद्भुआनस्य चारित्राङ्गारत्वा- पादनादङ्गारदोषः ३, तथाऽन्तप्रान्तादावाहारद्वेषाञ्चारित्रस्याभिधूमनाद्धप्रदोषः ४, वेदनादि-कारणमन्तरेण मुझानस्य कारणदोषः ५, इत्येवं वेषमात्रावाप्तं ग्रासैषणादिदोषरहितः सन्नाहारमाहारयेदिति।

अथ कदाचिदेवं स्यात्, सः 'परः' गृहस्थः कालेनानुप्रविष्टस्यापि भिक्षोराधाकर्मिकमश्ननादि विदध्यात् तञ्च कश्चित्साधुस्तूष्णीभावेनोत्प्रेक्षेत, किमर्थम् ?, आहृतमेव प्रत्याख्यास्यामीति, एवं च मातृस्थानं संस्पृशेत्, न चैवं कुर्यात्, यथा च कुर्यात्तद्वर्शति-स पूर्वमेव 'आलोकयेत्' दत्तोपयोगो भवेत्, दृष्ट्वा चाहारं संस्क्रियमाणमेवं वदेदयथा अमुक ! इति वा भगिनि ! इति वा न खलु मम कल्पत आधाकर्मिक आहारो मोक्तुं वा पातुं वाऽतस्तदर्थं यत्नो न विधेयः, अथैवं वदतोऽपि पर आधाकर्मादि कुर्यात्ततो लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति ।।

मू. (३८५) से भिक्खू वा से जं० मंसं वा मच्छं वा भजिज्जमाणं पेहाए तिल्लपूर्य वा आएसाए उवक्खडिजमाणं पेहाए नो खद्धं २ उवसंकभित्तु ओभासिज्ञा, नन्नत्थ गिलाणनीसाए ।।

ष्ट्र सपुनः साधुर्यदिपुनरेवंजानीयात्, तद्यथा-मांसंवा मत्स्यं वा 'भज्यमान' मिति पच्यमानं तैलप्रधानं वा पूपं, तद्यकिमर्थं क्रियते इति दर्शयति-यस्मिन्नायाते कर्मण्यादिश्यते परिजनः स आदेशः-प्राधूर्णकस्तदर्थं संस्क्रियमाणमाहारं प्रेक्ष्यलोलुपतया 'नो' नैव 'खखं' र'ति शीघ्रं २, द्विर्वचनमादरख्यापनार्थमुपसंक्रम्यावभाषेत-याचेत, अन्यत्र ग्लानादिकार्यादिति ॥

मू. (३८६) से भिक्खू वा अन्नयरं भोयणजायं पडिगाहित्ता सुब्भि सुब्भि भुश्चा दुब्भि २ परिइवेइ, माइहाणं संफासे, नो एवं करिज़ा । सुब्भि वा दुब्भि वा सव्वं भुंजिज़ा नो कंचिवि परिइविज्ञा ।।

ष्ट्र स भिक्षुरन्यतरद् भोजनजातं परिगृह्य सुरभि सुरभि भक्षयेत दुर्गन्धं २ परित्यजेत्, वीप्सायां द्विर्वचनं, मातृस्थानं चैवं संस्पृशेत्, तद्य न कुर्यात्, यथा च कुर्यात् तद्दर्शयति-सुरभिवा दुर्गन्धं वा सर्वं भुञ्जीत न परित्यजेदिति ॥

मू. (३८७) से भिक्खू वा २ अन्नयरं पाणगजायं पडिगाहित्ता पुष्फं २ आविइत्ता कसायं २ परिट्ठवेइ, माइडाणं संफासे, नो एवं करिज़ा । पुष्फं पुष्फेइ वा कसायं कसाइ वा सब्वमेवं भुंजिज़ा, नो किंचिवि परि० ॥

**षृ.** एवं पानकसूत्रमपि, नवरं वर्णगन्धोपेतं पुष्पं तद्विपरीतं कषायं, वीप्सायां द्विर्वचनं, दोषश्चानन्तरसूत्रयोराहारगाद्धर्यात सूत्रार्थहानिः, कर्मबन्धश्चेति।।

मू. (३८८) से भिक्खू वा० बहुपरियावन्नं भोयणजायं पडिगाहित्ता बहवे साहम्पिया तत्य वसंति संभोइया समणुत्रा अपरिहारिया अदूरगया, तेसिं अनालोइया अणामंते परिडवेइ, माइडाणं संफासे, नो एवं करेजा, से तमायाए तत्य गच्छिजा २ से पुव्वामेव आलोइजा।

आउसंतो समणा ! इमे मे असणे वा पाणे वा ४ बहुपरियावन्ने तं भुंजह णं, से सेवं वयंतं परो वइज्रा-आउसंतो समणा ! आहारमेयं असणं वा ४ जावइयं २ सरइ तावइयं २ भुक्खामो बा पाहामो वा सच्वमेयं परिसडइ सव्वमेयं भुक्खामो वा पाहामो वा ।।

**ष्ट्र.** स भिक्षुर्बह्वशनादि पर्यापत्रं-ल<sup>ब्</sup>थ परिगृह्य बहुर्भिर्वा प्रकारैराचार्यग्लानप्राधूर्णकावर्य दुर्लभद्रव्यादिभि पर्यापन्नमाहारजातं परिगृह्य तद्बहुत्वाद्भोक्तुमसमर्थ, तत्र च साधर्मिकाः सम्मोगिकाः समनोज्ञा अपरिहारिका एकार्थाश्चालापकाः, इत्येतेषु सत्स्वदूरगतेषु वा ताननापृच्छय प्रमादितया 'परिष्ठापयेत्' परित्यजेत्, एवं च मातृस्यानं संस्पृशेत्, नैवं कुर्यात् यद्य कुर्यात्तदुर्शयति

स भिक्षुस्तदधिकमाहारजातं परिगृह्य तत्समीपं गच्छेद्, गत्वा च पूर्वमेव 'आलोकयेत्' दर्शयेत्, एवं च ब्रूयाद्-आयुष्मन् ! श्रमण ! ममैतदशनादि बहु पर्यापन्नं नाहं भोक्तुमलमतो यूयं किश्चिद् भुङ्गध्वं, तस्य चैवं वदतः स परो ब्रूयाद्-यावन्मान्नं भोक्तुं शक्नुमस्तावन्मान्नं भोक्ष्यामहे पास्यामो वा, सर्वं वा 'परिशटति' उपयुज्यते तत्सर्वं भोक्ष्यामहे पास्याम इति ॥

मू. (३८९) से भिक्खू वा २ से जं० असणं वा ४ परं समुद्दिस्स बहिया नीहडं जं परेहिं असमणुन्नायं अनिसिद्वं अफा० जाव नो पडिगाहिज्ञा जं परेहिं समणुण्णायं सम्मं निसिद्वं फासुयं जाव पडिगाहिज्ञा, एवं खलु तस्स भिक्खुस्सम भिक्खुणीए वा सामग्गियं।

**वृ**. सपुनर्यदेवंभूतमाहारजातं जानीयात्, तद्यथा-'परं' चारभटादिकमुद्दिश्य गृहात्रिष्क्रान्तं यद्य परैर्यदि भवान् कस्मैचिद्ददाति ददात्विस्येवं समनुज्ञातं नेतुर्दातुर्वा स्वामित्वेनानिसृष्टं वा तद् बहुदोषदुष्टत्वादप्रासुकमनेषणीयमिति मत्वा न प्रतिगृह्णीयात्, तद्विपरीतं तु प्रतिगृह्णीयादिति, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्रयमिति ॥

चूडा-१, अध्ययनं-१, उद्देशकः-९ समाप्तः

#### चूडा-१, अध्ययनं-१ उद्देशकः-१०

**वृ**.उक्तोनवमोऽधुनादशमआरभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरं पिण्डग्रहणविधि प्रतिपादितः, इह तु साधारणादिपिण्डावाप्तौ वसतौ गतेन साधुना यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह--

मू. (३९०) से एगइओ साहारणं वा पिंडवायं पडिगाहित्ता ते साहम्भिए अणापुच्छित्ता जस्स जस्स इच्छइ तस्स तस्स खद्धं खद्दं दलइं, माइडाणं संफासे, नो एवं करिज्ञा । से तमायाय तत्थ गच्छिज्ञा २ एवं वइज्ञा-आउसंतो समणा ! संति मम पुरेसंधुया चा पच्छा तंजहा । –

आयरिए वा 9 उवज्झाए वा २ पवित्ती वा ३ थेरे वा ४ गणी वा ५ गणहरे वा ६ गणावच्छेइए वा ७ अवियाइं एएसिंखद्धं खद्धं दाहामि, सेणेवं वयंतं परो वइआ-कामं खलु आउसो ! अहापञ्जत्तं निसिराहि, जावइयं २ परो वदइ तावइयं २ निसिरिज्ञा, सब्वमेवंपरो वयइ सब्वमेयं निसिरिजा

वृ. 'सः भिक्षु 'एकतरः' कश्चित् 'साधारणं' बहूनां सामान्येन दत्तं वाशब्दः पूर्वोत्तरापेक्षया पक्षान्तरद्योतकः भिण्डपातं परिगृह्य तान् साधर्मिकाननापृच्छय यस्मै यस्मै रोचते तस्मै तस्मै स्वमनीषिकया 'खद्धं खद्धं'ति प्रभूतं प्रभूतं प्रयच्छति, एवं च मातृस्थानं संस्पृशेत् तस्मान्नैवं कुर्यादिति ।। असाधारणपिण्डावाप्तावपि यद्विधेयं तद्दर्शयति--

'सः' भिक्षु 'तम्' एषणीयं केवलवेषावातं पिण्डमादाय 'तत्र' आचार्यद्यन्तिके गच्छेत्, गत्वा चैवं वदेद्, यथा आयुष्भन् ! श्रमण ! 'सन्ति' विद्यन्ते मम 'पुरःसंस्तुताः' यदन्तिके प्रव्रजित-स्तत्सम्बन्धिनः 'पश्चात्संस्तुता वा' यदन्तिकेऽधीतं श्रुतं वा तत्सम्बन्धिनो वाऽन्यत्रावासिताः, तांश्व स्वनामग्राहमाह, तद्यथा- 'आचार्य' अनुयोगधरः १ 'उपाध्यायः' अध्यापकः २ प्रवृत्तिर्यथायोगं वैयावृत्त्यादौ साधूनां प्रवर्त्तकः ३, संयमादौ सीदतां साधूनां स्थिरीकरणात्स्थविरः ४, गच्छाधिपो गणी ५, यस्त्वाचार्यदेशीयो गुवदिशात् साधुगणं गृहीत्वा पृथग्विहरति स गणधरः ६, गणावच्छे दकस्तु गच्छकार्यचिन्तकः ७, 'अवियाइं'ति इत्येवमादीनुद्दिश्यैतद्वदेद्-यथाऽहमेतेभ्यो युष्मदनुज़या 'खद्धं खद्धं'ति प्रभूतं प्रभूतं दास्यामि, तदेवं विज्ञप्तः सन् 'परः' आचार्यादिर्यावन्मात्रमनुजानीते तावन्मात्रमेव 'निसृजेत्' दद्यात् सर्वानुज्ञया सर्व वा दद्यादिति ।। किञ्च—

मू. (३९१) से एगइओ मणुन्नं भोयणजायं पडिगाहित्ता पंतेण भोयणेण पलिच्छाएइ मा मेयं दाइयं संतं ददूणं समयाइए आयरिए वा जाव गणावच्छेए वा, नो खलु मे कस्सइ किंचि दायव्वं सिया, माइडाणं संफासे, नो एवं करिज़ा । से तमायाए तत्य गच्छिज़ा २ पुव्वामेव उत्ताणए हत्थे पडिग्गहं कडू इमं खलु इमं खलुत्ति आलोइज़ा, नो किंचिवि निगूहिज़ा । से एगइओ अन्नयरं भोयणजायं पडिगाहित्ता भद्दयं २ भुञ्चा विवन्नं विरसमाहरइ, माइ० नो एवं० । ।

वृ. सुगमं, यावत्रैवं कुर्यात्, यञ्च कुर्यात्तदर्शयति-'सः' भिक्षु 'त्तं' पिण्डमादाय 'तत्र' आचार्याद्यन्तिके गच्छेद्, गत्वा च सर्व यथाऽवस्थितमेव दर्शयेत्, न किश्चित् 'अवगूहयेत्' प्रच्छादयेदिति ॥ साम्प्रतमटतो मातृस्थानप्रतिषेधमाह–

'सः'भिक्षु 'एकतरः' कश्चित् 'अन्यतरत्' वर्णाद्युपेतं भोजनजातं परिगृह्याटन्नेव रसगृध्नुतया भद्रकं २ भुक्त्वा यद् 'विवर्णम्' अन्तप्रान्तादिकं तत्यतिश्रये 'समाहरति' आनयति, एवं च मातृस्थानं संस्पृशेत्, न चैवं कुर्यादिति ।। किञ्च–

मू. (३९२) से भिक्खू वा० से जं० अंतरुच्छियं वा उच्छुगॉर्डयं वा उच्छुचोयगं वा उच्छुमेरगं वा उच्छुसालगं वा उच्छुडालगं वा सिंबलिं वा सिंबलथालगं वा असिंस खलु पडिग्गहियंसि अप्पे भोयणजाए बहुउज्झियधम्पिए तहप्पगारं अंतरुच्छुयं वा अफा० ।। से भिक्खू वा २ से जं० बहुअडि्यं वा मंसं वा मच्छं वा बहुकंटयं असिंस खलु तहप्पगारं बहुअडि्यं वा मंसं लाभे संतो०। से भिक्खू वा० सिया णं परो बहुअडि्एणं मंसेण वा मच्छेण वा उवनिमंतिज्ञा।

आउसंतो समणा ! अभिकंखसि बहुअडियें मंसं पडिगाहित्तए ? एयप्पगारं निग्धोसं सुश्चानिसम्म सेपुव्वामेव आलोइज्ञा-आउसोत्ति वा २ नोखलु मे कप्पइ बहु० पडिगा० अभिकंखसि मे दाउं जावइयं तावइयं पुग्गलं दलयाहि, मा य अडियाइं, से सेवं वयंतस्स परो अभिहडु अंतो पडिग्गहगंसि बहु० परिभाइता निहडु दलइज्ञा, तहप्पगारं पडिग्गहं परहत्यंसि वा परपायंसि वा अफा० नो०।

से आहश्च पडिगाहिए सिया तं नोहिति वइज्ञा नो अणिहित्ति वइज्ञा, से तमायाय एगंतम वक्वमिज्ञा २ अहे आरामंसि वा अहे उवस्सयंसि वा अप्पंडे जाव संताणए मंसगं मच्छगं भुश्चा अट्टियाइं कंटए गहाय से तमायम एगंतमवक्वमिज्ञा २ अहे झामथंडिलंसि वा जाव पमज्जिय पमज्जिय परट्ठविज्ञा ।।

**ष्ट्र. स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतमाहारजातं जानीयात्, तद्यथा-'अंतरुच्छुअं व'त्ति इक्षुपर्वमध्यम्** 'इक्षुगंडियं'ति सपर्वेक्षुशकलं 'चोयगो' पीलतेक्षुच्छोदिका 'मेरुकं' त्यग्रं 'सालगं'ति दीर्घशाखा 'डालगंति शाखैकदेशः 'सिंबलि''न्ति मुद्रगादीनां विध्वस्ता फलिः 'सिंबलियालगं'ति वल्यादिफलीनां स्थानी फलीनां वा पाकः, अत्र चैवंभूते परिगृहीतेऽप्यन्तरिक्ष्वादिकेऽल्पमशनीयं बहुपरित्यज-नधर्मकमिति मत्वा न प्रतिगृह्णीयादिति ।

एवं मांससूत्रमपि नेयम्, अस्य चोपादानं क्वचिल्लूताद्युपशमनार्थ सद्वैद्योपदेशतो

बाह्यपरिभोगेन स्वेदादिना ज्ञानाद्युपकारकत्वात्फलवर्ध्दं, भुजिश्चात्र बहिपरिभोगार्थे नाभ्यवहारार्थे पदातिभोगवदिति ।। एवं गृहस्यामन्त्रणादिविधिपुद्गलसूत्रमपि सुगममिति, तदेवमादिना छेदसूत्राभिप्रायेण ग्रहणे सत्यपि कण्टकादिप्रतिष्ठापनविधिरपि सुगम इति ।।

मू. (३९३) से भिक्खू० सिया से परो अभिहडु अंतो पडिंग्गहे बिलं वा लोणं उब्भियं वा लोणं परिभाइत्ता नीहट्ट दलइआ, तहप्पगारं पडिग्गहं परहत्थंसि या २ अफासुयं नो पडि०, से आहञ्च पडिगाहिए सिया तं च नाइदूरगए जाणिजा, से तमायाए तत्थ गच्छिजा २ पुव्वामेव आलोइज्ञा-आउसोत्ति वा २ इमं किं ते जाणया दिन्नं उयाहु अजाणया ?, से य भणिज्ञा – नो खलु मे जाणया दिन्नं, अजाणया दिन्नं, कामं खलु आउसो !

इयाणिं निसिरामि, तं भुंजह वा णं परिभाएह वा णं तं परेहिं समणुन्नायं समणुसष्ठं तओ संजयामेव भुंजिञ्ज वा पीइज्ज वा, जं च नो संचाएइ भोत्तए वा पायए वा साहम्पिया तत्य वसंति संभोइया समणुन्ना अपरिहारिया अदूरगया, तेसिं अणुप्पयायव्वं सिया, नो जत्य साहम्पिया जहेव बहुपरियावन्नं कीरइ तहेव कायव्वं सिया, एवं खलु ०।।

**मृ.** स भिक्षुर्गृहादौ प्रविष्टः, तस्य च स्यात्-कदाचित् 'परः' गृहस्थः 'अभिहडु अंतो' इति अन्तः प्रविश्य पतद्गहे-काष्ठच्छब्बकादौ ग्लानाद्यर्थ खण्डादियाचने सति 'बिडं वा लवणं' खनिविशेषोत्पन्नम् 'उद्भिज्ञं वा' वणाकराद्युत्पन्नं 'परिभाएत्त'त्ति दातव्यं विभज्य दातव्यद्रव्यात्कश्चिदंशंगृहीत्वेत्यर्थ, ततोनिसृत्य दद्यात्, तथाप्रकारं परहस्तादिगतमेव प्रतिषेधयेत्, तद्य 'आहच्चे'ति सहसा प्रतिगृहीतं भवेत, तंच दातारमदूरगतं ज्ञात्वा स भिक्षुस्तछवणादिकमादाय तत्समीपं गच्छेद्, गत्वा च पूर्वमेव तछवणादिकम् 'आलोकयेत्' दर्शयेद्, एतच्च द्रूयाद् ।

अमुक ! इति वा भगिनि ! इति वा, एतञ्च लवणादिकं किं त्वया जानता दत्तमुता-जनता ?, एवमुक्तः सन् पर एवं वदेद्-यथा पूर्वं मयाऽजानता दत्तं साम्प्रतं तु यदि भवतोऽनेन प्रयोजनं ततो दत्तम्, एतत्परिभोगं कुरुध्वं, तदेवं परैः समनुज्ञातं समनुसृष्टं सत्यासुकं कारणवशादप्रासुकं वा भुञ्जीत पिबेद्वा, यञ्च न शक्नोति भोक्तुं पातुं वा तत्साधार्मिकादिभ्यो दद्यात्, तदभावे बहुपर्यापन्नविधिं प्राक्तनं विदध्यात्, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्र्यमिति ॥

चूडा-१ अध्ययनं-१ उद्देशकः-१० समाप्तः

## --: चूडा-१ अध्ययनं-१ उद्देशकः-११ :-

उक्तो दशमः अघुनैकोदशः समारम्यते अस्य चायमभिसम्बन्धः इहानन्तरोद्देशके लब्धस्य पिण्ऽस्य विधिरुक्तः, तदिहापिविशेषतः स एवोच्यते–

मू. (३९४) भिर्केखागा नामेगे एवमाहंसु समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं वा दूइज्रमाणे मणुत्रं भोयणजाय लभित्ता से भिक्खूगिलाइ, से हंदह णं तस्साहरह, से य भिक्खू नो भुंजिजा तुमं चेव णं भुंजिज्ञासि, से एगइओ भोक्खामित्तिकट्ट पलिउंचिय २ आलोइज्ञा, तंजहा।—

इमे पिंडे इमे लोए इमे तित्ते इमे कडुयए इमे कसाए इमे अंबिले इमे महुरे, नो खलु इत्तो किंचि गिलाणस्स सयइत्ति माइहाणं संफासे, नो एवं करिज्ञा, तहाठियं आलोइज्ञा जहाठियं गिलाणस्स सयइत्ति, तं तित्तयं तित्तएति वा कडुयं कडुयं कसायं कसायं अंबिलं अंबिलं महुरं महुरं०॥ **वृ.** भिक्षामटन्ति भिक्षाटाः भिक्षणशीलाः साधव इत्यर्थ, नामशब्दः सम्भावनायां, वक्ष्यमाणमेषां संभाव्यते, 'एके' केचन एवमाहुं- साधुसमीपमागत्य वक्ष्यमाणमुक्तवन्तः, ते च साधवः 'समानावा' सम्भोगिका भवेयुः, वाशब्दादसाम्भोगिका वा, तेऽपि च 'वसन्तः' वास्तव्या अन्यतो वा ग्रामादेः समागता भवेयुः, तेषु च कश्चित्साधुः 'ग्लायति' ग्लानिमनुभवति, तत्कृते तान् सम्भोगिकादींस्ते भिक्षाटा मनोज्ञभोजनलाभे सत्येवमाहुरिति सम्बन्धः, 'से' इति एतन्मनोज्ञमाहारजातं 'हन्दह' गृह्णीत यूयं 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे 'तस्य' ग्लानस्य 'आहारत' नयत, तस्मै प्रयच्छत इत्यर्थ, ग्लानश्चेन्न भुङ्के ग्राहक एवाभिधीयते ।

त्वमेव भुङक्ष्वेति, स च भिक्षुर्भिक्षोईस्ताद् ग्लानार्थं गृहीत्वाऽऽहारं तत्राध्युपपन्नः सन्नेक एवाहं भोक्ष्य इतिकृत्वा तस्य ग्लानस्य 'पलिउंचिअ पलिउंचिय'ति मनोइां गोपित्वा गोपित्वा वातादिरोगमुद्दिश्य तथा तस्य 'आलोकयेत्' दर्शयति यथाऽपथ्योऽयं पिण्ड इति बुद्धिरुत्पद्यते, तद्यथा-अग्रतो ढौकयित्वा वदति-अयं पिण्डो भवदर्थं साधुना दत्तः, किन्त्वयं 'लोए'त्ति रूक्षः, तथा तिक्तः कटुः कषायोऽग्लो मधुरो वेत्यादि दोषदुष्टत्वान्नातः किश्चिद् ग्लानस्य 'स्वदतीति' उपकारे न वर्त्तत इत्यर्थ, एवं च मातृस्थानं संस्पृशेत्, न चैतत्कुर्यादिति । यथा च कुर्यात्तद्दर्शयति-तथाऽवस्थितमेव ग्लानस्यालोकयेद्यथाऽवस्थितमिति, एतदुक्तं भवति-मातृस्थानपरित्यागेन यथाऽवस्थितमेव ब्रूयादिति, शेषं सुगमम् ॥ तथा—

मू. (३९५) भिक्खागा नाभेगे एव माहंसु-समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज़माणे वा मणुन्नं भोयणजायं लभित्ता से य भिक्खू गिलाइ से हंदह णं तस्स आहरह, से य भिक्खू नो भुंजिज्ञा आहारिज़ा, से णं नो खलु मे अंतराए आहरिस्सामि, इश्चेयाइं आयतणाइं उवाइक्कम्म॥

मृ. 'भिक्षादाः' साधवो मनोज्ञमाहारं लब्ध्वा समनोज्ञांस्तांश्च वास्तव्यान् प्राघूर्णकान् वा 'लानभुद्दिश्यैवमूचुः-एतन्मनोज्ञमाहारजातं गृहीत यूयं 'लानाय नयत, स चेन्न भुद्भते ततोऽस्मदन्तिकमेव 'लानाद्यर्थम् 'आहरेत्' आनयेत्, स चैवमुक्तः सन्नैवं वदेद्-यथाऽन्त-रायमन्तरेणाहरिष्यामीति प्रतिज्ञयाऽऽहारमादाय 'लानान्तिकं गत्वा प्राक्तनान् भक्तादिरूक्षादिदोषानुद्धाट्य 'लानायादत्वा स्वत एव लौल्याद्भुक्त्वा ततस्तस्य साधोर्निवेदयति यथा मम शूलं वैयावृत्त्यकालापर्याप्त्यादिकमन्तरायिकमभूदतोऽहं तद् 'लानभक्तं गृहीत्वा नायात इत्यादि मातृसुंस्थानं संस्पृशेत्, एतदेव दर्शयतिइत्येतानि-पूर्वोक्तान्यायतनानि-कर्मोपादानस्थानानि 'उपातिक्रम्य' सम्यक् परिहृत्य मातृस्थानपरिहारेण 'लानाय वा दद्याद्यतृसाधुसमीपं चाऽऽहरेदिति ॥ पिण्डाधिकार एव सप्तपिण्डैषणा अधिकृत्य सूत्रमाह–

मू. (३९६) अह भिक्खू जाणिज्ञा सत्त पिंडेसणाओ सत्त पाणेसणाओ, तत्व खलु इमा पढमा पिंडेसणा–असंसट्टे हत्ये असंसट्टे मत्ते, तहप्पगारेण असंसट्टेण हत्येण वा मत्तेण वा असणं वा ४ सयं वा णं जाइज्ञा परो वा से दिज्ञा फासुयं पडिगाहिज्ञा, पढमा पिंडेसणा।

अहावरा दुञ्चा पिंडेसणा-संसड्ठे हत्थे संसड्ठे मत्ते, तहेव दुञ्चा पिंडेसणा।

अहावरा तथा पिंडेसणा-इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइयाँ सड्ढा भवंति-गाहावई वा जाव कम्मकरी वा, तेसिं च णं अन्नयरेसु विरुवरुवेसु भायणजाएसु उवनिक्खित्तपुव्वे सिया, तंजहा-थालंसि वा पिढरंसि वा सरगंसि वा परगंसि वा वरगंसि वा, अह पुणेवं जाणिज्ञा-असंसड्ठे हत्ये संसड्ठे मत्ते, संसड्ठे वा हत्थे असंसड्ठे मत्ते, से य पडिग्गहधारी सिया पाणिपडिग्गहिए वा, से पुव्वामेव आउसोत्ति वा ! २ एएण तुमं असंसड्ठेण हत्थेण संसड्ठेण मत्तेणं संसड्ठेण वा हत्थेण असंसड्ठेण मत्तेण असिं पडिग्गहगंसि वा पाणिंसि वा निहड्ड उचित्तु दलयाहि तहप्पगारं भोयणजायं सयं वा णं जा इज्रा २ फासुयं० पडिगाहिज्ञा, तइया पिंडेसणा।

अहावरा चउत्था पिंडेसणा-से भिक्खू वा से जं पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा अस्सि खलु पडिग्गहियंसि अप्पे पच्छाक्म्मे अप्पे पज्जवजाए, तहप्पगारं पिहुयं वा जाव चाउलपलंबं वा सयं वा णं० जाव पडि०, चउत्था पिंडेसणा।

अहावरा पंचमा पिंडेसणा-से भिक्खू वा २ उग्गहियमेव भोयणजायं जाणिज्ञा, तंजहा-सरावंसि वा डिंडिमंसि वा कोसगंसि वा, अह पुणेवं जाणिज्ञा बहुपरिया वन्ने पाणीसु दगलेवे, तहप्पगारं असणं वा ४ सयं जाव पडिगाहि०, पंचमा पिंडसेणा ।

अहावरा छड़ा पिंडेसणा से भिक्खू वा २ पग्गहियमेव भोयणजायं जाणिज्ञा, जं च सयझाए पग्गहियं, जं च परझाए पग्गहियं, तं पायपरियावन्नं तं पाणिपरियावन्नं पासुयं पडि०, छड्डा पिंडेसणा ।

अहावरा सत्तमा पिंडेसणा-से भिक्खू वा० बहुउज्झियधम्मियं भोयणजायं जाणिज्ञा, जं चSत्रे बहवे दुपयचउप्पयसमणमाहणअतिहिकिवणवणीमगा नावकंखंति, तहप्पगारं उज्झियधम्मियं भोयणजायं सयं वा णं जाइज्ञा परो वा से दिज्ञा जाव पडि०, सत्तमा पिंडेसणा ७

इश्चेयाओ सत्त पिंडेसणाओ, अहावराओ सत्त पाणेसणाओ, तत्य खलु इमा पढमा पाणेसणा-असंसद्वे हत्ये असंसद्वे मत्ते, तं चेव भाणियव्वं, नवरं चउत्थाए नाणत्तं । से भिक्खू वा० से जं० पुण पाणगजायं जाणिज्ञा, तंजहा-तिलोदगं वा ६, असिंस खलु पडिग्गहियंसि अप्पे पच्छाकम्मे तहेव पडिगाहिज्ञा ।।

**मृ.** अथशब्दोऽधिकारान्तरे, किमधिकुरुते ?, सप्त पिण्डैषणा--पानैषणाश्चेति, 'अथ' अनन्तरं भिक्षुर्जानीयात्, काः ?-सप्तपिण्डैषणाः पानैषणाश्च, ताश्चेमाः, तद्यथा-''असंसहा 9 संसहा २ उद्धडा ३ अप्पलेवा ४ उग्गहिआ ५ पग्गहिया ६ उज्झियधम्मे''ति, अत्र घ द्वये साधवो-गच्छान्तर्गता गच्छविनिर्गताश्च, तत्र गच्छान्तर्गतानां सप्तानामपि ग्रहणमनुज्ञातं, गच्छनिर्गतानां पुनराद्ययोर्द्वयोरग्रहः पश्चस्वभिग्रह इति, तत्राद्यां तावदर्शयति-'तत्र' तासु मध्ये 'खलु' इत्यलङ्कारे, इमा प्रथमा पिण्डैषणा, तद्यथा-असंसृष्टो हस्तोऽ।संसृष्टं च मात्रं, द्रव्यं पुनः सावशेषं वा स्यान्निरवशेषं चा, तत्र निरवशेषे पश्चात्कर्मदोषस्तथाऽपि गच्छस्य बालाद्या-कुलत्वात्तन्निषेधो नास्ति, अत एव सूत्रे तश्चिन्ता न कृता, शेषं सुगमम् ।

तथाऽपरा दितीया पिण्डैषणा, तद्यथा-संसृष्टे हस्तः संसृष्टं मात्रकमित्यादि सुगमम् । अथापरा तृतीया पिण्डैषणा, तद्यथा इह खलु प्रज्ञापकापेक्षया प्राच्यादिषु दिक्षु सन्ति केचित् श्रद्धालवः, ते चामी-गृहपत्यादयः कर्मकरीपर्यन्ताः, तेषां च गृहेष्वन्यतरेषु नानाप्रकारेषु पूर्वमुत्क्षिप्तमशनादि स्यात्, भाजनानि च स्थालादीनि सुबोध्यानि नवरं 'सरगम्' इति शरिकामि कृतं सूर्पादि 'परगं' वंशनिष्पन्नं छब्बकादि 'वरगं' मण्यादि महार्धमूल्यं, सेषं सुगमं यावत्यरिगृह्णीयादिति, अत्र च संसुष्टासंसृष्टसावशेषद्रव्यैरष्टी भङ्गाः, तेषु चाष्टमो भङ्गः संसृष्टो हस्तः संसृष्टं मात्रं सावशेषं द्रव्यमित्येष गच्छनिर्गतानामपि कल्पते, शेषास्तु भङ्गा गच्छान्तर्गतानां सूत्रार्थहान्यादिकं कारणमाश्रित्य कल्पन्त इति ।

अपरा चतुर्थी पिण्डैषणाऽल्पलेपा नाम, सा यत्पुनरेवमल्पलेपं जानीयात्, तद्यथा-'पृथुकम्' इति भुग्नशाल्याद्यपगततुषं यांवत् 'तन्दुलपलम्बं' इति भुग्नशाल्यादितन्दुलानिति, अत्र च पृथुकादिके गृहीतेऽप्यल्पं पश्चात्कर्मादि, तथाऽल्पं पर्यायजातमल्पं तुषादि त्यजनीयमित्येवंप्रकारमल्पलेपम्, अन्यदपि बल्लचनकादि यावत्परिगृह्णीयादिति ।

अथापरा पश्चमी पिण्डैषणाऽवगृहीता नाम, तद्यथा-स भिक्षुर्यावदुपहतमेव भोक्तुकामस्य भाजनस्थितमेव भोजनजातं ढौकितं जानीयात्, तत्पुनर्भाजनं दर्शयति, तद्यथा-'शरावं' प्रतीतं 'डिण्डिमं' कंश (कांस्य) भाजनं 'कोशकं' प्रतीतं, तेन च दात्रा कदाचित् पूर्वमेवोदकेन हस्तो मात्र कंवा धौतं स्यात्, तथा च निषिद्धं ग्रहणम्, अथ पुनरेवं जानीयाद्वहुपर्यापन्नः-परिणतः पाण्यादिपूदकलेपः, तत एवं ज्ञात्वा यावद् गृह्णीयादिति ।

अथापरा षष्ठी पिण्डैषणा प्रगृहीता नाम-स्वार्थं परार्थं वा पिठरकादेरुध्धृत्त्य चट्टकादिनोस्क्षिप्त परेण च न गृहीता प्रव्रजिताय वा दापिता सा प्रकर्षेण गृहीता प्रगृहीता तां तथाभूतां प्रामृतिकां 'पात्रपर्यापन्नां वा' पात्रस्थितां 'पाणिपर्यापन्नां वा' हस्तस्थितां वा यावव्यतिगृत्लीयादिति।

अथापरा सप्तमी पिण्डैषणा उज्झितधर्मिका नाम, सा च सुगमा ॥ आसु च सप्तस्वपि पिण्डैषणासुसंसृष्टाद्यष्टभङ्गका भणनीयाः, नवरं चतुर्थ्यांनानात्वमिति, तस्या अलेपत्वात्संसृष्टाद्यभाव इति ।

एवं पानैषणा अपि नेया भङ्गकाश्चायोज्याः, नवरं चतुर्थ्यां नानात्वं, स्वच्छत्वाश्च तस्या अल्पलेपत्वं, ततश्च संसृष्टाद्यभाव इति, आसां चैषणाना यथोत्तरं विशुद्धितारतम्यादेष एव क्रमो न्याय्य इति ॥ साम्प्रतमेताः प्रतिपद्यमानेन पूर्वप्रतिपन्नेन वा यद्विधेयं तद्दर्शयितुमाह–

मू. (३९७) इश्चेयासिं सत्तण्हं पिंडेसणाणं सत्तण्हं पाणेसणाणं अन्नयरं पडिमं पडिवज़माणे नो एवं वइज्रा-मिच्छापडिवन्ना खलु एए भयंतारो, अहमेगे सम्मं पडिवन्ने, जे एए भयंतारो एयाओ पडिमाओ पडिवज्रित्ता णं विहरंति जो य अहमंसि एयं पडिमं पडिवज्रित्ताणं विहरामि सब्वेऽवि ते उ जिणाणाए उवद्विया अन्नुन्नसमाहीए, एवं चणं विहरंति, एयं खलु तस्स भिक्खुस्त भिक्खुणीए वा सामग्गियं ॥

**वृ.** इत्येतासां सप्तानां पिण्डैषणानां पानैषणानां वाऽन्यतरां प्रतिमां प्रतिपद्यमानो नैतद्वदेत्, तद्यधा-'भिथ्याप्रतिपन्नाः' न सम्यक् पिण्डैषणाद्यभिग्रहवन्तो भगवन्तः-साधवः, अहमेवैकः सम्यक्प्रतिपन्नौ, यतो मया विशुद्धः पिण्डैषणाभिग्रहः कृत एभिश्च न, इत्येवं गच्छनिर्गतेन गच्छान्तर्गतेन वा समदृष्टया द्रष्टव्याः, नापि गच्छान्तर्गतेनोत्तरोप्तरपिण्डैषणाभिग्रहवता पूर्वपूर्वतरपिण्डैषणाभिग्रहवन्तो दूष्या इति, यद्य विधेयं तद्दर्शयति ।

य एते भगवन्तः-साधव एताः 'प्रतिमाः' पिण्डैष्णाद्यभिग्रहविशेषान् 'प्रतिपद्य' गृहीला ग्रामानुग्रामं 'विहरन्ति' यथायोगं पर्यटन्ति, यां चाहंप्रतिमां प्रतिपद्य विहरामि, सर्वेऽप्येते जिनाज्ञायां जिनाज्ञयां वा 'समुस्थिताः' अभ्युद्यतविहारिणः संवृत्ताः, ते चान्योऽन्यसमाधिना यो यस्य गच्छान्तर्गतादेः समाधिरभिहितः, तद्यया-सप्तापि गच्छवासिनां, तत्रिर्गतानां तु द्वयोरग्रहः पश्चस्वभिग्रहः इत्यनेन 'विहरन्ति' यतन्त इति, यथाविहारिणश्च सर्वेऽपि ते जिनाज्ञां नातिलङ्चन्ते, तथा चोक्तम्--

11 9 11 "जोऽवि" दुवत्थतिवत्थो बहुवत्थ अचेलओव्व संथरइ ! न ह ते हीलंति परं सव्वेवि अ ते जिणाणाए "

एतत्तस्य भिक्षोर्भिक्षुण्या वा 'सामग्र्यं' सम्पूर्णो भिक्षुभावो यदात्मोत्कर्षवर्जनमिति चूडा-१, अध्ययनं-१, उद्देशकः-११ समाप्तः

## चूडा-१, अध्ययनं-१ समाप्तम्

## मुनि दीपरत्नसागरेण संशोधिता सम्पादिता शीलाङ्काचार्य विरचिता द्वितीय श्रुतस्कन्धस्य प्रथमअध्ययनटीका परिसमाप्ता

# अध्ययनं-२ शय्यैषणा

उक्तं प्रथममध्ययनं, साम्प्रतं द्वितीयमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः- इहानन्तराध्ययने धर्माधारशरीरपरिपालनार्थमादावेव पिण्डग्रहणविधिरुक्तः, स च गृहीतः सन्नवश्यमल्पसागारिके प्रतिश्रये भोक्तव्य इत्यतस्तद्गतगुणदोषनिरुपणार्थं द्वितीयमध्ययनम्, अनेन च सम्बन्धेनायात-स्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि व्यावर्णनीयानि, तत्र नामनिष्पन्ने निक्षेपे शय्यैषणेति, तस्या निक्षेपविधानाय पिण्डैषणानिर्युक्तिर्यत्र संभवति तां तत्रातिदिश्य प्रथमगाथया अपरासां च निर्युक्तीनां यथायोगं संभवं द्वितीयगाथया आविर्भाव्य निक्षेपं च तृतीयगायया शय्याषट्कनिक्षेपे प्राप्ते नामस्थापने अनाधत्य निर्युक्तिकृदाह--

नि. [३०१] दव्वे खित्ते काले भावे सिजा य जा तर्हि पगयं।

केरिसिया सिञ्जा खलु संजयजोगत्ति नायव्वा ।।

वृ. द्रव्यशय्या क्षेत्रशय्या कालशय्या भावशय्या, अत्र च या द्रव्यशय्या तस्यां प्रकृतं, तामेव च दर्शयति-कीद्दशी सा द्रव्यशय्या ? संयतानां योग्येत्येवं ज्ञातव्या भविष्यति ॥ द्रव्यशय्या-व्याचिख्यासयाऽऽह-

नि. [३०२] तिविहा य दव्वसिज़ा सचित्ताऽचित्त मीसगा चेव। खित्तंमि जंमि खित्ते काले जा जंमि कालंमि ॥

**दृ.** त्रिविधा द्रव्यशय्या भवति, तद्यथा-सचित्ता अचित्ता मिश्रा चेति, तत्र सचित्ता पृथिवीकायादौ, अचित्ता तत्रैव प्रासुके, मिश्राऽपि तत्रैवार्खपरिणते, अथवा सचित्तामुत्तरगाथया स्वत एव निर्युक्तिकृद् भावयिष्यति । 'क्षेत्र'मिति तु क्षेत्रशय्या, सा च यत्र ग्रामादिके क्षेत्रे क्रियते, कालशय्या तुया यस्मित्र तुबद्धादिके काले क्रियते। तत्रसचित्तद्रव्यशय्यो दाहरणार्थमाह-

नि. [३०३] उककलकलिंग गोअम वग्गुमई चेव होइ नायव्वा। एयं तु उदाहरणं नायव्वं दव्वसिजाए ।।

अस्याभावार्थकथानकादवसेयः, तश्चेदम्-एकस्यामटव्यां द्वौ भ्रातरावुत्कलकलिङ्गाभिधानौ विषमप्रदेशे पल्लिंनिवेश्य चौर्येण वर्तते, तयोश्च भगिनी वल्गुमती नाम, तत्र कदाचिद् गौतमाभिधानो नैमित्तिकः समायातः, ताम्यां च प्रतिपन्नः, तया च वल्गुमत्योक्तं-यथा नायं भद्रकः, अत्र वसन् यदा तदाऽयमस्माकं पश्चिविनाशाय भविष्यत्यतो निद्धाट्यते, तत्तस्ताभ्यां तद्वचनान्निर्खाटितः, स तस्यां प्रद्वेषमापत्रः प्रतिज्ञामग्रहीद्, यथा —

नाहं गौतमो भवामि यदि वल्गुमत्युदरं विदार्य तत्र न स्वपिमीति, अन्ये तु भणन्ति-सैव वल्गुमत्यपत्यानां लघुत्वात्पछित्वामिनी, उत्कलकलिङ्गौ नैमित्तिकौ, सा तयोर्भक्त्या गौतमं पूर्वनैमित्तिकं निर्ध्धाटितवती, अतस्तठाद्वेषाद्यतिज्ञामादाय सर्षपान् वपत्रिर्गतः, सर्षपाश्च वर्षाकालेन जाताः, ततस्तदनुसारेणान्यं राजानं प्रवेश्य सा पल्ली समस्ता लुण्टिता दग्धा च, गौतमेनापि वल्गुमत्या उदरं पाटयित्वा सावशेषजीवित्तदेहाया उपरि सुप्तमित्येषा वासचित्ता द्रव्यशय्येति ।। भावशय्याप्रतिपादनार्थमाह-

नि. [३०४] दुविहा य भावसिजा कायगए छव्विहे य भावंमि। भावे जो जत्य जया सुहदुहगष्भाइसिजासु।।

**वृ.** हे विधे-प्रकारावस्याः सा हिविधा, तर्घया-कायविषयां षङ्भावविषया च, तत्र यो जीवः 'यत्र' औदयिकादौ भावे 'यदा' यस्मिन् काले वर्त्तते सा तस्य षङ्माभावरूपा भावशय्या, शयनं शय्या स्थितिरितिकृत्वा, तथा ख्र्यादिकायगतो गर्भत्वेन स्थितो यो जीवस्तस्य ख्र्यादिकाय एव भावशय्या, यतः ख्र्यादिकाये सुखिते दुःखिते सुप्ते उत्थिते वा ताधगवस्य एव तदन्तर्वर्त्ती जीवो भवति, अतः कायविषया भावशय्या द्वितीयेति ॥ अध्ययनार्थाधिकारः सर्वोऽपि शय्याविषयः, उद्देशार्थाधिकारप्रतिपादनाय निर्युक्तिकृदाह-

नि. [३०५] सञ्चेवि य सिजविसोहिकारगा तहवि अस्थि उ विसेसो । उद्देसे वुच्छामि समासओ किंचि ।।

**दृ.** 'सर्वेऽपि' त्रयोऽप्युद्देशका यद्यपि शय्याविशुद्धिकारकास्तथाऽपि प्रत्येकमस्ति विशेषस्तमहं लेशतो वक्ष्य इति ॥ एतदेवाह-

नि. [३०६] उग्गमदोसा पढमिछुयंमि संपत्तपद्यवाया य १।

बीयंमि सोअवाई बहुविहसिआविवेगो २ य ॥

वृ. तत्र प्रथमोद्देशके वसतेरुद्गमदोषां-आधाकर्मादयस्तथा गृहस्थादिसंसक्तप्रत्यपायश्च चिन्त्यन्ते ? , तथा द्वितीयोद्देशके शौचवादिदोषा बहुप्रकारः शय्याविवेकश्च—त्यागश्च प्रतिपाद्यत इत्ययमर्थाधिकारः २ ।।

नि. [३०७] तइए जयंतछलणा सज्झायस्सऽणुवरोहि जइयव्वं । समविसमाईएसु य समणेणं निज्ञरद्वाए ३ ॥

वृ. तृतीयोद्देशके यतमानस्य-उद्गमादिदोषपरिहारिणः साधोर्या छलना स्यात्तत्परिहारे यतितव्यं, तथा स्वाध्यायानुपरोधिनि समविषमादौ प्रतिश्रये साधुना निर्जरार्थिना स्यातव्य-मित्यमर्थाधिकारः ३ ॥ गतो निर्युक्त्यनुगमः, अधुना सूत्रानुगमे सूत्रमुचारयितव्यं, तच्चेदम्---: चूडा-१, अध्ययनं-२, उद्देशकः १:--

मू. (३९८) से भिक्खू वा० अभिकंखिज्ञा उवस्सयं एसित्तए अणुपविसित्ता गामं वा जाव राथहाणिं वा, से जं पुण उवस्सयं जाणिजा सअंडं जाव असंताणयं तहप्पगारे उवस्सए ने ठाणं वा सिजं वा निसीहियं वा चेइजा।। से भिक्खू वा० से जं पुण उवस्सयं जाणिजा अप्पंडं जाव अप्पसंताण्यं तहप्पगारे उवस्सए पडितोहिता पमज्जित्ता तओ संजयामेव ठाणं वा३ चेइज्जा। से जं पुण उवस्सयं जाणिज्ञा अस्तिं पडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स पाणाइं ४ समारष्म समुद्दिस्स कीयं पामिश्च अच्छिजं अनिसहं अभिहडं आहट्ड चेएइ, तहप्पगारे उवस्सए पुरिसंतरकडे वा जाव अणासेविए वा नो ठाणं वा ३ चेइज्रा। एवं बहवे साहम्मिया एगं साहम्मिणिं बहवे साहम्मिणीओ।। से भिक्खू वा० से जं पुण उ० बहवे समणवणीमए पगणिय २ समुद्दिस्स तं चेब भाणियव्वं।।

से भिक्खू वा० से जं० बहवे समण समुद्दिस्स पाणाइं ४ जाव घेएति, तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे जाव अणासेविए नो ठाणं वा ३ चेइझा ३, अह पुणेवं जाणिझा पुरिसंतरकडे जाव सेविए पडिलेहित्ता २ तओ संजयामेव चेइझा ।।

से भिक्खू वा से जं पुण अस्संजए भिक्खुपांडेयाए कडिए वा उक्कंविए वा छन्ने वा लित्ते वा घट्ठे वा मट्टे वा संपधुमिए वा तहप्पगारे उवस्सए अपुरिसंतरकडे जाव अणासेविए नो ठाणं वा सेज़ं वा निसीहिं वा चेइज़ा, अह पुण एवं जाणिज़ा पुरिसंतरकडे जाव आसेविए पडिलेहिता २ तओ चेइज़ा।।

**वृ.** स भिक्षु 'उपाश्रयं' वसतिमेषितुं यद्यमिकाङ्केत्ततो ग्रामादिकमनुप्रविशेत्, तत्र च प्रविश्य साधुयोग्यं प्रतिश्रयमन्वेषयेत्, तत्र च यदि साण्डादिकमुपाश्रयं जानीयात्ततस्तन्न स्थानादिकं न विदध्यादिति दर्शयति-सुगमं, नवरं 'स्थानं' कायोत्सर्गः 'शय्या' संस्तारकः 'निषीधिका' स्वाध्यायभूमि 'नो चेइज़'त्ति नो चेतयेत्-नो कुर्यादित्यर्थ ।। एतद्विपरीते तु प्रत्युपेक्ष्य स्थानादीनि कुर्यादिति ।। साम्प्रतं प्रतिश्रयगतानुद्रगमादिदोषान् बिमणिषुराह ।

'सः' भावभिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं प्रतिश्रयं जानीयात्, तद्यया-'अस्तिंपडियाए'ति एतस्रतिज्ञया एतान् साधून् प्रतिज्ञाय-उद्दिश्य प्राण्युपमर्देन साधुप्रतिश्रयं कश्चिच्छाद्धः कुर्यादिति । एतदेव दर्शयति-एकं साधर्मिकं 'साधुम्' अर्हद्यणीतधर्मानुष्ठायिनं सम्यगुद्दिश्य-प्रतिज्ञाय प्राणिनः 'समारभ्य' प्रतिश्रयार्थमुपमर्ध प्रतिश्रयं कुर्यात्, तथा तमेव साधुं सम्यगुद्दिश्य 'क्रीतं' मूल्येनावाप्तं, तथा 'पामिद्यं'ति अन्यस्मादुच्छिन्नं गृह्णीतम् 'आच्छेद्यमि'ति भृत्यादेर्वलादाच्छिद्य गृहीतम् 'अनिसृष्टं' स्वामिनाऽनुत्सङ्कलितम् 'अभ्याह्तं' निष्पन्नमेवान्यतः समानीतम्, एवंभूतं प्रतिश्रयम् 'आह्रत्य' उपेत्य 'चेएइ'त्ति साधवे ददाति, तथाप्रकारे चोपाश्रये पुरुषान्तरकृतादौ स्थानादि न विदध्यादिति

एवं बहुवचनसूत्रमपि नेयम् ॥ तथा साध्वीसूत्रमप्येकवचनबहुवचनाम्यां नेयमिति ॥ किञ्च-सूत्रद्वयं पिण्डैषणानुसारेण नेयं, सुगमं च ॥ तथा-

स भिक्षुर्यसुनरेवंभूतं प्रतिश्रयं जानीयात्, तद्यथा-भिक्षुप्रतिज्ञया 'असंयतः' गृहस्थः प्रतिश्रयं कुर्यात्, स चैवंभूतः स्यात्, तद्यथा-'कटकितः' काष्ठादिभि कुड्यादौ संस्कृतः 'उक्कंबिओ'त्ति वंशादिकम्वाभिरवबद्ध 'छन्ने व'त्ति दर्भादिभिश्छादितः लिसः गोमयादिना धृष्टः सुधादिखरपिण्डेन मृष्टः स एव लेवनिकादिना समीकृतः 'संसृष्टः' भूमिकर्मा दिना संस्कृतः 'संप्रधूपितः' दुर्गन्धापनयनार्थं धूपादिना धूपितः, तदेवंभूते प्रतिश्रयेऽपुरुषान्तरस्वीकृते यावदनासेविते स्यानादि न कुर्यात्, पुरुषान्तरकृतासेवितादौ प्रत्युपेक्ष्य स्थानादि कुर्यादिति ॥

मू. (३९९) से भिक्खूं वा० से जॅ० पुण उवस्सयं जो अस्संजए भिक्खुपडियाए खुडियाओ दुवारियाओ महल्लियाओ कुञ्जा, जहा पिंडेसणाए जाव संथारगं संथारिजा बहिया वा निन्नक्खु 124

तहप्पगारे उवस्सए अपु० नो ठाणं ३ अह पुणेवं पुरिसंतरकडे आसेविए पडिलेहित्ता २ तओ संजयामेव आव चेइज्ञा।

से भिक्खू वा० से जं० अस्संजए भिक्खुपडियाए उदग्गप्पसूर्याणि कंदाणि वा मूलाणि वा पत्ताणि वा पुप्फाणि वा फलाणि वा बीयाणि वा हरियाणि वा ठाणाओ ठाणं साहरइ बहिया वा निन्नक्खू त० अपु० नो ठाणं वा चेइज्रा, अह पुण० पुरिसंतरकडं चेइज्रा।

से भिक्खू या से जं० अस्संज० भि० पीठं वा फलगं वा निस्सेणिं वा उदूखलं वा ठाणाओ ठाणं साहरइ बहिया वा निण्णक्खू तहप्पगारे उ० अपु० नो ठाणं वा घेइज्रा, अह पुण० पुरिसं० चेइज्रा ।।

ष्ट्र. स भिक्षुर्यं पुनरेवंभूतं प्रतिश्रयं जानीयात्, तद्यथा-'असंयतः' गृहस्यः साधुप्रतिज्ञया लघुद्वारं प्रतिश्रयं महाद्वारं विदध्यात्, तत्रैवंभूते पुरुषान्तरास्वीकृतादौ स्यानादि म विदध्यात्, पुरुषान्तरस्वीकृतासेवितादौ तु विदध्यादिति, अत्र सूत्रद्वयेऽप्युत्तरगुणा अभिहिताः, एतद्दोषदुष्टाऽपि पुरुषान्तरस्वीकृतादिका कल्पते, मूलगुणदुष्टा तु पुरुषान्तरस्वीकृताऽपि न कल्पते, तेचामी मूलगुणदोषाः-''पडी वंसो दो धारणाउ चत्तारि मूलवेलीओ'' एतैः पृष्ठवंशादिभि साधुप्रतिज्ञया या वसति क्रियते सा मूलगुणदुष्टा ॥

सभिक्षुर्यं पुनरेवम्भूतं प्रतिश्रयं जानीयात्, तद्यथा-गृहस्यः साधुप्रतिज्ञया उदकप्रसूतानि कन्दादीनि स्थानान्तरं सङ्क्राामयति बहिर्वा 'निन्नक्खु'ति निस्सारयति तथाभूते प्रतिश्रये पुरुषान्तरास्वीकृते स्थानादि न कुर्यात्, पुरुषान्तरस्वीकृते तु कुर्यादिति ॥ एवमचित्त-निसारणसूत्रमपि नेयम्, अत्र च त्रसादिविराघना स्यादिति भावः ॥ किञ्च–

मू. (४००) से भिक्खू वा० से जं० तंजहा-खंधंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा पासा० हम्मि० अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि अंतलिक्खजायंसि, नन्नत्य आगाढानागाढेहिं कारणेहिं ठाणं वा नो चेइजा ।। से आहञ्च वा पहोइज़ वा, नो तत्य ऊसढं पकरेज़ा, तंजहा --

उश्चारं वा पा० खे० सिं० वंतं वा पित्तं वा पूर्यं वा सोणियं वा अन्नयरं वा सरीरावयवं वा, केवली बूया आयाणमेयं, सेतत्व ऊसढं पगरेमाणे पयलिज वा २, से तत्व पयलमाणे वा पवडमाणे वा हत्वं वा जाव सीसं वा अन्नयरं वा कार्यसि इंदियजालं लूसिज वा पाणि ४ अभिहणिज्ञ वा जाव ववरोविज्ञ वा, अथ भिक्खूणं पुव्ववइडा ४ जं तहप्पगारं उवस्सए अंतलिक्खजाए नो ठाणंसि वा ३ चेइज्रा ।।

ष्ट्र. स भिक्षुर्यं पुनरेवंभूतमुपाश्रयं जानीयात्, तद्यथा-स्कन्धः-एकस्य स्तम्भस्योपर्याश्रयः, मञ्चमालौ-प्रतीतौ, प्रासादोद्वितीयभूमिका, हर्म्यतलं-भूमिगृहम्, अन्यस्मिन् वा तथाप्रकारे प्रतिश्रये स्थानादि न विदध्यादन्यत्र तथाविधप्रयोजनादिति, स चैवंभूतः प्रतिश्रयस्तथाविधप्रयोजने सति यद्याहृत्य-उपेत्य गृहीतः स्यात्तदानीयत्तत्र विधेयं तद्दर्शयति-न तत्र शीतोदकादिना हस्तादिधावनं विदध्यात्, तथा न च तत्र व्यवस्थितः 'उत्पृष्टम्' उत्सर्जनं-त्यागमुञ्चारादेः कुर्यात्, केवली ब्रूयात्कर्मोपादानमेतदात्मसंयमविराधनातः, एतदेव दर्शयति –

स तत्र त्यागं कुर्वन् पतेद्वा पतंश्चान्यतरं शरीरावयवमिन्द्रियं वा विनाशयेत्, तथा प्राणिनश्चाभिहन्याद्यावञ्जीविताद् 'व्यपरोपयेत्' प्रच्यावयेदिति, अथभिक्षूणां पूर्वोपदिष्टमेतव्रतिज्ञ- दिकं यत्तथाभूतेऽन्तरिक्षजाते प्रतिश्रये स्थानादि न विधेयमिति ॥ अपि च-

मू. (४०९) से भिक्खू वा० से जं० सइत्थियं सखुड्डं सपसुभत्तपाणं तहप्पगारे सागारिए उवस्सए नो ठाणं वा ३ चेइज्ञा। आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावइकुलेण सद्धि संवसमाणस्स अलसगे वा विसूड्या वा छड्डी वा उव्वाहिज्ञा अन्नयरे वा।

से दुक्खे रोगायंके समुपञ्जिज्ञा, अस्संजए कलुणपडियाए तं भिक्खुस्सं गायं तिल्लेण वा घएण वा नवनीएण वा वसाए वा अब्यंगिज्ञ वा मक्खिज्ञ वा सिणाणेण वा कक्केण वा लुद्धेण वा वण्णेण वा चुण्णेण वा पउमेण वा आधंसिज्ञ वा पर्घसिज्ञ वा उव्वलिज्ञ वा उव्वद्विज्ञ वा सीओद-गवियडेण वा उसिणोदगवियडेण वा उच्छोलिज्ञ वा पक्खालिज्ञ वा सिणाविज्ञ वा सिंचिज्ञ वा दारुणा वा दारुपरिणामं कट्टु अगनिकायं उज्जालिज्ञ वा पज्ञालिज्ञ वा उज्जालित्ता कायं आयाविज्ञा वा प० ।

अह भिक्खूणं पुव्वोवइडा० जं तहप्पगारे सागारिए उवस्सए नो ठाणं वा ३ चेइजा।।

**वृ.** स भिक्षुर्यं पुनरेवंभूतमुपाश्चयं जानीयात् तद्यथा-यत्र स्त्रियं तिष्ठन्तीं जानीयात्, तथा 'सखुडु'न्ति सबालं, यदिवा सह क्षुद्रैरवबद्धः-सिंहश्वमार्जारादिभिर्यो वर्त्तते, तथ पशवश्च भक्तपाने च, यदिवा पशूनां भक्तपाने तद्युक्तं, तथाप्रकारे सागारिके गृहस्थाकुलप्रतिश्रये स्थानादि न कुर्याद्, यतस्तत्रामी दोषाः, तद्यथा-आदानं कर्मोपादानमेतद्, भिक्षोर्गृहपतिकुटुम्बेन सह संवसतो यतस्तत्र भोजनादिक्रिया निशङ्का न संभवति, व्याधिविशेषो वा कश्चित्संभवेदिति दर्शयति –

'अलसगे'त्ति हस्तपादादिस्तम्भः श्वयथुर्वा, विशूचिकाछर्दी प्रतीते, एते व्याधयस्तं साधुमुद्बाधेरन्, अन्यतराद्वादुःखं 'रोगः' ज्वरादि 'आतङ्कः' सद्यः प्राणहारी शूलादिस्तन्न समुत्यदेत, तं च तथाभूतं रोगातङ्कपीडितं ध्ष्टवाऽसंयतः कारुण्येन भक्त्या वा तद्भिक्षुगात्रं तैलादिनाऽभ्यञ्यात् तथेषन्म्रक्षयेद्वापुनश्च स्नानं-सुगन्धिद्रव्यसमुदयः, कल्कः-कषायद्रव्यक्वायः, लोधं-प्रतीतं, वर्णकः-कम्पिल्लकादि, चूर्णोयवादीनां पद्मकं-प्रतीतम्, इत्यादिना द्रव्येण ईषसुनःपुनर्वा धर्षयेत्, घृष्टवा चाभ्यङ्गापनयनार्थमुद्धत्त्येत्, ततश्च शीतोदकेन वा उष्णोदतकेन वा 'उच्छोलेज्ञ'त्ति ईषदच्छोलनं विदध्यात् प्रक्षालयेत्, पुन् पुनः स्नानं वा-सोत्तमाङ्ग कुर्यात्सिञ्चेद्वेति,

तथा दारुणा वा दारूणां परिणामं कृत्वा-संघर्षं कृत्वाऽग्निमुज्ञ्वालयेस्रञ्वालयेद्वा, तथा च कृत्वा साधुकायम् 'आतापयेत्' सकृत् प्रतापयेसुनः पुनः ।अथ साधूनां पूर्वोपदिष्टमेतस्रतिज्ञादिकं यत्तथाभूते ससागारिके प्रतिश्रये स्थानादिकं न कुर्यादिति ।।

मू. (४०२) आयाणमेयं भिक्खुस्स सागारिए उवस्सए संवसमाणस्स इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरी वा अन्नमन्नं अक्कोसंति वा पचंति वा रूंभंति वा उद्दविंति वा, अह भिक्खूणं उञ्चावयं मणं नियंछिज्ञा, एए खलु अन्नमन्नं अक्कोसंतु वा मा वा अक्कोसंतु जाव मा वा उद्दविंतु, अह भिक्खूणं पुव्व० जं तहष्पगारे सा० नो ठाणं वा ३ चेइजा।।

वृ. कर्मोपादानमेतद्भिक्षोः ससागारिके प्रतिश्रये वसतो, यतस्तत्र बहवः प्रत्यपायाः संभवन्ति, तानेवदर्शयति-'इह' इत्यंभूते प्रतिश्रये गृहपत्यादयः परस्परत आक्रोशादिकाः क्रियाः कुर्यु, तथा च कुर्वतो धष्टवा स साधुः कदाचिदुञ्चावचं मनः कुर्यात्, तत्रोञ्चं नाम मैवं कुर्वन्तु, अवचं नाम कुर्वन्त्विति, शेषं सुगममिति॥ मू. (४०३) आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावईहिं सद्धि संवसमाणस्स, इह खलु गाहावई अप्पणो सयद्वाए अगनिकायं उज्जालिज्ञा वा पञ्जालिज्ञ वा विज्झविज्ञ वा, अह भिक्खू उश्चावयं मणं नियंछिज्ञा, एए खलु अगणिकायं उ० वा २ मा वा उ० पञ्जा लिंतु वा मावा प०, विज्झविंतु वा मा वा वि०, अह भिक्खूणं पु० जं तहप्पगारे उ० नो ठाणं वा ३ चेइज्ञा ॥

वृ. एतदपि गृहपत्यादिभि स्वार्थमग्निसमारम्भे क्रियमाणे भिक्षोरुञ्चावचमनःसम्भव-प्रतिपादकं सूत्रं सुगमम् ॥ अपि च–

मू. (४०४) आयाणमेयं भिक्खुस्स गाहावईहिं सद्धिं संवसमाणस्स, इह खलु गाहावइस्स कुंडले वा गुणे वा मणी वा मुत्तिए वा हिरण्णेसु वा सुवण्णेसु वा कडगाणि वा तुडियाणि वा तिसराणि वा पालंवाणि वा हारे वा अद्धहारे वा एगावली वा कणगावली वा मुत्तावली वा रयणावली वा तरुणीयं वा कुमारिं अलंकियविभूसियं पेहाए, अह भिक्खू उश्चाव० एरिसिया वा सा नो वा एरिसिया इय वा णं बूया इय वा णं मणं साइज़ा, अह भिक्खूणं पु० ४ जं तहप्पगारे उवस्सए नो० ठा० ॥

**वृ.** गृहस्थैः सह संवसतो भिक्षोरेते च वक्ष्यमाणा दोषाः, तद्यथा-अलङ्कारजातं धष्टवा कन्यकां वाऽलङ्कृ तां समुपलभ्यईदशी ताद्दशी वा शोभनाऽशोभना वा मद्भार्यासध्शी वा तथाऽलङ्कारो वा शोभनोऽशोभन इत्यादिकां वाचं ब्रूयात्, तथोद्यावचं शोभनाशोभनादौ मनः कुर्यादिति समुदायार्थ, तत्र गुणो-रसनाहिरण्यं-दीनारादिद्रव्यजातं त्रुटितानिमृणालिकाः प्रालम्बः-आप्रदीपन आभरणविशेषः, शेषं सुगमम् ॥ किञ्च–

मू. (४०५) आयाणमेवं भिक्खुस्स गाहार्व्झहिं सद्धिं संवसमाणस्स, इह खलु गाहावइणीओ वा गाहावइधूयाओ वा गा० सुण्हाओ वा गा० धाईओ वा गा० दासीओ वा गा० कम्मकरीओ वा तासिं च णं एवं वुत्तपुच्वं भवइ —

जे इमे भवंति समणा भगवंतो जाव उवरया मेहुणाओ धम्माओ, नो खलु एएसिं कप्पि मेहुणधम्मं परियारणाए आउद्वित्तए, जा य खलु एएहिं सद्धिं मेहुणधम्मं परियारणाए आउद्वाविज्ञा पुत्तं खलु सा लभिजा उयस्सि तेयसिंस वद्यसिंस संपराइयं आलोयणदरसणिज्ञं, एयप्पगारं निग्धोसं सुद्या निसम्म तासिं च णं अन्नयरी सङ्ढी तं तवस्सं भिक्खुं मेहुणधम्मपडियारणाए आउद्वाविज्ञा, अह भिक्खूणं पु० जं तहप्पगारे सा० उ० नो ठा ३ चेइज्ञा एयं खलु तस्स० ।।

**वृ**. पूर्वोक्ते गृहे वसतो भिक्षोरमी दीषाः, तद्यथा-गृहपतिभार्यादय एवमालोचयेयुः-यथैते अमणा मैथुनादुपरताः, तदेतेभ्यो यदि पुत्रो भवेत्ततोऽसौ 'ओजस्वी' बलवान् 'तेजस्वी' दीप्तिमान् 'वर्चस्वी' रूपवान् 'यशस्वी' कीर्तिमान्, इत्येवं संप्रधार्य तासां च मध्ये एवंभूतं शब्द काचित्पुत्रश्रद्धालुः श्रुत्वा तं साधुं मैथुनधर्म 'पडियारणाए'त्ति आसेवनार्थम् 'आउट्टावेज्ञ'त्ति अभिमुखं कुर्यात्, अत एतदोषभयात्साधूनां पूर्वोपदिष्टमेतस्यतिज्ञादिकं यत्तथाभूते प्रतिश्रये स्थानादि न कार्यमिति, एतत्तस्य भिक्षोर्भिक्षुण्या वा 'साम्प्रयं' सम्पूर्णो भिक्षुभाव इति ॥

चूडा-२ अध्ययनं-२ उद्देशक : १- समाप्तः

## --: चूडा-२ अध्ययनं-२ उद्देशक-२ :--

षृ. उक्तः प्रथमोद्देशकः अधुना द्वितीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-

इहानन्तरोद्देशके सागारिकप्रतिबद्धवसतिदोषाः प्रतिपादिताः, इहापि तथाविधवसतिदोष-विशेषप्रतिपादनायाह--

मू. (४०६) गाहावई नामेगे सुइसमायारा भवंति, से भिक्खू य असिणाणए मोयसमायारे ते तग्गंधे दुग्गंधे पडिकूले पडिलोमे याविभवइ, जं पुब्वं कम्मं तं पच्छ कम्मं जं पच्छा कम्मं तं पुरे कम्मं तं भिक्खु पडियाए वट्टमाणा करिजा वा नो करिजा वा, अह भिक्खूणं पु० जं तहप्पगारे उ० नो ठाणं०

**वृ**. 'एके' केचन गृहपतयः शुचि समाचारो येषां ते तथा, ते च भागवतादिभक्ता भवन्ति भोगिनो वा-चन्दनागुरुकुङ्कुमकर्पूरादिसेविनः, भिक्षुश्चास्नानतया तथाकार्यवशात् 'मोया'त्ति कायिका तत्समाचरणात्स भिक्षुस्तद्गन्धो भवति, तथा च दुर्गन्धः, एवंभूतश्च तेषां गृहस्थानां 'प्रतिकू्लः' नानुकू्लोऽनभिमतः, तथा 'प्रतिलोभः' तद्गन्धाद्विपरीतगन्धो भवति, एकार्थिकौ वैतावतिशयानभिमतत्वख्यापनार्थावुपात्ताविति, तथा ते गृहस्थाः साधुप्रतिज्ञया यत्तत्र भोजनस्वा-ध्यायभूमौ स्नानादिकं पूर्वं कृतवन्तस्तत्तेषामुपरोधात्पश्चात्कुर्वन्ति यद्वा पश्चात्कृतवन्तस्तत्पूर्वं कुर्वन्ति ।

एवमवसर्पणोत्सर्पणक्रियया साधूनामधिकरणसम्भवः, यदिवा ते गृहस्थाः साधू-परोधात्प्राप्तकालमपि मोजनादिकं न कुर्यु, ततश्चान्तरायमनः पीडादिदोषसम्भवः, अथवा त एव साधवो गृहस्थोपरोधाद्यसूर्वं कर्म-प्रत्युपेक्षणादिकं तत्पश्चात्कुर्युर्विपरीतं वा कालातिक्रमेण कुर्युर्न कुर्युर्वा, अथ भिक्षूणां पूर्वोपदिष्टमेतव्यतिज्ञादिकं यत्तथाविधे प्रतिश्रये स्थानादिकं न कार्यम् इति ।।किञ्च--

मू. (४०७) आयाणमेयं भिक्खुस्त गाहावईहिं सद्धिं सं०, इह खलु गाहावइस्त अप्पणो सयद्वाए विरुवरुवे मोयणजाए उवक्खडिए सिया, अह पच्छा भिक्खुपडियाए असणं वा ४ उवक्खडिज वा उवकरिज वा, तं च भिक्खू अभिकंखिज्ञा भुत्तए वा पायए वा वियट्टित्तए वा, अह भि० जं नो तह० ।।

**वृ.** कर्मोपादानमेतद्भिक्षोर्यद्गृहस्थावबद्धे प्रतिश्रये स्थानमति, तद्यथा-'गाहावइस्स अप्पणो'त्ति, तृतीयार्थे षष्ठी, गृहपतिना आत्मना स्वार्थं 'विरूपरूपः' नानाप्रकार आहारः संस्कृतः स्यात्, 'अथ' अनन्तरं पश्चात्साधूनुद्दिश्याशनादिपाकं वा कुर्यात्, तदुपकरणादिवा ढौकयेत्, तं च तथाभूतमाहारं साधुर्भीक्तुंपातुं वाऽभिकाङ्केत्, 'विअहित्तए व'त्ति तत्रैवाहारगृद्धया विवर्त्तितुम्-आसितुमाकाङ्केत्, शेषं पूर्ववदिति ।

मू. (४०८) आयाणमेयं भिक्खुरस गाहावइणा सर्खि संव० इह खलु गाहावइरस अप्पणो सयहाए विरुवरुवाई दारुयाई भिन्नपुट्याई भवंति, अह पच्छा भिक्खुपडियाए विरुवरुवाइं दारुयाई भिंदिज्ञ वा किणिज्ञ वा पामिच्चेज्ञ वा दारुणा वा दारूपरिणामं कट्टु अगनिकायं उ० प०, तत्थ भिक्खू अभिकंखिज्ञा आयावित्तए वा पयावित्तए वा वियट्टित्तए वा, अह भिक्खू० जं नो तहप्पगारे० ॥

**वृ.** एवं काष्ठाग्निप्रज्वालनसूत्रमपि नेयमिति ॥ किञ्च-

मू. (४०९) से भिक्खू या० उद्यारपासवणेण उच्चाहिजमाणे राओ वा वियाले वा

गाहावईकुलस्स दुवारबाहं अवंगुणिञ्जा, तेणे य तस्संधिचारी अणुपविसिञ्जा, तस्स भिक्खुस्स नो कप्पइ एवं वइत्तए-अयं तेणो पविसइ वा नो वा पविसइ उवल्लियइ वा नो वा० आवयइ वा नो वा० वयइ वा नो वा० तेण हडं अन्नेण हडं तस्स हडं अन्नस्स हडं अयं तेणे अयं उवचरए अयं हंता अयं इत्थमकासी तं तवसिंस भिक्खु अतेणं तेणंति संकइ, अह भिक्खूणं पु० जाव नो ठा०।।

**वृ. स भिक्षुस्तत्र गृहस्थसंसक्ते प्रतिश्र**ये वसन्नुश्चारादिना बाध्यमानो विकालादौ प्रतिश्रयद्वारभागमुदघाटयेत्, तत्र च 'स्तेनः' चौरः 'तत्सन्धिचारी' छिन्द्रान्वेषी अनुप्रविशेत्, तं च ध्ष्ट्वा तस्य भिक्षोर्नीचं वक्तुं कल्पते-यथाऽयं चौरः प्रविशति न वेति, तथोपलीयते नवेति, तथाऽयमतिपतति न वेति, तथा वदति वा न वदति वा, तेनामुकेनापहृतम् अन्येन वा,तस्या-पहृतमन्यस्य वा, अयं स स्तेनस्तदुपचारको वा।

अयं गृहीतायुधोऽयं हन्तां अयमन्नाकार्षीदित्यादि न वदनीयं, यत एवं तस्य चौरस्य व्यापत्तिस्यात्, स वा प्रद्विष्टस्तं साधुंव्यापादयेदित्यादिदोषाः, अभणने च तमेव तपस्विनं भिक्षुमस्तेनं स्तेनमित्याशङ्केतेति, शेषं पूर्ववदिति ॥ पुनरपि वसतिदोषाभिधित्सयाऽऽह–

मू. (४१०) से भिक्खू वा से जं० तणपुंजेसु वा पलालपुंजेसु वा सअंडे जाव ससंताणए तहप्पगारे उ० नो ठाणं वा० ।। ३।। से भिक्खू वा० से जं० तणपुं० पलाल० अप्पंडे जाव चेइज्रा।।

वृ. सुगमम्, एतद्विपरीतसूत्रमपि सुगमं, नवरमल्पशब्दोऽभाववाची ॥ साम्प्रतं वसतिपरित्यागमुद्देशकार्थाधिकारनिर्दिष्टमधिकृत्याह–

मू. (४९९) से आगंतारेसुआरामागारेसु वा गाहावइकुलैसु वा परियावसहेसु वा अभिक्खणं साहम्मिएहिं उवयमाणेहिं नो उवइजा।।

. वृ. यत्र ग्रामादेर्बहिरागत्यागत्य पथिकादयस्तिष्ठन्ति तान्यागन्तागाराणि, तथाऽऽराम-मध्यगृहाण्यारामगाराणि, पर्यावसथा-मठाः, इत्यादिषु प्रतिश्रयेषु 'अभीक्ष्णम्' अनवरतं 'साधर्मिकैः' अपरसाधुभि 'अवपतद्भि' आगच्छद्भिर्मासादिविहारिभिच्छर्दितेषु 'नावपतेत्' नागच्छेत्-तेषु मासकल्पादि न कुर्यादिति ॥ साम्प्रतं कालातिक्रान्तवसतिदोषमाह—

मू. (४१२) से आगंतारेसुं वा ४ जे भयंतारो उडुवद्धियं वा वासावासियं वा कप्पं उवाइणिता तत्थेव भुजो संवसंति, अयमाउसो ! कालाइक्वंतकिरियावि भवति १ ।।

**वृ.** तेष्वागन्तागारादिषु ये भगवन्तः 'ऋतुबद्धम्' इति शीतोष्णकालयोर्मासकल्पम् 'उपनीय' अतिबाह्य वर्षासु वा चतुरो मासानतिबाह्य तत्रैव पुनः कारणमन्तरेणासते, अयमायुष्मन् ! कालातिक्रमदोषः संभवति, तथा च स्त्र्यादिप्रतिबन्धः स्नेहादुद्गमादिदोषसम्भवो वेत्यतस्तथा स्थानं न कल्पत इति १ ॥ इदानीमुपस्थानदोषमभिधित्सुराह-

मू. (४९३) से आगंतारेसु वा ४ से भयंतारो उडु० वासा० कप्पं उवाइणावित्ता तं दुगुणा दु(ति)गुणेण वा अपरिहरित्ता तत्थेव भुज्जो० अयमाउसो ! उवहाणकि० २ ।।

मृ. ये 'भगवन्तः' साधव आगन्तागारादिषु ऋतुबद्धं वर्षा वाऽतिबाह्यान्यत्र मासमेकं स्थित्वा 'द्विगुणत्रिगुणादिना' मास कल्पेन अपरिहत्य-द्वित्रैर्मासैर्व्यवधानमकृत्वा पुनस्तत्रैव वसन्ति, अयमेवंभूतः प्रतिश्रय उपस्थानक्रियादोषदुष्टो भवत्यतस्तत्रावस्थातुं न कल्पत इति २ इदानीमभिक्रान्तवसतिप्रतिपादनायाह– मू. (४१४) इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया सड्ढा भवंति, तंजहा-गाहावई वा जाव कम्पकरीओ वा, तेसिं च णं आयारगोयरे नो सुनिसंते भवइ, तं सद्दहमाणेहिं पत्तियमाणेहिं रोयमाणेहिं बहवे समण माहण अतिहिकिवणवणीमए समुद्दिस्त तत्य २ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति, तंजहा –

आसणाणि वा आयतणाणि वा देवकुलाणि वा सहाओ वा पवाणि वा पणियगिहाणि वा पणियसालाओ वा जाणगिहाणि वा जाणसालाओ वा सुहाकम्मंताणि वा भवणगिहाणि वा, वध्धकं० वक्कयकं० इंमालकम्मं० कट्ठक० सुसाणक० सुन्नागायीगीरकंदरसंतिसेलेवट्ठाण कम्मंताणि वा जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा तेहिं उवयमाणेहिं उवयंति अयमा- उसो ! अभिक्रंतकिरिया यावि भवइ ३ ।।

**वृ**. इह प्रज्ञापकाद्यपेक्षय प्राच्यादिषु दिक्षु श्रश्वविकाः प्रकृतिभद्रका वा गृहपत्यादयो भवेयुः, तेषां च साध्वाचारगोचरः 'नोसुणिसंतो भवइ'त्ति न सुष्ठु निशान्तः-श्रुतोऽवगतो भवति, साधूना- मेवंभूतः प्रतिश्रयः कल्पते नैवंभूत इत्येवं न ज्ञातं भवतीत्यर्थ, प्रतिश्रयदानफलं च स्वर्गादिकं तैः कुतश्चिदवगतं, तच्छद्दधानैः प्रतीयमानै रोयद्भिरित्येकार्था एते किश्चिद्भेदाढा भेदः, तदेवंभूतैः 'अगारिभि' गृहरथैर्बहून् श्रमणादीन् उद्दिश्य तत्र तत्रारामाद यानशालादीनि स्वार्थं कुर्वद्भिः श्रमणाद्यवकाशार्थं 'चेइयाइं' महान्तिकृतानिभवन्ति, तानि चागाराणि स्वनामग्राहं दर्शयति, तद्यथा –

'आदेशनानि लोहकारादिशालाः आयतनानि देवकुलपाश्रापवरकाः 'देवकुलानि' प्रतीतानि 'सभाः' चातुर्वेद्यादिशालाः 'प्रपाः' उदकदानस्थानानि 'पण्यगृहाणि वा' पण्यापणाः 'पण्यशालाः' घड्वशालाः 'यानगृहाणि' रथादीनि यत्र यानानि तिष्ठन्ति 'यानशालाः' यत्र यानानि निष्पाद्यन्ते 'सुधाकर्मान्तानि' यत्र सुधापरिकर्म क्रियते, एवं दर्भवर्ध्रवल्कजाङ्गारकाष्ठकर्म काष्ठगृहाणि द्रष्टव्यानि, 'श्मशानगृहं' प्रतीतं शून्यागारं-विविक्तगृहं शान्तिकर्मगृहं-यत्र शान्तिकर्म क्रियते गिरिगृहं-पर्वतोपरिगृहंकन्दरं-गिरिगुहा संस्कृता शैलोपस्थापनं-पाषाणमण्डपः, तदेवंभूतानि गृहाणि तैश्चरकब्राह्मणादिभिरभिक्रान्तानि पूर्वं पश्चाद् 'भगवन्तः' साधवः 'अवपतन्ति' अवतरन्ति, इयमायुष्मन् ! विनेयामन्त्रणम्, अभिक्रान्तक्रिया वसतिर्भवति, अल्पदोषा चेयम् ३ ॥

मू. (४९५) इह खलु पाईणं वा जाव रोयमाणेहिं बहवे समणमाहणअतिहिकिवणवणिमए समुद्दिस्स तत्थ तत्य अगारिहं अगाराइं चेइयाइं भवंति, तं०--आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा, जे भयंतारो तहप्प आएसणाणि जाव गिहाणि वा तेहिं अणोवयमाणेहिं उवयंति अयमा-उसो ! अनभिक्कंतकिरिया यावि भवइ ।।

मृ. सुगमं, नवरं चरकादिभिरनवसेवितपूर्वा अनभिक्रान्तक्रिया वसतिर्भवति, इयं चानभिक्रान्तत्वादेवाकल्पनीयेति ४।। साम्प्रतं वर्ज्याभिधानां वसतिमाह–

मू. (४९६) इह खलु पाईणं वा ४ जाव कम्पकरीओ वा, तेसिं च णं एवं वुत्तपुव्वं भवइ-जे इमे भवंति समणा भगवंतो जाव उवरया मेहुणाओ धम्पाओ, नो खलु एएसिं भयंताराणं कप्पइ आहाकंम्पिए उवस्सए वत्थए, से जाणिमाणि अम्हं अप्पणो सयहाए चेइयाइंभवंति, तं०। आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा, सव्याणि ताणि समणाणं निसिरामो, अवियाइं वयं पच्छा अप्पणो सयद्वाए चेइस्साणो, तं०–आएसणाणि वा जाव, एयप्पगारं निग्घोसं सुच्चा निसम्म जे भयंतारो तहप्प० आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा उवागच्छंति इयराइयरेहिं पाहुडेहिं वट्टंति, अयमाउसो ! वज्जकिरियावि भवइ ५ ।।

**ष्ट्र.** इह खल्वित्यादि प्रायः सुगमं, समुदायार्थस्वयम्-गृहस्थैः साध्वाचाराभिज्ञैर्यान्यात्मार्थं गृहाणि निर्वर्त्तितानि तानि साधुभ्यो तत्त्वाऽऽत्मार्थं त्वन्यानि कुर्वन्ति, ते च साधवस्तेष्वित-रेतरेषूद्यावचेषु 'पाहुडेहिं'ति प्रदत्तेषु गृहेषु यदि वर्त्तन्ते ततो वर्ज्यक्रियाभिधाना वसतिर्भवति, सा च न कल्पत इति ५ ॥ इदानीं महावज्यार्भिधानां वसतिमधिकृत्याह–

मू. (४९७) इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइआ सड्ढा भवंति, तैसिं च णं आयारगोयरे जाव तं रोयमाणेहिं बहवे समणमाहण जाव वणीमगे पगणिय २ समुद्दिस्त तत्थ २ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवंति, तं० । आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा, जे भयंतारो तहप्पगाराइं आएसणाणि वा जाव गिहाणि वा, उवागच्छंति इयराइयरेहिं पाहुडेहिं०, अयमाउसो ! महावञ्जकिरियावि भवइ ६ ।।

**वृ.** इहेत्यादि प्रायः सुगममेव, नवरं श्रमणाद्यर्थं निष्पादिताया यावन्तिकवसतौ स्थानादि कुर्वतो महावर्जाभिधाना वसतिर्भवति, अतः अकल्प्या चेयं विशुद्धकोटिश्चेति ६ ।।

इदानीं सावद्याभिधानामधिकृत्याह--

मू. (४१८) इह खलु पाईणं वा ४ संतेगइया जाव तं सद्दहमाणेहिं तं पत्तियमाणेहिं तं रोयमाणेहिं बहवे समणमाहणअतहिकिवणवणीमगे पगणिय २ समुद्दिस्त तत्य २ अगाराइं चेइयाइंभवंतितं – आएसणाणि वा जाव भवनगिहाणि वा, जेभयंतारो तहप्पगाराणि आएसणाणि वा जाव भवनगिहाणि वा उवागच्छंति इयराइयरेहिं पाहुडेहिं, अयमाउसो ! सावझकिरिया यावि भवइ ७॥

वृ. इहेत्यादि प्रायः सुगमं, नवरं पञ्चविधश्रमणाद्यर्यमेवैषा कल्पिता, ते चामी श्रमणाः-"निग्गंध १ सक्व २ तावस ३ गेरुअ ४ आजीव ५ पंचहा समणा।" इति, अस्यां च स्थानादि कुर्वतः सावद्यक्रियाऽमिधाना वसतिर्भवति, अकल्पनीया, चेयं विशुद्धकोटिश्चेति ७॥ महासावद्याभिधानामधिकृत्याह–

मू. (४९९) इह खलु पाईणं वा ४ जाव तं रोयमाणेहिं एगं समणजायं समुद्दिस्स तत्थ २ अगारीहिं अगाराइं चेइयाइं भवन्ति, तं.० आएसणाणि जाव गिहाणि वा महया पुढविकायसमारंभेणं जाव महया तसकायसमारंभेणं महया विरूवरूवेहिं पावकम्मकिच्चेहिं, तंजहा –

छायणओ लेवणओ संथारदुवारपिहणओ सीओदए वा परइवियपुव्वे भवइ अगनिकाए वा उज्रालियपुव्वे भवइ, जे भयंतारो तह० आएसणाणि वा० उवागच्छंति इयराइयरेहिं पाहुडेहिं दुपक्खं ते कम्मं सेवंति, अयमाउसो ! महासावज्रकिरिया यावि भवइ ८ ॥

**वृ.** इह कश्चिद्गृहपत्यादिरेकं साधर्मिकमुद्दिश्य पृथिवीकायादिसंरम्भसमारम्भारम्भैरन्यतरेण वा सहता तथा 'विरूपरूपैः' नानारूपैः पापकर्मकृत्यैः-अनुष्ठानैः, तद्यथा-छादनतो लेपनतस्तथा संस्तारकार्थं द्वारढक्कनार्थं च, इत्यादीनि प्रयोजनान्युद्दिश्य शीतोदकं त्यक्तपूर्यं भवेत् अग्निर्वा प्रञ्चालितपूर्वो भवेत्, तदस्यां वसतौ स्थानादि कुर्वन्तस्ते द्विपक्षं कर्मासेवन्ते, तद्यथा – प्रव्रज्याम् आधाकर्मिकवसत्यासेवनाद्गृहस्थत्वं च रागद्वेषं च ईर्यापथं साम्परायिकं च, इत्यादिदोषान्महासावद्यक्रियाऽभिधाना वसतिर्मवतीति इदानीमल्पक्रियाऽभिधानामधिकृत्याह-

मू. (४२०) इह खलु पाईणं वा० रोयमाणेहिं अप्पणो सयद्वाए तत्य २ अगारीहिं जाव उजालियपुव्वे भवइ, जे भयंतारो तहप्प० आएसणाणि वा० उवागच्छंति इयराइयरेहिं पाहुडेहिं एगपक्खं ते कम्मं सेवंति, अयमाउसो ! अप्पसावज्रकिरिया यावि भवइ । एवं खलू तस्स ०।

**वृ. सुगमं, नवरमल्पशब्दोऽभाववाचीति ९। एतत्तस्य भिक्षोः 'साम्प्रयं' भिक्षुभाव इति** 

ll 🤊 ll 🦳 ''कालाइकंतु ९ व ठाण २ अभिकंता ३ चेव अनभिकंता ४ य l

वज्ञा य ५ महावज्ञा ६ सावञ्ज ७ मह ८ ऽप्पकिरिआ ९ य ''

एताश्च नव वसतयो यथाक्रमं नवभिरनन्तरसूत्रैः प्रतिपादिताः, आसु चाभिक्रान्ताल्पक्रिये योग्ये शेषास्त्वयोग्या इति ।। द्वितीयाध्ययनस्य द्वितीयः ।।

चूडा-१ अध्ययनं-२ उद्देशकः-२ समाप्तः

--: चूडा-२ अध्ययनं-२ उद्देशकः-३ :--

**वृ**.उक्तो द्वितीयोद्देशकोऽधुना तृतीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसंबन्धः, इहानन्तरसूत्रेऽल्पक्रिया शुद्धा वसतिरभिहिता, इहाप्यादिसूत्रेण तद्विपरीतां दर्शयितुमाह-

मू. (४२१) से य नो सुलभे फासुए उंछे अहेसणिजे नो य खलु सुद्धे इमेहिँ पाहुडेहिं, तंजहा-छायणओ लेवणओ संथारदुवारपिहणओ पिंडवाएसणाओ।

सेय भिक्खू चरियारएठाणरएनिसीहियारएसिजासंथारपिंडवाएसणारए, संतिभिक्खुणो एवमक्खाइणो उज्जुया नियागपडिवत्रा अमायं कुव्वमाणा वियाहिया, संतेगइया पाहुडिया उक्खित्तपुव्वा भवइ, एवं निक्खित्तपुव्वा भवइ, परिमाइयपुव्वा भवइ, परिभुत्तपुव्वा भवइ परिट्टवियपुव्वा भवइ, एवं वियागरेमाणे समियाए वियागरेइ ? हंता भवइ।।

**वृ.** अत्र च कदाचित्कश्चित्साधुर्वसत्यन्वेषणार्थं भिक्षार्थं वा गृहपतिकुलं प्रविष्टः सन् केनचिच्छ्रद्धालुनैवमभिधीयते, तद्यथा-प्रचुरान्नपानोऽपं ग्रामोऽतोऽत्र भवतां वसतिमभिगृह्य स्थातुं युक्तमित्येवमभिहितः सन्नेवमाचक्षीत-न केवलं पिण्डपातः प्रासुको दुर्लभस्तदवाप्तावपि यत्रासौ भुज्यते स च प्रासुकः-आधाकर्मादिरहितः प्रतिश्रयो दुर्लभः, 'उंछ' इति छादनाद्युत्तर-गुणदोषरहितः, एतदेव दर्शयति --

'अहेसणिज़े'त्ति यथाऽसौ भूलोत्तरगुणदोषरहितत्वेनैषणीयो भवति तथा भूतो दुर्लभ इति, ते चामी मूलोत्तरगुणाः-

| 11 9 11        | ें ''पही वंसो दो धारणाओ चत्तारि मूलवेलीओ।  |
|----------------|--|
|                | मूलगुणेहिं विसुद्धा एसा आहागडा वसही  |
| ॥२॥            | वंसगकडणोकंपण छायण लेवण दुवारभूमीओ ।  |
|                | परिकम्मविप्पमु <b>का</b> एसा मूलुत्तरगुणेसु  |
| 11 <b>३</b> 11 | दूमिअधूमिअवासिअउज्रोवियबलिकडा अ वत्ता य ।  |
|                | सित्ता सम्पद्घावि अ विसोहिकोडीगया वसही ''  |
| अत्र           | र च प्रायशः सर्वत्र सम्भवित्वादुत्तरगुणानां तानेव दर्शयति, न चासौ शुद्धा भवत्यमीभि |

कर्मोपादानकर्मभिः, तद्यया---'छादनतः' दर्भादिना, 'लेपनतः' गोमयादिना संस्तारकम्-अपवर्त्तक-माश्रित्य, तथा द्वारमाश्रित्य बृहल्लघुत्वापादानतः, तथा द्वारस्थगनं-कपाटमाश्रित्य, तथा पिण्डपातैष-णामाश्रित्य, तथाहि-कसिंमश्चिद्यतिश्रये प्रतिवसतः साधून् शय्यातरः पिण्डेनोपनिमन्त्रयेत्, तद्ग्रहे निषिद्धाचरणमग्रहे तत्यद्वेषादिसम्भव इत्यादिभिरुत्तरगुणैः शुद्धः प्रतिश्रयो दुरापः, शुद्धेच प्रतिश्रये साधुना स्थानादि विधेयं, यत उक्तम् ०--

II 9 II मूलुत्तरगुणसुद्धं यीपसुपंडविवजियं वसहिं । सेवेज सब्वकालं विवज्रए हुंति दोसा उ

मूलोत्तरगुणशुद्धावासावपि स्वाध्यायादिभूमीसमन्वितो विविक्तो दुराप इति दर्शयति ।

'से' इत्यादि, तत्र च भिक्षवः चर्यारताः- निरोधासहिष्णुत्वाद्यङ्कमणशीलाः, तथा 'स्थानरताः' कायोत्सर्गकारिणः 'निषीधिकारताः' स्वाध्यायध्यायिनः शय्या-सर्वाङ्गिकी संस्तारकः-अर्द्धतृतीय हस्तप्रमाणः, यदिवा शयनं शय्या तदर्थं संस्तारकः शय्यासंस्तारकस्तत्र केचिद्रताः 'लानादिभावात्, तथा लब्धे पिण्डपाते ग्रासैषणारतास्तदेवं 'सन्ति' भवन्ति केचन भिक्षवः 'एवमाख्यायिनः' यथाऽवस्थितवसतिगुणदोषाख्यायिनः ऋजवो नियागः-संयमो मोक्षो वा तं प्रतिपन्नाः, तथा अमायाविनः, एवंविशिष्टाः साधवः 'व्याख्याताः' प्रतिपादिताः, तदेवं यसतिगुणदोषानाख्याय गतेषु तेषु तैश्च श्रावकैरेवंभूतैषणीयवसत्यभावे साध्वर्धमादेरारम्य वसति कृता पूर्वकृता वा छादनादिना संस्कृता भवेत्, पुनश्च तेष्वन्येषु वा साधुषु समागतेषु 'सन्ति' विद्यन्ते तथाभूताः केचन गृहस्थाः य एवंभूतां छलनां विदध्युः, तद्यथा –

प्राभृतिकेव प्राभृतिका-दानार्थं कल्पिता वसतिरिह गृह्यते, सा च तैर्गृहस्थैः 'उत्सिप्तपूर्वा' तेषामादौ दर्शिता यथाऽस्यां वसत यूयमिति, तथा 'निक्षिप्तपूर्वा' पूर्वमेव अस्माभिरात्मकृते निष्पादिता, तथा 'परिमाइयपुव्व'त्ति पूर्वमेवास्माभिरियं भ्रातृव्यादेः परिकल्पितेत्येवंभूता भवेत्, तथाऽन्यैरपीयं परिभुक्तपूर्वा, तथा पूर्वमेवास्माभिरियं भ्रातृव्यादेः परिकल्पितेत्येवंभूता भवेत्, तथाऽन्यैरपीयं परिभुक्तपूर्वा, तथा पूर्वमेवास्माभिरियं भ्रातृव्यादेः परिकल्पितेत्येवंभूता भवेत्, तत्याऽन्यैरपीयं परिभुक्तपूर्वा, तथा पूर्वमेवास्माभिरियं परित्यक्तेति, यदि च भगवतां नोपयुज्यते ततो वयमेनामपनेष्यामः, इत्येवमादिका छलना पुनः सम्यग् विज्ञाय परिहर्त्तव्येति, ननु किमेवं छलनासम्भवेऽपि यधाऽवस्थितवसतिगुणदोषादिकं गृहस्थेन पृष्टः साधुव्यार्क्तुर्वन्-कथयन् सम्यगेव व्याकरोति य, यदिवैवं व्याकुर्वन् सम्यग् व्याकर्ता मवति ?, आचार्य आह-हन्त इति शिष्यामन्त्रणे सम्यगेव व्याकर्त्ता भवतीति ॥ तथाविधकार्यवशाद्यरककार्पटिकादिभिः सह संवासे विधिमाह-

मू. (४२२) से भिक्खू वा० से जं पुण उवस्सयं जाणिज्ञा खुड्डियाओ खुड्डुवारियाओ निययाओ संनिरूद्धाओ भवन्ति, तहप्पगा० उवस्सए राओ वा वियाले वा निक्खममाणे वा प० पुरा हत्थेण वा पच्छ पाएण वा तओ संजयामेव निक्खमिज्ञ वा २, केवली बूया आयाणमेयं, जे तत्थ समणाण वा माहणाण वा छत्तए वा मत्तए वा दंडए वा लडिया वा मिसिया वा नालिया वा चेलं वा चिलिमिली वा चम्पए वा चम्पकोसए वा चम्पछेयणए वा दुब्बद्धे दुन्निक्खित्ते अनिकंपे चलाचले भिक्खू य राओ वा वियाले वा निक्खममाणे वा २ पयलिज्ञ वा २, से तत्थ पयलमाणे वा० हत्थं वा० लूसिज्ज वा पाणाणि वा ४ जाव ववरोविज्ञ वा, अह भिक्खूणं पुच्चोवइइं जं तह० उवस्सए पुरा हत्थेण निक्ख. वा पच्छा पाएणं तओ संजयामेव नि० पविसिज्ज वा ।।

**वृ. स भिक्षुर्यं पुनरेवंभूतं प्रतिश्रयं जानीयात्, तद्यथा-'क्षुद्रिकाः' लघ्व्यः तथा क्षुद्रद्वा**राः

'नीचाः' उच्चेस्वरहिताः 'संनिरूद्धाः' गृहस्थाकुला वसतयो भवन्ति, ताश्चैवं भवन्ति-तस्यां साधुवसतौ शय्यातरेणान्येषामपि कतिपयदिवसस्थायिनां चरकादीनामवकाशो दत्तो भवेत् ।

तेषां वा पूर्वस्थितानां पश्चात्साधूनामुपाश्चयो दत्तो भवेत्, तत्र कार्यवशाद्वसता रात्र्यादौ निर्गच्छता प्रविशता वा यथा चरकाद्युपकरणोपघातो न भवति तदवयवोपघातो वा तथा पुरो हस्तकरणादिकया गमनागमनादिक्रियया यतितव्यं, शेषं कण्ठयं, नवरं 'चिलिमिली' यमनिका 'चर्मकोशः' पार्ष्णित्रं खल्लकादि ॥ इदानीं वसतियाचनाविधिमधिकृत्याह--

मू. (४२३) से आगंतारेसु वा अणुवीय उवस्सयं जाइआ़, जे तत्थ ईसरे जे तत्थ समहिडाए ते अवस्सयं अनुत्रविज्ञा-कामं खलु आउसो ! अहालंदं अहापरिन्नायं वसिस्सामो जाव आउ-संतो! जाव आउसंतस्स उवस्सए जाव साहम्भियाइं ततो उवस्सयं गिण्हिस्सामो तेण परं विहरिस्सामो

**वृ.** स भिक्षुरागन्तागारादीनि गृहाणि पूर्वोक्तानि तेषु प्रविश्यानुविचिन्त्य च-किंभूतोऽयं प्रतिश्रयः ? कश्चात्रेश्वरः ? इत्येवं पर्यालोच्य च प्रतिश्रयं याचेत, यस्तत्र 'ईश्वरः' गृहस्वामी यो वा तत्र 'समधिष्ठाता' प्रभुनियुक्तस्तानुपाश्रयमनुज्ञापयेत्, तद्यथा–'कामं' तवेच्छया आयुष्मन् त्वया यथापरिज्ञातं प्रतिश्रयं कालतो भूभागतश्च तथैवाधिवत्स्यामः, एवमुक्तः स कदाचिद् गृहस्थ एवं ब्रूयाद्-यथा कियत्कालं भवतामत्रावस्थानमिति ?, एवं गृहस्थेन पृष्टः साधुः-वसति प्रत्युपेक्षक एतद् ब्रूयाद्-यथा ।

कारणमन्तरेण ऋतुद्धे मासमेकं वर्षासु चतुरो मासानवस्थानमिति, एवमुक्तः कदाचित्परो ब्रूयात्-नैतावन्तं कालं ममात्रावस्थानं वसतिर्या, तत्र साधुस्तथाभूतकारणसद्भावे एवं ब्रूयाद्-यावत्कालमिहायुष्भन्त आसते यावद्वा भवत उपाश्रयस्तावत्कालमेवोपाश्रयं गृहीष्यामः, ततः परेण विहरिष्याम इत्युत्तरेण सम्बन्धः, साधुप्रमाणप्रश्ने चोत्तरं दद्याद् यथा समुद्रसंस्थानीयाः सूरयो, नास्ति परिमाणं, यतस्तत्र कार्यार्थिनः केचनागच्छन्ति अपरे कृतकार्या गच्छन्यतो यावन्तः साधर्मिकाः समागमिष्यन्ति तावतामयमाश्रयः, साधुपरिमाणं न कथनीयमिति भावार्थः ।।किञ्च-

मू. (४२४) से भिक्खू वा० जस्सुवस्सए संवसिज्ञा तस्स पुव्वामेव नामगुत्तं जाणिज्ञा, तओ पच्छा तस्स गिहे निमंतेमाणस्स वा अनिमंतेमाणस्स वा असणं वा ४ अफासुयं जाव नो पडिगाहेज्ञा।।

**वृ.** सुगमं, नवरं साधूनां सामाचार्येषा, यदुत शय्यातरस्य नामगोत्रादि ज्ञातव्यं, तत्परिज्ञानाञ्च सुखेनैव प्राधूर्णिकादयो भिक्षामटन्तः शय्यातरगृहप्रवेशं परिहरिष्यन्तीति ॥ किञ्च–

मू. (४२५) से भिक्खू वा० से जं० ससागारियं सागणियं सउदयं नो पन्नस्स निक्खमणपवेसाए जावऽनुचिंताए तहष्पगारे उवस्सए नो ठा०॥

**वृ.** स भिक्षुर्यं पुनरेर्वभूतं प्रतिश्रयं जानीयात्, तद्यथा-संसागारिकं साग्निकं सोदकं, तत्र स्वाध्यायादिकृते स्थानादि न विधेयमिति ॥ तथा--

मू. (४२६) से भिक्खू वा० से जं० गाहावइकुलस्स मज्झंमज्झेणं गंतुं पंथए पडिबर्द्ध वा नो पत्रस्स जाव चिंताए तह उ० नो ठा० ।।

**वृ**. यस्योपाश्रयस्य गृहस्थगृहमध्येन पन्धास्तत्र बह्वपायसम्भवात्तत्र न स्थातव्यमिति ॥ तथा– मू. (४२७) सेभिक्खू वा० से जं०, इह खलु गाहावई वा० कम्पकरीओ वा अन्नमन्नं अक्कोसंति वा जाव उद्दवंति वा नो पन्नस्त०, सेवं नश्चा तहप्पगारे उ० नो ठा०।।

मू. (४२८) से भिक्खू वा० से जं पुण० इह खलु गाहावई वा कम्मअरीओ वा अन्नमन्नस्स गायं तिल्लेण वा नव० ध० वसाए वा अब्भंगेति वा मक्खेंति वा नो पन्नस्स जाव तहप्प उव० नो ठा०

मू. (४२९) से भिक्खू वा० से जं पुण० इह खलु गाहावई वा जाव कम्पकरीओ अन्नमन्नस्स गायं सिणाणेण वा क० लु० चु० ५० आधंसंति वा पघंसंति वा उव्वलंति वा उव्वट्टिंति वा नो पन्नस्स०

मू. (४३०) से भिक्खू० से जं पुण उवस्सयं जाणिज़ा, इह खलु गाहावती वा जाव कम्मकरी वा अन्नमन्नस्स गायं सीओदग० उसिणो० उच्छो० पहोयंति सिंचंति सिणावंती वा नो पन्नस्स जाव नो ठाणं०।।

**वृ.** सुगमं, नवरं यत्र प्रातिवेशिकाः प्रत्यहं कलहायमानास्तिष्ठन्ति तत्र स्वाध्यायाद्युपरोधात्र स्थेयमिति ।। एवं तैलाद्यभ्यङ्गकल्काद्युद्धर्त्तनोदकप्रक्षालनसूत्रमपि नेयमिति ।। किञ्च--

मू. (४३१) से भिक्खू वा० से जं० इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरीओ था निगिणा ठिया निगिणा उल्लीणा मेहुणधम्मं वित्रविंति रहस्सियं वा मंतं मंतंति नो पन्नस्स जाव नो ठाणं वा ३ चेइज्रा ।।

**वृ.** यत्र प्रातिवेशिकस्त्रियः 'निगिणाउ'त्ति मुक्तपरिधाना आसते, तथा 'उपलीनाः' प्रच्छन्ना मैथुनधर्मविषयं किञ्चदरहस्यं रात्रिसम्भोगं परस्परं कथयन्ति, अपरं वा रहस्यमकार्यसंबद्धं मन्त्रं मन्त्रन्यते, तथाभूते प्रतिश्रये न स्थानादि विधेयं, यतस्तत्र स्वाध्यायक्षितिचित्तविष्तुत्यादयो दोषाः समुपजायन्त इति ॥ अपि च--

मू. (४३२) से भिक्खू वा से जं पुण उ० आइन्नसंलिक्खं नो पन्नस्स०।।

वृ. कण्ठयं, नवरं, तत्रायं दोषः-चित्रमित्तिदर्शनात्स्वाध्यायक्षिति, तथाविधचित्रस्थ-स्त्र्यादिदर्शनासूर्वक्रीडिताक्रीडितस्मरणकौतुकादिसम्भव इति ।

साम्प्रतं फलह्नकादिसंस्तार- कमधिकत्याह-

मू. (४३३) से भिक्खू वा० अभिकंखिज्ञा संधारगं एसित्तए, से जं० संधारगं जाणिज्ञा सअंड जाव ससंताणयं, तहप्पगारं संधारं लाभे संते नो पडि ०।

– से भिक्खू वा से जं० अप्पंडं जाव संताणगरुयं तहप्पगारं नो प० ।

– से भिक्खू वा० अप्पंडं लहुयं अपाडिहारियं तह० नोप०।

-- से भिक्खूं वा० अप्पंडं जाव अप्पसंताणगं लहुअं पाडिहारियं नो अहावद्धं तहप्पगारं लाभे संते नो पडिगाहिजा।

– से भिक्खू वा २ से जं पुण संथारगं जाणिज़ा अप्पंडं जाव संताणगं लहुअं पाडिहारिअं अहाबद्धं, तहप्पगारं संथारगं लाभे संते पडिगाहिज्ञा।

ष्ट्र. स भिक्षुर्यदि फलहकादिसंस्तारकमेषितुमभिकाङ्क्षायेत्, तद्येवंभूतं जानीयात् तद्यया-प्रथमसूत्रे साण्डादित्वात्संयमविराधनादोषः । – द्वितीयसूत्रे गुरुत्वादुत्क्षेपणादावात्मविराधनादिदोषः ।

— तृतीयसूत्रेऽप्रतिहारकत्वात्तत्परित्यागादिदोषः ।

- चतुर्थसूत्रे त्वबद्धत्वात्तद्बधनादिपलिमन्थदोषः ।

- पश्चमसूत्रेत्वल्पाण्डं यावदल्पसन्तानकलघुप्रातिहारिकावबद्धत्वात्सर्वदोषयिप्रमुक्तत्वा-त्संस्तारको ग्राह्य इति सूत्रपञ्चकसमुदायार्थ।

साम्प्रतं संस्तारकमुद्दिश्याभिग्रहविशेषानाह—

मू. (४३४) इश्चेयाँइंआयतणाइं उवाइक्कम-अह भिक्खू जाणिज़ा इमाइं चउहिं पडिमाहिं संथारगं एसित्तए, तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा।

भिक्खू वा २ उद्दिसिय २ संथारगं जाइज़ा, तंजहा-इक्कडं वा कढिणं वा जंतुयं वा परगं वा मोरगं वा तणगं वा सोरगं वा कुसं वा कुम्रगं था पिप्पलगं वा पलालगं वा, से पुव्वामेव आलोइज्जा-आउसोति वा भ० दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं संथारगं ? तह० संथारगं सयं वा णं जाइज़ा परो वा देज्रा फासुयं एसणिज्ञं जाव पडि०, पढमा पडिमा ।।

वृ. 'इत्येतानि' पूर्वोक्तानि 'आयतनादीनि' दोषरहितस्थानानि वसतिगतानि संस्तारकगतानि च 'उपातिक्रम्थ' परिहृत्य वक्ष्यमाणांश्च दोषान् परिहृत्य संस्तारको ग्राह्य इति दर्शयति-'अथ' आनन्तर्ये स भावभिक्षुर्जानीयात् 'आभि' करणभूतांभिश्चतसृभि 'प्रतिमाभि' अभिग्रहविशेषभूताभिः संस्तारकमन्वेष्टुं, ताश्चेमाः ।

उद्दिष्ट ९ प्रेक्ष्य २ तस्यैव ३ यथासंस्तृत ४ रूपाः, तत्रोद्दिष्टा फलहकादीनामन्यतमद्ग्रहीष्यामि नेतरदिति प्रथमा ९, यदेव प्रागुद्दिष्टं तदेव द्रक्ष्यामि ततो ग्रहीष्यामि नान्यदिति द्वितीया प्रतिमा २, तदपि यदि तस्यैव शय्यातरस्य गृहे भवति ततो ग्रहीष्यामि नान्यत आनीय तत्र शयिष्य इति तृतीया ३ तदपि फलहकादिकं यदि यथासंस्तृतमेवास्ते ततो गृहीष्यामि नान्यधेति चतुर्थी प्रतिमा

आसु च प्रतिमाखााद्ययोः प्रतिमयोर्थच्छनिर्गतानामग्रहः, उत्तरयोरन्यतरस्यामभिग्रहः, गच्छान्तर्गतानां तु चतस्रोऽपि कल्पन्त इति, एताश्च यथाक्रमं सूत्रैर्दर्शयति-तत्र खल्विमा प्रथमा प्रतिमा तद्यथा—उद्दिश्योद्दिश्येक्वडादीनामन्यतमद्रहीष्यामीत्येवं यस्याभिग्रहः सोऽपरलाभेऽपि न प्रतिगृह्णीयादिति, शेषं कण्ठ्वं नवरं 'कठिनं' वंशकटादि 'जन्तुकं' तृणविशेषोत्पत्रं 'परकं' येन तृणविशेषेण पुष्पाणि 'मोरगं'ति मयूरपिच्छनिष्पन्नं 'कुद्यगं'ति येन कूर्चकाः क्रियन्ते एते चैवंभूताः संस्तारका अनूपदेशे सार्द्रादिभून्यन्तराणार्थमनुज्ञाता इति ।

्रमू. (४३५) अहावरा दुञ्चा पडिमा-से भिक्खू वा० पेहाए संथारगं जाइज्ञा, तंजहा-गाहावइं वा कम्पकरिंवा से पुव्वामेव आलोइज्ञा–आउ० ! भइ० ! दाहिसि मे ? जाव पडिगाहिज्ञा, दुञ्चा पडिमा ।२।

अहावरा तथा पडिमा-से भिक्खू वा० जस्सुवस्सए संवसिज्ञा जे तत्य अहासमन्नागए, तंजहा-इक्कडे इ वा जाव-पलाले इ वा तस्स लाभे संवसिज्ञा तस्सालभे उक्कुडुए वा नेसज़िए वा विहरिज्ञा तथा पडिमा ।३।

**वृ.** अत्रापि पूर्ववर्त्सर्वं भणनीयं, यदि परं तमिक्वडादिकं संस्तारकं ध्ष्ट्वा याचते नाध्धमिति एवं तृतीयाऽपि नेया, इयांस्तुविशेषः-गच्छान्तर्गतो निर्गतो वा यदि वसतिदातैव संस्तारकं प्रयच्छति ततो गृह्णति, तदभावे उत्कटुको वा निषण्णो वा पद्मासनादिना सर्वरात्रमास्त इति ॥ मू. (४३६) अहावरा चउत्था पडिमा-से भिक्खू वा अहासंथडमेव संथारगं जाइज्ञा, तंजहा-पुढविसिलं वा कट्ठसिलं वा अहासंथडमेव, तस्स लाभे संते संवसिज्ञा, तस्स अलाभे उक्कडुए वा २ विहरिज्ञा, चउत्था पडिमा ।। ४ ।।

**वृ.** एतदपि सुगमं, केवलमस्यामयं विशेषः-यदि शिलादिसंस्तारकं यथासंस्तृतं शयनयोग्यं लभ्यते ततः शेते नान्यथेति ॥ किञ्च--

मू. (४३७) इश्चेयाणं चउण्हं पडिमाणं अन्नयरं पडिमं पडिवज्जमाणे तं चेव जाव अन्नोऽन्नसमाहीए एवं च णं विहरंति।।

**वृ.** आसा चतसृणां प्रतिमानामन्यतरां प्रतिपद्यमानोऽन्यमपरप्रतिमाप्रतिपत्रं साधुं न हीलयेद्, यस्मात्ते सर्वेऽपि जिनाज्ञामाश्चित्य समाधिना वर्त्तन्त इति ।।

साम्प्रतं प्रातिहारकसंस्तारकप्रत्यर्पणे विधिमाह--

मू. (४३८) से भिक्खू वा० अभिकंखिज्ञा संथारगं पञ्चप्पिणित्तए, से जं पुण संथारगं जाणिज्ञा सजंडं जाव असंताणयं तहप्प० संथारगं नो पञ्चप्पिणिज्ञा।।

**वृ.** स भिक्षु : प्रातिहारिक संस्तारक यदि प्रत्यर्पयितुमभिकाङ्घदेवंभूतं जानीयात् तद्यथा-गृहकोकिलकाद्यण्डकसंबद्धमप्रत्युपेक्षणयोग्यं ततो न प्रत्यर्पयेदिति ॥ किञ्च-

मू. (४३९) से भिक्खू॰ अभिकंखिज्ञा सं० से जं० अप्पंडं० तहप्पगारं० संधारगं पडिलेहिय २ प० २ आयाविय २ विहुणिय २ तओ संजयामेव पश्चप्पिणिज्ञा।।

वृ. सुगमम् । साम्प्रतं वसतौ वसतां विधिमधिकृत्याह-

मू. (४४०) से भिक्खू वा० समाणे वा वसमाणे वा गामाणुगामं दूइज़माणे वा पुव्वामेव पत्रस्स उद्यारपासवणभूमिं पडिलेहिज्ञा, केवली बूया आयाणमेय—-अपडिलेहियाए उद्यारपासवणभूमीए

से भिक्खू वा० राओ वा वियाले वा उद्यारपासवणं परिडवेमाणे पयलिज्ञ वा २, से तत्य पयलमाणे वा २ हत्यं वा पायं वा जाव लूसेज्ञ वा पाणाणि वा ४ ववरोविज्ञा, अह भिक्खू णं पु० जं पुब्वामेव पन्नस्स उ० भूमिं पडिलेहिज्ञा।।

वृ. सुगमं, नवरं साधूनां सामाचार्येषा, यदुत-विकाले प्रश्रवणादिभूमयः प्रत्युपेक्षणीया इति । साम्प्रतं संस्तारकभूमिमधिकृत्याह-

मू. (४४९)से भिक्खूवा २ अभिकंखिज्ञा सिजासंथारगभूमिं पडिलेहित्तए नन्नत्य आयरिएण वा उ० जाव गणावच्छेएण वा वालेण वा वुड्ढेण वा सेहेण वा गिलाणेण वा आएसेण वा अंतेण वा मज्झेण वा समेण वा विसमेण वा पवाएण वा निवाणए वा, तओ संजयामेव पडिलेहिय २ पमज़िय २ तओ संजयामेव बहुफासुयं सिजासंथारगं संथरिज्ञा।।

**वृ.** स भिक्षुराचार्योपाध्यायादिभि स्वीकृतां भूमिं मुक्त्वाऽन्यां स्वसंस्तरणाय प्रत्युपेक्षेत, शेषं सुगमं, नवरमादेशः- प्राघूर्णक इति, तथाऽन्तेन वेत्यादीनां पदानां तृतीया सप्तम्यर्थ इति ॥ इदाननीं शयनविधिमधिकृत्याह-

मू. (४४२) से भिक्खू वा० वहु संथरित्ता अभिकंखिज्ञा बहुफासुए सिजासंथारए दुरुहित्तए।।से भिक्खू० बहु० दुरुहमाणे पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमज़िय २ तओ संजयामेव बहु० दुरुहित्ता तओ संजयामेव बहु० सइज्ञा।। **वृ.** से इत्यादि स्पष्टम् । इदानीं सुप्तविधिमधिकृत्वाह–

मू. (४४३) से भिक्खू वा० बहु० सयमाणे नो अन्नमन्नस्स हत्येण हत्यं पाएण पायं काएण कार्यं आसाइज्ञा, से अणासायमाणे तओ संजयामेव बहु० सइज्रा।

से भिक्खू वा उस्ससमाणे वा नीसासमाणे वा कासमाणे वा छीयमाणे वा जंभायमाणे वा उड्डोए वा वायनिसग्गं वा करेमाणे पुव्वामेव आसयं वा पोसयं वा पाणिणा परिपेहित्ता तओ संजयामेव ऊससिज्ञा वा जाव वायनिसग्गं वा करेज्ञा।।

**वृ.** निगदसिद्धम्, इयमत्र भावना-स्वपद्भिर्हस्तमात्रव्यवहितसंस्तारकैः स्वप्तव्यमिति । एवं सुप्तस्य निश्वसितादिविधिसूत्रमुत्तानार्धं, नवरम् 'आयसं व'त्ति आस्यं 'पोसयं वा' इत्यधिष्ठानमिति ।। साम्प्रतं सामान्येन शय्यामङ्गीकृत्याह--

मू.(४४४) से भिक्खू वा० समा वेगया सिजा भविज्ञा विसमा वेगया सि० पवाया वे० निवाया वे० ससरक्खा वे० अप्पससरक्खा वे० सदंसमसगा वेगया अप्पदंसमसगा० सपरिसाडा वे० अपरिसाडा० सउवसग्गा वे० निरुवसग्गा वे० तहप्पगाराहिं सिज्जाहिं संविज्रमाणाहिं पग्गहियतरागां विहारं विहरिज्ञा नो किंचिवि गिलाइज्जा, एवं खलु० जं सव्वट्ठेहिं सहिए सया जए त्तिबेमि।

**वृ.** सुखोन्नेयं, यावत्तथाप्रकारासु वसतिषु विद्यमानासु 'प्रगृहीततर'मिति यैव काचिद्विषमसमाद्दिका वसति संपन्ना तामेव समचित्तोऽधिवसेत्-न तन्त्र व्यलीकादिकं कुर्यात्, एतत्तस्य भिक्षोः साम्प्रयं यत्सर्वार्थै सहितः सदा यतेतेति ॥

चूडा-१ अध्ययनं-२ उद्देशकः३, समाप्तः

#### चूडा-१ अध्ययनं-२ समाप्तम् मुनि दीपरत्नसागरेण संशोधिता सम्पादिता शीलाङ्काचार्यविरचिता द्वीतीय श्रुतस्कन्धस्य द्वीतीयअध्ययनटीका परिसमाप्ता

## अध्ययनं-३ ईर्या

षृ. उक्तं द्वीतीयमध्ययनं, साम्प्रतं तृतीयमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहाघेऽध्ययने धर्मशरीरंपरिपालनार्धपिण्डः प्रतिपादितः, स चावश्यमैहिकामुष्मिकापायरक्षणार्थं वसतौ भोक्तव्य इति द्वितीयेऽध्ययने वसति प्रतिपादिता, साम्प्रतं तयोरन्वेषणार्थं गमनं विधेयं, तच्च यदा यथा विधेयं यथा च विधेयमित्येतस्रतिपाद्यम्, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्र निक्षेपनिर्युक्तनुगमे नामनिक्षेपणार्थं निर्युक्तिकृदाह--ति. [३०८]नामं १ ठवणाइरिया २ दव्वे ३ खित्ते ४ य काल ५ भावे ६ य । एसो खलु इरियाएनिक्खेवो छव्विहो होइ ।।
षृ. कण्ठयं । नामस्थापनेक्षुण्णत्वादनाधत्य द्रव्येर्थाप्रतिपादनार्धमाह-ति. [३०९] दव्वइरियाओ तिविहा सचित्ताचित्तमीसगा चेव । खित्तंमि जमि खित्ते काले कालो जहिं होइ ।।
षु.तत्र द्रव्येर्या सचित्ताचित्तमिश्रभेदात्रिविधा, ईरणमीर्या गमनमित्यर्थ, तत्र सचित्तस्य-

वायुपुरुषादेर्द्रव्यस्य यद्गमनं सा सचित्तद्रव्येर्या, एवं परमाण्वादिद्रव्यस्य गमनमचित्तद्रव्येर्या, तथा मिश्रद्रव्येर्या रथादिगमनमिति, क्षेत्रेर्या यस्मिन् क्षेत्रे गमनं क्रियते ईर्या वा वर्ण्यते, एवं कालेर्याऽपि द्रष्टव्येति । भावेर्याप्रतिपादनायाह-

नि. [३१०] भावइरियाओ दुविहा चरणरिया चेव संजमरिया य। समणस्स कहं गमणं निद्दोसं होइ परिसुद्धं।।

**वृ.** भावविषयेर्या द्विधा-चरणेर्या संयमेर्या च, तत्र संयमेर्या सप्तदशविधसंयमानुष्ठनं, यदिवाऽसङख्येयेषु संयमस्थानेष्वेकस्मात्संयमस्थानादपरं संयमस्थानं गच्छतः संयमेर्या भवति, चरणेर्यातु 'अभ्र वभ्र मभ्र चर गत्यर्था'ः चरतेभविल्युट्चरणं तद्रूपेर्या चरणेर्या, चरणं गतिर्गमनमि-त्यर्थ, तद्य श्रमणस्य 'कथं' केन प्रकारेण भावरूप गमनं निर्दोषंभवति ? इति । ! आह—

नि. [३११] आलंबणे य काले मग्गे जयणाइ घेव परिसुद्धं। भंगेहिं सोलसविहं जं परिसुद्धं पसत्थं तु ।।

**वृ.** 'आलम्बनं' प्रवचनसङ्घमच्छाचार्यादिप्रयोजनं 'कालः' साधूनां विहरणयोग्योऽवसरः 'मार्ग' जनैः पद्म्यां क्षुण्णः पन्धाः 'यतना' उपयुक्तस्य युगमात्रद्धष्टित्वं, तदेवमालम्बवकालमार्गय-तनापदैरेकैकपदव्यभिचाराद् ये भङ्गास्तैः षोडशविधं गमनं भवति ॥ तस्य च यत्परिशुद्धं तदेव प्रशस्तं भवतीति दर्शयितुमाह—

नि. [३१२] चउँकारणपरिसुद्धं अहवावि (हु) होझ कारणझाए । आलंबणजयणाए काले मग्गे य जइयव्वं ॥

वृ. चतुर्भि कारणैः साधोर्गमनं परिशुद्धं भवति, तद्यथा-आलम्बनेन दिवा मार्गेण यतनया गच्छत इति, अथवाऽकालेऽपि ग्लानाद्यालम्बनेन यतनया गच्छतः शुद्धमेव गमनं भवति, एवंभूते च मार्गे साधुना यतितव्यमिति।। उक्तो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतमुद्देशार्थाधिकारमधिकृत्याह-

नि. [३९३] सब्वेवि ईरियविसोहिकारगा तहवि अस्थि उ विसेसो । उद्देसे उद्देसे वुच्छामि जहक्वमं किंचि ॥

वृ. 'सर्वेऽपि' त्रयोऽपि यद्यपीर्याविशुद्धिकारकास्तथाऽपि प्रत्युद्देशकमस्ति विशेषः, तं च यथाक्रमं किश्चिद्वक्ष्याम इति ॥ यथाप्रतिज्ञातमाह-

नि. [३१४] पढमे उवागमण निग्गमो य अद्धाण नावजयणा य !

बिइए आरूढ छलणं जंघासतार पुच्छा य ॥

**ष्ट्र.** प्रथमोद्देशके वर्षाकालदावुपागमनं-स्थानं तथा निर्गमश्च शरत्कालादौ यथा भवति तदन्न प्रतिपाद्यमध्वनि यतना चेति, द्वितीयोद्देशके नावादावारूढस्यं छलनं-प्रक्षेपणं व्यावर्ण्यते, जङ्बासन्तारे च पानीये यतना, तथा नानाप्रकारे च प्रश्ने साधुना यद्विधेयमेतच्च प्रतिपाद्यमिति ॥ नि. **[३९५]** तइयंमि अदायणया अप्पडिबंधो य होइ उवर्हिमि ।

वज्जेयव्वं च सया संसारियरायगिहगमणं ॥

**वृ.** तृतीयोद्देशकेयदिकश्चिदुदकादीनि पृच्छति, तस्य जानताऽप्यदर्शनता विधेयेत्ययमधि कारः, तथोपधावप्रतिबन्धो विधेयः, तदपहरणे च स्वजनराजगृहगमनं च वर्जनीयं, न च . तेषामाख्येयमिति ॥ साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्—

#### --: चूडा-१ अथ्ययनं-३ : उद्देशक-१ :--

मू. (४४५) अब्भुवगए खलु वासावासे अभिपवुडे बहवे पाणा अभिसंभूया बहवे बीया अहुणाभिन्ना अंतरा से मग्गा बहुपाणा बहुवीया जाव ससंताणगा अनभिक्वंता पंथा नो विन्नाया मग्गा सेवं नश्चा नो गामाणुगामं दूइज्रिज्ञा, तओ संजयामेव वासावासं उवल्लिइज्ञा।।

**वृ.** आभिमुख्येनोपगतासु वर्षासु अभिप्रवृष्टे च पयोमुचि, अत्र वर्षाकालवृष्टिभ्यां चत्वारो भङ्गाः, तन्न साधूनां सामाचार्यवैषा, यदुत-निर्याघातेनाप्राप्त एवाषाढचतुर्मासके तृणफलकडगल-कभस्ममान्नकादिपरिग्रहः, किभिति ?, यतो जातायां वृष्टी बहवः 'प्राणिनः' इन्द्रगोपकबीया-वकगर्दभकादयः 'अभिसंभूताः' प्रादुर्भूताः, तथा बहूनि 'बीजानि' अभिनवाङ्कुरितानि ।

अन्तराले च मार्गास्तस्य-साधोर्गच्छतो बहुप्राणिनो बहुबीजा यावत्ससन्तानका अनभिक्रान्ताश्च पन्थानः, अत एव तृणाकुलत्वान्न विज्ञाताः मार्गा, स-साधुरेवं ज्ञात्वा न ग्रामाद्ग्रामान्तरं यायात्, ततः संयत एव वर्षासु यथाऽवसरप्राप्तायां वसतावुपलीयेत-वर्षाकालं कुर्यादिति ॥ एतदपवादार्थमाह--

मू. (४४६) से भिक्खू० सेज्जं गामं वा जाव रायहाणिं वा इमंसि खलु गामंसि वा जाव राय० नो महई विहारभूमि नो महई वियार भूमी नो सुलभे गामं वा जाव रायहाणिं वा इमंसि खलु गामंसि वा जाव राय० नो महई विहारभूमी नो महई वियारभूमी नो सुलभे पीढफलगसिजासंधारगे नो सुलभे फासुए उंछे अहेसणिज्ञे जत्थ बहवे समण० वणीमगा उवागया उवागमिस्संति य अद्याइन्ना वित्ती नो पन्नस्स निक्खमणे जाव चिंताए, सेवं नश्चा तहप्पगारं गामं वा नगरं वा जाव रायहाणिं वा नो वासावासं उवल्लिइजा।

से भि० से जं० गामं वा जाव राय० इमंसि खलु गामंसि वा जाव महई विहारभूमी महई वियार० सुलभे जत्थ पीढ ४ सुलभे फा० नो जत्थ बहवे समण उवागमिस्संति वा अप्पाइत्रा वित्ती जाव रायहाणिं वा तओ संजयामेव वासावासं उवलिइज्ञा ।।

**वृ.** स भिक्षुर्यसुनरेवं राजधान्यादिकं जानीयात्, तद्यथा-अस्मिन् ग्रामे यावद् राजधान्यां वा न विद्यते महती 'विहारभूमि' स्वाध्यायभूमि, तथा 'विचारभूमि' बहिर्गमनभूमि, तथा भैवात्र सुलभानि पीठफलहकशय्यासंस्तारकादीनि, तथा न सुलभः प्रासुकः पिण्डपातः, 'उंछे'ति एषणीयः, एतदेव दर्शयति –

'अहेसणीज़े'ति यथाऽसावुद्रमादिदोषरहित एषणीयो भवति तथाभूतो दुर्लभ इति, यत्र ग्रामनगरादौ बहवः श्रमणब्राह्मणकृ पणवणीमगादय उपागता अपरे चोपागमिष्यन्ति, एवं च तत्रात्याकीर्णावृत्ति, वर्त्तनं-वृत्ति, सा च भिक्षाटनस्वाध्यायध्यानबहिर्गमनकार्येषु जनसङ्क्रुलत्वादा-कीर्णा भवति, ततश्च न प्राज्ञस्य तत्र निष्क्रमणप्रवेशौ यावच्चिन्तनादिकाः क्रिया निरुपद्रवाः संभवन्ति, स साधुरेवं ज्ञात्वा न तत्र वर्षाकालं विदध्यादिति ॥ एवं च व्यत्ययसूत्रमपि व्यत्ययेन नेयमिति ॥ साम्प्रतं गतेऽपि वर्षाकाले यदा यथा च गन्तव्यं तदधिकृत्याह–

मू. (४४७) अह पुणेवं जाणिज्ञा—चत्तारि मासा वासावाँसाणं वीइक्कंता हेमंताण य पंचदसरायकप्पे परिवुसिए, अंतरा से मग्गे बहुपाणा जाव ससंताणगा नो जत्थ बहवे जाव उवागमिस्संति, सेवं नश्चा नो गामाणुगामं दूइजिज्ञा।



अह पुणेवं जाणिज्ञा चत्तारि मासा० कप्पे परिवुसिए, अंतरा से मग्गे अप्पंडा जाव ससंताणगा वहवे जत्य समण० उवागमिस्संति, सेवं नश्चा तओ संजयामेव० दूइज्रिज्ञ।।

वृ अर्थैवं जानीयाद् यथा चत्वारोऽपि मासाः प्रावृट्कालसम्बन्धिनोऽतिक्रान्ताः, कार्त्तिकचातुर्मासिकमतिक्रान्तमित्यर्थ, तत्रोत्सर्गतोयदिन वृष्टिस्ततः प्रतिपद्येवान्यन्न गत्वा पारणकं विधेयम्, अथ वृष्टिस्ततो हेमन्तस्य पञ्चसु दशसु वा दिनेषु 'पर्युषितेषु' गतेषु गमनं विधेयं।

तत्रापि यद्यन्तराले पन्थानः साण्डां यावत्ससन्तानका भवेयुर्ने च तत्र बहवः श्रमणब्राह्मणादयः समागताः समागमिष्यन्ति वा ततः समस्तमेव मार्गशिरं यावत्तत्रैव स्थेयं, तत ऊध्धूर्वं यया तथाऽस्तु न स्थेयमिति ।। एवमेताद्विपर्ययसूत्रमप्युक्तार्थम् ॥ इदानीं मार्गयत-नामधिकृत्याह–

मू. (४४८) से भिक्खू वा० गामाणुगामं दूइज़माणे पुरओ जुगमायाए पेहमाणे ददूण तसे पाणे उद्धट्ट पादं रीइज़ा साहट्ट पायं रीइज़ा वितिरिच्छं वा कट्ट पायं रीइज़ा, सइ परक्कमे संजयामेव परिक्वमिज़ा नो उज़ुयं गच्छिज़ा, तओ संजयामेव गामाणुगाम दूइज़िज़ा।

से भिक्खू या० गामा० दूइज़माणे अंतरा से पाणाणि वा बी० हरि० उदए वा महिआ वा अविद्धत्थे सइ परक्वमे जाव नो उज्जुयं गच्छिज्ञा, तओ संजया० गामा० दूइज़िज्ञा।।

**वृ.** स भिक्षुर्यावद् ग्रामान्तरं गच्छन् 'पुरतः' अग्रतः 'युगमात्रं' चतुर्हस्तप्रमाणं शकटोर्खिसंस्थितंभूभागं पश्यन् गच्छेत्, तत्र च पथि ध्ब्ट्वा 'त्रसान् प्राणिनः' पतझादीन् 'उद्धुट्टु'ति पादमुध्यू त्त्याग्रतलेन पादपातप्रदेशं वाऽतिक्रम्य गच्छेत्, एवं संहृत्य-शरीराभिमुखमाक्षिप्य पादं विवक्षितपादपातप्रदेशादारत एव विन्यस्य उत्क्षिप्य वाऽग्रभागं पार्थ्णिकया गच्छेत्, तथा तिरश्चीनं वा पादं कृत्वा गच्छेत्, अयं चान्यमार्गाभावे विधि, सति त्वन्यस्मिन् पराक्र मे-गमनामार्गे संयतः संस्तेनैव 'पराक्र मेत्' गद्येत् न ऋजुनेत्येवं ग्रामान्तरं गच्छेत् सर्वोपसंहारोऽयमिति ।

से इत्यादि, उत्तानार्थम् ॥ अपि च-

मू. (४४९) से भिक्खू वा० गाम० दूइज़माणे अंतरा से विरूवरूवाणि पद्यिंतिगाणि दसुगाययाणि मिलक्खूणि अणायरियाणि दुसन्नपाणि दुप्पन्नवणिज्ञाणि अकालपडिबोहीणि अकालपरिभोईणि सइ लाढे विहाराए संथरमाणेहिं जाणवएहिं नो विहाखडियाए पवज्जिज्ञा गमणाए, केवली बूया आयाणमेयं, तेणं बाला अयं तेणे अयं उवचरए अयं ततो आगएत्तिकड्ड

तं भिक्खुं अक्रोसिज वा जाव उद्दविज वा वत्यं प० कं० पाय० अच्छिदिज वा भिंदिज वा अवहरिज वा परिट्वविज्ञ वा, अह भिक्खूणं पु० जं तहप्पगाराइं विरू० पश्चंतियाणि दस्सुगा० जाव विहारवत्तियाए नो पवञ्जिज वा गमणाए तओ संजधा गा० दू० ॥

**वृ.** स भिक्षुग्रमान्तरं गच्छन् यत्युनरेवं जानयात्, तद्यथा-'अन्तरा' ग्रामान्तराले 'विरूपरूपाणि' नानाप्रकाराणि प्रात्यन्तिकानि दस्यूनां-चौराणामायतनानि-स्थानानि 'मिलक्खूणि'त्ति बर्बरशवरपुलिन्द्रादिम्लेच्छप्रधानानि 'अनार्याणि' अर्द्धषड्विशजनपदबाह्यानि 'दुःसज्ज्ञाप्यानि' दुःखेनार्यसज्ज्ञाज्ञाप्यन्ते, तथा 'दुष्प्रज्ञाप्यानि' दुःखेन धर्मसज्ज्ञोपदेशेना-नार्यसङ्कल्पात्रिवर्त्तयन्ते 'अकालप्रतिबोधीनि' न तेषां कश्चिदपर्यटनकालोऽस्ति, अर्द्धरात्रादावपि मृगयादौ गमनसम्भवात्, तथाऽकालभोजीन्यपीति, सत्यन्यस्मिन् ग्रामादिके विद्यार्गे विद्यमानेषु चान्येष्वार्यजनपदेषु न तेषु ग्लेच्छस्थानेषु विहरिष्यामीति गमनं न प्रतिपद्येत, किमिति ?

यतः केवली ब्रूयात्कर्मोपादानमेतत्, संयमात्मविराधनातः, तत्रात्मविराधने संयमविराधनाऽपिसंभवतीत्यात्मविराधनां दर्शयति-'ते'म्लेच्छाः 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे एवमूचुः तद्यथा-अयं स्तेनः, अयमुपचरकः-चरोऽयं तस्मादस्मच्छन्नुग्रामादागत इतिकृत्वा वाचाऽऽक्रोशयेयुः, तथा दण्डेन ताडयेयुः यावज्जीविताद्वयपरोपयेयुः, तथा वस्त्रादि 'आच्छिन्धुः' अपहरेयुः, ततस्तं साधुं निर्द्धाटयेयुरिति । अथ साधूनां पूर्वोपदिष्टमेतस्रतिज्ञादिकं यत्तथाभूतेषु म्लेच्छस्थानेषु गमनार्थं न प्रतिपद्यते, ततस्तानि परिहरन् संयत एव ग्रामान्तरं गच्छेदिति ।। तथा-

मू. (४५०) से भिवखू० दूइज़माणे अंतरा से अरायाणि वा गणरायाणि वा जुवरायाणि वा दोरज़ाणि वा वेरज़ाणि वा विरुद्धरज़ाणि वा सइलाढे विहाराए संथ० जण० नो विहारवडियाए० केवली बूया आयाणमेयं, तेण वाला तं चेव जाव गमणाए तओ स०. गा० दू० ।।

वृ. कण्ठयं, नवरम् 'अराजानि' यत्र राजा मृतः 'युवराजानि' यत्र नाद्यापि राज्याभिषेको भवतीति ॥ किञ्च–

मू. (४५९) से भिक्खू वा गा० दूइज़माणे अंतरा से विह्नं सिया, से जं पुण विह्नं जाणिज़ा एगाहेण वा दुआहेण वा तिआहेण वा चउआहेण वा पंचाहेण वा पाउणिज़ वा नो पाउणिज़ वा तहप्पगारं विह्नं अनेगाहगमणिज़ं सइ लाढे जाव गमणाए, केवली बूया आयाणमेयं, अंतरा से वासे सिया पाणेसु वा पणएसु वा वीएसु वा हरि० उद० मट्टियाए वा अविद्धत्थाए, अह भिक्खू जं तह० अनेगाह० जाव नो पव०, तओ सं० गा० दू० ।।

**वृ.** स भिक्षुर्ग्रामान्तरं गच्छन् यत्पुनरेवं जानीयात् 'अन्तरा' ग्रामान्तराले मम गच्छतः 'विहं'ति अनेकाहगमनीयः पन्थाः 'स्यात्' भवेत्, तमेवंमूतमध्वानं ज्ञात्वा सत्यन्यस्मिन् विहारस्थाने न तत्र गमनाय मतिं विदध्यादिति, शेषं सुगम् ।। साम्प्रतं नौगमनविधिमधिकृत्वाह-

मू. (४५२) से भि० गामा० दूइज़िज़ा० अंतरा से नावासंतारिमे उदए सिया, से जं पुण नावं जाणिज़ा असंजए अ भिक्खुपडियाए किणिज़ वा पामिश्चेज़ वा नावाए वा नावं परिणामं कड्ड थलाओ वा नावं जलंसि ओगाहिज़ा जलाओ वा नावं थलंसि उक्कसिज़ा पुण्णं वा नावं उस्सिंचिज़ा सन्नं वा नावं उप्पीलाविज़ा तहप्पगारं नावं उड्डगामिणि वा अहे गा० तिरियगामि० परं जोयणमेराए अद्धजोयणमेराए अप्पतरे वा भुज़तरे वा नो दूरूहिज़ा गमणाए ।

से भिक्खू वा० पुव्वामेव तिरिच्छसंपाइमं नावं जाणिज्ञा, जाणित्ता से तमायाए एगंतमवक्वमिज्ञा २ भण्डगं पडिलेहिज्ञा २ एगओ भोयणमंडगं करिज्ञा २ ससीसोवरियं कायं पाए पमज्जिज्ञा सागारं भत्तं पश्चक्खाइज्ञा, एगं पायं जले किश्चा एगं पायं यले किश्चा तओ सं० नावं दूरूहिज्ञा।।

ृष्ट. स भिक्षुर्ग्रामान्तराले यदि नौसंतार्यमुदकं जानीयात्, नावं चैवंभूतां विजानीयात्, तद्यधा-'असंयतः' गृहस्थो भिक्षुप्रतिज्ञयानावंक्रीणीयात्, अन्यस्मादुच्छिन्ना वा गृह्णीयात्, परिवर्त्तनां वा कुर्यात्, एवं स्थलाद्यानयनादिक्रियोपेतां नावं ज्ञात्वा नारुहेदिति, शेषं सुगमम् ।। इदानीं कारणजाते नावारोहणविधिमाह-सुगमम् ।। तथा–

मू. (४५३) से भिक्खू वा० नावं दुरूहमाणे नो नावाओ पुरओ दुरूहिज़ा नो नावाओ

मग्गओ दुरूहिज्ञा नो नावाओ मज्झओ दुरूहिज्ञा नो बाहाओ पगिज्झिय २ अंगुलियाए उद्दिसिय २ ओणमिय २ उन्नमिय २ निज्झाइज्ञा । से णं परो नावागओ नावागयं वइज्रा-आउसंतो ! समा एयं ता तुमं नावं उक्कसाहिज्ञा वा वुक्कसाहि वा खिवाहि वा रज्जूयाए वा गहाय आकासाहि, नो से तं परिन्नं परिजाणिज्ञा, तुसिणीओ उवेहिज्ञा ।

से णं परो नावागओ नावाग० वइ०—आउसं० नो संचाएसि तुमं नावं उक्कसित्तए वा ३ रञ्जूयाए वा गहाय आकसित्तए वा आहर एयं नावाए रज्जूयं सयं चेव णं वयं नावं उक्कसिस्सामो वा जाव रज्जूए वा गहाय आकसिस्सामो, नो से तं प० तुसि०।

से णें प० आउसं एअं ता तुमं नावं आलित्तेण वा पीढएण वा वंसेण वा बलएण वा अवलुएण वा वाहेहि, नो से तं प० तुसि०।

से णं परो० एयं ता तुमं नावाए उदयं हत्येण वा पाएण वा मत्तेण वा पडिग्गहेण वा नावाउसिंसचणेण वा उसिंसचाहि, नो से तं० से णं परो० समणा ! एयं तुमं नावाए उतिंगं हत्येण वा पाएण वा बाहुणा वा ऊरुणा वा उदरेण वा सीसेण वा काएण वा उसिंसचणेण वा चेलेण वा मट्टियाए वा कुसपत्तएण वा कुविंदएण वा पिहेहि, नो से तं०।

से भिक्खू वा २ नावाए उत्तिंगेण उदयं सवमाणं पेहाए उवरुवरिं नावं कञ्जलावेमाणिं पेहाए नो परं उवसंकमित्तु एवं बूया-आउसंतो ! गाहावइ एयं ते नावाए उदयं उत्तिंगेण आसवइ उवरुवरिं नावा वा कञ्जलावेइ, एयप्पगारं मणं वा वायं वा नो पुरओ कट्ट विहरिज्ञा अपुसुए अबहिल्लेसे एगंतगएण अप्पाणं विउसेज्ञा समाहीए, तओ सं० नावासंतारिमे व्यउदए आहारियं रीइज्ञा, एयं खलु सया जइज्ञासि त्तिबेमि ।।

**वृ.** स्पष्टं, नवरं नो नावोऽग्रभागमारुहेत् निर्यामकोपद्रवसम्भवात्, नावारोहिणां वा पुरतो नारोहेत्, पवर्त्तनाधिकरणसम्भवात्, तत्रस्थश्च नौव्यापारं नापरेण चोदितः कुर्यात्, नाय्ग्यं कारयेदिति । 'उत्तिंगं'ति रन्ध्रं 'कञ्जलावेमाणं'ति प्लाव्यमानम् 'अप्पुस्सुए'ति अविमनस्कः शरीरोपकरणादौ मूर्छामकुर्वन् तस्मिश्चोदके नावं गच्छन् 'अहारिय' मिति यथाऽऽर्यं भवति तथा गच्छेद्, विशिष्टाध्यवसायो यायादित्यर्थ, एतत्तस्य भिक्षोः साम्प्र्यमिति ॥

चूडा-१ अध्ययनं-३ उद्देशकः-१ समाप्तः

--: चूडा-१ अध्ययनं-३ उद्देशकः-२ :--

उक्तः प्रथमोद्देशकोऽधुनां द्वितीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके नाविव्यवस्थितस्य विधिरभिहितस्तदिहापि स एवाभिधीयते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्दे-शकस्यादिसूत्रम्—

मू. (४५४) से णं परो नावा० आउसंतो ! समणा एयं ता तुं उत्तगं वा जाव चम्मछेयणगं वा गिण्हाहि, एयाणि तुमं विरूवरूवाणि सत्थजायाणि धारेहि, एयं ता तुमं दारगं वा पञ्जेहि, नो से तं० ।।

**ष्ट्र.** सः 'परः' गृहस्थादिर्नावि व्यवस्थितस्तस्थमेव साधुमेव ब्रूयात्, तद्यथा-आयुष्मन् ! श्रमण ! एतन्मदीयं तावच्छत्रकादि गृहाण, तथैतानि 'शस्त्रजातानि' आयुधविशेषान् धारय, तथा दारकाद्युदकं पायय, इत्येतां 'परिज्ञां' प्रार्थनां परस्य न श्रृणुयादिति ।। तदकरणे च परः प्रद्विष्टः सन् यदि नावः प्रक्षिपेत्तन्न यत्कर्त्तव्यं तदाह--

मू. (४५५) से णं परो नावागए नावागयं वएज़ा-आउसंतो ! एस णं समणे नावाए भंडभारिए भवइ, से णं बाहाए गहाय नावाओ उदगंसि पक्खिविज़ा, एयप्पगारं निग्घोसं सुद्या निसम्म से य चीवरधारी सिया खिप्पामेव चीवराणि उव्वेढिज वा निवेढिज़ वा उप्फेसं वा करिज़ा, अह० अभिकंतकूरकम्मा खलु वाला बाहाहिं गहाय ना० पक्खिविज्ञा से पुट्वामेव वइज्ञा

आउसंतो ! गाहावई मा मेत्तो बाहाए गहाय नावाओ उदगंसि पक्खिवह, सयं चेव णं अंहं नावाओ उदगंसि ओगाहिस्सामि, से नेवं वयंतं परो सहसा बलसा बाहाहिं ग० पक्खिविज्ञा तं नो सुमणे सिया नो दुम्मणे सिया नो उद्यावयं मणं नियंछिज्ञा नो तैसिं बालाणं घायाए वहाए समुट्ठिज्ञा, अप्पुस्सुए जाव समाहीए तओ सं० उदगंसि पविज्ञा ।।

वृ. स परः 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे नौगतस्तत्स्थं साधुमुद्दिश्यापरमेवं ब्रूयात्, तद्यथा-आयुष्मन् ! अयमत्र श्रमणो भाण्डवत्निश्चेष्टत्वाद् गुरु भाण्डेन वोपकरणेन गुरु, तदेनं च बाहुग्राहं माव उदके प्रक्षिपत यूयमित्येवंप्रकारं शब्दं श्रुत्वा तथाऽन्यतो वा कुतश्चित् 'निशम्य' अवगम्य ।

'सः' साधुर्गच्छगतो निर्गतो वा तेन च चीवरधारिणैतद्विधेयं-क्षिप्रमेव चीवराण्यसाराणि गुरुत्वान्निर्वाहितुम्शक्यानि च 'उद्वेष्टयेत्' पृथक् कुर्यात्, तद्विपरीतानि तु 'निर्वेष्टयेत्' सुबद्धानि कुर्यात्, तथा 'उप्फेसं वा कुञ्ज'त्ति शिरोवेष्टनं वा कुर्याद् येन संवृतोपकरणो निर्वाकुलत्वात्सुखेनैव जलं तरति, तांश्चधर्मदेशनयाऽनुकूलयेत्, अथ पुनरेवं जानीयादित्यादि कण्ठ्यमिति ॥

साम्प्रतमुदकं प्लवमानस्य विधिमाह--

मू. (४५६) से भिक्खू वा० उदगंसि पवमाणे नो हत्थेण हत्थं पाएण पायं काएण कायं आसाइज्ञा, से अनासायणाए अनासायमाणे तओ सं० उदगंसि पविज्ञा।

से भिक्खू वा० उदगंसि पवमाणे नो उम्पुग्गनिमुग्गियं करिज्ञा, मामेयं उदगं कन्नेसु वा अच्छीसु वा नक्कॉसि वा मुहंसि वा परियावज्रिज्ञा, तओ० संजयामेव उदगंसि पविज्ञा

से भिक्खू वा उदगंसि पवमाणे दुब्बलियं पाउणिज्ञा खिप्पामेव उवहिं विगिंचिज्ञ वा विसोहिज्ञ वा, नो चेव णं साइज्रिज्ञा, अह पु० पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए, तओ संजयामेव उदउल्लेण वा ससिनिद्धेण वा काएण उदगतीरे चिट्ठिज्जा।

से भिक्खू या० उदउल्लं वा २ कायं नो आमझिज्ञा वा नो पमज़िज्ञा या संलिहिज्ञा वा निल्लिहिजा वा उच्चलिज्ञा वा उच्चट्टिज्ञा वा आयाविज्ञ वा पया अह पु विगओदओ मे काए छित्रसिणेहे काए तहप्पगारं कायं आमज़िज्ञ वा पयाविज्ञ वा तओ सं० गामा० दूइज़िज्ञा।

**वृ.** स भिक्षुरुदके प्लवमानो हस्तादिकं हस्तादिना 'नासादयेत्' न संस्पृशेद्, अप्काया-दिसंरक्षणार्थमिति भावः, ततस्तथा कुर्वन् संयत एवोदकं प्लवेदिति ।। तथा–

स भिक्षुरुदके प्लवमानो मज़नोन्मज़ने नो विदध्यादिति (शेषं) सुगममिति ॥ किञ्च स भिक्षुरुदके प्लवमानः 'दौर्बल्यं' श्रमं प्राप्नुयात् ततः क्षिप्रमेवोपधिं त्यजेत् तद्देशं वा विशोधयेत्-त्यजेदिति, नैवोपधावासक्तो भवेत् । अथ पुनरेवं जानीयात् 'पारए सिअ'त्ति समर्थोऽहमस्मि सोपधिरेवोदकपारगमनाय ततस्तस्मादुदकादुत्तीर्ण सन् संयत एवोदकार्द्रेण गलदि्बन्दुना कायेन सस्निग्धेन वोदकतीरे तिष्ठेत्, तत्र चेर्यापथिकां च प्रतिक्रामेत् ॥ न चैतत्कुर्यादित्याह-स्पष्टं, नवरमत्रेयं सामाचारी-यदुदकाईं वस्त्रं तत्स्वत एव यावन्निष्प्रगलं भवति तावदुदकतीर एव स्थेयम्, अथ चौरादिभयाद्गमनं स्यात्ततः प्रलम्बमान कायेनास्पृशता नेयमिति ॥ तथा-

मू. (४५७) से भिक्खू वा गामाणुगामं दूइजमाणे नो परेहिं सिद्धि परिजविय २ गामा० दूइ०, तओ० सं० गामा० दूइ० ॥

्रें **वृ. कण्ठयं, नवरं** 'परिजवियर'त्ति परैः सार्खं भृशमुल्लापं कुर्वन्न गच्छेदिति । इदानीं जङ्घासंतरणविधिमाह--

मू. (४५८) से भिक्खू वा गामा० दू० अंतरा से जंघासंतारिमे उदगे सिया, से पुव्वामेव ससीसोवरियं कायं पाए य पमझिझा २ एगं पायं जले किश्चा एगं पायं थले किश्चा तओ सं. उदगंसि आहारियं रीएझा।

से भि० आहारियं रीयमाणे नो हत्थेण हत् जाव अनासायमाणे तओ संजयामेव ज़ंधासंतारिमे उदए अहारियं रीएज्ञा ।

से भिक्खूचा० जंघासंतारिमे उदए अहारियं रीयमाणे नो सायावडियाए नो परिदाहपडियाए महइमहालयंसि उदयंसि कायं विउसिज्जा, तओ संजयामेव जंघासंतारिमे उदए अहारियं रीएज्जा, अह पुण एवं जाणिज्जा पारए सिया उदगाओ तीरं पाउणित्तए, तओ संजयामेव उदउल्लेण वा २ काएण दगतीरए चिट्ठिजा।

से भि० उदउल्लं वा कायं ससि० कायं नो आमझिज्ञ वा नो० अह पु० विगओदए मे काए छिन्नसिणेहे तहप्पगारं कायं आमझिज्ञ वा० पयाविज्ञ वा तओ सं० गामा० दूइ० ।।

वृ. 'तस्य' भिक्षोर्ग्रामान्तरं गच्छतो यदा अन्तराले जानुदध्नादिकमुदकं स्यात्तत ऊध्ध्र्वंकायं मुखवस्त्रिकया अधःकायं च रजोहरणेन प्रमृज्योदकं प्रविशेत्, प्रविष्टश्च पादमेकं जले कृत्वाऽपरमुल्शिपन् गच्छेत्, न जलमालोडयता गन्तव्यमित्यर्थ, 'अहारियं रीएज़'त्ति यथा ऋजु भवति तथा गच्छेन्नार्दवितंर्द विकारं वा कुर्वन् गच्छेदिति।

स भिक्षुर्यथाऽऽर्यमेव गच्छन् महत्युंदके महाश्रये वक्षःस्यलादिप्रमाणे जङ्घातरणीये नदीइदादौ पूर्वविधिनैव कायं प्रवेशयेत्, प्रविष्टश्च यद्युपकरणं निर्वाहयितुमसमर्थस्ततः सर्वमसारं वा परित्यजेत्, अथैवं जानीयाच्छक्तोऽहं पारगमनाय ततस्तथाभूत एव गच्छेत्, उत्तीर्णश्च कायोत्सर्गादि पूर्ववत्कुर्यादिति ।

आमर्जनप्रमार्जनादिसूत्र पूर्ववन्नैयमिति । साम्प्रतमुदकोत्तीर्णस्य गमनविधिमाह-

मू. (४५९) से भिक्खू वर्व गामा० दूइजमाणे नो महियागएहिं पाएहिं हरियाणि छिंदिय २ विकुञ्जिय २ विफालिय २ उम्पग्गेण हरियवहाए गच्छिज्ञा, जमेयं पाएहिं महिययं खिप्पामेव हरियाणि अवहरंतु, माइडाणं संफासे, नो एवं करिज्ञा, से पुव्वामेव अप्पहरियं मग्गं पडिलेहिज्ञा तओ० सं० गामा०।

से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज़माणे अंतरा से वप्पाणि वा फ० पा० तो० अ० अग्गलपासगाणि वा गड्डाओ वा दरीओ वा सइ परक्कमे संजयामेव परिक्रमिज्ञा नो उज्जु०, कवली०, से तत्थ परक्कममाणे पयलिज वा २, से तत्थ पयलमाणे वा २ रुक्खाणि वा गुच्छाणि वा गुम्माणि वा लयाओ वा वल्लीओ वा तणाणि वा गहणाणि वा हरियाणि वा अवलंबिय २ उत्तरिझा, जे तत्थ पाडिपहिया उवागच्छंति ते पाणी जाइझा २, तओ सं० अवलंबिय २ उत्तरिझा तओ स० गामा० दू०।

से भिक्खू वा० गा० दूइज़माणे अंतरा से अवसाणि वा सगडाणि वा रहाणि वा सच्चक्राणि वा परचक्राणि वा से णं वा विरुवरूवं संनिरुद्धं पेहाए सइ परक्वमे सं० नो उ०, से णं परो सेणागओ वइज़ा आउसंतो ! एस णं समणे सेणाए अभिनिवारियं करेइ, से णं बाहाए गहाय आगसह, से णं परो बाहाहिं गहाय आगसिज़ा, तं नो सुमणे सिया जाव समाहीए तओ सं० गामा० दू० ।।

वृ. सभिक्षुरुदकादुत्तीर्ण सन्कर्दमाविलपादः सन्(नो) हरितानि भृशं छित्त्वा तथा विकुब्जानि कृत्वा एवं भृशं पाटयित्वोन्मार्गेण हरितवधाय गच्छेद्-यथैनां पादमृत्तिकां हरितान्यपनयेयुरित्येवं मातृस्थानं संस्पृशेत्, न चैतत्कुर्याच्छेषं सुगमतिति ।

स भिक्षुर्ग्रामान्तराले यदि वप्रादिकं पश्येत्ततः सत्यन्यस्मिन् सङ्क्रम तेन ऋजुना पथा न गच्छेद्, यतस्तत्र गर्तादी निपतन् सचित्त वृक्षादिकमवलम्बेत, तद्यायुक्तम्, अथ कारणिकस्तेनैव गच्छेत्, कथञ्चित्पतितश्च गच्छगतो वल्ल्यादिकमप्यवलम्ब्य प्रातिपथिकं हस्तं वा याचित्वा संयत एव गच्छेदिति ।

किञ्च-स भिक्षुर्यदि ग्रामान्तराले 'यवसं' गोधूमादिधान्यं शकटस्कन्धावारनिवेशादिकं वा भवेत् तत्र बह्वपायसम्भवात्तन्मध्येन सत्यपरस्मिन् पराक्रमे न गच्छेत्, शेषं सुगममिति ।।

मू. (४६०) से भिक्खू वा० गामा० दूइज़माणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज़ा, ते णं पाडिवहिया एवं वइज़ा-आउ० समणा ! केवइए एस गामे वा जाव रायहाणी वा केवईया इत्य आसा हत्थी गामपिंडोलगा मणुस्सा परिवसंति !

से बहुमत्ते बहुउदे बहुजणे बहुजवसे से अप्पभत्ते अप्पुदए अप्पजणे अप्पजवसे ?, एयप्पगाराणि पसिणाणि पुच्छिज्ञा, एयप्प० पुडो वा अपुडो वा नो वागरिज़ा, एवं खलु० जं सव्वडेहिं०।।

**वृ.** 'से' तस्य भिक्षोरपान्तराले गच्छतः 'प्रातिपथिकाः' संमुखाः पथिका भवेयुः, ते चैवं वदेयुर्यथाऽऽयुष्पन् ! श्रमण ! किम्भूतोऽयं ग्रामः ? इत्यादि पृष्टो न तेषामाचक्षीत, नापि तान् पृच्छेदिति पिण्डार्थ, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्रयम् ।

चूडा-१ अध्ययनं-२ उद्देशक-२ समाप्तः

## चूडा-१ अध्ययनं-३ उद्देशकः-३

**मृ.** उक्तो द्वितीयोद्देशकः साम्प्रतं तृतीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरं गमनविधिप्रतिपादितः, इहापि सएवप्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्-

मू. (४६१) से भिक्खू वा गामा० दूइज़माणे अंतरा से वप्पाणि वा जाव दरीओ वा जाव कूडागाराणि वा पासायाणि वा नूमगिहाणि वा रुक्खगिहाणि वा पव्वयगि० रूक्खं वा चेइयकडं थूभं वा चेइयकडं आएसणाणि वा जाव भवणगिहाणि वा नो बाहाओ पगिज्झिय २ अंगुलिआए उद्दिसिय २ ओणमिय २ उन्नमिय २ निज्झाइज्जा, तओ सं० गामा० ।।

से भिक्खू वा० गामा० दू० माणे अंतरा से कच्छाणि वा दवियाणि वा नूमाणि वा वलयाणि

वा गहणाणि वा गहणविदुग्गाणि वणाणि वा वणवि० पव्वयाणि वा पव्वयदि० अगडाणि वा तलागाणि वा दहाणि वा नईयो वा वावीओ वा पुक्खरिणीओ वा दीहियाओ वा गुंजालियाओ वा सराणि वा सरपंतियाणि वा सरसरपंतियाणि वा नो वाहाओ पगिज्झिय २ जाव निज्झाइज्जा, केवली०,

जे तत्थ मिगा वा पसू वा पंखी वा सरीसिवा वा सीहा वा जलचरा वा थलचरा वा खहरा वा सत्ता ते उत्तसिञ्ज वा वित्तसिञ्ज वा वाडं वा सरणं वा कंखिञ्जा, चारित्ति मे अयं समणे, अह भिक्खू णं पु० जं नो बाहाओ पगिज्झिय २ निज्झाइज्जा, तओ संजयामेव आयरिउवज्झाएहिं सद्धिं गामाणुगामं दूइञ्जिज्जा ।।

**वृ.** स भिक्षुर्ग्रामाद्ग्रामान्तरं गच्छन् यद्यन्तराले एतत्पश्येत्, तद्यथा-परिखाः प्राकारान् 'कूटागारान्' पर्वतोपरि गृहाणि, 'नूमगृहाणि' भीमीगृहाणि, वृक्षप्रधानानि तदुपरि वा गृहाणि वृक्षगृहाणि, पर्वतगृहाणि-पर्वतगुहाः, 'रुक्खं वा चेइअकडं'ति वृक्षस्याधो व्यन्तरादिस्यलकं 'स्तूपं वा' व्यन्तरादिकृतं, तदेवमादिकं साधुना भृशं बाहुं 'प्रगृह्य' उत्क्षिप्य तथाऽङ्गुलीः प्रसार्य तथा कायमवनम्योन्नम्य वा न दर्शनीयं नाप्यवलोकनीयं, दोषाश्चात्र दम्धमुषितादौ साधुराश-इयेताजितेन्द्रियो वा संभाव्येत तत्स्थः पक्षिगणो वा संत्रासं गच्छेत्, एतद्दोषभयात्संयत एव 'दूयेत्' गच्छेदिति ।। तथा–स भिक्षुर्ग्रामान्तरं गच्छेत्, तस्य च गच्छतो यद्येतानि भवेयुः, तद्यथा ।

'कच्छाः' नद्यासन्नर्निम्नप्रदेशा मूलकवालुङ्कादिवाटिका वा 'दवियाणि' ति अटव्यां घासार्यं राजकुलावरुद्धभूमयः 'निम्नानि' गर्त्तादीनि 'वलयानि' नद्यादिवेष्टितभूमिभागाः 'गहनं' निर्जल-प्रदेशोऽरण्यक्षेत्रं वा 'गुआलिकाः'दीर्घा गम्भीराः कुटिलाः श्लक्ष्णाः जलाशयाः 'सरःपङ्कतयः' प्रतीताः 'सरःसरःपङ्कतयः' परस्परसंलग्नानि बहूनि सरांसीति, एवमादीनि बाह्यादिना न प्रदर्शयेद् अवलोकयेद्वा, यतः केवली ब्रूयात्कर्मोपादानमेतत्, किमिति ?, यतो ये तत्स्याः पक्षिमृग-सरीसृपादयस्ते त्रासं गच्छेयुः, तदावासितानां वा साधुविषयाऽऽशङ्का समुत्पचेत, अथ साधूनां पूर्वोपदिष्टमेतस्रतिज्ञादिकं यत्तथा न कुर्यात्, आचार्योपाध्यायादिभिश्च गीतार्थे सह विहरेदिति साम्प्रतमाचार्यादिना सह गच्छतः साधोर्विधिमाह–

मू. (४६२) से भिक्खू वा २ आयरिउवज्झा० गामा० नो आयरियउवज्झायस्स हत्येण वा हत्यं जाव अणासायमाणे तओ संजयामेव आयरिउ० सद्धिं जाव दूइज़िज़ा।। से भिक्खू वा आय० सद्धिं दूइज़माणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज़ा, ते णं पा०एवं वइज़ा-आउसंतो ! समणा ! के तुब्मे ? कओ वा एह ? कहिं वा गच्छिहिह ?, जे तत्य आयरिए वा उवज्झाए वा से भासिज़ वा वियागरिज वा, आयरिउवज्झायस्स भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा नो अंतरा भासं करिज़ा, तओ० सं० अहाराईणिए वा० दूइज़िजा।।

से भिक्खू वा अहाराइणियं गामा० दू० नो राईणियस्स हत्थेण हत्थं जाव अणासायमाणे तओ सं० अहाराइणियं गामा० दू० ।

से भिक्खू वा २ अहाराइणिअं गामाणुगामं दूइज़माणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज़ा, ते णं पाडिपहिया एवं वइज्रा-आउसंतो ! समणा ! के तुब्भे ? , जे तत्थ सव्वराइणिए से भासिज्ञ वा वागरिज वा, राइणियस्त भासमाणस्स वा वियागरेमाणस्स वा नो अंतरा भासं भासिज्ञा, तओ संजयामेव अहाराइणियाए गामाणुगामं दूइञ्जिज्ञा ।।

वृ. स भिक्षुराचार्यादिभि सहगच्छंस्तावन्मात्रायां भूमौ स्थितो गच्छेद् यथा इस्तादिसंस्पर्शो न भवतीति।।तथा स भिक्षुराचार्यादिभि सार्द्ध गच्छन् प्रातिपथिकेन पृष्टः सन् आचार्यादीनतिक्रम्य नोत्तरं दद्यात्, नाप्पाचार्यादौ जल्पत्यन्तरभाषां कुर्यात्, गच्छंश्च संयत एव युगमात्रया द्दष्टया यथारत्नाधिकं गच्छेदिति तात्पर्यार्थ।।

एवमुत्तरसूत्रद्वयमप्याचार्योपाध्यायैरिवापरेणापि रत्नाधिकेन साधुना सह गच्छता हस्तादिसङ्घर्टोऽन्तरभाषा च वर्जनीयेति द्रष्टव्यमिति ॥ किञ्च-

मू. (६६३) से भिक्खू वा० दूइज़माणे अंतरा से पाडिवहिया उवागच्छिज्ञा, ते णं पा० एवं वइज्रा-आउ० स०! अवियाइं इत्तो पडिवहे पासह, तं०—मणुस्सं वा गोणं वा महिसं वा पसुं वा पक्खि वा सिरीसिवं वा जलयरं वा से आइक्खह दंसेह, तं नो आइक्खिज्ञा नो दंसिज्ञा, नो तस्स तं परिन्नं परिजाणिज्ञा, तुसिणीए उवेहिज्ञा, जाणं वा नो जाणंति वइञ्जा, तओ सं० गामा० दू०।

से भिक्खू वा० गा० दू० अंतरा से पाडि० उवा०, ते णं पा० एवं वइज्रा-आउ० स० ! अवियाइं इत्तो पडिवहे पासह उदगपसूयाणि कंदाणि वा मूलाणि वा तया पत्ता पुष्फा फला बीया हरिया उदगं वा संनिहियं अगणिं वा संनिखित्तं से आइक्खह जाव दूइज्जिज्ञा ।। से भिक्खू वा० गामा० दूइज्रमाणे अंतरा से पाडि० उवा०, ते णं पाडि० वं आउ० स० अवियाइं इत्तो पडिवहे पासह जवसाणि वा जाव से णं वा विरूवरूवं संनिविष्ठं से आइक्खह जाव दूइज्जिज्ञा ।।

से भिक्खु वा० गामा० दूइज़माणे अंतरा पा० जाव आउ० स० केंवइए इत्तो गामे वा जाव रायहाणिं वा से आइक्खह जाव दूइज़िज़ा।। से भिक्खू वा २ गामाणुगामं दूइज्रेजा, अंतरा से पाडिपहिया आउसंतो समणा! केवइए इत्तो गामस्स नगरस्स वा जाव रायहाणीए वा मग्गे से आइक्खह, तहेव जाव दूइज़िजा।।

**वृ.** 'से' तस्य भिक्षोर्गच्छतः प्रातिपथिकः कश्चित्संमुखीन एतद्भ्यात्, तद्यथा-आयुष्मन् ! श्रमण ! अपिच किंभवता पथ्यागच्छता कश्चिन्मनुष्यादिरुपलब्धः ? , तं चैवं पृच्छन्तं तूष्णीभावेनो-पेक्षेत, यदिवा जानन्नपि नाहं जानामीत्येवं वदेदिति ।।

अपि च-स भिक्षुर्ग्रामान्तरं गच्छन् केनचित्संमुखीनेन प्रातिपथिकेन पृष्टः सन् उदकप्रसूतं कन्दमूलादि नैवाचक्षीत, जानन्नपि नैव जानामीति वा ब्रूयादिति ॥ एवं यवसासनादिसूत्रमपि नेयमिति ॥

तथा कियदूरे ग्रामादिप्रश्नसूत्रमपि नेयमिति ॥एवं कियान् पन्या ? इत्येतदपीति ॥ किञ्च-

मू. (४६४) से भिक्खू० गा० दू० अंतरा से गोणं वियालं पडिवहे पेहाए जाव चित्तचिल्लडं वियालं प० पेहाए नो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छिज्ञा नो मग्गाओ उम्मग्गं संक्रमिज्ञा नो गहणं वा वणं वा दुग्गं चा अणुपविसिज्ञा नो रुक्खंसि दूरुहिज्ञा नो महइमहालयंसि उदयंसि कायं विउसिज्ञा नो वाडं वा सरणं वा सेणं वा सत्थं वा कंखिज्ञा अप्पुस्पुए जाव समाहीए तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्रिज्ञा ॥

से भिक्खू० गामाणुगामं दूइज़माणे अंतरा से विहं सिया, से जं पुण विहं जाणिज़ा इमंसि

खलु विहंसि बहवे आमोसगा उवगरणपडियाए संपिंडिया गच्छिञ्ञ, नो तेसिं भीओ उम्मग्गेण गच्छिज्ञा जाव समाहीए तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्रेज्ञा।।

**वृ.** स भिक्षुर्ग्रामान्तरं गच्छन् यद्यन्तराले ''गां' वृषमं 'व्यालं' दर्षितं प्रतिपथे पश्येत्, तथा सिंहं व्याघ्नं यावचित्रकं तदपत्यं वा व्यालं क्रूरं धष्ट्वा च तद्भयात्रैवोन्मार्गेण गच्छेत्, न च गहनादिक- मनुप्रविशेत्, नापि वृक्षादिकमारोहेत्, न चोदकं प्रविशेत्, नापि शरणमभिकाङ्कत्, अपि त्वल्पोत्सु- कोविमनस्कः संयत एव गच्छेत्, एतच्च गच्छनिर्गतैर्विधेयं, गच्छान्तर्गतास्तु व्यालादिकं परिहरत्यपीति ।। किञ्च--

'से' तस्य भिक्षोर्ग्रामान्तराले गच्छतः 'विहं'ति अटवीप्रायो दीर्घोऽध्वा भवेत्, तत्र च 'आमोषकाः' स्तेनाः 'उपकरणप्रतिज्ञया' उपकरणार्थिनः सागच्छेयुः, न दद्भयादुन्मार्गगमनादि कुर्यादिति ।।

मू. (४६५) से भिक्खू वा० गा० दू० अंतरा से आमोसगा संपिंडिया गच्छिझा, ते णं आ० एवं वइज्रा—आउ० स० ! आहर एयं वत्यं वा ४ देहि निक्खिवाहि, तं नो दिज्ञा निक्खिविज्ञा, नो वंदिय २ जाइज्ञा, नो अंजलिं कट्टु जाइज्ञा, नो कलुणपडियाए जाइज्ञा, धम्पियाए जायणाए जाइज्ञा, तुसिणीयभावेण वा ते णं आमोसगा सयं करणिञ्नंतिकट्टु अक्कोसंति वा जाव उद्दविंति वा वत्थं वा ४ अच्छिदिज्ञ वा जाव परिट्ठविज्ञ वा, तं नो गामसंसारियं कुज्जा, नो रायसंसारियं कुज्जा, नो परं उवसंकमित्तु बूया—

आउसंतो ! गाहावई एए खलु आमोसगा उचगरणपडियाए सयंकरणिञ्जंतिकट्ट अक्नोसंति वा जाव परिइवंति वा, एयप्पगारं मणं वा वायं वा नो पुरओ कट्ट विहरिज्ञा, अप्पुस्सुए जाव समाहीए तओ संजयामेव गामा० दूइ० ।। एयं खलु० सया जइ० त्तिबेमि ।

**वृ.** स भिक्षुर्ग्रामान्तरे गच्छन् यदि स्तेनैरुपकरणं याच्येत तत्तेषा न समर्पयेत्, बलादृह्लां भूमौनिक्षिपेत्, नच चौरगृहीतमुपकरणं वन्दित् दीनं वा वदित्वा पुनर्याचेत, अपितु धर्मकयनपूर्वकं गच्छान्तर्गतो याचेत तूष्णीभावेन वोपेक्षेत्, ते पुनः स्तेनाः स्वकरणीयमितिकृत्वैतत्कुर्युः ।

तद्यधा-आक्रोशन्ति वाचा ताडयन्ति दण्डेन यावज्ञीवितात्त्याजयन्ति, वस्त्रादिकं वाऽऽच्छिन्द्युर्यावत्तत्रैव 'प्रतिष्ठापयेयुः' त्यजेयुः, तद्य तेषामेवं चेष्टितं न ग्रामे 'संसारणीयं' कथनीयं, नापि राजकुलादौ, नापि परं-गृहस्थमुपसंक्रम्य चौरचेष्टितं कथयेत्, नाप्येवंप्रकारं मनो वाचं वा सङ्कल्पान्यत्र गच्छेदिति, एतत्तस्य भिक्षोः साम्प्रयम् ॥

चूडा-१ अध्ययनं-३ उद्देशकः-३ समाप्तः

## अध्ययनं-३ समाप्तम्

मुनि दीपरलसागरेण संशोधिता सम्पादिता शीलाङ्काचार्य विरचिता द्वीतीय श्रृतस्कन्धस्य तृतीयअध्ययनटीका परिसमाप्ता ।

अध्ययनं-४ भाषाजातम्

**षृ.** उक्तं तृतीयमध्ययनं, साम्प्रतं चतुर्थमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तराध्ययने पिण्डविशुद्धयर्थं गमनविधिरुक्तः, तत्र च गतेन पथि वा याद्यभूतं वाच्यं न वाच्यं वा, अनेन च सम्बन्धेनायातस्य भाषाजाताध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्र निक्षेपनिर्युक्तनुगमे भाषाजातशब्दयोर्निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह–

नि. [३९६] जह वक्हें तह भासा जाए छक्कें च होड़ नायव्वें । उप्पत्तीए ९ तह पज़वं २ तरे ३ जायगहणे ४ य ॥

**वृ.** यथा वाक्शुद्धयध्ययने वाक्यस्य निक्षेपः कृतस्तथा भाषाय अपि कर्त्तव्यः, जातशब्दस्य तु षट्कनिक्षेपोऽयं ज्ञातव्यो नाम १ स्थापना २ द्रव्य ३ क्षेत्र ४ काल ५ माव ६ रूपः, तत्र नाम-स्थापने क्षुण्णे, द्रव्यजातं तु आगमतो नो आगमतः, व्यतिरिक्तं निर्युक्तिकारो गाथापश्चार्द्धेन दर्शयति-तच्चतुर्विधम्, उत्पत्तिजातं १ पर्यवजातम् २ अन्तरजातं ३ ग्रहणजातं ४, तत्रोत्पत्तिजातं नाम यानि द्रव्याणि भाषावर्गणान्तःपातीनिकाययोगगृहीतानि वाग्योगेन निसृष्टानि भाषात्वेनोत्पद्यन्ते तदुत्पत्तिजातं, यद्रव्यं भाषात्वेनोत्पन्नमित्यर्थः १ ।

पर्यवजातं तैरेच वाग्निसृष्टभाषाद्रव्यैयांनि विश्वेणिस्थानि भाषावर्गणान्तर्गातानि निसृष्टद्रव्यपराधातेन भाषापर्यायत्वेनोत्पद्यन्ते तानि द्रव्याणि पर्यवजातमित्युच्यन्ते २, यानि त्वन्तराले समश्रेण्यामेव निसृष्टद्रव्यमिश्रितानि भाषापरिणामं भजन्ते तान्यन्तरजातमित्युच्यन्ते ३, यानि पुनर्द्रव्याणि समश्रेणिविश्रेणिस्थानि भाषात्वेन परिणतानि कर्णशष्कुली विवरप्रविष्टानि गृह्यन्ते तानि चानन्तप्रदेशिकानि द्रव्यतः क्षेत्रतोऽसङख्येयप्रदेशावगाढानि कालत एकद्विज्यादियावदसङख्येयसमयस्थितिकानि भावतो वर्णगन्धरसस्पर्शवन्ति तानि चैवंभूतानि ग्रहणजातमित्युच्यन्ते ४ ।

उक्तं द्रव्यजातं, क्षेत्रादिजातं तु स्पष्टत्वात्रिर्युक्तिकारेण नोक्तं, तच्चैवंभूतं-यस्मिन् क्षेत्रे भाषाजातं व्यावर्ण्यते यावन्मात्रं वा क्षेत्रं स्पृशति तत्क्षेत्रजातम्, एवं कालजातमपि, भावजातं तु तान्येवोत्पत्तिपर्यवान्तरग्रहणद्रव्याणि श्रोतरि यदा शब्दोऽयमिति वुद्धिमुत्पादयन्तीति । इह त्वधिकारो द्रव्यभाषाजातेन, द्रव्यस्यप्राधान्यविवक्षया, द्रव्यस्य तु विशिष्टावस्था भावइतिकृत्वा भावभाषाजातेनाप्यधिकार इति ॥ उद्देशार्थाधिकारार्थमाह-

नि. [३९७] सव्वेऽवि य वयणविसोहिकारा तहवि अत्थि उ विसेसो । वयणविभत्ती पढमे उपत्ती वज्रणा बीए ।।

म्ट्र. यद्यपि द्वावप्युद्देशकौ वचनविशुद्धिकारकौ तथाऽप्यस्ति विशेषः, स चायं-प्रथमोद्देशके वचनस्य विभक्ति वचनविभक्ति-एकवचनादिषोडशविधवचनविभागः, तथैवंभूतं भाषणीयं नैयंभूतमिति व्यावर्ण्यते, द्वितीयोद्देशके तूत्पत्ति-क्रोधाद्युत्पत्तिर्यथा नम्भवति तथा भाषितव्यम् ॥ साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुद्यारणीयं, तद्येदम्–

--: चूडा-१ अध्ययनं-४ उद्देशक-१ :--

मू. (४६६) से भिक्खू वा २ इमाइं वयायाराइं सुच्चा निसम्म इमाइं अणायाराइं अणारिय-पुव्चाइं जाणिज्ञा-जे कोहा वा वायं विउंजंति जे माणा वा० जे मायाए वा० जे लोभा वा वायं विउंजंति जाणओ वा फरुसं वयंति अजाणओ वा फ० सव्वं चेयं सावज्ञं वज्जिज्ञा विवेगमायाए, धुवं चेयं जाणिज्ञा अधुवं चेयं जाणिज्ञा असणं वा ४ लभिय नो लभिय भुंजिय नो भुंजिय अदुवा आगओ अदुवा नो आगओ अदुवा एइ अदुवा नो एइ अदुवा एहिइ अंदुवा नो एहिइ इत्थवि आगए इत्थवि नो आगए इत्थवि एइ इत्थवि नो एति इत्थवि एहिति इत्थवि नो एहिति ।। अणुवीइ निष्ठाभासी समियाए संजए भासं भासिज्ञा, तंजहा-एगवयणं १ दुवयणं २ बहुव० ३ इत्थि० ४ पुरि० ५ नपुंसगवयणं ६ अज्झत्यव० ७ उवणीयवयणं ८ अवणीयवयणं ९ उवणीयअवणीयव० १० अवणीयउवणीयव० ११ तीयव० १२ पडुप्पन्नव० १३ अणागयव० १४ पश्चक्खवयणं १५ परुक्खव० १६, से एगवयणं वईस्सामीति एगवयणं वइज्जा जाव परुक्ख-वयणं वइस्सामीति परुक्खवयणं वइज्जा, इत्थी वेस पुरिसो वेस नपुंसगं वेस एयं वा चेयं अन्नं वा चेयं अणुवीइ निद्वाभासी समियाए संजए भासं भासिज्जा, इश्चेयाइं आययणाइं उवातिकम्म ॥ अह भिक्खू जाणिज्ञा चत्तारि भासज्जायाइं, तंजहा –

सद्यमेगं पढमं भासज्ञायं १ बीयं मोसं २ तईथं सद्यामोसं ३ जं नेव सद्यं नेव मोसं नेव सद्यामोसं असद्यामोसं नाम तं चउत्यं भासजायं ४ ॥ से बेमि जे अईया जे य पडुप्पत्रा जे अणागया अरहंता भगवंतो सब्वे ते एयाणि चेव चत्तारि भासज्जा याइं भासिंसु वा भासंति वा भासिस्संति वा पत्रविंसु वा ३, सब्वाइं च णं एयाइं अचित्ताणि वण्णमंताणि गंधमंताणि रसमंताणि फासमंताणि चओवचइयाइं, विप्परिणामधम्माइं भवंतीति अक्खायाइं ॥

**वृ.** स भावभिक्षु 'इमान्' इत्यन्तःकरणनिष्पन्नान्, इदमः प्रत्यक्षासन्नवाचित्वात्समनन्तरं वक्ष्यमाणान्, वाच्याचारावागाचाराः-वाग्व्यापारास्तान् श्रुत्वा, तथा 'निशम्य' ज्ञात्वा भाषासमित्या भाषां भाषेतोत्तरेण सम्बन्ध इति । तवयाधगूभूता भाषा न भाषितव्येति तत्तावद्दर्शयति ।

'इमान्' वक्ष्यमाणान् 'अनाचासन्' साधूनामभाषणयोग्यान् पूर्वसाधुभिरनाचीर्णपूर्वान् साधुर्जानीयात्, तद्यथा-ये केचन क्रोधाद्वा वाचं 'विउंजन्ति' विविधं व्यापारयन्ति-भाषन्ते यथोत्तमजातिरहं हीनस्त्वमित्यादि तथा मायया थथा ग्लानोऽहमपरसन्देशकं वा सावद्यकं केनचिदुपायेन कथयित्वा मिथ्यादुष्कृतं करोति सहसा ममैतदायातमिति तथा लोभेनाह-मनेनोक्तेनातः किद्यक्षस्यइति तथा कस्यचिद्दोषं जानानास्तद्दोषोद्घटनेन परुषं वदन्ति अजानाना वा, सर्वं चैतकोधादिवचनं सहायद्येन-पापेन गर्ह्येण वा वर्त्तदाद्ती सावद्यं तद्वर्जयेत् विवेकमादाय, विवेकिना भूत्वा सावद्यं वचनं वर्जनीयमित्यर्थ, तथा केनचित्सार्द्धं साधुना जल्पता नैव सावधारणं वचो वक्तव्यं यथा –

'धुवमेतत्' निश्चितं वृष्टयादिकं भविष्यतीत्येवं जानीयाद् अध्रुवं वा जानीयादिति । तथा कथश्चित्साधुं भिक्षार्थं प्रविष्टं ज्ञातिकुलं वा गतं चिरयन्तमुद्दिश्यापरे साधव एवं ब्रवीरन् यथा-भुञ्जमहे वयं स तत्राशनादिकं लब्धैव समागमिष्यति, यदिवा घ्रियते तदर्थं किश्चित् नैवासौ तस्माल्लब्धलाभः समागमिष्यति, एवं तत्रैव भुक्त्वाऽभुक्त्वा वा समागमिष्यतीति सावधारणं न वक्तव्यम्, अथ चैवंभूतां सावधारणां वाचं न ब्रूयाद् यथाऽऽगतः कश्चिद्राजादिर्नो वा समागतः तथाऽऽगच्छति न वा समागच्छति एवं समागमिष्यति न वेति, एवमत्र पत्तनमठादावपि भूतादिकालत्रयं योज्यं, यमर्थं सम्यग् न जानीयात्तदेवमेवैतदिति न ब्रूयादिति भावार्थ, सामान्येन सर्वत्रगः साधेरयमुपदेशो, यथा –

'अनुविचिन्त्य' विचार्य सम्यग्निश्चित्यातिशयेन श्रुतोपदेशेन वाप्रयोजने सति 'निष्ठाभाषी' सावधारणभाषी सन् 'समित्या' भाषासमित्या 'समतया वा' रागद्वेषाकरणलक्षणया षोडशवचनविधिज्ञो भाषां भाषेत । याध्ग्भूता च भाषा भाषितव्या तां षोडशवचनविधिगतां दर्शयति-'तद्यथे'त्ययमुपंप्रदर्शनार्थः, एकवचनं वृक्षः 9, द्विचनं वृक्षौ २, बहुर्वचनं वृक्षा इति ३, स्त्रीवचनं वीणा कन्या इत्यादि ४, पुंवचनं घटः पट इत्यादि ५, नपुंसकवचनं पीठं देवकुलमित्यादि ६, अध्यात्मवचनम्, आत्मन्यधि अध्यात्मं-हृदयगतं तत्परिहारेणान्यद्भणिष्यतस्तदेव सहसा पतितम् ७, 'उपनीतवचनं' प्रशंसावचनं यथा रूपवती स्त्री ८, तद्विपर्ययेणापनीतवचनं पथेयं रूपहीनेति ९, 'उपनीतापनीतवचनं' कश्चिद् गुणः प्रशस्य- कश्चित्रिन्चो, यथा-रूपवतीयं स्त्री किन्त्वसद्वद्वृत्तेति १०, 'अपनीतोपनीतवचनम्' अरूपवती स्त्री किन्तु सद्वृत्तेति ११, 'अतीतवचनं' कृतवान् १२ 'वर्त्तमानवचनं' करोति १३ 'अनागतवचनं' करिष्यति १४ 'प्रत्यक्षवचनम्' एष देवदत्तः १५, 'परोक्षवचनं' स देवदत्तः १६, इत्येतानि षोडश वचनानि।

अमीषां स भिक्षुरेकार्थविवक्षायामेकवचनमेव ब्रूयाद् यावत्परोक्षवचनविवक्षायां परोक्षवचनमेव ब्रूयादिति । तथा स्त्र्यादिके ६ष्टे सति स्त्र्येवैषा पुरुषो वा नपुंसकं वा, एवमेवैतदन्यद्वैतत्, एवम् 'अनुविचिन्त्य' निश्चित्य निष्ठाभाषी सन् समित्या समतया संयत एव भाषां भाषेत, तथा 'इत्येतानि' पूर्वोक्तानि भाषागतानि वक्ष्यमाणानि वा 'आयतनानि' दोषस्थानानि 'उपातिक्रम्य' अतिलङ्घय भाषां भाषेत । अथ स भिक्षुर्जानीयात् 'चत्वारि भाषाजातानि' चतम्रो भाषाः, तद्यधा-सत्यमेक प्रथमं भाषाजातां यथार्थम्-अवितथं, तद्यधागौगौरेवाश्वोऽश्व एवेति १, एतद्विपरीता तु मृषा द्वितीया, यथा गौरश्वोऽश्वो गौरिति २, तृतीया भाषा सत्यामृषेति, यत्र किश्चित्सत्वं किश्चिन्मृषेति, यथाऽश्वेन यान्त देवदत्तमुष्ट्रेण यातीत्यमिदधाति ३, चतुर्थी तु भाषा योच्यमाना न सत्या नापि मृषा नापि सत्यामृषा आमन्त्रणाज्ञापनादिका साऽत्रासत्याऽमृषेति ४

स्वमनीषिकापरिहार्थमाहरासोऽहं यदेतद्व्रवीमि तत्सवैरेव तीर्थकृद्भिरतीतानाग-तवर्त्तमानैर्भाषितं भाष्यते भाषिष्यते च, अपि चैतानि-सर्वाण्यप्येतानि भाषाद्रव्याण्यचित्तानि च वर्णगन्धरसस्पर्शवन्ति चयोपचयिकानि विविधपरिणामधर्माणि भवन्तीति, एवमाख्यातं तीर्थकृद्भिरिति, अत्र च वर्णादिमत्त्वाविष्करणेन शब्दस्य मूर्त्तत्वमावेदितं, न ह्यमूर्त्तस्याकाशा-देर्वर्णादयः संभवन्ति तथा चयोपचयधर्माणीत्यनेन तु शब्दस्यानित्यत्वमाविष्कृतं, विचित्रपरिणामत्वाच्छब्दद्रव्याणामिति ॥ साम्प्रतं शब्दस्य कृतकत्वाविष्करणायाह-

मू. (४६७) से भिक्खू वा० से जं पुण जाणिज्ञा पुव्विं भासा अभासा भासिजमाणी भासा भासा भासासमयवीइक्वंता च णं भासिया भासा अभासा ।।

से भिक्खू वा० से जं पुण जाणिज़ा जा य भासा सञ्चा 9 जा य भासा मोसा २ जा य भासा सञ्चामोसा २ जा य भासा असञ्चाऽमोसा ४, तहप्पगारं भासं सावज्ञं सकिरियं कक्कसं, कडुयं निहुरं फरुसं अण्हयकरिं छेयणकरिं भेयणकरिंपरियावणकरिं उद्दवणकरिं भूओवघाइयं अभिकंख नो भासिज्ञा ॥

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा से जं पुण जाणिज्ञा, जा य मासा सञ्चा सुहुमा जा य भासा असश्चामोसा तहप्पगारं भासं असावज्ञं जाव अभूओवघाइयं अभिकंख भासं भासिज्ञा ।।

**ष्टृ.** सभिक्षुरेवंभूतं शब्दं जानीयात्, तद्यथा-भाषाद्रव्यवर्गणानां वाग्योगनिस्सरणात् 'पूर्वं' प्रागभाषा 'भाष्यमाणैव' वामयोगेन निसृज्यमानैव भाषा भाषाद्रव्याणि भाषा भवति, तदनेन ताल्वोष्ठादिव्यापारेण प्रागसतः शब्दस्य निष्पादनात्स्फटमेव कृतकत्वमावेदितं, मृत्पिण्डे दण्डचक्रादिनेव घटस्येति, सा वोच्चरितप्रध्वंसित्वाच्छब्दानां भाषणोत्तरकालमप्य भाषेव, यथा कपालावस्थायां घटोऽघट इति, तदनेन प्रागभावप्रध्वंसाभावौ शब्दस्यावेदिताविति । इदानीं चतसृणां भाषाणामभाषणीयामाह—

स भिक्षुर्यां पुनरेवं जानीयात्, तद्यधा-सत्यां १ मृषां २ सत्यामृषाम् ३ असत्यामृषां ४, तत्र मृषा सत्यामृषा च साधूनां तावन्न वाच्या, सत्याऽपि या कर्कशादिगुणोपेता सा न वाच्या, तां च दर्शयति-सहावधेन वर्त्तत इति सावद्या तां सत्यामपि न भाषेत, तथा सह क्रियया-अनर्थदण्डप्रवृत्तिलक्षणया वर्त्तद्वति सक्रिया तामिति तथा 'कर्कशां' चर्विताक्षरां तथा 'कटुक्रं' चित्तो द्वेगकारिणीं तथा 'निष्ठुरां' हक्षाप्रधानां 'परुषां' मर्भोद्घाटनपराम् 'अण्हयकरि'न्ति कर्माश्रवकरीम्, एवं छेदनमेदनकरीं यावदपद्रावणकरीमित्येवमादिकां 'भूतोपघातिनीं' प्राण्युपतापकारिणीम् 'अभिकाङ्कय' मनसा पर्यालोच्य सत्यापि न भाषेतेति । भाषणीयां त्वाह-सभिक्षुर्यापुनरेवं जानीयात्, तद्यधा-या च भाषा सत्या 'सूक्ष्मे'तिकुशाग्रीयया बुद्धया पर्यालोच्यमाना मृषाऽपि सत्या भवति यथा सत्यपि मृगदर्शने लुब्धकादेरपलाप इति, उक्तश्च ।

Il 9 Il ''अलिअं न भासिअव्वं अत्थि हु सञ्चंपि जं न वत्तव्वं l सञ्चंपि होइ अलिअं जं परपीडाकरं वयणं

या चासत्यामृषा-आमन्त्रण्याज्ञापनादिका तां तथाप्रकारां भाषामसावद्यामक्रियां यावदभूतोपधातिनीं मनसापूर्वम्, 'अभिकाङ्क्षय' पर्यालोच्यसर्वदासाधुर्भाषां भाषेतेति॥ किञ्च–

मू. (४६८) से भिक्खू वा पुमं आमंतेमाणे आमंतिए वा अपडिसुणेमाणे नो एवं वइज्रा-होलिति वा गोलित्ति वा वसुलेत्ति वा कुपक्वेत्ति वा घडदासित्ति वा साणेत्ति वा तेणित्ति वा चारिएत्ति वा माईत्ति वा मुसावाइत्ति वा, एयाइं तुमं ते जणगा वा, एअप्पगारं भासं सावज्रं सकिरियं जाव भूओवधाइयं अभिकं खनो भासिज्ञा।।

से भिक्खु वा० पुमं आमंतेमाणे आमंतिए वा अप्पडिसुणेमाणे एवं वइज्रा-अमुगे इ वा आउसोत्ति वा आउसंतारोत्ति वा-सावगेत्ति वा उवासगेत्ति वा धम्मिएत्ति वा धम्मपिएत्ति वा, एयप्पगारं मासं असावज्ञं जाव अभिकंख भासिज्ञा।

से भिक्खु वा २ इस्थिं आमंतेमाणे आमंतिए **य अप्य**डिसुणेमाणे नो एवं वइज्रा-होली इ वा गोलीति वा इत्थीगमेणं नेयव्वं।

से भिक्खू वा २ इत्यिं आमंतेमाणे आमंतिए य अप्पडिसुणेमाणी एवं वइज्रा-आउसोत्ति वा भइणित्ति वा भोईति वा भगवईति वा साविगेति वा उवासिएत्ति वा धम्मिएत्ति वा धम्मपिएत्ति वा, एयप्पगारं भासं असावज्ञं जाव अभिकंख भासिज्रा ।।

**वृ.** स भिक्षु पुमांसमामन्त्रयन्नामन्त्रितं वाऽश्र**्णवन्तं नैवं भाषेत, तद्यथा-होल इति वा** गोल इति वा, एतौ च देशान्तरेऽवज्ञासंसूचकौ, तथा 'वसुले'त्ति वृषलः 'कुपक्षः' कुत्सितान्वयः घटदास इति वा श्वेति वा स्तेन इति वा चारिक इति वा मायीति वा मृषावादीति वा, इत्येतानि-अनन्तरोक्तानि त्वमसि तव जनकौ वा-मातापितरावेतानीति, एवंप्रकारां भाषां यावन्न भाषेतेति एतद्विपर्ययेणच भाषितव्यमाह-स भिक्षु पुमांसमामन्त्रयन्नामन्त्रितं वाऽश्र्ण्वन्तमेवं ब्रूयाद्

रताखपपपपप व नागतन्मनाहन्ता नतु पुमात्तमानन्त्रपत्नामान्त्रत व!ऽॠण्वन्तमव ब्रूयाद् यथाऽमुक इति वा आयुष्मन्तित्ति वा आयुष्मन्त इति वा तथा श्रावक धर्मप्रिय इति, एवमादिकां भाषां भाषेतेति ॥ एवं स्त्रियमधिकृत्य सूत्रद्वयमपि प्रतिषेधविधिभ्यां नेयमिति ॥ पुनरप्य-भाषणीयामाह–

मू. (४६९) से भि० नो एवं वइज्रा-नभोदेवित्ति वा गज्जदेवित्ति वा विज्जुदेवित्ति वा पवुह्रदे. निवुह्रदेवित्तए वा पडउ वा वासं मा वा पडउ निष्फज्ञउ वा सस्सं मा वा नि० विभाउ वा रयणी मा वा विभाउ उद्देउ वा सूरिए मा वा उदेउ सो वा राया जयउ वा मा जयउ, नो एयप्पगारं भासं भासिज्ञा।।

पन्नवं से भिक्खू वा २ अंतलिक्खेत्ति वा गुज्झाणुचरिएत्ति वा संमुच्छिए वा निवइए वा पओ वइज्रा वुट्टबलाहगेत्ति वा; एपं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं जं सब्बट्टेहिं समिए सहिए सया जइज्रासि त्तिबेमि ।

मृ स भिक्षुरेवंभूतामसंयतभाषां न वदेत्, तद्यथा-नभोदेव इति वा गर्जति देव इति वा तथा विद्युद्देवः प्रवृष्टो देवः निवृष्टो देवंः, एं पततु वर्षा मा वा, निष्पद्यतां शस्यं भेति वा, विभातु रजनी मेति वा, उदेतु सूर्यो मा वा, जयत्वसौ राजा मा वेति, एवंप्रकारां देवादिकां भाषां न भाषेत ोकारणजातेतु प्रज्ञावान् संयतभाषयाऽन्तरिक्षमित्यादिकया भाषेत, एतत्तस्य भिक्षोः साम्रज्यमिति चूडा-9 अध्ययनं-४ उद्देशकः-9 समाप्तः

-: चूडा-१ अध्ययनं-४ उद्देशकः-२ :--

**वृ.** उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्दशके वाच्यावाच्यविशेषोऽभिहितः, तदिहापि स एव शेषभूतोऽभिधीयते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रमू--

मू. (४७०) से भिक्खू वा जहा वेगईयाइं रूवाइं पासिआ तहावि ताइं नो एवं वइआ़, तंजहा-गंडी गंडीति वा कुट्ठी कुट्ठीति वाजाव महुमेहुणीति चा हत्थच्छित्रं हत्यच्छित्रैति वा एवं पायछित्रेत्ति वा नक्षछिण्णेइ वा कण्णछिन्नेइ वा उड्ठछित्रेति वा, जेयावन्ने तहप्पगारा एयप्पगाराहिं भासाहिं बुइया २ कुप्पंति माणवा ते यावि तहप्पगाराहिं भासाहिं अभिकंख नो भासिजा।।

से भिक्खू वा० जहा वेगइयाइं रूवाइं पासिञ्जा तहावि ताइं एवं वइज्रा-तंजहा-ओयंसी ओयंसित्ति वा तेयंसी तेयंसीति वा जसंसी जसंसीइ वा वश्चंसी वश्चसीइ वा अभिरूयंसी २ पडिरूवंसी २ पासाइयं २ दरिसणिज्ञं दरिसणीयत्ति वा, जे यावन्ने तहप्पगारा तहप्पगाराहिंभासाइ बुइया २ नो कुप्पंति माणवा तेयावि तहप्पगारा एयप्पगाराहिं भासाहिं अभिकंख भासिञ्जा।

से भिक्खू वा० जहा वेगइयां खवाई पासिज़ा, तंजहा-वप्पाणि वा जाव गिहाणि वा, तहावि ताई नो एवं वइज़ा, तंजहा-सुक्कडे इ वा सुट्टुकडे इ वा साहुकडे इ वा कल्लाणे इ वा करणिजे इ वा, एयप्पगारं भासं सावजं जाव नो भासिज़ा।

से भिक्खू वा० जहा वेगईयाइं खवाइं पासिआ, तंजहा-वप्पाणि वा जाव गिहाणि वा तहावि ताइं एवं वइआ, तंजहा-आरंभकडे इ वा सावज्ञकडे इ वा पयत्तकडे इ वा पासाइयं पासाइए वा दरिसणीयंदरसणीयंति वा अभिरूवं अभिरूवंति वा पडिरूवं पडिरूवंति वा एयप्पगारं भासं असावज्ञं जाव भासिआ ।।

वृ. सभिक्षुर्यद्यपि 'एगइयाइ'न्ति कानिचिद्रूपाणि गण्डीपदकुष्ठयादीनि पश्येत् तथाप्येतानि

स्वनामग्राहं तद्विशेषणविशिष्टानि नोच्चारयेक्ति, तद्यथेत्युहरणोपप्रदर्शनार्थ 'गण्डी' गण्डमस्या-स्तीति गण्डी यदिवोच्छूनगुल्फपादः स गण्डीत्येवंन व्याहर्त्तव्यः तथा कुष्ठयपिन कुष्ठीति व्याहर्त्तव्यः, एवमपरव्याधिविशिष्टो न व्याहर्त्तव्यो यावन्मधुमेहीति मधुवर्ममूत्रानवरतप्रश्रावीति ।

अत्र च धूताध्ययने व्याधिविशेषाः प्रतिपादितास्तदपेक्षया सूत्रे यावदित्युक्तम्, एवं छिन्नहस्तपादनासिकाकर्णोष्ठादयः, तथाऽन्ये च तथाप्रकाराः काणकुण्टादयः, तद्विशेषण-विशिष्टाभिर्वाग्मिरुक्ता उक्ताः कुप्यन्ति मानवास्तांस्तथाप्रकारांस्तथाप्रकाराभिर्वाग्मिरभिकाङ्कय नो भाषेतेति ।

यथा च भाषेत तथाऽऽह-स भिक्षुर्यद्यपि गण्डीपदादिव्याधिग्रस्तं पश्येत्तथाऽपि तस्य यः कश्चिद्विशिष्टो गुण ओजस्तेज इत्यादिकस्तमुद्दिश्य सति कारणे वदेदिति, केशववत्कृष्ण-श्वशुल्लक्लन्त – गुणोद्घाटनवद्रुणग्राही भवेदित्यर्थ।

तथा स भिक्षुर्यद्यप्येतानि रूपाणि पश्येत्तद्यथा-'वप्राः' प्राकारा यावद्गृहाणि, तथाऽप्येतानि नैवं वदेत्, तद्यथा-सुकृतमेतत् सुष्ठु कृतमेतत् साधु-शोभनं कल्याणमेतत्, कर्त्तव्यमेवैतदेवंविधं भवद्विधानामिति, एवंप्रकारामन्यामपि भाषामधिकरणानुमोदनात् नो भाषेतेति ।

पुनर्भाषणीयामाह स भिक्षुर्वप्रादिकं दृष्ट्वा ऽपि तुदुद्देशेन न किश्चिद् ब्रूयात्, प्रयोजने सत्येवं संयतभाषया ब्रूयात्, तद्यथा-महारम्भकृतमेतत् सावद्यकृतमेतत् तथ प्रयत्नकृतमेतत्, एवं प्रसादनीयदर्शनादिकां भाषामसावद्यां भाषेतेति।।

मू. (४७१) से भिक्खू वा २ असणं वा० उवक्खडियं तहाविहं नो एवं वइज्रा, तं० सुकडेत्ति वा सुद्रुकडे इ वा साहुकडे इ वा कल्लाणे इ वा करणिज्ञे इ वा, एयप्पगारं भासं सावज्ञं जाव नो भासिज्ञा।

से भिक्खू वा २ असणं वा ४ उवक्खडियं पेहाय एवं वइज्रा, तं० आरंभकडेत्ति वा सावज्ञ- कडेत्ति वा पयत्तकडे इवा भद्दयं भद्देति वा ऊसढं ऊसढे इवा रसियं २ मणुन्नं २ एयप्पगारं भासं असावज्रं जाव भासिजा।।

ष्ट्र. एवमशनादिगतप्रतिषेधसूत्रद्वयमपि नेयमिति, नवरम् 'ऊसढ'न्ति उच्छितं वर्णगन्धाद्युपेतमिति ॥ पुनरभाषणीयामाहकिञ्च--

मू. (४७२) से भिक्खू वा भिक्खुणी वा मणुस्सं वा गोणं वा महिसं वा मिगं वा पसुं वा पकिंख वा सरीसिवं वा जलचरं वा से त्तं परिवूढकायं पेहाए नो एवं वइज्रा-थूले इ वा पमेइले इ वा वट्टे इ वा वज्झे इ वा पाइमे इ वा, एयप्पगारं भासं सावज्रं जाव नो भासिज्ञा।

से भिक्खू वा भिक्खुणी वा मणुस्सं वा जाव जलयरं वा सेत्तं परिवूढकायं पेहाए एवं वइज्रा-परिवूढकाएत्ति वा उवचियकाएत्ति वा थिरसंघयणेत्ति वा चियमंससोणिएत्ति वा बहुपडिपुन्नइंदिइएत्ति वा, एयप्पगारं भासं असावज्रं जाव भासिज्ञा।

से मिक्खू वा २ विरूवरूवाओ गाओ पेहाए नो एवं वइज्रा, तंजहा-गाओ दुज्झाओत्ति वा दम्मेति वा गोरहत्ति वा वाहिमत्ति वा रहजोग्गत्ति वा, एयप्पगारं भासं सावज्ञं जाव नो भासिज्ञा

से भिविरूवरूवाओ गाओ पेहाए एवं वइज्ञा, तंजहा-जुवंगवित्ति वा धेणुत्ति वा रसवइत्ति या हस्से इ वा महल्ले इ वा महव्वए इ वा संवहणित्ति वा, एअप्पगारं भासं असावज्ञं जाव अभिकंख भासिजा।। से भिक्खू वा० तहेव गंतुमुज़ाणाइं पव्वयाइं वणाणि वा रुक्खा महन्ने पेहाए नो एवं वइज्रा, तं०--पासायजोग्गाति वा तोरणजोग्गाइ वा गिहजोग्गाइ वा फलिहजो० अग्गलजो० नावाजो० उदग० दोणजो० पीढचंगबेरनंगलकुुलियजंतलद्वीनाभिगंडीआसणजो० सयणजाणउवस्सयजोगाइं वा, एयप्पगारं० नो भासिञ्जा।

से भिक्खू वा० तहेव गंतु० एवं वइज्रा,तंजहा-जाइमंता इ वा दीहवट्ठा इ वा महालया इ वा पयायसाला इ वा विडिमसाला इ वा पासाइया इ वा जाव पडिरूवाति वा एयप्पगारं भासं असावज्रं जाव भासिज्ञा।

से भि० बहुसंभूया वणफला पेहाए तहावि ते नो एवं वइज्रा,तंजहा-पक्का इ वा पायखज्जा इ वा वेलोइया इ या टाला इ वा वेहिया इ वा, एयप्पगारं भासं सावजं जाव नो भासिज्जा।

से भिक्खू० बहुसंभूया वणफला अंबा पेहाए एवं वइज़ा, तं०–असंथडा इ वा बहुनिवट्टिमफला इ वा बहुसंभूया इ वा भूयरुचित्ति वा, एयप्पगारं भा० असा०।

से० बहुसंभूया ओसही पेहाए तहावि ताओ न एवं वइञ्जा, तंजहा-पक्का इ वा नीलीया इ वा छवीइया इ वा लाइमा इ-वा भज़िमा इ-वा बहुखज़ा इ वा, एयप्पगा० नो भासिज़ा ।।

से० बहु० पेहाए तहावि एवं वइज़ा, तं०--रूढा इ वा बहुसंभूया इ वा थिरा इ वा ऊसढा इ वा गब्धिया इ वा पसूया इ-वा ससारा इ वा, पयप्पगारं भासं असावज्ञं जाव भासि-11

**वृ.** स भिक्षुर्गवादिकं 'परिवृद्धकायं' पुष्टकायं प्रेक्ष्य मैतद्गदेत्, तद्यथा-स्थूलोऽयं प्रमेदुरोऽयं तथा वृत्तस्तथा वध्यो वहनयोग्यो वा, एवं पचनयोग्यो देवतादेः पातनयोग्यो वेति, एवमादिकामन्यामप्येवंप्रकारं सावद्यां भाषां नो भाषेतेति ।। भाषणविधिमाह-

सभिक्षुर्गवादिकंपरिवृद्धकायंप्रेक्ष्यैवंचदेत्, तद्यथा-परिवृद्धकायोऽयमित्यादि सुगममिति तथा-स भिक्षु 'विरूपरूपाः' नानाप्रकारा गाः समीक्ष्य नैतद्वदेत्, तद्यथा-दोहनयोग्या एता गावो दोहनकालो वा वर्त्तते तथा 'दम्पः' दमनयोग्योऽयं 'गोरहकः' कल्होटकः, एवं वाहनयोग्यो रयोग्यो वेति, एवंप्रकरां सावद्यां भाषां नो भाषेतेति ।। सति कारणे भाषणविधिमाह ।

स भिक्षुर्नानाप्रकारा गाः प्रेक्ष्य प्रयोजने सत्येवं ब्रूयात्, तद्यथा-'जुवंगवे'त्ति युवाऽयं गौः धेनुरिति वा रसवतीति वा, (इस्वः महान् महाव्ययो वा) एवं संवहन इति, एवंप्रकारामसावद्यां भाषां भाषेतेति ॥ किञ्च-स भिक्षुरुद्यानादिकं गत्वा भहतो वृक्षान् प्रेक्ष्य नैवं वदेत्, तद्यथा-प्रासाददियोग्या अमी वृक्षा इति, एवमादिकां सावद्यां भाषां नो भाषेतेति ॥ यत्तु वदेत्तदाह--

स भिक्षुस्तथैवोद्यानादिकं गत्वैवं वदेत्, तद्यथा-'जातिमन्तः' सुजातय इति, एवमादिकां भाषामसावद्यां संयत एव भाषेतेति ।। किञ्च-

स भिक्षुर्बहुसंभूतानि वृक्षफलानि प्रेक्ष्य नैवं वदेत्, तद्यथा-एतानि फलानि 'पक्वानि' पाकप्राप्तानि, तथा 'पाकखाद्यानि' बद्धास्थीनि गर्त्ताप्रक्षेपकोद्रवपलालादिना विपच्य भक्षणयोग्यानीति, तथा 'वेलोचितानि' पाकातिशयतो ग्रहणकालोचितानि, अतः परं कालं न विषहन्तीत्यर्थ, 'टालानि' अनवबद्धास्थीनि कोमलास्थीनीति यदुक्तं भवति, तथा 'द्वैधिकानि' इति पेशीसम्पादनेन द्वैधीभावकरणयोग्यानि वेति, एवमादिकां भाषां फलगतां सावद्यां नो भाषेत ॥ यदभिधानीयं तदाह –



स भिक्षुर्बहुसम्भूतफलानाम्रान् प्रेक्ष्यैवं वदेत्, तद्यथा-'असमर्था' अतिभारेण न शुक्नुवन्ति फलानि धारयितुमित्यर्थ, एतेन पक्वार्थ उक्तः, तथा 'बहुनिर्वर्त्तितफलाः' बहूनि निर्वर्त्तितानि फलानि येषु ते तथा, एतेन पाकखाद्यार्थ उक्तः, तथा 'बहुसम्भूताः' बहूनि संभूतानि पाकातिशयतो ग्रहण कालोचितानी फलानि येषु ते तथा, अनेन वेलोचितार्थ उक्तः, तथा 'भूतरूपाः' इति वा भूतानि रूपाण्यनववद्धास्थीनि कोमलफलरूपाणि येषु ते तथा, अनेन टालाद्यर्थ उपलक्षितः, एवंभूता एते आम्राः, आम्रग्रहणं प्रधानोपलक्षणम्, एवं भूतामनवद्यां भाषां भाषेतेति ।। किञ्च-

स भिक्षुर्बहुसम्भूता ओषधीर्वीक्ष्य तथाऽप्येता नैतद्वदेत्, तद्यथा-पक्वा नीला आर्द्रा छविमत्यः 'लाइमाः' लाजायोग्या रोपणयोग्या वा, तथा 'भञ्जिमाओ'त्ति पचनयोग्या भञ्जनयोग्या वा 'बहुखज्ञा' बहुभक्ष्याः पृथुक्करणयोग्या वेति, एवंप्रकारां सावद्यां भाषां नो भाषेत ।। यथा च भाषेत तदाह-- स भिक्षुर्बहुसंभूता ओषधीः प्रेक्ष्यैतद् ब्रूयात्, तद्यथा-रूढा इत्यादिकामसावद्यां भाषा भाषेत ॥ किञ्च--

मू. (४७३) से भिक्खू वा० तहप्पगाराई सद्दाई सुणिज्ञा तहावि एयाई नो एवं वइज्रा, तंजहा-सुसद्देत्ति वा दुसद्देत्ति वा, एयप्पगारं भासं सावञ्जं नो भासिज्ञा।

से भि० तहावि ताइं एवं वइज्रा, तंजहा-सुसद्दं सुसद्दित्ति वा दुसद्दं दुसद्दित्ति वा, एयप्पगारं असावज्रं जाव भासिज्ञा, एवं रूवाइं किण्हेत्ति वा ५ गंधाइं सुरभगंधित्ति वा २ रसाइं तित्ताणि वा ५ फासाइं कक्खडाणि वा ८ ॥

**वृ.** सभिक्षुर्यद्यप्येतान् शब्दान् श्रृ णुयात् तथाऽपि नैवं वदेत्, तद्यथा-शोभनः शब्दोऽशोभनो वा माङ्गलिकोऽमाङ्गलिको वा, इत्ययं न व्याहर्त्तव्यः ॥

विपरीतं त्वाह-यथाऽवस्थितशब्दप्रज्ञापनाविषये एतद्वदेत्, तद्यथा-'सुसद्दं'ति शोभनशब्दं शोभनमेव ब्रूयाद्, अशोभनं त्वशोभनमिति ॥ एवं रूपादिसूत्रमिप नेयम् ॥ किञ्च--

मू. (४७४) से भिक्खू वा० वंता कोहं च माणं च मायं च लोभं च अणुवीइ निट्ठाभासी निसम्मभासी अतुरियभासी विवेगभासी समियाए संजए भासं भासिज्ञा ५ ॥ एवं खलु. सया जइ त्तिबेमि ॥

**वृ.** सभिक्षुक्रोधादिकं वान्त्वैवंभूतो भवेत्, तद्यथा-अनुविचिन्त्य निष्ठाभाषी निशम्यभाषी अत्वरितभाषी विवेकभाषी भाषासमित्युपेतो भाषां भाषेत एतत्तस्य भिक्षोः साम्प्र्यम् ।। चूडा-१ अध्ययनं- ४ उद्देशकः -२ समाप्तः

# अध्ययनं-४ समासम्

मुनि दीपरत्नसागरेण संशोधिता सम्पादिता - शीलाङ्काचार्य विरचिता द्वितीय श्रुतस्कन्धस्य चतुर्थ अध्ययन टीका परिसमाप्त

# अध्ययनं-५ वस्त्रैषणा।)

**वृ.** चतुर्थाध्ययनानन्तरं पञ्चमभारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तराध्ययने भाषासमिति प्रतिपादिता, तदनन्तरमेषणासमितिर्भवतीति सा वस्त्रगता प्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि उपक्रमादीनि भवन्ति, तत्रोपक्रमान्त- र्गतोऽघ्ययनार्थाधिकारो वस्त्रैषणा प्रतिपाद्येति, उद्देशार्थाधिकारदर्शनार्थं तु निर्युक्तिकार आह-

नि. [३१८] पढमे गहणं बीए घरणं पगयं तु दव्ववत्थेणं ! एमेव होइ पायं मावे पायं तु गुणधारी ।।

**वृ.** प्रथमे उद्देशके वस्त्रग्रहणविधि प्रतिपादितः, द्वितीये तु धरणविधिरिति ॥ नामनिष्पन्नै तुनिक्षेपे वस्त्रैषणेति, तत्र वस्त्रस्य नामादिश्चतुर्विधो निक्षेपः, तत्रापि नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यवस्त्रं त्रिधा, तद्यया-एकेन्द्रियनिष्पन्नं कार्पासिकादि, विकलेन्द्रियनिष्पन्नं चीनांशुकादि, पञ्चेन्द्रियनिष्पन्नं कम्बलरत्नादि, भाववस्त्रं त्वष्टादशशीलाङ्गसहस्प्राणीति, इह तु द्रव्यवस्त्रेणाधिकारः, तदाहनिर्युक्तिकारः –

'पगयं तु दव्यवत्थेणं'ति । वस्त्रस्येव पात्रस्यापि निक्षेप इति मन्यमानोऽत्रैव पात्रस्यापि निक्षेपातिनिर्देशंनिर्युक्तिकारो गायापश्चार्द्धेनाह-'एवमेव' इति वस्त्रवत्पात्रस्यापि चतुर्विधोनिक्षेपः, तत्र द्रव्यपात्रमेकेन्द्रियादिनिष्पन्नं, मावपात्रं साधुरेव गुणधारीति ।। साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलि-तादिगुणोपेतं सूत्रमुद्धारणीयं, तश्चेदम्–

-ः चूडा-१ अध्ययनं-५ उद्देशकः-१ :-

मू. (४७५) से भि० अभिकंखिआ वत्यं एसित्तए, से जं पुण वत्यं जाणिज़ा, तंजहा-जंगियं वा भंगियं वा साणियं वा पोत्तगं वा खोमिर्य वा तूलकडं वा, तहप्पगारं वत्यं वा जे निग्गंथे तरुणे जुगवं बलवं अप्पयंके थिरसंघयणे से एगं वत्त्यं धारिज़ा नो बीयं, जा निग्गंथी सा चत्तारिसंघाडीओधारिज़ा, एगंदुइत्यवित्यारंदोतिहत्यवित्याराओएगं चउहत्यवित्यारं, तहप्पगारेहिं वत्येहिं असंधिज्ञमाणेहिं, अह पच्छा एगमेगं संसिविज्ञा ।।

**वृ.** स भिक्षुरभिकाङ्घेद्वस्त्रमन्वेष्टु तत्र यसुनरेवंभूतं वस्त्रं जानीयात्, तद्यथा—जंगियं'ति जङ्गमोष्ट्राद्यूर्णानिष्पन्नं, तथा 'भंगिय'ति नानाःभङ्गिकविकलेन्द्रियलालानिष्पन्नं, तथा 'साणयं'ति सणवल्कलनिष्पन्नं 'पोत्तगं'ति ताड्यादिपत्रसङ्गतनिष्पन्नं 'खोमियं'ति कार्पासिकं 'तूलकडं'ति अर्क्वदितूलनिष्पन्नम्, एवं तथाप्रकारमन्यदपि वस्त्रं धारयेदित्युत्तरेण सम्बन्धः । येन साधुना यावन्ति धारणीयानि तदर्शयति-तत्र यस्तरुणो निर्ग्रन्थः-साधुयौवने वर्त्तते 'बलवान्' समर्थ 'अल्पातङ्कः' अरोगी 'स्थिरसंहननः' ध्ढकायो ध्ढयृतिश्च, स एवंभूतः साधुरेकं 'वस्त्रं' प्रावरणं त्वकत्राणार्थं धारयेत् नो द्वितीयमिति, यदपरमाचार्यादिकृतेबिमर्तितस्य स्वयं परिभोगं न कुरुते, यः पुनर्बालो दुर्बलो वृद्धो वा यावदल्पसंहननः स यथासमाधि द्वयादिकमपि धारयेदिति, जिनकल्पिकस्तु यथाप्रतिज्ञमेव धारयेत् न तत्रापवादोऽस्ति ।

या पुनर्निर्ग्रन्थी सा चतस्र संघाटिका कारयेत्, तद्यया-एकां द्विहस्तपरिमाणां यां प्रतिश्रये तिष्ठन्ती प्रावृणोति, द्वे त्रिहस्तपरिमाणे, तत्रैकामुज्वलां भिक्षाकाले प्रावृणोति, अपरां वहिर्भूमिगमनावसर इति, तथाऽपरां चतुईस्तविस्तरां समवसरणादौ सर्वशरीरप्रच्छादिकां प्रावृणोति, तस्याश्च यथाकृताया अलामे अथ पश्चादेकमेकेन सार्द्ध सीव्येदिति ।। किञ्च-

मू. (४७६) से भि० परं अद्धजोयणमेराए वत्यपडिया० नो अभिसंधारिज गमणाए ।। व. स भिक्षर्वस्त्रार्थमर्द्धयोजनात्परतो गमनाय मनो न विदध्यादिति ।। मू. (४७७) से भि० से जं० अस्तिपडियाए एगं साहम्पियं समुद्दिस्स पाणाइं जहा पिंडेसणाए भाणियव्वं ।। एवं बहवे साहम्पिया एगं साहम्पिर्णि बहवे साहम्पिणीओ बहवे समणमाहण. तहेव पुरिसंतरकडा जहा पिंडेसणाए।।

**वृ.** सूत्रद्वयमाधाकर्मिकोद्देशेन पिण्डैषणावन्नेयमिति ।। साम्प्रतमुत्तरगुणानधिकृत्याह-

मू. (४७८) से भि० से जं० असंजए भिक्खुपडियाए कीयं वा धोयं वा रत्तं वा घट्ठं वा मट्ठं वा संपधूमियं वा तहप्पगारं वत्यं अपुरिसंतरकडं जाव नो०, अह पु० पुरिसं० जाव पडिगाहिज्ञा

**वृ.** 'साधुप्रतिज्ञया' साधुमुद्दिश्य गृहस्थेन क्रीतधौतादिकं वस्त्रमपुरुषान्तरकृतं न प्रतिगृत्लीयात्, पुरुषान्तरस्वीकृतं तु गृत्लीयादिति पिण्डार्थ।।अपि च—

मू. (४७९) से भिक्खू वा २ से जाइं पुण वत्याइं जाणिज्ञा विरूवस्वाइं महद्धणमुल्लाइं, तं०–आइणगाणि वा सहिणाणि वा सहिणकल्लाणाणि वा आयाणि वा कायाणि वा खोमियाणि वा दुगुल्लाणि वा पट्टाणि वा मलयाणि वा पत्रुत्राणि वा अंसुयाणि वा चीणंसुयाणि वा देसरागाणि वा अभिलाणि वा गज्रफलाणि वा फालियाणी वा कोयवाणि वा ढंबलगाणि वा पावराणि वा, अन्नयराणि वा तह० वत्थाइं महद्धणमुल्लाइं लाभे संते नो पडिगाहिज्ञा।

से भि० आइण्णपाउरणाणि वत्थाणि जाणिज्ञा, तं०-उद्दाणि वा पेसाणि वा पेसलाणि वा किण्हमिगाईणगाणि वा नीलमिगाईणगाणि वा गोरमि० कणगाणि वा कणगकंताणि वा कणगण्डाणि वा कणगखइयाणि वा कणगफुसियाणि वा वन्धाणि वा विवन्धाणि वा आभरणाणि वा आभरणविचित्ताणि वा, अन्नयराणि तह० आईणपाउरणाणि वत्थाणि लाभे संते नो० ॥

**वृ.** स भिक्षुर्यानि पुनर्महाधनमूल्यानि जानीयात्, तद्यथा-'आजिनानि' मूषकादिच-मंनिष्पन्नानि श्लक्ष्णानि-सूक्ष्माणि च तानि वर्णच्छव्यादिभिश्च कल्याणानि-शोभनानि वा सूक्ष्मकल्याणानि, 'आयाणि'ति क्वचिद्देशविशेषेऽजाः सूक्ष्मरोमवत्यो मवन्ति तत्पक्ष्मनिष्पन्नानि आजकानि भवन्ति, तथा क्वचिद्देशे इन्द्रनीलवर्ण कर्पासो मवति तेन निष्पन्नानि कायकानि, 'क्षौमिकं' सामान्यकार्पासिकं 'दुकूलं' गौडविषयविशिष्टकार्पासिकं पट्टसूत्रनिष्पन्नानि पट्टानि 'मलयानि' मलयजसूत्रोत्पन्नानि 'पन्नुन्नं'ति वल्कलतन्तुनिष्पन्नम् अंशुकचीनांशुकादीनिनानादेशेषु प्रसिद्धाभिधानानि, तानि च महार्धमूल्यानीतिकृत्वा ऐहिकामुष्मिकापायभयाल्लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति।

स भिक्षुर्यानि पुनरेवंभूतानि अजिननिष्पन्नानि 'प्रावरणीयानि' वस्त्राणि जानीयात्, तद्यथा-'उद्दाणि व'त्ति उद्राः-सिन्धुविषये मत्स्यास्तत्सूक्ष्मचर्मनिष्पन्नानि उद्राणि 'पेसाणि'त्ति सिन्धुविषय एव सूक्ष्मचर्माणः पशवस्तद्यर्मनिष्पन्नानीति 'पेसलाणि'त्ति तद्यर्मसूक्ष्मपक्ष्मनिष्पन्नानि कृष्णनीलकौरमृगाजिनानि-प्रतीतानि 'कनकानि च' इति कनकरसच्छुरितानि, तथा कनकस्येव कान्तिर्येषां तानि कनककान्तीनि तथा कृतनकरसपट्टानि कनकपट्टानि एवं 'कनकखचितानि' कनकरसस्तबकाञ्चितानि कनकस्पृष्टानि तथाव्याघ्रचर्माणि एवं 'वग्धाणि'त्ति व्याघ्रचर्मविचित्रितानि 'आभरणानि' आभरणप्रधानानि 'आभरणविचित्राणि' गिरिविडकादिविभूषितानि अन्यानि वा तथाप्रकाराण्यजिनप्रावरणानि लाभे सति न प्रतिगृद्धीयादिति ॥ साम्प्रतं वस्त्रग्रहणाभिग्रहविशेषमधिकृत्याइ– मू. (४८०) इग्नेइयाइं आयतणाइं उवाइकम्प अह भिक्खू जाणिज्ञा चउहिं पडिमाहिं वत्यं एसित्तए, तत्य खलु इमा पढमा पडिमा, से भि० २ उद्देसिय वत्यं जाइज्ञा, तं०–जंगियं वा जाव तूलकडं वा, तह० वत्यं सयं वा न जाइज्रा, परो० फासुयं पडि०, पढमा पडिमा ।

अहावरा दुञ्चा पडिमा-सेभि० पेहाए वत्यं जाइजा गाँहावई वा० कम्पकरी वा से पुच्चामेव आलोइज्रा-आउसोत्ति वा २ दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं वत्थं ?, तहण्प० वत्थं सयं वा० परो० फासुयं एस० लाभे० पडि०, दुञ्चा पडिमा।

अहावरा तद्या पडिमा० से भिक्खू० से जं पूण० तं अंतरिज्जं वा उत्तरिज्जं वा तहप्पगारं वत्यं सयं० पडि० तच्चा पडिमा ।

अहावरा चउत्था पडिमा-से० उन्झियधम्पियं वत्थं जाइज्रा जं चऽन्ने बहवे समण० वणीमगा नावकंखंति तहप्प० उन्झिय० वत्थं सयं० परो ०फासुयं जाव प०, चउत्थापडिमा ।।

इग्नेयाणं चउण्हं पडिमाणं जहा पिंडेसणाए ।। सिया णं एताए एसणाए एसमाणं परो वइआ-आउसंतो समणा ! इज्जाहि तुमं मासेण वा दसराएण वा पंचराएण वा सुते सुततरे वा तो ते वयं अन्नयरं वत्थं दाहामो, एयप्पगारं निग्धोसं सुच्चा नि० से पुब्वामेव आलोइज्जा-आउसोत्ति वा ! २ नो खलु मे कप्पइ एयप्पगारं संगारं पंडिसुणित्तए, अभिकंखसि मे दाउं इयाणिमेव दलयाहि, से नेवं वयंतं परो वइज्जा-आउ० स० ! अणुपच्छाहि तो ते वयं अन्न० वत्थं दाहामो ।

से पुब्बामेव आलोइज्ञा-आउसोत्ति ! वा २ नो खलु मे कप्पइ संगारवयणे पडिसुणित्तए०, से सेवं वयंतं परो नेया वइज्ञा-आउसोत्ति वा भइणित्ति वा ! आहरेयं वत्थं समणस्स दाहामो, अवियाइं वयं पच्छावि अप्पणो सयद्वाए पाणाइं ४ समारंभ समुद्दिस्स जाव चेइस्समामो, एयप्पगारं .नेग्घोसं सुद्या निसम्म तहप्पगारं वत्थं अफासुअं जाव नो पडिगाहिज्रा ।। सिआ णं परो नेता वइज्रा-आउसोत्ति ! वा २ आहर एयं वत्थं सिणाणे वा ४ आर्धसित्ता वा प० समणस्स णं दाहामो, एयप्पगारं निघोसं सुद्या नि० से पुव्वामेव आउ० भ० ! मा एयं तुमं वत्थं सिणाणेण वा जाव पधंसाहि वा, अभि० एमेव दलयाहि, से सेवं वयंतस्स परो सिणाणेण वा पधंसित्ता दलइज्ञा, तहप्प० वत्थं अफा० नो प० ।

से णं परो नेता वइजा० भ० ! आहर एयं वत्थं सीओदगवियडेण वा २ उच्छोलेत्ता वा पहोलेत्ता वा समणस्स णं दाहामो०, एय० निग्धोसं तहेव नवरं मा एयं तुमं वत्थं सीओदग० उसि० उच्छोलेहि वा पहोलेहि वा, अभिकंखसि, सेसं तहेव जाव नो पडिगाहिज़ा ॥ से णं परो ने० आ० भ० ! आहरेयं वत्थं कंदाणि वा जाव हरियाणि वा विसोहित्ता समणस्स णं दाहामो, एय० निग्धोसं तहेव, नवरं माएयाणि तुमं कंदाणि वा जाव विसोहेहि, नो खलु मे कप्पइ एयप्पगारे वत्थे पडिग्गाहित्तए, से सेवं वयंतस्स परो जाव विसोहित्ता दलइज्रा, तहप्प० वत्थं अफासुअं नो प० ।

सिया से परो नेता वत्यं निसिरिज्ञा, से पुच्वा० आ० भ० ! तुमं चेव णं संतियं वत्यं अंतेअंतेणं पडिलेहिज्जिस्सामि, केवली बूया आ०, वत्थंतेण बद्धे सिया कुंडले वा गुणे वा हिरण्णे वा सुवण्णे वा मणी वा जाव रयणावली वा पाणे वा बीए वा हरिए वा, अह भिक्खू णं पु० जं पुव्यामेव वत्यं अंतो अंतेण पडिलेहिज्जा ।। 'वृ. इत्येतानि' पूर्वोक्तानि वक्ष्यमाणानि वाऽऽयतनान्यतिक्रम्याथ भिक्षश्चतसृभिः 'प्रतिमाभि' वक्ष्यमाणैरमिग्रहविशेषैर्वस्त्रमन्वेष्टुं जानीयात्, तद्यथा-'उद्दिष्टं' प्राक् सङ्कल्पितं वस्त्रं याचिष्ये, प्रथमा प्रतिमा 9, तथा 'प्रेक्षितं' ६ष्टं सद् वस्त्रं याचिष्ये नापरमिति द्वितीया २, तथा अन्तरपरिमोगेन उत्तरीयपरिमोगेन वा शय्यातरेण परिमुक्तप्रायं वस्त्रं ग्रहीष्यामीति तृतीया ३, तथा तदेवोत्सृष्टधार्मिकं वस्त्रं ग्रहीष्यामीति चतुर्थी प्रतिमेति ४ सूत्रचतुष्टयसमुदायार्थः । आसां चतसृणां प्रतिमानां शेषो विधि पिण्डैषणावन्नेय इति ।

किञ्च-'स्यात्' कदाचित् 'णम्' इति वाक्यालङ्कारे 'एतया' अनन्तरोक्तया वस्त्रैषणया वस्त्रमन्वेषयन्तं साधुं परो वदेद्, यथा-आयुष्मन् ! श्रमण ! त्वं मासादौ गते समागच्छ ततोऽहं वस्त्रादिकं दास्यामि, इत्येवं तस्य न श्रृ णुयात्, शेषं सुगमं यावदिदानीमेव ददस्वेति, एवं वदन्तं साधुं परो ब्रूयाद्, यथा-अनुगच्छ तावत्पुन् स्तोकवेलायां समागताय दास्यामि, इत्येतदपि न प्रतिश्रृ णुयाद्, वदेच्चेदानीमेव ददस्वेति, तदेवं पुनरपि वदन्तं साधुं 'परो' गृहस्यो नेताऽपरं भगिन्यादिकमाहूय वदेद् यथाऽऽनयैतद्, वदेच्चेदानीमेव ददस्वेति, तदेवं पुनरपि वदन्तं साधुं 'परो' गृहस्थो नेताऽपरं भगिन्यादिकमाहूय वदेद् यथाऽऽनयैतद्, वस्त्रं येन श्रमणाय दीयते, वयं पुनरात्मार्थ भूतोपमर्देनापरं करिष्याम इति, एतत्यकारं वस्त्रं पश्चात्कर्ममयाल्लाभे सति न प्रतिगृह्णीयादिति ॥

तथा-स्यात्पर एवं वदेद्, यथा-स्नानादिना सुगन्धिद्रव्येणाधर्षणादिकांक्रियां कृत्वा दास्यामि, तदेतन्निशग्य प्रतिषेघं विदध्यात्, अथ प्रतिषिद्धोऽप्येवं कुर्यात्, ततो न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ एक्मुदकादिना धावनादिसूत्रमपि ॥ स परो वदेद्याचितः सन् यथा कन्दादीनि वस्त्रादपनीय दास्यामीति, अत्रापि पूर्ववन्निषेघादिकश्चर्च इति ॥ किञ्च-स्यात्परो याचितः सन् कदाचिद्वस्त्रं 'निसृजेत्' दद्यात्, तं च ददमानमेवं ब्रूयाद्, यथा-त्वदीयमेवाहं वस्त्रमन्तोपान्तेन प्रत्युपेक्षिष्ये, 'निसृजेत्' दद्यात्, तं च ददमानमेवं ब्रूयाद्, यथा-त्वदीयमेवाहं वस्त्रमन्तोपान्तेन प्रत्युपेक्षिष्ये, नैवप्रत्युपेक्षितं गृह्णीयाद्, यतः केवली ब्रूयात्कर्मोपादानमेतत्, किमिति ?, यतस्तत्र किञ्चित्कुण्डलादिकमामरणजातं बद्धं भवेत्, सचित्तं वा किंचिद् भवेद्, अतः साधूनां पूर्वोपदिष्टमेतस्रतिज्ञादिकं यद्वस्त्रं प्रत्युपेक्ष्य गृह्णीयादिति ॥किञ्च–

मू. (४८९) से भि० से जं० सअंडं० ससंताणं तहण० वत्यं अफा० नो प० ।। से भि० से जं अप्पंडं जाव संताणगं अनलं अथिरं अधुवं अधारणिज्ञं रोइज्रंतं न रुश्वइ तह अफा० नो प०

से भि० से जं० अप्पंडें जाव संताणगं अलं थिरं घुवं घारणिज्ञं रोइज्ञंतं रुश्चइ, तह० वत्यं फासु० पडि० ।

से भि० नो नवए मे वत्येत्तिकड्ड नो बहुदेसिएण सिणाणेण वा जाव पर्यांसेज़ा ।। से भि० नो नवए मे वत्येत्तिकड्ड नो बहुदे० सीओदगवियडेण वा २ जाव पहोइज़ा ।। से भिक्खू वा २ दुब्भिगंधे मे वत्यित्तिकड्ड नो बहु० सिणाणेण तहेव बहुसीओ० उस्तिं० आलावओ ।।

**वृ.** सभिक्षुर्यसुनः साण्डादिकं वस्त्रं जानीयात् तन्न प्रतिगृह्णीयादिति ॥ सभिक्षुर्यसुनरेवंभूतं वस्त्रं जानीयात्, तद्यथा अल्पाण्डं यावदल्पसन्तानकं किन्तु 'अनलम्' अभीष्टकार्यासमर्थं हीनादित्वात्, तथा 'अस्थिरं' जीर्णम् 'अध्रुवं' स्वल्पकालानुज्ञापनात्, तथा 'अधारणीयम्' अप्रशस्तप्रदेशखञ्जनादिकलङ्काङ्कितत्वात्, तथा चोक्तम् । ''चत्तारि देविया भागा, दो य भागा य माणुसा । आसुरा य दुवे भागा, मज्झे वत्थस्स रक्खसो । विएसुत्तमो लाभो, माणुसेसु अ मज्झिमो । आसुरेसु अ गेलन्नं, मरणं जाण रक्खसे ।।

स्यापना चेयम् ॥ किञ्च-''लक्खणहीणो उवही उवहणई नाणदंसणचरित्तं इत्यादि, तदेवंभूतमप्रायोग्यं 'रोच्यमानं' प्रशस्यमानं दीयमानमपि वा दात्रा न रोचते, साधवे न कल्पत इत्यर्थ ॥ एतेषां चानलादीनां चतुर्णां पदानां षोडश भङ्गा भवन्ति, तत्राद्याः पञ्चदशाशुद्धाः, शुद्धस्त्वेकः षोडशस्तमधिकृत्य सूत्रमाह-सभिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं वस्त्रं चतुष्पदविशुद्धं जानीयात्तच लाभे सति गृह्णीयादिति पिण्डार्थः ॥

किञ्च-सभिक्षु 'नवम्' अभिनवं वस्त्रं भम नास्तीतिकृत्वा ततः 'बहुदेश्येन' ईषद्बहुना 'स्नानादिकेन' सुगन्धिद्रव्येणाधृष्य प्रघृष्य वा नो शोभनत्वमापादयेदिति ॥ तथा-स भिक्षु 'नवम्' अभिनवं वस्त्रं मम नास्तीतिकृत्वा ततस्तस्यैव 'नो' नैव शीतोदकेन बहुशो न धावनादि कुर्यादिति ॥ अपि च-स भिक्षुर्यद्यपि मलोपचितत्वादुर्गन्धि वस्त्रं स्यात् तथाऽपि तदपनयनार्थं सुगन्धिद्रव्योदकादिना नो धावनादि कुर्याद् गच्छनिर्गतः, तदन्तर्गतस्तु यतनया प्रासुकोदकादिना लोकोपघातसंसक्तिभयात् मलापनयनार्थं कुर्यादपीति ॥ धौतस्य प्रतापनविधिमधिकृत्याह-

मू. (४८२) से भिक्खू वा० अभिकॅखिज वत्थं आयावित्तए वा प०, तहप्पगारं वत्थं नो अनंतरहियाए जाव पुढवीए संताणए आयाविज वा प०।। से भि० अभि० वत्थं आ० प० त० वत्थं धूणंसि वा गिहेलुगंसि वा उसुयालंसि वा कामजलंसि वा अन्नयरे तहप्पगारे अंतलिक्खजाए दुब्बद्धे दुत्रिक्खित्ते अनिकंपे चलाचले नो आ० नो प०।

से भिक्खू वा० अभि० आयावित्तए वा तह० वत्थं कुकियंसि वा भित्तंसि वा सिलंसि वा लेलुंसि वा अन्नयरे वा तह० अंतलि० जाव नो आयाविज्ञ वा प० ।। से भि० वत्थं आया० प० तह० वत्थं खंधंसि वा मं० मा) पासा० ह० अन्नयरे वा) तह० अंतलि० नो आयाविज्ञ व० प० ।

से० तमायाए एगंतमवक्रमिज़ा २ अहे झामथंडिल्लंसि वा जाव अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि थंडिल्लंसि पडिले हिय २- पमज़िय २ तओ सं० वत्थं आयाविज्ञ वा पया०, एयं खलु० सया जइज़ासि त्तिबेमि ।।

**वृ.** स भिक्षुरव्यवहितायां भूमौ वस्त्रं नातायपेदिति ।। किश्च-स भिक्षुर्यद्यभिकाङ्क्ष्ये-द्वस्त्रमातापयितुंततः स्थूणादौ चलाचलेस्थूणादिवस्त्रपतनभयान्नातापयेत्, तत्र गिहेलुकः-उम्बरः 'उसूयालं' उदूखलं 'कामजलं' स्नानपीठमिति ।। स भिक्षुर्भित्तिशिलादौ पतनादिभयाद्वस्त्रं नातापयेदिति ।

सभिक्षु स्कन्धमञ्चकप्रासादादवन्तरिक्षजाते वस्त्रं पतनादिभयादेवनातापयेदिति ।। यथा चातापयेत्तथा चाह-स भिक्षुस्तद्वस्त्रमादाय स्थण्डिलादि प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा प्रमृज्य च रजोहरणादिना तत आतापनादिकं कुर्यादिति, एतत्तस्य भिक्षोः साम्प्र्यमिति ।।

चूडा-१ अध्ययनं-५ उद्देशकः-१ समाप्तः

#### --: अध्ययनं-५ उद्देशकः-२ :--

वृ. उक्तः प्रथमोद्देशकः, साम्प्रतं द्वितीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरोद्देशके वस्त्रग्रहणविधिरभिहितस्तदनन्दरंधरणविधिरभिधीयते, इत्यनेन सम्बन्धेना-यातस्यास्योद्देशकस्यादिसूत्रम्--

मू. (४८३) से भिक्खू वा० अहेसणिज्ञाइं वत्थाइं जाइजा अहापरिग्गहियाइं वत्थाइं धारिजा नो धोइज्ञा नो रएजा नो धोयरत्ताइं वत्थाइं धारिज्ञा अपलिउंचमाणो गामंतरेसु० ओमचेलिए, एयं खलु वत्थधारिस्स समाग्गियं।

से भि० गाहावइकुलं पविसिउकामे सव्वं चीवरमायाए गाहावइकुलं निक्खमिज वा पविसिज्ज वा, एवं बहिय विहारभूमिं वा वियारभूमिं वा गामाणुगामं वा दूइज्जिज्ञा, अह पु० तिव्वदेसियं वा वासं वासमाणं पेहाए जहा पिंडेसणाए नवरं सव्वं चीवरमायाए ।।

**वृ.** स भिक्षु 'चथैषणीयानि' अपरिकर्माणि वस्त्राणि याचेत् यथापरिगृहीतानि च धारयेत्, न तत्र किञ्चित्कुर्यादिति दर्शयति, तद्यथा-न तद्वस्त्रं गृहीतं सत् प्रक्षालयेत् नापि रअयेत् तथा नापि बाकुशिकतया धौतरक्तानि धारयेत्, तथाभूतानि न गृह्वीयादित्यर्थ, तथाभूताधौतार-क्तवस्त्रधारी च ग्रामान्तरे गच्छन् 'अपलिउंचमाणे'त्ति अगोपयन् सुखेनैव गच्छेद्, यतोऽसौ।

'अवमचेलिकः' असारवस्त्रधारी, इत्येतत्तस्य भिक्षोर्वस्त्रधारिणः 'साम्ग्रयं' सम्पूर्णो भिक्षुमावः यदेवंभूतवस्त्रधारणमिति, एतञ्च सूत्रं जिनकल्पिकोद्देशेन द्रष्टव्यं, वस्त्रधारित्वविशेषणाद् गच्छान्तर्गतेऽपि चाविरुद्धमिति ।। किञ्च-से इत्यादि पिण्डैषणावन्नेयं, नवरं तत्र सर्वमुपधिम्, अत्र तु स सर्वं चीवरमादायेति विशेषः ।। इदानीं प्रातिहारिकोपहतवस्त्रविधिमधिकृत्याह-

मू. (४८४) से एगइओ मुहुत्तगं २ पाडिहारियं वत्थं जाइज़ा जाव एगाहेण वा दु० ति० चउ० पंचाहेण वा विप्पवसिय २ उवागच्छिज़ा, नो तह वत्थं अप्पणो गिण्हिज़ा नो अन्नमन्नस्स दिज़ा, नो पामिच्चं कुज़ा, नो वत्थेण वत्थपरिणामं करिज़ा, नो परं उवसंकमित्ता एवंं वइज़ा-आउ० समणा! अभिकंखसि वत्थं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ?, थिरं वा संतं नो पलिच्छिदिय २ परडुविज़ा, तहप्पगारं वत्थं ससंधियं वत्थं तस्स चेव निसिरिज्ञा नो णं साइज्जिज्ञा।

से एगइओ एयप्पगारं निग्धोसं सुद्या नि० जे भयंतारो तहप्पगाराणि वत्थाणि ससंधियाणि मुहुत्तगं २ जाव एगाहेण वा० ५ विप्पवसिय २ उवागच्छंति, तह० वत्थाणि नो अप्पणां गिण्हंति नो अन्नमन्नस्स दलयंति तं चेव जाव नो साइज्ञंति, बहुवयणेण भाणियव्वं, से हंता अहमवि मुहुत्तगं पाडिहारियं वत्थं जाइत्ता जाव एगाहेण वा ५ विप्पवसिय २ उवागच्छिस्सामि, अवियाइं एयं ममेव सिया, माइडाणं संफासे नो एवं करिजा।।

**मॄ.** स कश्चित्साधुरपरं साधुं मुहूर्तादिकालोद्देशेन प्रातिहारिकं वस्त्रं याचेत, याचित्ता चैकाक्येव ग्रामान्तरादौ गतः, तत्र चासावेकाहं यावत्पञ्चाहं वोषित्वाऽऽगतः, तस्य चैकाकित्वात्त्वपतो वस्त्रमुहपतं, तच्च तथाविधं वस्त्रं तस्य समर्पयतोऽपि वस्त्रस्वामी न मृह्तीयात्, नापि गृहीत्वाऽन्यस्मैदद्यात्, नाप्युच्छिन्नं दद्याद्, यथा गृहाणेदं, न्तंपुनः कतिभिरहोभिर्ममान्यद्वयात्, नापि तदैव वस्त्रैण परिवर्त्तयेत्, न चापरं साधुमुपसंक्रम्यैतद्वदेत्, तद्यथा-आयुष्मन् ! श्रमण ! 'अभिकाङ्कसि' इच्छस्येवंभूतं वस्त्रं धारयितुं परिभोक्तुं चेति ? यदि पुनरेकाकी कश्चिद्गच्छेत्तस्य तदुपहतं वस्त्रं समर्पयेत् न स्थिरं-६ढं सत् 'परिच्छिन्द्य' खण्डशः २ कृत्वा 'परिष्ठापयेत्' त्यजेत्, तथाप्रकारं वस्त्रं 'ससंधिय'न्ति उपहतं स्वतो वस्त्रस्वामी 'नास्यादयेत्' न परिभुञ्जीत, अपि तु तस्यैवोपहन्तुः समर्पयेत्, अन्यस्मै वैकाकिनो गन्तुः समर्पयेदि त।एवं बहुवचनेनापि नेयमिति।।किञ्च-'सः' भिक्षु 'एकः' कश्चिदेवं साध्वाचारमवगम्य ततोऽहमपि प्रातिहारिकं वस्त्रं मुहूर्त्तादिकालमुद्दिश्य याचित्वाऽन्यत्रैकाहादिना वासेनोपहनिष्यामि, ततस्तद्वस्त्रं ममैव भविष्यतीत्येवं मातृस्थानं संस्पृशेत्, न चैतत्सुर्यादिति ।। तथा–

मू. (४८५) से भि० नो वर्ण्णमंताईं चत्याई विवन्नाइं करिज्ञा विवन्नाइं न वण्णमंताइं करिज़ा, अत्रं वा वत्थं लगिस्सामित्तिकट्ठु नो अन्नमन्नस्स दिज्ञा, नो पामिश्चं कुज़ा, नो वत्थेण वत्थपरिणामं कुज़ा, नो परं उवसंकभित्तु एवं वदेज्ञा-आउसो०! समभिकंखसि मे वत्थं धारित्तए वा परिहरित्तए वा ?, थिरं वा संतं नो पलिच्छिदिय २ परिडविज्ञा, जहा मेयं वत्थं पावगं परो मन्नइ, परं च णं अदत्तहारी पडिपहे पेहाए तस्स वत्थस्स नियाणाय नो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छिज़ा, जाव अप्पुस्पुए, तओ संजयामेव गामाणुगामं दूइज्रिज्ञा।

से भिक्खू वा० गामाणुगामं दूइज़माणे अंतरा से बिहं सिया, से जं पुण विहं जाणिज्ञा इमंसि खलु विहंसि बहवे आमोसगा वत्थपडियाए संपंडिया गच्छेज़ा, नो तेसिं भीओ उम्मग्गेणं गच्छेज़ा जाव गामा० दूइज़ेज़ा ।। से भि० दूइज़माणे अंतरा से आमोसगा पडियागच्छेज़ा, ते णं आमोसगाएवं वदेज़ा-आउसं ०! आहरेयुं वत्थं देहि निक्खिवाहि जहारियाए नाणत्तं वत्थपडियाए, एयं खलु० सया जइज़ासि– त्तिबेमि ।।

वृ. स भिक्षुर्वर्णवन्ति वस्त्राणि चौरादिभयान्नो विगतवर्णानि कुर्यात्, उत्सर्गतस्तादशनि न प्राह्याण्येव, गृहीतानां वा परिकर्म न विधेयमिति तात्पर्यार्थ, तथा विवर्णानि न शोभनवर्णानि कुर्यादित्यादि सुगममिति ॥ नवरं 'विहं'ति अटवी प्रायः पन्थाः । तथा तस्य भिक्षोः पथि यदि 'आमोषकाः' चौरावस्त्रग्रहणप्रतिज्ञया समागच्छेयुरित्यादि पूर्वोक्तं यावदेतत्तस्य भिक्षोः सप्र्यंमिति चूडा-१ अध्ययनं-५ उद्देशकः-२ समाप्तः

### अध्ययनं-५ समाप्तम् मुनि दीपरत्न सागरेण संशोधिता सम्पादिता - शीलाङ्काचार्य विरचिता द्वितीय श्रुतस्वन्धस्य पंचमअध्ययनटीका परिसमाप्ता —: अध्ययनं-६ पात्रैषणा :—

**वृ**. पञ्चमाध्ययनानन्तरं षष्ठमारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः- इह प्रथमेऽध्ययने पिण्डविधिरुक्तः, सच वसतावागमोक्तेन विधिना मोक्तव्य इति द्वितीये वसतिविधिरभिहितः, तदन्वेषणार्थं च तृतीये ईर्यासमिति प्रतिपादिता, पिण्डाद्यर्थं प्रवृत्तेन कथं भाषितव्यमिति चतुर्थे भाषासमितिरुक्ता, स च पटलकैर्विना न ग्राह्य इति तदर्थं पञ्चमे वस्त्रैषणा प्रतिपादिता,

तदधुना पात्रैणापि विना पिण्डो न ग्राह्य इत्यनेन सम्बन्धेन पात्रैषणाऽध्ययनमायातम्, अस्य च चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्र नामनिष्पन्ने निक्षेपे पात्रैषणाऽध्ययनम्, अस्य च निक्षेपोऽर्थाधिकारश्चानन्तराध्ययन एव लाधवार्थं निर्युक्तिकृताऽभिहितः, साम्प्रतं सूत्रानुगमेऽस्खलितादिगुणोपेतं सूत्रमुच्चारणीयं, तच्चेदम्–

#### -: चूडा-१ अध्ययनं-६ उद्देशकः-१ :--

मू. (४८६) से भिक्खू वा अभिकंखिज्ञा पायं एसित्तए, से जं पुण पादं जाणिज्ञा, तंजहा-अलाउयपायं वा दारुपायं वा महियापायं वा, तहप्पगारं पायं जे निग्गंथे तरुणे जाव थिरसंघयणे से एगं पायं धारिज्ञा नो बिइयं ।। से भि० परं अद्धजोयणमेराए पायपडियाए नो अभिसंधारिज्ञा गमणाए ।

से भि० से जं० असिंस पडियाए एगं साहम्भियं समुद्दिस्स पाणाइं ४ जहा पिंडेसणाए चत्तारिआलावगा, पंचमे बहवे समण० पगणिय २ तहेव।। से भिक्खू वा० अस्संजएभिक्खुपडियाए बहवे समणमाहणे० वत्थेसणाऽऽलावओ।। से भिक्खू वा० से जाइं पुण पायाइं जाणिज्ञा विरूवरूवाइं महद्धणमुल्लाइं, तं ०–

अयपायाणि वा तउपाया० तंबपाया० सीसगपा० हिरण्णपा० सुवण्णपा० रीरिअपाया० हारपुडपा० मणिकायकंसपाया० संखसिंगपा० दंतपा० चेलपा० सेलपा० चम्पपा० अन्नयराइं० वा तह० विरुवरूवाइं महध्धणमुल्लाइं पायाइं अफासुयाइं नो० ॥ से भि० से जाइं पुण पाया० विरुव० महद्धणबंधणाइं, तं०--अयबंधणाणि वा जाव चम्पबंधणाणि वा, अन्नयराइं तहप्प० महद्धणबंधणाइं अफा० नो प० ॥ इच्चेयाइं आयतणाइं उवाइक्रम्म अह भिक्खू जाणिज्ञा चउहिं पडिमाहिं पायं एसित्तए, तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा ।

से भिक्खू० उद्दिसिय २ पायं जाएजा, तंजहा-अलाउयपायं वा ३ तह पायं सथं वा णं जाइज्रा जाव पडि० पढमा पडिमा ।

अहावरा० से०पेहाए पायंजाइज़ा, तं०--गाहावइंचा कम्पकरीं वा से पुव्यामेव आलोइज़ा, आउ० भ० ! दाहिसि मे इत्तो अन्नयरं पादं तं०--लाउयपायं वा ३, तह० पायं सयं वा जाव पडि , दुद्या पडिमा ।

अहा० से भि० से जं पुण पायं जाणिज़ा संगइयं वा वेइयंतियं वा तहप्प० पायं सयं वा जाव पडि०, तच्चा पडिमा।

अहावरा चउत्या पडिमा-से भि० उज्झियधम्मियं जाएज़ा जावऽन्ने बहवे समणा जाव नावकंखंति तह० जाएज़ा जाव पडि०, चउत्या पडिमा।

इग्नेइयाणं चउण्हं पडिमाणं अन्नयरं पडिमं जहा पिंडेसणाए ।। से णं एयाए एसणाए एसमाणं पासित्ता परो वइज्ञा, आउ० स० ! मुहुत्तगं २ जाष अच्छाहि ताव अम्हे असणं वा उवकरेसु वा उवक्खुडेंसु वा, तो ते वयं आउसो० ! सपाणं सभोयणं पडिग्गहं दाहामो, तुच्छए पडिग्गहे दिन्ने समणस्स नो सुट्ठु साहु भवइ, से पुव्वामेव आलोइज्ञा-आउ भइ ! नो खलु मे कप्पइ आहाकम्पिए असणे वा ४ भुत्तए वा०, मा उवकरेहि मा उवक्खडेहि, अभिकंखसि मे दाउं एमेव दलयाहि, से सेवं वयंतस्स परो असणं वा ४ उवकरित्ता उवक्खडित्ता सपाणं सभोयणं पडिग्गहगं दलइज्ञा तह० पडिग्गहगं अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्ञा ।

सिया से परो उवणित्ता पडिग्गहगं निसिरिञ्ञा, से पुव्वामे० आउ० भ० ! तुमं चेव णं संतियं पडिग्गहगं अंतोअंतेणं पडिलेहिस्सामि, केवली आयाण०, अंतो पडिग्गहगंसि पाणाणि वा बीया० हरि०, अह भिक्खूणं पु० जं पुव्वामेव पडिग्गहगं अंतोअंतेणं पडि० सअंडाइं सब्वे आलावगा भाणियव्वा जहा वत्थेसणाए, नाणत्तं तिल्लेण वा धय० नव० वसाए वा सिणाणादि जाव अत्रयरं वा तहष्पगा० थंडिलंसि पडिलेहिय २ पम० २ तओ० संज० आमज्जिज्ञा, एवं खलु० सया जएज्ञा तिबेमि।।

**वृ.** स भिक्षुरभिकाङ्केत् पात्रमन्वेष्टुं, तत्पुनरेवं जानीयात्, तद्यथा-अलाबुकादिकं तत्र च यः स्थिरसंहननाद्युपेतः स एकमेव पात्रं बिभृयात् न च द्वितीयं, स च जिनकल्पिकादि, इतरस्तु मात्रकसद्वितीयं पात्रं धारयेत्, तत्र सङ्घाटके सत्येकस्मिन् भक्तं द्वितीये पात्रे पानकं, मात्रकं त्वाचार्यादिप्रायोग्यकृतेऽशुद्धस्य वेति ।

'से भिक्खू' इत्यादींनि सूत्राणि सुगमानि यावन्महार्धमूल्यानि पात्राणि लाभे सत्यप्रासुकानि न प्रतिगृह्णीयादिति, नवरं 'हारपुडपाय'त्ति लोहपात्रमिति ।। एवमयोबन्धनादिसूत्रमपि सुगमं । तथा प्रतिमाचतुष्ट्यसूत्राण्यपिवस्त्रैषणावन्नेयानीति नवरं तृतीयप्रतिमायां 'संगइयं' दातुः स्वाङ्गिकं-परिमुक्ताप्रायं 'वेजयंतियं'ति द्वित्रेषु पात्रेषु पर्यायेणोपभुज्यमानं पात्रं याचेत ।

रएतया' अनन्तरोक्तया पात्रैषणयाँ पात्रमन्विषन्तं साधुं प्रेक्ष्य परो ब्रूयाद् भगिन्यादिकं यथा-तैलादिनाऽम्यज्य साघवे ददस्वेत्यादि सुगममिति ॥ तथा-स नेता तं साधुमेवं ब्रूयाद्, यथा-रिक्तं पात्रं दातुं न वर्त्तत इति मुहूर्त्तकंतिष्ठ त्वं यावदर्शनादिकं कृत्वा पात्रकं भृत्वा ददामीत्येवं कुर्वन्तं निषेधयेत्, निषिद्धोऽपि यदि कुर्यात्ततः पात्रं न गृह्णीयादिति ॥ यथा दीयमानं गृह्णीयात्तयाऽऽह-तेन दात्रा दीयमानं पात्रमन्तोषान्तेन प्रत्युपेक्षेतेत्यादि वस्त्रवन्नेयमिति, एतत्तस्य भिक्षोः साम्प्र्यमिति ॥

चूडा-१ अध्ययनं-६ उद्देशकः-१ समाप्तः

--: अध्ययनं-६ उद्देशकः-२ :-

**वृ.** उद्देशकाभिसम्बन्धोऽयम्-इहानन्तरसूत्रे पात्रनिरीक्षणमभिहितमिहापि तच्छेषमभिधी-यते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्योद्देशकस्येदमादिसूत्रम्—

मू. (४८७) से भिक्खू वा २ गाहावइकुलं पिंड. पविठ्ठे समाणे पुव्वामेव पेहाए पडिग्गहगं अवहट्टु पाणे पमज़िय रयं तओ सं० गाहावइं. पिंड० निक्ख० प० केवली०, आउ० ! अंतो पडिग्गहगंसि पाणे वा बीए वा हरि० परियावज़िज़ा, अह भिक्खूणं पु० जं पुव्वामेव पेहाए पडिग्गहं अवहट्टु पाणे पमज़िय रयं तओ सं० गाहावइ० निक्खमिज़ वा ।

**वृ.** स भिक्षुर्गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविशन् पूर्वमेव भृशं प्रत्युपेक्ष्य पतद्ग्रहं, तत्र च यदि प्राणिनः पश्चेत्ततस्तान् 'आहृत्य' निष्कृष्य त्यक्त्वेत्यर्थ, तथा प्रमृज्य च रजस्ततः संयत एव गृहपतिकुलं प्रविशेद्वा निष्क्रामेद्वा इत्येषोऽपि पात्रविधिरेव, यत्तोऽत्रापि पूर्वं पात्रं सम्यक् प्रत्युपेक्ष्य प्रमृज्य च पिण्डो ग्राह्य इति पात्रगतैव चिन्तेति, किमिति पात्रं प्रत्युपेक्ष्य पिण्डो ग्राह्य इति ?

अप्रत्युपेक्षिते तु कर्मबन्धो भवतीत्याह-केवली ब्रूयाद् यथा कर्मोपादानमेतत्, यथा च कर्मोपादानं तथा दर्शयति-'अन्तः' भध्ये पतद्ग्रहकस्य प्राणिनो-द्वीन्द्रियादयः, तथा बीजानि रजो वा 'पर्यापद्येरन्' भयेयुः, तथाभूते च पात्रे पिण्डं गृह्लतः कर्मोपादानं भवतीत्यर्थ, साधूनां पूर्वोपदिष्टमेतत्प्रतिज्ञादिकंयत्पूर्वमेव पात्रप्रत्युपेक्षणंकृत्वा तद्गतप्राणिनो रजश्चापनीय गृहपतिकुले प्रवेशो निष्क्रमणं वा कार्यमिति ।। किञ्च--

मू. (४८८) से भि० जाव समाणे सिया से परो आहड्ड अंतो पडिग्गहगंसि सीओदगं परिभाइत्ता नीहड्ड दलइज्जा, तहण्प० पडिग्गहगं परहत्थंसि वा परपायंसि वा अफासुयं जाव नो प०, से य आहञ्च पडिग्गहिए सिया खिप्पामेव उदगंसि साहरिज्ञा, से पडिग्गहमायाए पाणं परिडविज्रा, ससिणिद्धाए वा भूमीए नियमिज्रा।

से० उदउल्लं वा ससिणिर्द्ध वा पडिग्गहं नोआमझिज वा २ अह पु० विगओदए मे पडिग्गहए छिन्नसिणेहे तह० पडिग्गहं तओ० सं० आमझिज वा जाव पयाविज वा।

से भि० गाहा० पविसिउकामे पडिग्गहमायाए गाहा० पिंड० पविसिञ्ज वा नि०, एवं बहिया वियारभूमीं विहारभूमीं वा भामा० दूइज़िज़ा, तिव्वदेसीयाए जहा बिइयाए वत्थेसणाए नवरं इत्य पडिग्गहे, एयं खलु तस्स० जं सव्वट्ठेहिं सहिए सया जएज़ासि त्तिबेमि ।।

वृ. स भिक्षुर्गृहपतिकुलं पिण्डपातप्रतिज्ञया प्रविष्टः सन् पानकं याचेत, तस्य च स्यात्-कदाचित्स परो गृहस्थोऽनाभोगेन प्रत्यनीकतया, तथाऽऽनुकम्पया विमर्षतया वा गृहान्तः-मध्य एवापरस्मिन् पतद्ग्रहे स्वकीयेभाजने आहत्य शीतोदकं 'परिभाज्य' विभागीकृत्य 'नीहट्ट'ति निसार्य दद्यात्।

स-साधुस्तथाप्रकारं शीतोदकं परहस्तगतं परपात्रगतं वाऽप्रासुक मिति मत्वा न प्रतिगृत्लीयात्, तद्यथाऽकामेनविमनस्केन वाप्रतिगृहीतंस्यात् ततः क्षिप्रमेव तस्थैव दातुरुदकभाजने प्रक्षिपेत्, अनिच्छतः कूपादौसमानजातीयोदके प्रतिष्ठापनविधिनाप्रतिष्ठापनंकुर्यात्, तदभावेऽन्यत्र वाछायागर्तादौप्रक्षिपेत्, सति चान्यस्मिन् भाजने तत् सभाजनमेव निरुपरोधिनि स्थाने मुश्चेदिति

तथा-सभिक्षुरुदकाद्रदिः पतद्ग्रहस्यामर्जनादि न कुर्यादीषच्छुष्कस्य तु कुर्यादिति पिण्डार्थ किञ्च-स भिक्षुः क्वचिद् गृहपतिकुलादौ गच्छन् सपतद्ग्रह एव मच्छेदित्यादि सुगमं यावदेतत्तस्य भिक्षोः साम्प्रयमिति ॥

चूडा-२ अध्ययनं-६ उद्देशकः-२ समाप्तः

# अध्ययनं-६ समाप्तम् मुनि दीपरल सागरेण संशोधिता सम्पादिता शीलाङ्काचार्य विरचिता द्वीतीय श्रुतस्कन्धस्य षष्ठमध्ययनटीका परिसमाप्ता

--: अध्ययन--७ अवग्रहप्रतिमाः--

वृ. उक्तं षष्ठमध्ययनमधुना सप्तममारभ्यते, अस्य चायम्रमिसम्बन्धः- पिण्डशय्या-वस्त्रपात्रादयोऽवग्रहमाश्रित्य भवन्तीत्यतोऽसावेव कतिविधो भवतीत्यनेन सम्बन्धेनाया-तस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्धाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयं-यथा साधुना विशुद्धोऽवग्रहो ग्राह्म इति, नामनिष्पन्ने तु निक्षेपेऽवग्रहप्रतिमेति नाम, तत्रावग्रहस्य नामस्थापने क्षुण्णत्वादनाध्त्य द्रव्यादिचतुर्विधं निक्षेपं दर्शयितुकामो निर्युक्तिकार आह– नि. [३१९] दव्वे खित्ते काले भावेऽवि य उग्गहो चउद्धाउ ।

देविंद ९ रायउग्गह २ गिहवइ ३ सागरिय ४ साहम्मी ॥

**वृ.** द्रव्यावग्रहः क्षेत्रावग्रहः कालावग्रहो भावावग्रहश्चेत्येवं चतुर्विधोऽवग्रहः, यदिवा सामान्येन पञ्चविधोऽवग्रहः, तद्यथा-देवेन्द्रस्य लोकमध्यवर्त्तिरुचकदक्षिणार्द्धमवग्रहः १, राज्ञश्चक्र-वत्त्यदिर्भरतादिक्षेत्रं २, गृहपतेर्ग्राममहत्तरादेर्ग्रामपाटकादिकमवग्रहः ३, तथा सागारिकस्य-शय्यातरस्य धङ्घशालादिकं ४, साधर्मिकाः-साधवोये मासकल्पेन तत्रावस्थितास्तेषां वसत्यादिरव-ग्रहः सपादं योजनमिति ५, तदेवं पञ्चविधोऽवग्रहः, वसत्यादिपरिग्रहं च कुर्वता सर्वेऽप्येते यथाऽवसरमनुज्ञाप्या इति ॥ साम्रतं द्रव्याद्यवग्रहप्रतिपादनायाह--

नि. [३२०] दव्युगगहो उ तिविहो सचित्ताचित्तमीसओ चेव । खित्तुग्गहोऽवि तिविहो दुविहो कालुग्गहो होइ ।।

द्रव्याद्यवग्रहस्त्रिविधः, शिष्यादेः सचित्तो रजोहरणादेरचित्तः शिष्यरजोहरणादेर्मिश्रः, क्षेत्रावग्रहोऽपि सचित्तादिस्त्रिविध एव, यदिवा ग्रामनगरारण्यभेदादिति, कालावग्रहस्तु ऋतुबद्धवर्षाकालमेदादिधेति॥भावावग्रहप्रतिपादनार्थमाह-

नि. [३२१] भइउग्गहो य गहणुग्गहो य भावुग्गहो दुहा होइ | इंदिय नोइंदिय अत्यवंजणे उग्गहो दसहा ॥

भावाग्रहो देधा, तद्यथा-मत्यवग्रहो ग्रहणावग्रहश्च, तत्र मत्यवग्रहो दिधा-अर्थावग्रहो व्यञ्जनावग्रहश्च, तत्रार्थावग्रह इन्द्रियनोइन्द्रियमेदात् षोढा, व्यञ्जनावग्रहस्तु चक्षुरिन्द्रियमनोव-र्जश्चतुर्धा, स एष सर्वोऽपि मतिभावावग्रहो दशधेति ॥ ग्रहणावग्रहार्थमाह--

नि. [३२२] यहणुग्गहम्मि अपरिग्गहस्स समणस्स गहणपरिणामो।

कहपाडिहारियाऽपाडिहारिए होइ ? जइयव्वं ।

**वृ.** अपरिग्रहस्य साधोर्यदा पिण्डवसतिवस्त्रपात्रग्रहणपरिणामो भवति तदा स ग्रहणभावावग्रहो भवति, तस्मिश्च सति 'कथं' केन प्रकारेण मम शुद्धं वसत्यादिकं प्रातिहारिकमप्रातिहारिकं वा भवेदित्येवं यतितव्यमिति, प्रागुक्तश्च देवेन्द्राद्यवग्रहः पञ्चविधोऽप्यस्मिन् ग्रहणावग्रहे द्रष्टव्य इति ॥ गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमे सूत्रमुद्यारणीयं, तद्येदम्—

### -: चूडा-१ अध्ययनं-७ उद्देशकः-१ :-

मू. (४८९) समणे मविस्सामि अनगारे अकिंचणे अपुत्ते अपसू परदत्तमोई पावं कम्पं नो करिस्सामित्ति समुडाए सब्वं भंते ! अदित्रादाणं पद्यक्खामि, से अनुपविसित्ता गामं वा जाव रायहाणि वा नेव सयं अदित्रं गिण्हिज्ञा नेवऽत्रेहिं अदित्रं गिण्हाविज्ञा अदित्रं गिण्हंतेवि अत्रे न समणुजाणिज्ञा, जेहिवि सद्धि संपब्बइए तेसिंपि जाइं छत्तगं वा जाव चम्मछेयणगं वा तेसिं पुब्वामेव उग्गहं अननुन्नविय अपडिलेहिय २ अपमज्जिय २ नो उग्गिण्हिज्ञा वा परिगिण्हिज्ञ वा, ते सिं पुब्वामेव उग्गहं जाइज्ञा अनुन्नविय पडिलेहिय पमज्जिय तओ स०. उग्गिण्हिज्ञ वा प० ॥

यू. श्राम्यतीति श्रमणः-तपस्वी यतो ऽहमत एवंभूतो भविष्यामीति दर्शयति-'अनगारः' अगा-वृक्षास्तैर्निष्यन्नमगारं तन्न विद्यत इत्यनगारः, त्यक्तगृहपाश इत्यर्थ, तथा 'अकिञ्चनः' न विद्यते किमप्यस्येत्यकिञ्चनो, निष्परिग्रह इत्यर्थ, तथा 'अपुत्रः' स्वजनबन्धुरहितो, निर्मम इत्यर्थ, एवम् 'अपशुः' द्विपदचतुष्पदादिरहितः, यत एवमतः परदत्तभोजी सन् पापं कर्मन करिष्यामीत्येवं समुत्थायैतस्रतिज्ञो भवामीति दर्शयति — यथा सर्वं भदन्त ! अदत्तादानं प्रत्याख्यामि, दन्तशोधनमात्रमपि परकीयमदत्तं न गृह्णमीत्यर्थ, तदनेन विशेषणकदम्बकेनापरेषां शाक्यसरजस्कादीनां सम्यक्श्रमणत्वं निराकृतं भवति, स चैवंभूतोऽकिञ्चनः श्रमणोऽनुप्रविश्य ग्रामं वा यावद्राजधानीं वा नैव स्वयमदत्तं गृह्णीयात् नैवापरेण ग्राहयेत् नाप्यपरं गृहन्तं समनुजानीयात्, यैर्वा साधुभि सह सम्यक् प्रव्रजितस्तिष्ठति वा तेषामपि सम्बन्ध्युपकरणमननुज्ञाप्य गृह्णीयादिति दर्शयति ।

तद्यथा-छत्रकमिति 'छद अपवारणे' छादयतीति छत्रं-वर्षाकल्पादि, यदिवा कारणिकः क्वचित्कुङ्कणदेशादावतिवृष्टिसम्भवाच्छत्रकमपि गृह्णीयाद् यावद्यर्मच्छेदनकमप्यनुज्ञाप्याप्रत्युपेक्ष्य च नावगृह्णीयात् सकृत् प्रगृह्णीयादनेकशः । तेषां च सम्बन्धि यथा गृह्णीयात्तथा दर्शयति-पूर्वमेव ताननुज्ञाप्य प्रत्युपेक्ष्य चक्षुषा प्रमृज्य रजोहरणादिना सकृदनेकशो वा गृह्णीयादिति ।। किञ्च-

मू. (४९०) से मि० आंगंतारेसु वा ४ अणुवीइ उग्गहं जाइआ, जे तत्थ ईसरे जे तत्थ महिडए ते उग्गहं अणुत्रविज्ञा-कामं खलु आउसो० ! अहालंदं अहापरिन्नायं वसामो जाव आउसो जाव आउसंतरस उग्गहे जाव साहम्पिया एइतावं उग्गहं उग्गिण्हिस्सामो, तेण परं विहरिस्सामो

से किं पुण तत्योग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्य साहम्मिया संभोइया समणुन्ना उवागच्छिज्ञा जे तेण सयमेसित्तए असणे वा ४ तेण ते साहम्मिया ३ उवनिमंतिज्ञा, नो चेव णं परवडियाए ओगिज्झय २ उवनि० ॥

**वृ.** सभिक्षुरागन्तागारादौप्रविश्यानुविचिन्स च-पर्यालोच्य यतिविहारयोग्यं क्षेत्रंततोऽवग्रहं वसत्यादिकं याचेत, यश्च याच्यस्तं दर्शयति-यस्तत्र 'ईश्वरः' गृहस्वामी तथा यस्तत्र 'समधिष्ठाता' गृहपतिना निक्षिप्तभरः कृतस्तानवग्रहं-क्षेत्रा वग्रहम् अनुज्ञापयेत्'' याचेत, कथमिति दर्शयति-'काम'भिति तवेच्छया 'खलु' इति वाक्यालङ्कारे आयुष्मन् ! गृहपते ! 'अहालंद'मिति यावन्मात्रं कालं भवाननुजानीते 'अहापरिञायं'ति यावन्मात्रं क्षेत्रमनुजानीषे तावन्मात्रं कालं तावन्मात्रं च क्षेत्रमाश्रित्य वयं वसाम इति यावत,

इहायुष्मन् ! यावन्मात्रं कालमिहायुष्मतोऽवग्रहो यावन्तश्च साधर्मिकाः-साघवःसमा-गमिष्यन्ति एतावन्मात्रमवग्रहिष्यामस्तत ऊर्घ्वं विहरिष्याम इति ॥ अवगृहीते चावग्रहे सत्युत्तरकालविधिमाह-तदेवमवगृहीतेऽवग्रहे स साधुः किं पुनः कुर्यादिति दर्शयति-ये तत्र केचन प्राधूर्णकाः 'साधर्मिकाः' साधवः 'साम्भोगिकाः' एकसामाचारीप्रविष्टाः 'समनोज्ञाः' उद्युक्तविहारिणः 'उपागच्छेयुः' अतिथयो मवेयुः, ते चैवंभूता ये तेनैव साधुना परलोकार्थिना स्वयमेषितव्याः, तेच स्वयमेवागता मवेयुः, तांश्चाशनादिना स्वयमाहृतेन स साधुरुपनिमन्त्रयेद्, गया-गृह्णीत यूयमेतनायाऽऽनीतमशनादिकं क्रियतां मपानुग्रहमित्येवमुपनिमन्त्रयेत्, नि चैव 'परवडियाए'ति परानीतं यदशनादि तद्मृ शम् 'अवगृह्य' आश्रित्य नोपनिमन्त्रयेत्, किं तर्हि ?, स्वयमेवानीतेन निमन्त्रयेदिति ॥ तथा–

मू. (४९९) से आगंतारेसु वा ४ जाव से किं पुण तत्योग्गहंसि एवोग्गहियांसि जे तत्य साहम्भिआ अन्नसंभोइआ समणुत्रा उवागच्छिन्ना जे तेण सयमेसित्तए पीढे वा फलए वा सिज़ा वा संथारए वा तेण ते साहम्भिए अन्नसंभोइए समणुन्ने उवनिमंतिज्ञा नो चेवणं परवडियाए ओगिज्झिय उवनिमंतिज्ञा। से आगंतारेसु वा ४ जाव से किं पुण तत्थुग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ गाहावईण वा गाहा० पुताण वा सूई वा पिप्पलए वा कण्णसोहणए वा नहच्छेयणए वा तं अप्पणो एगस्स अड्ठाए पाडिहारियं जाइत्ता नो अन्नमन्नस्स दिज वा अणुपइज वा, सयंकरणिज्ञंतिकट्ट, से तमायाए तत्थ गच्छिज्ञा २ पुय्वामेव उत्ताणए हत्थे कट्टु भूमीए वा ठवित्ता इमं खलु २ ति आलोइज्ञा, नो चेव णं सयं पाणिणा परपाणिंसि पद्यप्पिणिज्ञा।।

वृ. पूर्वसूत्रवत्सर्वं, नवरमसाम्भोगिकान् पीठफलकादिनोपनिमन्त्रयेद्, यतस्तेषां तदेव पीठिकादिसंभोग्यं नाशनादीनि ।। किञ्च-तस्मिन्नवग्रहे गृहीते यस्तत्र गृहपत्यादिको भवेत् तस्य सम्बन्धि सूच्यादिकं यदि कार्यार्थमेकमात्मानमुद्दिश्य गृह्णीयात् तदपरेषां साधूनां न समर्पयेत्, कृतकार्यश्च प्रतीपं गृहस्थस्यैवानेन सूत्रोक्तेन विधिना समर्पयेदिति ।। अपि च--

मू. (४९२) से भि० से जं० उंग्गहं जाणिज्ञा अनंतरहियाए पुढवीए जाव संताणए तह० उग्गहं नो गिण्हिजा वा २ ।। से भि० से जं पुणं उग्गहं थूणंसि वा ४ तह० अंतलिक्खजाए दुब्बद्धे जाव नो उगिण्हिज्ञा वा २ ।।

से भि० से जं० कुलियंसि वा ४ जाव नो उगिण्हिज वा २ ॥ से भि० खंधंसि वा ४ अन्नयरे वा तह० जाव नो उग्गहं उगिण्हिज वा २ ॥

से भि० से जं० पुण० ससागारियं० सखुड्डपसुभत्तपाणं नो पन्नस्स निक्खमणपवेसे जाव धम्पाणुओगचिंताए, सेवं नञ्चा तह उवस्सए ससागारिए० नो उवग्गहं उगिण्हिजा वा २।

े से भि० से जं० गाहावइकुलस्स मज्झंमज्झेणं गंतुं पंथे पडिबद्धं वा नो पन्नस्स जाव सेवं न०

स भि० से जं० इह खलु गाहावई वा जाव कम्मकरीओ वा अन्नमन्नं अक्कोसंति वा तहेव तिल्लादिसिणाणादि सीओदगवियडादिनिगिणाइ वा जहा सिज्जाए आलावगा, नवरंउग्गहवत्तव्वया से भि० से जं० आइन्नसंलिक्खे नो-पन्नस्स० उगिण्हिज्र वा २, एपं खलु० ॥

वृ. यत्पुनः सचित्तपृथिवीसम्बन्धमवग्रहं जानीयात्तन्न गृह्णीयादिति ॥ तथा-अन्त-रिक्ष्जातमप्यवग्रहं न गृह्णीयादित्यादि शय्यावन्नेयं यावदुद्देशकसमाप्ति, नवरमवग्रहामिलाप इति चूडा-१ अध्ययनं-७ उद्देशक:-१ समाप्तः

#### अध्ययनं-७ उद्देशकः-२

वृ. उक्तः प्रथमोद्देशकः, अधुना द्वितीयः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-पूर्वोद्देशकेऽवग्रहः प्रतिपादितस्तदिहापि तच्छेषप्रतिपादनायोद्देशकः, तस्य चादिसूत्रम--

्रमू. (४९३) से आगंतारेसु वा ४ अणुवीइ उग्गहं जाइज्रा, जे तत्थ ईसरे० ते उग्गहं अणुन्नविज्ञाकामं खलु आउसो! अहालंदं अहापरित्रायं वसामो जाव आउसो! जाव आउसंतस्स उग्गहे जाव साहम्मिआए ताव उग्गहं उग्गिण्हिस्सामो, तेण परं वि०,

से किं पुण तत्थ उग्गहंसि एवोग्गहियंसि जे तत्थ समणाण या माह० छत्तए वा जाव चम्पछेदणए वा तं नो अंतोहिंतो बाहिं नीणिज्ञा बहियाओ वा नो अंतो पविसिज्ञा, सुत्तं वा नो पडिवोहिज्ञा, नो तेसिं किंचिवि अप्पत्तियं पडिणीयं करिज्ञा।।

**मृ. स भिक्षुरागन्तागारादावपरब्राह्मणाद्युपभोगसामान्ये कारणिकः सन्नीश्वरादिकं** Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org पूर्वप्रक्रमेणावग्रहं याचेत, तसिंमश्चावगृहीतेऽवग्रहे यत्तत्र श्रमणब्राह्मणादनां छत्राद्युपकरणजातं भवेत्तन्नैवाम्यन्तरतो बहिर्निष्क्राभयेत् नापि ततोऽभ्यन्तरं प्रवेशयेत् नापि ब्राह्मणादिकं सुप्तं प्रतिबोधयेत् न च तेषाम् 'अप्पत्तियं'ति मनसः पीडां कुर्यात् तथा 'प्रत्यनीकतां' प्रतिकूलतां न विदध्यादिति ॥

मू. (४९४) से भि० अभिकंखिझा अंबवणं उवागच्छित्तए जे तत्थ ईसरे २ उग्गहं अणुजाणाविज्ञा-कामं खलुजाव विहरिस्सामो, से किं पुण० एवोग्गहियंसि अह भिक्खू इच्छिज्ञा अंबं मुत्तए वा से जं पुण अंबं जाणिज्ञा सअंडं ससंताणं तह० अंबं अफा० नो प०।

से भि० से जं० अप्पंडं अप्पसंताणगं अतिरिच्छछिन्नं अव्वोच्छिन्नं अफासुयं जाव नो पडिगाहिज्ञा ।। से भि० से जं० अप्पंडं वा जाव संताणगं तिरिच्छछिन्नं वुच्छिन्नं फा० पडि० ।। से भि० अंबभित्तगं वा अंबपेसियं वा अंबचोयगं वा अंबसालगं वा अंबडालगं वा भुत्तए वा पायए वा, से जं० अंबभित्तगं वा ५ सअंडं अफा० नो पडि० ।

से भिक्रखू वा २ से जं० अंबं वा अंबभित्तगं वा अप्पंडं० अतिरिच्छछित्रं २ अफा० नो प० ॥ से जं० अंबडालगं वा अप्पंडं ५ तिरिच्छच्छित्रं वुच्छिन्नं फासुयं पडि०।

से भि० अभिकंखिञ्जा उच्छुवणं उवागच्छित्तए, जे तत्थ ईसरे जाव उग्गहंसि ।। अह भिक्खू इच्छिज्ञा उच्छुं भुत्तए वा पा०, से जं० उच्छुं जाणिज्ञा सअंडं जाव नो प०, अतिरिच्छछिन्नं तहेव, तिरिच्छछिन्नेऽवि तहेव । से भि० अभिकंखि० अंतरुच्छुयं वा उच्छुगंडियं वा उच्छुचोयगं वा उच्छुसा० उच्छुडा० भुत्तए वा पाय०, से जं पु० अंतरुच्छुयं वा जाव डालगं वा सअंडं० नो प० ।

से भि० से जं० अंतरुच्छुयं वा० अप्पंडं वा० जाव पडि०, अतिरिच्छच्छिन्नं तहेव ।। से भि० ल्हसणवणं उवागच्छित्तए, तहेव तिन्निवि आलावगा, नवरं ल्हसुणं ।

से भि० ल्हसुणं वा ल्हसुणकंदं वा ल्ह० चोयगं वा ल्हसुणनालगं वा भुत्तए वा २ से जं० लसुणं वा जाव लसुणबीयं वा सअंड जाव नो **५०, एवं अतिरिच्छच्छिन्नेऽवि तिरिच्छछिन्ने जाव** प०॥

**वृ. स भिक्षु कदाचिदाम्रवनेऽवग्रहमीश्वरादिकं याचेत, तत्रस्तश्च सति कारणे आम्रं** भोक्तुमिच्छेत्, पद्याम्रं साण्डं ससन्तानकमप्रासुकमिति च मत्वा न प्रतिगृह्णीयादिति ।

किञ्च-सभिक्षुर्यत्पुनराम्रमल्पाण्डमल्पसन्तानकं वा जानीयात् किन्तु 'अतिरश्चीनच्छिन्नं' तिरश्चीनमपाटितं तथा 'अव्यवच्छिन्नम्' अखण्डितं यावदप्रासुकं न प्रतिगृह्णीयादिति ।। तथा-स भिक्षुरल्पाण्डमल्पसन्तानकं तिरश्चीनच्छिन्नं तथा व्यवच्छिन्नं यावद्यासुकं कारणे सति गृह्णीय-ा दिति ।। एवमाम्रावयवसम्बन्धि सून्नत्रयमपिनेयमिति, नवरम्-'अंबभित्तयं'ति आम्रार्द्धम् 'अंबपेसी' आम्रफाली 'अंबचोययं'ति आम्रछन्नी सालगं-रसं 'डालगं'ति आम्रश्रूश्णखण्डानीति ।

एवभिक्षुसूत्रत्रयमप्याम्रसूत्रवन्नेयमिति, नवरम् 'अंतरुच्छुयं'ति पर्वमध्यमिति ॥ एवं लशुनसूत्रत्रयमपि नेयमिति, आम्रादिसूत्राणामवकाशो नीशीयषोडशोद्देशकादवगन्तव्य इति ॥ साम्प्रतमवग्राहभिग्रहविशेषानधिकृत्याह– भू. (४९५) से भि० आगंतारेसु वा ४ जावोग्गहियंसि जे तत्था गाहावईण वा गाहा० पुत्ताण वा इद्येयाईं आयतणाईं उवाइक्कम्म अह भिक्खू जाणिज्ञा, इमाहिं सत्तहिं पडिमाहिं उग्गहं उग्गिण्हित्तए, तत्थ खलु इमा पढमा पडिमा।

से आगंतारेसु वा ४ अणुवीइ उग्गहं जाइज़ा जाव विहरिस्सामी पढमा पडिमा ।

अहावरा० जस्स णं भिक्खुस्स एवं भवइ-अहं च खलु अन्नेसिं भिक्खूणं अद्वाए उग्गहं – उग्गिण्हिस्सामि, अन्नेसिं भिक्खूणं उग्गहे उग्गहिए उवल्लिसामि, दुश्चा पडिमा।

अहा वरा० जस्स णं भि० अहं च० उग्गिण्हिस्साभि अन्नेसिं च उग्गहे उग्गहिए नो उवल्लिस्सामि, तश्चा पडिमा।

अहावरा० जस्स णं भि० अहं च० नो उग्गहं उग्गिण्हिस्सामि, अन्नेसिं च उग्गहे उग्गहिए उवल्लिस्सामि, चउत्था पडिमा ।

अहावरा० जस्स णं अहं च खलु अप्पणो अट्ठाए उग्गहं चउ०, नो दुण्हं नो तिण्हं नो चउण्हं नो पंचण्हं पंचमा पडिमा ।

अहावरा० से भि० जस्स एव उग्गहे उवल्लिइज़ा से तत्य अहासमन्नागए इक्कडे वा जाव पलाले तस्स लाभे संवसिज़ा, तस्स सलाभे उक्कुडुओ वा नेसज़िओ वा विहरिज़ा, छट्ठा पडिमा। अहावरा स० जे भि० अहासंथडमेव उग्गहं जाइज़ा, तंजहा-पुढविसिलं वा कट्ठसिलं वा अहासंथडमेव तस्स लाभे संते० तस्स अलाभे उ० ने० विहरिज़ा, सत्तमा पडिमा।

इद्येयासिं सत्तण्हं पडिमाणं अन्नयरं जहा पिंडेसणाए ॥

**वृ.** स भिक्षुरागन्तागारादाववग्रहे गृहीते ये तत्र गृहपत्यादयस्तेषां सम्बन्धीन्यायतनानि पूर्वप्रतिपादितान्यतिक्रम्यैतानि वक्ष्यमाणानि कर्मोपादानानि परिहत्यावग्रहमवग्रहीतुं जानीयात्, अथ भिक्षु सप्तभि प्रतिमाभिरभिग्रहविशेषैरवग्रहं गृह्लीयात्, तत्रेयं प्रथमा प्रतिमा, तद्यथा।

सभिक्षुरागन्तागारादौ पूर्वमेव विचिन्त्यैवंभूतः प्रतिश्रयो मया ग्राह्यो नान्यथाभूत इति प्रथमा ।

तथाऽन्यस्य च भिक्षोरेवंभूतोऽभिग्रहो भवति, तद्यथा-अहं च खल्वन्येषा साधूनां कृतेऽवग्रहं 'गृहीष्यामि' याचिष्ये, अन्येषां वाऽवग्रहे गृहीते सति 'उपालयिष्ये' वत्स्यामीति द्वितीया।

प्रथमा प्रतिमा सामान्येन, इयं तु गच्छान्तर्गतानां साधूनां साम्भोगिकानामसांभोगिकानां चोद्युक्तविहारिणां, यतस्तेऽन्योऽन्यार्थं याचन्त इति ।

तृतीया त्वियम्-अन्यार्थमवग्रहं याचिष्येऽन्यावगृहीते तु न स्थास्यामीति, एषा त्वाहालन्दिकानां, यतस्ते सूत्रार्थविशेषमाचार्यादभिकाङ्कृता आचार्यार्थ याचन्ते।

चतुर्थीपुनरहमन्येषां कृतेऽवग्रहं न याचिष्ये अन्यावगृहीते च वत्स्यामीति, इयं तु गच्छ एवाभ्युद्यतविहारिणां जिनकल्पाद्यर्थं परिकर्म कुर्वताम् ।

ँ अथापरा पश्चमी-अहमात्मकृतेऽवग्रहमवंग्रहीष्यांमि न चापरेषा दित्रिचतुष्पश्चानामिति, इयं तु जिनकल्पिकस्य ।

अथापरा षष्ठी-यदीयमवग्रहं ग्रहीष्यामि तदीयमेवोत्कटादिसंस्तारकं ग्रहीष्यामि, इतरथोत्कुटुको वा निषण्णः उपविष्टो वा रजनीं गमिष्यामीत्येषा जिनकल्पिकादेरिति ।

अधापरा सप्तमी-एषैव पूर्वोक्ता, नवरं यथासंस्तृतमेव शिलादिकं ग्रहीष्यामि नेतरदिति, शेषमात्मोत्कर्षवर्जनादि पिण्डैषणावन्नेयमिति ।। किञ्च--

मू. (४९६) सुयं मे आउसंतेणं भगवया एवमक्खायं-इह खलु थेरेहिं भगवंतेहिं पंचविहे उग्गहे प० तं०–देविंदउग्गहे १ राय उग्गहे २ गाहावइउग्गहे ३ सागारियउग्गहे ४ साहम्मिय०५, एवं खलु तस्स भिक्खुस्स भिक्खुणीए वा सामग्गियं ।

षु. श्रुतं मयाऽऽयुष्मतां मगवतैवमाख्यातम्-इह खलु स्थविरैर्भगवद्मिः पश्चविधोऽवग्रहो व्याख्यातः, तद्यथा-देवेन्द्रावग्रह इत्यादि सुखोन्नैयं यावदुद्देशकसमाप्तिरिति ॥ चूडा-१ अध्ययनं-७ उद्देशकः-२ समाप्तः

अध्ययनं-७ समाप्तम्

चूडा-१ समाप्त

मुनि दीपरल सागरेण संशोधिता सम्पादिता - द्वितीय श्रुतस्कन्धस्य सप्तमं अधययनं एवं प्रथम चुडायाः टीका परिसमाप्त ।

🗧 चूडा -२- सप्तसप्तिका

ष्ट्र. उक्तं सप्तममध्ययनं, तदुक्तौ च प्रथमचूलाऽभिहिता, इदानीं द्वितीया समारभ्यते, अस्याश्चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरचूडायां वसत्यवग्रहः प्रतिपादितः, तत्र च कीदशे स्थाने कायोत्सर्गस्वाध्यायोद्यारप्रश्रवणादि विधेयमित्येतत्प्रतिपादनाय द्वितीयचूडा, सा च सप्ताध्ययनात्मिकेति निर्युक्तिकृद्दर्शयितुमाह--

नि. [३२३] सत्तिक गाणि इक्कर्सरगाणि पुव्व भणियं तर्हि ठाणं । उद्धडाणे पगयं निसीहियाए तर्हि छक्कं ।।

'सप्तैककान्येकसराणी'ति सप्ताध्ययनान्युद्देशकरहितानि भवन्तीत्यर्थ, तत्रापि 'पूर्वं' प्रथमं स्थानाख्यमध्ययनमभिहितमित्यतस्तद्व्याख्यायते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽर्थाधिकारोऽयम् ।

किंभूतं साधुना स्थानमाश्रयितव्यमिति, नामनिष्पन्ने तु निक्षेपे स्थानमिति नाम, तस्य च नामादिश्चतुर्धा निक्षेपः, तत्रेह द्रव्यमाश्रित्योर्द्धस्थानेनाधिकारः, तदाह निर्युक्तिकारः-उर्ध्ध्विंस्थाने 'प्रकृतं' प्रस्ताव इति, द्वितीयमध्ययनं निशीथिका, तस्याश्च षट्को निक्षेपः, तं च स्वस्थान एव करिष्थामीति । साम्प्रतं सूत्रमुञ्चारणीयं, तञ्चेदम्--

-ः चूडा-२ः सप्तैकः १-''स्थानं'':-

मू. (४९७) से भिक्खू वा० अभिकंखेज़ा ठाणं ठाइत्तए, से अनुपविसिज़ा गामं वा जाव रायहाणिं वा, से जं पुण ठाणं जाणिज़ा- असंडं जाव मक्कडासंताणयं तं तह० ठाणं अफासुयं अणेस० लाभे संते नो प०, एवं सिज़ागमेण नेयव्वं जाव उदयपसुयाइंति ।। इच्चेयाइं आयतणाइं उवाइकम्म २ अह भिक्खू इच्छिज़ा चउहिं पडिमाहिं ठाणं ठाइत्तए, तत्थिमा पढमा पडिमा-अचित्तं खलु उवसज़िज़ा अवलंबिज़ा काएण विप्परिकम्माइ सवियारं ठाणं ठाइस्सामि पढमा पडिमा । अहावरा दुश्चा पडिमा-अचित्तं खलु उवसजेजा अवलंबिजा काएण विष्परिकम्पाइ नो सवियारं ठाणं ठाइस्सामि दुद्या पडिमा ।

अहावरा तद्या पडिमा-अचित्तं खलु उवसञ्जेञ्जा अवलंबिञ्जा नो काएण विपरिकम्माई नो सवियारं ठाणं ठाइस्सामित्ति तद्या पडिमा ।

अहावरा चउत्या पडिमा-अचित्तं खलु उवसञ्जेझा नो अवलंबिज्ञा काएण नो परकम्पाई नो सवियारं ठाणं ठाइस्सामित्ति वोसड्ठकाए वोसड्ठकेसमंसुलोमनहे संनिरुद्धं वा ठाणं ठाइस्सामित्ति चउत्था पडिमा ।

इद्येयासिं चउण्हं पडिमाणं जाव पग्गहियतरायं विहरिझा, नो किंचिवि वइझा, एयं खलु तस्स जाव जइज्रासि त्तिबेमि।।

ष्ट्र. 'स' पूर्वोक्तो भिक्षुर्यदा स्थानमभिकाङ्केत् स्थातुं तदा सोऽनुप्रविशेद्ग्रामादिकम्, अनुप्रविश्यच स्थानमूच्ध्व्र्वस्थानाद्यर्थमन्वेषयेत्, तच्च साण्डं यावत्ससन्तानकमप्रासुकमिति लाभे सतिन प्रतिगृह्णीयादिति, इत्येवमन्यान्यपि सूत्राणि शय्यावद्रष्टव्यानि यावदुदकप्रसृतानि कन्दादीनि यदि भवेयुस्तत्तयाभूतं स्थानं न गृह्णीयादति ।

साम्प्रतं प्रतिमोद्देशेनाह 'इत्येतानि' पूर्वोक्तानि वक्ष्यमाणानि वा 'आयतनानि' कर्मोपादानानि 'उपातिक्रम्य २' अतिलङ्घ्याय भिक्षुः स्यानं स्थातुमिच्छेत् 'चतसृमि प्रतिमाभि' अभिग्रहविशेषैः करणभूतैः, तांश्च ययाक्रममाह, तत्रेयं प्रथमा प्रतिमा-कस्यचिद्भिक्षोः भूतोऽभिग्रहो भवति, यथाऽहमचित्तं स्थानमुपाश्रयिष्याभि, तथा किश्चिदचित्तं कुड्यादिकमवलम्बयिष्येकायेन, तथा 'विपरिक्रमिष्यामि' परिस्पन्दं करिष्यामि, हस्तपा- दाद्याकुञ्चनादि करिष्यामीत्यर्थ, तथा तत्रैव सविचारं स्तोकपादादिविहरणरूपं स्थानं 'स्थास्थामि' समाश्रयिष्यामि, प्रथमा प्रतिमा ।

द्वितीयायां त्वाकुञ्चनप्रसारणादिक्रियामवलम्बनं च करिष्ये न पादविहरणमिति । तृतीयायां त्वाकुञ्चनप्रसारणमेव नावलम्बनपादविहरणे इति ।

चतुर्यां पुनस्त्रयमपिन विधत्ते, स चैवंभूतो भवति-व्युत्सृष्टः-त्यक्तः परिमितं कालं कायो येन स तथा, तथा व्युत्सृष्टं केशश्मश्रुलोमनखं येन स तथा, एवंभूतश्च सम्यग्निरुद्धं स्यानं स्यास्या-मीत्येवंप्रतिज्ञाय कायोत्सर्गव्यवस्थितो मेरुवन्निष्प्रकम्पस्तिष्ठेत्, यद्यपिकश्चित्लेशाद्युत्पाटयेत्तथाऽपि स्थानात्र स्थास्यामीत्येवं प्रतिज्ञाय कायोत्सर्गव्यवस्थितो मेरुवन्निष्प्रकम्पस्तिष्ठेत्, यद्यपि कश्चित्केशाद्युत्पाटयेत्तथाऽपि स्थानात्र चलेदिति, आसां चान्यतमां प्रतिमां प्रतिपद्य नापरमप्रतिपन्नप्रतिमं साधुमपवदेन्नात्मोत्कर्षं कुर्यात्र किश्चिदेवंजातीयं वदेदिति ॥

चूडा-२ संप्तैककः-९ समाप्तः

-: चूडा-२ ससैककः-२ ''निषीधिका'' :-

**वृ.** प्रथमानन्तरं द्वितीयः सप्तैककः, सम्बन्धश्चास्य-इहानन्तराध्ययने स्थानं प्रतिपादितं, तद्य किंमूतं स्वाघ्याययोग्यं?, तस्यां च स्वाध्यायभूमौयद्विधेयं यञ्चन विधेयमित्यनेन सम्बन्धेन निषीधिकाऽघ्ययनमायातम्, अस्य च चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्र नामनिष्पत्रे निक्षेपे निषीधिकेति नाम, अस्य च नामस्यापनाद्रव्यक्षेत्रकालमावैः षड्विधो निक्षेपः, नामस्थापने पूर्ववत्, द्रव्यनिषीयं नोआगमतो ज्ञशरीरभव्यशरीरव्यतिरिक्तं यद्रव्यं प्रच्छन्नं, क्षेत्रनिषीयं तु ब्रह्मलोकरिष्ठविमानपार्श्वर्तिन्यः कृष्णराजयो यस्मिन् वा क्षेत्रे तद्वयाख्यायते, कालनिषीयं कृष्णरजन्यो यत्र वा काले निषीयं व्याख्यायत इति, भावनिषीयं नोआगमत इदमेवाध्ययनम्, आगमैकदेशत्वात्, गतो नामनिष्पन्नो निक्षेपः, साम्प्रतं सूत्रानुगमे सूत्रमुद्यारणीयं, तच्चेदम्-

मू. (४९८) से भिक्खू वा २ अभिकं० निसीहियं फासुयं गमणाए, से पुण निसीहियं जाणिज्ञा-सअंडं तह० अफा० नो चेइस्सामि।

से भिक्खू० अभिकंखेज्ञा निसीहियं गमणाए, से पुण नि० अप्पपाणं अप्पबीयं जाव संताणयं तह निसीहियं फासुयं चेइस्सामि, एवं सिजागमेणं नेयव्वं जाव उदयप्पसुयाइं।

जे तत्य दुवग्गा तिवग्गा चउवग्गा पंचवग्गा वा अभिसंधारिति निसीहियं गमणाए ते नो अन्नमन्नस्स कायं आलिंगिज वा विलिंगिज वा चुंबिज वा दतेहिं वा नहेहिं वा अच्छिदिज वा वुच्छि०, एयं खलु० जं सव्वेडेहिं सहिए समिए सया सएजा, सेयमिणं मन्निजासि त्तिबेमि।।

**वृ.** स भावभिक्षुर्यदि वसतेरुपहताया अन्यत्र निषीधिकां-स्वाध्यायभूमिं गन्तुमभिकाङ्केत्, तां च यदि साण्डा यावत्ससन्तानकां जानीयात्तततोऽप्रासुकत्वान्न परिगृहीयादिति ।

किञ्च-सभिक्षुरल्पाण्डादिकां गृह्णीयादिति ।। एवमन्यान्यपि सूत्राणि शय्यावन्नेयानि यावद् यत्रोदकप्रसूतानि कन्दादीनि स्युस्तां न गृह्णीयादिति ।

तत्र गतानां विधिमधिकृत्याह ये तत्र साधवो नैषेधिकाभूमौ दित्राद्या गच्छेयुस्ते नान्योऽन्यस्य 'कायं' शरीरमालिङ्गयेयुः-परस्परं गात्रसंस्पर्शं न कुर्युरित्यर्थ, नापि 'विविधम्' अनेकप्रकारं यया मोहोदयो भवति तथा विलिङ्गेयुरिति, तथा कन्दर्पप्रधाना वक्रसंयोगादिकाः क्रिया न कुर्युरिति, एतत्तस्य भिक्षोः साप्र्यं यदसौ 'सर्वार्थे' अशेषप्रयोजनैरामुष्मिकैः 'सहितः' समन्वितः तथा 'समितः' पञ्चभि समितिभि 'सदा' यावदायुस्तावत्संयमानुष्ठाने यतेत, एतदेव च श्रेय इत्येव मन्येतेति ब्रवीमीति पूर्ववत् ।।

चूडा-२ संप्तैककः-२ समाप्तः

-: चूडा-२ सप्तैककः-३ ''उद्यार प्रश्रवण'' :-

वृ. साम्प्रतं तृतीयः संसैककः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरे निषीधिका प्रतिपादिता, तत्र च कथम्भूतायां भूमावुद्यारादि विधेयमिति, अस्य च नामनिष्पन्ने निक्षेपे उञ्चारप्रश्रवण इति नाम, तदस्य निरुक्त्यर्थं निर्युक्तिकृदाह-

नि. [३२४] उच्चवइ सरीराओ उच्चारों पसवइत्ति पासवणं। तं कह आयरमाणस्स होइ सोही न अइयारो ॥

**वृ.** शरीरादुत्-प्राबल्पेन च्यवते-अपयाति चरतीति वाउच्चारः-विष्ठा, तथा प्रकर्षेण श्रवतीति प्रश्रवणम्-एकिका, तच्च कथमाचरतः साधोः शुद्धिर्भवति नातिचार इति ? ॥

उत्तरगाथया दर्शयितुमाह-

नि. [३२५] मुनिना छक्कायदयावरेण सुत्तभणियंमि ओगासे । उच्चारविउस्सग्गो कायव्वो अप्पमत्तेणं ॥

**वृ.** 'साधुना' षड्जीवकायरक्षणोद्युक्तेन वक्ष्यमाणसूत्रोक्ते स्यण्डिले उद्यारप्रश्रवणे विधेये अप्रमत्तेनेति ॥ निर्युक्त्यनुगमानन्तरं सूत्रानुगमे सूत्रं, तच्चेदम्— मू. (४९९)सेभि० उद्यारपासवणकिरियाए उब्बाहिजनाणे सयस्स पायपुंछणस्स असईए तओ पच्छा साहम्मियं जाइज्ञा।। से भि० से जं० पु० थंडिल्लं जाणिज्ञा असंडं० तह० थंडिलंसि नो उद्यारपासवणं वोसिरिज्ञा।

से भि० जं पुण शं० अप्पपाणं जाव संताणयं तह० शं० उञ्चा० वोसिरिज़ा। से भि० से जं० अस्तिपडियाए एगं साहम्मियं समुद्दिस्स वा अस्ति० बहवे साहम्मिया स० अस्ति प० एगं साहम्मिणिं स० अस्तिप० बहवे साहम्मिणीओ स० अस्ति० बहवे समण० पगणिय २ समु पाणाइं४ जाव उद्देसियं चेएइ, तह० थंडिल्लं पुरिसंतरकडं जाव बहियानीहडं वा अनी० अन्नयरंसि वा तहप्पगारंसि थं० उद्यारं नो वोसि०।

से भि० से जं० बहवे समणमा० कि० व ०अतिही समुद्दिस्स पाणां भूयाइं जीवाइं सत्ताइं जाव उद्देसियं चेएड्, तह० थंडिलं पुरिसंतरगडं जाव बहियाअनीहडं अन्नयरंसि वा तह० थंडिल्लंसि नो उञ्चारपासवण०, अह पुण एवं जाणिज्ञा-अपुरिसंतरगडं जाव बहिया नीहडं अन्नयरंसि वा तहप्पगारं० थं० उद्यार० वोसि०।। से० जं० अस्तिपडियाए कयं वा कारियं वा पामिच्चियं वा छन्नं वा घट्ठं वा मट्ठं वा लित्तं वा संमट्ठं वा संपधूवियं वा अन्नयरंसि वा तह ० थंडि० नो उ०

से भि० से जं पुण थं० जाणेज़ा, इह खलु गाहावई वा गाहा० पुत्ता वा कंदाणि वा जाव हरियाणि वा अंतराओ वा बाहिं नीहरति वहियाओ वा अंतो साहरति अन्नयरंसि वा तह० थं० नो उद्या०।। से भि० से जं पुण० जाणेज्ञा-खंधंसि वा पीढंसि वा मंचंसि वा मालंसि वा अट्टंसि वा पासायंसि वा अन्नयरंसि वा० थं० नो उ०।

से भि० से जं पुण० अनंतरहियाए पुढवीए संसिणिद्धाए पु० संसरक्खाए पु० महियाए मक्रडाए चित्तमंताए सिलाए चित्तमंताए लेलुयाए कोलावासंसि वा दारुयंसि वा जीवपइड्रियंसि वा जाव मक्रडासंताणयंसि अन्न० तह० थं० नो उ० ।।

वृ. स भिक्षुःकदाचिदद्यारप्रश्रवणकर्त्तव्यतयोत्-प्राबल्येन बाध्यमानः स्वकीयपादपुञ्छन-समाध्यादावुद्यारादिकं कुर्यात्, स्वकीयस्य त्वभावेऽन्यं 'साधर्मिकं' साधुं याचेत पूर्वप्रत्युपेक्षितं पादपुञ्छनकसमाध्यादिकमिति, तदनेनैतव्यतिपादितं भवति-वेगधारणं न कर्त्तव्यमिति ।

अपि च-स भिक्षुरुद्यारप्रश्रवणाशङ्कायां पूर्वमेव स्थण्डिलं गच्छेत्, तस्मिश्च साण्डादिकेऽप्रासुकत्वादुद्यारादि न कुर्यादिति ।। किञ्च-अल्पाण्डादिके तु प्रासुके कार्यमिति । तथा स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात्, तद्यथा-एकं बहून् वा साधर्मिकान् समुद्दिश्य तयतिज्ञया कदाचित्कश्चित्स्थण्डिलं कुर्यात् तथा श्रवणादीन् प्रगणय्य वा कुर्यात्, तच्चैवंभूतं पुरुषान्तरस्वीकृतमस्वीकृतं वा मूलगुणदुष्टमुद्देशिकं स्यण्डिलमाश्रित्योच्चारादि न कुर्यादिति ।। किञ्च-स भिक्षुर्यावन्तिके स्थण्डिलेऽपुरुषान्तरस्वीकृते उच्चारादि न कुर्यात्, पुरुषान्तरस्वीकृते तु कुर्यादिति

अपि च-स भिक्षु साधुमुद्दिश्य क्रीतादावुत्तरगुणाशुद्धे स्थण्डिले उच्चारादि न कुर्यादिति ।। किञ्च-स भिक्षुर्गृहपत्यादिना कन्दादिके स्थण्डिलाझिष्काश्यमाने तत्र वा निक्षिप्यमाणे नोच्चारादि कुर्यादिति । तथा-स भिक्षु स्कन्धादीस्यण्डिले नोच्चारादि कुर्यादिति ॥ किञ्च-स भिक्षुर्युत्पुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात्, तद्यथा-अनन्तरितायां सचित्तायां पृथिव्यां तत्रोद्घारादि न कुर्यात्, शेषं सुगमं, नवरं 'कोलावासं'ति धुणावासम् ॥ अपि च–

मू. (५००) से भि० से जं० जाणे०-इह खलु गाहावई वा गाहावइपुत्ता वा कंदाणि वा जाव बीयाणि वा परिसार्डिसु वा परिसार्डिति वा परिसाडिस्तंति वा अन्न० तह० नो उ०।

--से भि० से जं० इहूँ खलु गाहावई वा गा० पुत्ता वा सालीणि वा वीहीणि वा मुगाणि वा मासाणि वा कुलत्याणि वा जवाणि वा जवजवाणि वा पइरिंसु वा पइरिंति वा पइरिस्संति वा अन्नयरंसि वा तह० थंडि० नो उ०।

—से भि० २ जं० आमोयाणि वा घासाणि वा मिलुयाणि वा विज्ञुलयाणि वा खाणुयाणि वा कडयाणि वा पगडाणि वा दरीणि वा पदुग्गाणि वा समाणि वा २ अन्नयरंसि तह० नो उ०॥

–से भिक्खू० से जं० पुण थंडिल्लं जाणिज़ा माणुसरंघणाणि वा महिसकरणाणि वा वसहक० अस्सक० कुक्कुडक० मक्कडक० हयक० लावयक० वट्टयक० तित्तिरक० कवोयक० कविंजलकरणाणि वा अन्नयरंसि वा तह० नो उ० ।

—से भि० से जं० जाणे० वेहाणसडाणेसु वा गिद्धपहठा० वा तरुपडणडाणेसु वा० मेरुपडणठा० विसभक्खणयठा० अगणिपडणडा० अन्नयरंसि वा त० नो उ०।

—से भि० से जं० आरामाणि वा उज्जाणाणि वा वणाणि वा वणसंडाणि वा देवकुलाणि वा समाणि वा पवाणि वा अन्न० तह० नो उ०। से भिक्खू० से जं पुण जा० अट्टालयाणि वा चरियाणि वा दाराणि वा पगोपुराणि वा अन्नयरंसि वा तह० थं नो उ०॥

—से भि० से जं० जाणे० तिगाणि वा चउकाणि वा चच्चराणि वा चउम्मुहाणि वा अन्नयरंसि वा तह० नो उ ०।

—से भि० से जं० जाणे० इंगालदाहेसु खारदाहेसु वा मडयदाहेसु वा मडययूभियासु वा मडयचेइएसु वा अन्नयरंसि वा तह थं० नो उ०।

—से जं जाणे० नइयायतणेसु वा पंकाययणेसु वा ओघाययणेसु वा सेयणवहंसि वा अन्नयरंसि वा तह० यं० नो उ०।

–सेभि० से जंजाणे० नवियासुवा महियखाणिआसु नवियासु गोप्पहेलियासु वा गवाणीसु वा खाणीसु वा अन्नयरंसि वा तह० थं० नो उ०।

–से जं जा० डागवर्श्वसि वा सागव० मूलग० हत्यंकरवर्द्वसि वा अत्ररंसि वा तह० नो उ० वो०

--से भि० से जं असणवणंसि वा सणव० धायइव० केयइवणंसि वा अंबव० असोगव० नागव० पुत्रागव० चुल्लगव ०अन्नयरेसु तह० पत्तोवेएसु वा पुष्फोवेएसु वा फलोवेएसु वा बीओवेएसु वा हरिओवेएसु वा नो उ० वो० ॥

**ष्ट्र. स भिक्षुर्यत्पुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात्-तद्य**या यत्र गृहपत्यादयः कन्दबीजा-दिपरिक्षेपणादिक्रियाः कालत्रयवर्त्तिनीः कुर्युस्तत्रैहिकामुष्मिकापायभयादुच्चारादि न कुर्यादिति ।।तया-यत्र च गृहपत्यादयः शाल्यादीन्युप्तवन्तो वपन्तिवप्स्यन्ति वातत्राप्यच्चारादि न विदध्यादिति किञ्च-सभिक्षुर्यसुनरेवंभूतंस्थण्डिलंजानीयात्, तद्यथा-'आमोकानि' कचवरपुआः 'घासाः' वृहत्योभूमिराजयः 'भिलुगाणि' श्रुक्ष्णभूमिराजयः 'विज्ञलं' पिच्छलं 'स्याणुः' प्रतीतः 'कडवाणि' इक्षुयोन्नलकादिदण्डकाः 'प्रगत्ताः' महागत्ताः 'दरी' प्रतीता 'प्रदुर्गाणि' कुड्चप्राकारादीनि, एतानि च समानि वा विषमानि वा भवेयुस्तदेतेष्वात्मसंयमविराधनासम्भवान्नोम्चारादि कुर्यादिति ॥ किञ्च-स भिक्षुर्यसुनरेवंभूतं स्थण्डिलं जानीयात्, तद्यथा-'मानुषरन्धनानि' चुछयादीनि तथा महिष्यादीनुद्दिश्य यन्न किञ्चिक्तियते ते वा यत्र स्थाप्यन्ते तत्र लोकविरुद्धप्रवचनोपधा-तादिभयान्नोच्चारादि कुर्यादिति ॥

तथा-सभिक्षु 'वेहानसस्थानानि' मानुषोल्लम्बनस्थानानि 'गृध्रपृष्ठस्थानानि' यत्रंर मुमूर्षवो गृध्रादिभक्षणार्थं रुधिरादिदिग्धदेहा निपत्यासते 'तरुपतनस्थानानि' यत्र मुमूर्षव एवानशनेन तरुवत्पतितास्तिष्ठन्ति तरुभ्यो वायत्र पतन्ति, एवं मेरुपतनस्थानान्यपि, मेरुश्च-पर्वतोऽभिधीयत इति, एवं विषभक्षणाग्निप्रवेशस्थानादिषु नोद्यारादि कुर्यादिति । अपि च-आरामदेवकुलादौ नोद्यारादि विदध्यादिति ।। तथाप्राकारसम्बन्धिन्यट्टालादौ नोद्यारादि कुर्यादिति ॥ किञ्च-त्रिकचतुष्कचत्वरादौ च नोद्यारादि ब्युत्सृजेदिति ॥

किञ्च-सभिक्षुरङ्गरदाहस्थानश्मशानादौ नोच्चारादि विदध्यादिति ।। अपि च-'नद्यायतनानि' यत्र तीर्थस्थानेषु लोकाः पुण्यार्थं स्नानादि कुर्वन्ति 'पङ्कायतनानि' यत्र पड्किलप्रदेशे लोका धर्मार्थं लोटनादिक्रियां कुर्वन्ति 'ओधायतनानि' यानि प्रवाहत एव पूज्यस्थानानि तडागजलप्रवेशौघमार्गो वा 'सेचनपथे वा' नीकादौ नोच्चारादि विधेयमिति ।।

तथा-स भिक्षुरभिनवासु मृत्खनिषु, तथा नवासु गोप्रहेल्यासु 'गवादनीषु' सामान्येन वा गवादनीषु खनीषु वा नोद्यारादिविदध्यादिति।

किञ्च-'डॉग'ति डालप्रधानं शाकं पत्रप्रधानं तु शाकमेव तद्वति स्थाने, तथा मूलकादिवति चनोद्यारादिकुर्यादिति ॥ तथा-अशनो-बीयकस्तद्वनादौ चनोद्यारादि कुर्यादिति, तथा पत्रपुष्पफला-द्युपेतेष्विति ॥ कथं चोद्यारादि कुर्यादिति दर्शयति--

मू. (५०९) से भि० संयपाययं वा परपाययं वा गहाय से तमायाए एगंतमवक्कमे अणावायंसि असंलोयंसि अप्पपाणंसि जाव मक्कडासंताणयंसि अहारामंसि वा उवस्सयंसि तओ संजयामेव उच्चारपासवणं वोसिरिज़ा, से तमायाए एगंतमवक्कमे अणाबाहंसि जाव संताणयंसि अहारामंसि वा झामथंडिल्लंसि वा अन्नयरंसि वा तह० थंडिल्लंसि अचित्तंसि तओ संजयामेव उच्चारपासवणं वोसिरिज़ा, एयं खलु तस्स० सया जइज्ञासि– त्तिबेमि ॥

**वृ.** सभिक्षु स्वकीयं परकीयं वा 'पात्रकं' समाधिस्थानं गृहीत्वा स्थण्डिलं वाऽनापातमसंलोकं गत्वोच्चारं प्रसवणं वा 'कुर्यात्' प्रतिष्ठापयेदिति, शेषमध्ययनसमाप्तिं यावत्पूर्ववदिति ।।

'चूडा-२ सप्तैककः-३ समाप्तः

### -: ससैककः-४ ''शब्द'' :-

**ष्ट्र.** तृतीयानन्तरं चतुर्थं सप्तैककः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहाद्ये स्थानंद्वितीये स्वाध्यायभूमिस्तृतीये उच्चारादिविधि प्रतिपादितः, तेषु च वर्त्तमानो यद्यनुकूलप्रतिकूलशब्दान् श्रृ णुयात्तेष्वरक्तद्विष्टेन भाव्यम्, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य नामनिष्पन्ने निक्षेपे शब्दसप्तैकक इति नाम, अस्य च नामस्थापने अनाधत्य द्रव्यनिक्षेपं दर्शयितुं निर्युक्तिकृद्गाथापश्चार्द्धेनाह-नि. [३२६] दव्वं संठाणाई भावो वन्नकसिणं स भावो य।

दव्वं सद्दपरिणयं भावो उ गुणा य कित्ती य ॥ द्रव्यं नोआगमतो व्यतिरिक्तं शब्दत्वेन यानि भाषाद्रव्याणि परिणतानि तानीह गृह्यन्ते, भावशब्दस्त्वागमतः शब्दे उपयुक्तः, नोआगमतस्तु गुणा-अहिंसादिलक्षणा यतोऽसौ हिंसाऽनृता-दिविरतिलक्षणैर्गुणैः श्लध्यते, कीर्त्तिश्च यथा भगवत एव चतुस्त्रिंशदतिशयाद्युपेतस्य सातिशयरूप-संपत्समन्वितस्येत्यर्हन्निति लोके ख्यातिरिति, निर्युक्त्यनुगमादनन्तरं सूत्रानुगमे सूत्रं, तच्चेदम-

मू. (५०२) सेभि० मुइंगसद्दाणि वा नंदीस० झल्लरीस० अन्नयराणि वा तह० विरूवरूवाई सद्दाइं वितताइं कन्नसोयणपडियाएनो अभिसंधारिज्ञा गमणाए।

–से भि० अहावेगइयाइं सद्दाइं सुणेइ, तं-वीणासद्दाणि वा विपंचीस० पिप्पी सगस० तूणयसद्दा वणयस० तुंबवीणियसद्दाणि वा ढंकुणसद्दाइं अन्नयराइं तह० विरूवरूवाइं० सद्दाइं वितताइं कण्णसोयपडियाए नो अभिसंधारिज्ञा गमणाए।

–सेभि० अहावेगइयाइं सद्दाई सुणेइ, तं०–तालसद्दाणि वा कंसतालसद्दाणि वा लत्तियस० गोधियस० किरिकिरियास० अन्नयरा० तह० विरूव० सद्दाणि कण्ण० गमणाए ।

–से भि० अहावेग० तं० संखसद्दाणि वा वेणु० वंसस० खरमुद्दिस० परिपिरियास० अन्नय० तह० विरूव० सद्दाइं झुसिराइं कन्न०।।

**वृ.** 'स' पूर्वाधिकृतोभिक्षुर्यदि विततततघनशुषिररूपांश्चतुर्विधानातोद्यशब्दान् श्रृ णुयात्, ततस्तच्छ्रवणप्रतिज्ञया 'नाभिसन्धारयेद्गमनाय'न तदाकर्णनाय गमनं कुर्यादित्यर्थ, तत्र विततं-मृदङ्गनन्दीझस्लर्यादि, ततं-चीणाविपञ्चीबद्धीसकादितन्त्रीवाद्यं, वीणादीनां च भेदस्तन्त्री-सङ्ख्यातोऽवसेयः।

धनं तु-हस्ततालकंसालादि प्रतीतमेव नवरं लत्तिका-कंशिका गोहिका-भाणडानां कक्षाहस्तगतातोद्यविशेषः 'किरिकिरिया' तेषामेव वंशादिकम्बिकातोद्यं, शुषिरंतु शङ्खवेण्वादीनि प्रतीतान्येव, नवरं खरमुही-तोहाडिका 'पिरिपिरिय'त्ति कोलियकपुटावनद्धा वंशादिनलिका, इत्येष सूत्रचतुष्टयसमुदायार्थः ।। किञ्च–

मू. (५०३) से भि.०अहावेग० तं०वप्पाणि वा फलिहाणि वा जाव सराणि वा सागराणि वा सरसरपंतियाणि वा अन्न० तह० विरूव० सद्दाइं कण्ण०।

—से भि० अहावे० तं० कच्छाणि वा नूमाणि वा वहणाणि वा वणाणि वा वणदुग्गाणि पव्वयाणि वा पव्वयदुग्गाणिवा अन्न० अहा० त० गामाणि वा नगराणि वा निगमाणि वा रायहाणाणि वा आसमपट्टणसंनिवेसाणि वा अन्न० तह० नो अभि०।

—से भि ०अहावे ०आरामाणि वा उज्जाणाणि वा वर्णाणि वा वणसंडाणि वा देवकुलाणि वा समाणि वा पवाणि वा अन्नय तहा सद्दाइं नो अभि ।

–से भि० अहावे० अट्टाणि वा अट्टालयाणि वा चरियाणि वा दाराणि वा गोपुराणि वा अन्न० तह० सद्दाइं नो अभि०।

–से भि० अहावे० तंजहा-तियाणि वा चउक्काणि वा चच्चराणि वा चउम्मुहाणि वा अन्न० तह० सद्दाइं नो अभि० । --से भि० अहावे० तंजहा-महिसकरणट्ठाणाणि वा वसभक० अस्सक० हत्थिक० जाव कविंजलकरणट्ठा० अन्न० तह० नो-अभि० ।। से भि० अहावे० तं० महिसजुद्धाणि वा जाव कविंजलसु० अन्न० तह ०नो अभि० ।

-- से भि० अहावे० तं० जुहियठाणाणि वा हयजू० गयजू० अन्न० तह० नो अभि० ।।

वृ. सभिक्षुरथ कदाचिदेकर्तरान् कांश्चित् शब्दान् श्र णुयात्, तद्यथा-'वप्पाणि वे'ति वप्रः-केदारस्तदादिर्वा, तद्वर्णकाः शब्दा वप्रा एवोक्ताः, वप्रादिषु वा श्रव्यगेयादयो ये शब्दास्तच्छ्रवणप्रतिज्ञया वप्रादीन्न गच्छेदित्येवं सर्वन्रायोज्यम् । अपि च-यावन्महिषयुद्धानीति षडपि सूत्राणि सुबोध्यानि ।

किश्च-सं भिक्षुर्यूधमिति-द्वन्द्वं वधूवराधिकं तत्स्थानं वेदिकादि, तन्न श्रव्यगेयादि-शब्दश्रवणप्रतिज्ञया न गच्छेत्, वधूवरर्णनं वा यत्र क्रियते तत्र न गच्छेदिति, एवं हयगजयूथादिस्थानानि द्रष्टव्यानीति ।। तथा-

मू. (५०४)से भि० जाव सुणेइ, तंजहा-अक्खाइयठाणाणि वा मानुभ्मानियद्वाणाणि वा महताऽऽहयनद्टगीयवाइयतंतीतलतालतुडियपडुप्पवाइयद्वाणाणि वा अन्न० तह.०सद्दाइं नो अमिसं०।

–से भि० जाव सुणेइ, तं०–कलहाणि वा डिंबाणि वा डमराणि वा दोरज़ाणि वा वेर० विरुद्धर० अन्न० तह० सद्दाइं नो०।

–से भि० जाव सुणेइ खुड्डियं दारियं परिभुत्तमंडियं अलंकियं निवुज्झमाणिं पेहाए एगं वा पुरिसं वहाए नीणिज्ञमाणं पेहाए अन्नयराणि वा तह नो अभि ०।

से भि० अन्नयराइं विरूव० महासवाइं एवं जाणेज्ञा तंजहा—बहुसगडाणि वा बहुरहाणि वा बहुमिलक्खूणि वा बहुपद्यंताणि वा अन्न० तह० विरूव० महासवाइं कन्नसोयपडियाए नो अभिसंधारिज्ञा गमणाए।

–से भि० अन्नयराइं विरूव० महूस्सवाइं एवं जाणिज्ञा, तंजहा-इत्थीणि वा पुरिसाणि वा थेराणि वा डहराणि वा भज्झिमाणि वा आभरणविभूसियाणि वा गायंताणि वा वायंताणि वा नद्यंताणि वा हसंताणि वा रमंताणि वा मोहंताणि वा विपुलं असणं पाणं खाइमं साइमं परिभुंजंताणि वा परिभायंताणि वा विछड्डियमामाणि वा विगोवयमाणाणि वा अन्नय० तह० विरूव० महु० कन्नसोय०

—से भि० नो इहलोइएहिं सद्देहिं नो परलोइएहिं स० नो सुएहिं स० नो असुएहिं स० नो दिडेहिं स० नोअदिडेहिं स० नो कंतेहिं सद्देहिं सज्जिजा नो गिज्झिजा नो मुज्झिजा नो अज्झोववज्रिजा, एयं खलु० जाव जएज्ञासि त्तिबेमि ।।

**वृ.** सभिक्षु 'आख्यायिकास्थानानि' कथानकस्थानानि, तथा 'मानोन्मानस्थानानि' मानं-प्रस्थकादि उन्मानंनाराचादि, यदिवा मानोन्मानमित्यश्वादीनां वेगादिपरीक्षा तत्स्थानानि तद्वर्णनस्थानानि वा, तथा महान्ति च तानि आहतनृत्यगीतवादित्रतन्त्रीतलतालत्रुटितप्रत्युत्पन्नानि च तेषां स्थानानि-सभास्तद्वर्णनानि वा श्रवणप्रतिज्ञयानाभिसन्धारयेद्गमनायेति ।। किञ्च-कलहादिवर्णनं तत्स्थानं वा श्रवणप्रतिज्ञया न गच्छेदिति ।। अपि च-स भिक्षु क्षुझिकां 'दारिकां' डिक्वरिकां मण्डितालङकृ तां बहुपरिवृतां 'निवुज्झमाणिं'तिअश्वादिनानीयमानां, तथैकंपुरुषंवधाय नीयमानं प्रेक्ष्याहमत्र किञ्चिच्छ्रोष्या -मीति श्रवणार्थं तत्र न गच्छेदिति ॥ स भिक्षुर्यान्येवं जानीयात्, महान्त्येतान्याश्रवस्थानानि-पापोपादानस्थानानि वर्त्तन्ते, तद्यथा-बहुशकटानि बहुरथानि बहुम्लेच्छानि बहुप्रात्यन्तिकानि, इत्येवंप्रकाराणि स्थानानि श्रवणप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेदु गन्तुमिति ॥

किञ्च-स भिक्षुर्महोत्सवस्थानानि यान्येवंभूतानि जानीयात्, तद्यथा-स्त्रीपुरुषस्थविरबा-लमध्यवयांस्येतानि भूषितानि गायनादिकाः क्रिया यत्र कुर्वन्ति तानि स्थानानि श्रवणेच्छया न गच्छेदिति ॥ इदानीं सर्वेपसंहारार्थमाह ।

सः 'भिक्षु' ऐहिकामुष्मिकापायभीरू 'नो' नैव 'ऐहलोकिकैः' मनुष्यादिकृतैः 'पारलोकिकैः' पारापतादिकृतैरैहिकामुष्मिकैर्वा शब्दैः, तथा श्रुतैरश्रुतैर्वा, तथा साक्षादुपलब्धे रनुपलब्धैर्वा 'न सङ्गं कुर्यात्' न रागं गच्छेत् न गार्द्धर्यं प्रतिपद्येत न तेषु मुह्येत नाध्युपपन्नो भवेत्, एतत्तस्य भिक्षोः सामग्रयं, शेषं पूर्ववत् ।

इह च सर्वत्रायं दोषः-अजितेन्द्रियत्वं स्वाध्यायादिहानी रागद्वेषसम्भव इति, एवमन्येऽपि दोषा ऐहिकामुष्मिकाषायभूताः स्वधिया समालोच्या इति ।।

चूडा-२ सप्तैककः-४ समाप्तः

-: चूडा-२ ससैकक:-५ ''रूप'':--

**वृ.** अथ पश्चमं रूपससैकःकेमध्ययनम् । चतुर्थससैककानन्तरं पश्चमं समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरं श्रवणेन्द्रियमाश्रित्य रागद्वेषोत्पत्तिर्निषिद्धा तदिहापि चक्षुरिन्द्रियमाश्रित्य निषिध्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य नामनिष्पन्ने निक्षेपे रूपससैकक इति नाम, तत्र रूपस्य चतुर्धा निक्षेपः, नामस्थापने अनाधत्य द्रव्यभावनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृद् गाथाऽर्द्धमाह–

नि. [३२७] दव्वं संठाणाई मावो वन्न कसिणं सभावो य। दव्वं सद्दपरिणयं भावो उ गुणा य कित्ती य।।

**वृ.** तत्र द्रव्यं नोआगमतो व्यतिरिक्तं पश्च संस्थानानि परिमण्डलादीनि, भावरूपं द्विधा-वर्णतः स्वभावतश्च, तत्र वर्णतः कृत्स्नाः पश्चापि वर्णा, स्वभावरूपं त्वन्तर्गतक्रोधादिवशाद्भूङ्गल-लाटनयनारोपणनिष्ठुरवागादिकम्, एतद्विपरीतं प्रसन्नस्येति उक्तश्च —

।।९।। "रूडुस्स खरा दिडी उप्पलधवला पसन्नचित्तस्स ।

दुहियस्स ओमिलायइ गंतुमणस्तुस्तुआ होइ ।।

सूत्रानुगमे सूत्रं, तच्चेदम्-

मू. (५०५) सेभि० अहावेगइयाइं ख्वाइं पासइ, तं० गंथिमाणि वा वेढिमाणि वा पूरिमाणि वा संधाइमाणि वा कडुकम्पाणि वा पोत्यकम्पाणि वा चित्तक० मणिक० वा दंतक. पत्तछिज्ञकम्पाणि वा विविहाणि वा वेढिमाइं अन्नयराइं० विरू० चक्खुदंसणपडियाए नो अभिसंधारिज गमणाए, एवं नायव्वं जहा सद्दपडिमा सव्व वाइत्तवज्ञा रूवपडिमावि ।।

षृ. स भावभिक्षु कचित् पर्यटञ्रयैकानि-कानिचिन्नानाविधानि रूपाणि पश्यति, तद्यया-

'ग्रथितानि' ग्रथितपुष्पादिनिर्वर्त्तितस्वस्तिकादीनि 'वेष्टिमानि' वस्त्राविनिर्वर्त्तितपुत्तलिकादीनि 'पूरिमाणि'त्तियान्यन्तः पूरणेन पुरुषाद्याकृतीनि भवन्ति 'संधातिमानि' चोलकादीनि 'काष्ठकर्माणि' रयादीनि 'पुस्तकर्माणि' लेप्यकर्माणि 'चित्रकर्माणि' प्रतीतानि 'मणिकर्माणि' विचित्रमणिनिष्पा-दितस्वस्तिकादीनि, तथा 'दन्दकर्माणि' दन्तपुत्तलिकादानि, तया पत्रच्छेद्यकर्माणि, इत्येवमादीनि विरूपरूपाणि चक्षुर्दर्शनप्रतिज्ञया नाभिसन्धारयेदमनाय, एतानि द्रष्टुं गमने मनोऽपि न विदघ्यादित्यर्थ ।

एवं शब्दसंसैककसूत्राणि चतुर्विधातोद्यरहितानि सर्वाण्यपीहायोज्यानि केवलं रूपप्रतिज्ञयेत्वेवमभिलापो योज्यः, दोषाश्चात्र प्राग्वत्समायोज्या इति ।।

चूडा-२ सप्तैककः-५ समाप्तः

-: चूडा-२ संतैककः-६ परक्रियाः-

वृ. अथ षष्ठं परक्रियाभिधं सप्तैककमध्ययनम् । साम्प्रतं पञ्चमानन्तरं षष्ठः सप्तैककः समारभ्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-अनन्तरं रागद्वेषोत्पत्तिनिमित्तप्रतिषेधोऽभिहितः, तदिहापि स एवान्येन प्रकारेणाभिधीयते इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्य नामनिष्मन्ने निक्षेपे परक्रियेत्यादानपदेननाम, तत्र परशब्दस्य षड्विधनिक्षेपं दर्शयितुं निर्युक्तिकारो गाथाऽर्द्धमाह-

नि. [३२८](गावार्खम्)छकं परइकिकं त ९ दन्न २ माएस ३ कम ४ बहु ५ पहाणे ६ ।

षट्कं 'पर' इति परंशब्दविषये नामादि षड्विधो निक्षेपः, तत्र नामस्यापने क्षुण्णे, द्रव्यादिपरमेकैकंषडिधं भवतीति दर्शयति, तद्यथा-तत्परम् १ अन्यपरम् २ आदेशपरं ३ क्रमपरं ४ बहुपरं ५ प्रधानपर ६ मिति, तत्र द्रव्यपरं तावत्तद्रूपतयैव वर्त्तमानं-परमन्यत्तत्परं यथा परमाणोः परः परमाणुः १, अन्यपरं त्वन्यरूपतया परमन्यद्, यथा एकाणुकाद्द्रयणुकत्र्यणुकादि, एवं द्रयणुकादेकाणुकत्र्यणुकादि २, 'आदेशपरम्' आदिश्यते-आज्ञाप्यत इत्यादेशः-यः कस्यांचिक्तियायां नियोज्यते कर्मकरादि स चासौ परश्चादेशपर इति ३ ।

क्रमपरं तु द्रव्यादि चतुर्द्धा, तत्र द्रव्यतः क्रमपरमेकप्रदेशिकद्रव्याद् द्विप्रदेशिकद्रव्यम्, एवं द्वयणुकात्रयणुकमित्यादि, क्षेत्रत एकप्रदेशावगाढाद् द्विप्रदेशावगाढमित्यादि, कालत एकसमयस्थितिकाद् द्विसमयस्थितिकमित्यादि, भावतः क्रमपरमेकगुणकृष्णाद्ढिगुण-कृष्णमित्यादि ४, बहुपरं बहुत्वेन परं बहुपरं यद्यस्माद्दहु तद्वहुपरं, तद्यथा –

II 9 II ''जीवा पुग्गल समया दव्व पएसा य पञ्जवा चेव I योवाणं तानंता विसेसअहिया दुवेऽनंता II

तत्र जीवाः स्तोकाः तेभ्यः पुद्गला अनन्तगुणा इत्यादि ५, प्रधानपरं तु प्रधानत्वेन परः, द्विपदानां तीर्थकरः चतुष्पदानां सिंहादि अपदानामर्जुनसुवर्णपनसादि ६, एवं क्षेत्रकालभाव-पराण्यपि तत्परादिषड्विधत्वेन क्षेत्रादिप्राधान्यतया पूर्ववत्स्वधिया योज्यानीति, सामान्येन तु जम्बूद्वीपक्षेत्रात्पुष्करादिकं क्षेत्रं परं, कालपरं तु प्रावृट्कालाच्छरत्कालः, भावपरमौदयिकादौप-शमिकादि ॥ साम्प्रतं सूत्रानुगमे सूत्रमुद्धारणीयं, तच्चेदम्–

मू. (५०६) परकिरियं अञ्झत्यियं संसेसियं नो तं सायए नो तं नियमे, सिया से परो पाए आमज्जिज वा पमजिज्ज वा नो सं सायए नो तं नियमे । से सिया परो पायाइं संबाहिज वा पलिमद्विज्ञ वा नो तं सायए नो तं नियमे ।

--से सिया परो पायाइं कुसिज वा रइज वा नो तं सायए नो तं नियमे। से सिया परो पायाइं तिल्लेण वा घ० वसाए वा मक्खिज वा अब्मिंगिज वा नो तं २।

– से सिया परो पायाइं लुद्धेण वा कक्केण वा चुत्रेण वा वण्णेण वा उल्लेढिज वा उच्चलिज वा नो तं २ । से सिया परो पायाइं सीओदगवियडेण वा २ उच्छोलिज वा पहोलिज वा नो तं० ।

–से सिया परो पायाइं अन्नयरेण विलेवणजाएण आलिंपिज वा विलिंपिज वा नो तं०। से सिया परो पायाइं अन्नयरेण धूवणजाएण धूविज वा पधू ०नो तं २। से सिया परो पायाओ आणुयं वा कंटयं वा नीहरिज वा विसोहिज वा नो तं ०२।

—से सिया परो पायाओ पूर्य वा सोणियं वा नीहरिज वा विसो० नो तं० २ । से सिया परो कायं आमजेज वा पमज़िज वा नो तं सायए नो तं नियमे । से सिया परो कायं लोट्टेण वा संवाहिज वा पलिमदिज्ञ वा नो तं० २ ।

—से सिया परो कायं तिल्लेण वा ध० वसा० मक्खिज्ञ वा अब्भंगिज वा नो तं० २ । से सिया परो कायं लुद्धेण वा ४ उल्लोढिज्ञ वा उव्वलिज्ञ वा नो तं० २ । से सिया परो कायं सीओ० उसिणो० उच्छोलिज्ञ वा प० नो तं० २ । से सिया परो कायं अन्नरेण विलेवणजाएण आलिंपिज्ञ वा २ नो तं० २ । से० कायं अन्नयरेण धूवणजाएण धूविज्ञ वा प० नो तं० २ ।

-- से० कायंसि वणं आमजिज वा २ नो तं २ । से० वणं संवाहिज वा पलि० नो तं० ।

--से वर्ण तिल्लेण वा ध० २ मक्खिज्ञ वा अब्मं० नो तं० २ । से० वर्ण लुर्खेण वा ४ उल्लोढिज्ञ वा उच्चलेज वा नो तं० २ ।

–से सिया परो कायंसि वणं सीओ० उ० उच्छोलिज वा प० नो तं० २ । से० सि वणं वा गंडं वा अरइं वा पुलयं वा भगंदलं वा अन्नयरेणं सत्यजाएणं अच्छिंदिज्ञ वा विच्छिंदिज्ञ वा नो तं० २ ।

से सिया परो अन्न० जाएण आच्छिदित्ता वा विच्छिदित्ता वा पूर्य वा सोणियं वा नीहरिज्ञ वा वि० नो तं० २ । से० कायंसि गंडं वा अरइं वा पुलइयं वा भगंदलं वा आमज़िज्ञ वा २ नो तं० २

–से० गंडं वा ४ संवाहिज़ वा पलि० नो तं० २ । से० कायं० गंडं वा ४ तिल्लेण वा ३ भक्खिज़ वा २ नो तं० २ । से० गंडं वा लुद्धेण वा ४ उल्लोढिज़ वा उ० नो तं० २ ।

—से गंडं वा ४ सीओदग २ उच्छोलिज़ वा प० नो तं० २ । से० गंडं वा ४ अन्नयरेणं सत्यजाएणं अच्छिंदिज्ञ वा वि० अन्न० सत्य० अच्छिंदित्ता वा २ पूर्य वा २ सोणियं वा नीह० विसो० नो तं सायए २ ।

–से सिया परो कार्यसि सेयं वा जल्लं वा नीहरिज वा वि० नो तं० २ । से सिया परो अच्छिमलं वा कण्णमलं वा दंतमलं वा नहम० नीहरिज वा २ नो तं० २ ।

–से सिया परो दीहाइं वालाइं दीहाइं वारोइं दीहाइं भमुहाइं दीहाइ कक्खरोमाइं दीहाइं वत्थिरोमाइं कप्पिञ्ज वार्सठविज्ज वा नो तं०२। से सिया परो सीसाओ लिक्खं वा जूयं वा नीहरिज्ज वा वि० नो तं०२। -से सिया परो अंकंसि वा २ तुयहावित्ता हारं वा अद्धहारं वा उरत्यं वा गेवेयं वा मउडं वा पालंब वा सुवन्नसुत्तं वा आविहिझ वा पिणहिज वा नो तं० २ ।

—से० परी आरामंसि वा उज़ाणंसि वा नीहरित्ता वा पबिसित्ता वा पायाइं आमज़िज वा प० नो तं साइए।। एवं नेयव्वा अञ्रमत्रकिरियावि।।

वृ. पर-आत्मनो व्यतिरिक्तोऽन्यस्तस्य क्रिया-धेष्टा कायव्यापाररूपा तां परक्रियाम् 'आध्यात्मिकीम्' आत्मनि क्रियमाणां, पुनरपि विशिनष्टि-'सांश्लेषिकीं' कर्मसंश्लेषजननीं 'नो' नैव 'आस्वादयेत्' अभिलषेत्, मनसान तत्राभिलाषं कुर्यादित्यर्थ, तथान तां परक्रियां 'नियमयेत्' कारयेद्वाचा, नापि कायेनेति । तां च परक्रियां विशेषतो दर्शयति –

'से' तस्य साधोर्निष्प्रतिकर्मशरीरस्य सः 'परः' अन्यो धर्मश्रद्धया पादौ रजोऽवगुण्ठितौ आमृज्यात् कर्पटादिना, वाशब्दस्तूत्तरपक्षापेक्षः, तन्नास्वादयेन्नापि नियमयेदिति, एवं स साधुस्तं परं पादौ संबाधयन्तं मर्दयन्तं वा स्पर्शयन्तं-रञ्जयन्तं, तथा तैलादिना प्रक्षयन्तमभ्यञ्जयन्तं वा, तथा लोध्रादिना उद्वर्त्तनादि कुर्वन्तं, तथा शीतोदकादिना उच्छोलनादि कुर्वाणं, तथाऽन्यतरेण सुगन्धिद्रव्येणालिग्पन्तं, तथा विशिष्टधूपेन धूपयन्तं, तथा पादात्कण्टकादिकमुद्धरन्तम्, एवं शोणितादिकं निस्सारयन्तं 'नास्वादयेत्' मनसा नाभिलषेत् नापि नियमयेत्-कारयेद्वाचा कायेनेति

शेषानि कायव्रणगतादीनि आरामप्रवेशनिष्क्रमणप्रमार्जनसूत्रं यावदुत्तानार्थानि ॥ एवममुमेवार्थमुत्तरसप्तकेऽपि तुल्यत्वात्सङ्क्षेपरुचि सूत्रकारोऽतिदिशति-'एवम्' इतियाः पूर्वोक्ताः क्रिया-रजःप्रमार्जनादिकास्ताः 'अन्योऽन्यं' परस्परतः साधुना कृतप्रतिक्रियया न विधेया इत्येवं नेतव्योऽन्योऽन्यक्रियासप्तैकक इति ॥

मू. (५०७) से सिया परो सुद्धेणं असुद्धेणं वा वइबलेण वा तेइच्छं आउट्टे से० असुद्धेणं वइबलेणं तेइच्छं आउट्टे ।

--से सिया परो गिलाणस्स सचित्ताणि वा कंदाणि वा मूलाणि वा तयाणि वा हरियाणि वा खणित्तु कड्वितु वा कड्ढावित्तु वा तेइच्छं आउडाविज्ञ नो तं सा० २ कडुवेयणा पाणभूयजीवसत्ता वेयणं वेइंति, एयं खलु० समिए सया जए सेयमिणं मत्रिज्ञासि --त्तिबेमि ।।

**वृ. 'से'** तस्य साधोः स परः शुद्धेनाशुद्धेन वा 'वाग्बलेन' मन्त्रादिसामर्थ्येन चिकित्सा व्याध्युपशमम् 'आउट्टे'त्ति कर्त्तुमभिलषेत् । तथा स परो ग्लानस्य साधोश्चिकित्सार्थं सचित्तानि कन्दगूलादीनि 'खनित्वा' समाकृष्य स्वतोऽन्येन वा खानयित्वा चिकित्सां कर्त्तुभभिलषेत् तच्च 'नास्वादयेत्' नाभिलषेन्मनसा, एतद्य भावयेत् ।

इह पूर्वकृतकर्मफलेश्वरा जीवाः कर्मविपाककृतकटुकवेदनाः कृत्वा परेषां शारीरमानसा वेदनाः स्वतः प्राणिभूतजीवसत्त्वास्तत्कर्मविपाकजां वेदनामनुभवन्तीति, उक्तच्च ।

११ १ ॥''पुनरपि सहनीयो दुःखपाकस्तवायं, न खलु भवति नाशः कर्मणां सञ्चितानाम् । इति सहगणयित्वा यद्यदायाति सम्यक्, सहसदिति विवेकोऽन्यत्र भूयः कुतस्ते ।। शेषमुक्तार्थं यावदध्ययनपरिसमाप्तिरिति ।।

चूडा २ सप्तैककः-६ समाप्तः

--: चूडा-२ ससैककः-७ अन्योन्यक्रियाः--

**न्धु.** अथ सप्तममन्योऽन्यक्रियाभधमध्यनम् । षष्ठानन्तरं सप्तमोऽस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तराध्ययने सामान्येन परक्रियानिषिद्धा, इहतु गच्छनिर्गतोद्देशेनान्योऽन्यक्रियानिषिध्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य नामनिष्पन्ने निक्षेपे अन्योऽन्यक्रियेति नाम, तत्रान्यस्य निक्षेपार्थं निर्युक्तिकृद् गाथापश्चार्ध्धमाह–

नि. [३२८] अन्ने छक्तं गाथर्धम्तं पुण तदन्रमाएसओ चेव ॥

ष्ट्र. अन्यस्य नामादिषड्विधो निक्षेपः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णे, द्रव्यान्यत्निधा-तदन्यद् अन्यान्यद् आदेश्यान्यद्वेति द्रव्यपरवन्नेयमिति ॥ अत्र परक्रियायामन्योऽन्यक्रियायां च गच्छान्तर्गतैर्यतना कर्त्तव्येति, गच्छनिर्गतानां त्वेतया न प्रयोजनमिति दर्शयितुं निर्युक्तिकृदाह

नि. [३२९] जयमाणस्स परो जं करेइ जयणाए तत्य अहिगारो । निष्पडिकम्परस उ अन्नमन्नकरणं अजुत्तं तु ।।

वृ. जयमाणस्सेत्यादि पातनिकयैव भावितार्था ।। साम्प्रतं सूत्रं, तच्चेदम्-

मू. (५०८) से भिक्खू वा २ अन्नमन्नकिरियं अज्झत्यियं संसेइयं नो तं सायए २ ।। से अन्नमन्नं पाए आमजिज वा० नो तं०, सेसं तं चेव, एयं खलू० जइजासि त्तिबेमि ।।

वृ. अन्योऽन्यस्य-परस्परस्य क्रियां-पादादिप्रमार्जनादिकां सर्वां पूर्वोक्तां क्रियाव्यतिहार-विशेषितामाध्यात्मिकीं सांश्लेषिकीं नारवादयेदित्यादि पूर्ववन्नेयं यावदध्ययनसमाप्तिरिति ।।

चूडा-२ सप्तैककः-७समाप्तः

सप्त संसैककः समाप्तः

चूडा-२ समाप्तः

मुनि दीपरत्नसागरेण संशोधिता सम्पादिता शीलाङ्मचार्येज विरचिता द्वीतीय शुतस्वन्धस्य द्वीतीया चूडायाःटीका परिसमाप्ता

(चूडा-३ मावना)

वृ. उक्ता द्वितीया चूला, तदनन्तरं तृतीया समारभ्यते, अस्याश्चायमभिसम्बन्धः-इहादितः प्रभृति येन श्रीवर्द्धमानस्वामिनेदमर्थतोऽभिहितं तस्योपकारित्वात्तद्वक्तव्यतां प्रतिपादयितुं तथा पञ्चमहाव्रतोपेतेन साधुना पिण्डशय्यादिकं ग्राह्ममतस्तेषां महाव्रतानां परिपालनार्थं भावनाः प्रतिपाद्या इत्यनेन सम्बन्धेनायातेयं चूडेति ।

अस्याश्चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमान्तर्गतोऽयमर्थाधिकारः, तद्यथा-अप्रशस्तभावनापरित्यागेन प्रशस्ता भावना भावयितव्या इति, नामनिष्पन्ने निक्षेपे भावनेति नाम, तस्याश्च नामादि चतुर्विधो निक्षेपः, तत्र नामस्थापने क्षुण्णत्वादनाद्य्य द्रव्यादिनिक्षेपार्थं निर्युक्तिकृदाह–

नि. [३३०]

दव्वं गंधंगतिलाइएसु सीउण्हविसहणाईसु । भावंमि होइ दुविहा पसत्य तह अप्पसत्या य ।।

वृ. तत्र 'द्रव्य'मिति द्रव्यभावना नोआगमतो व्यतिरिक्ता गन्धाङ्गैः-जातिकुसुमा-

11911

दिभिर्द्रव्यैस्तिलादिषु द्रव्येषु या वासना सा द्रव्यभावनेति, तथा शीतेन भावितः शीतसहिष्णुरुष्णेन वा उष्णसहिष्णुर्भवतीति, आदिग्रहणाद्वयायामक्षुण्णदेहो व्यायामसहिष्णुरित्याद्यन्येनापि द्रव्येण द्रव्यस्य या भावना सा द्रव्यभावनेति, भावे तु-भावविषया प्रशस्ताऽप्रशस्तभेदेनद्विरूपा भावनेति ॥ तत्राप्रशस्तां भावभावनामधिकृत्याह—

नि. [३३१] पाणिवहमुसावाए अदत्तमेहुणपरिग्गहे चेव। कोहे माणे माया लोभे य हवंति अपसत्या।

**वृ.**प्राणिवधाद्यकार्येषु प्रथमं प्रवर्त्तमानः साशङ्कः प्रवर्त्तते पश्चात्पौनः पुन्यकरणतया निशङ्कः प्रवर्त्तते, तदुक्तम् –

''करोत्यादौ तावत्सघृणहृदयः किञ्चिदशुभं,

द्वितीयं सापेक्षो विमृशति च कार्यं च कुरुते ।

तृतीयं निशङ्को विगतघृणमन्यटाकुरुते, ततः पापाभ्यासात्सततमशुभेषु प्ररमते ॥ प्रशस्तभावनामाह –

नि. [३३२] दंसणनाणचरित्ते तववेरग्गे य होइ उ पसत्या।

जा य जहा ता य तहा लक्खण वुच्छं सलक्खणओ ॥

**ष्ट्र.** दर्शनज्ञानचारित्रतपोवैराग्यादिषु या यथा च प्रशस्तमावना भवति तां प्रत्येकं लक्षणतो वक्ष्य इति ॥ दर्शनभावनार्थमाह—

नि. [३३३] तित्थगराण भगवओ पवयणपावयणिअइसइड्ढीणं । अभिगमणनमणदरिसणकित्तणसंपूअणाथुणणा ॥

वृ. तीर्थकृतां भगवतां प्रवचनस्य-द्वादशाङ्गस्य गणिपिटकस्य, तथा प्रावचनिनाम्-आचार्यादीनांयुगप्रधानानां, तथाऽतिशयिनामृद्धिमतां—केवलिमनःपर्यायावधिमञ्चतुर्दशपूर्वविदां तथा–आमर्षोषध्यादिप्राप्तऋद्धीनांयदभिगमनंगत्वाच दर्शनंतयागुणोत्कीर्त्तनंसंपूजनंगन्धादिना स्तोत्रैः स्तवनमित्यादिका दर्शनभावना, अनया हि दर्शनभावनयाऽनवरतं भाव्यमानया दर्शनशुद्धिर्भवतीति।।किञ्च–

नि. [३३४] जम्माभिसेयनक्खमणचरणनाणुप्पया य निव्वाणे । दियलोअभवणमंदरनंदीसरभोमनगरेसुं ॥ नि. [३३५] अडावयमुज्जिते गयग्गपयए य धम्मचक्के य ।

पासरहावत्तनगं चमरुष्पायं च वंदामि ।।

ष्ट्र. तीर्थकृतां जन्मभूमिषुतया निष्क्रमणचरणज्ञानोत्पत्तिनिर्वाणभूमिषुतया देवलोकभवनेषु मन्दरेषु तथा नन्दीश्वरद्वीपादी भौमेषुच-पातालभवनेषुयानि शाश्वतानि चैत्यानि तानि वन्देऽहमिति द्वितीयगाथायामन्ते क्रियेति, एवमष्टापदे, तथा श्रीमदुज्ञयन्तगिरौ 'गजाग्रपदे' दशार्णकूटवर्त्तिनि तथा तक्षशिलायां धर्मचक्रे तथा अहिच्छत्रायां पार्श्वनाथस्य धरणेन्द्रमहिमास्थाने ।

एवं रथावर्त्ते पर्वते वैरस्वामिना यत्र पादपोपगमनं कृतं यत्र च श्रीमद्वर्द्धमानमाश्रित्य चमरेन्द्रेणोत्पतनं कृतम्, एतेषुच स्थानेषुयथासम्भवमभिगमनवन्दनपूजनोत्कीर्त्तनादिकाः क्रियाः कुर्वतो दर्शनशुद्धिर्भवतीति ॥ किञ्च-

#### नि. [३३६] गणियं निमित्त जुत्ती संदिष्ठी अवितहं इमं नाणं। इय एगंतमुवगया गुणपच्चइया इमे अत्था ॥ नि. [३३७] गुणमाहप्पं इसिनामकित्तणं सुरनरिंदपूया य। पोराणचेइयाणि य इय एसा दंसणे होइ ॥

प्रवचनविदाममी गुणप्रत्ययिका अर्था भवन्ति, तद्यथा-गणितविषये-बीजगणितादौ परं पारमुपगतोऽयं, तथाऽध्यङ्गस्य निमित्तस्य पारगोऽयं, तथा द्धिपातोक्ता नानाविधा युक्तोः-द्रव्यसंयोगान् हेतून्वा वेत्ति, तथा सम्यग्-अविपरीता द्दष्टि-दर्शनमस्य त्रिदशैरपि चालयितुमशक्या तथाऽवितथमस्येदं ज्ञानं यथैवायमाह तत्तथैयेत्येवं प्रावचनिकस्याचार्यादेः प्रशंसां कुर्वतो दर्शनविशुद्धिर्भवतीति,

एवमन्यदपि गुणमाहात्स्यमाचायदिर्वर्णयतः तथा पूर्वमहर्षीणां च नामोक्तीर्त्तनं कुर्वतः तेषामेव च सुरनरेन्द्रपूजादिकं कथयतः तथा चिरन्तनचैत्यानि पूजयतः इत्येवमादिकां क्रियां कुर्वतस्तद्वासनावासितस्य दर्शनविशुद्धिर्भवतीत्येषा प्रशस्ता दर्शनविषया भावनेति ॥ ज्ञानभावनामधिकृत्याह—

| नि. [३३८] | तत्तं जीवाजीवा नायव्वा जाणणा इहं दिडा । |
|-----------|---|
|           | इट कज़करणकारगसिद्धी इह बंधभुक्खो य ।।   |
| नि. [३३९] | बद्धो य बंधहेऊ बंधणबंधष्फलं सुकहियं तु। |
|           | संसारपवंचोऽवि य इहयं कहिओ जिनवरेहिं     |
| नि. [३४०] | नाणं भविस्सई एवमाइया वायणाइयाओ य ।      |
|           | सञ्झाए आउत्तो गुरुकुलवासो य इय नाणे ।।  |

**वृ.** तत्र ज्ञानस्य भावना ज्ञानभावना-एवंभूतं मौनीन्द्रं ज्ञानं प्रवचनं यथाऽवस्थिताशेष-पदार्थाविर्भावकमित्येवंरूपेति, अनया च प्रधानमोक्षाङ्गं सम्यक्त्वमाधिगमिकमाविर्भवति, यतस्तत्त्वार्थश्रद्धानं सम्यग्दर्शनं, तत्त्वं च जीवाजीवादयो नव पदार्था, ते च तत्त्वज्ञानार्थिना सम्यग् ज्ञातव्याः, तत्परिज्ञानमिहैब-आर्हते प्रवचने ६ष्टम्–उपलब्धमिति, तथेहैव-आर्हते प्रवचने कार्यं-परमार्थरूपं मोक्षाख्यं तथा करणं-क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि, कारकः-साधुः सम्यग्दर्शनाद्यनुष्ठाता, क्रियासिद्धिश्च-इहैव मोक्षावाप्तिलक्षणा,

तामेव दर्शयति-बन्धः-कर्मबन्धनं तस्मान्मोक्षः-कर्मविचटनलक्षणः, असावपीहैव, नान्यत्र शाक्यादिकप्रवचने भवति, इत्येवं ज्ञानं भावयतो ज्ञानभावना भवतीति ॥ तथा 'बद्धः' अष्टप्रकारकर्मपुद्गलैः प्रतिप्रदेशभवष्टब्धो जीवः, तथा 'बन्धहेतवः' मिथ्यात्वाविरतिप्रमाद-कषाययोगाः तथा बन्धनम्-अष्टप्रकारकर्मवर्गणारूपं तत्फलं-चतुर्गतिसंसारपर्यटनसाता-साताद्यनुभवनरूपमिति, एतत्सर्वमत्रैव सुकथितम्, अन्यद्वा यत्किश्चित्सुभाषितं तदिहैव प्रवचनेऽभिहितमिति ज्ञानभावना, तथा विचित्रसंसारप्रपश्चोऽत्रैव जिनेन्द्रैः कथित इति ।

तथा ज्ञानं मम विशिष्टतरं भविष्यतीति ज्ञानभावना विधेया, ज्ञानमभ्यसनीयमित्यर्थं, आदिग्रहणादेकाग्रचित्ततादयो गुणा भवन्तीति, तथैतदपि ज्ञाने भावनीयं, यथा-''जं अन्नाणी कम्मं खवेइ'' इत्यादि, तथैमिश्च कारणैर्ज्ञानमभ्यसनीयं, तद्यथा-ज्ञानसङ्ग्रहार्थं निर्जरार्थम् अव्यवच्छित्त्यर्थं स्वाध्यायार्थमित्यादि, तथा ज्ञानभावनया नित्यं गुरुकुलवासो भवति, तथा चोक्तम् --

 ॥ १॥
 नाणस्स होइ भागी थिरयरओ दंसणे चरित्ते य ।

 धन्ना आवकहाए गुरुकुलवासं न मुश्चन्ति ॥

 इत्यादिका ज्ञानविषया भावना भवतीति ॥ चारित्रभावनामधिकृत्याह- 

 नि. [३४९]
 साहुमहिंसाधम्भो सद्यमदत्तविरई य बंभं च ।

 साहु परिग्गहविरई साहु तवो बारसंगो य ॥

 नि. [३४२]
 वेरग्गमप्पमाओ एगत्ता (ग्गे) भावणा य परिसंगं ।

इय चरणमणुगयाओ भणिया इत्तो तवो वुच्छं ॥

साधु-शोभनोऽहिंसादिलक्षणोधर्मइतिप्रथमव्रतभावना, तथा सत्यमस्मिन्नेवार्हते प्रवचने साधु-शोभनं नान्यत्रेतिद्वितीयव्रतस्य, तथाऽदत्तविरत्तिश्चात्रैव साध्वीति तृतीयस्य, एवं ब्रह्मचर्यमप्यत्रैव नवगुप्तिगुप्तं धार्यत इति, तथा परिग्रहविरतिश्चेहैव साध्वीति, एवं द्वादशाङ्गं तप इहैव शोभनं नान्यत्रेति । तथा वैराग्यभावना-सांसारिकसुखजुगुप्सारूपा, एवमप्रमादभावना-मद्यादिप्रमादानां कर्मबन्धोपादानरूपाणामनासेवनरूपा, तथैकाग्रभावना --

II 9 II एक्को मे सासओ अप्पा, नाणदंसणसंजुओ । सेसा मे बाहिरा भावा, सव्वे संजोगलक्खणा II

इत्यादिका भावनाः 'चरणमुपगताः' चरणाश्रिताः, इत उर्ध्व तपोभावनां 'वक्ष्ये' अभिधास्य इति ॥

नि. [३४३] किह में हविज्ञऽवंझो दिवसो ? किं वा पहू तयं काउं। को इह दव्वे जोगो खित्ते काले समयभावे ॥

'कथं' केन निर्विकृत्यादिना तपसा मम दिवसोऽवन्ध्यो भवेत् ? कतरद्वा तपोऽहं विधातुं 'प्रभुः' शक्तः ?, तच्च कतरत्तपः कस्मिन् द्रव्यादौ मम निर्वहति ? इति भावनीयं, तत्र द्रव्ये उत्सर्गतो वल्लचणकादिके क्षेत्रे स्निग्धरूक्षादौ काले शीतोष्णादौ भावेऽग्लानोऽहमेवंभूतं तपः कर्त्तुमलम्, इत्येवं द्रव्यादिकं पर्यालोच्य यथाशक्ति तपो विधेयं ''शक्तितस्त्यागतपसी'' इति वचनादिति ॥ किञ्च–

नि. [३४४] उच्छाहपालणाए इति तवे संजमे य संघयणे। वेरग्गेऽनिश्चाई होइ चरित्ते इहं पगयं॥

तथाऽनशनादिके तपस्यनिगूहितबलवीर्येणोत्साहः कर्त्तव्यः, गृहीतस्य च प्रतिपालनं कर्त्तव्यमिति, उक्तञ्च–

| 11911   | ''तित्ययरो चउनाणी सुरमहिओ सिज्झिअव्वयधुवम्मि । |
|---------|--|
|         | अणिगूहिअबलविरिओ सव्वत्यामेसु उज्जमई ।।         |
| 11 - 11 | कि पण अन सेसेहिं टक्खस्खराकारणा सनिहिएहिं ।    |

॥ २ ॥ कि पुण अव सेसेहिं दुक्खक्खयकारणा सुविहिएहिं । होइ न उज़मिअव्वं सपश्चवायंमि माणुरसे ? ॥ इत्येवं तपसि भावना विधेया । एवं 'संयमे' इन्द्रियनोइन्द्रियनिग्रहरूपे, तथा 'संहनने' वज्रर्षभादिके तपोनिर्वाहनासमर्थे भावना विधेयेति, वैराग्यभावना त्वनित्यत्वादिभावनारूपा, तदुक्तम् –

II 9 II "भावयितव्यमनित्यत्व 9 मशरणत्वं २ तथैकता ३ ऽन्यत्वे ४ । अशुचित्वं ५ संसारः ६ कर्माश्रव ७ संवर ८ विधिश्च ।)

II २ ।। निर्जरण ९ लोकविस्तर १० धर्मस्वाख्याततत्त्वचिन्ता च ११ । बोधेः सुदुर्लभत्वं च १२ भावना द्वादश विशुद्धाः ।।

इत्यादिका अनेकप्रकारा भावना भवन्तीति, इह पुनश्चारित्रे प्रकृतं-चरित्रभावनयेहाधिकार इति ।। निर्युक्त्यनुगमनानन्तरं सूत्रमुद्यारणीयं, तच्चेदम्--

मू. (५०९) तेणं कालेणं तेणं समएणं भगवं महावीरे पंचहत्युत्तरे यावि हुत्या, तंजहा-हत्युत्तराइं चुए चइत्ता गब्भं वक्कंते हत्युत्तराहिं गब्भाओ गब्मं साहरिए हत्युत्तराहिं जाए हत्युत्तराहिं मुंडे भवित्ता अगाराओ अनगारियं पव्वइए हत्युत्तराहिं कसिणे पडिपुन्ने अव्वाघाए निरावरणे अनंते अनुत्तरे केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने, साइणा भगवं परिनिव्वुए।

मू. (५१०) समणे भगवं महावीरे इमाए ओसप्पिणीए सुसमसुसमाए समाए वीइक्वंताए सुसमाए समाए वीइक्वंताए सुसमदुस्समाए समाए वीइक्वंताए दूसमसुसमाए समाए बहु विइक्वंताए पत्रहत्तरीए वासेहिं मासेहि य अद्धनवमेहिं सेसेहिं जे से गिम्हाणं चउत्ये मासे अडमे पक्खे आसाढसुद्धे तस्स णं आसाढसुद्धस्स छडीपक्खेणं हत्युत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं महाविजयसिद्धत्यपुष्फुत्तरवरपुंडरीयदिसासोवत्थियवद्धमाणाओ महाविमाणाओ वीसंसागरोवमाइं आउयं पालइत्ता आउक्खएणं ठिइक्खएणं भवक्खएणं चुए चइत्ता इह खलु जंबुद्दीवे णं दीवे भारहे वासे दाहिणड्ढमरहे दाहिणमाहणकुंडपुरसंनिवेसंमिउसभदत्तस्स माहणस्स कोडालसगोत्तस्स देवानंदाए माहणीए जालंधरस्स गुत्ताए सीहुब्भवभूएणं अप्याणेणं कुच्छिंसि गढ्यं वक्वंते।

दयानदार नाहजार जालवरत्त गुतार, ताहुज्नपनूर्ण जन्मागण युग्वय्यात गज्म वक्कत। समणे भगवं महावीरे तित्राणोवगए या वि हुत्था, चइस्सामित्ति जाणइ चुएमित्ति जाणइ चयमाणे न याणेइ, सुहुमे णं से काले पन्नत्ते,

तओ णं समर्णे भगवं महावीरे हियाणुकंपएणं देवेणं जीयमेयंतिकट्ठु जे से वासाणं तच्चे मासे पंचमे पक्खे आसोयबहुले तस्स णं आसोयबहुलस्स तेरसीपक्खेणं हत्युत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगमुवागएणं बासीहिं राइंदिएहिं वड्क्वंतेहिं तेसीइमस्स राइंदियस्स परियाए वट्टमाणे दाहिणमाहणकुंडपुरसंनिवेसाओ उत्तरखत्तियकुंडपुरसंनिवेसंसि नायाणं खत्तियाणं सिद्धत्यस्स खत्तियस्स कासवगुत्तस्स तिसलाए खत्तियाणीए वासिट्ठसगुत्ताए असुभाणं पुग्गलाणं अवहारं करित्ता सुभाणंपुग्गलाणं पक्खेवं करित्ता कुच्छिंसि गब्भं साहरइ, जेविय से तिसलाए खत्तियाणीए कुच्छिंसि गब्भे तंपि य दाहिणमाहणकुंडपुरसंनिवेसंसि उस० को० देवा० जालंधरायणगुत्ताए कुच्छिंसि गब्भं साहरइ,

ँ समणे भगवं महावीरे तिन्नाणोवगए यावि होत्था-साहरिजिस्सामित्ति जाणइ साहरिजमाणे न याणइ साहरिएमित्ति जाणइ समणाउसो !

तेणं कालेणं तेणं समएणं तिसलाए खत्तियाणीए अहऽभ्रया कयाई नवण्हं मासाणं

बहुपडिपुन्नाणं अद्धद्वमाणराइंदियाणं वीइक्वंताणं जे से गिम्हाणं पढमे मासे दुग्ने पक्खे चित्तसुद्धे तस्त णं चित्तसुद्धस्स तेरसीपक्खेणं हत्यु० जोग० समणं भगवं महावीरं अरोग्गा अरोग्गं पसूया

जण्णं राइं तिसलाख० समणं० महावीरं अरोया अरोयं पसूया तण्णं राइं भवणवइवाण-मंतरजोइसियविमाणवासिदेवेहिं देवीहि य उवयंतेहिं उप्पयंतेहि य एगे महं दिव्वे देवुझोए देवसन्निवाए देवकहक्कहए उप्पिंजलगभूए यावि हुत्था।

जण्णं रयणिं० तिसलाख० समणं० पसूया तण्णं रयणिं बहवे देवा य देवीओ य एगं महं अमयवासं च १ गंधवासं च २ चुन्नवासं च ३ पुष्फवा सं च ४ हिरन्नवासं च ५ रयणवासं च ६ वासिंसु, जण्णं रयणिं तिसलाख० समणं० पसूयातण्णं रयणिं भवणवइवाणमंतरजोइसियविमाण– वासिणो देवा य देवीओ य समणस्स भगवओ महावीरस्स सूइकम्माइं तित्थयराभिसेयं च करिंसु

जओ णं पमिइ भगवं महावीरे तिसलाए ख० कुच्छिंसि गब्भं आगए तओ णं पमिइ तं कुलं विपुलेणं हिरन्नेणं सुवन्नेणं धणेणं धन्नेणं माणिक्वेणं मुत्तिएणं संखसिलप्पवालेणं अईव २ परिवड्ड,

तओ णं समणस्स भगवओ महावीरस्स अम्पापियरो एयमईं जाणित्ता निव्वत्तदसाहंसि वुक्कंतंसि सुइभूयंसि विपुलं असणपाणखाइमसाइमं उवक्खडाविंति २ त्ता मित्तनाइसयणसंबंधिवग्गं उवनिमंतंति मित्त० उवनिमंतित्ता बहवे समणमाहणकिवणवणीमगाहिं भिच्छुंडगपंडरगाईण विच्छड्डंति विग्गोविंति विस्साणिंति दायारेसु दाणं पञ्जभाइंति विच्छड्डित्ता विग्गो० विस्साणित्ता दाया० पञ्जभाइत्ता मित्तनाइ० भुंजाविंति मित्त० भुंजावित्ता मित्त० वग्गेण इममेयारूवं नामधिञ्जं कारविंति ।

जओ णं पभिइ इमे कुमारे ति० ख० कुच्छिसि गब्भे आहूए तओ णं पभिइ इमं कुलं विपुलेणं हिरत्रेणं० संखसिलप्पवालेणं अतीव २ परिवट्टइ ता होउ णं कुमारे वद्धमाणे,

तओ णं सिमणे भगवं महावीरे पंचधाइपरिवुडे, तं०–खीरधाईए १ मञ्जणधाईए २ मंडणधा० ३ खेलावणधाइए ४ अंकधाइए ५ अंकाओ अंकं साहरिज्ञमाणे रम्मे मणिकुट्टिमतले गिरिकंदरसमुल्लीणेविव चंपयपायवे अहाणुपूर्व्वीए संवड्ढइ,

तओणं समणे भगवं० विन्नायपरिणय विणियत्तबालभावे अप्पुस्सुयाइं उरालाइं माणुस्सगाइं पंचलक्खणाइं कामभोगाइं सद्दफरिसरसरूवगंधाइं परियारेमाणे एवं च णं विहरइ ।

मू. (५१९) समणे भगवं महावीरे कासवगुत्ते तस्स णं इमे तिन्नि नामधिञ्ञा एवमाहिञ्जंति, तंजहा-अम्मापिउसंति वद्धमाणे १ सहसंमुइए समणे २ भीमं भयभेरवं उरालं अवेलयं परीसह सहत्तिकट्ट देवेहिं से नामं कयं समणे भगवं महावीरे ३,

समणस्त णं भगवओ महावीरस्त पिया कासवगुत्तेणं तस्त णं तित्रि नाम० तं०—सिद्धत्थे इ वा सिञ्जंसे इ वा जसंसे इ वा,

समणस्स णं० अम्मा वासिट्ठस्सगुत्ता तीसे णं तित्रि ना०, तं —तिसला इ वा विदेहदिन्ना इ या पियकारिणी इ वा,

--समणस्स णंभ० पित्तिअएसुपासे कासवगुत्तेणं, समण० जिहे भाया नंदिवद्धणे कासवगुत्तेणं, –समणस्स णं जेडा भइणी सुदंसणा कासवगुत्तेणं, समणस्स णं भग० भज्जा जसोया कोडिन्नागुत्तेणं,

–समणस्स णं धूयाकासवगोत्तेणं तीसे णं दोनामधिज्ञा० – अणुज़ा इ वा पियदंसणा इ वा,

–समणस्स णं भ०- नत्तूई कोसिया गुत्तेणं तीसे णं वो नाम०-सेसवई इ वा जसवई इ वा,

मू. (५१२) समणस्त णॅ० ३ अम्पापियरो पासावद्यिज्ञा समणोवासँगा यावि हुत्या, ते णं बहूइं वासाइं समणोवासगपरियागं पालइत्ता छण्हं जीवनिकायाणं सारक्खणनिमित्तं आलोइत्ता निंदित्ता गरिहित्ता पडिक्वमित्ता अहारिहं उत्तरगुणपायच्छित्ताइं पडिवज्रित्ता कुससंथारगं दुरूहित्ता भत्तं पद्यक्खायंति २ ।

—अपच्छिमाए मारणंतियाए संलेहणासरीरए झुसियसरीरा कालमासे कालं किम्रा तं सरीरं विप्पजहित्ता अञ्चुए कप्पे देवत्ताए उववन्ना, तओ णं आउक्खएणं भव० ठि० चुए चइत्ता महाविदेहे वासे चरमेणं उस्सासेणं सिन्झिस्संति बुज्झिस्संति मुझिस्संति परिनिव्वाइस्संति सब्वदुक्खाणमंतं करिस्संति।

मू. (५९३) तेणे कालेणं २ समणे भ० नाए नायपुत्ते नायकुलनिव्वत्ते विदेहे विदेहदित्रे विदेहजद्ये विदेहसूमाले तीसं वासाइं विदेहंसित्तिकड्ड अगारमज्झे वसित्ता अम्मापिऊहिं कालगएहिं देवलोगमणुपत्तेहिं समत्तपइत्रे विद्या हिरत्रं विद्या सुवत्रं चिद्या बलं चिद्या वाहणं चिद्या धणकणगरयणसंतसारसावइजंविच्छड्रित्ता विग्गोवित्ता विस्साणित्ता दायारेसुणं दाइत्ता परिभाइत्ता संवच्छरं दलइत्ता जे से हेमंताणं पढमे मासे पढमे पक्खे मग्गसिरबहुले तस्स णं मग्गसिरबहुलस्स दसमीपक्खेणं हत्युत्तरा० जोग० अभिनिक्खमणामिष्पाए यावि हुत्था–,

| मू. (५१४) | संवच्छरेण होहिइ अभिनिक्खमणं तु जिनवरिंदस्स । |
|-----------|--|
|           | तो अत्यसंपयाणं पवत्तई पुव्वसूराओ ।।          |
| मू. (५९५) | एगा हिरत्नकोडी अट्टेव अनूनगा सयसहस्सा।       |
|           | सूरोदयमाईयं दिज्ञइ जा पायरासुत्ति ।।         |
| मू. (५१६) | तित्रेव य कोडिसया अद्वासीइं च हुंति कोडीओ ।  |
|           | असिइं च सयसहस्सा एयं संवच्छरे दिन्नं ।       |
| मू. (५९७) | वेसमणकुंडधारी देवा लोगंतिया महिड्ढीया ।      |
| ••        | बोहंति य तित्ययरं पन्नरससु कम्पभूमीसु ।      |
| 4. (49C)  | बभंमि य कप्पंभी बोद्धव्वाकण्हराइणी मज्झे ।   |
|           | लोगंतिया विमाणा अहसु वत्या असंखिञ्जा।।       |
| मू. (49९) | एए देवनिकाया भगवं बोहिंति जिनवरं वीरं।       |
|           | सव्वजगञ्जीवहियं अरिहं ! तित्यं पवत्तेहि ।    |
| <b>,</b>  |  |

मू. (५२०) तओणं समणस्त भ० म० अभिनिक्खमणाभिष्पायं जाणित्ता भवणवइवा० जो० विमाणवासिणो देवा य देवीओ य सएहिं २ रूवेहिं सएहिं २ नेवत्थेहिं सएहिं. २ चिंधेहिं सब्विङ्ढीए सब्वजुईए सब्वबल समुदएणं सयाइं २ जाणविमाणाइं दुरूहंति सयादुरूहित्ता अहाबायराइं पुग्गलाइं परिसाडंत्ति २ अहासुहमाईं पुग्गलाइं परियाइंति २ उड्ढं उप्पयंति उड्ढं उप्पइत्ता ताए उक्किट्टाए सिग्घाए चवलाए तुरियाए देवगईए अहे णं ओवयमाणा २ तिरिएणं असंखिज्जाइंदीवसमुद्दाइं वीइक्कममाणा २ जेणेव जंबुद्दीवे दीवे तेणेव उवागच्छंति २ जेणेव उत्तरखत्तियकुंडपुरसंनिवेसे तेणेव उवागच्छंति, उत्तरखत्तियकुंडपुरसंनिवेसस्स उत्तरपुरच्छिमे दिसीभाए।

—तेणेव झत्ति वेगेण ओवइया, तओ णं सक्के देविंदे देवराया सणियं २ जाणविमाणं पडुवेति सणियं २ जाणविमाणं पडुवेत्ता सणियं २ जाणविमाणाओ पद्योरुहइ सणियं २ एगंतमवक्कमइ एगंतमवक्कमित्ता महया वेउव्विएणं समुग्धाएणं समोहणइ २ एगं महं नाणामणिकणगरयणभत्तिचित्तं सुभं चारु कंतरूवं देवच्छंदयं विउव्वइ,

–तस्स णं देवच्छंदयस्स बहुमज्झदेसभाए एवं महं सपायपीढं नाणामणिकणय-रयणभतिचित्तं सुभं चारुकंतरूवं सीहासणं विउव्वइ, २ जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ २ समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेइ २ समणं भगवं महावीरं वंदइ नमंसइ २ समणं भगवं महावीरं गहाय।

---जेणेव देवच्छंदए तेणेव उवागच्छइ सणियं २ पुरत्थाभिमुहं सीहासणे निसीयावेइ सणियं २ निसीयावित्ता सयपागसहस्सपागेहिं तिल्लेहि अब्भंगेइ गंधकासाईएहिं उल्लोलेइ २ सुद्धोदएण मञ्जावेइ २ जस्सणं मुल्लं सयसहस्सेणं तिपडोलतित्तिएणं साहिएणं सीतेण गोसीसरत्तचंदणेणं अनुलिंपइ २ ईसिं निस्सासवाववोञ्झं वरनयरपट्टणुग्गयं कुसलनरपसंसियं अस्सलालापेलवं छेयारियकणगखइयंतकम्मं हंसलक्खणं पट्टजुयलं नियंसावेइ २ हारं अद्धहारं उरत्थं नेवत्थं एगावलिं पालंबसुत्तं पट्टमउडरयणमालाउ आविंधावेइ आविंधावित्ता गंथिमवेढिमपूरिमसंधाइमेणं मल्लेणं कप्परुक्खमिव समलंकरेइ २ त्ता दुर्द्यापे महया वेउव्वियसमुग्धाएणं समोहणइ २ एगं महं चंदप्पहं सिवियं सहस्सवाहणियं विउव्वति,

–तंजहा-ईहामिगउसभतुरगनरमकरविहगवानरकुंजररुरुसरभचमरसदूलसीहवण-लयभत्तिचित्तलयविञ्जाहरमिहुणजुयलजंत जोगजुत्तं अग्चीसहस्समालिणीयं सुनिरूवियं मिसिमिसिंतरूवगसहस्सकलियं ईसिं भिसमाणं भिब्भिसमाणं चक्खुल्लोयणलेसं मुत्ताहल-मुत्ताजालंतरोवियं तवणीयपवरलंबूसपलंबंतमुत्तदामं हारखहारभूसणसमोणयं अहियपिच्छणिज्ञं पउमलयभत्तिवित्तं असोगलयभत्तिचित्तं कुंदलयभत्तिचित्तं नाणालयभत्ति० विरइयं सुभं घारुकंतरूवं नाणामणिपंचवन्नघंटापडायपडिमंडियग्गसिहर पासाईयं दरिसणिज्ञं सुरूवं।

| मू. (५२१) | सीया उवणीया जिनवरस्स जरमरणविष्पमुक्कस्स ।   |
|-----------|---|
|           | ओसत्तमल्लदामा जलधलयदिव्यकुसुमेहिं ।।        |
| मू. (५२२) | सिबियाइ मज्झयारे दिव्वं वररयणरूवचिंचइयं।    |
|           | सीहासणं महरिहं सपायपीढं जिनवररस ।।          |
| मू. (५२३) | आलइयमालमउडो भासुरबुंदी वराभरणधारी ।         |
| -         | खोमियवत्थनियत्थो जर्स्स य मुल्लं सयसहस्सं ॥ |
| मू. (५२४) | छट्टेण उ भत्तेणं अञ्झवसाणेण सुंदरेण जिणो ।  |
|           | लेसाहिं विसुज्झंतो आरुहई उत्तमं सीयं।।      |

| मू. (५२५) | सीहासणे निविद्वो सक्कीसाणा य दोहि पासेहिं ।     |
|-----------|---|
|           | वीयति चामराहिं मणिरयणविचित्तदंडाहिं।।           |
| मू. (५२६) | पुव्विं उक्खित्ता माणुसेहिं साहड्ड रोमकूवेहिं । |
|           | पच्छव बहंति देवा सुरअसुरा गरुलनागिंदा ।।        |
| मू. (५२७) | पुरओ सुरा वहंती असुरा पुण दाहिणंमि पासंमि ।     |
|           | अवरो वहंति गरुला नागा पुण उत्तरे पासे।।         |
| मू. (५२८) | वणसंडं व कुसुमियं पउमसरों वा जहा सरयकाले।       |
|           | सोहइ कुसुमभरेणं इय गगणयलं सुरगणेहिं ।           |
| मू. (५२९) | सिद्धत्यवर्णं व जहां कणयारवणं व चंपयवणं वा ।    |
|           | सोहइ कु० ।।                                     |
| मू. (५३०) | वरपडहभेरिझल्लरिसंखसयसहस्सिएहिं तूरेहिं।         |
|           | गयणयले धरणियले तूरनिनाओ परमरम्मो ।।             |
| मू. (५३१) | ततविततं धणझुसिरं आउन्नं चउव्विहं बहुबिहीयं।     |
|           | वाइंति तत्थ देवा बहहिं आनुझ्गसएहिं ।।           |

मू. (५३२) तेणं कालेणं तेणं समएणं जें सेहेमंताणं पढमें मासे पढमे पक्खे मग्गसिरबहुले तस्स णं मग्गसिरबहुलस्स दसमीपक्खेणं सुव्वएणं दिवसेणं विजएणं मुहुत्तेणं हत्थुत्तरानक्खत्तेणं जोगोवगएणं पाईणगामिणीए छायाए बिइयाए पोरिसीए छड्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं एंगसाडगमायाए चंदप्पभाए सिबियाए सहस्सवाहिणियाए सदेवमणुयासुराए परिसाए समणिज्जमाणे उत्तरखत्तियकुंडपुरसंनिवेसस्स मज्झंमज्झेणं निगच्छइ २ ।

-जेणेव नायसंडे उजाणे तेणेव उवागच्छइ २ ईसिं रयणिप्यमाणं अच्छोप्पेणं भूमिभाएणं सणियं २ चंदप्पभं सिबियं सहस्सवाहिणिं ठवेइ २ सणियं २ चंदप्पभाओ सीयाओ सहस्सवाहिणीओ पद्योयरइ २ सणियं २ चंदप्पभं सिबयं सहस्सवाहिणिं ठवेइ २ सणियं २ चंदप्पभाओ सीयाओ सहस्सवाहिणीओ पद्योयरइ २ सणियं २ पुरत्थाभिमुहे सीहासणे नीसीयइ आभरणालंकारं ओमुअइ,

–तओ णं वेसमणे देवे भत्तुव्वायपडिओ भगवओ महावीरस्स हंसलक्खणेणं पडेणं आभरणालंकारं पडिच्छइ,

–तओ णं समणे भगवं महावीरे दाहिणेणं दाहिणं वामेणं वामं पंचमृड्यिं लोयं करेड़,

--तओ णं सक्ने देविंदे देवराया समणस्स भगवओ महावीरस्स जन्नवायपडिए वइरामएणं धालेण केसाइं पडिच्छइ २ अणुजाणेसि भंतेत्ति कट्ट खीरोयसागरं साहरइ ।

तओ णं समणे जाव लोयं करित्ता सिद्धाणं नमुकारं करेइ २ सव्वं मे अकरणिज्ञं पावकम्मंतिकट्ट सामाइयं चरित्तं पडिवज्जइ २ देवपरिसं च मणूयपरिसं च आलिक्खचित्तभूयमिव ठवेड ।

| मू. (५३३) | दिव्वो मणुस्सधोसो तुरियनिनाओ य सक्कवयणेणं । |
|-----------|---|
|           | खिप्पामेव निलुक्तो जाहे पडिवञ्जइ चरित्तं ।  |
| मू. (५३४) | पडिवजित्तु चरित्तं अहोनिसं सव्वपाणभूयहियं।  |
|           | साहड्ड लोमपुलया सब्वे देवा निसामिति ।।      |

मू. (५३५) तओ णं समणस्त भगवओ महावीरस्त सामाइयं खओवसमियं चरित्तं पडिवन्नस्स मनपज्जवनाणे नामं नाणे समुप्पन्ने अड्ढाइज्जेहिं दीवेहिं दोहि य समुद्देहिं सन्नीणं पंचिंदियाणं पज्जत्ताणं वियत्तमणसाणं मणोगयाई भावाई जाणेइ।

—तओणं समणे भगवं महावीरे पव्वइए समाणे मित्तनाइं सयणसंबंधिवग्गं पडिविसज्जेइ, २ इमं एयारूवं अभिग्गहं अभिगिण्हइ-बारस वासाइं वोसडकाए चियत्तदेहे जे के उवसग्गा समुप्पज्रंति।

—तंजहा—दिव्वा वा माणुस्सा वा तेरिच्छिया चा, ते सव्वे उवसग्गे समुप्पन्ने समाणे सम्मं सहिस्सामि खमिस्सामि अहिआसइस्सामि,

--तओ णं स० भ० म० वोसिड्डचत्तदेहे अनुत्तरेणं आलएणं अनुत्तरेणं विह्नारेणं एवं संजमेणं पग्गहेणं संवरेणं तवेणं वंभचेरवासेणं खंतीए मुत्तीए समिईए गुत्तीए तुड्डीए ठाणेणं कमेणं सुचरियफलनिव्वाणमुत्तिमग्गेणं अप्पाणं भावेमाणे विहरइ, एवं वा विहरमाणस्स जे केइ उवसग्गा समुप्पञ्जंति-दिव्वा वा माणुस्सा वा तिरिच्छिया वा, ते सब्वे उवसग्गे समुप्पन्ने समाणे अनाउले अव्वहिएअद्दीनमानसेतिविहमणवयणकायगुत्ते सम्मं सहइ खमइ तितिक्खइ अहियासेइ,

—तओ णं समणस्स भगवओ महावीरस्स एएणं विहारेणं विहरमाणस्स बारस वासा वीइक्वंता तेरसमस्स य वासस्त परियाए वद्टमाणस्स जे से गिम्हाणं दुच्चे मासे चउत्थे पक्खे वइसाहसुखेतस्त णं वेसाहसुख्रस्त दसमीपक्खेणं सुव्वएणं दिवसेणं विजएणं मुहुत्तेणं हत्युत्तराहिं नक्खत्तेणं जोगोवगएणं पाईणगामिणीए छायाए वियत्ताए पोरिसीए जंभियगामस्त नगरस्स बहिया नईए उञ्जुवालियाए उत्तरकूले सामागस्त गाहावइस्त कट्ठकरणंसि उद्द्वंजाणू अहोसिरस्त झाणकोड्ठोवगयस्त वेयावत्तस्त चेइयस्त उत्तरपुरच्छिमे दिसीभागे सालरुक्खस्त अदूरसामंते उक्कुडुयस्त गोदोहियाए आयावणाए आयावेमाणस्स छड्ठेणं भत्तेणं अपाणएणं सुक्वज्झाणंतरियाए वट्टमाणस्त निव्वाणे कसिणे पडिपुत्रे अव्वाहए निरावरणे अनंते अनुत्तरे केवलवरनाणदंसणे समुप्पन्ने,

–से भगवं अरहं जिणे केवली सब्वन्नू सब्वभावदरिसी सदेवमणुयासुरस्स लोगस्स पञ्जाए जाणइ ।

तं०--आगइं गइं ठिइं चयणं उचवायं भुत्तं पीयं कडं पिडसेवियं आविकम्पं रहोकम्पं लवियं कहियं मणोमाणसियं सव्वलोए सव्वजीवाणं सव्वभावाइं जाणमाणे पासमाणे एवं च णं विहरइ, --जण्णं दिवसं समणस्स भगवओ महावीरस्स निव्वाणे कसिणे जाव समुप्पन्ने तण्णं दिवसं भवणवइवाणमंतरजोइसियविमाणवासिदेवेहिय देवीहिय उवयंतेहिंजाव उपिंजलगब्भूए याविहुत्था, तओणं समणे भगवं महावीरे उप्पन्नवरनाणदंसणधरे अप्पाणं च लोगं च अभिसभिक्ख पुव्बं देवाणं धम्ममाइक्खइ, ततो पच्छा मणुस्साणं,

–तओ णं समणे भगवं महावीरे उप्पन्ननाणदंसणधरे गोयमाईणं समणाणं पंच महव्वयाईं सभावणाई छन्नीवनिकाया आतिक्खति भासइ परूवेइ, तं-पूढविकाए जाव तसकाए,

मू. (५३६) पढमं भंते ! महव्ययं पच्चक्खामि सव्वं पाणाइवायं से सुहुमं वा बायरं वा तसं वा थावरं वा नेव सयं पाणाइवायं करिजा ३ जावज्रीवाए तिविहं तिविहेणं मणसा वयसा कायसा तस्त भंते ! पडिक्रमामि निंदामि गरिहामि अप्पाणं वोसिरामि, तस्सिमाओ पंच भावणाओ भवंति । तत्थिमा पढमा भावणा—

9. – 'तेणं कालेण'मित्यादि 'तेन कालेन' इति दुष्पमसुषमादिना 'तेन समयेन' इति विवक्षितेन विशिष्टेन कालेन सतोत्पत्त्यादिकमभूदिति सम्बन्धः ।

तत्र 'पंचहत्युत्तरे यावि हुत्या' इत्येवमादिना 'आरोग्गा आरोग्गं पसूय'ति, इत्येवमन्तेन ग्रन्थेन भगवतः श्रीवर्द्धमानस्वामिनो विमानच्यवनं ब्राह्मणीगर्भाधानं ततः शक्रादेशात् त्रिशलागर्भसंहरणमुत्पत्तिश्चाभिहिता।

'तत्थ' पंचहत्थुत्तरेहिं होत्थ'ति हस्त उत्तरो यासामुत्तरफाल्गुनीनां ता हस्तोत्तराः, ताश्च पञ्चसु स्थानेषु-गर्भाधानसंहरणजन्मदीक्षाज्ञानोत्पत्तिरूपेषु संवृत्ता अतः पञ्चहस्तोत्तरो भगवानभूदिति, 'चवमाणे न जाणइ'ति आन्तर्मुहूर्त्तिकत्वाच्छद्रस्थोपयोगस्य च्यवनकालस्य च सूक्ष्मत्वादिति, तथा 'जण्णं रयणी अरोया अरोयं पसूयन्ती'त्येवमादिना ।

'उप्पन्ननाणदंसणधरे गोयमाईणं समणाणं निग्गंथाणं पश्च महव्वयाइं सभावणाइं छञ्जीवनिकायाइंआइक्खई'त्येवमन्तेन ग्रन्थेन भगवतो वीरवर्द्धमानस्वामिनो जातकर्माभिषेक-संवर्धनदीक्षाकेवलज्ञानोत्पत्तयोऽभिहिताः ।

प्रकटार्थं च सर्वमपि सूत्रं,

साम्प्रतमुत्पन्नज्ञानेन भगवता पञ्चानां महाव्रतानां प्राणातिपातविरमणादीनां प्रत्येकं याः पञ्च पञ्च भावनाः प्ररूपितास्ताः व्याख्यायन्ते ।

तत्र प्रथममहाव्रतभावनाः पञ्च, तत्र प्रथमां तावदाह-

मू. (५३६–वर्तते) इरियासमिए से निग्गंथे नो अणइरियासमिएत्ति, केवली बूया०– अणइरियासमिए से निग्गंथे पाणाई भूयाई जीवाइं सत्ताइं अभिहणिज्ञ वा वत्तिज्ञ वा परियाविज्ञ वा लेसिज वा उद्दविज्ञ वा, इरियासमिए सेनिग्गंधे नो इरियाअसमिइत्ति पढमा भावना।

अहावरा दुद्या भावना–मणं परियाणइ से निग्गंथे, जे य मणे पावए सावज्रे सकिरिए अण्हयकरेछेयकरेभेयकरे अहिगरणिए पाउसिए पारियाविए पाणाइवाइए भूओवघाइए, तहप्पगारं मणं नो पधारिज्ञा गमणाए, मणं परिजाणइ से निग्गंथे, जे य मणे अपावएत्ति दुद्या भावना।

अहावरा तद्या भावना—वइं परिजाणइ से निग्गंथे, जा य वई पाविया सॉवज़ा सकिरिया जाव भूओवघाइया तहप्पगारं वइं नो उच्चारिज़ा, जे वइं परिजाणइ से निग्गंथे, जाव वइ अपावियत्ति तद्या भावना।

अहावरा चउत्था भावना–आयाणभंडमत्तनिक्खेवणासमिए से निग्गंथे, नो अणायाणमंडमत्तनिक्खेवणासमिए, केवली बूया०–आयाणभंडमत्तनिक्खेवणाअसमिए से निग्गंथे पाणाइं भूयाइं जीवाइं सत्ताइं अभिहणिञ्जा वा जाव उद्दविज्ञ वा, तम्हा आयाण-भंडमत्तनिक्खेवणासमिए से निग्गंथे, नो आयाणभंडनिक्खेवणाअसमिएत्ति चउत्था भावना

. अहावरा पंचमा भावना--आलोइयपाणभोयणभोई से निग्गंथे नो अणालोइय-पाणभोयणभोई, केवली बूया०---अणालोईयपाणभोयणभोई से निग्गंथे पाणाणि वा ४ अभिहणिज वा जाव उद्दविञ्च वा, तम्हा आलोइयपाणभोयणभोई से निग्गंथे नो अणालोईय- पाणभोयणभोईति पंचमा भावना। एयावता महव्वए सम्मं काएण फासिए पालिए तीरिए किट्टिए अवट्टिए आणाए आराहिए यावि भवइ, पढमे भंते ! महव्वए पाणाइवायाओ वेरमणं ।।

**q**. 'इरिया समिए' इत्यादि, ईरणं गमनमीर्या तस्यां समितो-दत्तावधानः पुरतो युगमात्रभूभागन्यस्तर्धष्टिगामीत्यर्थ, न त्वसमितो भवेत्, किमिति?, यतः केवली ब्रूयात्कर्मोपादा-नमेतद्, गमनक्रियायामसमितो हिप्राणिनः 'अभिहन्यात्' पादेन ताडयेत्, तथा 'वर्त्तयेत्' अन्यन्न पातयेत्, तथा 'परितापयेत्' पीडामुखादयेत्, 'अपद्रापयेद्वा' जीविताद्वयपरोपयेदित्यत ईर्यासमितेन भवितव्यमिति प्रथमा भावना, द्वितीयभावनायां तु मनसा दुष्प्रणिहितेन न भाव्यं, तद्दर्शयति-यन्मनः 'पापकं' सावद्यं सक्रियम् 'अण्हयकरं'ति कर्माश्चवकारि, तथा छेदनभेदनकरं अधिकरणं कलहकरं प्रकृष्टदोषं प्रदोषिकं तथा प्राणिनां परितापकारीत्यादि न विधेयमिति, अथापरा तृतीया भावना-दुष्प्रसक्ता या वाक् प्राणिनामपकारिणी सा नाभिधातव्येति तात्पर्यार्थः, तथा चतुर्थी भावना-आदानभाण्डमात्रनिक्षेपणासमिति, तत्र च निर्ग्रन्थेन साधुना समितेन भवितव्यमिति, तथाऽपरा पञ्चमी भावना- 'आलोकितं' प्रत्युपेक्षितशनादि भोक्तव्यं, तदकरणे दोषसम्भवादिति, इत्येवं पञ्चभिर्भावनाभि प्रथमं व्रतं स्पर्शितं पालितं तीर्णं कीर्त्तितमवस्थितमाज्ञयाऽऽराधितं भवतीति ।

**मू. (५३७)** अहावरं दुद्यं महव्वयं पद्यक्खामि, सव्वं मुसावायं वइदोसं, से कोहा वा लोहा वा भया वा हासा वा नेव सयं मुसं भासिज़ा नेवन्नेणं मुसं भासाविज़ा अत्रंपि मुसं भासंतं न समणुमन्निज़ा तिविहं तिविहेणं मनसा वयसा कायसा, तस्स भंते ! पडिक्कमामि जाव वोसिरामि, तस्सिमाओ पंच भावनाओ भवंति ।

तत्थिमा पढमा भावना–अनुवीइभासी से निग्गंथे नो अननुवीइभासी, केवली बूया०–अननुवीइभासी से निग्गंथे समावज्ञिज्ञ मोसं वयणाए, अनुवीइभासी से निग्गंथे नो अननुवीइभासित्ति पढमा भावना।

अहावरा दुद्या भावना–कोहं परियाणइ से निग्गंथे नो कोहणे सिया, केवली बूयाकोहप्पत्ते कोहत्तं समावइजा मोसंवयणाए, कोहं परियाणइ से निग्गंथे न य कोहणे सियत्ति दुद्या भावना

अहावरा तद्या भावना—लोभं परियाणइ से निग्गंथे नो अ लोभणए सिया, केवली बूया-लोभपत्ते लोभी समावइञ्जा मोसं वयणाए, लोभं परियाणइ से निग्गंथे नो य लोभणए सियत्ति तद्या भावना।

अहावरा चउत्था भावना–भयं परिजाणइ से निग्गंथे नो भयभीरुए सिया, केवली बूया-भयपत्ते भीरू समावइज्रा मोसंवयणाए, भयं परिजाणइ से निग्गंथे नो भयभीरुए सिया चउत्था भावना।

अहावरा पंचमा भावना–हासं परियाणइ से निग्गंथे नो य हासणए सिया, केव० हासपत्ते हासी समावइज्ञा मोसंवयणाए, हासे परियाणइ से निग्गंथे नो हासणए सियत्ति पंचमी भावना

एतावता दोश्चे महव्वए सम्मं काएण फासिए जाव आणाए आराहिए यावि भवइ दुच्चे भंते ! महव्वए ।।

ष्ट्र. द्वितीयव्रतमावनामाह, तत्र प्रयमेयम्-अनुविचिन्त्यभाषिणा भवितव्यं, तदकरणे दोष

सम्भवात्, द्वितीय भावनायां तु क्रोधः सदा परित्याज्यो, यतः क्रोधान्यो मिथ्याऽपि भाषत इति, तृतीयाभावनायां तु लोभजयः कर्त्तव्यः,तस्यापि भृषावादहेतुत्वादिति हृदयम्, चतुर्थ्यां पुनर्भयं त्याज्यं, पूर्वोक्तादेव हेतोरिति, पश्चमभावनायां तु हास्यमिति, एवं पश्चभिर्भावनाभिर्यावदाज्ञया-ऽऽराधितं भवतीति।

मू. (५३८) अहावरं तश्चं भंते ! महव्वयं पद्यक्खामि सव्वं अदिन्नादाणं, से गामे वा नगरे वा रन्ने वाअप्पं वा बहुं वा अणुं वा थूलं वा चित्तमंतं वा अचित्तमंतं चा नेव सयं अदिन्नं गिण्हिज्ञा नेवन्नेहिं अदिन्नं गिण्हाविज्ञा अदिन्नं अन्नेपि गिण्हंतं न समणुजाणिज्ञा जावज्जीवाए जाव वोसिरामि, तस्सिमाओ पंच भावनाओ भवंति ।

तत्थिमा पढमा भावना-अनुवीइ मिउग्गहं जाई से निग्गंधे नो अननुवीइमिउग्गहं जाई से निग्गंधे, क्वेवली बूया-अननुवीइ मिउग्गहं जाई निग्गंथे अदिन्नं गिण्हेज्रा, अनुवीइ मिउग्गहं जाई से निग्गंधे नो अननुवीइ मिउग्गहंजाइत्ति पढमा भावणा।

अहावरा दुद्धा भावना—अनुन्नविय पाणभोयणभोई से निग्गंथे नो अननुन्नविअ पाणभोयणभोई, केवली बूया-अननुन्नविय पाणभोयणभोई से निग्गंथे अदिन्नं भुंजिज्ञा, तम्हा अनुन्नविय पाणभोयणभोई से निग्गंथे नो अननुन्नविय पाणभोयणभोईत्ति दुद्धा भावना।

अहावरा तच्चा भावना-निग्गंथेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि एतावताव उग्गहणसीलए सिया, केवली बूया-निग्गंथेणं उग्गहंसि अनुग्गहियंसि एतावता अनुग्गहणसीले अदिन्नं ओगिण्हिज्जा, निग्गंथेणं उग्गहं उग्गहियंसि एतावताव उग्गहणसीलएत्ति तद्य भावना।

अहावरा चउत्था भावना–निग्गंथेणं उग्गहंसि उग्गहियंसि अभिक्खणं २ उग्गहणसीलए सिया, केवली बूया-निग्गंथेणं उग्गहंसि उ अभिक्खणं २ अनुग्गहणसीले अदिन्नं गिण्हिज्ञा, निग्गंथे उग्गहंसि उग्गहियंसि अभिक्खणं २ उग्गहणसीलएत्ति चउत्था भावना।

अहावरा पंचमा भावना-अनुवीइ मिउग्गहजाई से निग्गंथे साहम्मिएसु, नो अननुवीई मिउग्गहजाई, केवली बूया-अननुवीइ मिउग्गहजाई से निग्गंथे साहम्मिएसु अदिन्नं उगिण्हिज्ञा अनुवीइमिउग्गहजाई से निग्गंथे साहम्मिएसु नो अननुवीइमिउग्गहजाती इइ पंचमा भावना।

एतावया तचे महव्वए सम्मं० जाव आणाए आराहए यावि भवइ, तच्चं मंते ! महव्वयं। वृ. तृतीयव्रते प्रथमभावनैषा-अनुविचिन्त्य शुद्धोऽवग्रहो याचनीय इति, द्वितीयभावना त्वाचार्यादीननुज्ञाप्य भोजनादिकं विधेयम्, तृतीया त्वेषा-अवग्रहं गृह्लता निर्ग्रन्थेन साधुना परिमित एवावग्रहो ग्राह्य इति, चतुर्थभावनायां तु 'अभीक्ष्णम्' अनवरतमवग्रहपरिमाणं विधेयमिति, पश्चम्यांत्वनुविचिन्त्य मितमवग्रहं साधर्मिकसम्बन्धिनं गृह्लीयात्, इत्येवमाज्ञया तृतीयव्रतमाराधितं भवतीति ।

मू. (५३९) अहावरं चउत्यं महव्वयं पद्यक्खामि सव्वं मेहुणं, से दिव्वं वा माणुस्सं वा तिरिक्खजोणियं वा नेव सयं मेहुणं गच्छेज्ञा तं चेवं अदिन्नादाणवत्तव्वया भाणियव्वा जाव वोसिरामि, तस्सिमाओ पंच भावनाओ भवंति।

तत्थिमा पढमा भावना—नो निग्गंथे अभिक्खणं २ इत्यीणं कहं कहित्तए सिया, केवली बूया-निग्गंथे णं अभिक्खणं २ इत्थीणं कहं कहेमाणे संतिभेया संतिविभंगा संतिकेवलीपत्रत्ताओ धम्पाओ भंसिज़ा, नो निग्गंथे णं अभिक्खणं २ इत्थीणं कहं कहेमाणे संतिभेया संतिविभंगा संतिकेवलीपन्नत्ताओ धम्पाओ भंसिज़ा, नो निग्गंथे णं अभिक्खणं २ इत्थीणं कहं कहित्तए सियत्ति पढमा भावना ।

अहावरा दद्या भावना-नो निग्गंथे इत्थीणं मनोहराइं २ इंदियाइं आलोइत्तए निज्झाइत्तए सिया, केवली बूया-निग्गंथे णं इत्थीणं मनोहराइं २ इंदियाइं आलोएमाणे निज्झाएमाणे संतिभेया संतिविभंगाजाव धम्माओ भंसिज्जा, नो निग्गंथे इत्थीणं मनोहराइं २ इंदियाइं आलोइत्तए निज्झाइत्तए सियत्ति दुद्या भावना ।

अहावरा तद्या भावना—नो निग्गंथे इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सुमरित्तए सिया, केवली बूया-निग्गंथे णं इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सरमाणे संतिभेया जाव भंसिज़ा, नो निग्गंथे इत्थीणं पुव्वरयाइं पुव्वकीलियाइं सरित्तए सियत्ति तद्या भावना।

अहावरा चउत्था भावना-नाइमत्तपाणभोयणभोई से निग्गंथे न पणीयरसभोयणभोई से निग्गंथे, केवली बूया-अइमत्तपाणभोयणभोई से निग्गंथे पणियरसभोयणभोई संतिभेया जाव भंसिज्ञा, नाइमत्तपाणभोयणभोई से निग्गंथे नो पणीयरसभोयणभोइति चउत्था भावना।

अहावरा पंचमा भावणा-नो निग्गंथे इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयसासणाइं सेवित्तए सिया, केवली बूया-निग्गंथे णं इत्थीपसुपंडगसंसत्ताईं सयणासणाइं सेवेमाणे संतिभेया जाव भंसिज्जा, नो निग्गंथे इत्थीपसुपंडगसंसत्ताइं सयणासणाइं सेवित्तए सियत्ति पंचमा भावना ५,

एतावया चउत्थे महव्वए सम्मं काएण फासेइ जाव आराहिए यावि भवइ, चउत्थ भंते ! महव्वयं ।।

**वृ.** चतुर्थव्रते प्रथमेयम्-स्त्रीणां सम्बन्धिनीं कथां न कुर्यात्, द्वितीयायां तु तदिन्द्रियाणि मनोहारीणि नालोकयेत्, तृतीयायां तु पूर्वक्रीडितादि न स्परेत्, चतुर्थ्यां नातिमात्रमोजनपानासेवी स्यात्, पश्चम्यां तु स्त्रीपशुपण्डकविरहितशय्याऽवस्थानमिति ।

मू. (५४०) अहावरं पंचमं भंते ! महव्वयं सव्वं परिग्गहं पद्यक्खामि से अप्पं वा बहुं वा अणुं वा धूलं वा चित्तमंतमचित्तं वा नेव सयं परिग्गहं गिण्हिज्ञा नेवन्नेहिं परिग्गहं गिण्हाविज्ञा अन्नंपि परिग्गहं गिण्हंतं न समनुजाणिज्ञा जाव वोसिरामि, तस्सिमाओ पंच भावनाओ भवंति।

तत्थिमा पढमा भावना—सोयओ णं जीवे मणुन्नाइं सद्दाइं सुणेइ मणुन्नामणुन्नेहिं सद्देहिं नो सज़िज़ा नो रज़िज़ा नो गिज्झेज़ा नो मुज्झि ज़ा नो अज्झोववज़िज़ा नो विणिधायमावज्जेज़ा, केवली बूया-निग्गंथे णं मणुन्नामणुन्नेहिं सद्देहिं सज़माणे रज़माणे जाव विणिधायमावज़माणे संतिभेया संतिविभंगा संतिकेवलिपन्नत्ताओ धम्माओ भंसिज़ास, न सक्रा न सोठ सद्दा, सोतविसयमागया । रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्ञए । सोयओ जीवे मणुन्नामणुन्नाइं सद्दाइं सुणेइ पढमा भावना ।

अहावरा दुद्या भावना--चक्खूओ जीवो मणुन्नामणुन्नाइं रूवाइं पासइ मणुन्नामणुत्रेहिं रूवेहिं सज़माणे जाव विणिधायमावज़माणे संतिभेया जाव भंसिज़ा,-न सक्का रूवमद्दड, चक्खुविसयमागयं। रागदोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज्रए। चक्खूओ जीवो मणुन्ना २ रूवाईं पासइ, दुद्या भावना। अहावरा तद्या भावना–घाणओ जीवे मणुन्ना २ इं गंधाईं अग्घायइ मणुन्नामणुन्नेहिं गंधेहिं नो सज़िज़ा नो रज़िज़ा जाव नो विणिघायमावज़िज़ा केवली बूया-मणुन्नामणुन्नेहिं गंधेहिं सज़माणे जाव विणिधायमावज़माणे संतिभेया जाव भंसिज़ा,-न सक्का गंधमग्धाउं, नासाविसयमागयं। रागदोसा उ जे तत्य, ते भिक्खू परिवज़ए। घाणओ जीवो मणुन्ना २ इं गंधाइं अग्घायइत्ति तच्चा भावना ३।

अहावरा चउत्था भावना–जिब्भाओ जीवो मणुन्ना २ इं रसाइं अस्साएइ, मणुन्नामणुत्रेहिं रसेहिं नो सज़िज्ञा जाव नो विणिघायमावज़िज्ञा, केवली बूया-निग्गंथे णं मणन्नामणुत्रेहिं रसेहिं सज़माणे जाव विणिघायमावज्रमाणे संतिभेया जाव भंसिज्ञा,–न सक्का रसमस्साउं, जीहाविसयमागयं। रागद्दोसा उ जे तत्थ, ते भिक्खू परिवज़ए। जीहाओ जीवो मणुन्नारइं रसाईं अस्साएइत्ति चउत्था भावना।

अहावरा पंचमा भावना—फासओ जीवो मणुन्ना २ इं फासाइं पडिसेवेएइ मणुन्नामणुन्नेहिं फासेहिं नो सज़िज़ा जाव नो विणिधायमावज़िज़ा, केवली बूया-निग्गंथे णं मणुन्नामणुन्नेहिं फासेहिं सज़माणे जावविणिघायमावज़माणे संतिभेया संतिविभंगा संतिकेवलीपन्नत्ताओ धम्माओ भंसिज़ा,-न सब्बा फासमवेएउं, फासविसयमागयं । रागद्दोसा० । फासओ जीवो मणुन्ना २ इं फासाइं पडिसंवेएति पंचमा भावना ।

एतावता पंचमे महव्वते सम्मं अवडिए आणाए आराहिए यावि भवइ, पंचमं भंते ! महव्वयं । इग्रेएहिं पंचमहव्वएहिं पणवीसाहि य भावणाहिं संपन्ने अनगारे अहासुयं अहाकपं अहामग्गं सम्मं काएण फासित्ता पालित्ता तीरित्ता किडित्ता आणाए आराहित्ता यावि भवइ ।।

वृ. पश्चमव्रतभावना पुनरेषा-श्रोत्रमाश्रित्य मनोज्ञान् शब्दान् श्रुत्वा न तत्र गार्ख्यं विदध्यादिति, एवं द्वितीयतृतीयचतुर्थपञ्चमभावनासु यथाक्रमं रूपरसगन्धस्पर्शेषु गार्ख्यं न कार्यमिति, शेषं सुगमं यावदध्ययनं समाप्तमिति॥

चूडा-३ समाप्त |

मुनि दीपरत्नसागरेण संशोधिता सम्पादिता शीलाङ्काचार्य विरचिता द्वीतीय श्रुतस्कन्धस्य तृतीया चूडायाः टीकापरिसमाप्ता

( चूडा-४ ''विमुक्ति'' )

**वृ.** उक्तं तृतीयचूडात्मकं भावनाख्यमध्ययनं, साम्प्रतं चतुर्थचूडारूपं विमुक्त्यध्ययन-मारम्यते, अस्य चायमभिसम्बन्धः-इहानन्तरं महाव्रतभावनाः प्रतिपादिताः तदिहाप्यनित्यभावना प्रतिपाद्यते, इत्यनेन सम्बन्धेनायातस्यास्याध्ययनस्य चत्वार्यनुयोगद्वाराणि भवन्ति, तत्रोपक्रमान्तर्गतमर्थाधिकारं दर्शयितुं निर्युक्तिकृदाह-

नि. [३४५] अनिचे पव्वए रुप्पे मुयगस्स तहा महासमुद्दे य । एए खलु अहिगारा अज्झयणमी विमुत्तीए ॥

**वृ.** अस्याध्ययनस्यानित्यत्वाधिकारः तथा पर्वताधिकारः पुना रूप्याधिकारः तथा भूजगत्वगधिकार एवं समुद्राधिकारश्च, इत्येते पञ्चार्थाधिकारास्तांश्च यथायोगं सूत्र एव भणिष्याम इति ।। नामनिष्मनै तु निक्षेपे विमुक्तिरिति नाम, अस्य च नामादिनिक्षेपः उत्तराध्ययनान्तः-पातिविमोक्षाध्ययनवदित्यतिदेष्टुं निर्युक्तिकार आह— नि. [३४६] जो चेव होइ मुक्खो सा उ विमुत्ति पगयं तु भावेणं । देसविमुक्का साहू सव्वविमुक्का भवे सिद्धा ।।

**वृ.** य एव मोक्षः सैव विमुक्ति, अस्याश्च मोक्षवन्निक्षेप इत्यर्थ, प्रकृतम्-अधिकारो भावविमुक्त्येति, भावविमुक्तिस्तु देशसर्वभेदाद्देधा, तत्र देशत साधूनां भवस्यकेवलिपर्यन्तानां, सर्वविमुक्तास्तु सिद्धा इति, अष्टविधकर्मविचटनादिति ॥ सूत्रानुगमे सूत्रमुद्यारयितव्यं, तच्चदम्-

मू. (५४१) अनिद्यमावासमुविंति जंतुणो, पलोयए सुद्यमिणं अनुत्तरं । विउसिरे विन्नु अगारबंधणं, अभीरु आरंभपरिग्गहं चए।।

**वृ.** आवसन्यस्मित्रित्यावासो-मनुष्यादिभवस्तच्छरीरं वात्तमनित्यमुप-सामीप्येन यान्ति-गच्छन्ति जन्तवः-प्राणिन इति, चतसृष्वपि गतिषु यत्र यत्रोत्पद्यन्ते तत्र तत्रानित्यभावमुपग-च्छन्तीत्यर्थ, एतच्च मौनीन्द्रं प्रवचनमनुत्तरं श्रुत्वा 'प्रलोकयेत्' पर्यालोचयेद्, यथैव प्रवचनेऽनित्यत्वादिकमभिहितं तथैव लक्ष्यते-६श्यते इत्यर्थ ।

एतच्च श्रुत्वा प्रलोक्य च विद्वान् 'व्युत्सृजेत्' परित्यजेत् 'अगारबन्धनं' गृहपाशं पुत्रकलत्रधनधान्यादिरूपं, किम्भूतः सन् ? इत्याह 'अभीरु' सप्तप्रकारभयरहितः परीषहोपस-र्गाप्रधृष्यश्च 'आरम्भं' सावद्यमनुष्ठानं परिग्रहं च सबाह्याभ्यन्तरं त्यजेदिति साम्प्रतं पर्वताधिकारे,-

मू. (५४२) तहागयं भिक्खुमनंतसंजयं, अनेलिसं विन्नु चरंतमेसणं। तुदंति वायाहि अभिद्ववं नरा, सरेहिं संगामगयं व कुंजरं॥

**दृ**. तथाभूतं साधुम्-अनित्यत्वादिवासनोपेतं व्युत्सृष्टगृहबन्धनं त्यक्तारम्भपरिग्रहं, तथाऽनन्तेष्वेकेन्द्रियादिषु सम्यग् यतः संयतस्तम् 'अनीर्धशम्' अनन्यसद्धां 'विद्वांसं' जिनागम-गृहीतसारम् 'एषणायां चरन्तं' परिशुद्धाहारादिना वर्त्तमानं,तमित्थंभूतंभिक्षुं 'नरा' मिथ्याद्धयः पापोपहतात्मानः 'वाग्भि' असभ्यालापैः 'तुदन्ति' व्यथन्ते, पीडामुत्यादयन्तीत्यर्थ, तथा लोष्टप्रहारादिभिरभिद्रवन्तिच,कथमितिदृधन्तमाह-शरैः सङग्रामगतं कुञ्जरमिव॥ २ ॥अपिच-

मू. (५४३) तहप्पगारेहिं जणेहिं हीलिए, संसद्दफासा फरुसा उईरिया ।

तितिक्खए नणि अदुइचेयसा, गिरिव्व वाएण न संपवेयए।।

**वृ.** 'तथाप्रकारैः' अनार्यप्रायैर्जनैः 'हीलितः' कदर्थितः, कथं ?, यतस्तैः परुषास्तीव्राः सशब्दाः-साक्रोशाः स्पर्शा-शीतोष्णादिकादुःखोत्पादका उत्-प्राबल्येनेरिता-जनिताः कृता इत्पर्थ, तांश्च स मुनिरेवं हीलितोऽति 'तितिक्षते' सम्यक्सहते, यतोऽसौ 'ज्ञानी' पूर्वकृतकर्म एवायं विपाकानुभव इत्येवं मन्यमानः, 'अदुष्टचेताः' अकलुषान्तःकरणः सन् 'न तैः संप्रवेपते' न कम्पते गिरिरिव वातेनेति अधुना रूप्यदेष्टान्तमधिकृत्याह–

मू. (५४४) उवेहमाणे कुसलेहिं संवसे, अकंतदुक्खी तसथावरा दुही। अलूसए सव्वसहे महामुनी, तहा हि से सुरसमणे समाहिए।।

**वृ.** 'उपेक्षमाणः' परीषहोपसर्गान् सहमान इष्टानिष्टविषयेषु वोपेक्षमाणो-माध्यस्थ्यमवलम्बमानः 'कुशलैः' गीतार्थे सहसंवसेदिति, कथम् ?, अकान्तम्-अनभिप्रेतं दुःखम्-असातावेदनीयं तदिद्यते येषां त्रसस्थावराणां तान् दुःखिनस्त्रसस्थावरान् 'अलूषयन्' अपरितापयन् पिहिताश्रवद्वारः पृथ्वीवत् 'सर्वंसहः' परीषहोपसर्गसहिष्णुः 'महामुनि' सम्यग्जगत्रयस्वभाववेत्ता तथा ह्यसौ सुश्रमण इति समाख्यातः किञ्च-

#### मू. (५४५) विऊ नए धम्मपयं अनुत्तरं, विणीयतण्हस्स मुणिस्स झायओ। समाहियस्सऽग्गिसिहा व तेयसा, तवो य पन्ना य जसो य वड्ढइ।।

**षृ.** 'विद्वान्' कालज्ञः 'नतः' प्रणतः प्रह्लः, किं तत् ? – 'धर्मपदं' क्षान्त्यादिकं, किंभूतम् ? – 'अनुत्तरं' प्रधानमित्यर्थ,तस्य चैवंभूतस्य मुनेर्विगततृष्णस्य ध्यायतो धर्मध्यानं 'समाहितस्य' उपयुक्तस्याग्निशिखावत्तेजसा ज्वलतस्तपः प्रज्ञा यशश्च वर्द्धत इति तथा–

मू. (५४६) दिसोदिसंऽनंतजिणेण ताइणा, महव्वया खेमपया पवेइया । महागुरू निरसयरा उईरिया, तमेव तेउत्तिदिसं पगासगा ।।

**वृ.** 'दिशोदिश'मिति सर्वास्वप्येकेन्द्रियादिषु भावदिक्षु 'क्षेमपदानि' रक्षणस्थानानि 'प्रवेदितानि' प्ररूपितानि, अनन्तश्चासौ ज्ञानात्मतया नित्यतया वा जिनश्च-रागद्वेषजय-नादनन्तजिनस्तेन, किंभूतानि व्रतानि ? -'महागुरूणि' कापुरुषैर्दुर्वहत्वात् 'निस्वकराणि' स्वं-कर्मानादिसम्बन्धात्तदपनयनसमर्थानि निस्वकराणि 'उदीरितानि' आविष्कृतानि तेजस इव तमोऽपनयनात्रिदिशं प्रकाशकानि, यथा तेजसतमोऽपनीयोर्ध्वाधस्तिर्यक् प्रकाशते एवं तान्यपि कर्मतमोऽपनय- नहेतुत्वात्त्रिदिशं प्रकाशकानीति । मूलगुणानन्तरमुत्तरगुणाभिधित्सयाऽऽह–

मू. (५४७) सिएहिं भिक्खू असिए परिव्वए, असझमित्यीसु चइझ पूयणं। अनिस्सिओ लोगमिणं तहा परं, न मिझई कामगुणेहिं पंडिए।।

**वृ.** सिताः-बद्धाः कर्मणा गृहपाशेन रागद्वेषादिनिबन्धनेन वेति गृहस्था अन्यतीर्थिका वा तैः 'असितः' अबद्धः-तैः सार्द्ध सङ्गमकुर्वन् भिक्षु 'परिव्रजेत्' संयमानुष्ठायी भवेत्, तथा स्त्रीषु 'असजन्' सङ्गमकुर्वन् पूजनं त्यजेत्-न सत्काराभिलाषी भवेत्, तथा 'अनिश्रितः' असंबद्धः 'इहलोके' अस्मिन् जन्मनि तथा 'परलोके' स्वर्गादाविति, एवंभूतश्च 'कामगुणैः' मनोज्ञशब्दादिभिः 'न मीयते' न तोल्यते न स्वीक्रिय इतियावत् 'पण्डितः' कटुविपाककामगुणदर्शीति

मू. (५४८) तहा विमुक्कस्स परिन्नचारिणो, धिईमओ दुक्खखमस्स भिक्खुणो । विसुज्झई जंसि मलं पुरेकडं, समीरियं रुष्पमलं व जोइणा ।।

**द्यु.** 'तथा' तेन प्रकारेण मूलोत्तरगुणधारित्वेन विमुक्तो-निसङ्गस्तस्य, तथा परिज्ञानं परिज्ञा-सदसद्विवेकस्तया चरितुं शीलमस्येति परिज्ञाचारी-ज्ञानपूर्वं क्रियाकारी तस्य, तथा धृति-समाधानं संयमे यस्य स धृतिमांस्तस्य, दुःखम्-असातावेदनीयोदयस्तदुदीर्णं सम्यक् क्षमते-सहते, न वैक्लव्यमुपयाति नापि तदुपशमार्थं वैद्यौषधादि मृगयते, तदेवंभूतस्य भिक्षोः पूर्वोपात्तं कर्म 'विशुध्यति' अपगच्छति, किमिव ? – 'समीरितं' प्रेरितं रूप्यमलमिव 'ज्योतिषा' अग्निनेति साम्प्रतं मुजङ्गत्वगधिकारमधिकृत्याह--

मू. (५४९) से हु परिन्नासमयंमि वर्ट्ड, निराससे उवरय मेहुणा चरे। भुयंगमे जुन्नतयं जहा चए, विमुखई से दुहसिज माहणे।।

ष्ट्र. 'स' एवंभूतो भिक्षुर्मूलोत्तरगुणधारी पिण्डेषणाध्ययनार्थकरणोद्युक्तः परिज्ञासमये कत्तते, तथा 'निराशंसः' ऐहिकामुष्मिकाशंसारहितः, तथा मैथुनादुपरतः, अस्य चोपलक्षणत्वादप-रमहाव्रतधारीच, तदेवंभूतोभिक्षुर्यया सर्प कञ्चुकंमुक्त्वा निर्मलीभवति एवं मुनिरपि 'दुःखशय्यातः' नरकादिभवाद्विमुच्यत इति । समुद्राधिकारमधिकृत्याह-- मू. (५५०) जमाहु ओहं सलिलं अपारयं, महासमुद्दं व भुयाहि दुत्तरं । अहे य णं परिजाणाहि पंडिए, से हु मुनी अंतकडेत्ति वुद्यई ।।

**वृ.** 'यं' संसारं समुद्रमिव भुजाभ्यां दुस्तरमाहुस्तीर्थकृतो गणधरादयो वा, किम्भूतम् ? – ओघरूपं, तत्र द्रव्यौघः सलिलप्रवेशो भावौघ आस्रवद्वाराणि, तथा मिथ्यात्वाद्यपारसलिलम्, इत्यनेनास्य दुस्तरत्वे कारणमुक्तम्, अथैनं संसारसमुद्रमेवंभूतं इपरिज्ञया सम्यग् जानीहि प्रत्याख्यानपरिज्ञयातुपरिहर 'पण्डितः' सदसद्विवेकज्ञः, सच मुनिरेवंभूतः कर्मणोऽन्तकृदुच्यते अपिच–

मू. (५५१) जहा हि बद्धं इह मानवेहिं, जहा य तैसिं तु विमुक्ख आहिए। अहा तहा बन्धविमुक्ख जे विऊ, से हु मुनी अंतकडेत्ति वुद्यई।।

**वृ.** 'यथा' येन प्रकारेण मिथ्यात्वादिना 'बद्धं' कर्म प्रकृतिस्थित्यादिनाऽऽत्मसात्कृतम् 'इह' अस्मिन् संसारे 'मानवैः' मनुष्यैरिति तथा यथा च सम्यग्दर्शनादिना तेषां कर्मणां विमोक्ष आख्यातः इत्येवं याधातथ्येन बन्धविमोक्षयोर्यः सम्यग्वेत्ता स मुनि कर्मणोऽन्तकृदुच्यते।। किश्च—

मू. (५५२) इमंमि लोए परए य दोसुवि, न विज़ई बंधन जस्स किंचिवि। से हु निरालंबणमप्पइडिए, कलंकलीभावपहं विमुच्चइ।।

वु. अस्मिन् लोके परत्र च द्वयोरपि लोकयोर्न यस्य बन्धनं किञ्चनास्ति सः 'निरालम्बनः' ऐहिकामुष्मिकाशंसारहितः 'अप्रतिष्ठितः' न क्वचिठ्यतिबद्धोऽशरीरी वा स एवंभूतः 'कलंकलीभावात्' संसारगर्भादिपर्यटनाद्विमुच्यते ।। ब्रवीमीति पूर्ववत् ।

चूडा-४ समाप्ताः

#### श्रुतस्कन्धः-२ समाप्तः

उक्तोऽनुगमः, साम्प्रतं नयाः, ते च ज्ञानक्रियनययोरवतरन्ति, तत्र ज्ञाननयः प्राह-यथा ज्ञानमेवैहिकामुष्भिकार्थावाप्तये, तदुक्तम् --

11 9 11 नायम्भि गिण्हिअव्वे अगिण्हिअव्वंमि चेव अत्थंमि ।

जइअव्वमेव इइ जो उवएसो सो नओ नाम ।।

यतितव्यमिति ज्ञान यत्नो विधेय इति य उपदेशः स नयो नामेति-स ज्ञाननयो नामेत्यर्थ किर्यानयस्त्विदमाह –

II १। क्रियैव फलदा पुंसां, न ज्ञानं फलदं मतम् । यतः स्त्रीभक्ष्यभोगज्ञो, न ज्ञानात्सुखितो भवेत ।।

II 9 II ''शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा, यस्तु क्रियावान् पुरुषः स विद्वान् । संचिन्त्यतामौषधमातुरं हि, किं ज्ञानमात्रेण करोत्यरोगम् ? ।।

तथा-नायमित्यादि, ज्ञातयोरपि ग्राह्यग्राहकयोरत्थयोस्तथाऽपि यतितव्यमेवेति क्रियैवाभ्यसनीयेति, इति यो नयः स क्रियानयो नामेति, एवं प्रत्येकमभिसन्धाय परमार्थोऽयं निरूप्यते- 'ज्ञानक्रियाभ्यांमोक्ष' इति, तथा चागमः--

II 9 II ''सव्वेसिंपि नयाणं बहुविहवत्तव्वंय निसामित्ता । तं सव्यनयविसुद्धं जं चरणगुणडिओ साहू ।।

| चरणं-     | क्रेया गुणो-ज्ञानं तद्वान् साधुर्मोक्षसाधनायालमिति तात्पर्यार्थ।। |
|-----------|---|
| 11 9 11   | आचारटीकाकरणे यदासं, पुण्यं मया मोक्षगमैकहेतुः।                    |
|           | तेनापनीयाशुभराशिमुद्यैराचारमार्गप्रवणोऽस्तु लोकः ॥                |
| अन्त्येषि | नेर्युक्तिगाथाः-  |
| नि. [३४७  | 9] आयारस्स भगवओ चउत्यचूलाइ एस निञ्जुत्ती ।                        |
|           | पंचमचूलनिसीहं तस्स य उवरिं मणीहामि ॥                              |
| नि. [३४८  | 2] सत्तहिंछहिं चंउचउहि य पंचहि अइड्रचउहि नायव्वा।                 |
|           | उद्देसएहिं पढमे सुयखंधे नव य अज्झयणा ।।                           |
| नि. [३४९  | ] इक्कारस तिति दोदो दोदो उद्देसएहिं नायव्वा ।                     |
|           | सत्तयअट्टयनवमा इक्कसरा हुंति अज्झयणा                              |
|           | इतिश्रीआचारक्रनिर्युक्तिः   |
| नि. [३५०  | >] पाहण्णे महसद्दी परिमाणे चेव होड् नायव्वो ।                     |
| • • •     | -<br>पाहण्णे परिमाणे य छव्विहो होइ निक्खेनो ॥                     |
| नि. [३५९  | ] दन्वे खेत्ते काले भावमि य होति या पहाणा उ ।                     |
|           | तेसि म हासद्दो खलु पाहण्णेणं तु निष्फन्नो ॥                       |
| नि. [३५ः  |   |
|           | तेसु महासद्दी खलु पमाणओ होंति निष्फन्नो ।।                        |
| नि. [३५३  |   |
|           | जाणणओववक्खणओ य दुविहा पुणेक्नेका ॥                                |
| नि. (३५)  | <b>v</b> v  |
|           | मूलगुणे पंचविहा दुविहा पुण उत्तरगुणेसु ॥                          |
| नि. [३५७  |   |
| _         | परिण्णाणेसु पहाणे महापरिण्णा तओ होइ ।।                            |
| नि. [३५।  |   |
|           | तिविहेण परिद्याओं महापरिण्णाएं निज्जुत्ती ।।                      |
| अविवृ     | ता निर्युक्तिरेषा महापरिज्ञायाः, अविवृता इत्यत्रोपन्यस्ताः ।      |

# 9 प्रथमं अङ्गसूत्रं आचाराङ्गं परिसमाप्तम्

#### मुनि दीपरत्न सागरेण संशोधिता सम्पादिता आचाराङ्गसूत्रस्य शीलाङ्काचार्य विरचिता टीका परिसमाप्ता

\*\*\*

ચતરવિજયજી

જિન વિજયજી

| જંબુ વિજયજી અમરમુનિજી કનૈ               |                    |                                       |  |  |  |
|---|--------------------|---------------------------------------|--|--|--|
| લાભસાગરસુરિજી                           | ચંપક સાગરજી        |                                       |  |  |  |
| ······································  | સ્મરશાંજલિ         | · · · · · · · · · · · · · · · · · · · |  |  |  |
| બાબુ ધનપતસિંહ પં૦ બેચરદાસ પં૦ જીવરાજભાઇ |                    |                                       |  |  |  |
|   | પં૦ રૂપેન્દ્રકુમાર | પં૦ હીરાલાલ                           |  |  |  |

સર્યાયય ન સાર્ય ન્યાયય ગાય શાસ ગુપ્રાય બાદુવા સ્વરૂપ ર દૂ કાય સર્વે શ્રુતાનુરાગી પૂજ્યપુરુષોને આનંદ સાગરસરિજી ચંદ્રસાગર સરિજી મનિ માણેક

પુન્યવિજયજી

સંશોધન-સંપાદન-લેખન આદિ દ્વારા મુદ્રીત/અમુદ્રીત સ્વરૂપે રજૂ કર્તા

વર્તમાન કાલિન આગમ સાહિત્ય વારસાને

વર્તમાનકાલીન ''આગમસાહિત્ય''માં પ્રાપ્ત થયો એ સર્વે સરિવર આદિ આર્ષ પુજ્યશ્રીઓને-ચૌદ પૂર્વધર શ્રી ભદુબાહુ સ્વામી પંચમ ગણધર શ્રી સુધર્મા સ્વામી (અનામી) સર્વે શ્રુત સ્થવીર મહર્ષિઓ દશ પૂર્વધર શ્રી શય્યંભવસૂરિ દેવવાચક ગણિ શ્રી શ્યામાચાર્ય દેવર્દિગણિ ક્ષમાશ્રમણ જિનભદ્ર ગણિ ક્ષમાશ્રમણ સંઘદાસગણિ સિદ્ધસેન ગણિ જિનદાસ ગણિ મહત્તર અગત્સ્યસિંહ સુરિ શીલાંકાચાર્ય અભયદેવસ્રિ મલયગિરિસ્રિ ક્ષેમકીર્તિસરિ હરિભદ્રસરિ આર્યરક્ષિત સૂરિ (?) દ્રોણાચાર્ય ચંદ્ર સરિ વાદિવેતાલ શાંતિચંદ્ર સુરિ મલ્લધારી હેમચંદ્રસ્રરિ શાંતિચંદ્ર ઉપાધ્યાય ધર્મસાગર ઉપાધ્યાય ગુણરત્નસ્રી વિજય વિમલગણિ વીરભદ્ર ૠષિપાલ બ્રહ્મમુનિ તિલક્સરિ સૂત્ર-નિર્યુક્તિ - ભાષ્ય - ચૂર્શિ - વૃત્તિ - આદિના રચયિતા અન્ય સર્વે પૂજ્યશ્રી

જેમના દ્વારા સૂત્રમાં ગુંથાયેલ જિનવાણીનો ભવ્ય વારસો

| (૪૫ આગમ મૂળ તથા વિવરણનું શ્લોક પ્રમાણદર્શક કોષ્ટક) |                      |              |                             |             |  |
|--|----------------------|--------------|-----------------------------|-------------|--|
| क्रम   | आगमसूत्रनाम          | मूल          | वृत्ति-कर्ता                | वृत्ति      |  |
|  |                      | श्लोक प्रमाण |                             | श्लोकप्रमाण |  |
| 9.   | आचार                 | રષ્ષ૪        | शीलाङ्काचार्य               | 92000       |  |
| ર.   | सूत्रकृत             | २१००         | शीलाङ्काचार्य               | १२८५०       |  |
| <b>ર</b> .   | स्थान                | ३७००         | अभदेवसूरि                   | 98240       |  |
| ۲.   | समवाय                | १६६७         | अभयदेवसूरि                  | રૂષ૭५       |  |
| ۹.   | भगवती                | 94049        | अभयदेवसूरि                  | १८६१६       |  |
| દ્દ.   | ज्ञाताधर्मकथा        | 4840         | अभयदेवसूरि                  | 3600        |  |
| છ.   | उपासकदशा             | ८१२          | अभयदेवसूरि                  | 600         |  |
| ۷.   | अन्तवृद्दशा          | ९००          | अभवदेवसूरि                  | 800         |  |
| ٩.   | अनुत्तरोपपातिकदशा    | १९२          | अभयदेवसूरि                  | 900         |  |
| 90.  | प्रश्नव्याकरण        | १३००         | अभयदेवसूरि                  | 4૬३૦        |  |
| 99.  | विपाकश्रुत           | १२५०         | अभयदेवसूरि                  | ९००         |  |
| १२.  | औपपातिक              | १३६७         | अभयदेवसूरि                  | ३१२५        |  |
| 93.  | राजप्रश्निय          | २१२०         | मलयगिरिसूरि                 | 3000        |  |
| 98.  | जीवाजीवाभिगम         | ४७००         | मलयगिरिसूरि                 | 98000       |  |
| 94.  | प्रज्ञापना           | ୰୵୰୰         | मलयगिरिसूरि                 | 98000       |  |
| 9Ę.  | सूर्यप्रज्ञप्ति      | २२९६         | मलयगिरिसूरि                 | ९०००        |  |
| 90.  | चन्द्रप्रज्ञप्ति     | २३००         | मलयगिरिसूरि                 | ९१००        |  |
| 9८.  | जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति | 8848         | शान्तिचन्द्रउपाध्याय        | 96000       |  |
| १९थी   | निरयावलिका           | 9900         | चन्द्रसूरि                  | ६००         |  |
| રરૂ.   | (पञ्च उपाङ्ग)        |              |                             |             |  |
| ૨૪.  | चतुःशरण              | ٢٥           | विजयविमलयगणि                | (?) २००     |  |
| ૨५.  | आतुर प्रत्याख्यान    | 900          | गुणरलसूरि (अवचूरि)          | (?) 940     |  |
| २६.  | महाप्रत्याख्यान      | ୨७६          | आनन्दसागरसूरि (संस्कृतछाया) | ୨७६         |  |
| ૨७.  | भक्तपरिज्ञा          | 294          | आनन्दसागरसूरि (संस्कृतछाया) | 294         |  |
| ૨૮.  | तन्दुल वैचारिक       | 400          | विजयविमलगणि                 | (?) 400     |  |
| २९.  | संस्तारक             | 944          | गुणरत्न सूरि (अवचूरि)       | 990         |  |
| 30.  | गच्छाचार*            | ૧૭૫          | विजयविमलगणि                 | १५६०        |  |
| 39.  | गणिविद्या            | 904          | आनन्दसागरसूरि (संस्कृतछाया) | 904         |  |

| क्रम   | आगमसूत्रनाम                           | • मूल        | वृत्ति-कर्ता                   | . वृत्ति<br>। रोपाणण |
|--------|---------------------------------------|--------------|--------------------------------|----------------------|
|        | · · · · · · · · · · · · · · · · · · · | श्लोक प्रमाण |                                | श्लोकप्रमाण          |
| ३२.    | देवेन्द्रस्तव                         | રૂછ્ય        | आनन्दसागरसूरि (संस्कृत ष्ठाया) | રૂછ५                 |
|        | मरणसमाधि \star                        | ८३७          | आनन्दसागरसूरि (संस्कृत ष्ठाया) | ৫३७                  |
| રૂ૪.   | निशीथ                                 | ८२१          | जिनदासगणि (चूर्णि)             | 26000                |
|        |                                       |              | सङ्घदासगणि (भाष्य)             | 6400                 |
| રૂદ્ય. | बृहत्कल्प                             | ४७३          | मलयगिरि+क्षेमकीर्ति            | ४२६००                |
|        |                                       |              | सङ्घदासगणि (भाष्य)             | ७६००                 |
| ३६.    | व्यवहार                               | ३७३          | मलयगिरि                        | 38000                |
|        |                                       |              | सङ्घदासगणि (भाष्य)             | ६४००                 |
| ३७,    | दशाश्रुतस्कन्ध                        | ८९६          | - ? - (चूणि)                   | २२२५                 |
| ३८.    | जीतकल्प \star                         | १३०          | सिद्धसेनगणि (चूणि)             | 9000                 |
| ३९.    | महानिशीथ                              | ४५४८         |                                | -                    |
| 80.    | आवश्यक                                | १३०          | हरिभद्रसूरि                    | २२०००                |
| 89.    | ओघनिर्युक्ति                          | नि.१३५५      | द्रोणाचार्य                    | (?)७५००              |
| -      | पिण्डनिर्युक्ति \star                 | નિ. ૮३५      | मलयगिरिसूरि                    | ७०००                 |
| ४२.    | दशवैकालिक                             | ૮३५          | हरिभद्रसूरि                    | 6000                 |
| ४३.    | उत्तराध्ययन                           | २०००         | शांतिसूरि                      | 98000                |
| 88.    | नन्दी                                 | 900          | मलयगिरिसूरि                    | ৩৩३२                 |
| ૪५.    | अनुयोगद्वार                           | २०००         | मलधारीहेमचन्द्रसूरि            | ५९००                 |

[3]

નોંધ :-

- (૧) ઉક્ત ૪૫ આગમ સુત્રોમાં વર્તમાન કાળે પહેલાં ૧ થી ૧૧ ઝાંગસત્રો, ૧૨ થી ૨૩ उपांगसूत्रो, २४थी. उउ प्रकीर्णकसूत्रो उ४थी. उट छेदसूत्रो, ४० थी. ४उ मूळसूत्रो, ૪૪-૪૫ चुलिकासूत्रोना નામે હાલ પ્રસિદ્ધ છે.
- (૨) ઉક્ત શ્લોક સંખ્યા અમે ઉપલબ્ધ માહિતી અને પૃષ્ઠ સંખ્યા આધારે નોંધેલ છે. જો કે તે સંખ્યા માટે મતાંતર તો જોવા મળે જ છે. જેમકે આચાર સૂત્રમાં ૨૫૦૦. ૨૫૫૪. ૨૫૨૫ એવા ત્રશ શ્લોક પ્રમાણ જાણવા મળેલ છે. આવો મત-ભેદ અન્ય સત્રોમાં પશ છે.
- (૩) ઇક્ત વૃત્તિ-આદિ જે નોંધ છે તે અમે કરેલ સંપાદન મુજબની છે. તે સિવાયની પશ વૃત્તિ-चૂર્णિ આદિ સાહિત્ય મુદ્રિત કે અમુદ્રિત અવસ્થામાં હાલ ઉપલબ્ધ છે જ.
- (४) गच्छाचार अने मरणसमाधि ना विडल्पे चंदावेज्झय अने वीरस्तव प्रकीर्णक आवे છે. જે અમે ''आगमसुत्ताणि'' માં મૂળ રૂપે અને ''આગમદીપ''માં અક્ષરશઃ ગુજરાતી અનુવાદ રૂપે આપેલ છે. તેમજ जीतकल्प જેના વિકલ્પ રૂપે છે એ

पंचकल्पनुं भाष्य અમે ''आगमसुत्ताणि''માં સંપાદીત કર્યું છે.

- (૫) ओघ અને पिण्ड એ બંને निर्युक्ति વિકલ્પે છે. જે હાલ मूळसूत्र ३५े પ्रसिध्ध છे. જે બંનેની वृत्ति અમે આપી છે. તેમજ તેમાં भाष्यની ગાથાઓ પણ સમાવિષ્ટ થઈ છે.
- (5) ચાર प्रकीर्णक सूत्रो અને महानिशीथ એ પાંચ આગમની કોઈ वृत्ति આદિ ઉપલબ્ધ થવાનો ઉલ્લેખ મળતો નથી. प्रकीर्णक नी संस्कृत छाया ઉપલબ્ધ છે તેથી મૂકી છે. निशीय-दशा-जितकल्प એ ત્રણેની चूर्णि આપી છે. જેમાં दशा અને जीतकल्प એ બંને ઉપરवृत्ति મળતી હોવાનો ઉલ્લેખ છે, પણ અમે તે મેળવી શક્યા નથી. જ્યારે निशीथ ઉપર તો માત્ર વીસમા उद्देशक:ની જ वृत्ति નો ઉલ્લેખ મળે છે.

#### 🗭 વર્તમાન કાળે ૪૫ આગમમાં ઉપલબ્ધ નિર્યુक्तिः 🐗

| क्रम       | निर्युक्ति               | श्लोकप्रमाण | क्रम     | निर्युक्ति             | श्लोकप्रमाण |
|------------|--------------------------|-------------|----------|------------------------|-------------|
| 9.         | आचार-निर्युक्ति          | ४५०         | ε.       | आवश्यक–निर्युक्ति      | २५००        |
| २.         | सूत्रकृत-निर्युक्ति      | રદ્દ્       | ૭.       | ओघनिर्युक्ति           | ૧રૂષ્ય      |
| 3.         | बृहत्कल्प-निर्युक्ति 🖈   |             | ٤.       | पिण्डनिर्युक्ति        | ८३५         |
| 8.         | व्यवहार-निर्युक्ति \star | _           | <u> </u> | दशवैकालिक-निर्युक्ति   | 400         |
| <b>ų</b> . | दशाश्रुत०-निर्युक्ति     | 960         | 90.      | उत्तराध्ययन-निर्युक्ति | 900         |

#### નોંધ ઃ-

- (૧) અહીં આપેલ श्लोक प्रमाण એ ગાથા સંખ્યા નથી. ''ઉર અક્ષરનો એક શ્લોક''
   એ પ્રમાણથી નોંધાયેલ श्लोक प्रमाण છे.
- (૨) ★ ચૃहत्कल्प અને व्यवहार એ બંને સૂત્રોની નિર્युक्ति હાલ भाष्य માં ભળી ગઈ છે. જેનો યથાસંભવ ઉલ્લેખ वृत्तिकार महर्षि એ भाष्य ઉપરની वृत्तिમાં કર્યો હોય તેવું જોવા મળેલ છે.
- (૩) ओघ અને पिण्ड निर्युक्ति स्वतंत्र मूलआगम स्व३पे स्थान पामेक्ष छे तेथी तेनुं स्वतंत्र संपादन आगम-४१ ३पे थयेक्ष छे. (तेमજ આ संपादनमां पश छे.)
- (૪) બાકીની છ નિર્યુक્તિમાંથી दशाश्रुतस्कन्ध निर्युक्ति ઉપર चૂર્णિ અને અન્ય પાંચ निर्युक्ति ઉપરની वृत्ति અમે અમારા સંપાદનમાં પ્રકાશીત કરી છે. જ્યાં આ છ निर्युक्ति સ્પષ્ટ અલગ બોઈ શકાય છે.
- (૫) નિર્યુक્તિકર્તા તરીકે મદ્રबाहुस्वामी નો ઉલ્લેખ જ જોવા મળે છે.

|      | ्वतमान કाળ ૪૫ આગમમાં ઉપલબ્ધ भाष्य |                     |      |                            |            |  |
|------|-----------------------------------|---------------------|------|----------------------------|------------|--|
| क्रम | भाष्य                             | <b>श्लोकप्रमा</b> ण | क्रम | भाष्य                      | गाथाप्रमाण |  |
| 9.   | निशीषभाष्य                        | 6400                | ξ.   | आवश्यकभाष्य \star          | ४८३        |  |
| ٦.   | बृहत्कल्पभाष्य                    | ७६००                | છ.   | ओधनिर्युक्तिभाष्य \star    | ३२२        |  |
| ३.   | व्यवहारभाष्य                      | ६४००                | ٤.   | पिण्डनिर्युक्तिभाष्य \star | ४६         |  |
| Υ.   | पञ्चकल्पभाष्य                     | ३१८५                | ٩.   | दशवैकालिकभाष्य \star       | ६३         |  |
| ч.   | जीतकल्पभाष्य                      | રૂ૧૨૫               | 90.  | उत्तराध्ययनभाष्य (?)       | -          |  |

[5]

#### નોંઘ :-

- (૧) निशीष, वृहत्कल्प अने व्यवहारभाष्य ना કર્તा सङ्घदासगणि હोवानुं જણાય છે. અમારા સંપાદનમાં નિશીષ માષ્ય તેની चૂર્णિ સાથે અને વૃहत्कत्प તથા व्यवहार માવ્ય તેની-તેની વૃત્તિ સાથે સમાવિષ્ટ થયું છે.
- (૨) પજીकल्पभाष्य અમારા आगमसत्ताणि भाग-३८ માં પ્રકાશીત થયું.
- (૩) આવશ્યકમાષ્ય માં ગાથા પ્રમાણ ૪૮૩ લખ્યું જેમાં ૧૮૩ ગાથા મૃજ્રમાષ્ય ૩૫ે છે અને ૩૦૦ ગાયા અન્ય એક માવ્યની છે. જેનો સમાવેશ આવશ્યक સુત્રં સટીજંમાં કર્યો છે. [જો કે વિશેષાવશ્યক માપ્ય ખૂબજ પ્રસિધ્ધ થયું છે પણ તે સમગ્ર आવश्यकसूत्र- ઇપરનું भाष्य નથી અને अध्य यनो અનુસારની અલગ અલગ वृत्ति આદિ પેટા વિવરણો તો આવળ્યુ અને जीतकत्प એ બંને ઉપર મળે છે. જેનો અત્રે ઉલ્લેખ અમે કરેલ નથી.]
- (૪) ઓઘનિર્યુक્તિ, પિण્डનિર્યુક્તિ , दशवैकालिकमाष्य નો સમાવેશ તેની તેની વૃત્તિ માં થયો જ છે. પણ તેનો કર્તા વિશેનો ઉલ્લેખ અમોને મળેલ નથી. ઝિાવનિર્યવિત્ત ઉપર ૩૦૦૦ શ્લોક પ્રમાણ માષ્ટ્રનો ઉલ્લેખ પણ જોવા મળેલ છે.]
- (૫) उत्तराध्ययनभाष्यની ગાયા નિર્યુक्तિમાં ભળી ગયાનું સંભળાય છે (?)
- (၄) આ રીતે अंग उपांग प्रकीर्णक चुलिका એ ३५ आगम सुत्रो ઉપરનો કોઈ માવ્યનો ઉલ્લેખ અમારી જાણમાં આવેલ નથી. કોઈક સ્થાને સાક્ષી પાઠ-આદિ સ્વરૂપે માંઘ્યગાથા બોવા મળે છે.
- (૭) भाष्यकर्ता तरीडे મુખ્ય નામ सङ्घदासगणि भोवा भणेल છे. તેમજ जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण अने सिद्धसेन गणि नो पश ઉલ્લेખ મળે છે. કેટલાંક भाष्यना કર્તા અજ્ઞાત જ છે

| ्वतमान अण ४५ आगममा उपलज्य चूणः ) |                            |             |      |                      |             |
|----------------------------------|----------------------------|-------------|------|----------------------|-------------|
| क्रम                             | चूर्णि                     | श्लोकप्रमाण | क्रम | चूर्णि               | श्लोकप्रमाण |
| 9.                               | आचार-चूर्णि                | ८३००        | ٩.   | दशाश्रुतस्कन्धचूर्णि | २२२५        |
| २.                               | सूत्रकृत-चूर्णि            | ९९००        | 90.  | पञ्चकल्पचूर्णि       | ३२७५        |
| ३.                               | भगवती-चूर्णि               | 3998        | 99.  | जीतकल्पचूर्णि        | 9000        |
| ۲.                               | जीवाभिगम-चूर्णि            | 9400        | 9२.  | आवश्यकचूर्णि         | 92400       |
| ٩.                               | जंवूद्वीपप्रज्ञप्ति-चूर्णि | 9603        | 93.  | दशवैकालिकचूर्णि      | 0000        |
| ξ.                               | निशीथचूर्णि                | 26000       | 98.  | उत्तराध्ययनचूर्णि    | 4240        |
| ৩.                               | वृहत्कल्पचूर्णि            | 92000       | ૧५.  | मन्दीचूर्णि          | 9400        |
| ٤.                               | व्यवहारचूर्णि              | १२००        | ૧૬.  | अनुयोगदारचूर्णि      | २२६५        |

## പ്പെ ലർ മറ്റാപാസ് പ്രക്ഷ <del>ചിട്</del>

[6]

#### નોંધ :-

- (૧) ઇક્ત ૧૬ चૂર્णિમાંથી નિશીય , दशाश्चतस्कन्ध, जीतकल्प એ ત્રણ चૂર્णિ અમારા આ સંપાદનમાં સમાવાઈ ગયેલ છે.
- (२) आचार, सूत्रकृत, आवश्यक, दशवैकालिक, उत्तराध्ययन, नन्दी, अनूयोगद्वार એ સાત चર્णિ પુજ્યપાદ આગમોદ્ધારક શ્રી એ પ્રકાશીત કરાવી છે.
- (3) दशवैकालिकनी भीक्ष એક चूर्णि के अगत्यसिंहसूरिकत छे तेनुं प्रआशन पूज्य श्री પુન્યવિજયજીએ કરાવેલ છે.
- (४) जंबूद्वीपप्रज्ञप्तिचूर्णि विशे હीराक्षाक्ष अपडीया प्रश्नार्थविद्ध छल्ं इरे छे. भगवती चर्णि तो भणेके छे, पछ छछ प्रडाशीत थई नथी. तेमक वृहत्कल्प, व्यवहार, પગ્રેकल्प એ ત્રણ હસ્તપ્રતો અમે જોઈ છે પણ પ્રકાશીત થયાનું જાણમાં નથી.
- (u) चूर्णिकार तरीक्रे जिनदासगणिमहत्तरन् i नाभ भुष्यत्वे संભाषाय छे. क्रेटलाक्रना भते અમુક चૂર્णિના કર્તાનો સ્પષ્ટોલ્લેખ મળતો નથી.

### ''આગમ-પંચાંગી'' એક ચિત્ત્ય બાબત''

- વર્તમાન કાળે પ્રાપ્ત આગમ સાહિત્યની વિચારણા પછી ખરેખર આગમના પાંચ 2 અંગોમાં કેટલું અને શું ઉપલબ્ધ છે તે જાણ્યા પછી એક પ્રશ્ન થાય કે આગમ પંચાંગી नी वातो डेटલी चिन्त्य છे. अंग-उपांग-प्रकीर्णक-चूलिका એ उप आगमो ઉपर *મા*ઘ્ય નથી. એટલે ૩૫ આગમનું એક અંગ તો અપ્રાપ્ય જ બન્યું. સૂત્ર પરત્વે ઉપલબ્ધ નિર્યુक્तિ ફક્ત છ છે. એટલે ૩૯ આગમોનું એક અંગ અપ્રાપ્ય જ બન્યું. આ રીતે ક્યાંક भाष्य, ક્યાંક નિર્વૃक્तિ અને ક્યાંક चूर्णिन। અભાવે વર્તમાન કાળે सुव्यवस्थित पंचांगी એક मात्र आवश्यक सूत्रनी गणाय.
- नंदीसत्र मां पंचांगीने બદલે संग्रहणी. प्रतिपत्ति ઓ વગેરેના પક્ષ ઉલ્લેખ છે.

## 🔹 ૪૫ આગમ અંતર્ગત વર્તમાન કાળે ઉપલબ્ધ વિભાગો 🗬

[સૂચના :- અમે સંપાદીત કરેલ आगमसुत्ताणि-सटीकं માં બેકી નંબરના પૃષ્ઠો ઉપર જમણી બાજુ आगमसूत्र ના નામ પછી અંકો આપેલ છે. જેમકે ૧/3/*5*/૨/૫૪ વગેરે. આ અંકો તે તે આગમના વિભાગીકરણને જણાવે છે. જેમકે आचारમાં પ્રથમ અંક શ્રુતસ્कन્धનો છે તેના વિભાગ રૂપે બીજો અંક चूला છે તેના પેટા વિભાગ રૂપે ત્રીજો અંક अध्ययन નો છે. તેના પેટા વિભાગ રૂપે ચોથો અંક उद्देशक નો છે. તેના પેટા વિભાગ રૂપે છેલ્લો અંક મૂलનો છે. આ મૂल ગદ્ય કે પદ્ય હોઈ શકે. જો ગદ્ય હોય તો ત્યાં પેરેગ્રાફ સ્ટાઈલથી કે છુટુ લખાણ છે અને गाथा/પદ્ય ને પદ્યની સ્ટાઈલથી ॥ - ॥ ગોઠવેલ છે.

ં પ્રત્યેક આગમ માટે આ રીતે જ ઓબ્લિકમાં (/) પછી ના વિભાગને તેના-તેના પેટા-પેટા વિભાગ સમજવા.

જ્યાં જે-તે પેટા વિભાગ ન હોય ત્યાં (/-) ઓબ્લિક પછી ડેસ મુકીને તે વિભાગ ત્યાં નથી તેમ સુચવેલું છે.]

- (9) आचार श्रुत्तरकन्धः/चूला/अध्ययनं/उद्देशकः/मूलं चूला नामङ पेटा विભाज जीला श्रुतरङन्धामां क्र छे.
- (२) सूत्रकृत श्रुतस्कन्धः/अध्ययनं/उद्देशकः/मूलं
- (३) स्यान स्यानं/अध्ययनं/मूलं
- (४) समवाय समवायः/मूलं
- (५) भगवती शतकं/यर्ग्यः-अंतरशतकं/उद्देशकः/मूलं અહીં शतक ना પેટા વિભાાગમાં બે નામો છે. (૧) वर्ग्गः (૨) अंतर्शतक કેમકે शतक २૧, ૨૨, ૨૩ માં शतक ના પેટા વિભાાગનું નામ वर्ग्गः જ શાવેલ છે. शतक - ३३,३४,३५,३६,४० ના પેટા વિભાગને अंतरशतक અથવા शतकशतक नामથી ઓળખાાવાય છે.
- (६) ज्ञाताधर्मकया- श्रुतस्कन्धः/वर्ग्यः/अध्ययनं/मूलं પહેલા श्रुतस्कच માં अध्ययन જ છે. બીજા श्रुतस्कच्घ नो પેટાવિભાગ वर्ग्य नाમ છે અને તે वर्ग्य ना પેટા વિભાગમાં अध्ययन છે.
- (७) उपासकदशा- अध्ययनं/मूलं
- (८) अन्तकृद्दशा- वर्गः/अध्ययनं/मूलं
- (९) अनुत्तरोपपातिकदशा- वर्गाः/अध्ययनं/मूलं
- (१०) प्रश्नव्याकरण- द्वारं/अध्ययनं/मूलं आश्रव अने संवर એवा स्पष्ट બे लेद છે જેને आश्रवद्वार अने संवरद्वार કહ્યા છે. (કોઈક द्वार ने બદલे श्रुतत्कन्ध शબ्द प्रયोગ पक्ष કरे છे)
- (१९) विपाकश्रुत- श्रुतस्कन्धः/अध्ययनं/मूलं
- (१२) औपपातिक- मूलं
- (१३) राजप्रश्नीय- मूलं

(१४) जीवाजीवाभिगम- \*प्रतिपत्तिः/\* उद्देशकः/मूलं

આ આગમમાં ઉક્ત ત્રજ્ઞ વિભાાગો કર્યા છે તો પજ્ઞ સમજજ્ઞ માટે પ્રતિપત્તિઃ પછી એક પેટાવિભાગ નોંધનીય છે. કેમકે પ્રતિવત્તિ -રૂ-માં નેરદ્વ્ય, તિરિમ્લળોणિય, વનુષ્ય, દેવ એવા ચાર પેટાવિભાગો પડે છે. તેથી તિપત્તિ/(नेरट्यआदि)/उद्देशक:/मूलं એ રીતે સ્પષ્ટ અલગ પાડેલા છે, એજ રીતે દશમી प्रतिपत्ति ના उद्देशकः नव नથી પક્ષ તે પેટાવિભાગ પ્રતિપત્તિઃ નામે જ છે.

- (૧५) प्रज्ञापना- पदं/उद्देशकः/द्वारं/मूलं पदना પેટા વિભાગમાં ક્યાંક उद्देशकः છે, ક્યાંક ढारं છે પક્ષ પद-૨૮ના પેટા વિભાગમાં उद्देशकः અને તેના પેટા વિભાગમાં ढारं પક્ષ છે.
- (१६) सूर्यप्रज्ञति- प्राभृतं/प्राभृतप्राभृतं/मूलं
- (૧৩) चन्द्रप्रज्ञप्ति- प्राभृतं/प्राभृतप्राभृतं/मूलं આગમ ૧*૬*-૧૭માં प्रामृतप्रापृत ના પક્ષ प्रतिपत्तिः નામક પેટા વિભાગ છે. પશ उद्देशकः આદિ મુજબ તેનો વિશેષ વિસ્તાર થાયેલ નથી.
- (१८) जम्बूदीपप्रज्ञति- वक्षस्कारः/मूलं
- (१९) निरयावलिका अध्ययनं/मूलं
- (२०) कल्पवतंसिका अध्ययनं/मूलं
- (२९) पुष्पितां अध्ययनं/मूलं
- (२२) पुष्पचूलिका अध्ययनं/मूलं
- (२३) वण्डिदशा अध्ययनं/मूलं આગમ ૧૯ થી ૨૩ નિरयावलिकादि નામથી સાથે જોવા મળે છે કેમકે તેને ઉપાંગના પાંચ વર્ગ તરીકે સૂત્રકારે ઓળખાવેલા છે. જેમાં વર્ગ-૧, निरयावलिका, વર્ગ-૨ कल्पवतंसिका... વગેરે જાલવા
- (२४ यी ३३) चतुःशरण (आदि दशेपयञा) मूलं
- (३४) निशीय उद्देशकः/मूलं
- (३५) बृहत्कल्प उद्देशकः/मूलं
- (३६) व्यवहार उद्देशकः/मूलं
- (३७) दशाश्रुतस्कन्ध दशा/मूलं
- (३८) जीतकल्प मूलं
- (३९) महानिशीय अध्ययनं/उद्देशकः/मूलं
- (४०) आवश्यक अध्ययनं/मूलं
- (४९) ओघ/पिण्डनिर्युक्ति मूलं
- (४२) दशवैकालिक अध्ययनं/उद्देशकः/मूलं
- (४३) उत्तराध्ययन अध्ययनं//मूलं
- (४४- ४५) नन्दी-अनुयोगद्वार मूलं

અમારા સંપાદીત ૪૫ આગમોમાં આવતા મૂલ નો અંક તથા તેમાં સમાવિષ્ટ ગાથા

| क्रम      | आगमसूत्र           | मूलं  | गाया       | क्रम        | आगमसूत्र         | मूलं       | गाथा       |
|-----------|--------------------|-------|------------|-------------|------------------|------------|------------|
| 9.        | आचार               | ષધર   | 980        | ૨૪.         | चतुःशरण          | <b>Ę</b> Ę | <b>Ę</b> ₹ |
| २.        | सूत्रकृत           | ٢٥٤   | હરર        | ૨५.         | आतुरप्रत्याख्यान | 90         | ৩০         |
| а.        | स्थान              | 9090  | १६९        | રદ્વ.       | महाप्रत्याख्यानं | १४२        | १४२        |
| Χ         | समवाय              | 323   | ९३         | રહ.         | भक्तपरिज्ञा      | 9७२        | १७२        |
| نو.       | भगवती              | 9029  | 998        | २८.         | तंदुलवैचारिक     | 959        | १३९        |
| દ્દ.      | ज्ञाताधर्मकथा      | २४१   | <u> ૬છ</u> | २९.         | संस्तारक         | १३३        | १३३        |
| <u>७.</u> | उपासक दशा          | ৩३    | 93         | <b>३</b> 0. | गच्छाचार         | ঀঽড়       | १३७        |
| ٤.        | अन्तकृद्दशा        | ६२    | १२         | 39.         | गणिदिद्या        | <u>۲</u> ۲ | 4          |
| ٩.        | अनुत्तरोपपातिक     | 93    | 8          | રૂર.        | देवेन्द्रस्तव    | ७०६        | ३०७        |
| 90.       | प्रश्नव्याकरण      | ৬৬    | 98         | ३३.         | मरणसमाधि         | ६६४        | ६६४        |
| 99.       | विपाकश्रुत         | - ৩४৩ | २          | રૂ૪.        | निशीष            | १४२०       | _          |
| 9२.       | औपपातिक            | છછ    | 30         | રૂધ.        | वृहत्कल्प        | ૨૧૫        | -          |
| 93.       | राजप्रश्निय        | 64    | -          | ३६.         | व्यवहार          | २८५        | -          |
| 98.       | जीवाभिगम           | ३९८   | ९३         | રૂછ.        | दशाश्रुतस्कन्ध   | 998        | ધદ્        |
| 94.       | प्रज्ञापना         | ६२२   | 239        | રૂ૮.        | जीतकल्प          | 903        | 903        |
| १६.       | सूर्यप्रज्ञप्ति    | २१४   | 903        | ३९.         | महानिशीथ         | 9422       | . 6        |
| 919.      | चन्द्रप्रज्ञप्ति   | 296   | 909        | 80.         | आवश्यक           | ९२         | 29         |
| 96.       | जम्बूदीपप्रज्ञप्ति | ३६५   | 939        | 89.         | ओधनिर्युक्ति     | 9964       | 9984       |
| 9९.       | निरयावलिका         | २१    | -          | 89.         | पिण्डनिर्युक्ति  | હ૧૨        | છ૧૨        |
| २०.       | कल्पवतंसिका        | <br>ц | 9          | ४२.         | दशवैकालिक        | 480        | હવુહ       |
| २१.       | पुष्पिता           | 99    | ર          | 83.         | उत्तराध्ययन      | 9039       | 9580       |
| ૨૨.       | पुष्पचूलिका        | ३     | 9          | 88.         | नन्दी            | 956        | ९३         |
| २३.       | यण्हिदशा           | ų     | 9          | ૪૫.         | अनुयोगद्वार      | રૂષ૦       | 989        |

નોંધ ઃ- ઉક્ત गાથા સંખ્યાનો સમાવેશ મૂર્ત્ત માં થઈ જ જાય છે. તે મૂર્ત્ત સિવાયની અલગ गાથા સમજવી નહીં. મૂત્ત શબ્દ એ અમો સૂત્ર અને ગાથા બંને માટે નો આપેલો સંયુક્ત અનુક્રમ છે. गાથા બધાંજ સંપાદનોમાં સામાન્ય અંક ધરાવતી હોવાથી તેનો અલગ અંક આપેલ છે. પણ સૂત્રના વિભાગ દરેક સંપાદકે ભિન્નભિન્ન રીતે કર્યા હોવાથી અમે સૂત્રાંક જુદો પાડતા નથી.

#### [10]

--: અમારા પ્રકાશનો :--[٩] अभिनव हेम लघुप्रक्रिया - १ - सप्ताङ्ग विवरणम् [၃] अभिनव हेम लघुप्रक्रिया - २ - सप्ताङ्ग विवरणम् [3] अभिनव हेम लघुप्रक्रिया - ३ - सप्ताङ्ग विवरणम् [8] अभिनय हेम लघुप्रक्रिया - ४ - सप्ताङ्ग विवरणम् પિ क्रदन्तमाला [5] चैत्यवन्दन पर्वमाला [9] चैत्यवन्दन सङ्ग्रह - तीर्थजिनविशेष [2] चैत्यवन्दन चोविशी હિ शत्रुअय भक्ति (आवृत्ति-दो ] अभिनव जैन पश्चाङ्ग - २०४६ [90] [99] અભિનવ ઉપદેશ પ્રાસાદ - ૧- શ્રાવક કર્તવ્ય - ૧ થી ૧૧ [૧૨] અભિનવ ઉપદેશ પ્રાસાદ - ૨- શ્રાવક કર્તવ્ય - ૧૨ થી ૧૫ [٩3] અભિનવ ઉપદેશ પ્રાસાદ - ૩- શ્રાવક કર્તવ્ય - ૧૬ થી ૩૬ [१४] નવપદ - શ્રીપાલ (શાશ્વતી ઓળીના વ્યાખ્યાન ૩૫ે) [૧૫] સમાધિ મરલ વિધિ - સૂત્ર - પદ્ય - આરાધના-મરણભેદ-સંગ્રહ] [95] ચૈત્યવંદન માળા ૭િ૭૯ ચૈત્યવનંદનોનો સંગ્રહ] ବ୍ତି તત્વાર્થ સૂત્ર પ્રબોધટીકા અધ્યાય-૧] તત્વાર્થ સૂત્રના આગમ આધાર સ્થાનો [٩८] સિદ્ધાચલનો સાથી [આવૃત્તિ - બે] [૧૯] [20] ચૈત્ય પરિપારી [29] અમદાવાદ જિનમંદિર ઉપાશ્રય આદિ ડિરેક્ટરી શત્રંજય ભક્તિ [આવૃત્તિ - બે] રિરો [૨૩] શ્રી નવકારમંત્ર નવલાખ જાપ નોંધપોથી શ્રી ચારિત્ર પદ એક કરોડ જાપ નોંધપોથી [28] રિપી શ્રી બારવ્રત પુસ્તિકા તથા અન્ય નિયમો - [આવૃત્તિ - ચાર] [25] અભિનવ જૈન પંચાંગ - ૨૦૪૨ સિર્વપ્રથમ ૧૩ વિભાગોમાં] [૨૭] શ્રી જ્ઞાનપદ પૂજા [૨૮] અંતિમ આરાધના તથા સાધુ સાધ્વી કાળધર્મ વિધિ [૨૯] શ્રાવક અંતિમ આરાધના આિવૃત્તિ ત્રજ્ઞ] [30] વીતરાગ સ્તુતિ સંચય [૧૧૫૧ ભાવવાહી સ્તુતિઓ] [39] (પૂજ્ય આગમોદ્ધારક શ્રી ના સમુદાયના) કાયમી સંપર્ક સ્થળો તત્વાર્થાધિગમ સૂત્ર અભિનવ ટીકા - અધ્યાય-૧ [૩૨] તત્વાર્થાધિગમ સૂત્ર અભિનવ ટીકા - અધ્યાય-૨ [ອອ] [૩૪] તત્વાર્થાધિગમ સૂત્ર અભિનવ ટીકા - અધ્યાય-૩ [૩૫] તત્વાર્થાધિગમ સૂત્ર અભિનવ ટીકા - અધ્યાય-૪

| [35]    | તત્વાર્થાધિગમ સૂત્ર અભિ | ાનવ ટીકા - અધ્યાય-પ          |                    |
|---------|-------------------------|------------------------------|--------------------|
| [3৩]    | તત્વાર્થાધિગમ સૂત્ર અભિ |                              |                    |
| [3८]    | તત્વાર્થાધિગમ સૂત્ર અભિ | ત્તનવ ટીકા – અધ્યાય-૭        |                    |
| [૩૯]    | તત્વાર્થાધિગમ સૂત્ર અભિ |                              |                    |
| [YO]    | તત્વાર્થાધિગમ સૂત્ર અભિ |                              |                    |
| [૪٩]    | તત્વાર્થાધિગમ સૂત્ર અભિ | <u>  નવ ટીકા - અધ્યાય-૧૦</u> |                    |
|         | <u>પ્રકાશન ૧ થી ૪૧</u>  | અભિનવશુત પ્રકાશને પ્રગટ      | કરેલ છે.           |
| [૪૨]    | आयारो                   | [आगमसुत्ताणि-१]              | पढमं अंगसुत्तं     |
| [¥३]    | सूयगडो                  | [आगमसुत्ताणि-२]              | बीअं अंगसुत्तं     |
| [88]    | ठाणं ·                  | [आगमसुत्ताणि-३]              | तइयं अंगसुत्तं     |
| [૪५]    | समवाओ                   | [अगमसुत्ताणि-४]              | चउत्यं अंगसुत्तं   |
| [४६]    | विवाहपन्नति             | [आगमसुत्ताणि-५]              | पंचमं अंगसुत्तं    |
| [४७]    | नायाधम्मकहाओ            | [आगमसुत्ताणि-६]              | छट्टं अंगसुत्तं    |
| [४८]    | उवासगदसाओ               | [आगमसुत्ताणि-७]              | सत्तमं अंगसुत्तं   |
|         | अंतगडदसाओ               | [आगमसुत्ताणि-८]              | अट्टमं अंगसुत्तं   |
| [५૦]    | अनुत्तोववाइयदसाओ        | [आगमसुत्ताणि-९]              | नवमं अंगसुत्तं     |
| [49]    | पण्हावागरणं             | [आगमसुत्ताणि-१० ]            | दसमं अंगसुत्तं     |
| [५૨]    | विवागसूयं               | [आगमसुत्ताणि-१९]             | एबारसमं अंगसुत्तं  |
| [ધર]    | उववाइयं                 | [आगमसुत्ताणि-१२]             | पढमं उवंगसुत्तं    |
| [५૪]    | रायप्पसेणियं            | [आगमसुत्ताणि-१३]             | बीअं उवंगसुत्तं    |
| [ષષ]    | जीवाजीवाभिगमं           | [आगमसुत्ताणि-१४ ]            | तइयं उवंगसुत्तं    |
| [ષદ્દ]  | पत्रवणासुत्तं           | [आगमसुत्ताणि-१५]             | चउत्यं उवंगसुत्तं  |
| [५७]    | सूरपन्नतिः              | [आगमसुत्ताणि-१६]             | पंचमं उवंगसुत्तं   |
| [૬૮]    | चंदपत्रतिः              | [आगमसुत्ताणि-९७ ]            | छट्टं उवंगसुत्तं   |
| [५९]    | जंबूद्दीवपन्नति         | [आगमसुत्ताणि-१८ ]            | सत्तमं उवंगसुत्तं  |
| [६०]    | निरयावलियाणं            | [आगमसुत्ताणि-१९]             | अड्डमं उवंगसुत्तं  |
| [٤٩]    | कष्पवडिंसियाणं          | [आगमसुत्ताणि-२० ]            | नवमं उवंगसुत्तं    |
| [६२]    | पुष्फियाणं              | [आगमसुत्ताणि-२१]             | दसमं उवंगसुत्तं    |
| [६३]    | पुष्फचूलियाणं           | [आगमसुत्ताणि-२२]             | एबारसमं उवंगसुत्तं |
| [૬૪]    | वण्हिदसाणं              | [आगमसुत्ताणि-२३]             | वारसमं उवंगसुत्तं  |
| [દ્દ્ધ] | चउसरणं                  | [आगमसुत्ताणि-२४]             | पढमं पईण्णगं       |
|         | आउरपद्यक्खाणं           | [आगमसुत्ताणि-२५]             | बीअं पईण्णगं       |
|         | महापञ्चक्खार्ण          | [आगमसुत्ताणि-२६]             | तीइयं पईण्णगं      |
|         | भत्तपरिण्णा             | [आगमसुत्ताणि-२७]             | चउत्थं पईण्णगं     |
|         |                         |                              |                    |

[11]

| Le 11 | ાપાપૂપ  | Foundation     | , e 1      | મહના પૂર્ણવા       |  |  |  |
|-------|---|----------------|------------|--------------------|--|--|--|
| [٩٥]  | अनुओगदारं   | [आगमसुत्ताणि-भ | ٢५]        | बितिया चूलिया      |  |  |  |
|       | પ્રકાશન ૪૨ થી ૯૦ આગમશ્રુત પ્રકાશને પ્રગટ કરેલ છે. |                |            |                    |  |  |  |
| [૯૧]  | આયાર -  | ગુજરાતી અનુવાદ | [આગમદીપ-૧] | પહેલું અંગસૂત્ર    |  |  |  |
| [૯૨]  | સૂયગડ -   | ગુજરાતી અનુવાદ | [આગમદીપ-૧] | બીજું અંગસૂત્ર     |  |  |  |
| [૯૩]  | ઠાણ –   | ગુજરાતી અનુવાદ | [આગમદીપ-૧] | 🛛 ત્રીજું અંગસૂત્ર |  |  |  |
| [૯૪]  | સમવાય -   | ગુજરાતી અનુવાદ | [આગમદીપ-૧] | ચોથું અંગસૂત્ર     |  |  |  |
| [૯૫]  | વિવાહપત્રત્તિ -                                   | ગુજરાતી અનુવાદ | [આગમદીપ-૨] | 📔 પાંચમું અંગસૂત્ર |  |  |  |
| [65]  | નાયાધમ્મકહા -                                     | ગુજરાતી અનુવાદ | [આગમદીપ-૩  | • છઠ્ઠું અંગસૂત્ર  |  |  |  |
| [ఱ]   | ઉવાસગદસા -  | ગુજરાતી અનુવાદ | [આગમદીપ-૩] | 📔 સાતમું અંગસૂત્ર  |  |  |  |
| [67]  | અંતગડદસા -  | ગુજરાતી અનુવાદ | [આગમદીપ-૩] | ) આઠમું અંગસૂત્ર   |  |  |  |
| [૯૯]  | અનુત્તરોપપાતિકદસા-                                | ગુજરાતી અનુવાદ | [આગમદીપ-૩] | 📔 નવમું અંગસૂત્ર   |  |  |  |
| [r∞]  | પશ્હાવાગરશ-                                       | ગુજરાતી અનુવાદ | [આગમદીપ-૩] | દશમું અંગસૂત્ર     |  |  |  |

| [१९]  | तंदुलवेयालियं  | [आगमसुत्ताणि-२८ ]   | षंचमं पईण्णगं     |
|-------|----------------|---------------------|-------------------|
| [00]  | संथारगं        | [आगमसुत्ताणि-२९]    | छड्डं पईण्णगं     |
| [७९]  | गच्छायार       | [आगमसुत्ताणि-३०/१]  | सत्तमं पईण्णगं-९  |
| [૭၃]  | चंदावेज्झयं    | [आगमसुत्ताणि-३०/२]  | सत्तमं पईण्णगं-२  |
| [૭રૂ] | गणिविज्ञा      | [आगमसुत्ताणि-३१]    | अन्नमं पईण्णगं    |
| [૪૪]  | देविंदत्यओ     | [आगमसुत्ताणि-३२]    | नवमं पईण्णगं      |
| [૭५]  | मरणसमाहि       | [आगमसुत्ताणि-३३/१]  | दसमं पईण्णगं-9    |
| [७६]  | वीरत्थव        | [आगमसुत्ताणि-३३/२]  | दसमं पईण्णगं-२    |
| [૭૭]  | निसीह          | [आगमसुत्ताणि-३४ ]   | पढमं छेयसुत्तं    |
| [૭૮]  | बुहत्कप्पो     | [आगमसुत्ताणि-३५ ]   | बीअं छेयसुत्तं    |
| [७९]  | ववहार          | [आगमसुत्ताणि-३६]    | तइयं छेयसुत्तं    |
| [८०]  | दसासुयक्खंधं   | [आगमसुत्ताणि-३७ ]   | चउत्यं छेयसुत्तं  |
| [८१]  | जीयकप्पो       | [आगमसुत्ताणि-३८/१]  | पंचमं छेयसुत्तं-१ |
| [૮૨]  | पंचकष्पभास     | [आगमसुत्ताणि-३८/२]  | पंचमं छेयसुत्तं-२ |
| [८३]  | महानिसीहं      | [आगमसुत्ताणि-३९ ]   | छड्ठं छेयसुत्तं   |
| [८४]  | आवसस्सयं       | [आगमसुत्ताणि-४० ]   | पढमं मूलसुत्तं    |
| [૮५]  | ओहनिञ्जुत्ति   | [आगमसुत्ताणि-४१/୨ ] | बीअं मूलसुत्तं-१  |
| [૮૬]  | पिंडनिञ्जुत्ति | [आगमसुत्ताणि-४१/२]  | बीअं मूलसुत्तं-२  |
| [८७]  | दसवेयालियं     | [आगमसुत्ताणि-४२ ]   | तइयं मुलसुत्तं    |
| [८८]  | उतरज्झयणं      | [आगमसुत्ताणि-४३ ]   | चउत्यं मूलसुत्तं  |
| [۷۷]  | नंदीसूयं       | [आगमसुत्ताणि-४४ ]   | पढमा चूलिया       |
| [٩٥]  | अनुओगदारं      | [आगमसुत्ताणि-४५ ]   | बितिया चूलिया     |

| []             | Dana and                  | and a summer                     | ໂລມານເປັນ ລີ             | અગિયારમું અંગસૂત્ર                   |
|----------------|---------------------------|----------------------------------|--------------------------|--------------------------------------|
| [૧૦૧]          | વિવાગસૂય -                | ગુજરાતી અનુવાદ<br>ગુજરાતી અનુવાદ | [આગમદીપ-3]<br>[આગમદીપ-3] |                                      |
| [902]          | ઉવવાઇય                    | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-૪]<br>[આગમડીપ-૪] | પહેલું ઉપાંગસૂત્ર<br>વીજે ઉપાંગસૂત્ર |
| [૧ <b>૦</b> 3] | રાયપ્પસેશિય -             | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-૪]               | બીજું ઉપાંગસૂત્ર<br>વિવે ઉપાંગસૂત્ર  |
| [103]          | જીવાજીવાભિગમ -            | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-૪]               | ત્રીજું ઉપાંગસૂત્ર                   |
| [૧૦૫]          | પત્રવજ્ઞાસુત્ત            | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-૪]               | ચોથું ઉપાંગસૂત્ર                     |
| [905]          | સૂરપત્રતિ -               | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-૫]               | પાચમું ઉપાંગસૂત્ર                    |
| [૧૦૭]          | ચંદપત્રતિ -               | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-પ]               | છઠ્ઠં ઉપાંગસૂત્ર                     |
| [૧૦૮]          | જંબુદ્ધીવપન્નતિ -         | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-પ]               | સાતમું ઉપાંગસૂત્ર                    |
| [૧૦૯]          | નિરયાવલિયા -              | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-પ]               | આઠમું ઉપાંગસૂત્ર                     |
| [૧૧૦]          | કપ્પવડિંસિયા -            | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-૫]               | નવમું ઉપાંગસૂત્ર                     |
| [૧૧૧]          | પુષ્ફિયા -                | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-૫]               | દશમું ઉપાંગસૂત્ર                     |
| [૧૧૨]          | પુષ્કચૂલિયા -             | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-૫]               | અગિયારમું ઇપાંગસૂત્ર                 |
| [૧૧૩]          | વશ્હિદસા -                | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-૫]               | બારમું ઉપાંગસૂત્ર                    |
| [૧૧૪]          | ચઉસરજ્ઞ -                 | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ- <i>5</i> ]      | પહેલો પયત્રો                         |
| [૧૧૫]          | આઉરપ્પચ્ચકખાલ -           | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-۶]               | બીજો પયત્રો                          |
| [૧૧۶]          | મહાપચ્ચકબાશ -             | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-૬]               | ત્રીજો પયન્નો                        |
| [૧૧૭]          | ભત્તપરિશ્સા -             | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીષ- <i>ક</i> ]      | ચોથો પયત્રો                          |
| [૧૧૮]          | તંદુલવેયાલિય -            | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-5]               | પાંચમો પયશ્રો                        |
| [૧૧૯]          | સંથારગ -                  | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-۶]               | છજ્ઞો પયત્રો                         |
| [૧૨૦]          | ગ¥9ાયાર -                 | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-5]               | સાતમો પયન્નો-૧                       |
| [૧૨૧]          | ચંદાવેજીય -               | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ- <i>ક</i> ]      | સાતમો પયન્નો-૨                       |
| [૧૨૨]          | ગણિવિજ્જા -               | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ- <i>5</i> ]      | આઠમો પયજ્ઞો                          |
| [૧૨૩]          | દેવિંદત્યઓ -              | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-5]               | નવમો પયન્નો                          |
| [૧૨૪]          | વીરત્યવ -                 | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-5]               | દશમો પયન્નો                          |
| [૧૨૫]          | નિસીહ -                   | ગુજરાતી અનુવાદ                   | _<br>[આગમદીપ- <i>5</i> ] | પહેલું છેદસૂત્ર                      |
| [929]          | બુહતકપ્પ -                | ગુજરાતી અનુવાદ                   | _<br>[આગમદીપ- <i>5</i> ] | બીજું છેદસૂત્ર                       |
| વિર૭]          | •                         | ગુજરાતી અનુવાદ                   | _<br>[આગમદીપ-5]          | ત્રીજું છેદસૂત્ર                     |
| [922]          |                           | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-5]               | ચોથું છેદસૂત્ર                       |
| [૧૨૯]          | - · ·                     | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ-5]               | પાંચમું છેદસૂત્ર                     |
|                | મહાનિસીહ -                | ગુજરાતી અનુવાદ                   | [આગમદીપ- <i>5</i> ]      | છઠ્ઠું છેદસૂત્ર                      |
|                | આવસ્સય -                  | ગુજરાતી અનુવાદ                   |                          | પહેલું મૂલસુત્ર                      |
|                | ઓહનિજ્જુત્તિ -            | ગુજરાતી અનુવાદ                   |                          | બીજું મૂલસુત્ર-૧                     |
|                | પિંડનિ <b>જ્</b> જુત્તિ - | ગુજરાતી અનુવાદ                   |                          | બીજું મૂલસુત્ર-૨                     |
|                | દસવેયાલિય -               | ગુજરાતી અનુવાદ                   | - +                      | ત્રીજું મુલસૂત્ર                     |
| []             |                           | S                                | L •• • • • • • • −]      | ······                               |

[13]

|       | ઉત્તરજ્ઞ્ઝયણ -<br>નંદીસુત્તં - | ગુજરાતી અનુવાદ<br>ગુજરાતી અનુવાદ       |                  |             |
|-------|--------------------------------|--|------------------|-------------|
| [૧૩૭] | અનુયોગદાર -                    | ગુજરાતી અનુવાદ                         | [આગમદીપ-૭]       | બીજી ચૂલિકા |
|       | પ્રકાશન ૯૧ ધ                   | યી ૧૩૭ આગમદ                            | ોપ પ્રકાશને પ્રગ | ટ કરેલ છે.  |
| [૧૩૮] | દીક્ષા યોગાદિ વિધિ             | ······································ |                  |             |
| [૧૩૯] | ૪૫ આગમ મહાપૂજન                 |  |                  |             |
| [૧૪૦] | आचाराङ्गसूत्रं सटीकं           |  | आगमसुत्ताणि      | सटीकं-१     |
| [૧૪૧] |                                |  | आगमसुत्ताणि      | सटीकं-२     |
| [૧૪૨] | स्यानाङ्गसूत्रं सटीक           |  | आगमसुत्ताणि      |             |
| [૧૪૨] | समवायाङ्गसूत्रं सटीव           | 5                                      | आगमसुत्ताणि      | सटीकं-४     |
| [988] | भगवतीअङ्गसूत्रं सर्ट           | कं                                     | आगमसुत्ताणि      | सटीक-५/६    |
| [૧૪૫] | ज्ञाताधर्मकयाङ्गसूत्रं         | सटीकं                                  | आगमसुत्ताणि      |             |
| [१४६] | उपासकदशाङ्गसूत्रं स            | ाटीक                                   | आगमसुत्ताणि      |             |
| [৩४७] | अन्तवृद्दशाङ्गसूत्रं सर्ट      | ीक                                     | आगमसुत्ताणि      | सटीकं-७     |
| [୨୪८] | अनुत्तरोपपातिकदशाङ             | सूत्रं सटीकं                           | आगमसुत्ताणि      | सटीक-७      |
| [१४९] | प्रश्नव्याकरणाङ्गसूत्रं        | सटीकं                                  | आगमसुत्ताणि      | सटीक-७      |
| [૧५૦] | विपाकश्रुताङ्गसूत्रं स         | टीकं                                   | आगमसुत्ताणि      |             |
| [૧५૧] | औषपातिकउपाङ्गसूत्रं            | सटीक                                   | आगमसुत्ताणि      | सटीक-८      |
| [૧૫૨] | राजप्रश्नियउपाङ्गसूत्रं        |  | आगमसुत्ताणि      | सटीकं-८     |
| [૧५३] | जीवाजीवाभिगमउपाङ्              | सूत्रं सटीक                            | आगमसुत्ताणि      |             |
| [૧५૪] | प्रज्ञापनाउपाङ्गसूत्रं स       |  | आगमसुत्ताणि      | सटीक-१०/११  |
| [૧५५] | सूर्यप्रज्ञप्तिउपाङ्गसूत्रं    |  | आगमसुत्ताणि      |             |
| [૧५६] |                                |  | आगमसुत्ताणि      | सटीक-१२     |
| [૧५७] | जम्बूद्वीवप्रज्ञप्तिउपाङ्गस्   | त्त्रं सटीकं                           | आगमसुत्ताणि      | सटीकं-१३    |
| [૧५૮] |                                |  | आगमसुत्ताणि      | सटीकं-१४    |
| [૧५९] | कल्पचतंसिकाउपाङ्गसू            | त्रं सटीकं                             | आगमसुत्ताणि      | सटीक-१४     |
| [१६०] | पुष्पिताउपाङ्गसूत्रं सर        | टीकं                                   | आगमसुत्ताणि      |             |
| [१६१] | पुष्पचूलिकाउपाङ्गसूत्रं        |  | आगमसुत्ताणि      | सटीकं-१४    |
| [१६२] | वण्हिदसाउपाङ्गसूत्रं           |  | आगमसुत्ताणि      | सटीक-१४     |
| [૧૬૨] | चतुःशरणप्रकीर्णकसूत्र          |  | आगमसुत्ताणि      | सटीकं-१४    |
| [१६४] | आतुरप्रत्याच्यानप्रकीण         | -,                                     | आगमसुत्ताणि      | सटीकं-१४    |
| [૧૬५] | महाप्रत्याख्यानप्रकीर्णव       | -1                                     | आगमसुत्ताणि      | सटीक-१४     |
| [૧૬૬] | भक्तपरिज्ञाप्रकीर्णकस्         | त्रं सच्छायं                           | आगमसुत्ताणि      | सटीकं-१४    |

[14]



[9:08] दशाश्रुतस्कन्धछेदसूत्रं सटीकं जीतकल्पछेदसूत्रं सटीकं [900] [902] महानिशीथसूत्रं (मूलं) [909] आवश्यकमूलसूत्रं सटीकं [920] ओधनिर्युक्तिमूलसूत्रं सटीक [929] पिण्डनिर्युक्तिमुलसूत्रं सटीकं दशवैकालिकमुलसुत्रं सटीक [9८२] [१८३] उत्तराध्ययनमूलसूत्रं सटीकं [928] नन्दी-चूलिकासूत्रं सटीकं [924] अनुयोगद्वारचूलिकासूत्रं सटीकं

तंदुलवैचारिकप्रकीर्णकसूत्रं सटीकं

गच्छाचारप्रकीर्णकसूत्रं सटीकं

गणिविधाप्रकीर्णकसूत्रं सच्छायं

देवेन्द्रस्तवप्रकीर्णकसूत्रं सच्छायं

मरणसमाधिप्रकीर्णकसूत्रं सच्छायं

[१६८] संस्तारकप्रकीर्णकसूत्रं सच्छायं

निशीयछेदसत्रं सटीकं

बुहत्कल्पछेदसुत्रं सटीकं

व्यवहारछेदसूत्रं सटीकं

आगमसुत्ताणि सटीकं-१४ आगमसूत्ताणि सटीकं-१४ आगमसुत्ताणि सटीकं-१४ आगमसुत्ताणि सटीकं-१४ आगमसत्ताणि सटीकं-१४ आगमसुत्ताणि सटीकं-१४ आगमसत्ताणि सटीकं-१५-१६-१७ आगमसत्ताणि सटीकं-१८-१९-२० आगगम सूत्ताणि सटीकं-२१-२२ आगमसूत्ताणि सटीकं-२३ आगमसुत्ताणि सटीकं-२३ आगमसुत्ताणि सटीकं-२३ आगमसुत्ताणि सटीकं-२४-२५ आगम सुत्तामि सटीकं-२६ आगमसुत्ताणि सटीकं-२६ आगमसत्ताणि सटीकं-२७ आगमसत्ताणि सटीकं-२८-२९ आगमसूत्ताणि सटीक-३० आगमसुत्ताणि सटीकं-३०

પ્રકાશન ૧૩૯ થી ૧૮૫ આગમશ્રુત પ્રકાશને પ્રગટ કરેલ છે.

--: સંપર્ક સ્થળ :--'આગમ આરાધના કેન્દ્ર' શીતલનાથ સોસાયટી-વિભાગ-૧, કલેટ નં-૧૩, ૪થે માળે શ્રી નમિનાથ જૈન દેરાસરજી પાછળ, બ્હાઈ સેન્ટર, ખાનપુર અમદાવાદ-૧

[980]

[989]

[900]

[909]

[૧७૨]

[903]

[908]

[904]

[15]

#### [16]

## ''आगमसुत्ताणि-सटीकं'' ભાાગ १ थी उ**० नुं विव**रश

| ···  |
|--|
|  |
|  |
|  |
|  |
| )  |
| गन्तकृद्दशा, अनुत्तरोपपातिकदशा,  |
|  |
| ाय   |
|  |
|  |
|  |
|  |
| पुष्पिका, पुष्पचूलिका वण्हिदशा,  |
|  |
| गणिविद्या, देवेन्द्रस्तव, मरणसमाधि   |
|  |
|  |
|  |
| ीथ   |
|  |
|  |
|  |
|  |
|  |
| पुष्पिका, पुष्पचूलिका वण्हिदश<br>महाप्रत्याख्यान, भक्तपरिः<br>गणिविद्या, देकेद्रस्तव, मरणसमागि |

